मुद्रक:—धोंडो काशिनाथ फडके,
दफ्तर आशाकारा प्रेस,
६ कोचीन स्ट्रीट, कोट, मुंबई.

प्रकाशक के तरफ से।

लो. तिलक के मराठी चरित्रके प्रथम खण्डका हिंदी अनुवाद हिंदी भाषा प्रेमियों के लाभार्थ तयार कर प्रकाशित करने की संमती दे. भ. केलकर महाशयने दी जिसके लिए हम उनको शतशः धन्यवाद देते हैं। आशा है की लोकमान्य के भक्तों को ये हमारा साहस पसंत पडेगा। इस प्रकारका ये मेरा प्रथम कार्य हिंदी जनता को पसंत पडने से मेरी सब मेहनत का बदला पूर्णतः मुझे मिला ऐसा समझ मराठी भाषामें द्वितीय खण्ड के प्रसिद्ध होनेपर उसका अनुवाद हिंदी जनताकी सेवामें सादर करने का इरादा रखता हूं।

व्यवसाय वैचित्र्य तथा समय को असुविधा के लिए ग्रंथके प्रकाशन में अनेक त्रुटियां रही होगी उसके लिए वाचक महोदय क्षमा करेंगे ऐसी आशा है।

धोंडो काशिनाथ फडके.

प्रकाशक:—धोंडो काशिनाथ फडके,
अरुणोदय प्रेस, ठाणें.

लो. बाळ गंगाधर टिळक.

अनुक्रमणिका.

अनुवादक के दो शब्द।

भारतीय जागृति के जनक, लो० तिलक के मराठी जीवन-चरित्र का हिन्दी अनुवाद आज प्रकाशित हो रहा है। इस के पहले, हिन्दी में, लोकमान्य की छोटी बड़ी, कई जीवनियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु श्री० केलकरजी जैसे अधिकारी पुरुष की लेखनी से निकले हुए इस जीवन चरित्र जैसा विस्तार, हिन्दी-अंग्रेजी की पुस्तक में देखने में नहीं आया। लोकमान्य के सहकारी के नाते, केलकरजी को, लोकमान्यकी शत-मुखी शक्ति के निरीक्षण का सौभाग्य प्राप्त है और इसी कारण, उनके लिये तिलक-चरित्र में लोकमान्य के जीवन के छोटे से छोटे प्रसंगों का भी चित्रण हुआ है।

लोकमान्य का यह चरित्र, महाराष्ट्र का तत्कालीन इतिहास है। युग-प्रवर्तक विभूतियों का जीवन-चरित्र इसी तरह हुआ भी करता है। लोकमान्य के पद-चिन्हों का अनुसरण करते हुए, शंकाओं के जाल में फँस जाने वालों के लिए, यह ग्रंथ उचित मार्ग-दर्शन करनेवाला दीप-स्तंभ है।

श्री० केलकरजी के मराठी तिलक-चरित्र का, मराठी जगत् में बहुत आदर हुआ। अल्पावधि में ही, उसका प्रथम मुद्रण समाप्त हो गया! यह सोचकर, कि इस ग्रंथका राष्ट्रभाषा में अनुवाद होना आवश्यक है, मैं ने यह कार्य सन १९२३ में हाथ में लिया और थोड़ेही दिनो में समाप्तभी कर डाला। जब प्रकाशक की खोज करने लगा, तब इतने बड़े ग्रंथके प्रकाशन के लिए कोई सज्जन तैयार न हुए। अन्तमें इस राष्ट्रीय कार्य के महत्व को सोच श्रीयुत धोंडो काशिनाथ फडके, मालक, दफ्तर आशकारा प्रेस, ने इस कार्य को हाथमें लेकर अनेक कठिनाइयों को लांघकर संपूर्णता को पहुँचाया। कार्य बाहुल्य तथा समय के अभाव के कारण इस ग्रंथके प्रकाशन में अनेक त्रुटियां रही हैं इसमें संदेह नहीं, किंतु आशा है, पाठक इसके लिए क्षमा करेंगे।

इस ग्रंथ के अनुवादकीय कार्य में, आगर मालवा-निवासी, विद्या-संपादक पं. गोपीवल्लभ उपाध्याय, इन्दौर की बहुत सहायता मिली है। यह ग्रंथ उन्ही के विनययुक्त परिश्रम का फल है। लोकमान्य के प्रति रहनेवाली असीम भक्ति और श्रद्धा के कारण हमने यह कार्य किया है। मैं आशा करता हूँ कि अनेक त्रुटियों के होते हुएभी, इस ग्रंथ में एकत्रित की गयी सामग्री से, हमारे देश के नवयुवकों का मार्ग-दर्शन होगा।

कर्मवीर-कार्यालय
खण्डवा सी. पी.
२७, अप्रैल १९२७.

सिद्धनाथ माधव लोंढे.

प्रस्तावना.

चार वर्ष हुवे मेरे सन्मानित मित्र श्रीयुत नरसिंह चिन्तामणि केलकर ने लोकमान्य तिलक के जीवन चरित्र का पूर्व भाग मराठी भाषा में प्रकाशित किया था। श्रीयुत केलकर उन चुने हुवे देशभक्तों में हैं जो अंग्रेजी भाषा के विभव और प्रकाश से अभिभूत होकर मातृभाषा की महिमा को नहीं भूले। यद्यपि वे चिरकाल से बहुत योग्यता से 'मराठा' का संपादन करते आये हैं तथापि 'केसरी' के संपादन के लिये वे उस से कम प्रसिद्ध नहीं हैं। इस के अतिरिक्त उन्होंने बारह ग्रंथ रचकर मातृ भाषा को विभूषित किया है जो मराठी जगत् में बड़ी रुचि और प्रीति के साथ पढ़े जाते हैं। राष्ट्रभाषा हिंदी के जानने वालों में लोकमान्य के प्रशंसकों की संख्या बहुत अधिक है। उन के लाभ के लिये लोकमान्य चरित्र के उत्साही प्रकाशकों ने उस का हिंदी अनुवाद कराया है, और उन्होंने बड़े प्रेम से आग्रह किया है कि मैं उसकी भूमिका लिख दूं।

श्रीयुत केलकर पूना की लॉ-क्लास में लोकमान्य के सहायक अध्यापक थे और उस समय से लोकमान्य के अंत समय तक उन का लोकमान्य का घना संबंध था। इस लिये लोकमान्य का जीवन चरित्र लिखने के लिये वे अत्यंत उपयुक्त हैं। श्रीयुत केलकर की लेख की प्रणाली ओजस्विनी विशद और सरस है। मैं ने इस ग्रंथ का एक अच्छा अंश पढ़ा है और बिना उन के सब मतों का समर्थन किये मैं यह कह सकता हूं कि जो इस को पढ़ेगा वह इस को बहुत रोचक और उपदेशप्रद पावेगा।

लोकमान्य तिलक एक बहुत असाधारण व्यक्ति थे। उन का जीवन उपदेशमय और मनुष्य में विद्या का प्रेम, देशभक्ति, धैर्य और उत्साह बढ़ाने वाला है। भर्तृहरि का नीचे लिखा प्रसिद्ध कथन उन के विषय में प्रचुर अंश में घटता है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधिविक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

लोकमान्य को युद्ध के प्रबंध का अवसर नहीं मिला नहीं तो जैसा अनन्य देशभक्त गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा था लोकमान्य उस में भी निपुण पाये जाते।

इस पुस्तक में लोकमान्य के जीवन की कथा सन् १८९९ तक की लिखी गई है अर्थात् जो पहिले राजविद्रोह के अभियोग में उनको कारावास का दंड दिया गया था उसके एक वर्ष पीछे तक की। उनके जीवन के आगे के भाग में

तीसरी बात यह कि कालेज में प्रवेश करने के समय उन का स्वास्थ्य बिगडा हुवा था। किंतु उन्होंनें पहिले ही वर्ष में नियम से व्यायाम कर उस को सुधार लिया। प्रातः काल का समय वे अखाड़े में कुश्ती लड़ने या नदी में तैरने में बिताते थे। इस रीति से उन्होंने अपना स्वास्थ्य ऐसा बना लिया था कि समस्त जीवन उस का लाभ उठाया।

चौथी बात यह कि जब तिलक कालेज में ही थे तभी उन्होंने यह संकल्प कर लिया था कि वे देश और समाज की सेवा में अपना जीवन अर्पण करेंगे। धन उपार्जन करने की अभिलाषा ने भी उन को नहीं सताया। जो लोग अपना कर्तव्य करते हैं उन को यश आप ढूंड लेता है॥

पांचवी बात यह कि कालेज के दिनों से लेकर अंत तक उनकी देश भक्ति देश के उद्धार की अभिलाषा और प्रयत्न एक रस बने रहे। किसी प्रिय या अप्रिय घटना से उस में अंतर नहीं पड़ा। देश ही उनका सर्वस्व था।

छठीं बात यह कि देश की सेवा से भी अधिक प्रबल उन का शास्त्र का व्यसन था। शास्त्र का–सद् ग्रंथों का–अभ्यास करते रहना देश भक्त का परम धर्म है। इसी लिये ऋषियों ने यह नियम किया है कि अहरहः स्वाध्यायमधीयीत। प्रति दिन वेद वेदांग उपवेदों का तथा अन्य उत्तम ग्रंथों का अध्ययन करते रहना चाहिये। जैसा संपत्ति मे वैसाही विपत्ति में भी लोकमान्य को शास्त्र का व्यसन एक समान बना रहा।

लोकमान्य की राजनैतिक बुद्धि और नीति की समालोचना का अवसर उन के चरित्र के दूसरे भाग की भूमिका के समय प्राप्त होगा। यहां पर मैं इतना ही कहना चाहता हूं कि अंगरेजों की नीति को जैसा वे समझते थे वैसा और नेताओं में से बहुत कम पुरुषों ने समझा था॥

सब से बड़े दो गुण लोकमान्य में निर्भयता और धैर्य थे। Home rule is my birthright—स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध स्वत्व है—ये स्वतंत्रजनोचित भाव उसी के हृदय में रह सकते हैं और उसी के मुख से निकल सकते हैं जिस का हृदय कभी भय से दुर्बल नहीं हुआ और जिसके धैर्य को विपत्ति का प्रबल से प्रबल पवन भी विचल नहीं कर सकता। लोकमान्य को पुत्र का वियोग हुवा, स्त्री का वियोग हुवा, ऋण का संकट हुवा, तीन वार जेल जाना पडा और और विपत्तियां भी आईं किंतु उन का धैर्य नहीं डिगा। मुझे नीचे लिखे श्लोक स्मरण आते हैं।

दे. भ. पं. मदन मोहन मालविय.

पुत्रदारैर्वियुक्तस्य वियुक्तस्य धनेन वा ।
मग्नस्य व्यसने कृच्छ्रे धृतिः श्रेयस्करी नृप ॥
चलन्ति गिरयः कामं युगान्तपवनाहताः ।
कृच्छ्रेऽपि न चलत्येव धीराणां निश्चलं मनः ॥

मैं आशा करता हूं कि लोकमान्य चरित्र को पढ़कर और उन के गुणों को मनन कर हमारे लाखों भाई और बहिन परमात्मा से प्रार्थना करेंगे कि देश में बाहुबल, विद्याबल, धर्मबल संपन्न उनके समान देश भक्त आर्य संतान प्रचुर संख्या में हो और देश को स्वतंत्रता के मान और विभव से फिर विभूषित करें ॥

इस अनुवाद में भाषा के और छापे के अनेक दोष रह गये हैं। मैं आशा करता हूं कि वे दूसरे संस्करण में शोध दिये जावेंगे ॥

दिल्ली,
२४ फर्वरी सन १९२७.

मदन मोहन मालवीय।

भूमिका.

लोकमान्य तिलक ता. १ अगस्त सन १९२० ई० के दिन स्वर्गवासी हुए। इस के साथ ही उन का एकाध जीवन चरित्र लिखा जाय, ऐसी सारे के सारे महाराष्ट्र ने, लगभग एक आवाजसे अपनी इच्छा प्रदर्शित की। लोकमान्य के चरित्र के सम्बन्ध में अनेकोंने अनेक रीतीसे अपनी २ सूचनाएँ प्रकाशित की। उन में की कुछ सूचनाएँ व्यक्तिशः हमारे पास भी भेजी गईं। महाराष्ट्रीय पाठकों की यह इच्छा, जहां तक बन पड़े, पूरी करने का प्रयत्न हमें भी कर देखना चाहिये, इस हेतुको लेकर ता. २४ अगस्त सन १९२० ई० के 'केसरी' पत्र में लो० तिलक का जीवन–चरित्र लिखने का हमारा संकल्प हमने प्रकाशित किया। सर्वत्र फैले हुए तिलक भक्तों और मित्रों से प्रार्थना की कि, वे अपने संग्रह में लो० सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी, पत्र, ग्रंथ आदि साधन–सामग्री हो वह इस कार्य के लिये सहयोगकी बुद्धि से हमें प्रदान करें। हम लो० के चरित्र का जो काम उठानेवाले हैं वह आगामी वर्ष के (१९२१) फरवरी–मार्च के लगभग प्रसिद्ध होगा, ऐसा विज्ञापन उसी अंक में छाप दिया गया था। शायद यह बात पाठकों के स्मरण में होगी।

पर यहांसे आगे चलकर हम अनेक प्रकार के उद्योगों में लग गये और कुछ दिन बीमार पड़ जानेसे, १९२१ के फरवरी और मार्च तो निकम्मे ही बीत गये! पर १९२१ की तिलक की प्रथम श्राद्धतिथिको भी हमसे यह कार्य नहीं हो सका। इतना ही नहीं पर, आगामि वर्ष भी (१९२२ अगस्त) हमारा यह निश्चय असफल ही रहा।

हमारा पूर्व संकल्प पूरा नहीं हुआ इस विषय में स्वयं हमारी ही तरह जिनकी निराशा होगई थी उन में के कुछ सज्जनों ने इसी समय के लगभग स्नेह भाव से हमारा निषेध किया। व कुछ सज्जनों ने इस कार्य में पुनरुद्युक्त होने के लिये उत्तेजित किया। बम्बई के 'क्रोनिकल' पत्र में चिठ्ठीयां लिखकर, हमें ही यह चरित्र सत्वर लिखना चाहिये, ऐसी सूचना कुछ सज्जनों ने की। इससे हमें भी ऐसा ज्ञान होने लगा कि यह काम उठाने में अधिक विलम्ब नहीं करना चाहिये। चाल–चलाऊ कार्य छोड़ देनेकी इच्छा से पूना के बाहरका दौरा हमने कुछ कम कर देखा। पर पूना ही में रहकर भी नित्यनैमित्तिक कार्य अलग रखें, यह तो

गले तक पानी में बैठकर शरीर को सूखा रखेंगे, ऐसा कहने के समान ही फजूल है। यह बात हमारे ही क्या परंतु हमारे साथ नित्य कामकाज करनेवाले अन्यान्य लोगों के देखने में पूरी २ आई। गई होगी। पूना छोड़कर बाहर जा रहना, हमारे लिये जितना कठिन है उतना ही पूना में रहकर-अर्थात ही अन्य व्यवसाय सम्हाल कर-चरित्र लेखन का कार्य करना भी कठिन था। पर गत वर्ष तिलक महोदय की श्राद्धतिथि के दिन जो संकल्प हमने तीसरी बार जाहिर किया, वही इस साल भी पुनः चौथी बार प्रकाशित करना, यह कठिन हो गया। अतएव पूना में ही रहकर और अन्य सब कार्य नित्य की तरह ही सम्पादन करते रहना, अधिक श्रम हो उन्हें भी स्वीकृत कर, तिलक चरित्र ग्रंथ का कमसे कम एक खंड, चाहे सो हो, तौभी अगस्त महीने के भीतर ही प्रकाशित करना ही! इस उमिन्द से हम इस कार्य में जुट गये। सद्भाग्य से यह मर्यादित इच्छा सफल हुई, इस विषय में हमें हार्दिक आनंद होता है।

लो. तिलक का जीवन-चरित्र लिखना, यह बात आजभी बहुत कुछ कठिन और नाजुक है। एक तो स्वयं तिलक महोदय के जीवितकाल में उठे हुए मिट्टीके बवंडर भूमिपर बैठनेके लिये और बारबार स्वच्छ दिखाई पड़े इस लिये ढाई वर्षसे लगा तार बर्षित हुए विस्मृति के मेघ, पर्याप्त नहीं हुए ऐसा देख पड़ता है। दूसरे तिलक के चरित्र में, सरकारी नौकर और राष्ट्रीयदल के पृथक् २ ध्येयों के और स्वभावों के लोगों का इतना तो निकट का और जटिल सम्बन्ध आया है कि, उनमें के कुछ २ विषयों की गुप्त जानकारी, किसी लिखनवाले को हो, तो भी उसे प्रकाशित करने का अभी अवसर नहीं आया है। कुछ विषय दो चार पीढ़ियां बीत जाने पर ऐतिहासिक विषयों का हैसियत से खुले तौर पर प्रकट किये जा सकेंगे। उन्हें सुन कर हर्ष-अमर्ष-विषाद मानने वाली व्यक्तियों के अभाव में, उस विषय में, कौतुकही शेष रहेगा। परंतु तिलक महोदयका स्वर्गवास हुए पूरे तीन वर्ष भी न होने के कारण, वैसे विषय प्रकाशित करना, यह कार्य स्वाभाविकही कठिण हो जाता है। तथापि ये रुकावटें ध्यान में रखकर भी चरित्र लेखन का कार्य आज करने की अपेक्षा कलपर रखना, अनुचित होगा। ऐसा हृदय से निश्चित कर हम उस कार्य में लग गये। कारण ? आज प्रकाशित न की जा सकने वाली बातें आगे चलकर प्रसिद्ध करने का मौका आने तक स्थगित रख दें, इस के विपरीत इस विलम्ब के कारण आज जो ताजी बातें स्मरण में हैं, वे भी उस अवसर के आने तक में विस्मृत हो जावेंगी। सारांश, वही निकलेगा। समयके दोनों छोर पकड़ने जायँ, दोनों में से एक छोर हाथ आता है और दूसरा छूट जाता है। इस लिये चरित्र लेखन के कार्य को न रोकते आज जो बातें लिखी

जा सकती हैं, वे आजही लिख डालना और जो बातें नहीं लिखी जा सकती, वे फिर कभी अवसर आने पर और किसी को लिखना चाहिये। इस प्रकार अनेक हाथोंसे और अनेक किश्तों से ऐसे कार्य पूर्ण करना, यही मार्ग विशेष श्रेयस्कर है। किम्बहुना एक धार्मिक उदाहरण लेना हो, ऐसा भी कहा जा सकेगा कि जो मंदिर निर्माण करे, वही अपने हाथों उस पर कलश न चढ़ावे पर वह दूसरा कोई चढ़ावे उस के लिये रख छोड़ना चाहिये। इस प्रकार औचित्यकी दृष्टिसे स्वयं हमें आज इसी क्षण जो बातें हम से दी जा सकी, वे ही इस ग्रंथ में हमने दी हैं। अन्य बातें कालान्तर से या और ही कोई कहे यही उचित होगा। आगे चलकर वे ऐसे योग्य अवसर पर दूसरों की ओर से लिखी जायँ और तिलक के चरित्र ग्रंथ को पूर्णता प्राप्त होगी, ऐसा हमें विश्वास है।

कुछ बातें आज लिखने जैसी नहीं हैं, वे छोड़ दीं हैं, यह अपूर्णता का एक विषय हुआ। पर वैसे कुछ अन्यान्य विषय भी हैं। विषय के सम्बन्ध में सामान्यतः पूर्णत्व की जो दृष्टि होती है वही विषय रचना की पद्धतिके सम्बन्ध में भी होती है। कुछ चरित्र केवल जानकारी हो, इस दृष्टिसे लिखे होते हैं और कुछ केवल गुण-वर्णन से भरे होते हैं। कुछ चरित्रों में दोनों बातों का बहुत कुछ संक्षिप्त उल्लेख होता है और उसमें विषयानुसंधान को लेकर मुख्यतया तात्विक विवेचन होता है और कुछ केवल एकाध पक्ष समर्थन करनेके लिये ही लिखे हुए होते हैं। इन सब दृष्टियों का मेल-मिलाप नहीं होता। यदि व ऐसा मेलमिलाप करनेका प्रयत्न करे तो वह एक प्रकार की कथा बन जावे और उसका विस्तार भी असीम हो जाता है। यह जान कर हमने केवल एक दृष्टिसे यह चरित्र लिखा है। वह दृष्टि यह है कि, परिच्छेदों के अनुकूल भर आधार और पूरी जानकारीका उल्लेख करना। यह पद्धति सबसे अधिक नीर निकलने जैसी होती है। परंतु इतिहास कथन की नींव परही आगे चलकर गु वर्णन और तात्विक विवेचन इत्यादि की इमारत बांधी जाती है। अतएव जिस सबसे कम लेखन-कौशलकी आवश्यकता होती है वैसी और केवल कष्टक पद्धतिका ही स्वीकार कर के यह चरित्र ग्रंथ हमने पाठकों से सादर किया है अन्य दृष्टि से इस चरित्र के कुछ भाग लिखने का हमें भी शौक है। पर इस समय के इस खंड में तिलक महोदय के चरित्र का केवल सन १९०० ई० तक क याने आधाही अथवा आधे से भी कुछ कम, भाग आने से हमारे लिये वैसा करना, असंभवही हो गया! अतएव गुणवर्णन और तात्विक विवेचन आदिक कुछ भाग हमें लिखना है वह इस चरित्र के उत्तरार्द्ध के अन्त में लिखने का हमने निश्चय किया है।

इस चरित्र-ग्रंथ की जितनी साधन-सामग्री मिली उतनी का तो हमने उपयोग किया ही है, तथापि वे साधन जितने भरपूर होने चाहिये, सो नहीं है। इस का स्वीकार करना ही पड़ता है। ऐसे साधनों में सामान्यतः निम्न प्रकार होते हैं। (१) पहले समय २ पर अन्य लोगोंने लिख कर रखे हुए उस समय तक के अतः अधूरे चरित्र ग्रंथ (२) स्वयं चरित्र विषयक व्यक्तिने लिखकर रखे हुए आत्मचरित्र अथवा उस के सम्बन्धी कथें। (३) समकालीन खानगी समाचार पत्रों आदि में याने सार्वजनिक लेखों में आई जानकारी (४) समकालीन पत्र व्यवहार। (५) समकालीन पुरुष अथवा स्वयं चरित्र विषयक व्यक्तियों के रोज़ नामचे आदि २। इन में नं. १ में समाविष्ट हो सके वैसी कुछ उपलब्ध पुस्तकें हैं। लो० तिलक जब स्वर्गगामी हुए तब, वैसे ही पहले समय २ पर उन पर के मुकद्दमों के हालात ग्रंथ के रूप में प्रसिद्ध हुए तब, तिलक के कुछ छोटक चरित्र प्रसिद्ध हुए थे। परंतु उस से भी सविस्तर चरित्र श्रीयुत कृष्णाजी बापाजी गुरजी ने लिखा था। इन चरित्र का उपयोग, इस चरित्र के पहले दो भाग लिखते हमें बहुत हुआ है। नं. २ में आ सके वैसा एक भी प्रबन्ध उपलब्ध नहीं है। तिलक ने आत्म चरित्र कभी नहीं लिखा। इतनाही नहीं पर आत्म चरित्र के अनुकूल बातें भी उन्होंने लेख में अथवा व्याख्यान में बहुधा कभी नहीं कहीं हैं। केवल चिरोल प्रकरण में अपने वकील को अपनी जानकारी हो, इस लिये उन्होंने दो चार पृष्ठकी अपनी एक सालाना जंत्री तयार की थी। नं. ४ में आ सके वैसी जानकारी हमें बहुत ही थोड़ी मिली है। तिलक महोदय का पत्रव्यवहार बड़ा भारी था। परंतु इस चरित्र ग्रंथ के लिये जाहीर प्रार्थना करने पर भी हमें महत्व के उन के दस-पांच पत्र भी हमें किसी की ओर से नहीं मिले। बड़े अथवा तो लब्ध प्रतिष्ठित मनुष्यों को तिलक की ओर से कई पत्र लिखे गये होंगे, परंतु हमारी प्रार्थना पहले तो सहसा वैसे कोई लोगों के कर्णगोचर हुई हो तथापि वे तिलक के पत्र ढूंढ निकालकर हमें भेजने के कष्ट उठावे, ऐसी अपेक्षा हम क्यों कर रख सकते हैं? साधारण मनुष्यों को स्वयं तिलक की ओर से लिखे गये पत्र थोड़े ही होंगे और वे भी उन्हों ने सम्भालकर सुरक्षित रखे होंगे, ऐसा नहीं देख पड़ता। परंतु तिलक महाशय का उपकारी स्वभाव अथवा सामान्य दाक्षिण्यवृत्ति इस से अधिक बड़ा विषय ऐसे पत्रों में से निकलने जैसा नहीं होगा। अतएव उन्हें प्राप्त करने का विशेष प्रयत्न भी हमने नहीं किया। तिलक पर और लोगों के आये हुए पत्र रख छोड़े होते तो हजारों उपलब्ध हो सकते थे। पर तिलक का नित्यका क्रम ही ऐसा था कि उन के उपयोग में आ सके वैसे चुने हुए पत्र ही रखकर बाकी के पत्रों को बांधकर वे टेबिल पर रख छोड़ते

थे। और चार छः महिने के पश्चात् एक बार बैठकर उन सबका संहार कर डालते थे। यह हुई आने वाले पत्रों के संहार की कथा! कारण? कभी २ विशेष प्रलय भी हो जाता था। तिलक पर यद्यपि तीन चार बार मामले दायर हुए तथापि उन के घर की तलासी लेने के 'वारंट' कई बार निकले थे। ऐसी खबर मिलते ही पहला काम होता था खत-पत्र नष्ट करने का। कारण यह कि, तलाशी में कौनसा कागज मिल जावेगा इस का कोई ठिकाना नहीं था।

नं. ४ में आने वाले कागज हमें बिलकुल नहीं मिले। हमारे यहां पहले तो रोजनामचे रखने की चाल ही कम है और यदि कोई रखे भी तो सरकार का तलाशीका वारंट कब आवेगा, इस का भी कोई ठिकाना न होने से वे न रखना, इस काम में, प्रमाद में भय की सहायता ही हो जाती है। रोजनामचों का दुरुपयोग होने के कुछ मोटे उदाहरण भी पाठकों के स्मरण में होंगे ही। ऐसी परिस्थिति में रोजनामचा रखने की पद्धति ही गलत है अथवा लेनेवाले ने उस से अनुचित लाभ उठाया, इन में से चाहे सो हो। ग्लेडस्टन का चरित्र लिखत समाचार पत्र, मासिक पत्र, पार्लियामेन्ट के कामकाज की छपी हुई प्रचंड रिपोर्टे, रोजनामचे आत्म चरित्र के स्वरूप की नूंधें, इत्यादि सब मिलाकर लगभग तीन लाख असली कागज--खत--पत्रों--का उपयोग मोर्ले को हुआ। ऐसे चरित्रों में स्वयं अथवा अन्यों के द्वारा लिखे रोजनामचों का कितना उपयोग हो सकता है, यह जॉन मोर्लेने लिखा ग्लेडस्टन साहब का चरित्र जिन्हों ने पढ़ा है, उन्हें कह बताने की कोई आवश्यकता नहीं है।

रहे नं. ३ में आनेवाले साधन याने सम्वाद पत्रादि। इस विषय में भी केसरी और ज्ञानप्रकाश के सिवा अन्य अख़बारों के पुराने फायल हमें बहुध नहीं मिले हैं। उन में भी इस चरित्र के लिखने में हमें केसरी की फायलोंका ही मुख्यतः विशेष उपयोग हुआ है। सन १८८१ से १८९९ तक के उन्नीस फायलों में से दस फायलों में के लेखोंका साक्षात् तिलक के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है अतएव यह साधन अमूल्य है, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। कम से कम इस अवधि में हुई कोई भी बात स्वयं तिलक को किस प्रकार की देख पड़ी, अथवा प्रतीत हुई, यह उस पर से प्रत्यक्ष जानने में आ सकता है। अतएव फायलोंके माने यह कि वे तिलक के सार्वजनिक रोजनामचे ही है ऐसा कहने में कोई बाधा नहीं। परंतु उस में भी यह एक कमी है कि प्रतिष्ठित समाचार पत्रों की पद्धति के मुताबिक, सम्पादक के सम्बन्ध की गुप्त बातों का उस में नामोनिशा तक नहीं मिल आता। ग्लाडस्टन साहब के वे खानगी रोजनामचे, और तिलक के यह जाहिरा रोजनामचे, इन में का फरक खुलेतौर पर देख पड़ने

जैसा है। लिखित रोजनामचे के अभाव में तिलक के खास और स्नेही गुप्त जानकारी का कार्य केवल अपने स्मरणों से ही कहां तक सफल व पूर्ण कर सकेंगे? और वह सफल करने का प्रयत्न करने पर भी वह बहुत कुछ अंशों में सफल नहीं हो सकता यह हम हमारे अनुभव से कह सकते हैं। इस में वास्तविक दोष किसी का नहीं है। स्मरण से अचूक और सुसंगत ऐसा कोई भी हुआ तो भी वह कितना लिखेगा? जो बात दूसरों की है वही हमारी भी है। हमारे स्मरण हों तो भी वे सन १८८६—८७ के पश्चात् के हैं। और यह पहला चरित्र खंड हमने १८९९ के अन्त तक का ही समाप्त किया है। तथापि केसरी के फायलों के सिवा अन्यत्र भी थोड़ी बहुत जानकारी हमें मिली है, और वह जिन की ओर से मिली है,-उन सब का हम यहां पर इकट्ठा ही उपकार मानते हैं। किस प्रकार की जानकारी हमारे पास भेजने से वह इस चरित्र ग्रंथ में उपयुक्त हो सकेगी, यह निश्चित न होने से अथवा हम वैसी कल्पना न दे सके वैसा होनेसे, अपने संग्रह में जो जानकारी हैं—साधन-सामग्री है, वह हमें इसके पहले नहीं दी जा सकी होगी। परंतु यह पूर्वार्ध पढ़ने पर उसकी कल्पना आकर, वह सामग्री या जानकारी अब हमारे पास भेजी जावेगी तो इस चरित्र के दूसरे खंडमें अथवा इसी खंडकी दूसरी आवृत्ति निकलने का सुप्रसंग आ जाय, उसका साभार योग्य सो उपयोग किया जावेगा।

अन्त में इस चरित्र लेखन के कार्य में जिन २ की हमें सहायता पहुंची है, उन सबका हम हृदय से उपकार मानते हैं। इसमें के दो तीन भागों की कापी अथवा नुंधे करने के लिये पहले पूना अनाथ विद्यार्थी गृह के एक दो विद्यार्थि और हमारे कल्याण के स्नेही गणेश कृष्ण फडके ने सहायता की। और उसके पश्चात् भी श्री. फडके ने अनेक उल्लेखों के करने का कार्य श्रद्धापूर्वक किया, इस लिये हम उनके उपकृत हैं। परंतु यह पुस्तक लिखने का बहुत कुछ-सब काम सन १९२२ ई. के अगस्त महीने के दूसरे सप्ताह से सिलसिले वार शुरू हुआ। वह काम बीचमें के दौरे और अन्य अन्य कार्य के दिनों को छोड़ कर आज की तारीख तक लगा तार करने में, याने हमने मुँहसे कही हुई बातें लिखना, लिखना होता था तब समय २ पर उपयुक्त सूचना करना, फायलों में से अथवा पुस्तकों में से सन्दर्भ निकाल देना, बीच २ में कुछ प्रुफ शुद्ध करना, इन सब कामों में केसरी और मराठा के उपसंपादकों में से श्री. गजानन विश्वनाथ केतकर, बी. ए., एलएल. बी., की हमें सर्वतोपरी सह[illegible]

केतकर ने किया ही परंतु उस में भी अपने दादाजी का चरित्र अपने हाथ से लिखा जा रहा है, यह मैं एक प्रकार पितृऋण ही अंशतः चुका रहा हूं, इस बुद्धि से उनों ने यह काम श्रद्धापूर्वक किया होगा, यह हम कह बतावे, इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। हमारे मित्र और सहकारी श्री. धोंडोपन्त विद्वांस की इस काम में कितनी सहायता हुई होगी, इस की कल्पना पाठक सहजही कर सकेंगे। जगद्धितेच्छु छापखाने के मालिक केशव रावजी गोंधलेकर ने यह पुस्तक निश्चित समय पर ही प्रसिद्ध करने की हमारी इच्छाका सम्मान कर विलम्ब न करते उसे छाप देने के काम में विशेष ध्यान दिया इस लिये हम उन का भी उपकार मानते है।

प्रस्तुत चरित्र ग्रंथ लिखने का काम नाजूक और जोखिमका है, ऐसा हमें क्यों प्रतीत होता है, यह हम प्रारंभ में कह ही चूके हैं। तथापि महाराष्ट्र के पाठकों की इच्छा और हमारा कर्तव्य, दोनों को भली भांति ध्यान में लेकर, विद्यमान परिस्थिति में हम से बन सका वैसा यह तिलक चरित्र ग्रंथ लिखकर हमने प्रसिद्ध किया। उस में के अनेक दोषोंकी जानकारी पाठकों की तरह हमें भी है। तथापि हमारे संकल्प के अनुसार यह प्रथम चरित्र खंड, लोकमान्य तिलक की तृतीय श्राद्धतिथि के पहले प्रसिद्ध-प्रकाशित किया जा सका है, इतनेही में सन्तोष है। पाठकों को भी इसे मानकर-मधुर बना लेना चाहिये, ऐसी उन से हमारी प्रार्थना है।

पूना,
चैत्र शुक्ल पौर्णिमा शके १८४५
रविवार ता. १ अप्रेल सन १९२३.

न. चिं. केलकर.

दे. न. चिं. केलकर.

भाग पहला.

वंश-परिचय.

तिलक वंश का मूल निवासस्थान रत्नागिरी जिले की दापोली तहसीलमें चिखलगांव था। इस गांव का उल्लेख पेशवाई ज़माने के सर्कारी काग़ज़-पत्रों में 'मौज़ा चिखलगांव, तर्फ़ आलगांव, तात्लुका सुवर्ण-दुर्ग' इस प्रकार किया जाता था। आजकल रत्नागिरी ज़िले की दापोली तहसील में इस का समावेश होता है। यह गांव कोप-दापोली से दक्षिण की ओर लगभग आठ मील के अन्तरपर बसा हुआ है। कोंकण प्रान्त का प्रत्येक भाग, सामान्यतः सृष्टि-सौन्दर्य से युक्त होता है, उसी प्रकार यह भी है। सृष्टि-सौन्दर्य के साथ कोंकणप्रान्तीय लोगोंको बुद्धिमत्ता-विषयक ईश्वरीय देन भी उच्च प्रति की होती है, किन्तु कोंकणी लोगोंमें कुछ विशेष गुणों के साथ कुछ अवगुण भी जन्मसिद्ध होते हैं। इन गुणावगुण का एक ऐसा मिश्रण तैयार होता है कि जिसपर से यह एक सामान्य नियमतक बनाया जा सकता है कि 'कोंकणी' मनुष्य में अमुक गुणावगुण होना ही चाहिये, अथवा अमुक गुणावगुण यदि किसी में हों तो उसे कोंकणी समझ लेना चाहिये। यदि कोई कोंकणस्थों का मज़ाक उड़ाना चाहे या उनका मान-मर्दन करना चाहे तो वह उन्हें 'चित्पावन' अर्थात् चिता से उत्पन्न होनेवाले कह सकता है, और यदि उनके विषय में अभिमानबुद्धि प्रकट करना चाहे तो उन्हें चित्त-पावन अर्थात् जिनका चित्त पावन यानी पवित्र है—यों व्युत्पत्ति लगा सकता है। किन्तु है असल में ये दोनो ही शब्द-साधन काल्पनिक। फिरभी, चित्पावनों के गुणावगुण मिश्रण का नियम तो सोलहों आने अनुभवसिद्ध कहा जा सकता है।

यदि चित्पावनों को "फिनिक्स" नामक पक्षी की उपमा दी जाय तो वह सोलहों आने उनपर चरितार्थ हो सकती है। ग्रीक साहित्य में इस प्रकार की एक पौराणिक दंतकथा या कवि-कल्पना पाई जाती है कि फिनिक्स पक्षी चिता से उत्पन्न होता है। यह पक्षी प्रायः अकेला रहता है, और इसे झुंड बनाकर रहना बिलकुल पसंद नहीं है। वह बड़ाही ज़बरदस्त पक्षी होता है और उसकी उड़ान भी बहुत बड़ी होती है। यह पक्षी इच्छानुसार मरनेवाला होने से 'अमर' कहा जा सकता है। जब वह अपनी किसी अवस्था से ऊब उठता है, तब स्वेच्छापूर्वक अपने शरीर को जलाकर फिर अपनी चितासे सतेज एवं दैदीप्यमान स्वरूप में निकल पड़ता है। इस की कितनी बातें कोंकणस्थोंपर चरितार्थ होती हैं, इसे स्पष्ट रीतिसे बतलाने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक जाति में कुछन कुछ विशेष गुण होते ही हैं। देशस्थ लोग उदार।। के लिए प्रसिद्ध हैं तो कन्हाड़े साफ़

दूसरे रहनेवाले और व्यवहारचतुर माने जाते हैं। देशस्थों की तरह कोंकणस्थों ने भी आजतक राष्ट्रीय इतिहास में बहुत कुछ उल्लेखनीय कार्य किये हैं। देशस्थो में यदि साधु-संत निर्माण हुए तो कोंकणस्थों में वीर एवं नीतिज्ञ लोग पैदा हुए। अंग्रेजी राज्य में यदि छल-प्रपंच किसी खास के हिस्से में आया हो तो वह एकमात्र कोंकणस्थों के ही। चिरोल साहब के पत्र अथवा "राजद्रोह कमेटी की रिपोर्ट" लेकर पढ़ जाइये उसमें चित्पावनों का उल्लेख खास तौरपर मिलेगा।

ज्यू (यहूदी) लोगों की तरह चित्पावन जातिपर भी छल कपट की मुहर लगी हुई है। किंतु यह भी संभव है कि उनके हाथों बड़ी २ वीरता के कार्य भी केवल छल के ही कारण हो सके हों। कोंकण प्रान्त को श्रीपरशुरामजी ने बसाया था। वे ही कोंकणस्थों के प्रधान इष्ट देव हैं। महर्षि परशुराम नेभी केवल छल के ही कारण शस्त्र-धारण करके ब्राह्मणों की "शापादपि शरादपि" वाली दोहरी शक्तिवाली उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया था। यह तर्क युक्तियुक्त मालूम होता है कि महर्षि परशुराम ब्राह्मण थे और चित्पावनही थे। "गीत गोविंद" की इन पंक्तियों के अनुसार:—

"क्षत्रियरुधिरमयं जगदपगतपापम्।
स्नपयसि पयसि शमितभवतापम्॥"

परशुरामजी ने जो २ भयंकर कृत्य किये, वे सब, संभव है चित्पावनों के छल के कारण ही किये हों। ऐतिहासिक कालमें कोंकणस्थ भट्ट वंश के लोग देश में जा बसे और वहां उन्होंने पेशवा पद पाया। किन्तु छल के इस आगन्तुक कारण को छोड़ देनेपरभी कोंकण और बुद्धिमत्ता का सम्बन्ध मन में स्थायी रूप में विद्यमान रहता है। रत्नागिरी जिस प्रकार इस प्रान्तका केंद्र माना जाता है उसी प्रकार वह बुद्धिमत्ता का भी केंद्र माना गया है। तिलक-कुल-दीपक, बाल गंगाधर तिलक का जन्म कोंकण प्रान्त के खास रत्नागिरी नगर में ही हुआ था।

किसी भी स्थान के लोक-समाज को ले लिजिये, उस में भिन्न भिन्न गांवों तथा भिन्न भिन्न कुटुम्बोंके लोगों की मिलावट दिखाई देगी किन्तु इन लोगों के मूल-स्थान का यदि विचार किया जाय तो विवश होकर अनवस्था की जाली में छुपकर अदृश्य होना पड़ता है। तिलक और पूना शहर का सम्बन्ध अब अखण्ड हो गया है, किन्तु तिलक को क्या किसीने पूना दहजमें दिया था? 'पूना-ब्राह्मण' (Poona-Brahmin) शब्द का उपयोग चित्पावनों के ही लिए प्रायः किया जाता है किन्तु चित्पावनोंने पूना के प्रथम दर्शन भी कई सौ वर्ष पूर्व नहीं किये थे, इसका अंदाज लगाया जा सकता है। उत्तरी घाट पर होने से पूना 'देश' में शामिल समझा जाता है। 'देश' नामका प्रदेश देशस्थोंका और खास कर शुक्र यजुर्वेदी देशस्थों का कहाता है। वे लोग भी प्रारंभ में उत्तर से आये हुए

है। कोंकण में भी कोंकणस्थ आदिम निवासी नहीं वरन् बाहर से आकर बसे हुए मालूम होते हैं। कोंकण प्रान्त के सारस्वत ब्राह्मण गौड़ शाखा के हैं और उनका सम्बन्ध बंगालतक, अर्थात् गौड़ लोगों के मूल वसतिस्थानतक लगाया जा सकता है।

कोंकण प्रदेश के ब्राह्मणों का दूसरा एक बड़ा संघ कोंकणस्थ ब्राह्मणों का है, किन्तु वे भी उत्तर की ओर से नीचे को कोंकण पट्टी के मार्गसे उतरते हुए आकर बसे होंगे, अथवा यहभी सम्भव है कि समुद्र पारसे भी वे आये होंगे। सत्य-शोधक लोग दक्षिणी ब्राह्मणों को और खासकर कोंकणस्थ ब्राह्मणों को चिढ़ाने के आशय से 'बाहरसे आये हुऐ विदेशी' कहते हैं। इस पर भले ही किसीको बुरा लगे, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे यह बात एकदम झूठ नहीं हो सकती। अब यदि कोई मराठों को चिढ़ाना चाहे तो, कहा जा सकता है कि वे भी महाराष्ट्र के नहीं हैं वरन् उनका महाराष्ट्रमें बाहर, उत्तर प्रदेश से आना सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु इससे कोंकणस्थों का कोंकण निवासी होना सिद्ध नहीं होता। इतिहास-संशोधन की धुरी हाथ में ले लेनेपर किसीभी समाज के स्थानिक अभिमान के धुर्रे उड़ाये जा सकते हैं। कोंकणस्थों के विषय में स्वयं स्व० विश्वनाथ नारायण मांडलिक ने भी स्वीकार किया है कि चित्पावन ब्राह्मणों के आद्य पूर्वज अवश्यमेव पर प्रान्तसे जहाजपर बैठ कर आये थे, फिर वे भारत के किनारे के किसी दूरस्थ बंदर से जहाजपर चढ़े हों या कोंकणपट्टी से पश्चिम ओर, अरबीसागर के उस पारके दक्षिण आफ्रिका के किनारेपर से भारत वर्ष में आ जाने पर उनकी गिनती यहां के पूर्व कालीन द्रविड़-ब्राह्मण-संघ पंच द्रविड़ों में होने लगी।

उपर्युक्त कथन के अनुसार स्थानिक अभिमान के धुर्रे उड़ा देने का सिद्धान्त जो भी ठीक हो सकता है, तो भी अभिमान की भावना ही ऐसी है कि मनुष्य को कहीं न कहीं खूंटी गाड़ कर उसमें इस भावना की मजबूत गांठ अवश्य बांध रखनी पड़ती है। अन्यथा बिनापतवार की नौका के समान प्रवाह के साथ बहकर यह कार्यशून्यही बनजाय। इसी लिये महाराष्ट्रीय महाराष्ट्र को और देशस्थ देश को तथा कोंकणस्थ कोंकण को अपना कहते हैं। यही सारे विवेचन का सार है। क्यों कि वैसे तो कोंकण में भी ब्राह्मणेतरों की बस्ती कम नहीं है, किन्तु केवल ब्राह्मण के ही अथवा विशेष प्रमाण में ब्राह्मणों की बस्तीवाले गाँव जैसे कोंकण प्रान्त में पाये जाते हैं वैसे 'देश' में नहीं। जब नई बस्ती की रचना होती है, तभी उसकी श्रेणीबद्ध रचना हो सकती है। यही कारण है कि कोंकणमें ढंग से बसे हुए ब्राह्मण बस्तीके गाँव पाये जाते हैं। इसी परसे कोंकणस्थों के बाहरसे

आकर बसने की बात सिद्ध करने में सहायता मिलती है। कोंकण प्रान्त का 'मुरुड़' नामक गाँव ठीक इसी ढंग से बसा हुआ है। इस प्रकार की बस्तियों के ऐतिहासिक प्रमाण बहुत ही कम देखने में आते हैं, इसलिये उक्त मुरुड़ गाँव की मूल बस्ती का ऐतिहासिक विवरण (बखर) जिसे स्व० माण्डलिकने सन् १८६९ ई. में रॉयल एशियाटिक सोसायटी के सन्मुख अंग्रेजी निबन्ध के साथ पढ कर सुनाया था और प्रो० कर्वेने जिसे अपने आत्मवृत्त के परिशिष्ट में मूल मराठी में छपवाया है, उसे हमारे पाठकों को अवश्य देखना चाहिये। उसमें जंगल काटकर बसने की भूमि कैसे निर्माण की और किस पद्धति एवं हेतु से गाँव किस प्रकार बसाया गया, इन सब बातों का मनोरंजक वर्णन है।

तिलक-वंश का निवास चिखलगाँव में कई पुश्तों से चला आता है। इस वंश के इष्ट देव "लक्ष्मी-केशव" नामके हैं। लोकमान्य तिलक के प्रपितामह से पूर्व कौनसा पुरुष कब उदयोन्मुख हुआ इसका पता नहीं लगता। हां, इन प्रपितामह का अवश्यमेव अपने समय के माननीय एवं उदयोन्मुख पुरुष के नाते वर्णन किया जा सकता है। इनका नाम केशवराव था और ये चिखलगाँव के खोत थे।

तिलक-वंश चिखलगांव में कबसे बसा इसका ठीक २ पता यद्यपि नहीं लगता, तथापि गाँव की खोती इस वंश के पास रहने से अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि तीन चारसौ वर्ष पहले से यह खानदान अवश्य वहां रहता होगा। खोतीके बहस के समय स्व० माण्डलिकने सैंकड़ों कागज-पत्र एवं सनदें अदालत में सरकार के विरुद्ध सिद्ध करलीं थीं, इस से तथा इसी प्रकार के अन्योन्य प्रमाणों से प्रतीत होता है कि रत्नागिरि एवं कुलाबा ज़िले के कुछ भाग की क्षेत्रमर्यादा में मूल खोती पानेवाले घरानों की बस्ती पेशवाई से पहले भी दो-ढाई सौ वर्षों से थी। खोती एक प्रकारकी पुश्तैकी जायदाद है जो ऊजड़गाँव बसाने एवं पडत ज़मीन को कृषि-संपन्न बनाने के उपलक्ष्य में राजाओं की ओर से कई लोगों को दी गई थी। नई बस्ती-वालों में साहस का गुण विशेष श्रेयस्कर होता है। साहस में ही उत्कर्ष के बीज होते हैं। नई बस्ती करनें वालोंमें साहस के साथ नई परिस्थिति से मिलजानेका स्वभाव भी प्रायः होता है। यह गुण अब्राह्मणों में ही था या हो सकता है सो बात नहीं है। कोंकण प्रान्त की कई मूल खोतियां ब्राह्मणों द्वारा सम्पादन की हुई हैं। जंगल कटवाना, खाडी का पानी हटवांना, बन्द बँधवा कर मीठे पानी की छोटी २ नालियां तयार करवाना, आरंभ में ज़मीन जुतवाने के लिए पूंजी लगाना, कृषकों को आश्रय देकर उनका पोषण करना और सारे खोती गाँव की मालगुज़ारी के ज़िम्मेवार बनकर उसे समय पर सरकारी ख़ज़ाने में जमा करना, आदि कामों को पुरा करने के लिए मनुष्यका सम्पन्न एवं कसदार होना परमावश्यक

है, और उसके इन गुणों के पुरस्कार स्वरूप में ही वंशपरंपरागत भोगने के लिए यह खोती की वृत्ति तथा उसके नानाप्रकार के अधिकार होते हैं।

किन्तु यह वृत्ति कुटुम्ब-पालन के लिए सर्वथा पर्याप्त होती हो, सो बात नहीं। महत्वाकांक्षी मनुष्यके लिए पर्याप्त क्षेत्र अकेली खोती में नहीं मिल सकता। पुराने ज़माने की खोती भी मुख्यतः काश्तकारों से लगान वसूल करने के लिए एक प्रकार से पटवारी या कारिन्दे के काम जैसी ही थी। इतना ज़रूर था की खोती के यहाँ खुद काश्त के रूप में थोड़ी सी खेती हो जातीथी किन्तु बिना किसी अधिकार-युक्त कार्य के हाथ में रहे केवल खेती या ज़िमींदारी के द्वारा मनुष्य नाम नहीं कर सकता।

किसी उद्योग द्वारा केवल धन कमा लेने से ही मनुष्य प्रभावशाली नहीं बन सकता। यह शक्ति केवल अधिकार युक्त स्थान पर रहने या सार्वजनिक चारित्र्य के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इँग्लैण्ड के अनेक व्यक्ति, खेती कल-कारखानें या दलाली अथवा शराब की भट्टी आदि उद्योगों द्वारा खूब मालदार बन जाते हैं। किंतु इतने पर भी उन्हें अपने ऐहिक ऐश्वर्य की चरमसीमा प्रतीत नहीं होती, इस लिये वे अपनी उस सम्पत्ति के बल पर पार्लमेंट में प्रविष्ट होते हैं, और प्रधानमण्डल में प्रवेश पा सकने योग्य बुद्धिमत्ता न रहनेपर भी जीवन में एक बार किसी रॉयल कमीशन में सभासदके नाते अपनी नियुक्ति कराये बिना उन्हें संतोष नहीं होता। पेशवाई के ज़माने में भी तीव्र-बुद्धि चित्पावन युवकों की प्रवृत्ति केवल कोंकण की खेती कर लेने से ही संतुष्ट नहीं हो जाती थी। खेती को वे अधिक से अधिक उपजीविका का दुष्कर साधन मान सकते थे इस लिए किर्ति प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले ब्राह्मण-युवक कमसे-कम तहसीलदारी प्राप्त करने के लिए यत्नवान अवश्य होते थे। लो० तिलक के प्रपितामह (केशवराव) का जन्म सन १७७८ ई० में हुआ, अर्थात् इसके बाद भी ४० वर्ष तक पेशवाओं का राज्य कायम रहा था। उन्हें लिखना पढ़ना अच्छी तरह आता था, साथ ही "घोड़ेपर बैठने में उस्ताद, निशाना मारने में चतुर, तैरने में कुशल और सूपशास्त्र में दक्ष" होने के सम्बन्ध में उनका जो वर्णन पाया जाता है वह मिथ्या नहीं हो सकता। केशवराव उद्योगी एवं निश्चयी स्वभाव के थे इसलिए प्रयत्न करके अंजनवेल की तहसीलदारी प्राप्त करही ली। किन्तु सन १८१८ ई० में पेशवाई नष्ट होने पर उन्होंने वह कार्य त्याग दिया और चिखलगाँव को वापस आकर स्नानसंध्या एवं भगवद्भजन में अपना समय बिताने लगे। फलतः थोड़े ही दिनों में नौकरी द्वारा प्राप्त किया हुआ ऐश्वर्य घटकर घरमें गरीबी आगई। किंतु फिरभी कोई दूसरा उद्योग न करके खेती और खोती की आय पर ही 'कुछ रोटी-कुछ लंगोटी' करके उन्होंने अपना निर्वाह किया।

केशवराव के रामचन्द्र और काशीनाथ ये दो पुत्र हुए इसके बाद उनकी प्रथम पत्नी रुक्मिणीबाई का स्वर्गवास हो गया। केशवराव की तहसीलदारी के जमाने में रुक्मिणीबाई जीवित थीं अतएव उन्हें भी 'तहसीलदारिन' की पदवी के उपभोग करनेका अवसर मिला। केशवरावका द्वितीय भार्या दुर्गाबाई के भी कुछ संतानें हुईं। सबसे बड़े पुत्र रामचन्द्ररावजी लोकमान्य तिलक के पितामह थे। इनका जन्म सन १८०२ में हुआ। ये अधिक विद्वान नहीं थे। बचपन में ही विवाह हो जानेसे आयु के अठराह वें वर्ष इनके प्रथम पुत्र गंगाधरराव का जन्म हुआ। (ई० सन १८२०)। ये गंगाधरराव ही लोकमान्य के पिता थे। घर की गरीबी के कारण रामचंद्रराव ने अंग्रेजी सर्वे विभाग में नौकरी करली। उनके भाग्य में पर्यटन खूब लिखा था यह कहना अनुचित न होगा। बलवंतरावजी के पूर्वजों की तीसरी पीढ़ी से ही उन की शाखा की वृद्धि अपने गांव से बाहर होने लगी, रामचंद्रराव बहुधा दौरे पर रहते थे, अतएव गंगाधररावजी का अपने दादापर विशेष प्रेम रहा। उन्हींने इन्हें वर्णमाला आदि की शिक्षा दी। उस समय दाभोल नामक स्थान में मराठी शाला कायम हुई थी, फलतः इस पाठशाला में शिक्षा पाने के लिए गंगाधरराव दाभोल गाँव में रखे गये। उस शाला के विद्यार्थियों में अवस्था में किंचित् प्रौढ़ होने के कारण उन्होंने उस समय के "मालचट्टे" या आजकल के मानीटर अथवा सेक्रेटरी का काम भी किया।

दाभोल की पाठशाला की पढ़ाई समाप्त हो जानेपर गंगाधरपंत की इच्छा 'देश' में जाकर वहां की किसी शाला में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की हुई, किन्तु पिता या दादा किसीसे भी इसके लिये पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलने की आशा न थी, अतएव वे केवल अपने ही साहस पर भरोसा करके पूना चले आये और वहां की तत्कालीन प्रसिद्ध केशवराव भवालकर की पाठशाला में उन्होंने अंग्रेजी पढ़ना आरंभ कर दिया। सन १८३७ ई. में गंगाधरपंत की माता रमाबाई पूना आकर अपने पुत्र से मिलने के बाद जब नाशिक को जा रही थी तब मार्ग में महामारीने उन्हें अपना ग्रास बना लिया। उस समय रामचंद्रपंत के गंगाधर और गोविंद नामके दो पुत्र एवं द्वारका नामकी पुत्री इस प्रकार तीन सन्तानें थीं। किंतु स्त्रीके मर जानेपर उनके पालन-पोषण की व्यवस्था का जो भार इनपर पड़ा उसे वहन करनेके बजाय हुए वे खुदही विरक्त होकर चित्रकूट चले गये और वहां पेशवा वंश की एक शाखावालोंके पास रहने लगे। फलतः उस अल्पावस्था में ही गंगाधरपन्तपर कुटुम्बपोषण का भार भी आ पड़ा और विवश होकर उन्हें अंग्रेजी पढ़ना छोड़कर शिक्षाविभागमें नौकरी करनी पड़ी। आरंभमें उन्हे प्राथमिक शाला में अध्यापक का काम करने के लिए पूनेसे कोंकण को वापस लौटना पड़ा। इसके बाद उनका विवाह भी हो गया। उनकी पत्नीका नाम पार्वतीबाई

था। सन १८४६ ई. में इनके "काशीबाई" नामक प्रथम पुत्री का जन्म हुआ इसके बाद दो लड़कियां और हुईं। तत्पश्चात् सन १८५६ ई. में हमारे चरित्र-नायक श्री. बलवंतराव तिलक का जन्म हुआ। श्रीमती पार्वतीबाई का सन १८६६ में देहान्त हुआ।

गंगाधररावजी को आरंभ में पांच रुपये महिने की नोकरी मिली। इसके बाद मालवण में उन्हें दस रुपये मिलने लगे। उस समयभी उनके पास आश्रित विद्यार्थियों का परिवार बना रहता था। सब चीज़ों की सस्ती थी और कोंकण का रहन-सहन सादा, एवं बहुत ही कम खर्च का होनेसे वे समय २ पर अपने आश्रित विद्यार्थियों को यथाशक्ति सहायता पहुँचा सकते थे। किन्तु यह इतनी सहायताभी वे प्रेमपूर्वक करते थे। आगे चलकर गंगाधररावजी का तबादला १५ रुपये पर चिपलून हुआ। फलतः उसी हिसाबसे इनका आश्रित वर्ग भी बढ़गया। अपने धर्मनिष्ठ पिताकी आज्ञानुसार गंगाधररावजी ने कुछ दिनों तक भोजनदक्षिणा देने का नियमभी रक्खा था। जिस परसे हिसाब लगाकर देखा गया तो डेढ़ वर्ष में उनके यहां बाहरी और दक्षिणा देने योग्य कुल मिलाकर १००० मनुष्योंके भोजन पानेका पता लगा। सारांश, इस तरह अनायास ही उन्हें सहस्र भोजन का पुण्य मिल गया।

गंगाधररावजी कुछ दिनों चिपळून में रखे गये, पश्चात् २५ रुपये मासिक पर खास रत्नागिरी भेज दिये गये। उन दिनों न तो अध्यापक तैयार करने के ट्रेनिंग कालेज ही थे और न इस प्रकारका कोई 'स्केल' ही बना हुआ था कि अमुक सार्टिफिकेट वाले को अमुक वेतन दिया जाय। आज कल के हिसाब से उस समय के अध्यापकों का वेतन कम था, किंतु फिर भी कहा जाता है कि योग्यता अवश्य ही आज से कहीं बढ़ कर होती थी। ट्रेनिंग कॉलेज में शिक्षा पाने का सुभीता न रहने पर भी बुद्धिमान मराठी शिक्षक अध्यापन कार्य के साथ २ अपने अध्ययन का काम भी जारी रखते थे। गंगाधररावजी ने खुद अपने ही प्रयत्न से संस्कृत और गणित इन दो विषयों में बहुत कुछ प्रावीण्यता प्राप्त कर ली थी। उनका गणित विषयका अध्ययन शून्यलब्धि तक पहुँच चुका था; और संस्कृत-विषयके अध्ययन परसे तो उन्हें सब लोग गंगाधरपंत की अपेक्षा गंगाधर 'शास्त्री' के ही नाम से अधिक पहचानते थे। डॉक्टर रामकृष्णपंत भाण्डारकर और गंगाधरपंत उर्फ गंगाधरशास्त्री तिलक का परस्पर बहुत प्रेम था। इसका मूल कारण, दोनोंका रत्नागिरी-निवासी होना नहीं बल्कि उभय महानुभावों की संस्कृतविषयक अभिरुचिही था। गंगाधर-रावजी उन लोगों में से थे जो अंग्रेज़ी शिक्षा प्राप्त न होनेसे ग्रेजुएट न बन सके थे और इस कारण दुनयावीक दृष्टिसे जिनकी बहुत कुछ हानि हुई। बुद्धि के तीव्र

होते हुएभी इन्हें अंग्रेजी पढ़ने का मौक़ा न मिला, और जन्मभर जो काम करना पड़ा वह भी वहुत मामूली दर्जे का था अर्थात् आरंभ में मराठी शिक्षक का और इसके बाद असिस्टंट डिपुटी इन्स्पेक्टर का। इसी प्रकार गंगाधररावजी के हाथों ग्रंथरचना भी साधारण श्रेणी कीही हुई। उन्होंने इंग्लैण्ड का इतिहास, अंकगणित और लघुव्याकरण आदि शालोपयोगी पुस्तकेंही वनाई और उनमेंसे कुछ पुस्तकों पर शिक्षाविभागने इन्हें उचित पुरस्कार देकर उनका अधिकारभी खरीद लिया।

इधर, रामचंद्रपन्त ने चित्रकूट जाकर वहां पेशवा के पास कुछ वर्षोंतक कोठारी का काम किया। और इसके बाद काशी चले गये। वहां जाते ही तत्काल उनकी इच्छा संन्यास लेने की हुई, किन्तु उनदिनों देशमें विद्रोह शान्ति के लिए ज़ोरशोर से प्रयत्न हो रहे थे, और कितने ही अपराधी अपने बचाव के लिए संन्यासी हो रहे थे। अतएव कहा जाता है कि सर्कार ने काशीमें विशेष प्रबंध करके यह गुप्त आज्ञा प्रचारित करदी थी कि बिना सरकारी प्रमाणपत्र दिखाये कोई किसी को संन्यासी की दीक्षा न दे। फलतः इस प्रमाणपत्र को पाने के लिए कहिये अथवा संन्यास लेने से पूर्व एकवार जन्मभूमि के दर्शन करने की इच्छा से कहिये— किन्तु रामचंद्रपन्त काशीसे कोंकण लौट अवश्य आये। उस समय-तक गंगाधररावजी के पुत्र हमारे चरितनायक का भी जन्म हो चुका था, अतएव दादा को पोते मुखावलोकन का सुअवसर प्राप्त हो गया। इस तरह उनका आना संसारिक दृष्टिसे भी सफल हुआ। किन्तु फिरभी संन्यास ग्रहण करने की उनकी इच्छा पूर्ववत् वनी हुई थी, अतएव वे फिर काशी लौट गये और वहां जाकर उन्होंने संन्यास ग्रहण करलिया। इसके वाद सन १८७२ में वहीं उन्होंने समाधी लेली।

गंगाधरराव को आरंभ से ही दारिद्र्य का सामना करना पड़ा, किन्तु सतत परिश्रम के द्वारा थोड़ेही समय में उन्होने अपनी आर्थिक स्थिति को ठीक कर लिया। बाल्यावस्थामें ही उनके परिवार से तहसीलदारी का ऐश्वर्य नष्ट हो गया था, और केवल "खोती" पर निर्वाह करने का मौका आया, इधर परिवार वढ़ने लगा, ऐसी दशामें पारिवारिक कलह का बढ़ना स्वाभाविक ही था। केशवराव के जीते जी जो एक्यभाव था, परिवार में वह आगे न टिक सका। "सीत आबैन मया-तैन व अलफ" नामक वर्ष में पारिवारिक प्रबंध के लिए लिखी गई जो सूची [यादी] हमारे देखने में आई है, उसमें निम्नलिखित वृत्तान्त दिया गया है। तीर्थस्वरूप पिताकी मृत्यु होने के वाद से कुनबे के कुछ पुरुष उद्योग—धन्दे के लिए बाहर चले गये और कुछ घर रहते हैं। इस कारण तथा अन्य कई-एक कौटुम्बिक कारणों से एक-दूसरे के मनमें अनेक प्रकार अन्देशे उत्पन्न होने लगे,

जिनसे प्रतिदिन फूट का भाव बढ़ चला। फलतः वंश-कीर्ति का कायम रहना असंभव जानकर परिवार के छोटे बड़े प्रत्येक व्यक्ति के अन्देशे दूर करने और यथानियम व्यवहार चलाते हुए लौकिक-ख्याति को कायम रखने के आशय से उपर्युक्त सर्वानुमति के अनुसार व्यवहार किया जाना चाहिये, जिसके नियम इस प्रकार हैं:-" इत्यादि।

उस नियमपत्र की मुख्य धारा का आशय इस प्रकार है कि "पिता की दो स्त्रियों की संतान होनेसे सौतियापन अवश्य हो सकता है, किन्तु नफ़ेनुकसान की दृष्टिसे दोनों बराबरी के हिस्सेदार हैं। इसलिए सर्वानुमति से सगे या सौतेले का भाव मनमें न लाकर चारों भाइयों को एक मत से और प्रधानतः सबसे जेठे भाई रामचंद्रराव की आज्ञानुसार बरतना और प्रत्येक विषय में उनकी अनुमति लेना चाहिये। सब लोगोंका लेनदेन एकत्र रखाजाकर एक ही बही में यह सब लिखा जावे। और लोगोंका ऋण कुछ घर की चीजें बेचकर चुकाया जाय और शेष रोजगार की आय से चुकाया जाय। घरकी बेटियों को अन्नवस्त्र दिया जाय और नैहर रहनेवाली को नैहर से यदि कुछ मिले तो उस पर कोई अपना अधिकार न जमावे। घर रह कर रामचंद्रपंत खेती करावें और बाहर जाकर नौकरी करनेवाले थोड़े खर्च में अपना निर्वाह करके बचा हुआ रुपया रामचंद्रराव के पास भेज दें और वे उससे ऋण चुकाने का उद्योग करते रहें। यदि रोजगार करनेवाला या दूसरा कोई व्यक्ति परिवार से फूट कर अलग हो जाय तो उसे वृत्ति, या पारिवारिक सम्पत्ति में से कुछभी न दिया जाय और न इनपर उसका कोई हक़ही रहे।" मतलब यह कि रामचंद्रराव सबकी सलाह लेकर नेता के रूप में परिवार का सारा कारोबार चलावें और सब उनकी आज्ञा में चलें। इस तरह गृहस्थी का प्रबंध हो।

इस नियमयुक्त प्रतिज्ञापत्रपर सब लोगोंने हस्ताक्षर किये और अपने कुल-देव "लक्ष्मीकेशव" की शपथ लेकर स्वीकृति दी। इस तरह बिखरती हुई गृहस्थी को पुनः सुसंगठित बनाने के लिए सबने दिलसे प्रयत्न किया। यह पत्र ई. सन १८४६ का है। जान पड़ता है कि इसके अनुसार कमसेकम १०-१५ वर्ष तो व्यवस्था अवश्यही रही होगी। किन्तु कोंकण में निर्वाह के साधन मर्यादित हैं और परिवार बहुत बढ़ जाते हैं, अतएव ऐसे बड़े परिवारों में अधिक समयतक एका क़ायम रहना असंभवसा हो जाता है। किन्तु 'देश' में पांचपचास आदमियों के कई परिवार एकत्र रहकर पीढ़ीदरपीढ़ी सुख पूर्वक कालक्षेप करते हुए देखने में आते हैं। आजभी कितने ही गाँवों में वहां के पटेल या ज़िमींदार के परिवार इतने बड़े देखे जाते हैं जिन्हें एक छोटासा गाँव भी कह दिया जाय तो अनुचित नहीं होगा। किन्तु इसका कारण एकमात्र यही है कि 'देश' में निर्वाह के साधन और ख़ासकर कृषिसम्पत्ति बहुत हैं। कोंकणस्थ मनुष्यों का स्वभाव

बेमुरव्वत होता है, और उनमें कंजूसी अधिक प्रमाणमें होती है। इसका दोष उन लोगों की अपेक्षा यथार्थ में वहां की परिस्थिति कोही दिया जा सकता है। भौतिक परिस्थिति के अनुसार मनुष्य का स्वभाव बदलता रहता है और उसमें नाना प्रकार के गुणदोष आ जाते हैं। अंग्रेज तत्ववेत्ता बर्कले के इस सिद्धान्त का पूर्ण समर्थन कोंकण और देश इन दो प्रान्तों की भौतिक परिस्थिति एवं वहां के मनुष्य-स्वभाव के गुण-दोष की तुलना करने पर सहजही में हो सकता है। जहां घास और आधे घास तक खेतों के टुकड़े करके हिस्सा लिया जाता है, उस संकुचित क्षेत्र के लोग क्षुद्र एवं कृपण बुद्धिवाले क्यों होते हैं, और 'देश' में जहाँ इतने २ बड़े खेत एक नंबर में होते हैं कि जिनके सिरे तक दृष्टि भी नहीं पहुँच सकती हैं उस प्रदेश के लोगों का मन आयेगये का हिसाबतक न रखने जितना विशाल क्यों होता है, इसका विशेष स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती।

सन १८४६ की संयुक्त-पारिवारिकता के प्रतिज्ञापत्र में वर्णित ऐक्यता सन १८६० से भंग हो चली, और सन १८६५ ई० में तो अदालतमें मुकद्दमे बनी होने लगी। तीनों अदालततक मामले चल कर अंतमें अव्वल हुक्मनामें कीही बजावटी हुई और उसके अनुसार पहिली बार बटवारा हो गया। इसमें "खोती" का सम्मान और उसके आय-व्यय का अधिकार छोटी शाखा को सौंप दिया गया, अतएव उसपर रामचंद्रराव का कुछभी अधिकार न रहा। बाकी सब हिस्से बराबर हुए। इस विभाजन-पत्र (बँटवारे) को देखनेपर ज्ञात हो सकता है कि कोंकणी लोगोंकी मिलकियत का प्रमाण कितना सूक्ष्म हो सकता है। जिस हिसाबसे वह मिलकियत सूक्ष्म होगी उसी हिसाबसे उसपर अधिकार प्रकट करनेकी दृष्टी भी अवश्य सूक्ष्म होनी चाहिये। शब्दशः जहां सुई की नोकके हिस्से करने पड़ते हैं और हद्द बांधनी पडती है, वहां ग्राहकबुद्धि भी उतनी ही बारीक (कुशाग्र) होनी चाहिये। क्योंकि उसके स्थूल होनेपर कामही नहीं चल सकता। कोंकण प्रान्त के वकील अधिक जानकार क्यों होते हैं? और कोंकणमें काम कर आनेवाला मुन्सिफ हर किसी तरह के मामलों को निपटा देने के लिए समर्थ क्यों माना जाता है? इसका सच्चा श्रेय कोंकण प्रदेश के क्षेत्र-संकोच को ही प्राप्त हो सकता है। उपर्युक्त बँटवारेमें रामचन्द्र केशव तिलक-अर्थात् लोकमान्य के पितामहके हिस्सेमें ४७ एकड़ और २३॥ गुंठे क्षेत्रफलकी तथा १७ रुपये ५ आने ६ पाई लगान की जमीन आई!

सन १८४६ ई. के प्रतिज्ञापत्रवाले समझौते के विरुद्ध सन १८६५ ई. से जो मामले-मुकद्दमे और हिस्सेरसीके झगड़े शुरू हुए वे आगे चलकर ३०-४० वर्ष तक बराबर जारी रहे। पहली हिस्सेरसी के समय तिलकके पिता 'देश' में चले आये थे। और इन पूना आनेके बाद १७ जून सन १८६६ ई० मे पूना की अदालत से खरीदे हुए स्टाम्प पर लिखा हुआ आपसका समझौता और उसपर दापोली के

मुन्सिफ कोर्ट के दिये हुए हुक्म नामे की नकल हमारे देखने में आई है। उस पर से प्रकट होता है की इस पंच फैसले में वादी के नाते अकेले रामचन्द्र केशव तिलकही थे; क्योंकि उस समय लोकमान्य के पितामह विद्यमान थे और सम्पूर्ण अदालती व्यवहार उन्हीं के नाम से हुआ था उनका मुख्तारपत्र गंगाधररावजीके छोटे भाई अर्थात् लो० तिलक के काका गोविन्दराव तिलक को दिया गया था। जीवनभर में लोकमान्य तिलक अपने कोंकण प्रान्त के गाव में पूरा एक सप्ताह भी न रहे होंगे; और न उन्होंने अपनी कोंकणवाली मिल्कियत का कभी उपभोगही किया। पिता की मृत्यु के बाद से ही या कमसे कम अपने सज्ञान [बालिग] होने के पश्चात् लो० तिलक ने अपनी कोंकण की जायदादपर दिलसे जल छोड़ दिया था। अन्तमें अपने वसियतनामें में इस जायदाद को उन्होंने अपने कुलदेव 'लक्ष्मीकेशव को' अर्पण कर दिया है।

सन १८६६ में चार दिन के लिए तिलक कोंकण में गये थे, और उस समय पितामह की अर्जित भू-सम्पत्ति झगड़े में पड़ रही थी। अगर हो सके तो अपने हिस्से में आनेवाले भाग का झगड़ा तय करके उस भूमिकी आय पूर्व संकल्पानुसार इष्टदेव लक्ष्मीकेशव को अर्पण कर देने की उनकी इच्छा थी। कोंकण प्रदेशवालों की यह धारणा है कि अपने गाँव के मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराना उन सपूतों का कर्तव्य है, जिन्होंने कोंकण से 'देश' में जाकर उत्कर्ष पाया है, और ऐसा होना सब प्रकार उचितभी है। इसी प्रकार कई घरानों के इतिहास देखनेपरभी इस बात का पता लगता है कि ये वंशज अपने इस कर्तव्य को भली भांति समझे हुए हैं। किन्तु इसपर से यह न समझ लेना चाहिये कि 'देश' में आ बसनेवाले कोंकणी लोग यहां (देशमें) नये मन्दिर नहीं बनवाते, किन्तु वहां का यह रिवाजसा है कि ऐसे कार्य में प्रथम सम्मान कोंकणस्थ कुलदेवता या ग्रामदेवता के मंदिर के उद्धार को दिया जाय। कोंकण प्रान्तके देवी-देवताओं के वार्षिकोत्सव लग भग उस बृहत् सम्मेलन के समान कहे जा सकते हैं जिसमें कि अन्यान्य जिलों में बसे हुए सम्पन्न ग्रामवासी इकट्ठे होते हों और जहां हाजिर या गैरहाजिर प्रधान ग्रामस्थों की 'डिरेक्टरी' पढ़ी जाती हो। प्रतिवर्ष किसी न किसी की ओर से इन देवताओं को दान मिलताही रहता है। अस्तु; सन १८८६ के मार्च महीने में चिखलगाँव में रहनेवाले तिलक के एक वंशज पत्र में लिखते हैं कि "तुम्हारे उधर जानेके बाद यहां का वृत्तान्त क्रमशः इस प्रकार है:- मंदिरका काम हो रहा है, किंतु पत्थर निकालनेवाले होशियार कारीगर नहीं मिले। इस कारण पत्थर निकाले न जा सके और न ईमानदार एवं चुस्त काम करनेवाले ही मिले। अतएव बतलाये हुए नमूने के अनुसार काम निश्चित समय में हो सकने की आशा नहीं की जा सकती। ....चिखलगाँव से कलही वापस आया

है। देवालय का काम दक्षिण और उत्तर ओर की दीवारोंपर से मेहराब बनने का कल से शुरू हो गया है"।

कभी२ मंदिरका जीर्णोद्धार करानेवाला मिलजानेपर भी नागरिकता और देव-सम्पत्ति के कारण रुकावट उत्पन्न हो जाती है। क्योंकी जो झगड़े वहांकी आय के सम्बन्ध में होते हैं वेही प्रायः देवस्थान के अधिकारों के विषयमेंभी उठ खड़े होते हैं। यदि मालिक मुक़ामपर मौजूद न हो और खेत लगानपर उठादिये गये हों तथा वसूली का काम किसी तीसरे आदमी को सौंप दिया गया हो तो मालिक को कोंकणी जमीन की मालगुजारी चुका सकने जितनी रक़मभी वसूल नहीं हो सकती। यही दशा लो० तिलक की जायदाद की भी थी। 'खोती' गाँव की उस समयतक ठीक२ हिस्से रसी न होने से किश्त भरने में गड़बड़ मची रहती थी। माल-गुजारी की किश्त चुकाने की ज़िम्मेदारी एकके उपर थी तो लगान वसूल करना दूसरेके अधिकार में इस प्रकार की दशा थी। वही उपर्युक्त महाशय एक स्थानपर लिखते हैं की "कलेक्टर साहेब के यहां अर्जी देकर आधे गांव का हिस्सा कराये बिना कबूलियत देनेके लिये कोई मार्गही नहीं रहा है।" सारांश, उस समय तिलक की कोंकणस्थ भूसम्पत्ति की दशा "भइ गति सांप छछूंदर केरी" जैसी थी। इधर तिलक का निश्चय था कि मुफ्त में ही कीसी किसान या रिश्तेदार को उससे नफा उठाने देने की अपेक्षा जमीन कुलदेव को अर्पण कर देनाही सब प्रकार उचित है। किन्तु बिना ठीक २ हिस्से रसी हुए और बिना चारों ओर से सीमा बना दी जाने के वसूली काम ठीक तरह नहीं हो सकता। इसी तरह नाममात्र के लिये भी यदि किसीने अपना हिस्सा देव-मंदिर को लिख दिया हो तोभी हिस्सा बँटानें के लिये खुद देवता वादी-प्रतिवादी बनकर थोड़ेही अदालत में जा सकते हैं? इस लिये केवल आयमात्र ही देवता के नाम लिख देने से काम नहीं चल सकता, बल्कि वादी-प्रतिवादी बनकर ठीक तरह से हिस्सेरसी करालेने के बाद ही जमीन को देवमंदिर के नाम लिखनी चाहिये। इसी लिए लो० तिलक को वकील के द्वारा अदालत में लड़ना पड़ा था। इसी प्रकार लो० तिलक के पिता गंगाधर रावजी ने नौकर हो जाने पर अपनें भाई-बन्धुओं के कुछ फुटकर हिस्से भी खरीद लिये थे। इस लिए भी उन्हें बराय नाम वादी-प्रतिवादी बनकर झगड़ा निपटाना पड़ा।

तिलक अपनी पितरोपार्जित एवं दूसरी मिलकियत को सालवारी पट्टेपर किसीनकिसी निकटसम्बन्धी को दे दिया करते थे। किन्तु फिर भी सर्कारी लगान चुकाने के समयतक एक-आध बार रुपया वसूल न होनेपर तिलक को पूने से ही रुपये भेजने पड़ते थे। परिवार की किसी विधवा को अन्नवस्त्र न दिया जानेपर दूसरे हिस्सेदारों के साथ२ बलवन्तरावजी को भी प्रतिवादी होना पड़ता था। पुरानी लिखावट के

अनुसार कुनबे की किसी वृद्धा के मरजाने पर उसकी उत्तरक्रियामें खर्च होनेवाली रकम में भी हिस्सेदारी की जाती और इसी कारण कालान्तर में जाकर यदि किसी वृद्धा का शरीरान्त होता, तो उसके उत्तरकार्य के लिए लो० तिलक को पूना से रुपये भेजने पड़ते, और उनकी बाक़ायदा टिकट लगी हुई रसीदें आती थीं! मतलब यह कि तिलक कोंकणके ऋणानुबन्धको तोड़ने की इच्छा करते तो भी और अपने हिस्से की जमीन से बीस-पचीस रुपये से अधिक आय न होते हुएभी-उसे तोड़ नहीं सकते थे। जब तक तिलक के काका गोविन्दराव जीवित रहे तबतक कोंकणसम्बन्धी सम्पूर्ण व्यवहार एवं लेनदेन का पत्रव्यवहार आदि झंझट वेही सहते रहे। इसके अथवा लो० तिलककी सुसराल मु० लाडघरमें गोपाल बल्लाल बाल के द्वारा फुटकर व्यापारादि भी तिलक की पितरोपार्जित सम्पत्ति में से ही होता था। शके १७६८ से १८०५ तक यानी सात वर्ष में लगभग २७५० रुपये खास लाडघर में ही भिन्न २ लोगों को कर्ज देकर लो० तिलक के नामके दस्तावेज लिखवाने की एक सूची हमारे देखनेमें आई, उसपर से सुनाहुआ अनुमान पुष्ट होता है। दावे-फर्याद का पचड़ा मुद्दतों तक नहीं छूटा। कारण इसका यह था कि स्वेच्छा-पूर्वक अदालत में न जानेपर भी उसे 'सिविल प्रोसीजर कोड' के अनुसार नाम मात्र के ही लिए क्यों न हो किन्तु वादी-प्रतिवादी अवश्य बनना पड़ता था। सबके अखीरमें यानी सन १८६४ में जब दापोली की अदालतमें हिस्से-रसी हुई, उस समय भी लो० तिलक को संयुक्त वादी बनना पड़ा और तब एक भागिदारके हिस्से का जो पंच-फैसला लिखा गया उसमें खुद तिलक को १ रुपया ८ आने १० पाई की लगानकी जमीन और ८ रुपये ११ आने ६ पाई की खोती जमीन मिली। इनमें की कई पट्टियाँ केवल ६ पाई लगानकी भी हैं। १ रुपया ८ आने १० पाईवाले लगान की जमीन में ६-१० टुकड़ियाँ हैं और खोतीवाली जमीन में २५ टुकड़ीयां हैं। कानूनी भाषा के अनुसार उपर्युक्त जमीन के साथ२ इसमें के समस्त "नदी, नाले, जल, तरु, तृण, काष्ठ, पाषाण, निधि-निक्षेप, झाड़, झंकड़" तिलक को मिले!! किन्तु इस सारी सम्पत्ति का मूल्य क्या हो सकता है, इसकी कल्पना पाठक स्वयंही कर सकेंगे।

कोंकण प्रान्त का खोत एक महान् प्रतिष्ठित एवं सुख-सम्पन्न गृहस्थ समझा जाता है। इसी वजह से कितनेही लोगों को भ्रम था की लो० तिलक की पूर्वजोपार्जित स्थावर सम्पत्ति बहुत बड़ी होगी। उनके कई मित्र विनोदपूर्वक इन्हें "घर के धनिक और कोंकण के खोतीदार" कहा करते थे। इतनाही नहीं वरन डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी के आजीवन सदस्यों में आगे चलकर जब झगड़े हुए और परस्पर स्वार्थत्याग की हँसी उड़ाई जाकर परछिद्रान्वेषता होने लगा तब कहा जाता है कि, विपक्षियों ने लो० तिलक की इस सम्पत्ति को लक्ष्य करके उनपर

आक्षेप किये थे। किन्तु उनमें कितना अंश सत्य था, यह उपर्युक्त विवेचन परसे हर किसी की समझमें आ सकता है। इस कोंकणवाली सम्पत्ति की गर्मी तिलक को तो थी ही नहीं, किन्तु इनके पिता गंगाधररावजी को भी उससे कोई विशेष लाभ न हुआ। फिर भी यह कह सकते हैं की गंगाधरपंतने अपने उद्योग के बल-पर निजी सम्पत्ति को साधारण तथा ठीक करलिया था, अतएव बलवन्तरावजी की बाल्यावस्था प्रो० आगरकर की तरह बर्षों बरसे दारिद्र कष्ट में नहीं बीती।

गंगाधरपन्तने सन १८६६ में जबकि वे पूने में थे—उस वर्ष के आय-व्यय का चिट्ठा अपने हाथ से तैयार किया था। वह हमारे देखने में आया है, और उसपर से उनकी साम्पत्तिक स्थिति दर्पण की तरह स्पष्टरूप से जानी जा सकती है। पुराने जमाने के लोगों को अपने जमाखर्च लिख रखने की आदत थी, और यह एक बहुत ही अच्छी आदत कही जा सकती है। आजकल भी श्रीमान और धनिक सेठ-साहूकार एवं कल-कारखाने वालों के यहां हिसाब किताब रखा जाता है, किन्तु मध्यम श्रेणीके लोगों में इस बात का अधिकांश अभाव पाया जाता है। हां, कुछलोग रोजनामचे [डायरी] में कचा हिसाब जरूर रखते हैं, किन्तु यथानियम नित्य का आयव्यय और सिलक लिखनेवाले इनेगिने ही लोग मिलेंगे। अस्तु। गंगाधरपंत की इस वर्ष की आरंभिक बचत २४३ रुपये १३ आने ३ पाई थी। ग्यारह महीने का वेतन, भत्ता, मँहगाई और इनामी किताबों को साथ रखने के लिए मिली हुई ख़र्च की मंजूरी आदि मिलकर कुल जमा ६६६ रुपये हुए; और व्याकरण पुस्तक की विक्री से १०७ रुपये १२ आने ४ पाई आय हुई। इँग्लैंड के इतिहास से ११७ रुपये मिले और सेविंग बैंक से मिले हुए व्याज एवं कोंकण की आय मिलाकर १६१ रुपये २ आने ६ पाई हुए। सिवाय इसके कितने ही दोहरे खाते मिलाकर पूरे साल की जमा रकम ३६५६ रुपये १३ आने ६ पाई लिखी गई है। ख़र्च की मद्द में इस प्रकार रकमें लिखी गई हैं:—५०५ रुपये घर-ख़र्च में साल भरके लिए, १७१ रुपये रामचंद्र केशव तिलक—अर्थात् अपने पिता के लिए काशी के ख़र्च के लिये भेजे गये, दौरे में सवारी ख़र्च के लिए २४८ रुपये, सेविंग बैंक में रखी हुई नई रक़म २०५ रुपये और पुस्तक छपाई ख़र्च ६५५ रुपये मिलकर कुल साल भर का ख़र्च ३६४३ रुपये ८ आने ८ पाई और अगले सालके लिए बचत १६ रुपये ४ आने ८ पाई। इसी जमाख़र्च में दश वर्ष के बलवन्तराव तिलक के लिए समय-समयपर जो कुछ ख़र्च पड़ा, वह भी लिखा गया है, इस पर से पता लगता है कि उस समय तिलक अंग्रेजी पढ़ते थे।

यह ऊपर दिखलाया जा चुका है कि वेतन आदि के सिवाय शालोपयोगी पुस्तकों के द्वारा भी कुछनकुछ आय गंगाधररावजी को होती रहती थी। सोवा

इसके वे कुछ लेन-देन का भी व्यवहार करते थे। इस व्यापार में उन्हें कितनी आय होती थी इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। किन्तु फिर भी वह रकम थोड़ी ही हो सकती है। यही नहीं बल्कि एक व्यापार में तो उन्हें बहुत कुछ टोटाभी भुगतना पड़ा है। इस व्यापार में उनके साथ और भी कई लोगों का रुपया डूब गया। यह सब ख्यातनामा क्राफर्ड साहब की कृपा के फल-स्वरूप हुआ, अतएव इस व्यापार की थोड़ी सी जानकारी करादेना अनुचित न होगा। मि. क्राफर्ड ने रत्नागिरी में अपनी कलेक्टरी के ज़माने में सन १८६३ के मई महीने में "सॉ मिल कम्पनी" नामक सम्मिलित पूंजी का कारखाना खोला था। आरंभ में यह औद्योगिक विद्यालय के रूप में था, और इसमें बढ़ईगिरी का काम बहुत अच्छा होता था। इसकी वहां आज भी जो ख्याति है, वह कुछ मिथ्या नहीं है। हां, तो कुछ ही दिनों बाद क्राफर्ड साहब ने इस विद्यालय को एक बहुत बड़ा कारखाना बनादेने के लिए शेयर्स क़ायम करके कोंकण प्रान्त के कितने ही लोगों से पूंजी इकट्ठी की। और कारख़ाने को सफल बनाने के लिए उन्होंने बहुत कुछ परिश्रम किये। एवं कई प्रकार की युक्तियां भी सोचीं। मलाबार से बढ़िया सागौन की लकड़ी जहाज़ों में लादकर रत्नागिरी बंदरपर लाई जाँय और वहां कारख़ाने में उसमें उमदा माल तैयार करके उसे बेचने की तजवीज उन्होंने की थी। एकबार अपनी गांठ से रुपया लगाकर मॉलमीन से सागौनी लकड़ी रत्नागिरी मँगवाई भी थी। बम्बई की अनेक सरकारी इमारतों और जी. आई. पी. रेल्वे की माल-गाड़ियों के डिब्बों में काम आनेवाली लकड़ी कुछ दिनों तक इसी कारख़ाने से ख़रीदी जाती रही। इसी प्रकार इस कारख़ाने में काम सीखकर तैयार होनेवाले विद्यार्थी भी बम्बई जाकर बढ़ईगिरी का काम बड़े अच्छे ढंग से करने लगे थे। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद कारख़ाने की दशा बिगड़ने लगी। कारण इसका शायद यह था कि कारख़ाने का कारोबार क्राफर्डसाहब अपनी इच्छानुसार चलाते थे, और इधर लोगों को यह विश्वास हो गया था कि, जिस काम में क्राफर्ड साहब मुखिया होंगे उसमें रुपये-पैसे की गड़बड़ हुए बिना नहीं रह सकती। अन्त को यही अनुमान ठीक भी निकला।

हिस्सेदारों को सम्मिलित पूंजी के कारख़ाने के नियमानुसार कुछ वर्षोंतक ६ रुपये सैकड़ा के हिसाब से सूद दिया जाकर काग़ज़-पत्रों में स्थायी पूंजी की रकम भी सिलक में दिखाई गई। किन्तु सन १८६७ से कारख़ाने की हालत डाँवाडोल हो गई। इसपर क्राफर्डसाहब का कथन था कि "इन दिनों पर्याप्त काम न मिलने से गांठका रुपया लगाकर जैसे तैसे कारख़ाना चालू रखना पड़ा, किन्तु अंत में पूंजी यथेष्ट न रहने से अथवा इसी प्रकार के अन्य कुछ कारणों से कारख़ाना और उसके हिस्सेदार डूब गये।" इस कारख़ाने में गंगाधररावजी के हिस्सेदार—

होने की बात हम ऊपर कह चुके हैं। उन्होंने सन १८७० में पूना ज़िले के मुपे नामक गाँवसे अपने रुपये वापस देने के लिए फ्राफर्डसाहब को जो पत्र लिखा था, उसकी खुद गंगाधररावजी के ही हाथ की लिखी हुई नकल हमारे देखने में आई जो कि इस प्रकरणके अन्त में स्वतंत्र परिशिष्ट के रूप में दी गई है।

गंगाधररावजी ने सन १८७० के सितम्बर में फ्राफर्डसाहब से रूबरू मिलकर भी प्रार्थना की थी, और उस समय के आश्वासन के अनुसार विवाह का कार्य आरंभ कर ता० ६ अक्टूबर को उन्होने उपर्युक्त पत्र उनके पास भेजा था। किन्तु जान पडता है कि उसका कुछ भी उपयोग न हुआ। क्यों कि ता० २८ अक्टूबर सन १८७१ में फ्राफर्डसाहब ने उक्त कम्पनी के हिस्सेदारों के पास जो खुली चिठ्ठी भेजी उसमें कारखाने को खरीद लेने के लिए सरकार से प्रार्थना की जाने की सूचना दी थी। इसी प्रकार आजतक उक्त के कारखाने लिए अपनी ओरसे २४ हजार रुपये नुकसान देने और ४० हजार रुपये के आपने खरीदे हुए शेअर्स कंपनी के नाम लिखदे ने की सूचना भी उसमें थी। किन्तु इससे हिस्सेदारों की क्षतिपूर्ति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती थी। उस समय फ्राफर्डसाहब बम्बई में म्युनिसिपल कमिश्नर थे और अकस्मात बीमार हो जानेसे विलायत को जा रहे थे। इसी गड़बड़ में उक्त कारखाना सरकार के हाथों में देने का उनका विचार था किन्तु उनका यह दाव सफल न हुआ।

सारांश यह कि फ्राफर्डसाहेब के कारण गंगाधरपंतको एक हजार रुपये की ठोकर खानी पड़ी। सन १८७२ ई. के जून महीने की २८ वीं तारीख को गंगाधरपंत ने अपना वसीयतनामा लिखकर तैयार किया। उसमें ये एक हजार रुपये दूसरों की ओरसे आनेवाली मदमें लिखे गये हैं और रत्नागिरी के काका फड़के की पांच-पांच सौ की दो रसीदोंका (रत्नागिरी सॉ मिल कंपनीकी) हवाला भी उसमें दिया गया हैं। किंतु जान पडता है कि यह हवाला आखिर तक जों कां त्यों रहा।

गंगाधरपन्त के वसीयत नामें में छोटी बडी सब चिजों सारी जायदाद की सूची में मूल्य भी लिख दिया गया है। उस पर पता लगता है कीं कोंकण-वाली स्थावर भू सम्पति के सिवाय घर में पितरोपार्जित नक्द मिलकियत कुछ भी न थी। आखिरी सिलक लोगोंसे आनेवाली रकम सहित लगभग ८२६७ रुपये दिखलाई गई है। यह सब सम्पति गंगाधर रावजीके पसीने की कमाई थी। इसमें से एक तिहाई रकम उन्होंने अपने छोटे भाई गोविन्द रामचन्द्र तिलक को देने के लिए वसीयत नामें में लिख दिया था और शेष दो तिहाई अर्थात् लगभग ५ हजार रुपये अपने पुत्र बलवन्तराव तिलक को दिये थे। गंगाधरपंत की हिसाब-किताब में चोखापन रखने की जो वृत्ति उनके जीवन-क्रममें देखी गई वही

उनके वसीयतनामे में भी पाई जाती है। उसमें उन्होंने अपने समाधिस्थ पिता की पुण्यतिथि एवं अपनी दादी के उत्तर कार्य तथा खुद अपने वर्षश्राद्धतक में किसप्रकार ख़र्च किया जाय, यहांतक की रक़में तफसीलवार लिख दी हैं।

अपने बाद सारी जायदाद छोटे भाई के हाथ में रहे, और अज्ञान बालक पुत्र को बी. ए. तक पढ़ाया जाय, इसी प्रकार उसके बालिग हो जाने पर भी चचा-भतीजे जहांतक हो सके एकत्र ही रहें। यदि आगे चलकर ऐसा न हो सके तो कोंकण की सारी जायदाद दोनों आपसमें बराबर बाँटलें। और नक़द जायदाद उपर्युक्त नियमानुसार विभक्त कर ली जाय। ये सब बातें खुलासेवार वसीयतनामे में लिखी हुई हैं। उसका एक वाक्य इस प्रकार है:– "मेरे पुत्र बाल गंगाधर तिलक की बी. ए. की परीक्षा होने तक यदि किसी प्रकार की सहायता आवश्यक हो तो वह भी उक्त रकम में सेही दी जाय।" इसमें "किसी प्रकार की सहायता आवश्यक हो" इन शब्दोंपरसे स्पष्ट प्रकट होता है कि उन्हें इस बातका पूर्ण विश्वास था कि बलवन्तराव तीव्रबुद्धि के बालक हैं इसलिए, यथासंभव छात्रवृत्ति प्राप्त कर के वे अपनी कॉलेज की शिक्षा सहजही में बिना किसी ख़र्च के समाप्त कर सकेंगे।

इन सारी बातोंसे प्रगट होता है कि गंगाधरपन्त मितव्ययी, दृढ़प्रतिज्ञ, शुद्ध-हृदयी उद्योगशील तथा कर्तव्यनिष्ठ थे। यदि उनकी पारिवारिक स्थिति अच्छी होती और इच्छानुसार वे अंग्रेज़ीकी यथेष्ट शिक्षा प्राप्त कर पाते तो अवश्यही वे बी. ए. पास करके शिक्षाविभागमें हेडमास्तर या प्रोफेसर बन सकते थे। किन्तु केवल अंग्रेज़ी शिक्षाके अभावसे वे पीछे रह गये और असिस्टंट डिपुटी इन्स्पेक्टरके पदसे आगे न बढ़ सके। और गरीबीके कारण शालोपयोगी अर्थात् अधिक बिक्रीके द्वारा द्रव्यलाभ करादेनेवाली पुस्तकें लिखकर ही उन्हें अपनी महत्वाकांक्षा पूर्ण कर लेनी पड़ी। किंतु फिरभी लोग उन्हें बुद्धिमान, विद्वान एवं चतुर समझते थे। स्वाभिमानके लिए भी उनकी ख्याति थी। आगे चलकर कोल्हापुरके ख्यातनामा दीवान कहलानेवाले माधवराव बर्वे जब डिपुटी एज्यूकेशनल इन्स्पेक्टर थे उस समय गंगाधर रावजी उनके असिस्टंट थे। दोनोंकाही स्वभाव तीव्र था इसलिए आपसमें पटती न थी, अतएव गंगाधरपन्तको असिस्टंट डिपुटीकी जगह मिलनेमें भी कुछदिनं तक नुक्सान उठाना पड़ा। किन्तु फिर भी इन बड़े छोटों में बर्वे बिलकुल लोकप्रिय न थे, जब कि गंगाधर रावजीकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ी हुई थी। इसपरसे अनुमान होता है कि कमसेकम लोकमतानुसार तो बर्वे बुरे व्यवहारके लिए बदनाम थे। संयोगवश बर्वे और तिलकका मनमुटाव अगली पीढ़ीतक बना रहा। "केसरी" और "मराठा" में बर्वेके विरुद्ध जो लेख कोल्हापुर-वाले मामले में निकले उनपरसे कोई यह नहीं

यह सकता भी उनके द्वारा लो. तिलक ने गर्वे से अपने पिताके वैर का बदला चुकाया था। क्योंकि गर्वे के विरोधी तिलक की ही तरह और भी सैंकड़ो व्यक्ति थे। और उनका वैर निश्चयपूर्वक आनुवंशिक न था। गर्वे और तिलक का मनमुटाव हो इसतरह बनारहने में कार्य-कारण सम्बन्ध बिलकुल न होकर वह केवल कर्म-धर्म-संयोग ही था। अधिकारियों के लिए अप्रिय होकर भी लोकप्रिय बननेका गुण लो. तिलकको चाहे विरासतमें न मिला हो, किन्तु फिर भी, अपने पिताके बाद और आगे चलकर लो. तिलक ने इसे बराबर क़ायम रक्खा, यह बात तो सर्वश्रुत है ही।

जब गंगाधरपन्त रत्नागिरी से बदल कर पूना आये उस समय डॉ. भाण्डार-कर रत्नागिरी हाईस्कूल में मास्टर थे। बिदाई के समय गंगाधर रावजी का अनेक स्थानों में सम्मान किया गया। उन जलसों में इनके गुणवर्णन करने का कार्य डॉ. भाण्डारकर ने किया था। और इसे उन्होंने बड़ी उत्कण्ठा एवं शुद्ध अंतः-करणसे किया था। लो. तिलकने अपने पिता एवं भाण्डारकरके इस पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध को निजी व्यवहार में आजीवन निभाया। दैवयोग से दोनों के व्यव-साय, जीवन-क्रम तथा ध्येय और स्वभाव में एकदम विभिन्नता रही, पर फिरभी उक्त स्नेह में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने पाई। विवाद के समय तो जीवनभर प्रति पक्षी के रूप में ही लोगोंके सन्मुख इन दोनों का सार्वजनिक नाता बना रहा, किन्तु घर व्यवहार में जब दोनों की परस्पर भेट होती तब दोनों ओरसे प्रारंभ में तो पूर्वार्जित स्नेह-सम्बन्ध का ही प्रवाह उमडता था। इधर भाण्डारकर जहां तिलक को अपने मित्रका पुत्र समझते थे, वहीं तिलक इन्हें अपने पिता के स्नेही समझकर आदर बुद्धि एवं नम्रता से इनके साथ बरतते थे। रत्नागिरिसे बदली होते समय एक जगह के व्याख्यान में भाण्डारकर ने गंगाधरपन्तजी के सम्बन्ध में इस प्रकार अपने भाव प्रकट किये थेः– "गंगाधरपन्त की विद्वत्ता, सदयता, कल्पकता, एवं निस्पृहता-युक्त आलस्यरहित आचरण अर्वाचीनों के लिए अनुकरणीय कहा जा सकता है। मैं समझता हूं की आज हमारे हाथ की धरोहर, व्याकरणका खजाना, मराठी भाषा का समुच्चय एवं गुरुशिष्य-भक्ति का दुर्लभ भंडार यहांसे जा रहा है।" यदि गंगाधरपन्त शुरू से ही पूने में होते तो सम्भव था कि वे भी कृष्णशास्त्री चिपलू-नकर की तरह ख्याति लाभ करते। और यदि ऐसा होता तो कृष्णशास्त्री और विष्णुशास्त्री की ही तरह गंगाधरशास्त्री और बालशास्त्री इन पिता-पुत्र की जोड़ी भी अद्वितीय समझी जाती।

भाग पहला, परिशिष्ट (१) तिलक का वंशवृक्ष।

केशव
|
दामोदर [दादाजी]
|
कृष्णाजी
|
केशव
|
कृष्णाजी [मृ० शके १६८०] — अन्य तीन पुत्र.
|
केशव उर्फ केसोपन्त — अन्य दो पुत्र
|
रामचन्द्रपन्त [जन्म सन १८०२ समाधि १८७२] — अन्य तीन पुत्र
|
गंगाधरपन्त [जन्म ता० १३-८-१८२०, मृत्यु ३१-८-१८७२] — गोविंदराव [जन्म १८३१ ई. मृ० १९०४ ई.]
= [पार्वतीबाई मृ० २४-७-१८६६]
|
बलवन्तराव [जन्म २३-७-१८५६, मृ० १-८-१९२० ई.]
= [सत्यभामाबाई मृ० ७-६-१९१२ ई.]
|
सौ० कृष्णाबाई [ज० सन १८८०] = वि० गं० केतकर वकील नासिक]
विश्वनाथ [ज० १८८३ मृ० १९०३]
सौ० दुर्गाबाई [ज० १८८६] = [पां० रा० वैद्य सरकारी ईंजिनियर]
सौ० मथुराबाई [ज० १८९१] = [डॉ० श्री० मो० साने प्रोफेसर लखनऊ]
रामचन्द्र [ज० १८९४]
श्रीधर [जन्म १८९६]

लोकमान्य तिलक ने आपने जीवन में ही किसी विशेष कारण से आपना वंश-वृक्ष तयार किया था, उसे कुछ विशेष खोज करनेके बाद उनके सबसे छोटे पुत्र श्रीधरपन्तने तारीख १ मार्च सन १९२१ को प्रकाशित किया है। उसपर से लगभग नौ पीढ़ियों तक के विस्तार की जानकारी उपलब्ध हुई है। उससे पता लगता है कि इस वंशका धोंडोपंत नामका एक पुरुष पानीपत की लड़ाई में

गया था, और उभरते यौवन समय मार्ग में ही कालकवलित हो गया। इसके बाद उनके भतीजे केशव उर्फ केसोपंत अर्थात् लो. तिलक के प्रपितामह के समय से सुसम्बद्ध जानकारी प्राप्त होती है। इस वंश-वृक्ष की चार पांच मुख्य शाखाएँ हैं, और प्रत्येक ख्यातिलाभ करनेवाले भी दो एक व्यक्ति पाये जाते हैं। इस वंश में, कोई मुन्सिफ तो कोई इंजिनियर एवं कोई कविके नाते प्रसिद्ध हुआ है। कृष्णाजी गणेश तिलक सितारे में सब-जज थे, तो गोपालराव तिलक सिन्ध एवं अन्यत्र दो एक स्थानों में एक्जिक्यूटिव इंजिनियर के पदपर थे और बाद में पेन्शन लेकर बागलकोट में उन्होंने अपना निवासस्थान बनाया, विनायक विट्ठल तिलक हाईकोर्ट में आसिस्टंट रजिस्ट्रार एवं पूने में स्मॉल-कॉज कोर्ट के जज थे। आजकल ये कोल्हापुर में रहते हैं। नारायण वामन तिलक का नाम आधुनिक महाराष्ट्रीय कवियों में विख्यात ही है। जिस प्रकार इस वंश में धर्मनिष्ठा का गुण अनेक व्यक्तियों में देखा गया, उसी प्रकार धर्मान्तर के दोषसे भी यह बच न सका। कवि नारायण वामन तिलक एवं दूसरे एक विश्वनाथ मोरोबा ने परधर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। लोकमान्य को इन बातों पर हृदय से दुःख होता था। किन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि किसी भी वंश में सब व्यक्ति मनोनुकूल नहीं मिल सकते। कुनबे में जिस प्रकार कोई कुल-दीपक निकलता है उसी प्रकार कोई कुलकलंक भी अवश्य निकल आता है। उपरि निर्दिष्ट वंश-वृक्ष में बतलाये हुए अर्थात् चिखलगाँववाले परिवार के सिवाय तिलक-वंशकी अन्य कई शाखाएं पेन तहसील के वरसई और वावशी तथा पनवेल तहसील के पलस्पे एवं मालवण तहसील के आचरें प्रभृति गाँवो में हैं, और दो-ढाई सो वर्ष पहले ही जिन शाखाओं के पुरुष चिखलगाँव छोडकर बाहर चले गये और आगे जाकर कई कारणों से जिन्हें अपनी अल्ल बदलनीं पड़ीं, उन शाखाओं के विद्यमान होने का भी पता लगता है।

भाग पहला, परिशिष्ट (२).

क्राफर्ड साहब के नाम भेजा हुआ गंगाधरपन्त का पत्र।

महबान क्राफर्ड साहब एस्क्वायर बहादुर मु० मुम्बई। सेवामें गंगाधर रामचन्द्र तिलक की ओरसे निवेदन इस प्रकार है कि, रत्नागिरि सॉ मिल कम्पनी में मेरे प्रारंभ में एक हजार रुपये थे, किन्तु आगे चलकर उस कम्पनी में और भी हिस्सेदार शामिल किये गये। उस समय मेरा रिज़र्व फण्ड पूंजी आदि में लगा हुआ था, अतएव आपनेही मेरी रक़म दो हज़ार कर दी। इसके बाद दो एक बार आपकीही ज़बानी मुझे यहभी मालूम हुआ कि उस रकम पर सहजही मे सैंकड़ा १९ रुपये के हिसाब से मुनाफा मिल सकेगा। और पिछले चार वर्षोंतक

आपने प्रतिवर्ष दस रुपये सैंकड़ा के हिसाबसे मुनाफा चुकाया भी है। उसी नियमानुसार आगामी दिसम्बर में चार वर्ष फिर पूरे होने को हैं। इस मुद्दत के नफे की रकम आठसो रुपये होती है, किन्तु इसमेंसे आजतक मुझे एक पैसा भी नहीं मिला। आपको विचार करना चाहिये कि हम बम्बई, पूना या अहमदाबाद जैसे प्रसिद्ध शहरों के धनवान लोगों की तरह नहीं हैं, बल्कि रत्नागिरि जिले के कंगाल ब्राह्मण हैं। जो तोड़ कड़ी मेहनत से हमने जो कुछ इकट्ठा किया था, वह सब आपके अनुरोधानुसार "रत्नागिरी सॉ मिल" कम्पनीमें आपही के विभाग-पर लगा दिया। किन्तु उसका इन चार वर्षों में एक पाई भी मुनाफा नहीं मिला। और हम लोगों की आमदनी का और कोई जर्या न होनेसे अपने बाल-बच्चों के ब्याह शादी भी हम इसीपर अवलम्बित समझते हैं। पिछले दो वर्षों से मैं अपने पुत्र के विवाह की बात सोच रहा हूं, किन्तु यह कार्य कम्पनीसे उक्त नफे की रकम मिलने पर ही किया जा सकता है। क्योंकि दूसरों से रुपया मांगने की अपेक्षा अपनी इच्छाओं का दमन करनाही मुझे विशेष हितकर प्रतीत होता है। इसी लिए अबतक प्रतीक्षा की। किन्तु अब लड़का बड़ा हो गया और उसका विवाह न करने के कारण लोग मेरी हँसी उड़ाते हैं। यह भी सह नहीं सकता यही बात आपको समझाने के लिए मैं ता० १८ सितम्बर १८७० ई० के दिन आपसे मिला था। उस समय दिये हुए आपके इस वचनानुसार कि विवाह से पूर्व पत्र भेजने पर उचित व्यवस्था कर दी जायगी— यह पत्र सेवा में भेज रहा हूँ। और कोंकण में ही लड़की ठीक कर रक्खी है। इसलिए बहुतही गरीबी से कार्य करने पर भी सोनेचांदीके गहने और कपड़े एवं अन्नवस्त्र तथा मजदूरी आदि मिलाकर कमसेकम एक हजार रुपये तो हरहालतमें दरकार होंगे। इसलिए उसी चिन्तामें लगे रहने के कारण आपके कथनानुसार यह पत्र भेजा है। आशा है कि इसी दीपावलिसे पूर्व मुझे पूना के कलेक्टर के खजाने से कमसेकम आठसौ रुपये मिल-सकने योग्य मनीआर्डर भेज देने की व्यवस्था करके ये रुपये मेरे नामपर लिख लेने की कृपा करेंगे। कुल कम्पनी का हिसाब होकर जब रुपये मिलेंगे तब ये घटाकर शेष रकम मुझे दी जाय। जरूरी का काम है और पत्र भेजने के लिये आपने मुझे वचन दिया है, उसी विश्वास पर यह पत्र आपकी सेवामें भेज रहा हूं। बिना पास में पैसा आये न तो विवाहकी तैयारी की जा सकती है और न किसी प्रकार का कोई ठहराव ही हो सकता है। इधर विवाह के मुहूर्त भी नज़दीक आ रहे हैं। इसलिए पत्र पातेही कमसे कम ८०० रुपये भेजने की अवश्य कृपा कीजिये। अधिक क्या निवेदन किया जाय! विशेष विनय।

मुकाम मुरुँ,
ता० २ अक्टूबर सन १८७० ई.

(दस्तखत) आपका सेवक,
गंगाधर रामचंद्र तिलक.

भाग दूसरा.

बाल्यकाल और विद्याभ्यास.

बलवन्तराव तिलक का जन्म तारीख २३ जुलाई सन १८५६ ई. को रत्नागिरी में सदोबा गोरे के घर पर हुआ। यह तिथि हिन्दू पंचांगानुसार आषाढ़ कृष्ण षष्ठी सोमवार शके १७७८ थी, और निश्चित जन्मकाल सूर्योदय-पश्चात् लगभग दो घटिका था। लग्न कुण्डली को देखते हुए ज्योतिषियों के मतानुसार उस समय कोई भी महत्वपूर्ण अथवा अपूर्व योग नहीं था। केवल एक दो योग को छोड़कर शेष कुण्डली साधारण श्रेणि की ही हैं, अतएव किसी ज्योतिषी के लिए उसमें विचार करने योग्य कोई ख़ास बात नहीं हैं। तिलक का जन्म लग्न कर्क, सूर्य स्वगृह में तथा नवम स्थान में गुरु-चंद्र की युति है, बस यहि दो नाम-मात्र के भाग्य-दर्शक योग उनकी कुण्डली में हैं।

तिलक की कुण्डली पर से जितने भविष्य कथन किये गये, उतने आज तक शायद ही दूसरे किसी की कुण्डली पर से किये गये होंगे। किन्तु इसी के साथ हमें यह भी कह देना होगा कि इनमें से जितने भविष्य असत्य निकले उतने दूसरे किसी के भी न निकले होंगे। तिलक के पिता प्राचीन विचारपद्धति के थे अतएव फ़लित ज्योतिष पर उन्हें बड़ी श्रद्धा थी। उन्होंने ठीक समय पर जन्म-टिपन (टेवा) अपने हाथ से बनाकर इनकी जन्म-कुण्डली शास्त्रशुद्ध रीति से तैयार करवाली थी। उस पर से तिलक के लिए द्विभार्यायोग होने का भविष्यकथन किया गया था। किन्तु तिलक के एकपत्नीव्रतकी बात सर्वश्रुत ही है। अस्तु।

तिलक के वैभव-सम्पन्न अथच ख्यातनामा होनेतक तो किसी ने भी उनकी कुण्डली के ग्रहों की छानबीन करके उन्हें कष्ट नही दिया; किन्तु इसके बाद तो फिर किसीने भी इन ग्रहों को चैन नहीं लेने दिया। इसी लिए कदाचित् उन ग्रहों ने भी, अपने को देनेवाले और उलट-पलट कर अपनी दशा एवं अन्तर्दशा निकालनेवाले ज्योतिषियों से बदला चुकाने का मानो निश्चय कर लिया था। क्योंकि उनके कथित भविष्य को मिथ्या सिद्ध कर देना बदला चुकाना नहीं तो और क्या कहा जा सकता है? तिलक के जीवन की कई घटनाएं अभूतपूर्व एवं प्रसिद्ध होने के कारण गतकाल का फलित अवश्य ठीक निकलता रहा, और उसे ठीक सिद्ध करने के लिए फल-ज्योतिष के नियम भी चुपचाप अपनी खींचातानी करवाकर गतघटनाओं से योगबल को अचूक मिला देते थे। किन्तु भविष्य कथन के सम्बन्ध में ये उस्ताद ग्रह अपनी कोईनकोई बात गुप्त रखते थे। दूसरे

ही ढंग सौभाग्यवश स्वयं तिलक को फल-ज्योतिषपर अधिक विश्वास नहीं था। भविष्यकथन की बातों को वे निकम्मे मनोरंजन का एक साधन मानते थे। कमसे कम अपनी उद्योगशीलता एवं निश्चयी चित्तवृत्तिपर तो उन्होंने भविष्य-कथन की छायातक न पड़ने दी। अन्यथा इसका परिणाम न जाने क्या होता। ज्योतिष ग्रहों के विषय में आस्तिक बुद्धि रखते हुए वे भी इस ध्येय के अनुसार बरतते थे कि ग्रहगण अपना काम करें और हम अपना करते रहें अर्थात् Live and let live तुम भी रहो हम भी रहें।

बलवन्तरावजी के जन्मसे पूर्व इनकी तीन भगिनियों का जन्म हो चुका था, और इनके जन्म के समय सबसे बड़ी बहन (अर्थात् इनके भानजे और केसरी के मैनेजर धोंडोपन्त विद्वांस की माता काशीबाई) का तो विवाह भी हो चुका था। पुत्रलालसा से तिलक की माताने कितने ही वर्षोंतक कठिन सूर्योपासना की, और उसीके फलस्वरूप वे बलवन्तरावजीका जन्म होना मानती थीं। इस उपासनासे उनका शरीर बहुत दुर्बल हो गया था, और वैसेभी आरंभसे ही उनकी प्रकृति सुदृढ़ न थी; किन्तु फिरभी संकल्पानुसार व्रत सफल हो जानेपर यदि उन्हें अपने शरीरमें मुट्ठीभर मांस बढ़नेका भान हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

तिलकका नाम लोकव्यवहार में यद्यपि बलवन्तराव रहा है, तथापि उनका जन्म-नाम 'केशव' रखा गया था। यह नाम इनके प्रपितामह एवं कुलस्वामी का नाम होने से रखा गया था। किन्तु "बाल" नामक जो सांकेतिक नाम बाल्यकाल से घरू व्यवहार में प्रचलित हो गया, वह उसी रूप में स्थायी बना रहा।

ज्योतिषियों की तरह तिलक के भावुक प्रशंसक लोगों को भी, उनके जवानी के चरित्र को देखकर यह कहना अच्छा लगता है कि उनका लड़कपन भी अलौकिक लीला में व्यतीत हुआ। किन्तु बुद्धिमत्ता एवं हठीलेपन की गुणावगुण की लीला के सिवाय उनके बालचरित्र में किसी विशेष घटना का होना नहीं पाया जाता। तिलक के पिता संस्कृतज्ञ थे एवं तिलक स्वयं तीव्र स्मरणशक्ति के थे इस कारण बलवन्तरावजी को बहुत ही छोटी अवस्थासे संस्कृत के श्लोकादि सिखाये जाने लगे। 'एक श्लोक याद करनेपर एक पाई पुरस्कार' के हिसाब से प्राप्त की हुई उनकी स्वकष्टार्जित सम्पत्ति, संभव है कि दो एक रुपये तक पहुँच गयी हो! तिलक को घर में या बाहर कहीं भी भोजनके सिवाय और कुछ खानेकी आदत न थी। कहा जाता है कि एक बार शिक्षक ने पाठशाला में मूंग फली खाने का इनपर मिथ्या दोष लगाया, तो वह इनसे सहा न गया। अतएव इन्होंने स्कूल छोड़कर शिक्षक की मनमानी का निषेध किया। सन १८६१ के दश हरेके शुभ दिन तिलक पाठशाला में बिठाये गये। इनके आदि गुरु

भिकाजी कृष्ण पटवर्धन नामके थे। इन गुरुजीके परिवारसे तिलक का सम्बन्ध अगली पीढ़ीतक बना रहा। प्रथम तो तिलक अपने पिता के एकमात्र पुत्र और दूसरे पिता स्वयं एक चतुर एवं परिश्रमी अध्यापक, अतएव शाला की अपेक्षा घर पर ही तिलक की पढ़ाई विशेष रूपसे हो तो इसमें आश्चर्य नहीं।

यज्ञोपवीत-संस्कार के होने से पूर्व ही तिलक की शिक्षा भिन्नतक गणित, रूपावली, समासचक्र, आधा अमरकोश और ब्रह्मकर्म का बहुतसा भाग कण्ठस्थ होने तक हो चुकी थी। सन १८६४ ई. में जब तिलक का यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ तब उस ब्रह्मचारी की शिक्षा को देख कर उपाध्याय और वैदिक गुरु को बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके दोही वर्ष पश्चात् गंगाधरपन्त असिस्टंट डिपुटी इन्स्पेक्टर बनाकर पूना भेज दिये गये (सन १८६६ ई.)। पूना सदा से ही विद्या का मातृ-मन्दिर माना जाता है। जो शुभसंयोग लो. तिलक के पिता को प्राप्त न हुआ और जब हुआ तो अध-बीच में ही छोड़ देना पड़ा, वही इस बदली के कारण बलवन्तरावजी को अनायास प्राप्त हो गया। यदि ऐसा न होता तो गंगाधरपन्त अपने पुत्र बलवन्तराव को कमसेकम हाईस्कूल की शिक्षा के लिए तो रत्नागिरी अवश्य रखते; और विद्यार्थी तयार करने की दृष्टि से रत्नागिरी हाईस्कूल की ख्याति भी कुछ कम न थी। किंतु पूने में शिक्षा का आरंभ होने और घरपर उत्साहपूर्वक पढ़ानेवाला पिता एवं पुस्तकादि सब प्रकार के साधन सुलभ रहने के कारण तिलक की शिक्षा में सोने में सुहागा का काम हुआ। फिर भी उक्त अनुकूल योग अधिक दिन न टिक सका, क्यों कि सन १८७२ में लो. तिलक के पिता का स्वर्गवास हो गया। प्रथम तो बाल्यकाल से ही तिलक की शिक्षा की नींव पुष्ट हो चुकी थी, इधर गंगाधरपन्त ने भी पाठशाला के सिवाय जो कुछ सिखाना आवश्यक था, सब बतला दिया था। यथासंभव सम्पूर्ण अङ्कगणित, समीकरण-तक बीजगणित, रेखागणित की दो पुस्तकें अंग्रेजी स्कूल में जाने से पहले ही ये सीख चुके थे। और संस्कृत में तो दसवें वर्ष ही इनकी यह दशा थी कि साधारण श्लोक का अर्थ ये अपने आप लगा लेते थे।

अंग्रेज स्कूल में भर्ती होने के समय अर्थात् बलवन्तरावजी की दस वर्ष की अवस्था में ही उनकी माता का स्वर्गवास हो गया, अतएव उनके पालनपोषण का भार काकी (चाची) पर आ पड़ा। बलवन्तरावजी के काका गोविन्दरावजी बच-पनमें कई दिनोंतक कोंकण में रहे थे। उनकी शिक्षा सामान्य प्रकार की ही हुई थी। फिर भी वे एक साधारण शिक्षक के समान योग्यता रखते थे। और कोंकण में गार्हस्थिक-व्यवहार का समाल भार उन्हीं पर रहता था। इसी प्रकार सावन्त-वाडी में उन्होंने कुछ वर्षों तक अध्यापक का कार्य भी किया और इसके बाद वे

पूना में भी मराठी शिक्षक के पद पर रहे। यद्यपि गंगाधरपन्त से गोविन्दराव १२ वर्ष छोटे थे, किन्तु फिर भी बलवन्तरावजी से उनकी अवस्था २० वर्ष अधिक थी, अतएव बड़ेभाई के दौरे पर रहने की दशामें घर का सब कामकाज इन्हीं के ज़िमे रहता था। सन १८७२ अर्थात् बलवन्तराव की आयुके सोलहवें वर्ष, गंगाधररावजी का देहान्त हो जाने का कारण इनपर देखरेख का काम भी गोविन्दराव को करना पड़ता था। इस समयतक तिलक की हाईस्कूल की पढ़ाई समाप्त हो चुकी थी, अतएव ये कालेज-बोर्डिंगमें गांव के बहार रहने लगे इसके बाद कुछ दिन बम्बई में रहे और आगे चल कर एलएल. बी. पास होते ही अध्यापक का काम करने लगे। अतएव इनपर विशेष रूपसे ध्यान देने या इनके लिए किसी ख़ास प्रकार का प्रबंध करने की आवश्यकता ही गोविन्दरावजी को न पड़ी। न्यू स्कूल में प्रविष्ट होने के कुछ ही दिन बाद चचा-भतीजे अलग २ रहने लगे। गंगाधरपन्तजी के वसीयतनामें के अनुसार रुपये पैसे और जायदाद के हिस्से पहलेही हो चुके थे। किन्तु फिर भी गोविन्दरावजी इनके घर-गृहस्थी की देखभाल और आमद-खर्च का हिसाब रखते रहे। बलवन्तरावजी के लिए अपनी प्रौढ़ दशामें बड़ेबूढ़े के नामसे एकमात्र काका गोविन्दरावजी ही थे। काका भी भतीजे को पुत्र के समान समझते थे। तिलक के बालिग़ हो जानेपर अल्पशिक्षित काका के लिए अपने भतीजे को विशेष रूप से किसी बातकी सलाह-सम्मति देने का मौक़ाही न आया। किन्तु यह कहा जा सकता है कि बलवन्तराव के लोगों द्वारा गाये जानेवाले गुणानुवाद को सुनकर शुद्ध हृदय से अभिमानपूर्वक प्रसन्नता प्रगट करते हुए "बलवन्तराव हैं ही ऐसे" कहनेवाले और सन १८९७ में उनके कारावास दण्ड पानेपर कातर होकर रोनेवाले एक मात्र यही वृद्ध निकट सम्बन्धी येही थे। बलवन्तरावजी अंत समय तक अपने काका की हरतरह से टहल करते रहे। और उनके किसी भी बात में कभी न आनेदी; अलग रहते हुए भी उन्हों ने इस बात का भान तक न होने दिया। गोपालरावजी की सम्पत्ति बहुत कम थी और उन के दोनों पुत्र अल्पश निकले, अतएव वसीयतनामे के अनुसार मिली हुई अपने हिस्से की सम्पत्ति भी काका को ही दी हुई सी मानकर उसके सूद का उपयोग प्रायः वे काका की गृहस्थी के लिए ही करते रहे।

गोविन्दरावजी के हिसाब किताब की उत्तम व्यवस्था दिखाने के लिए उनके हाथ की लिखी हुई हिसाब बही का एक शीर्षक यहां दिया जाता है:—

॥ श्रीलक्ष्मीकेशव प्रसन्न ॥

"खर्चवन्द ख़ास रा. बाल गंगाधर तिलक, स्रोत, मौजे चिखलगांव, तर्फ़ जालगांव, तालुके दापोली, ज़िला रत्नागिरि हाल मु० पूना, सं० १९३५ शके

१७६६–१८०० ईश्वर व बहुधान्यनाम संवत्सरे कार्तिक शुद्ध प्रतिपदा व आश्विन व॥ आमावास्या, तारीख ६ नवम्बर सन १८७७ से ता० ४ दिसंबर १८७८ ई० तक"

इसके नीचे पाई पाई तक का तफ्सीलवार जमाखर्च दिया गया है। यदि किसी अन्वेषक की इच्छा हो तो वह इन वहियों द्वारा उस समय के बाजार-भाव की जानकारी प्राप्त कर सकता है। गृहस्थी साधारण स्थिति की होने के साथही मकान किराया केवल डेढ़ रुपया मासिक था। घर में स्त्रियों के लिये साड़ियां तीन-सवातीन रुपये की और खुद तिलक लिए डुपट्टे डेढ़ रुपया कीमत के होते थे। दो छातों के दाम कुल एक रुपया दस आने लिखे गये हैं, इसपर से जान पड़ता है कि लो. तिलकने संभवतः मोमकप्पड़ के ही छातों का उपयोग किया था। महीने भर में दूध का खर्च कुल चार रुपये होता था, और चावैल चार रुपये पल्ले के हिसाबसे महीनेभर में १२ या १२।- रुपये के खर्च होते थे। गेहूं का भाव ६ रुपये पल्ला (३ मन) था। इस तरह कुल मासिक व्यय चालीस रुपये से अधिक न था। सन १८७९ के जून–जुलाई महीने के हिसावमें तिलक को डेक्कन कॉलेज से मिलने वाली दस रुपये मासिक छात्रवृत्ति का भी उल्लेख है।

गंगाधरपन्त जब दस वर्ष के बलवन्तरावजी को लेकर पूना आये तब शुरू में तुळसीबाग के निकट कंट्राक्टर दातार के वाड़े में रहे। इसके वाद सोहनी के वाड़े में और वहांसे फिर भट्ट के वाड़े में रहने लगे। गंगाधरपन्त की मृत्यु इसी मकान में हुई। इसके वाद सन १८८१ में जब कि न्यू इंग्लिश स्कूल मोरोवादादा फड़नवीस के वाड़े में से गद्रे के वाड़े में वदल दिया गया तब वलवन्तरावजी श्रीयुत ताम्बे के मकान में रहने लगे। सन १८८५–८६ तक ये यहीं रहे। इसके बाद फिर ये नारायण पेठ में-आज कल जहां जठार का वाड़ा है, वहां पहले मांडे का वाड़ा था उसमें रहने लगे। इसमें सन १८९१–९२ तक रहनेके बाद ये सदाशिव पेठ में विंचूरकर के वाड़े के छोटे घर में रहने लगे। सन १९०४ तक ये यहीं रहे और इसके वाद ये फिर नारायण पेठ के गायकवाड़ वाड़े में–जिसे कि इन्होंने श्रीमंत गायकवाड़ नरेश से खरीद लिया था-रहने लगे।

तिलक की अंग्रेजी शिक्षा "सिटी स्कूल पूना" में हुई। यहां उन्होंने दो वर्ष में तीन कक्षाओं की पढ़ाई समाप्त की। पाठशाला के अध्यापक से प्रायः इनकी अधिक पटती न थी। विद्यार्थीमें बुद्धिमत्ताके ही साथ यदि हठीलापन हो तो इस प्रकारकी अनबन होना स्वाभाविक कहा जा सकता है। इस विषय में कृष्णाजी आवाजी गुरुजी लिखते हैं: " उस (शिक्षक) की ओर से गणितका प्रश्न लिखाया जानेपर ये (वलवंतराव) उसे ज़बानी हल करने लगते थे। इसपर जब वह इन्हें स्लेटपर लिखनेको कहता तो ये तत्काल उत्तर दे उठते कि

"इसमें स्लेट की क्या आवश्यकता है ?" उसकी ओरसे स्मरण-पुस्तिका (नोट बुक) लानेकी आज्ञा होनेपर ये तत्काल उसकी अनावश्यकता सिद्ध करने लग जाते थे। यदि उसने काले तख्तेपर हिसाब करके दिखानेको कहा तो चाक से हाथ खराब न करने की इच्छासे ये ज़बानी ही उसे सुनाने लग जाते थे। इस प्रकार प्रत्येक बार कुछनकुछ झगडा गुरु-शिष्य में होता ही रहता था। एकबार शुद्ध-लेखन लिखाते समय 'संत' शब्द इबारत में तीन चार बार आया। इस शब्द को बलवंतरावने एकसा न लिखकर-प्रथम स्थान में 'संत' तो दूसरी जगह 'सन्त' और तीसरी जगह 'सन्‌त' इस तरह तीन प्रकारसे लिखा। किंतु अध्यापकने प्रथम शब्द को ठीक मानकर शेष दोको गलत कर दिया। इसपर से गुरु-शिष्य में विवाद उठ खड़ा हुआ, और यह मामला यहां तक बढ़ा कि अंतको हेड-मास्तर के सामने पेशी हुई, और जबतक उसका निर्णय अपने मनोनुकूल न हो गया तबतक इन्हें चैन न पड़ी। बड़ों से झगडा करने के कारण इनकी गणना चतुर किंतु झगड़ालू अथवा बुद्धिमान होते हुए भी हठी स्वभाववाले मनुष्यों में होने लगी"

सन १८६६ में तिलकने पूना हाईस्कूल की पांचवी कक्षामें नाम लिखाया। उसी मौकेपर इनके पिता गंगाधररावजी का तबादिला पूनासे थाना को हो गया। तत्कालीन डिपुटी इन्स्पेक्टर सीताराम विश्वनाथ पटवर्धन से गंगाधर रावजीकी पटती न थी, इस लिए उन्होंने ही अपनी बदली करवा ली थी। हाई-स्कूल में उन दिनों मि० जेकब हेड-मास्तर थे। उनके कार्यकाल में शिस्त (डिसिप्लिन) का महत्व बुद्धिमत्ता से भी अधिक समझा जाता था। किसी एक पुस्तकपरसे तिलक और हाईस्कूल के संस्कृत शास्त्री के बीच विवाद उठ खड़ा हुआ, और उसमें हेडमास्तर की ओर से शास्त्री का पक्ष लिया गया, अतएव तिलक ने उस सर्कारी हाईस्कूल को छोड दिया और वे बाबा गोखले की पाठशाला में पढ़ने लगे। किंतु जेकब साहब के बाद श्री० कुंटे के हेडमास्तर होने पर फिर ये उसी स्कूल में आकर पढ़ने लगे।

अध्ययन के विषयमें तिलक को स्वच्छंद स्वभाव वाले की अपेक्षा स्वतंत्रबुद्धि का कहना ही उचित होगा। हां, अगले जीवन-क्रममें At the top of the ladder (सर्वोच्च स्थानपर) वाली लोकोक्ति को सामने रखकर जिस प्रकार ये बरतते थे उस प्रकार कदाचित अध्ययन-काल में नहीं बरतते थे। कक्षा में हमेशा सबसे पहला नम्बर पाने की महत्वाकांक्षा उनके चित्त में शायद न थी, या उसके लिये कोई प्रयत्न करकेभी उनसे न हो। किन्तु अन्य सब लड़कों की अपेक्षा कुछ विशेषता अथवा

सूझनेवाली बात को सुचारु रूपमें सबके सामने ला रखनेकी पात्रता एवं अन्य लोगोंके लिए असाध्य समझा जानेवाला हतकंडा, ये बाते उनमें थी और इस बात परिचय अवश्यमेव उन्होंने लोगोको करा दिया । उपर्युक्त शुद्ध लेखनवाली घटना में उन्होंने 'संत' शब्द अनायास ही तीन प्रकार से लिखकर अपने शिक्षक को छका दिया, इसपर से भी यही बात सिद्ध होती है। अन्य साधारण विषयों में उनसे अधिक अंक (मार्क) प्राप्त करनेवाले विद्यार्थी कक्षा में भले ही हों, किन्तु सशास्त्र-व्याकरण-सम्बान्धिनी कोटियां अथवा प्राचीन सुभाषि के ढंग पर रचे हुए संस्कृत श्लोकों के सम्बन्ध में कोई भी उनसे आगे न बढ़ सक श्री. गुरुजी ने अपने ग्रंथ में इन (तिलक) के बनाये हुए संस्कृत श्लोक दिये हैं उनके पढ़ने पर पाठको को हमारे कथन की सत्यता का पता लग सकता है। परीक्षा के समय उनका यह नियम सा था कि सबसे कठिन प्रश्न पहले हल किया जाय, जिससे परीक्षकोंको इस बात का विश्वास हो जाय कि यह विद्यार्थी सरल प्रश्नोंको अवश्यमेव हल कर सकता है।

अंग्रेजी स्कूल में पढ़नेके ज़माने में ही सन १८७१ के वैशाख में इनका विवाह हो गया। इनकी पत्नी कोंकण प्रान्त की ही थीं और विवाह भी कोंकण के चिखल गाँव में ही हुआ। तिलक की पत्नी का नैहर का नाम तापीबाई था, और सुसराल आने पर उनका नाम सत्यभामाबाई रखा गया। इनके पिता की अल्ल बाल थी और वे मौजे लाडघर (तहसील दापोली) के रहनेवाले थे। ये महाशय यद्यपि कोंकण के नियमानुसार जो भी विशेष धनाढ्य न थे, तथापि स्वागत-सत्कार और मेहमानदारी के लिए इनकी विशेष रूपमें ख्याति थी। इस घराने में दानधर्म भी यथेष्ट प्रमाण में होता था। श्री. गुरुजी ने अपनी पुस्तक में इन बाल महाशय के विषय में एक बात लिखी है, जो कि विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है। कोंकण में चोर एवं डाकुओं का उपद्रव अधिक होने से (?) अक्सर लोग रातके वक्त अपने घर के आभूषणादि भिन्न २ स्थानपर नाज में छुपाकर रख देते हैं। और दिन में अपने संकेतानुसार उन्हें निकाल लेते हैं। एक बार इन बाल महाशय के द्वारपर भिखारी मांगने आया, तो घर के एक आदमी ने अंजुली भर कर चाँवल उसे देने के लिए निकाले, उनमें सोने का एक गहना भी चला आया। किन्तु भिक्षा के लिए लाये हुए चाँवल में जो कुछ भी निकला उसे धर्मार्थ दिया समझकर चाँवल के साथ २ गहना भी भिखारी को दे देने की इन बाल महाशयने आज्ञा दे दी। अस्तु; बलवन्त अर्थात् बालगंगाधर और तापीबाई दोनों ही मातृहीन थे, अतएव विवाह के समय और इसके बाद भी दोनों ही ओर से इस बात की त्रुटि रही। विवाह के समय मुहूर्त्त में तिलक के ससुरे का हठ

करने की बात तो कोई नहीं कहता, किन्तु एक चरित्रकारने अन्य निरर्थक आसारी वस्तुओं के बदले उतने ही मूल्यकी पुस्तकें लेने का आग्रह करने के विषय में उल्लेख अवश्य किया है।

तिलक के विवाहसे पूर्व ही इनके दादा का काशी में स्वर्गवास हो चुका था, और विवाह के कुछ ही दिन बाद अर्थात् सन १८७२ के आगस्त की ३१ तारीख को गंगाधरपन्त भी स्वर्ग सिधार गये। इतनेपर भी तिलक का अध्ययन जारी रहा। उनपर काका की देखरेख तो थी, पर यही अधिक सत्य है की इच्छापूर्वक वे जो कुछ पढ़ लिख लेते थे वही उनकी पढ़ाई थी। फिर भी उसी वर्ष के सितम्बर में बलवंतरावजी एन्ट्रेन्स के इम्तहान में बैठे और पास भी हुए। इस परीक्षाके समय गणित का प्रश्न-पत्र हल करते समय उन्होंने कठिन प्रश्नोंका ही सबसे पहले उत्तर लिखनेकी पद्धतिसे काम लिया और उन्हींसे पास हो सकने योग्य नम्बरोंका हिसाब लगा कर थोड़े ही समय में वे उठ खड़े हुए। अस्तु मेट्रिक्युलेट हो जाने पर इनकी कालेज-शिक्षा की व्यवस्था थी ही। घरकी हालत ऐसी थी कि यदि तिलक को किसी प्रकार की छात्र-वृत्ति न भी मिलती तो भी वे कालेज में पढ़ सकते थे; इधर कालेज पूना में मौजूद था। फलतः सन १८७३ ई. में तिलक डेक्कन कौलेज में प्रविष्ट हुए। इनका जो ढंग हाईस्कूल में था वही कालेज में भी क़ायम रहा। स्वतन्त्रता-पूर्वक और स्वेच्छा से जो जीमें आता वही वे पढते थे। किंतु फिर भी, परीक्षा को वे एक नटखटमेवाला आवश्यक कार्य समझकर निश्चित पाठ्यक्रम का अभ्यास भी अवश्य करते थे। उन्होंने रट्टू विद्यार्थियोंकी तरह रातका दिन कभी नहीं किया। और न कभी नोट्स लिखकर कौपियां ही खराब की या उनको रटरटकर अपना दिमाग खाली किया। इसी तरह उन्होंने शिखा बाँधकर कभी जागरण भी नहीं किया। इतनेपर भी विष्णुशास्त्री की तरह इन्होंने निश्चित विषयोंके प्रति दुर्लक्ष भी नहीं किया। सारांश यह कि वे थोड़ी किन्तु चुनी हुई पुस्तकें पढते और उन्हें थोड़ेसे समय में पुरी भी कर लेते थे। परन्तु उस समय यदि कोई इनके कानके पास नगाड़ा भी पीटने लगता तो भी वे उधर ध्यान तक न देते थे। इसके सिवाय बचे हुए समयका ये हास्यविनोद एवं समवयस्क छात्रों से विविध विषयोंके वाद-विवाद करने मे व्यतीत किया करते थे। पहला वर्ष तो उन्होंने जान बूझकर ही ईश्वर के नामपर दे रखा था। किन्तु इसमें मुख्य हेतु यह अवश्य था कि अपनी बिगड़ी हुई शरीरसम्पत्ति को वे भलीभांति सुधार लें। इसी कारण उन्होंने अपने नित्यक्रम में अध्ययन को दूसरा भी नहीं वरन् तिसरा नम्बर दे रक्खा था, सुबहका प्रायः सब समय वे अखाड़े में

लेकर कुश्ती लड़ने या नदीपर जाकर तैरने में बिताते थे; गणितका समय प्रायः [illegible] या व्यायामों में लगता था। और सबको वे बराबर उकाते या हँसीमज़ाक [illegible] रहते थे। इस तरह कॉलेज के निश्चित घंटोंमें जो कुछ भी वे पढ़ [illegible] थी। इसकेबाद भी वे कॉलेज के निश्चित घंटोंमें पूरा समय भी क्लास में नहीं बैठते थे। यतः उन्होंने एकबार हाजरी लगा दी [illegible] कि फिर वे [illegible] छुट्टी समझते थे। हां, यदि किसी प्रोफेसर के बारे मे कोई विशेष महत्व का विषय होता तो वे क्लासमें हाजिर रहते। [illegible] एक बार हाजिरी लिखाने के बाद तत्काल ही इन्हें बाहर चले जाते देखकर [illegible] इसका कारण पूछा तो निर्भय होकर उन्होंने कह दिया कि "इस साल मुझे परीक्षामें तो नहीं बैठना है। मैं तो नाम मात्र के लिये टर्म पूरी कर रहा हूं।" इसी निश्चित संकल्प के अनुसार प्रथम वर्ष एफ. ए. में वे अनुत्तीर्ण भी हुए। किन्तु [illegible] शरीर-सुधार की परीक्षामें वे [illegible] उत्तीर्ण हो गये।

तिलक के कॉलेज के शिक्षा काल में प्रो. जिन्सीवाले एक वर्ष तक 'फेलो' रहे थे। इसके बाद उनके सार्वजनिक व्याख्यानों की ही तरह कॉलेज में भी लेक्चर होने लगे। यद्यपि उनकी विद्वत्ता बड़ी चढ़ी थी, और अध्ययन एवं मनन भी सब प्रकार उत्तम था, किन्तु फिर भी परीक्षकों से उनका दृष्टिकोण एकदम भिन्न था। साथ ही इनके, विद्यार्थियों को किसी विषय की कोई चुनी हुई बात भी सीखने को नहीं मिलती थी। उनका व्याख्यान एक प्रकार से विविध विषयों का संग्रहसा होता था, उनके व्याख्यान में क्या २ बातें आनेवाली हैं इसके बदले क्या २ नहीं आवेंगी इसी का विचार पहले किया जाता था। इन सब बातों के होते हुए भी उनकी ओर से इसी बात पर ज़ोर दिया जाता था कि उनकी बतलाई हुई बातों के नोट्स अवश्य ही लिखे जाने चाहिये। ऐसी दशा में भोलेभाले विद्यार्थी तो अपनी कापियों को भरी हुई देखकर प्रसन्न होते थे, किन्तु मर्मज्ञ विद्यार्थी का इससे जी उचट जाता था। फलतः इसी विषय में प्रो. जिन्सीवाले और तिलक के बीच झगड़ा हुआ। किन्तु प्रसंगोपात्त किसी दूसरे ही प्रकार से उन्होंने प्रो. जिन्सीवाले को विश्वास करा दिया कि वे (तिलक) कोई ऐसे वैसे विद्यार्थी नहीं हैं। कहा जाता है कि एक बार प्रो. जिन्सीवाले ने विद्यार्थियों को संस्कृत कविता बनाने के लिए "मातृविलाप" नामक विषय दिया था। श्री. महादेव शिवराम आपटे जैसे संस्कृतज्ञ प्रतिस्पर्धी के रहते हुए भी प्रो. जिन्सीवाले ने तिलक की ही कविता को सर्व श्रेष्ठ ठहराया। उन्होंने अपनी सम्मति में लिखा कि "कविता बहुत ही बढ़िया है। यद्यपि कुछ कल्पनाएं पुरानी ही हैं, फिर भी वे इष्ट विषय के साथ भलीभांति सम्बद्ध करली गई हैं। संस्कृत कविता बनाने की तुम्हारी कुशलता

प्रशंसनीय है। आशा है कि तुम आगे भी इस व्यासंग को इसी प्रकार क़ायम रक्खोगे। लो. तिलक की हाइस्कूल एवं कॉलेज की शिक्षा के ज़माने में बनाई हुई कुछ कविताएँ इस ग्रन्थ के परिशिष्ट में दी गई हैं। किन्तु काव्य-रचनासे विशेष अभिरुचि न होने के कारण उन्होंने कालेज में ही इस विषय को तिलाञ्जलि दे दी थी। इसके बाद भी वे काव्य की तरफ़ बहुत कम ध्यान देते रहे। गानविद्या और कला की ही तरह उन्हें इस काव्य-रचना से भी घृणा सी थी। "घृणा" शब्द सख्त ज़रूर है, पर इस में सन्देह नहीं कि उन्हें इन विषयों में दिल से अरुचि नहीं थी। तिलक को कागज़ कलम लेकर बैठनेकी भी आदत नहीं थी। इसी लिए उन्होंने जिन्सीवाले या अन्य प्रोफेसरोंके व्याख्यानों के अधिक नोट्स नहीं लिये। किन्तु कृतसंकल्प को पूरा करने की अपनी दृढ़ वृत्ति के अनुसार उन्होंने मेरी और एलिजाबेथ के शासनकालपर नमूनेदार नोट्स तयार करनेके विचार करके, इस विषय की दस बारह पुस्तकें पढ़ीं और इसके बाद इतनी उत्तमता से उन्होंने नोट्स लिखे की अन्य विद्यार्थीयोंने भी उसकी नक़ल करके अपने पास रक्खे। इसी प्रकार, एकबार व्याकरणविषयक चर्चा शुरू होनेपर तिलकने कई एक पुस्तकोंसे व्याकरणसम्बन्धी नियमों को चुनकर एक नया ही निबंध तयार कर लिया और कहा जाता है कि उसी कई लोगोंने पसंद भी किया।

मतलब यह कि थोड़ी और चुनी हुई बातें वे याद करते थे परीक्षा में उच्च श्रेणि में उत्तीर्ण होकर किमती प्रकार का इनाम या स्कॉलरशिप प्राप्त करने की इच्छा न रखने से विद्यार्थी के नाते तिलक की विशेष ख्याती न हुई। किन्तु बुद्धिमत्ता और गणित एवं संस्कृतविषयक बहुज्ञता के लिए समकालीन विद्यार्थियों में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी।

कॉलेज में प्रथम वर्ष में तो तिलक ने, सिवाय शरीर सम्पत्ति सुधारने के और कुछ नहीं किया, ऐसा कहा जा सकता है! इस विद्याके अभ्यास के द्वारा उन्होंने इतना साध्य कर लिया था कि, केवल एक ही वर्ष में उन्होंने अपने शरीर में ज़मीन-आस्मान का अंतर कर दिखाया। आरंभ में सिर छोटा, पेट बड़ा हुआ, हाथ पाँव पतले और देहयष्टि ठिंगनी थी। इस कारण वे किसी रोगी लड़के की तरह दिखाई देते थे। किन्तु प्रति दिन लगातार दोदो घंटे अखाड़े की मेहनत में बिता कर क्रमशः दंड बैठककी संख्या बढ़ाते हुए कुश्ती एवं बोटिंग जैसे व्यायाम द्वारा यथेष्ट दूध पीकर तथा पचाकर इन्होंने अपने बदन को ऐसा बना लिया, कि वर्षभर में ही वे पहचाने तक न जा सके। इस काम में इनके साथी दाजी आबाजी खरे थे। खरेजी का शरीरसंघटन प्रारंभसे ही अच्छा था और सायही मल्ल-विद्या. से उन्हें स्वाभाविक प्रेम भी था। अत एव इन दोनों की परस्पर ख़ूब पटती थी।

कुछ ही दिन में तिलक दाजीसाहब की बराबरी में आ पहुंचे। इसके बाद तो परस्पर इन में इस बात की स्पर्धा होने लगी कि परस्पर भुजदंडपर मुक्के की मार कौन अधिक सह सकता है। अखाड़े की तरह क्लब में भी इन पहलवानों का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगा। क्यों कि आते जाते हुए इनके धक्के के मारे जिस प्रकार क्लब दीवारें कॉंपने लगती थीं उसी प्रकार आग के सामने बैठ कर कड़ी मेहनत से पकाई हुई रोटियों का बारम्बार दिवाला निकलते देख रसोइये भी इन से चिढ़ने लगे। एक तो विद्यार्थियों का कॉलेज की शिक्षाकाल ही ऐसा होता है कि जिसमें उनके शरीर की वृद्धि होती है, साथ ही यदि व्यायामकों तथा दूध–घी और गेहूं की पुष्ट खुराक पाते रहें तो आगे चलकर जीवन भरके लिए काम देनेवाली पुस्तकी विद्या के ही समान शरीर–सामर्थ्य भी वे कॉलेज में भलीभांति सम्पादन कर सकते है। कमसेकम बलवंतराव तिलक के विषय में तो यह अवश्य कहा जा सकता है कि कॉलेज में संपादन की हुई पुस्तकी विद्या की अपेक्षा उनकी शरीर–सम्पत्तिका ही उनके अगले जीवन में उनको अधिक उपयोग हुआ। क्यों कि यदि युवावस्थामें वे इस विषय की ओर ध्यान न देते तो आगे चलकर इतने शारीरिक एवं मानासिक कष्ट उठने में कभी समर्थ न होते।

तिलक के विषय में टेनिस या क्रिकेटके खेलने की बात कभी नहीं सुनी गई, किन्तु नाव में बैठकर उसे दूरतक खेते हुए लेजाना तथा लाना और देरतक पानीमें डुबकी लगाना आदि खेल उन्हें दिलसे पसन्द थे। उसके बाद उनका 'बोटिंग' भी छूट गया और डेक्कन कॉलेज से लगी हुई नदी रहने पर भी इच्छा-पूर्वक वे कभी इस मनबहलाव के काम में योग न दे सके। किन्तु तैरने का शौक उनका जीवन भर कायम रहा। एक बार तैर कर बनारसमें गंगापार जाने की बात उनके विषयमें कई मनुष्योंके मुहसे सुनीजा चुकी है। एक बार पानी में कूद पड़नेपर घण्टा घण्टा भर तक चित् पड़े रहना तो उनके बायें हाथ का खेल था; और इसी दशामें आनंद से हाथ में दूध से बनाई हुई रोटी (दशमी) लेकर वे खाया करते थे। तिलक के सम्बन्ध में लिखी हुई गुरूजी की ये बातें आश्चर्यजनक प्रतीत नहीं होती। संध्यासमय वे कालेज के कम्पाउण्डमें घूमने के लिए निकल पड़ते, किन्तु इसका आशय टहलने के व्यायाम से नहीं लिया जा सकता। क्यौंकि इस प्रकारके व्याम से उन्हें एकदम अरुचि थी। इसके बाद बड़ी अवस्थाके तीस–पैंतिस वर्षों में तो वे दस–बीस बार भी घूमने गये होंगे या नहीं इस विषयमें हमें शंका ही प्रतीत होती है।

किन्तु कॉलेज–कम्पाउण्ड में उनका घूमना किसी उद्देश्यको लेकर न होता था, बरन् जिधर जी चाहता उधर ही ये चल दिया करते थे। और उनकी यह

केरी रात के दस-दस बजे तक होती रहती थी। क्यों कि तिलक को रात को जल्द सोकर सबेरे जल्द उठने की हमेशा से अरुचि थी। किम्बहुना यह भी कहा जा सकता है कि जागरण करना उन्हें अधिक पसन्द था। उनके इस भटकने और जागरण करनेमें कभी२ कुचेष्टाओंका उद्देश्यभी समाविष्ट हो जाता था, किन्तु फिर भी इसके लिए उन्हों न किसी अंश में नियम से बना रक्खे थे। अर्थात् समवयस्क विद्यार्थियों में जो हँसी करने योग्य हों उनकी हँसी करना इनका पहला काम था। वैसे भी, कॉलेज में प्रायः सभी विद्यार्थी इस अवस्था में मस्त होकर रहते हैं, और दूसरों की की हुई हँसी सहन करने के ही साथ २ खुद उनमें भी हँसी करने का माद्दा रहता है। ऐसी दशा में तिलक के द्वारा इस विषयके जो कुछ कार्य हुए हों उनका उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती और न उन्हें विशेष महत्त्व ही दिया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई विद्यार्थी अपने शरीर को बहुतही सुकुमार बनाता हो तो उसकी इस सुकुमारता के दूर होने तक ये हमेशा उसे परेशान करते रहते। यदि कोई विद्यार्थी अपनी ताक़द बढ़ाने के लिए 'पेटंट' औषधियां सेवन करता तो ये उसकी तमाम शीशियों को खिड़कीमेंसे बाहर फेंक देते कहीं साथ २ उसे यह भी उपदेश देते कि "तुम मेरे साथ अखाड़ेमें चला करो, मैं बिना किसी औषधिकेही तुम्हारी सब बीमारियां दूर कर दूंगा"। इनका एक सहपाठी बड़ा शौकीन था, हर प्रकार से प्रयत्न करके वह फूल इकट्ठे करता और गर्मीके दिनोंमें उन सबको बिस्तर पर बिछाकर पुष्पशय्या तैयार किया करता था। इस विद्यार्थी को प्रतिदिन इन शब्दोंके साथ फटकार कर कि "क्या तुम स्त्री हो जो इस तरह नख़रे किया करते हो," तिलक उसकी शय्या को नष्ट भ्रष्ट कर देते थे। इन कामों के लिए रात बिरात घूमना, किसीके दर्वाजेके कांच तोड़कर सांकल खोलकर घुस जाना; अथवा दीवार पर चढ़कर पिछली ओर की खिड़कियां खोल कोठरी में घुस जाना, इत्यादि कामों में भी वे कभी पीछे पैर न रखते थे। कॉलेज-कंपाउण्ड में ये प्रायः अपने किसी मित्र के साथ रातके दस दस बजे तक घूमते दिखाई पड़ते और विद्यार्थियों को नाना प्रकार से तंग करते रहते थे। इस कारण इनके मर्मज्ञ मित्रोंने इन्हें "डेव्हिल" (शैतान) की पदवी दे रक्खी थी। इसी प्रकार इनकी खरी बातें कह सुनाने की आदत पर मित्र लोग इन्हें तत्कालीन पाठ्य-पुस्तक 'केनिलवर्थ' नामक उपन्यास के "ब्लंट" नामक पात्र के नाम से सम्बोधित किया करते थे।

लेकिन कॉलेजमें भर्ती होनेके बाद ब्राह्मण विद्यार्थियों में छूत-छात का भाव कुछ कम हो जाता था। किन्तु इस प्रथाका सर्वथा लोप अभी२ तक न हो पाया था। उस समय कॉलेज के क्लबों में विरलाही क्लब ऐसा होता, जिसमें कि एकभी

विलायती (सोला) पीताम्बर पहनकर भोजन न करता हो। और इन्हें ही एक दो ऐसे ग्रुप थे जिनमें कि सोला न पहननेवाले विद्यार्थी भर्ती किये जाते थे। निवास गृह में तो सोला पहन कर भोजन करने की प्रथा थी, इसी के साथ लोकमान्य की तो इच्छा थी कि यह प्रथा कालेज में भी रहे। इसी कारण वे खुद तो सोला पहनकर बैठतेही थे, किंतु यदि कोई सुधारक इस प्रथा का उच्छेद करना चाहता तो वे अविलम्ब उससे वाद-या लड़ाई करने लग जाते थे। इधर इस सोले की प्रथा को हृदसे धक्का देनेवाले आगरकर प्रो० जिनसीवाले थे। तो दूसरी ओर उतनी ही शक्ति के उसका विरोध करने वाले भी कालेज में मौजूद थे। अतएव इस प्रकार के प्रायः कालेज में खड़े हो जाते थे। तिलक की वेश-भूषा और उनका रहन सहन उस समय भी बिलकुल ही सादा रहा। उस समय इस कालेज में वाले छात्रों को अधिक खर्च नहीं पड़ता था, और ऐसी दशा में यदि सरीखे मध्यम श्रेणी के विद्यार्थी चाहते तो किसी प्रकार ठाट-बाट सेभी रह सकते किंतु इन्हें तो ऐसी बातों सेही घृणा थी।

स्वभाव-वैचित्र्य के सम्बन्ध में अर्थात् मानसशास्त्र की दृष्टिसे कालेज विशेषकर वहां का भोजन-एवं वसतिगृह चित्ताकर्षक होता है। अधुरी पाये हुए विद्यार्थी अल्पावस्था में सेही इकट्ठे होते है। उनके लिए वर्ताव में स्वतंत्रता प्राप्त होने का मौक़ा यहीं मिलता है। इसी प्रकार वहां उनपर माता पिता या अन्य किसी प्रभावशाली व्यक्ति की देखरेख भी नहीं रहती। कारण अधिकांश विद्यार्थियों में जो गुणदोष होते हैं वे प्रथमतः वहीं होते हैं। एक ओर जहां अपने यार-दोस्तों की वदौलत किसी को बीडी पाने मद्यसेवन की बुरी आदत लगती है तो दूसरी ओर इसी के साथ२ मेहमानी के रूपसें लोगोंको मिष्टपदार्थ सेवन करने की लतलग जाती है। फलतः एक ओर जहां अनायासही विद्यार्थियों के स्वभाव में स्वार्थ और उन्मत्तता के दुर्गुण समाविष्ट हो जाते है वहीं दूसरी ओर कालेज की उदार शिक्षा के योग से यौवन-नोत्पन्न सद्भावनाओं का समर्थन होकर अपना भावी जीवन निःस्वार्थ भावसे सत्कार्य में प्रवृत्त करने का ध्येयभी विद्यार्थीके मनःक्षितिज में, कालेज मेंही उदय पाता है। एक ही ढंग में मस्त रहनेवाले विद्यार्थियों के उदाहरण उनकी संख्या के परिमाणसे कम होती है, यह बात सही है, किंतु फिरभी शिक्षित व्यक्तियों में बुरेसेबुरे या अच्छेसेअच्छे आदर्शका बीजारोपण कालेज के शिक्षा-काल मेंही होता है इसमें सन्देह नहीं। इन दोनों सिरों (ends) से बचकर सरल मार्ग से किसी तरह अपनी शिक्षा समाप्त कर अपनी भावी जीवन-यात्रा को सुखमय बनानेके

विचार में मग्न रहनेवाले मध्यम श्रेणिके विद्यार्थियों का समुदायही कालेज में सबसे अधिक होता है। तथापि उदार अथवा उच्च शिक्षा को समाजकी दृष्टि में श्लाघ्य या निन्दनीय सिद्ध करने का दायित्व उक्त दो आदर्शों में से किसी एक तरफ पहुँच आनेवाले विद्यार्थियों परही रहता है। कोंकण में धानकी खेती करने के लिए प्रारंभ में जमीन के किसी छोटेसे टुकड़ेमें आग लगाकर उसे साफ करते है, और इसके बाद धान बोते हैं। और तब उस में जो पौधे उत्पन्न होते हैं उन्हें दूसरे खेतों में बोते हैं। उनमेंसे कुछ तो रोपते ही सड़-गल जाते हैं और बहुत से साधारण नियमानुसार बढ़कर प्रत्येक बालीमें निश्चित प्रमाणसे अनाज देते हैं। किंतु कुछ पौधे इतने अधिक पकते हैं कि जिन की बालें प्रदर्शनी में रखने या आदर्शबीज भंडार के लिए काम में लायी जाती हैं। शिक्षा के विषय में कालेज भी एक 'सीडबेड' है।

तिलक के समय में डेक्कन कालेज में लगभग सौ डेढ़ सौ विद्यार्थी थे, किंतु उनमें से इनेगिने विद्यार्थियों केही नाम हमारे सुनने में आते हैं। यदि कीर्ति या लोकप्रियता को नैमित्तिक ही मानलिया जाय तो कितने लोगों के हाथ से अलौकिक न सही, पर लोकोपयोगी कार्य भी कितने हुए हैं। तिलक के साथ कालेज में रहते हुए भी अगले जीवनक्रम में तिलक से एकदम विरुद्ध मार्ग का अवलम्बन कर जिन्होंने अपना नाश कर लिया अथवा अपनी शिक्षाको कलंकित कर दिखाया हो ऐसे विद्यार्थियों के नामतो हमें मालूम नहीं किन्तु उपर्युक्त मध्यम मार्गसे जानेवाले बुद्धिमान सहपाठियों के नाम विभिन्न रूप मे लोगोंके सामने आते रहे हैं। उनमें से कोई उच्च श्रेणिका वकील हुआ तो कोई न्यायाध्यक्ष, वगैरेह हुए। किसीने बहुत साधन कमाया तो किसीने प्रतिष्ठितो की तरह अपनी गृहस्थी को चलाया। किन्तु इनके विचार या कार्यमें अपूर्वता न होने के कारण प्रसिद्धि के बाजार में उनकी पूछ तक न हुई। यही नहीं, वरन् वे लोग आज भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि उनकी अपेक्षा तिलकने ही अपनी उदार शिक्षा का सच्चा उपयोग देश और समाज के लिए कर दिखाया। तिलक की अपेक्षा निश्चितरूप से परीक्षा पास करने या उनसे अधिक अंक प्राप्त करनेवाले अथवा चतुर तीरन्दाज़ की तरह यूनिवरसिटीके बड़े२ इनाम या छात्र वृत्तियों को ठीक निशाना मारकर हथियानेवाले विद्यार्थी भी इनकी अथवा इनसे ऊपर नीचेकी कक्षाओं में अवश्य थे, किंतु आगे चलकर सार्वजनिक जीवन में जो कीर्ति तिलक की हुई, उसका अल्पांश भी इनमें से किसीको न मिला। कारण इसका यह था, कि, संसार में बुद्धिकी अपेक्षा उसका सदुपयोग ही अधिक श्रेष्ठ समझा जाता है।

तिलकके सहपाठी विद्यार्थियों, अर्थात् एकही समय, डेक्कन या एलफिन्स्टन्

कालेजमें साथ २ अथवा ऊपरनीचे की कक्षाओं में पढ़नेवालों मेंसे आप्पासाहब शारंगपाणी, दाजीसाहब खरे, श्रीधर बालकृष्ण उपासनी, लक्ष्मण मोरेश्वर देशपांडे, मनोहरपंत काथवटे, महादेव भास्कर चौबल, दादासाहब खापर्डे, ओक शास्त्री, नारायणराव चंदावरकर, आर. डी. सेटना, दस्तुर, गोपालराव आगरकर तथा वामनराव आपटे आदि सज्जनों के नाम न्यूनाधिक प्रमाण में प्रसिद्ध हैं। अतएव तिलक, आगरकर एवं आपटे आदि कुछ लोगों के मार्ग से उक्त शेष महानुभावों के मार्ग में यथार्थ अन्तर क्या है, और सच्चा महत्त्व किस बातको दिया जा सकता है, इसे प्रथक रूपसे समझाने की आवश्यकता नहीं है।

तिलक के समय डेक्कन कालेज के प्रोफेसरों में केरोपंत छत्रे, और प्रो० शूट के नाम विद्यार्थियों में अधिक प्रिय कहे जाते हैं। केरोपंत छत्रे की गणित एवं ज्योतिषविषयक प्रवीणता विख्यातही है। श्री० छत्रेजी कुछ दिनोंतक एक्टिंग प्रिंसिपल भी रहे थे। सर्कार की दृष्टिमें भी वे आदरणीय समझे जाते थे। एक अधूरी अंग्रेजी पढ़े हुए व्यक्ति का डेक्कन कॉलेज के प्रिंसिपल की जगह तक बढ़ जाना उसकी बुद्धिमत्ता के सर्वमान्य होने की साक्षी देता है। कहा जाता है कि प्रो० छत्रे ने गणित-विषयक ज्ञान प्रायः पुस्तकों की सहायतासे अपनेआप ही बढ़ाया था। देशी और विदेशी पद्धत्ति के गणित शास्त्र का ज्ञानभी उन्हें अच्छा था। महाराष्ट्र के आधुनिक शिक्षित व्यक्तियोंमें ग्रहों के वेध ले सकनेवाला पहला पुरुष यही एक व्यक्ति था। "सूर्य में के धब्बेसे पृथ्वीपर होनेवाली वर्षाका सम्बन्ध" नामक एक निबंध भी प्रो० छत्रे ने लिखा था जो कि सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक पत्र में उन्ही दिनों प्रकाशित किया जा चुका है। प्रो० छत्रे में विद्वत्ता केही साथ। सादे रहन-सहन का एक औरभी महान गुण था। छोटे वडे सब--के साथ वे प्रायः एकही प्रकारसे अर्थात् खुले दिल से, विना किसी गर्व भाव को रखते हुए मिलते थे। सादगी के साथ साथ जिस मूर्खता या छिछोरपन की संभावना की जा सकती है उसे ग्रहण कर "लोकप्रियता" सम्पादन करनेवाले प्रोफेसर भी डेक्कन कालेज में कई रह चुके है। किन्तु लोक-प्रियता के भी कई भेद होते हैं। छत्रेजी की लोक-प्रियता आदर के साथ थी। देशी चटशाल के गुरुओं की तरह प्रत्येक विद्यार्थी इच्छानुसार हर समय उनके पास जाकर अपना शंका-समाधान कर सकता था। उनका द्वार विद्यार्थियोंके लिए सदैव खुला रहता था और वह न केवल आने जानेके हि लिए बल्कि भोजनपाने तक के लिए मुक्त रहता था। कितने ही गरीब विद्यार्थियोंको ये फीस आदि भी अपने पास सेही दिया करते थे। उनकी सर्वमान्यताका पता दो बातों पर से भली भांति लग सकता है। एक तो यह कि उनकी मृत्युके बाद उनकी स्त्रीको सरकार की

ओर से आजीवन सौ रुपये मासिक पेन्शन दी जाती रही। इसी प्रकार उनके स्मारक-फण्ड के मंत्री भी खुद रानडे और भाण्डारकर जैसे व्यक्ति रहे, जिन्होंने उक्त निधि को दस-ग्यारह हजार तक पहुँचा दिया। उस समय इस प्रकार के चन्दे इकठे करना एक नई बात थी, और ऐसी दशा में भी उक्त फंड की रकम इतनी अधिक हो जाना, एक मात्र प्रो० छत्रे की विशेष लोक-प्रियता कोही प्रकट करता है।

दूसरे लोक-प्रिय प्रोफेसर शूटसाहब थे। ये अर्थशास्त्र, इतिहास एवं नीतिशास्त्रादि सिखाते थे। इनकी शिक्षाशैली स्वतंत्र एवं मार्मिक थी। यद्यपि ये विद्यार्थियों को विशेष प्रिय थे, किंतु फिरभी ये उनमें अधिकतर सम्मिलित नहीं होते थे। कुछ दिनों प्रो० फारेस्ट भी डेक्कन कालेज में गणित शास्त्र की शिक्षा देते रहे, किंतु इस विषय में उनका ज्ञान परिमित होने से विद्यार्थियों में प्रायः उनकी फजीहत हो जाती थी। दूसरे वर्ष एफ. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण हो जाने पर तिलक ने एक टर्म बम्बई के एल्फिन्स्टन कालेज में जाकर पूरी की थी। उस समय गणित के शिक्षक प्रो. हथॉर्नवेट थे, किन्तु उनका गणितविषयक ज्ञान केवल पुस्तकीय एवं तांत्रिकही था। उनकी व्यवस्था और निश्चित विषय को परीक्षा की दृष्टि से यथावश्यक बतला देने का ढंग अवश्य अच्छा था। किन्तु इन प्रोफेसर साहबकी शिक्षापद्धति तिलक को पसंत नहीं आई, अतएव वे बम्बई से फिर पूना लौट आये, और अपने श्रम से गणित का अभ्यास बढ़ाकर सन १८७६ में इन्होंने प्रथम श्रेणि में बी. ए. पास कर लिया। वामन शिवराम आपटे भी गणित लेकर प्रथम श्रेणिमें बी ए. हुए थे। इनका स्वयंसिद्ध विषय था संस्कृत, किन्तु कहा जाता है कि अपनी बुद्धिमत्ता के बलपर हर एक विषय में प्रवीणता प्राप्त कर सकने की उन्होंने प्रतिज्ञा अपने मित्रोंके सम्मुख की थी, उसे उन्होंने कर पूर्ण दिखाया। अस्तु। सन १८७७ ई० में गणितशास्त्र का अध्ययन कर तिलक एम्. ए. की परीक्षा में बैठे, किन्तु अनुत्तीर्ण हुए। तब उन्होंने एम्. ए. को छोड़कर एल् एल्. बी. होने का निश्चित किया, और सन १८७८-७९ इन दो वर्षों में खूब परिश्रम करके सन १८७९ के दिसंबर में एल् एल्. बी. पास भी हो गये। आगे चल कर पांच-छह वर्ष के बाद जब फर्ग्युसन कॉलेज की स्थापना हुई तो उसकी प्रोफेसरी के लिए एम्. ए. की परीक्षा फिरसे देने का विचार कर तिलक ने चार पांच महिनेकी छुट्टी ली और अध्ययन करनेके लिए प्रो० केरो के साथ पूना के हीराबाग में एकान्त जा कर रहने भी लगे। इसके बाद उसी वर्ष वे परीक्षा में सम्मिलित भी हुए, किन्तु फिर भी जब अनुत्तीर्ण हुए तब उन्होंने एम्. ए. की धुन छोड और कुछ दिनों बाद कालेज भी छोड दिया।

तिलक के गणित और संस्कृत जैसे दो विषय उत्तम रहने पर भी केवल

गणित को ही लेकर एक वर्ष के परिश्रम से वे पहिली वार अनुत्तीर्ण हुए, तो एकदम उन्होंने एम. ए. को छोड़कर एल् एल. बी. का रास्ता क्यों पकड़ लिया, इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता। बी. ए. होने तक स्वतंत्र पाठशाला या कालेज स्थापित कर, उसीमें शिक्षक या प्रोफेसर के रूप में आजन्म रहनेकी कल्पना उनके हृदय में उत्पन्न हुई थी या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा ज सकता। स्कूल कायम करने के लिए श्री. आगरकर के साथ उन्होंने जो निश्चय किय था वह सन १८७६ के सितम्बर में किया था जब, कि वे एल् एल्. बी. के अध्ययन के लिए डेक्कन कालेज में जा कर रहने लगे थे। बीच में एम. ए. की परीक्षा छोड़कर एल्. एल्. बी. की तरफ जाने का कारण कदाचित् यह हो सकता है कि तिलक की इच्छा अध्यापक के बदले वकील बन कर हाई कोर्ट में वकालत करने की हुई हो। क्यों कि तिलक के साथ बी. ए. पास होनेवाले विद्यार्थियों मेंसे अधिक तर एल् एल्. बी. में ही भर्ती हुए थे। एम. ए. पढ़नेवालों की संख्या इनी गिनी ही थी। इस के अलावा, रावसाहब विश्वनाथ नारायण माण्डलिक का उदाहरण भी कोंकणसे सम्बन्ध रखनेवाले होनहार ग्रेजुएट युवाओं के सामने मौजूद था। बम्बई में ब्राह्मण-समाज में सर्वश्रेष्ठता के नामे इन्हीं माण्डलिक महाशय की ख्याति थी। इनकी वकालत बहुत बढ़ी हुई थी, साथही सरकारमें इज्जत और लोकप्रियता भी कुछ कम न थी। यद्यपि विद्वत्ता में बहुत बढ़ेचढ़े न थे, तथापि उनका विद्याव्यासंग बहुत था और संशोधनात्मक निबन्धादि लिख-कर भी वे थोड़ीबहुत ख्याति-लाभ कर चुके थे। सर फीरोजशहा मेहता से पहिले, राजनैतिक विषयोंका नेतृत्व इन्हीं को प्राप्त था। फीरोजशाह की ही तरह बल्कि उनसे भी कुछ अधिक प्रमाण में, ये निस्पृह एवं प्रभावशाली थे और अंग्रेजों से बिलकुल बराबरी के भाव से बरतते थे। माण्डलिक और तिलक दोनों की ही पितृभूमि दापोली तहशील मेंही थी। यही नहीं बरन माण्डलिक तिलक के पिता गंगाधर रावजी के मित्रों मेंभी थे। और यह मित्रता यद्यपि गरीब एवं धनाढ्य के बीच की थी, तथापि बलवन्तरावजी की बुद्धिमत्ता और उनके तेज़ तर्रारपन का पता माण्डलिकजी को अच्छी तरहसे था, इसी प्रकार वे इनके यहां हमेशा आतेजाते भी रहते थे, अतएव पिता की ही तरह पुत्रका प्रेम-भाव भी इन से बहुत बढ़ गया था। ऐसी दशा में, श्री. माण्डलिक की ओर से स्नेहबुद्धि या मित्रवत्सलता के नाते तिलक को एम. ए के बदले एल् एल् बी होने की सम्मति दी जाने की जितनी संभावना हो सकती है, उतनी ही विना उनकी सलाह के, प्रत्यक्ष उनका आदर्श उपस्थित रहने के कारण, उन्हीं की तरह हाई कोर्ट में वकालत करने की इच्छा तिलक के चित्त में उत्पन्न होने की भी कल्पना की जा सकती है।

बाल्यकाल और विद्याभ्यास.

एल्. एल्. बी. में तिलक का प्रिय विषय हिंदू धर्मशास्त्र था, और इसी लिए उन्होंने हिंदू धर्मशास्त्र के मुख्य ग्रंथ एवं उनकी टीका आदिका बड़े ही ध्यान से अध्ययन किया था, किंतु इसमें भी परीक्षा में यशप्राप्ति की अपेक्षासे उस विषय को अपना करलेने की ओर ही तिलक का विशेष ध्यान था। इसी समय का धर्मशास्त्र का अध्ययन आगे चलकर कई सामाजिक विषयों में तिलक के बहुत काम आया। हर किसी विषय को ऐन वक्तपर हाथमें लेकर उसमें प्रवीणता सम्पादन करने की पात्रता तिलक में थी, यह बात आगे चलकर कई बार सिद्ध हुई है। इतनेपर भी यह कहा जा सकता है कि शास्त्रार्थ के झगड़ खड़े होनेपर उन्हें इस बात का भान नहीं हुआ होगा कि वे किसी अपरिचित विषय में हस्तक्षेप कर रहे हैं। अन्य विषयों में उनका आरंभिक अध्ययन होता तो इस विषय में तो केवल पुनरावृत्ति रहती थी।

सन १८७२ ई. में जब तिलक एन्ट्रेन्स पास हुए, तब उनके साथ इसी परीक्षामें पास होनेवाले कुछ लोग ये थेः—कर्नाटक के प्रसिद्ध लिंगायत डिप्टी कलेक्टर रुद्रगौड़ा चर्नाल, मिरज में वर्षों तक हेडमास्टरी करनेवाले अप्पा भत्रे, बड़ोदा के उच्च पदाधिकारी शिवरामपंत भिड़े, डॉ. नाना साहब देशमुख, डिपुटी कलेक्टर रामचंद्र भीमराव जोशीकर, असिस्टंट सर्जन बालाजी हरी कांदीकर, पेनशनर मुन्सिफ बापूसाहिब कायबटे और उनके भाई बंबई के नरहरपंत कायबटे, पेनशनर मुन्सिफ गोविन्दराव केळकर, बधों के वकील दामोदरपंत खरे, सुप्रसिद्ध संपादक एवं सुधारक बहरामजी मलबारी सेट, सोलापुर के वकील प्रभाकरपंत नागपुरकर, पावगी बन्धु अर्थात् नारायण भवानराव, और रावजी भवानराव, कोल्हापुर के दीवान रघुनाथ व्यंकाजी सबनीस, बड़ोदा के दीवानबहादुर वासुदेव महादेव समर्थ, बड़ोदा के रिटायर्ड न्यायाधीश अप्पासाहब शारंगपाणी, कोल्हापुर के गणपतराव साहब सोहनी, माननीय श्रीधर बालकृष्ण उपासनी, हाई कोर्ट ट्रान्सलेटर गणेश पाण्डुरंग वैद्य, इत्यादि। बरार के प्रसिद्ध नेता माननीय दादा साब खापर्डे ने भी लो. तिलकके ही साथ २ एन्ट्रेन्स परीक्षा पास की थी।

सन १८७४ और १८७५ में डेक्कन कालेज के 'जूनियर स्कॉलर' सबइली में तिलक का नाम पाया जाता है। स्कालरशिप प्रतिमास दस रुपये के हिसाबसे मिलती थी। ७५ से ७६ तक के तीन वर्षों में डेक्कन कालेज में प्रो. जिनसीवाले, दामोदरपंत केळकर, माधवराव आपटे, (वामनराव आपटे के बड़े भाई), काशीनाथ बापू पाठक आदि दक्षिणा फेलो एवं बोर्डिंग के सुप्रेन्टेण्डेंट आदि थे। अनन्त शास्त्री पेंडरकर और चिंतामणि शास्त्री थत्ते संस्कृत सिखाने के लिए पीटरसन एवं किलहॉर्न की जोड़ी में मौजूद रहते थे। एतद्देशीय प्रोफे-

गणित को ही लेकर एक वर्ष के परिश्रम से वे पहिली वार अनुत्तीर्ण हुए, तो एकदम उन्होंने एम. ए. को छोड़कर एल् एल. बी. का रास्ता क्यों पकड़ लिया, इसका कारण हमारी समझमें नहीं आता। बी. ए. होने तक स्वतंत्र पाठशाला या कालेज स्थापित कर, उसीमें शिक्षक या प्रोफेसर के रूप में आजन्म रहनेकी कल्पना उनके हृदय में उत्पन्न हुई थी या नहीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। स्कूल कायम करने के लिए श्री. आगरकर के साथ उन्होंने जो निश्चय किया था वह सन १८७९ के सितम्बर में किया था जब, कि वे एल् एलू. बी. के अध्ययन के लिए डेक्कन कालेज में जा कर रहने लगे थे। बीच में एम. ए. की परीक्षा छोड़कर एल्. एल्. बी. की तरफ जाने का कारण कदाचित् यह हो सकता है कि तिलक की इच्छा अध्यापक के बदले वकील बन कर हाई कोर्ट में वकालत करने की हुई हो। क्यों कि तिलक के साथ बी. ए. पास होनेवाले विद्यार्थियों मेंसे अधिक तर एल् एल्. बी. में ही भर्ती हुए थे। एम. ए. पढ़नेवालों की संख्या इनी गिनी ही थी। इस के अलावा, रावसाहब विश्वनाथ नारायण माण्डलिक का उदाहरण भी कोंकणसे सम्बन्ध रखनेवाले होनहार ग्रेजुएट युवाओं के सामने मौजूद था। बम्बई में ब्राह्मण-समाज में सर्वश्रेष्ठता के नाते इन्हीं माण्डलिक महाशय की ख्याति थी। इनकी वकालत बहुत बढ़ी हुई थी, साथही सरका[र] इज्जत और लोकप्रियता भी कुछ कम न थी। यद्यपि विद्वत्ता में बहुत न थे, तथापि उनका विद्याभ्यासग बहुत था और संशोधनात्मक निबन्ध[...] कर भी वे थोड़ीबहुत ख्याति-लाभ कर चुके थे। सर फीरोजशहा मेह[ता] राजनैतिक विषयोंका नेतृत्व इन्हीं को प्राप्त था। फीरोजशाह की उनसे भी कुछ अधिक प्रमाण में, ये निस्पृह एवं प्रभावशाली [...] बिलकुल बराबरी के भाव से बरतते थे। माण्डलिक और तिलक दो[नों] दापोली तहशील मेंही थी। यही नहीं बरन माण्डलिक तिल[क] रावजी के मित्रों मेंभी थे। और यह मित्रता यद्यपि गरीब एवं [...] थी, तथापि बलवन्तरावजी की बुद्धिमत्ता और उनके [...] माण्डलिकजी को अच्छी तरहसे था, इसी प्रकार वे इनके [...] भी रहते थे, अतएव पिता की ही तरह पुत्रका प्रेम-भाव [...] था। ऐसी दशा में, श्री. माण्डलिक की ओर से स्नेह [...] नाते तिलक को एम. ए के बदले एल् एल् बी होने [...] जितनी संभावना हो सकती है, उतनी ही बिना उनकी आदर्श उपस्थित रहने के कारण, उन्हीं की तरह हाई[...] इच्छा तिलक के चित्त में उत्पन्न होने की भी कल्पना [...]

यह परीक्षा पास की थी। जिनमें तिलक के साथ उपाधि पानेवालें भड़भड़े और गाडगोल प्रथम श्रेणिमें, तथा शिवरामपंत भाण्डारकर, विष्णुपंत भाटवडेकर, गोविन्दराव कानिटकर, मनोहरपंत काथवटे, शारंगपाणी, उपासनी, दुल्लू (ग्वालियरराज्य के न्यायाधीश) एवं हाईकोर्ट प्लीडर दिवानबहादुर गणपत सदाशिव राव आदी द्वितीय श्रेणि में उत्तीर्ण हुए थे।

भाग दूसरा, परिशिष्ट (१).

लोकमान्य तिलक की जन्म और राशिकुण्डली स्पष्टग्रहोंसहित नीचे दी जाती है :—

शके १७७८ आषाढ कृ० ६ सूर्योदयात् गत घ० २ प० ५

जन्म कुण्डली

राशि कुण्डली
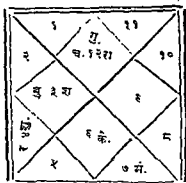
जन्मकाल के स्पष्टग्रह.

र.	च.	मं.	बु	गु	शु	श	रा	के.	ल.
३	११	६	२	११	३	२	११	५	३
८	१६	४	२४	१७	१०	१७	२७	२७	१६
१६	३	३४	२६	५२	८	१८	३६	३६	२१
२१	४६	३७	१७	१६	२	७	१६	१६	३१

ता० २३ जुलाई सन १८५६ मुं. रत्नागिरी।

इस कुण्डली में केवल दोही उल्लेखनीय योग हैं, जिन्हें प्राय. सभी ज्योतिषियों ने स्वीकार किया है। नवमस्थान का गुरुचंद्र योग यह प्रकट करता है

कि यह व्यक्ति अलौकिक एवं नेता होने योग्य तथा राष्ट्र-गुरुत्व का मान पानेवाला होगा। इसी प्रकार द्वादशस्थान में शनि और बुध एवं भाग्यस्थान में राहू के होने के कारण कदाचित् तिलक को बारम्बर कारागृहवास भोगना पड़ा होगा। शुभफल देनेवाला गुरु और अशुभ फल देनेवाला शनि, दोनों ग्रह तिलक की कुण्डली में जोरावर हैं।

किन्तु इसी कुण्डली में कुछ ग्रह-योग ऐसे भी हैं, जिनके विषय में ज्योतिषियों में परस्पर मत-भेद है। फल-ज्योतिष शास्त्र में भी नियम-भेद केही साथ २ पद्धति-भेद बहुत है, इस कारण मत-भेद उत्पन्न हो जाते हैं। इसी तरह सन १९०८ में एक प्रसिद्ध ज्योतिषी का तिलक के मुक़दमे के निर्णय और उस की ठीक तारीख आदि का कथिक भविष्य अकस्मिक रीतीसे ठीक निकला और इसके बाद उसी ज्योतिषी का छुटकारे विषयक भविष्य बिलकुल मिथ्या भी सिद्ध हुआ। यदि यह कह दिया जाय कि उनके भिन्न २ प्रवास एवं अभियोगादि के संबन्ध में कथित भविष्यों में से लग भग आधे सत्य निकले और शेष आधे असत्य, तो उसमें से लभ्यांश कुछ भी न रहने की वात स्वयमेव सिद्ध हो जायगी। ज्योतिषियोंकीही तरह शीर्ष सामुद्रिक एवं अंगुष्ठ सामुद्रिकों ने भी उनके हाथों के तलवे और अंगूठे की छाप तथा सिरका नाप लिया था। इन लोगों के अपने शास्त्रानुसार लिखे हुए भविष्य के भी कुछ कागद-पत्र हमारे देखने में आये हैं। किन्तु उन्हें भविष्य का स्वरूप प्राप्त नहीं होता। क्यों कि तिलक के प्रसिद्धि प्राप्त करनेसे पूर्व, इस प्रकार का कोई भविष्य नहीं पाया गया।

भाग २, परिशिष्ट (२).

तिलक की स्कूल एवं कॉलेज में रचित कविताएँ.

नीचे लिखे हुए तीन पद्य संभवतः तिलक के स्कूल में पढ़ने के समयके बनाये हुए हैं:—

सदागुणज्ञः सुपरीक्षणाय यं। कवीन्द्रकाव्यामृतकांचनस्य वै।
करोति लोके निकषं न दुर्जनं। खलाय तस्मायहिताय मे नमः ॥ १ ॥
कृशानुतापः कुरुते यथामलं। मलं गृहीत्वा वपनस्थजीवनं।
तथा करोत्येव च यः सतोहितः। खलाय तस्मै प्रथमं नमोऽस्तु ते ॥ २ ॥
यथा पयस्येव घृतं हि वर्तते। तथापि लोके सहतेऽतितप्ततां।
प्रयाति शुद्धिं च तदा ततोमृतं। खलस्य तोषे कथिता तथाशुचिः ॥ ३ ॥

कॉलेज में बनाई हुई तिलक की संस्कृत कविताएँ.

मातृ-विलाप।

प्रसमीक्ष्य सुतं गुणालयं । विधिना संहृतजीवितं पुरा ।
जननी निपपात दुःखिता । धरणौ मोहवशं गता भृशं ॥ १ ॥
अथ सा जननी विमूर्छिता । प्रकृतिं प्रासरती यथायथा ।
सुतजीवितनाशहेतुभिः । विषमोहैरभवत्तथाकुला ॥ २ ॥
बत! हास्मि हता विधे त्वया । तनयस्यासुहृता न मे पुनः ।
रविणा सरसि प्रशोषिते । ननु जीवेच्छफरी तदाश्रया ॥ ३ ॥
पितरौ प्रथमं सतः सुतौ । हननस्य क्रम एष भो विधे ।
तनयः प्रथमं कथं त्वया । मम नीतः प्रतिकूलचारिणा ॥ ४ ॥
बहुकालमहो! न संस्थितिं । सुत धात्वा न कलासु वर्धनं ।
सकलैः सुजनैर्मुदेक्षितः । प्रतिपच्चन्द्र इवासि निर्गतः ॥ ५ ॥
उपचारशतैर्विवर्धितः । प्रथमं सूचितभाविवैभवः ।
सहसैव दवाग्निना हतः । सुत बीजाङ्कुरवद्गतो भवान् ॥ ६ ॥
न भवान् भवनाद्बहिर्गतो- । नुमतिं प्राप्य कदापि नो मम ।
अधुना परिहाय मां कथं । सुत! नापृच्छय दिवं प्रयास्यसि ॥ ७ ॥
पदवी त्रिदशालयस्य सा; । विषमा भूतगणादिसंकुला ।
सुगताद्य कथं सुत त्वया । गमनेऽल्पाध्वन एव सीदता ॥ ८ ॥
न कृत करणीयमस्ति य- । दनुभूतानि सुखानि न त्वया ।
विततं विमलं यशो न ते । परलोकं कथमद्य गम्यते ॥ ९ ॥
वचनं न ममावधारितं । शिशुतायामपि जातक! त्वया ।
विफलीकुरुषेऽद्य मे कथं । गिरमुत्थाय सुभाषयेति माम् ॥ १० ॥
नयने मम बाष्पपूरिते । सुतकृत्वाप्यपहृत्य जीवितं ।
तव देहविलोकरोधनं । कुरुतेऽनूस इवैतदन्तकः ॥ ११ ॥
तव दूयत एव कोमलं । मृदुशय्या-विनिवेशितं वपुः ।
प्रसहेत तदेव हा कथं । अधुना तात चिताधिरोहणे ॥ १२ ॥
हृतपंकजकान्तिलोचने । वदनं चैव सदेन्दुदर्शनम् ।
मधुरं वचनं वपुस्तव । सुभगं मन्मथ गर्वहारि च ॥ १३ ॥
अनुचिंत्य च तान् गुणांस्तव । तनयातीव भवामि विह्वला ।
भ्रमरी हिमवृष्टिनाहतं । ननु शोचेदवलोक्य पंकजं ॥ १४ ॥

खलु किं न नु दत्तमर्थितं । सुत, निर्बंधपरेण यत्त्वया ।
प्रतिवक्षि न मां यतोऽवलां । कुपितोऽकारणमेव नन्दन ॥ १५ ॥
गृहकर्माणि रक्तमानसा- । मशितव्यं न विलंब्य देहि मे ।
अयि पुत्रक ! को वदेदिदं । वचनं सम्प्रति मां गते त्वयि ॥ १६ ॥
भवनं तनयेन शोभते । न वृथेत्थं विबुधैर्निगद्यते ।
भुवनं हि विभाति मे वनं । सुरलोकं तनये गते द्रुतं ॥ १७ ॥
इति सा बहुशो व्यचिन्तयत् । तनयं चाप पुनर्विमूर्च्छितां ।
अवलोक्य हि मूर्छितां सुतो । व्यपनीतो दहनाय बांधवैः ॥ १८ ॥
अथ बन्धुभिरग्निसात्कृतः । सुत इत्याद्यवगम्य विह्वला ।
विससर्ज हि शोकपावके । गुणिते स्नेहरसेन सा वपुः ॥ १९ ॥
बाष्पोदकेन नितरामभिषिच्यमान-स्तस्या न शोकदहनो नितरो हृदिस्थः ॥
आवर्तताधिकतरं स पुनः प्रदीप्तो । निक्षेपितो जलनिधाविव वाड़वाग्निः ॥ २० ॥

भाग २, परिशिष्ट (३).

रावबहादुर शारंगपाणी की याददाश्त.

लोकमान्य तिलक के मित्र रा. ब. शारंगणपाणी की सेवामें अन्य महानुभावों के साथ हमारी ओरसे निवेदन किया जाने पर उन्होंने तिलक के विषय में अपने स्मरण की कुछ बातें लिख भेजने की कृपा की है; जिनका सार नीचे दिया जाता है। "सन १८७३ के जनवरी मासमें तिलक जब डेक्कन कॉलेज में भर्ती होने के लिए आये तब मैं ने पहली वार उन्हें देखा। उस समय वे दुर्बल-शरीर एवं चौंधियाते नेत्रवाले सिर में फोंडे पडे हुए-इस तरह एक बहुत ही मामूली विद्यार्थी दिखाई पड़ते थे। किन्तु इसके बाद दोही वर्ष में व्यायाम के द्वारा उन्होंने अपना रंगरूप सब एकदम बदल दिया।......नाशिककर और धुलेकर अर्थात् पिताम्बर (सोला) पहन कर भोजन करनेवाले विद्यार्थीयों का एक क्लब था, उसी में तिलक भी शामिल हो गये। उनके आचरण में धर्मनिष्टता दिखाई देती थी। उनकी वेष-भूषा बिलकुल सादी थी।......उस समय के विद्यार्थीयों की पोशाक़ का कोई प्रतिबंध न था। कोई २ विद्यार्थी तो नंगेसिर भोजनालय से लौटते हुए क्लास की खिड़कीसे बाहर खड़े हो जाते और केवल 'हियर सर' की आवाज़ में हाज़िरीवाले से बात करके अपने कमरे में चले जाते और इसके बाद पूरे कपड़े पहनकर क्लास में आते थे। भोजन के बाद तिलक को बहुत सी सुपारी खानेकी आदत थी, इस लिए वे भी उपर्युक्त विद्यार्थियों की तरह हाजिरी लिखवाते थे।

कभी २ वे शरीर में पुराने ढंग का अँगरखा और सिरपर उपरने का फेंटा बांधकर भी क्लास में बैठा करते थे।......प्रथम वर्ष काशीनाथ बलवन्त (बाबासाहब) पेंडसे सीनियर फेलो थे और वे संस्कृत पढ़ाया करते थे। संस्कृत विषय उत्तम होने के कारण तिलक वे भाषांतर (अनुवाद) बड़ी शीघ्रता से कर लेते थे। उन्होंने कई बार अंग्रेजी कविताओंके संस्कृत रूपान्तर किये थे । गणित में अॅनेलिटिकल जिआमेट्री से तिलक को विशेष रुचि थी। मैंने 'बटलर्स सर्मन्स' नामक विषय लिया था। अतएव तिलक मुझे दोष दिया करते और कहा करते कि "गणित जैसे विषय को छोड़कर 'बटलर के सर्मन्स' पढ़ने में क्यों दिमाग खाली करते हो।" प्रो. केरू नाना छत्रे के पास जाकर तिलक गणित विषय की शंकाओंका समाधान कराते थे। तभी से छत्रेजी को विश्वास हो गया था कि यह विद्यार्थी आगे चलकर उच्च कोटिका गणितज्ञ होगा।......कई बार प्रो. छत्रे जब दूरबीन के द्वारा विद्यार्थियों को आकाशके तारे दिखाया करते थे तब तिलक अवश्य वहां उपस्थित रहते थे। कॉलेज में अध्ययन करनेवालों की तीन श्रेणियां थीं। कितनेही भोजन करने के बाद तत्काल सो जाते और मध्यरात्रि में उठकर अध्ययन कर लेने के बाद फिर विश्राम करते थे। कई भोजन के बादही अपना सबक याद कर लेते और कितने ही भोजन के बाद बहुतसा समय गप्पों में बिता कर आधी रात में अभ्यास किया करते थे। इनमें तिलक तीसरी श्रेणि के विद्यार्थी थे। उन्हें तभी से जागरण करने की बड़ी हविस थी। वे खुद भी जागते और साथ २ दूसरों सेभी जागरण कराते थे। वे न एकाकी स्वभाव के थे और न बहुत वाचालही। मित्रमण्डली के साथ वे खुले दिल से बरतते। मुकसरीखे उनके चुने हुए मित्र लोग रात को भोजन करने के बाद किसी एक की कोठरी (रूम) में इकठ्ठे होते, और गप्पे उड़ाया करते थे।... अपनी मित्रमण्डली में तिलक की एक प्रकार से धाक सी जमी हुई थी। उनकी अध्ययनपद्धति अॅनेलिटिकल अर्थात् विवेचनापूर्ण थी। केवल पुस्तकीय विवेचन सेही संतुष्ट न होकर वे खुद ही उस विषय को कई भागों में विभाजित करते अपनी ही बुद्धि के द्वारा उसका निरूपण कर देते थे।......नोट्सभी वे किसी दूसरे के न लिखकर अपने आप अलग तैयार करते थे। एल्. एल्. बी. के समय जब हमने एकत्र अभ्यास किया, तब व्यवहार-मयूख, मिताक्षरा आदि मूल ग्रंथ हमने साथ बैठकर ही पढ़े।......व्यायामादि विषयों में तिलक सबसे आगे रहते थे। वे इस काम में दोदो घंटे तक लगा देते थे। तैरते हुए आधा घंटे की डुबकी लगा सकते थे। इसी प्रकार रातको जागकर सवेरे ठण्डे जल से स्नान करने के लिए वे बीसबीस मिनिटतक नल के नीचे बैठकर पानी की धार अपने

सिरपर गिराते थे। हमारी एल्-एल्. बी. की परीक्षा हो जाने के बाद तिलक के काका जब मुझे मिले तो कहते लगे कि अब तुम बलवन्तरावसे वकीलत या नोकरी करने के लिए कहना। किन्तु ये दोनों ही काम न करने का तिलक के निश्चय का मुझे पहले से ही पता था; अतएव मैंने उन्हें समझा दिया कि तिलक से इस विषय में कुछ कहना निरर्थक है।"

भाग २—परिशिष्ट (४).

तिलक के संवाद।

[इन दो परिशिष्टों में तिलक के दो संभाषणप्रसंग दिये गये हैं। यद्यपि ये संभाषण उसी समय शब्दशः किसीने नहीं लिख लिये थे, और न उस समय किसी के चित्त में इस बात की कल्पनाही उत्पन्न हुई थी कि हमारे ये संवाद महत्त्व पूर्ण समझे जाकर किसी ग्रंथकर्ताद्वारा सर्वसाधारण के सन्मुख उपस्थित किये जायँगे, किन्तु इस प्रकार के संभाषण हुए अवश्य थे, क्यों कि उन में शामिल होनेवाले दो-एक सज्जनोंसे आज भी इस बात को पुष्टी मिल रही है। यद्यपि तिलक और आगरकर आज इस संसार में नहीं है, फिर भी उनके सहपाठी भी उपासनी एवं शारंगपाणी विद्यमान है; एवं कर्मयोगी (मराठी) मासिक पत्र के सम्पादक श्री. एकनाथ यादव निफाड़कर ने रावसाहब उपासनी की कही हुई बातों परसे ये संभाषण लिखकर तैयार किये और इसके बाद श्री. उपासनी ने भी इन्हें देखकर ठीक कर लिया है। सबके अन्त में जब ये श्री. शारंगपाणीजी को दिखलाये गये तो उन्होंने भी यही कहा कि इनमें मूल संभाषणोंके भाव यथावत् प्रगट हो रहे है, और ये इतने अच्छे ढंग से लिखे गये हैं, मानों ये ठीक संवाद होने के समय ही लिखे गये हो। भावनाओं की ही तरह वक्ताओं की भाषणशैलीका अनुकरण भी लेखक ने यथाशक्ति किया है। इन संभाषणों के यहां प्रकाशित करनेका आशय केवल यही है कि श्री. तिलक के पूर्वचरित्र के विषय में हमने श्री उपासनी एवं शारंगपाणी आदि महानुभावोंकी सेवामें अपनी जानकारी की बातें लिख के भेजने के लिए प्रार्थना की थी, जिसके अनुसार श्री. शारंगपाणीजी ने जो बाते लिख भेजी वे तीसरे परिशिष्ट में हमारे पाठक पढ़ही चुके है; और ये संभाषण भी लगभग उसी दर्जेके हैं, जो कि खुद उपासनीजी के हाथसे लिखे हुए हो सकते हैं। यह एक मानी हुई बात है कि निजी संभाषणोंको यदि लेखरूप में दिया जाय तो वे इसी प्रकार प्रकट हो सकते हैं। स्व. लार्ड मार्ले ने अपनी "स्मरणीय घटना" ओं वाली पुस्तक में एवं अपने

लिखे हुए ग्लैडस्टन के चरित्र में भी इसी प्रकार के संवाद कुछ स्थानोंपर दिये हैं। वे भी यद्यपि ठीक उसी समयके लिखे हुए नहीं हैं, किंतु फिर भी विश्वसनीय माने जाते हैं। उदाहरणार्थ—ग्लैडस्टन चरित्र की दसवी पुस्तक के पांचवे अध्याय के ७ वे खंड का संभाषण और "स्मरणीय घटना एँ" नामक पुस्तक के द्वितीय भाग का इक्कीसवां पृष्ठ देखना चाहिये। लेखक]

(१) सोला

मुले (उपासनीसे):—क्यों भट्टजी, क्या भोजन को चले?

उपासनी:— (एकदम सरल भावसे) हां मित्र।

तिलक:—हां, रावबहादुर!

आगरकर:—क्या हम भी चलें उपासनीजी तुम्हारे ब्रचमें!

उपासनी:—अवश्य चलिये, हमें बड़ी प्रसन्नता होगी।

मुले:—लेकिन हम सोला वगैरेह नहीं पहनेंगे!

उपासनी:—मैं तुम्हें शारंगपाणी का पीताम्बर ला दूंगा।

आगरकर:—भला जो उनके विवाह के पश्चात् आज तक नहीं धुला है, उसी पीताम्बरके लाने के लिए कहा रहे हैं!

उपासनी:—अच्छा तो आप मेरा परेट धुला हुआ कद ले सकते हैं!

आगरकर:—लेकिन हमारा यह धुला हुआ कार्पास वस्त्र क्या, काम नहीं दे सकता? भला इसके साथ इतना अन्याय क्यों किया जा रहा है? अमुक कपड़ा ही पहनिये, और उसे अमुक प्रकारसे ही पहनिये या अमुक प्रकार की ढील कीजिये, भला इनसे मतलब? और तुमने यह ढोंग मचा किस आशय से रक्खा है? भला. इसके लिए कोई शास्त्र का आधारभी है, या इसका कोई प्रयोजन भी हो सकता है? इस सोले ने हमारे स्वभावतः कोमल हृदय को शिक्षा के नामपर पत्थरसा बना-दिया है! क्योंजी तिलक, क्या तुम इस बातका अनुभव नहीं करते?

तिलक:—तुम बारम्बार मुझसे इस प्रकारके प्रश्न क्यों करते हो? मेरे उत्तर तुम्हें भाते नहीं। किंतु फिर भी तुम्हारे आक्रमण जोरदार है पर मैं समझता हूं कि वह दिलसे है, और इसी लिए आज मैं अलग ढंग से उत्तर देता हूं, किंतु अब यहां अधिक विवाद करके अपने रसोइये को कष्ट देना, मैं उचित नहीं समझता। क्यों कि यदि वह अप्रसन्न हो जाय तो अधिक पैसे देकर भी हम अच्छा भोजन नहीं पासकते। और हम लोग ठहरे गरीब आदमी, इस लिए मैं तो जाता हूं।

आगरकरः—तुम्हारा कथन बिलकुल ठीक है। परंतु तुम तो अपने को गरीब कह कर छूट जाते हो, लेकिन मुझ जैसा जन्मदरिद्री अपने को क्या कहे? इतने परभी यदि तुम्हारा इरादा पक्का हो तो आज मैं भोजन भी छोड़ सकता हूं। चलो हम सब उपासनी के कमरे में चलकर बातें करें!

मुलेः—ना भैया, मुझे तो कड़ाके की भूख लग रही है!

तिलकः—और मुझे भी तैरने के कारण स्वभावतः क्षुधा सता रही है। मित्र आगरकर, तुम वादविवाद के झगड़े में अपने स्वास्थ्य की ओर बे-पर्वाही करते हो यह अनुचित है!

आगरकरः—मैं पहले मन और उसके बाद शरीर पर ध्यान देता हूं।

तिलकः—यह तुह्मारी भूल है। क्योंकि सबसे प्रधान विषय धर्म है, और वह बिना शरीरके भलीभांति पालन नहीं किया जा सकता। लेकिन तुम्हें अभी इतनी जल्दी क्या पड़ी है? हम कहीं भाग तो जातेही नहीं। पहिले अच्छी तरह भोजन कीजिये, जिससे कि फिर हम प्रफुल्लित चित्तसे शांतिपूर्वक बात-चीत कर सकें।

(इसके बाद भोजनादि से निवृत्त होकर कुछ देर इधरउधर की गप्पें उड़ाने के पश्चात् आगरकर के आग्रहपर तिलक ने अपने कथन की पुष्टी इस प्रकार आरंभ कीः—)

तिलकः— देखो मित्र आगरकर, मैं आरंभ में शास्त्र-प्रमाण देता हूं।

मुलेः— शास्त्री के बेटे को सिवाय शास्त्र के और क्या सूझेगा!

तिलकः— लेकिन ऐसा होना स्वाभाविकही है। आजकल संपूर्ण पाश्चात्य जगत् शास्त्रियोंकाही हो रहा है। और उन लोगों की बुद्धिपर हम आश्चर्य करने लग जाते हैं। अभीतक तो यह नियम था कि अच्छी बातें हम सभी अपनी समझते थे, किन्तु जबसे यह अंग्रेजी राज्य आया है-हम अपनापन एकदम भूलकर जितनी भरबुराइयां है वे सब अपने ही यहां खोज निकालने में मग्न हो गये हैं। अस्तु। मि० मुले के बीचमेंही बोल उठनेपर मुझे इस प्रकार उनका समाधान करना पड़ा है। (आगरकर की ओर देखतेहुए) मैं चाहता हूं कि बीचमें कोई न बोले। (सब की ओरसे सम्मति मिलजाने पर) शास्त्र (विज्ञान) का कहना है कि कपास की अपेक्षा रेशम अधिक ऊष्ण होता है, और कदाचित इसी लिए वह अपने पर धूल-धमाल या किसी तरहका मैल अथवा गंदापन नहीं रहने देता। फिरभी उसके लिए कुछ

मर्यादा बांध दी गई है। रेशमी वस्त्र भी अवश्य धो लेना चाहिये। किन्तु यदि वह बारम्बार धोया जाय तो जल्द फट जाता है, इसी लिए ग़रीब लोग उसे धोते नहीं। मेरा भाषण इस समय सामान्य-जनसमूह की दृष्टिसे हो रहा है, इसे ध्यान में रखिये। हां, तो यदि सूती वस्त्र रोज धोया जाता हो तो फिर रेशमी वस्त्र पहनने की अवश्यता क्यों है, अथवा यदि आगरकर की भाषामें कहा जाय तो यह अन्याय क्यों किया जाता है? इस प्रश्न का उत्तरभी सरलही है। बात यह है कि वस्त्र का बदला जाना शुद्धता की दृष्टिसे परमावश्यक है। अंग्रेज लोग भी भोजन करते समय वस्त्र बदल दिया करते हैं। और जहांतक होता है वे भोजन के समय रेशमी वस्त्र ही पहनते हैं। श्री रावबाजी की सोले के पराक्रम-विषयक निकम्मी बातपर ज़ोर देकर आप लोग सोले का बहिष्कार न कीजिये। क्यों कि अब तो यह सोला पहनने की प्रथा उतने महत्त्व की नहीं रही है। कितनेही ख़ास मौकोंपर सोला नहींभी पहना जाता है, और न ऐसा होने से किसी प्रकार के पाप कीही संभावना की जा सकती है। किन्तु मैं यह जानना चाहता हूं कि इस समय क्या तुमहम पर ऐसी कष्ट की घड़ी आ पड़ी है? नहीं! तो फिर व्यर्थ ही क्यों एक सनातन-प्रथापर प्रहार किया जा रहा है?

आगरकरः—बस, बस, सोले से अंध-विश्वास पुष्ट होता है। *मित्र तिलक!* तुम्हारी-हमारी बात अलग है। भले-बुरे को भी तुम-हम समझते हैं। किंतु सर्वसाधारण समाज तो एकदम रावजी-बाजी की तरह बावला हो रहा है। और यह बावलापन मुझे बर्दास्त नहीं होता। फिर भले ही वह सोला पहनने के सम्बन्धमें हो, या रेलगाड़ी के आगे मुर्गे, अण्डे अथवा नारियल चढ़ाने के विषयमें हो। और इन सब में अगर कोई भयंकर काल विष है तो वह एकमात्र अंधपरंपरा का अनुकरण करना है। अनन्त-काल से चले आनेवाले रीति-रिवाज का नाम लेते ही मेरा खून उबल उठता है। वास्तविक अनन्त काल क्या है, रीति-रिवाज कायम होनेका क्या कारण है, और उनके पालन करने न करने के लिए हम कहाँतक बाध्य हैं, आदि बातों का विचारपूर्वक निर्णय होना चाहिये। किंतु इतना विचार करता कौन है? जो भी कोई उठता है वह अपने पिता के ही पद-चिन्होंपर चलने लगता है। बाप यदि कसेरा था तो बेटा भी कसेरा बनेगा और यदि वह बाल बनाता था तो बेटा भी हज्जामगिरी

करने लगेगा किंतु इस देश में ऐसा कभी नहीं हो सकता कि बाप यदि कुम्हार था तो बेटा पंडिताई करने लग जाय, क्षणमात्र के लिये पाश्चिमात्यों को देखो। किन्तु क्यों जी तिलक! पाश्चिमात्योंका नाम लेते ही इस प्रकार तुम मन ही मन क्रुद्ध क्यों हो उठते हो?

तिलकः—इस लिए नहीं कि उनसे मुझे डर लगता है, बलिक मैं प्रत्येक विषय का साधक-बाधक दोनों दृष्टिसे विचार किया जाना आवश्यक समझकर चुप रहता हूं। क्रुद्ध होता हूँ, इसमें भी सन्देह नहीं है। क्योंकि इन पाश्चात्योंने क्रुद्ध होने जैसी ही हमें हानि पहुँचाई है। किन्तु इतने पर भी उनमें कुछ अत्युत्कृष्ट गुण होने की बात मैं आज भी स्वीकार करता हूं। इस विषय में मैं अभी अपने पक्के विचार प्रकट नहीं कर सकता। मित्र आगरकर! तुम्हारी बतलाई हुई प्रायः सभी बातें विचार करने योग्य हैं, किन्तु तुम्हारे इस प्रश्नका—कि विचार करता कौन है? सामान्य-जनता, यह उत्तर नहीं दे सकती। जिस दिन साधारण जनता विचारवान् बन जायगी इस दिन तो हम राजाही हो जायँगे, अंग्रेज और मराठे बराबरी के मित्र बन जायँगे, और आज की तरह उनमें स्वामी-सेवक का नाता भी न रहेगा। किंतु उस परिस्थिति को ला खड़ा करना भी तो वर्तमान शिक्षित समाज का ही कर्तव्य है न? मित्र आगरकर! हम-तुम मित्रोंने जब इस विषयका विचार आरंभ कर ही दिया है तो फिर उनको श्रेणिबद्ध करके इस बातका भी निर्णय कर लेना चाहिये कि कौन कहांतक संघ-शक्ति से काम कर सकता है। किन्तु तबतक जिस सामान्य जनताको सिखा पढ़ाकर हमें तयार करना है, उसका तो बुद्धिभेद न करना चाहिये। क्रम-क्रमसे एक एक काम को हाथ में लीजिये, और अच्छीतरह लोगोंको समझाइये, बस, यही मेरा अनुरोध है।

आगरकरः—(झल्लाकर) मेरा इस विषय में मत-भेद है।—(इसके बाद आगरकर ने सामान्य जनता को खूब फटकारा. उनके भाषण में सुनी जा सकते योग्य सब बातें तिलक ने सुनलीं. किंतु जब वे असह्य हो चलीं तब भी उपासनी के संकेतानुसार वहां से उठकर अपने कमरेमें चले गये)

(२) अपनी शिक्षा हमें खुद ही सम्हालनी चाहिये।

तिलक:—मित्र आगरकर! आज तुम्हें कुछ फुर्सत है क्या? आइये आज हम-तुम मिलकर अपने भावी कार्य-क्रम की ठीक जानकारी करलें।

बी. ए. पढ़ते समय ही हम लोग इस बात का निश्चय करनेवाले थे कि हमारी और तुम्हारी सार्वजनिक सेवा का ध्येय कहां, कैसे और किस हद तक मिल सकता है। इस बात को आज तीन वर्ष हो गये। भला, क्या इस प्रकार समय खोना अच्छा है?

उपासनी:—अजी, तो हम कहां समय खो रहे हैं! क्या परीक्षोत्तीर्ण होना प्रारंभिक तैयारी नहीं है?

आगरकर:—परीक्षोत्तीर्ण हो जाने पर समाज में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ जायगी, और इससे उतने ही अधिक प्रमाण में हम समाजसेवा कर सकेंगे, इससे अधिक मूल्य, कमसे कम मैं तो परीक्षा का नहीं समझता। और वैसे यदि देखा जाय तो मुझे भी तिलककी तरह यहि प्रतीत होता है कि हमारे पिछले तीन वर्ष व्यर्थ चले गये। अस्तु। यद्यपि यह एक फुटकर विषय है, किंतु फिर भी, तिलक! तुम्हारे विषय पर मैंने कुछ दिनों तक बड़ी बारीकीसे विचार किया है। समाज-सेवा का मैंने सब प्रकार से थाह लेकर देखलिया, किंतु फिर भी मुझे यही प्रतीत होता है कि, इस समय, राजनैतिक, सुधारों की अपेक्षा समाज-सुधार करना ही हमारा आद्य कर्तव्य हो सकता है।

उपासनी:—लेकिन यह Common platform (एक मत होने का साधन) नहीं हो सकता। क्योंकि जो चर्चा बी. ए. क्लास में हुई वही सिर पची अब एम्. ए. और एल्एल्. बी. में भी हो रही है।

तिलक:—कोई हर्ज नहीं। द्वैतमत को अद्वैत बनाना भी कुछ कम फायदे की बात नहीं है। अच्छा तो यह होगा कि आज हम अपने वाद-विवाद की मर्यादा निश्चित करलें। हां, तो यदि सबसे पहले इसी बात का निर्णय कर लिया जाय कि हमारा ध्येय समान हो सकता है या नहीं। इसके बाद हम अपने ढंग निश्चित कर लेंगे। हां, तो क्या आगरकर तुम्हारे मतानुसार पहले समाज-सुधार होने के बाद राजनैतिक सुधार होने की आवश्यकता है?

आगरकर:—हां। मैं ने बहुत कुछ विचार करलेके बाद यह मत निश्चित किया है। क्योंकि सबसे पहले घर और उसके बाद द्वार की फिक्र करनी चाहिये। जिसका घर मज़बूत होगा उसका द्वार भी मज़बूत होगा। भला, जिसकी घर में ही पूछ नहीं उससे बाहर कौन बात करेगा? रोले के इस कथनानुसार कि "जिस के घरमें स्त्री-पुत्रादिमें अन्याय

का ताण्डव नृत्य होता हो, उसी घर के स्त्री-पुरुषोंमें उसके अधापतनके शापसंचार करते हैं," आज हमारे समाज की दुर्दशा नहीं हो रही है! तिलक! तुम्हारी-हमारी बात और है। किन्तु यदि समष्टिरूप में हिन्दू समाज पर ध्यान दिया जाय तो भूत-प्रेत विषयक विश्वास, रेलगाड़ी के सामने अण्डे और नारियल फोड़ना, कुलाभिमान के लिए कर्ज़दार बनना, (अर्थात् पास में पैसा न रहते हुए भी बड़ी २ ज्योनार देना) स्मशान-यात्रा के समय मृतक की दुर्गती करना, और विधवाओं के ......बस, अब क्या कहूं! वह ढंग तो शरीर के रोंगटे खड़े कर देता है। तिलक! तुम भले ही मुझे कुछ कहते रहो, किन्तु मैं तो यही ढिंढोरा पीटता रहूंगा कि सबसे पहले अपने घर का सुधार करो।

तिलकः—लेकिन मैं भी तो तुम्हारे विरुद्ध नहीं हूं! भला, घर की किसे पर्वाह नहीं होगी? तुम्हारे शेलेसे पहलेही हमारे रामदास कह गये हैं कि "आधीं प्रपंच करावा नेटका" अर्थात् पहले अपनी गृहस्थी का सुधार करो। किन्तु शेले निरी बकवाद कर गया है, जबकि समर्थ रामदास ने "आधीं केलें मग सांगितलें" अर्थात् पहले कर दिखाया और उसके बाद मुंहसे कुछ कहा है। मित्र आगरकर, तुम घर सुधार का ही ढिंढोरा पीटना चाहते हो न? खुशीसे पीटो और जोर२ से पीटो। किन्तु यदि मुझ जैसा कोई अज्ञानी तुम्हारे पास आकर कहे कि "आप तो घर सुधारने कह रहे हैं, किन्तु मेरे पास घर ही नहीं, मैं क्या करूं?" तो आपको चाहिये के पहले उसे घर दें। इसके बाद अगर उपासनी की तरह दूसरा एक चतुर नागरिक तुम्हारे पास आकर पूछने लगे कि "क्योंजी, घर का मतलब क्या है? तुम कहते हो कि पहले घर और फिर द्वार, किन्तु इन नर्म-पशुओं को तो पहले द्वार और फिर घर दिखाई पड़ता है।" तो फिर सब काम छोड़कर तुम्हें पहले उसका शंकासमाधान करना पड़ेगा! अजी! घर की आवश्यकता तो है ही, और ये सारे प्रांत भी केवल घरके ही लिए हो रहे हैं। अंग्रेज लोग यहाँ आये और सारे संसार में फैल गये, वे भी तो घर के ही लिए घर छोड़े हुए हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि बाजार या द्वार [illegible] बिना घर के न हो सकने का सिद्धान्त तुम्हें मान्य है या नहीं?"

आगरकरः—अवश्य मान्य है। [illegible]
[illegible]

हमारा घर है तबतक वह यहां के बाजारपर ही अवलम्बित रहेगा। किन्तु तिलक! मैं तो शुरुसे ही विभिन्न मतवाला मनुष्य हूं। मैं समझता हूं कि मनुष्य का ध्येय बहुत ऊंचा होना चाहिये, फिर भले ही उसका दशांश भी सैंकड़ों वर्ष श्रम करने का बाद सिद्ध हो, तो भी मुझे पर्वाह नहीं है। तुम इस बाज़ार-मर्त्यलोक-कोही सारा महत्व दे डालना चाहते हो। यहां तक कि विचार करते समय तुम अन्य सृष्टियों की ओर ध्यान तक नहीं देते। कविवर शेलेके एपिप-सिशिद्वायन् नामक काव्यमें वर्णित पारिवारिक आनंद या संस्कृत काव्योंमें कथित स्वर्गीय-सुख को कमसे कम मैं तो अशक्य कोटि का नहीं समझता। किन्तु फिर भी यदि तुमने मायिक बाजारसे ही अपने कर्तव्य का आरंभ कर इसी ध्येयको सामने रखना निश्चित किया हो तो भी क्या तुम यह बतला सकते हो कि इस बाज़ार को लगानेवाले कौन हैं? कहना न होगा कि घरों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य ही इसके लगानेवाले हैं। घरहीन मनुष्यको उसके स्वभाव की परीक्षा हो जानेपर मैं घर अवश्य दे सकता हूं। यहां कुछ विषयान्तर होता है इसके लिए मुझे क्षमा कीजिए। मै किसी अंश में गोल्डस्मिथ के मतसे सहमत हूं। कोई मनुष्य कैसाही हो, यदि वह कुटुम्ब पोषण के लिए सामर्थ्य रखता है तो अवश्य ही उसे विवाह करना चाहिये। किन्तु जिसमें इस प्रकारकी शक्तिही नहीं है, उस की दशापर हमें दया करनी चाहिये, और जिस सुखको परमात्माने उसे नहीं दिया है उस आत्मीयताके प्रेम-भावसे हमे उसको देना चाहिये। मैं उपासनी जैसे चतुर नागरिक के प्रश्नका उत्तर देते हुए यह कहूंगा कि मैं तुम्हारे प्रश्न का मर्म समझ गया हूं। उसे ध्यान में रखते हुए मैं कहूंगा कि बाह्य जगत् की राजनैतिक परिस्थितिपर अवश्य विचार किया जाय, और इसके लिए मैंने आजतक कभी विरोधभी नहीं किया है, और न आगे करूंगा। किन्तु राजनैतिक परिस्थिति मेरे मतानुसार बाह्य जगत् की एक स्थिति है। अतएव इसके लिए उतने ही प्रमाणमें विचार किया जाना चाहिये और वह भी केवल घरके लिए। यही एक मात्र मेरा अनुरोध है। घर को तुम राजनैतिक संज्ञा समझो चाहे सामाजिक। मैं इस शब्द-विवादमें पड़ना नहीं चाहता। किन्तु उस शब्दका जो रूढ अर्थ है, उसीके अनुसार मैं सामाजिक सुधार को घरके साथ सम्बन्ध करता हूं। मैं समझता हूं कि यह कथन तिलक को अरुचिकर न होगा।

क:—कभी नहीं। मैं तो आज का दिन बड़ा शुभ समझता हूं। क्योंकि हम लोग आज पूर्ण शांतिपूर्वक बातचीत कर रहे हैं! अतएव आगरकर! यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है की हमारे हाथों महाराष्ट्रकी कोई सुन्दर सेवा हो सकेगी। आगरकर! तुम्हारे मूल सिद्धान्त मुझे सर्वथैव मान्य है। घर के ही लिए सब प्रकारके आन्दोलन होनेकी बातपर भी मेरा मत–भेद नहीं है। यद्यपि तुम्हारे समान मेरे घर-सम्बन्धी विचार कवि–कल्पना नहीं हैं, तथापि मेरा वैज्ञानिक मन यही साक्षी देता है कि घर मोक्षपद पाने की एक प्रधान सीढ़ी है। किन्तु इस सीढ़ी का भी तो मज़बूत होना परमावश्यक है। तुम ध्येय के उच्च होने की बातपर ज़ोर दे रहे हो किन्तु मैं यह समझता हूं कि प्रत्येक जीवका ध्येय हमेशा ऊंचा ही रहता है। इष्ट सुख की प्राप्ति होजाने पर उसे स्वाभाविक लालसा ही अपनेआप अगली ध्येय दिखा देती है, किन्तु सर्वसाधारण व्यक्ति को सामान्य ध्येय ही प्रथमतः सर्वस्व जान पड़ता है; और हमें भी सामान्य जनताकी दृष्टिसे ही विचार करना है। अतएव सबसे पहले हमें भारत वर्षके सामान्य मनुष्य की गार्हस्थिक परिस्थिति का विचार करना चाहिये। किन्तु इससे पूर्व मुझे यह बतलाने की कृपा कीजिये कि आप उक्त स्थिति का पर्यवेक्षण करने के लिए अपने दृष्टि-कोणको किस दूरवर्ती भविष्य तक पहुँचा सकते हैं?

आगरकरः— जितनें भी दूर तक तुम चाहो। क्योंकि मैं सूर्य-मंडलको पारकर विश्वामित्र की नई सृष्टिसे भी आगे तक अपनी दृष्टिमर्यादा बढ़ाने को तैयार हूं।

तिलकः— (हँसकर) नहीं, उतनी दूरतक जानेकी आज कोई अवश्यकता नहीं है। क्योंकि हमें आजही सब लोगोंको कवि नहीं बना देना है।

आगरकर:— लेकिन आप सब लोगोंको नीतिज्ञ (मुत्सद्दी) भी न बना दीजिये! एकबार कवियोंसे काम चल जायगा, किन्तु यदि कहीं ये स नीतिज्ञ बन गये तो दिल्ली-आग्रा की तरह घिनौती घटनाएँ शुरु होजायँगी।

तिलकः— किन्तु आगरकर! इसके लिए तुम्हें आजही से चिंता करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जितने विस्तृत राजनैतिक ज्ञानकी तुम कल्पना कर रहे हो उसकी प्राप्तिके लिए हमारे बाद भी दो चार

पूरे बीत जायेंगी। अस्तु। मेरा निवेदन केवल इतना ही है कि आज के लिए विचार करते हुए हमें भूत कालके सन १९१२ से भविष्यत् के कमसे कम सन १९९० तक अपनी दृष्टिमर्यादाको बढ़ाना पड़ेगा। यह बात मैं भी मानता हूं कि राजनैतिक परिस्थिति घर की ही एक स्थिति है। किन्तु यह एकही स्थिति आजदिन वामनावतार की तरह घरकी आदि-मध्य-अंत्य तीनो अवस्थामें व्याप्त होकर भी बच रही है। देखिये कि घरमें सबसे पहला स्थान देवताओंका.

आगरकरः—देवताओं का से मतलब? घर देवताओंका कैसे हो सकता है। यों कहिये कि घरमें अग्रस्थान बालबच्चोंका। भला उन पाषाण-खंडों का उसमें क्या है? उस स्थान के अधिकारी हैं प्रत्यक्ष अन्तरालमें आनेवाले बालगोपाल।

तिलकः—(स्वगत) भला इससे बढ़कर और कौन पवित्रात्मा होगा। सचमुच ही जब ऐसे साधु-पुरुष उत्पन्न होते हैं, तभी उनके द्वारा स्थित-जगतको धक्का लगकर गति प्राप्त होती है। किन्तु उस गति को रास्तेसे लगाना मेरा काम है। (प्रकट) आगरकर! बालकों को देवताओंके स्थानपर समझनेवाले तुमही मुझे तो घरके देवता प्रतीत होते हो। इसे हँसी न समझिये, मैं हृदय से यह बात कह रहा हूं। (हृदय के वेग को रोककर) अस्तु। घरके देवता-रूप बालकों को आज जो दूध-रोटी या मक्खन मिल रहा है, वही क्या आगे भी बराबर मिलता रहनेकी संभवता है! आज हमारे लाखों दूध देनेवाले पशु अधिकाधिक प्रमाण में विलायत जा रहे हैं। जमीन का लगान प्रति तीस वर्षके बाद बढ़ा दिया जाता है। बालकों को मिलनेवाली शिक्षा की कठिनाइयों का अनुभव तुम स्वतः कर रहे हो। भला, यह तो बतलाओ कि फौज के लिए जितना खर्च होता है, उसका कौनसा हिस्सा शिक्षा के लिए खर्च किया जाता है? और शिक्षा किस प्रकारकी दी जाती है। भो. छूट गये हैं तभीसे पुरोगे लोगोंकी भर्ती हो रही है। अब जरा धार्मिक-विचारोंपर दृष्टिपात् कीजिये, और सोचिये कि उनमें कितना गंदापन आ गया है। इसे तो अंग्रेजोंने इतना गंदा नहीं बनाया। किन्तु इस काम में सुधार करने के लिए भी उन्होंने हमारी किसी प्रकारसे सहायता नहीं की। हमें केवल शिक्षाद्वारा प्राप्त होनेवाली सहायता की आवश्यकता

यह सहायता भी द्रव्यद्वारा प्राप्त हो सकती है। अपने को सच्चा धर्म हम ही सिखा सकते हैं, अंग्रेजों को ...य डालने की कुछ भी आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि वे हमारे धर्म को नहीं जान सकते। भला; जिनका आचार-धर्म यह वतलाता हो कि A cow has no soul (अर्थात्) गाय के आत्मा ही नहीं होती वह हमारे धर्म की बात को क्या जान सकता है। हमारे बालबच्चोंकी खाने पीने के साथ २ शिक्षा कि दृष्टिसे भी दुर्दशा हो रही है। तो फिर देवताओंका देवत्व रह ही कहां जाता है। आप समाज-सुधार अवश्य कीजिये, और मैं जोर दे कर कहता हूं कि यह सुधार होना सब से अधिक अवश्य है। किन्तु केवल भाषण फटका देनेसे ही अधिक सुधार नहीं हो सकता। इसके लिए उद्योग करन पड़ेगा। और तभी तुमको पता लगेगा कि किस प्रकार पदपदपर सरकारसे टक्कर लेनी पड़ती है।

आगरकरः— मैं अवश्य टक्कर लूंगा, अपने घर एवं घर के देवता के लिए मैं खम ठोककर उससे भिड़ जाऊंगा। किन्तु तिलक! सरकारकी ही तरह हमें अपने अज्ञानसे भी टक्कर लेनी पड़ेगी। क्या तुम इसके लिए तैयार हो?

तिलकः— वह हृदय का जख्म है। उसके लिए मैं मीठा बोलकर, या एकदम चुप रहकर केवल आचार के ही द्वारा उसे पूर लूंगा। किन्तु सरकार के साथ किया जानेवाला विरोध बाहरी होना। उसमें बहुतसी अनावश्यक वस्तुएँ भी होंगी, अतएव उसे मैं बलपूर्वक झिटक डालूंगा। जिस प्रकार मलिन पदार्थ लगाकर रगड़ने से वर्तन अधिकाअधिक स्वच्छ हो जाता हैं, उसी प्रकार इस काम के लिए मैं सरकार का कृतज्ञ हूं।

आगरकरः— बस; यहीं आकर तो मत-भेद होता है। क्यों कि सामाजिक जख्म को हृदय का रोग समझकर आज सैंकड़ो वर्षसे उसका इलाज तक नहीं किया जा रहा है। परिणामस्वरूप आज हृदय की गति बन्द होने का समय आ उपस्थित हुआ है। आप यदि मरहम लगाना चाहते हों तो शीघ्र लगाइये। पहले लगाइये और खूब लगाइये। भला, जब हृत्क्रिया बन्द होकर देश मृतावस्था को पहुँच जायगा तव उसपर का धूल-धमासा झाड़ने से क्या लाभ हो सकता है?

तिलक! तुमने समाज को हृदयकी उपमा दी, यह तो ठीक किया, किन्तु अब तुम्हारा यह प्रधान कर्तव्य होना चाहिये कि उसके जख्म का इलाज कर उसे रोगमुक्त कर दो। हृदय के लिए बाहरी स्वच्छता को कायम रखो।

तिलकः—अजी आगरकर! यह जख्म कोई तलवार का जख्म नहीं है, बल्कि भूख की ज्वालाने इसे उत्पन्न किया है। अन्न न मिलने से हृदय अशक्त हो गया है। इसके लिए मरहम काम नहीं दे सकता। इसके लिए तो बाहरसे अन्न पेट में जाना चाहिये। किन्तु भोजन की थाली हमारे अधिकार में नहीं है। इतने पर भी मैं आज एक मध्यम मार्ग सूचित करता हूं। हम दोनों के लिए वर्तमान अवस्था का सर्वाङ्गीण शिक्षा का कार्य हाथमें लेनेमें तो कोई हानि नहीं है न? शिक्षा सरीखे पवित्र कार्य में तो हमारा Common platform हो सकता है न?

आगरकरः—(कुछ विचार करने के बाद) हो सकता है। Common platform अवश्य हो सकता है। तिलक! तुमने अच्छा मार्ग दिखाया। बस, निश्चय हो गया। अपने देश की शिक्षा का भार हमेंही अपने हाथोंमें लेना चाहिये। अब तो हम दोनों का एकमत हो गया न?

तिलकः—अवश्य।

उपासनीः—धन्य आगरकर और धन्य मित्र तिलक! मैं तुम दोनों का अभिनन्दन करता हूं।

भाग–तीसरा

तिलक से पहले का महाराष्ट्र।

यह बात जो भी ठीक है कि बलवन्तरावजी तिलक के सार्वजनिक जीवन का आरंभ न्यू इँग्लिश स्कूल की स्थापना के समय से अर्थात् सन १८८० से हुआ, किन्तु फिर भी, उनकी स्फूर्ति (जागृति) का रहस्य समझने के लिए उनसे पूर्व के महाराष्ट्र की जानकारी प्राप्त किये विना काम नहीं चल सकता। तिलक की स्फूर्ति निरी वह वस्तु न थी, जिसे महाराष्ट्र ने पहली ही वार अपने मानसिक पत्रपर अंकित किया हो, वरन् उसकी कितनीही आवृत्तियां खर्रे के रूपमें कई लोगों के हाथ से पहले भी हुई होंगी। किन्तु उनके चारित्र्य को यशःसिद्धि एवं कार्तिके द्वारा संभाव्य अभ्युत्थान की प्राप्ति न होने से, आश्चर्य नहीं, यदि उनके वे खर्रे जनविस्मृतिरूप रद्दी कागजो की टोकरी में पड़े २ सड़ गये हों। स्फूर्ति (चैतन्य) रूपी लेख की तैयारी के लिए तिलक से लग भग ५० वर्ष पूर्व ही से उद्योग हो रहा था। किन्तु जैसे फोटो के काँच परसे धूप में फोटो छाप निकालते समय आरंभ में केवल धुंधलापन उसके बाद स्थूल रूप रेखा, तदनन्तर शरीरके उन्नत भाग और मुखाकृति और सबके अंतमें नेत्रोंके ज्योतिर्बिन्दु, इस प्रकार क्रमशः एकही कांचपरसे एकही कागज़पर छायाचित्र अधिकाधिक अंकित होता जाता है वही दशा महाराष्ट्रिय जागृति की भी हुई। बड़ी देर तक काँचमेंसे सूर्य–प्रकाश ग्रहण करने और स्वयं विकार पाकर उसपरके चित्रको अंकित करलेनेकी कागज़ की योग्यता वाले पूर्व कारण के ही साथ २ तिलक के उत्तर–चरित्रके यशःसिद्धीरूपी रसायन नेही उनके चित्र को दूसरों से अधिक स्पष्ट-रूप में प्रकट करने के लिए सहायता दी है। कुछ भी हो, किंतु तिलकके चरित्र का मर्म समझने के लिए हमें महाराष्ट्र के पूर्वेतिहासपर ध्यान अवश्य देना पड़ेगा, और वह भी कोई बहुत बड़ा नहीं, बल्कि केवल पचास साठ वर्ष का होनेसे थोड़े में ही समझाया जा सकता है। अस्तु।

तिलक के कॉलेज में प्रविष्ट होने के समय (१८७२) से लगाकर उनके स्वर्गवासी होने (सन १९२०) तकका समय लगभग ५० वर्ष का होता है, और इसे यदि पचास वर्ष पीछे तक लेजाया जाय तो सन १८२२ के लगभग पहुँचता है। अर्थात् उस समयतक पूना की पेशवाई–सत्ता का नाश हुए केवल चारही वर्ष बीते थे। अतएव पूर्वेतिहास की खोज को अनायास ही एक प्रकार का निश्चित एवं निर्णायक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। फलतः पचास वर्ष की इन दो पीढ़ियोंसे पूने का पुरातन

स्वराज्य नष्ट होने से लगा कर, नये स्वराज्यके हस्तगत न हो सकनेपर भी, नेत्रोंद्वारा उसके भली-भांति दिखाई देने तक-का वृत्तान्त संग्रह किया जा सकता है। अन्तर केवल यही है कि हमें अगले पचास वर्षोंमें केवल एकही व्यक्तिके चरित्र का विचार करना है, जबकि पिछले पचास वर्षोंके लिए सम्पूर्ण महाराष्ट्र के विषय में छानबीन करनी पड़ेगी। अतएव यद्यपि हम उसका वर्णन बहुतही संक्षेप में करना पड़ेगा, किन्तु इसीके साथ हमें यह भी कहदेना होगा कि उस विषयकी ज्ञातव्य-सामग्री ही इतनी थोड़ी है कि बिना संक्षेपका आश्रय लिये काम ही नहीं चल सकता।

उस पूर्वेतिहास के साधारण पद्धति के अनुसार चार पांच विभाग किये जा सकते हैं। किंतु हमारे इस कालकी राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और औद्योगिक स्थितिके रूपमें चार भागों में न बाँटकर, सामान्यतः राजनैतिक और सामाजिक इन दो स्थूल भागों में ही उसका सिंहावलोकन करनेका विचार करते हैं। इसी प्रकार उस समय की जानकारी के साधन भी संकीर्ण होनेसे जहां स्पष्ट आधार दिखाये जा सकते हैं, वहीं उन्हें उध्दृत कर अपठित एवं केवल स्मरित ज्ञान को मोटे स्वरूप में एक साथ दे दिया है।

सन १८१८ में पेशवा बाजीराव पूना छोड़कर चले गये; फिर वे वापस वहां न आ सके। यही नहीं, वरन् भट्ट-पेशवा वंशकी किसी शाखा का कोई मनुष्य अगले पचास वर्ष तक पूने में स्थायी रूपमें न रह सका। फुलगाँववाला बाजीराव पेशवा का महल सन १८६१ में साढ़ेसात हजार रूपये में नीलाम कर दिया गया। शनिवार वाड़े (महल) में नई कचहरियां कायम हुई और बुधवार वाड़ेमें बैठकर लोग अखबारोंमें उत्सुकतापूर्वक विलायत के समाचार पढ़ने लगे। बाजीराव की पुत्री का विवाह भी उत्तर-भारत में हुआ और दत्तक शाखा के भाई-बन्धु भी उत्तर-भारत में ही रहे। आरंभ में तो बाजीराव के साथ बहुतसे लोग दक्षिणसे ब्रह्मावर्त (बिठूर) की ओर गये। किंतु वहां उनका जमाखर्च मर्यादित था अतएव महाराष्ट्र से नया आदमी कोई भी उधर नहीं गया। धीरे धीरे पूना और ब्रह्मावर्त का आमद-रफ्त कम हो गया। नानासाहब, रावसाहब आदि तरुण पेशवाई पीढ़ियों के जीवन उधर ही बीते और सन १८५७ के विद्रोहके पश्चात् वे नामशेष हो गये। आगे चलकर कई वर्षों बाद बाजीराव की पुत्री एक-आधबार इधर आई, किन्तु उसका पूर्ववत् सम्मान किये जाने का पता नहीं लगता। और वह पता लग भी कैसे सकता है, जबकि रावबाजी जैसे व्यक्तियों की मृत्यु का संवाद "ज्ञानप्रकाश" (पूना) जैसे पत्रोंमें समाचार-सार की तरह दस-पांच पंक्तियोंमें ही छापा गया हो! ऐसी दशामें उनकी पुत्री की हाल कौन पूछे! जीवित मनुष्यों के अभाव में पेशवा वंशके दो-एक स्त्री-पुरुषोंका नाम धारणकर धोखा देनेवाले कुछ लोगों के देखे जानेकी बात सुनी

है। कहते है कि सवाई माधवराव की पत्नी शुरू अंगरेज़ी में, बनावटीरूपमें पूना के लोगोंको दिखाई दी थी। और शनिवार वाड़े के आसपास रहने वाले लोगोंकी भ्रान्तिक कल्पना के अनुसार यदि म्युनिसिपैलिटी रहित अंधेरी जगहों में कभी महल की दीवार पर तो कभी दरवाज़े की मेहराव पर यदि उसी महल में रहे हुए लोगों की आकृतियां दिखाई देनेका भास हुआ हो तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं है। पेशवाई-सत्ता के नष्ट हो जानेसे लोगों को उसके लिए किसी विशेष प्रकार का दुःख हुआ हो, ऐसा शुरू अंग्रेजी ज़माने लोकमत अथवा पहली पीढ़ी के सुशिक्षित लोगों के द्वारा लिखे गये तत्कालीन लेखोंपर से प्रगट नहीं होता। सन १८५७ के ग़दर की लहर नर्मदासे नीचेकी ओर दक्खिन में प्रायः नहीं पहुँच सकी थी। जब खुद नानासाहब पेशवाई विवश होकर विद्रोहियोंमें शामिल हुए थे, तो फिर अन्य छोटे बड़े राजामहाराजाओं के दिलमें विद्रोह की आग कैसे भडक सकती थी? फिर भी, कोल्हापुर, रामदुर्ग, जमखंडी आदि राज्योंमे कहीं प्रत्यक्ष विद्रोह का तो कहीं केवल सन्देह का ही प्रादुर्भाव हुआही। किंतु उसमें सार कुछ भी न था, ग्वालियर राज्य ठीक विद्रोह के केन्द्रमें था, पर वहां के ब्राह्मण दीवान (राजा सर दिनकरराव राजवाड़े) ने अंग्रजोंका पक्ष लेकर अपने राज्य में विद्रोह न होने दिया।

सितारे की गद्दी पेशवाई के बाद तीस वर्ष तक कायम रही। किंतु इन थोड़े सेही वर्षोंमें नाना प्रकार की गड़वडी होकर अन्तमें सन १८४८ में यह राज्य खालसा कर लिया गया, और शिवाजी के इस शाखा के वंशजों के लिए सिवाय थोड़ीसी नक़्द पेन्शन के और कुछ भी न बचा। खोये हुए राज्य को वापस लेनेके लिए वैध आन्दोलन जोरशीरसे हुआ। सितारावालोंके वकील रंगो बापूजी विलायत भी गये, वहां जाकर उन्होंने सितारेवालोंके अनुगृहीत कई अंग्रेजों को भी वश में कर लिया और कंपनीके डायरेक्टरोंकी कोर्ट बुलवाकर बहुत कुछ वाद-विवाद भी किया। किंतु यह सब प्रयत्न व्यर्थ हुआ। महाराज प्रतापसिंह पर लगाये हुए बड़े २ दोषारोपणोंके मिथ्या होने एवं उनके लिए तैयार किये हुए प्रमाण बनावटी ठहराये जानेकी बात भी प्रायः स्वीकार कर ली गयी, किन्तु फिर भी खालसा किया हुआ राज्य वापस देने का हुक्म नहीं मिला। इसके बाद सितारे की गद्दीपर उसी राजा की दो पीढ़ियां और भी बीत गई, किन्तु एकवार उनका नाम जो अंधकारमें लुप्त हुआ सो फिर वह किसी प्रकार भी उजलेमें न आ सका। अंग्रेजों के साथ मातहत की तरह बरतने और अप्रसिद्धिकी धूलमें पड़े रहकर जीवन बिताने की हद हो गई। गिरी हुई दशा से दुखी होकर, पुरातन प्रतिष्ठाके समान ख्याति लाभ कर सकने की संभावना न रहने से, कुछ ही दिनो में सितारे के महाराज का नाम भी लगभग लुप्तसा हो गया। वे पूना तो कभी गयेही नहीं,

किंतु सितारे के लिए भी उनके दर्शन दुर्लभ हो गये। इसी प्रकार राज्य-कारोबार भी किसी प्रकार का हाथ में न रहने से अन्य राजाओंकी तरह किन्हीं विशेष प्रसंगोंपर भी उनका नाम निकलने के लिए जगह न रही। अंतमें यहां तक अवस्था उपस्थित हुई थी कि बची हुई खानगी आय और पेन्शन भी कर्ज़ की बदौलत जानेवाली थी, और यदि ऐसा होता तो दिल्ली के बादशाह के वंशज को महदेश में भीक मांगते हुए देखे जानेकी जो खबर उड़ी थी, वही दशा सितारेके राजवंशियोंकी भी होने का भय था। किंतु ईश्वरीय अनुग्रह से अभी यह प्रसंग टल गया था।

गवालियर और इंदौर के राज्योंमें सितारे से कहीं अधिक जीवन बाकी रहा। क्योंकि वहां अंग्रेजोंकी अधीनतामें ही क्यों न हो, किन्तु सर्वाधिकार-सम्पन्न राज्य कायम थे। ग्वालियर राज्य आर्थिक दृष्टि से बहुत कुछ सम्पन्न रहने के प्रमाण मिलते हैं। सन १८१७ में बायजाबाई सिन्धियाने जो महायज्ञ किया था, उसमें दिये हुए दानादि की सूची देखनेपर अहिल्याबाई होलकर का अनायास ही स्मरण हो आता है। इस यज्ञ के लिये सैकड़ों मील दूर, दक्षिण देशसे भी याचक विप्र-वृन्द दक्षिणार्थ वहां पहुँचे थे। श्रीयुत चिन्तामणरावजी वैद्य ने वरसई के एक भिक्षुक की लिखी हुई " विद्रोहवार्ता " छपवाई है; जिसमें कि उक्त विषय के ही साथ २ उत्तर-भारत की तत्कालीन अनेक घटनाओं का भी मनोरंजक वर्णन किया गया है। उपर्युक्त भिक्षुक उस यज्ञमें दक्षिणा पाने की इच्छासे चला था। किन्तु उक्त दान के बदले उस विचारेको वनवास और नाना प्रकार के कष्ट ही भोगने पड़े। जयाजीराव सिंधिया एक ख्यातनामा महाराज हो चुके हैं। इनकी रसिकता और मनुष्य-स्वभाव की परिक्षा का इनका ज्ञान प्रशंसनीय कहा जाता है। इनका एकबार पूनामें आगमन हुआ था, सिवाय इसके महाराष्ट्रसे फिर उनका कोई ख़ास सम्बन्ध न रहा। किन्तु उन्होंने पूना के लोगों को प्रसन्न नहीं किया बल्कि समाचार पत्रोंसे तो यहांतक पता लगता है कि उनकी तैनात में रहनेवाले लोगों के साथ पूनावालों का ख़ास वाक्युद्ध भी हुआ। इधर उनके जो कुछ इनामी या दूसरे किसी रूपमें जो कुछ गाँव थे, वे सब अंग्रेजों को सौंपकर उन्होंने उत्तर भारतके गाँव बदले में ले लिये। सिन्धिया वंश के सुप्रसिद्ध पूर्वज महादजीबाबा पटेल की समाधी पूना के निकट वानवडीमें बनी हुई है। किन्तु उस समय गवालियर राज की ओरसे उस समाधितक की भलीभांति देखरेख नहीं हो पाती थी। इंदौर की गैल पीढ़ियों में अकेले तुकोजीराव होल्कर ही नामांकित राजा हुए हैं। अंग्रेजों के साथ सख्तीसे बरतनेवाले के नाते महाराष्ट्र में उनकी ख्याति थी। और महाराष्ट्रियों के साथ उन्होंने अपना पूर्वसम्बन्ध सिन्धिया से कहीं अधिक बना रक्खा था। सन १८७४ में कुछ दिन के लिए वे पूना आकरभी रहे थे। उसी समय इन्होंने

सार्वजानिक सभा को चार हजार रुपये दान किये थे। सिवाय इसके अन्यान्य प्रकार से भी उन्होंने पूनेमें दान-धर्म किया था। उस समय उनके सम्बन्धमें एक 'शाहीर' ने जो कविता बनाई है, उसे देखकर मालूम होता है कि वे उस समय पूने में लोक-प्रिय हो गये थे। कविता यह है:—

देवदयेनें राज्य मिळाले यास्तव राजे इंदुरचे।
राव तुकोजी पहा मिळाले समजा जनहो बुध वरचे॥
असती राजे धनें भूमिनें मोठे हिंदुस्थानांत।
त्यांनिं तुकोजीचरित्र कित्ता पूर्ण धरावा ध्यानांत॥ आदि.

बडोदा राज्य तो बम्बई प्रान्तमें ही है। यहां महाराष्ट्रियों की वस्ती भी बहुत है। अतएव यह राज्य पराया नहीं जान पड़ता था। यहां की दर्बारी घटना ओंको लोग प्रत्यक्ष महाराष्ट्र की राजधानी की हलचलके समान समझते थे। और उतनाही उनपर ध्यान देते थे। विशेषतः जब महाराजा मल्हाररावपर बड़ोदाके रेसिडेंट कर्नल फेयर को विष देने का आरोप लगाया गया था, उस समय भारतके अन्यान्य भागोंकी अपेक्षा महाराष्ट्रनेही इधर अधिक ध्यान दिया था। बाजीराव पेशवा की तरह मल्हारराव गायकवाड के साथ भी लोगों की सच्ची सहानुभूति नहीं थी। क्योंकि उनका कारोबार स्वच्छन्द अतएव अन्याय-मूलक था। सन १८७३ में उनकी राज्यव्यवस्था से सम्बन्ध रखनेवाला एक कमीशन नियत किया गया था; जिसमें उनके अनेक प्रकार के दुराचार सिद्ध हो गये। सिलेदारी सरदारों की जगहें कम करने, इनाम और वंशपरंपरा की पेन्शनें बन्द कर देने, सेठसाहूकारों को कष्ट पहुँचाने, नौकरों की ओर से बहुत बड़े प्रमाण में नजराना लेने की प्रथा डालने, अदालतोंमें सरासर अन्याय होता रहने परभी उधर ध्यान न देने, अपने निजी नौकरो एवं कृपापात्र लोगों को जुल्म करने देने एवं नगरकी स्त्रियोंतक को बेगार के लिए, घर से पकड़वा मँगाने और राजमहलमें उनसे कड़ी मेहनत का काम लेने आदिके आरोप कमीशन ने इनपर सिद्ध कर दिखाये। इनमें यदि कुछ अतिशयोक्ति भी मान ली जाय, तो भी इन में सत्य का अंश कम नहीं था। फिर भी रेसिडेंट कर्नल फेअर ने इस काम में तथा अन्य विषयोंमें मल्हाररावजी को बहुत कष्ट दिये। उन दिनों थोड़े समय के लिए दादाभाई नौरोजी बड़ोदा के दीवान हो गये थे। किन्तु कर्नल फेअर से उनकी पटती न थी, अतएव विवश हो उन्हें दीवनगिरी छोड़ देनी पड़ी। कर्नल फेअर की अनुचित बातों को सरकारने भी स्वीकार किया, और इसी के परिणामस्वरूप बड़ोदेसे उनकी बदली भी कर दी गई। किंतु इसी बीच उन्हें विष देकर मार डालनेवाले षडयंत्र की दुर्घटना हो गई। फलतः उसके लिए कमीशन नियुक्त हुआ।

बड़ौदेकी राजसत्तामें हाथ डालनेका अधिकार सरकार पहलेसे प्रस्थापित कर ही चुकी था। लोकमतने यह हठ धारण किया कि महाराजकी जांच साधारण मनुष्योंद्वारा न होकर उन्हीं की बराबरीके लोगोंद्वारा हो और इसमें उन्हें चतुर वकीलों की सहायता भी पहुँचाई जाय। फलतः लोगोंका यह हठ सफल हो गया। बंगाल के चीफ जस्टिस सर रिचर्ड कौच, मैसूर के चीफ कमिश्नर सर रिचर्ड मीड, पंजाब के कमिश्नर मेलविल के साथ साथ ग्वालियर और जयपुरके महाराज एवं राजा दिनकरराव इस तरह ६ व्यक्तियों की कमीशनपर नियुक्ति हुई। सार्जंट बेलन्टाइन नामके बेरिष्टरभी महाराजाके बचावके लिए गढ़े किये गये। अन्तमें जाकर कमीशनमें ही मतभेद हो गया। ग्वालियर महाराजने बड़ौदा नरेशको निर्दोष बतलाया, और इन्हीं के साथ २ जयपुर महराज एवं राजा दिनकरराव भी सहमत हो गये। किन्तु भारत सरकारने मल्हारराबको दोषी मानकर उन्हें राज्यसेही अलग कर देनेका निश्चय किया। इसी प्रकार खुद उनका ही नहीं बल्कि उनके वंशधरोंतक का राज्यपर का हक़ नष्ट कर दिया। और साथ ही महारानी जमुनाबाईको गायकवाड़ वंशको ही किसी लड़केको दत्तक रखवा देनेका निश्चय किया गया। जब महाराज मल्हारराव हिरासतमें रखे गये थे एवं उन्हें जब राज्यसे बाहर भेज दिया गया तब उनके खास नौकरोंके सिवाय किसीने भी चूंतक नहीं किया। क्योंकि लोगोंके पास तो इतनी ही सहानुभूति इनके लिए बची थी कि जिसमें वे महाराज के बचाव के लिए अच्छा वकील देनेकी मौखिक चर्चा करते रहते। बड़ौदा की नई राज्य-व्यवस्था को सम्हालनेके लिए सरकारने सर टी. माधवराव को वहां दीवान बनाकर भेजा। यद्यपि उनकी बुद्धिमत्ता की कीर्ति बहुत थी, किन्तु फिर भी किसी राज्यके उचित अधिकारोंकी वे कहांतक रक्षा कर सकेंगे, इस विषय में लोगों को शुरूसे ही शंका थी और आगे चलकर यह ठीक भी निकली। नये महाराज अल्पवयस्क थे, अतएव इस नाम मात्र के देशी राज्यमें कारोबार सब प्रकार अंग्रेजों के ही हाथमें रहने लगा।

इन बड़े २ रजवाड़ों को छोड़ देनेपर यदि छोटे बड़े राजा और सरदारों कि दशा का विचार किया जाय तो मालूम होता है कि उनकी अवस्था तो और भी बदतर हो गई थी। बड़े २ राजाओं की साम्पत्तिक स्थिति तो कमसेकम अच्छा थी, किन्तु जागीरदार, सरदार एवं इनामदार आदि की धनाढ्यता किसी गढ्ढे में मरे हुए जलके समान थी। इतने पर भी उनकी शौकीनी कम होनेके बदले अधिकाधिक बढ़ती चली, फलतः वे बहुत गिरगये। सरकारी पेशा तथा उससे प्राप्त होनेवाले नई आय एकदम बन्द हो जानेसे केवल जमीन-जायदादसे मिलनेवाली रक़मपरहि उन्हें अवलम्बित रहना पड़ा। इसमें जमीन-जायदाद की आयसे मतलब घरकी

सेतोंसे न था, बल्कि किसानोंसे मिलनेवाला लगान ही उनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका साधन बन रहा था। फलतः प्रतिदिन यह आमदनी अधिकाधिक अनिश्चित अवस्थाको पहुँचने लगी। जिन्हें अपना भूमिकर स्वयं वसूल करनेका अधिकार प्राप्त था, और जिनके दीवानी-फोजदारी के अधिकार भी बने हुए थे उन्हें वसूली में कठिनाई नहीं पड़ती थी। किन्तु जिन्हें सब प्रकार खालसाके मुल्की अधिकारियों एवं न्यायालयों पर ही आधार रखना पड़ता था उनकी बड़ी दुर्गति होती थी। ब्राह्मण जागीरदार, सरदार या इनामदारोंमेंही जब आलस्य, अज्ञान एवं शौकीनी बढ़ रही थी तो फिर मराठोंमें उसका होना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता।

सन १८४६ में गोपाळराव हरी ने अपने एक लेखमें तत्कालिन सरदार लोगोंके सम्बन्धमें बड़ीही मार्मिक सम्मति प्रकट की है, जिसका आशय इस प्रकार है:— पेशवाईके अन्तमें जो सरदार बाजीराव से उकताकर अंग्रेजों से जा मिले, उन ब्राह्मण या ब्राह्मणेतरों की यह कल्पना थी कि अंग्रेजी राज्यमें हमें आज जो पेशवा की ताबेदारी करनी पड़ रही है, वह छूट जायगी और घर बैठे खाने-पीनेको सब चीजें आरामसे मिलती रहें। इसी लिए उन्होंने अंग्रेजोंकी अधीनता स्वीकार कर सरकार-द्वारा की हुई जागीर आदि की व्यवस्था मंजूर करली। किन्तु आगे चलकर जब उसी व्यवस्थापत्र के नियमानुसार आमदनी जप्त होने लगी तब उन्हें अपनी गंभीर भूल का पता लगा। " सरदार लोगों के पास बैठनेपर वे लोग पहले पेन्शनकी बात करते हैं। पेन्शन जप्त हो गई है अब क्या करें। अंग्रेज का राज्य बहुत बुरा क्यों कि हमारा सरंमजाम छीन लिया। कोई कहता है हमारी पेन्शन छीन ली, पहले हम समझते थे कि पुश्त दर पुश्त जारी रहेगी, पर अब कायदे बहुत बुरे निकले हैं......। इतने सरदार है, किन्तु इनमेंसे किसी को भी लीजिये, पृथ्वीपर ऐसा कोई काम नहीं मिल सकता कि जिसमें इनका उपयोग किया जा सके। पच्चीसवें वर्ष से ही उनके वृद्धावस्था का आरंभ हो जाता है! कईयों को तो चालीसवें वर्ष ही दूसरो के सहारे चलने की आवश्यकता पड़जाती है। खुद लिखना-पढ़ना तो किसीको आता ही नहीं। सबके लिए वकील और कारिन्दों की आवश्यकता बनी रहती है। जिनके वकील या कारिन्दे नहीं है, उनको दर्बारमें जाते समय कमसेकम एक-आध किरायेका आदमी साथ ले जाना पड़ता है। मालिक को बात-चीत करना आता नहीं, अतएव उनकी ओर से कारिन्दे लोग, पर का कौआ बनाकर एजंट से उनकी भेट करवाते हैं। उनसे परिचय कराया जाता है, किन्तु इन्हें यदि देखा जाय तो ये सोलहों आना नन्दी-बैल या नर्मदाके गोलमटोल पत्थर। उठनेका समय होनेपर उन भले आदमियोंसे उठने के लिए कहना पड़ता है। जब कारिन्दा कहने लगे

कि 'आज साहब बहुत खुश थे, इसी लिए आपसे इतनी देर बात-चीत करते रहे। दूसरोंसे कभी वे इतनी अधिक देरतक बातें नहीं करते'-तो मालिक समझता है कि मेरा दीवान बड़ा होशियार है। घरकी व्यवस्था देखी जाय तो दरबारसे भी बढ़कर पाई जायगी। किन्तु लोगोंका देना और सरकारी कर्ज़ इतना अधिक बढ़ा हुआ है कि जिसकी हद नहीं, और इस पर भी तारिफ यह है कि ब्याज सैकड़ा पचीससे कम नहीं है। सरकारी अहलकार और उनके निजी कारिन्दे दोनों मिलकर उन्हें धोखा देते हैं। इन्हें दिनरातकी भी खबर नहीं है न योग्यता है। न ये व्यापारके काममें योग दे सकते हैं, और न विद्वत्ता दिखा सकते हैं। नौकरी कर सकने की शक्ति नहीं, जैसे तैसे जिन्दगीके दिन पूरे करते हैं। उनका जीवन अत्यंत घृणास्पद एवं लजाजनक है। इन्हें अपने पूर्व वैभव या पेन्शन की आशा छोड़कर सुधार की ओर ध्यान देना चाहिये, क्योंकि यदि ये अब भी सावधान हो गये तो फिर मनुष्य श्रेणिमें आ सकेंगे।"

इस समय के ब्राह्मण दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। एक भाग भट्ट भिक्षुक, शास्त्री एवं पण्डित आदि का और दूसरा कारिन्दे (कारकून) ब्राह्मणों का। प्रथम भागवालोंके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि, प्रतिदिन इन का महत्व कम हो जाता है। इनका महत्व और कमसे कम (इनका) धन्दा तो बाजीरावशाहीमें बहुत अधिक बढ़ा हुआ था। क्योंकि पेशवाई ज़मानेमें प्रति श्रावणमासमें बाँटी जानेवाली दक्षिणाकी रकम लाखोंकी संख्यातक पहुँची हुई पाई जाती है। प्रजाके धनको इस प्रकार किसी एक ही श्रेणि लोगों के लिए ख़र्च कर देना कमसेकम आज की दृष्टिसे तो किसी को भी उचित नहीं जान पड़ेगा! किंतु यह युक्तायुक्तताकी दृष्टि उस ज़मानेमें पैदा ही नहीं हुई थी। फिरभी, यदि वेदपारायण एवं संस्कृतविद्याकी रक्षा केही लिहाज़ से देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि उस समयमें इस कार्यसे संस्कृत विद्या को निःसन्देह उत्तेजन ही मिली। किन्तु बाजीरावशाही में तो इस प्रकार ब्राह्मणों के सम्मान या द्रव्यदान से बढ़कर महत्व प्रत्यक्ष ब्रह्म-भोजनका था। सवाहाथ लम्बे केलके पत्तेपर परोसे हुए पक्वान्न और उसी के साथ २ अन्यान्य ठाट-पाट की बातें सुनते ही भिक्षुकों का मुँह पानीसे भर आता! पेशवाई के नष्ट हो जानेपर इस विभागको बहुत ही भारी धक्का पहुँचा। किन्तु फिरभी ब्राह्मणधर्म का वर्चस्व अभीतक बनाही हुआ था, अतएव न केवल ब्राह्मण सर्दार एवं राजा महाराजाही, बल्कि ब्राह्मणेतर संस्थानिक भी उन्हें (ब्राह्मणोंको) यथेष्ट दान-धर्म किया करते थे।

इन भट्ट-भिक्षुकोंके विषयमें बाजीरावशाही केही ज़मानेसे एक प्रकार की हीन-बुद्धि प्रचलित हो चली थी। एक पूनानिवासी लिखते हैं कि "भट्ट-भिक्षुक

आगन्तुक, रसोइये (आचारी) और पन भरे आदि लोगोंके स्थान तथा कचहरियों एवं मगदी का रास्ता एक ही होनेके कारण बाजार-हाटके दिन बड़ी मुश्किल पड़ जाती है। रास्तेसे जानेपर गाय-बैल आदि का भय बना हुआ है और किनारे पर चलनेमें भट-भिक्षुक कष्टदाई हो पड़ते हैं!" इत्यादि।! "लोकहितवादी" ने इसपर कई लेख लिखे हैं। "आगन्तुक (अतिथि) ब्राह्मण," मध्वत्रयाची ब्राह्मण, और कचहरीके उम्मेदवार भी ब्राह्मण, इस प्रकार ये लोग दीन-हीन होकर मारे मारे फिरते हैं, क्या इन लोगोंकी दशापर जातिवालोंको लज्जा न आनी चाहिये! इस देशमें उद्योग-वृद्धि बहुत अधिक हो गई है। और सब लोग उससे लाभ उठाते हैं, किन्तु ब्राह्मण लोग उसमें हिस्सेदार नहीं हैं। इसका कारण एक मात्र यह है कि उन्हें भिक्षा देनेवाले लोग मौजूद हैं।" इसी प्रकार "कोई शतचंडीका पाठ करता है, तो कोई रुद्राभिषेक की धुनमें मस्त है। इस तरह ये आलसी लोग मौजसे माल उड़ाते और दक्षिणा लेकर चैन करते हैं। धर्म-रक्षा नहीं करते लोगों को धर्मार्थी या धर्म-तत्पर बनानेकी ओर इनका ध्यानतक नहीं जाता। वे तो बस अपना पेट भरने और यजमान की स्तुति कर देनेका काम ये आलसी लोग करते हैं। ऐसे लोगोंको दिये हुए द्रव्य का कोई सदुपयोग न होकर केवल देशमें आलसियोंकी ही संख्यावृद्धि होती है। इसी प्रकार ब्राह्मणोंके जप-अनुष्ठानादि जितने भी प्राप्ति के साधन हैं वे सब ऐसेही हैं। प्राचीन कालसे जो बातें चली आ रही हैं, अर्थात् दक्षिणा, खिचडी, सभा, देवस्थान आदिका सुधार लोगोंके किये सेही होगा" अथवा "यदि इन भट्टादि कुलगुरुओंको केवल किराये के टट्टू कह दिया जाय तो भी अनुचित न होगा। किन्तु ये लोग मज़दूरों की तरह नहीं हैं। क्यों कि वे लोग तो मज़दूरी करके ही चुप रह जाते हैं। पर ये लोग तो मज़दूरी करते हुए लोगोंकी नीति बिगड़वा देते हैं और उनमें अज्ञान-भाव फैलाकर दुर्गुण वृद्धि के लिए भी मनःपूर्वक प्रयत्न करते हैं।" इत्यादि।

कारकुन-पेशा ब्राह्मणोंकी स्थिति इतनी नहीं गिरी थी। अन्तर केवल इतना ही हुआ कि उन पुराने कारकुनोंके दफ़्तरके बदले साहब लोगों के आफिस कायम हो गये हैं। इस ब्राह्मण वर्गको सहायता देना सरकार को इष्ट थाही, किम्बहुना अपरिहार्य भी था। यह सहायता उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के कारण प्राप्त हुई। राज्य का कारोबार चलाने में उतनी ही कठिनाई पड़ती है, जितनीकि उसे प्राप्त करने में होती है। अंग्रेज लोग राज्यकारोबार चलाने की कलासे परिचित थे, किन्तु भारतके राजकारोबार का प्रत्येक विभाग सुगमतापूर्वक चलाने के लिए एतद्देशीय चतुर एवं सुशिक्षित व्यक्तियों की उन्हें फिर भी आवश्यकता थी। यह सहायता कारकून पेशा लोगोंने पहुँचाई। उन्होंने अंग्रेज सरकारके राज्यस्थापनाके मार्गमें

बिखरे हुए कांटे भाड़कर साफ किये। जमीन को मुलायम बनाकर सफाई के रास्ते ठीक कर दिये और गुलाब जल के छिड़काव की तरह सम्पूर्ण मार्ग को सुखमय बना दिया। इस प्रबंध के कारण रय्यत को स्थायी रूप से जो हानि हुई हो उसका दायित्व यदि वे अज्ञानी इन जानकारोंपर डाल दें इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रारंभिक ज़मानेमें साहब लोग अपने हेड क्लार्क एवं सरिश्तेदारोंपर विशेष रूपसे अवलंबित रहते थे। जो जितने ही अंशमें दूसरोंपर अवलम्बित रहेगा उसे उतनेही अंशमें अपने अधिकारोंको भी खो बैठना पड़ता है। सरिश्तेदारोंको यह अधिकार प्राप्त हो जाने से वे इस प्रारंभिक ज़मानेमें बहुत प्रभावशाली बन गये थे और इसीके साथ २ उनमें थोड़ासा उन्माद भी आ गया था। सन १८७२ में श्रीयुक्त विनायक कोंडदेव ओकने "सरिश्तेदार" नामक एक छोटी सी पुस्तक कहानीके रूपमें लिखकर प्रकाशित की थी जिसमें कि उन्होंने दिखलाया था कि कारकून पेशा लोगों को अधिकार-युक्त पद के मिल जानेपर वे अपनी सत्ता का किस प्रकार दुरुपयोग करते हैं और कहांतक वे अन्यायपोषक एवं अनीतिमान बन जाते हैं। यह पुस्तक उस समय बहुत लोकप्रिय हो गयी थी, क्योंकि इसमें लिखित बातें अधिकांश लोगों को पट सकते जैसी थीं। श्रीयुत ओक उसमें एक स्थानपर लिखते हैं कि "यदि सभी सरिश्तेदार रामदासस्वामी बनजायें तो इस लोक में धर्मनिष्ठा के भागीदार' कौन हो सकता है! इन जेलों को कौन आबाद करायेगा? और यमराज वल्द भास्करदेवके नरक कुण्डकी भर्ती कौन बढ़ावेगा?" सभी का रामदास हो जाना तो दूर की बात है पर, सैंकड़ा चार-पांच के हिसाब से भी ऐसे व्यक्ति मिल सकना उन दिनों कठिन बात थी।

स्वार्थी हेतुओंके दोषारोपण इस संसार में कोईभी मुक्त नहीं है। पेशवाई के बाद अंग्रेजोंने महाराष्ट्रमें नये प्रकार की शिक्षा, होनहार युवकोंको देना क्यों शुरू किया, इसका उत्तर उपर्युक्त दृष्टिसे तीन रूपसे दिया जा सकता है। (१) सरकारको अपना राज्यकारोबार चलानेके लिए नौकर लोगोंकी न्यूनता न रहे (२) भारतीयोंको पाश्चात्य संस्कृतिसे प्रेम हो जाय, जिससे कि वे परावलंबी बनकर विलायती माल के स्थली ग्राहक बनजाँय (३) वे धर्म भ्रष्ट होकर ईसाई बनें। कोई नहीं कह सकता कि ये तीनों हेतु अंग्रेज सरकार के दिलमें न रहे होंगे। किंतु इसके लिए उन्हें ही बुरा-भला कहनेकी क्या आवश्यकता है। राज्य प्राप्त करते समय कोई भी उसे मोक्ष प्राप्तिका उद्देश्य नहीं मानता! अपना धर्म, अपनी सभ्यता और अपना व्यापार बढ़ाने की लालसा सभी के चित्तमें होती है, और उसका होना सब प्रकार से योग्य भी है। अंग्रेज सरकारको तो अपना राज्यचक्र अच्छे ढंगसे चलानेके लिए नौकरोंकी जरूरत थीहि, किन्तु इसीके साथ २ पुराने धंदे डूब जाने से घर

आगन्तुक, रसोईये (आचारी) और पन भरे आदि लोगोंके स्थान तथा कचह-
रियों एवं मण्डी का रास्ता एक ही होनेके कारण बाजार-हाटके दिन बड़ी मुश्किल
पड़ जाती है। रास्तेसे जानेपर गाय-बैल आदि का भय बना हुआ है और किनारे-
पर चलनेमें भट-भिक्षुक कष्टदाई हो पड़ते हैं!" इत्यादि।! "लोकहितवादी"
ने इसपर कई लेख लिखे हैं। "आगन्तुक (अतिथि) ब्राह्मण," मध्वन्नयाची ब्राह्मण,
और कचहरीके उम्मेदवार भी ब्राह्मण, इस प्रकार ये लोग दीन-हीन होकर मारे
मारे फिरते है, क्या इन लोगोंकी दशापर जातिवालोंको लज्जा न आनी चाहिये!
इस देशमें उद्योग-वृद्धि बहुत अधिक हो गई है। और सब लोग उससे लाभ
उठाते हैं, किन्तु ब्राह्मण लोग उसमें हिस्सेदार नहीं हैं। इसका कारण एक मात्र यह
है कि उन्हें भिक्षा देनेवाले लोग मौजूद हैं।" इसी प्रकार "कोई शतचंडीका पाठ
करता है, तो कोई रुद्राभिषेक की धुनमें मस्त हैं। इस तरह ये आलसी लोग
मौजसे माल उड़ाते और दक्षिणा लेकर चैन करते हैं। धर्म-रक्षा नहीं करते लोगों
को धर्मार्थी या धर्म-तत्पर बनानेकी ओर इनका ध्यानतक नहीं जाता। वे तो बस
अपना पेट भरने और यजमान की स्तुति कर देनेका काम ये आलसी लोग करते
हैं। ऐसे लोगोको दिये हुए द्रव्य का कोई सदुपयोग न होकर केवल देशमें आल-
सियोंकी ही संख्यावृद्धि होती हैं। इसी प्रकार ब्राह्मणोंके जप-अनुष्ठानादि जितने
भी प्राप्ति के साधन हैं वे सब ऐसेही हैं। प्राचीन कालसे जो बातें चली आ रही
हैं, अर्थात् दक्षिणा, खिचडी, सभा, देवस्थान आदिका सुधार लोगोंके किये सेही
होगा" अथवा "यदि इन भट्टादि कुलगुरुओंको केवल किराये के टट्टू कह दिया
जाय तो भी अनुचित न होगा। किन्तु ये लोग मज़दूरों की तरह नहीं है। क्यों
कि वे लोग तो मज़दूरी करके ही चुप रह जाते हैं। पर ये लोग तो मज़दूरी करते
हुए लोगोंकी नीति बिगड़वा देते हैं और उनमें अज्ञान-भाव फैलाकर दुर्गुण
वृद्धि के लिए भी मनःपूर्वक प्रयत्न करते हैं।" इत्यादि।

कारकुन-पेशा ब्राह्मणोंकी स्थिति इतनी नहीं गिरी थी। अन्तर केवल इतना
ही हुआ कि उन पुराने कारकुनोंके दफ़्तरके बदले साहब लोगों के आफिस
कायम हो गये हैं। इस ब्राह्मण वर्गको सहायता देना सरकार को इष्ट थाही,
किम्बहुना अपरिहार्य भी था। यह सहायता उन्हें अंग्रेजी शिक्षा के कारण प्राप्त हुई।
राज्य का कारोबार चलाने में उतनी ही कठिनाई पड़ती है, जितनीकि उसे प्राप्त
करने में होती है। अंग्रेज लोग राज्यकारोबार चलाने की कलामें परिचित थे,
किन्तु भारतके राजकारोबार का प्रत्येक विभाग सुगमतापूर्वक चलाने के लिए एत-
देशीय चतुर एवं सुशिक्षित व्यक्तियों की उन्हें फिर भी आवश्यकता थी। यह सहायता
कारकून पेशा लोगोंने पहुँचाई। उन्होंने अंग्रेज सरकारके राज्यस्थापनाके मार्गमें

बिखरे हुए कांटे झाड़कर साफ किये। जमीन को मुलायम बनाकर सफाई के रास्ते ठीक कर दिये और गुलाब जल के छिड़काव की तरह सम्पूर्ण मार्ग को सुखमय बना दिया। इसप्रबंध के कारण रय्यत को स्थायी रूप से जो हानि हुई हो उसका दायित्व यदि वे अज्ञानी इन जानकारोंपर डाल दें इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस प्रारंभिक ज़मानेमें साहब लोग अपने हेड क्लार्क एवं सरिश्तेदारोंपर विशेष रूपसे अवलंबित रहते थे। जो जितने ही अंशमें दूसरोंपर अवलम्बित रहेगा उसे उतनेही अंशमें अपने अधिकारोंको भी खो बैठना पड़ता है। सरिश्तेदारोंको यह अधिकार प्राप्त हो जाने से वे इस प्रारंभिक ज़मानेमें बहुत प्रभावशाली बन गये थे और इसीके साथ २ उनमें थोड़ासा उन्माद भी आ गया था। सन १८७२ में श्रीयुक्त विनायक कोंडदेव ओकने "सरिश्तेदार" नामक एक छोटी सी पुस्तक कहानीके रूपमें लिखकर प्रकाशित की थी जिसमें कि उन्होंने दिखलाया था कि कारकून पेशा लोगों को अधिकार-युक्त पद के मिल जानेपर वे अपनी सत्ता का किस प्रकार दुरुपयोग करते हैं और कहांतक वे अन्यायपोषक एवं अनीतिमान बन जाते हैं। यह पुस्तक उस समय बहुत लोकप्रिय हो गयी थी, क्योंकि इसमें लिखित बातें अधिकांश लोगों की पढ सकते जैसी थी। श्रीयुत ओक उसमें एक स्थानपर लिखते हैं कि "यदि सभी सरिश्तेदार रामदासस्वामी बनजायँ तो इस लोक में अप्रतिष्ठा के भागीदार' कौन हो सकता है! इन जेलों को कौन आबाद करावेगा? और यमराज वल्द भास्करदेवके नरक कुण्डकी भर्ती कौन बढ़ावेगा?" सभी का रामदास हो जाना तो दूर की बात है पर, सैंकड़ा चार-पांच के हिसाब से भी वैसे व्यक्ति मिल सकना उन दिनों कठिण बात थी।

स्वार्थी हेतुओंके दोषारोपण इस संसार में कोईभी मुक्त नहीं है। पेशवाई के बाद अंग्रेजोंने महाराष्ट्रमें नये प्रकार की शिक्षा, होनहार युवकोंको देना क्यों शुरू किया, इसका उत्तर उपर्युक्त दृष्टिसे तीन रूपसे दिया जा सकता है। (१) सरकारको अपना राज्यकारोबार चलानेके लिए नौकर लोगोंकी न्यूनता न रहे (२) भारतीयोंको पाश्चात्य संस्कृतिसे प्रेम हो जाय, जिसमें कि वे परावलंबी बनकर विलायती माल के स्थली ग्राहक बनजाँय (३) वे धर्म भ्रष्ट होकर ईसाई बनें। कोई नहीं कह सकता कि वे तीनों हेतु अंग्रेज सरकार के दिलमें न रहे होंगे। किंतु इसके लिए उन्हें ही बुरा-भला कहनेकी क्या आवश्यकता है। राज्य प्राप्त करते समय कोई भी उसे लोक प्रास्तिका उद्देश्य नहीं मानता! अपना धर्म, अपनी सभ्यता और अपना व्यापार बढ़ाने की लालसा सभी के चित्तमें होती है, और उसका होना सब प्रकार से योग्य भी है। अंग्रेज सरकारको तो अपना राज्यचक्र अच्छे ढंगसे चलानेके लिए नौकरोंकी जरूरत थीहि, किन्तु इसीके साथ २ पुराने धंदे डूब जाने से घर

बैठनेवाले मध्यम स्थितीके लोगोंको भी अपने निर्वाहके लिए नौकरी
अवश्यकता थी। यह नहीं कहा जा सकता कि राज्यवृद्धि के जड़में व्यापार-वृ
का उद्देश्य सदाही अवश्य होता है। इन दोनोंका संबंध केवल इतना नहीं हो
है कि ये परस्पर सहायक होती हैं। लार्ड मेकालेके ये वचन प्रसिद्ध हैं
"भारत से अंग्रेजी राज्य उठ जाय तोभी हमे उतनी पर्वाह नहीं है सिर्फ हमा
व्यापार यहां बना रहे। हिंदुओंको अपने धर्मके प्रचारकी युक्तियां ज्ञात नह
हैं, इसीमें उनके सामने यदि किसी दूसरेने स्वधर्मप्रचारकी चर्चा की तो उन
उसकी बातपर आश्चर्य एवं संशय उत्पन्न होने लगता है। किन्तु बौद्ध एव
मुसलमानोंने जो कुछ किया उसीके करने की इच्छा यदि अंग्रेजी राज्यकर्ताओं
के मनमें उत्पन्न हो तो वह स्वाभाविकही कही जा सकती। बौद्ध एवं मुसलमानों
की तरह ईसाइयोंके लिए भी उनके धर्मकी आज्ञा है कि "तुम भूमण्डलपर
अपने धर्मका प्रसार करो"। मिशनरी लोग तरह २ के कष्ट उठाकर दक्षिण
आफ्रिकाके गहरे जंगलोंमें धर्म-प्रसारके लिए मारेमारे फिरते है, उन्हे यदि अप
ही भाइयोंकी शीतल छत्र-छाया में बिना किसी भयके धर्मप्रचार करनेव
अवसर प्राप्त हो, तो भली वे उसे क्यों छोड़ दे?

किन्तु थोड़ेही दिनोंमें अंग्रेजोंको पता लग गया कि शिक्षाके द्वारा धर्म
प्रसार का कार्य बहुतही थोड़े प्रमाण में हो सकता है। उसके लिए अन्यान्य साध
नही अधिक यशस्वी होते हैं। आरंभमें अंग्रेजी शिक्षाकी नवीनता के कारण कई
लोग चक्कर में अवश्य पड गये थे, किन्तु यह दशा शीघ्र ही बंद हो गई। प्रार्थना
समाजी लोग धर्मान्तरके विषयमें अधिक प्रवीण निकले। उन्होंने हिंदू-धर्म की
विशेषता को छोडकर संसारके सभी धर्मोंके उत्तोमोत्तम सिद्धान्तोंको एकत्र का
नये धर्मपंथ की स्थापना का विचार किया था। इस प्रकार जिनका एक पाँव अपने
धर्मसे हट गया हो उनका दूसरा पैर पर-धर्ममें पड जाना कोई कठिण कार्य नहीं
होता। प्रार्थना-समाजी तो गीता के ही समान बायबल कीभी इज्ज़त करने लगे
थे। पर फिर भी, उन्होंने भी कुछ ही समय पश्चात् यह निर्णय किया कि यदि
हिन्दू-धर्ममें कुछ दोष हैं तो ईसाई धर्म भी ऐसा नहीं है जिसमें कि समस्त शंका
ओं के लिए समाधानकारक उत्तर मिल सके। सन १८७८ में श्रीयुत माधवरावजी
रानडेने इस विषयपर सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक पत्र में एक छोटासा लेख
लिखा था, जिसमें उन्होंने बम्बईके प्रार्थना-समाजके आचार्य दादोबा पांडुरंग का ही
उदाहरण देकर उपर्युक्त बातका समर्थन किया था। "It is a great relief
to us to find that as the result of 50 years' study, Dadoba
though he revers the Holy Bible and has made Christianity

the favourite study of his life, has failed to accept the current doctrines of the Christian religion. There is not a single point among the cardinal doctrines of the Christian churches to which Dadoba has been able to subscribe his unqualified adhesion, nay more, he has expressed his dissent from the philosophy and rationale of these doctrines with unmistakable freedom." जब धर्म-सहविष्णुता की चरमसीमातक पहुँचे हुए शिक्षित लोगों कीही यह दशा है तो फिर अंग्रेजी शिक्षाके योग से अथवा बायबल के विशेष अध्ययन के कारण या मिशनरियों के मोहक उपदेश से यदि ईसाई-धर्मको प्रभाव लोगोंके चित्तपर न पड़ सके तो इसमें आश्चर्य ही क्या?

अंग्रेजी शिक्षा की वृद्धि के ही साथ २ हिन्दूओंको ईसाई बनाने की मिशनरियों को आकांक्षा भी बढ़ती गयी। साथही इसके बलात्कार से अथवा धोखा देकर धर्मभ्रष्ट करनेके कारण दंगेभी अधिक होने लगे। पहिलेंही बारमें उन्होंने चारों ओरसे आक्रमण किया। अर्थात् उन्होंने सरकारसे यह झगड़ा शुरू किया कि वह अपने हाथमें शिक्षाविभागही नही बल्कि शिक्षा सम्बन्धी कोई कार्यही न रक्खें। उद्देश्य इसमें यह था कि यह विभाग अथवा यह कार्य अनायासही मिशनरियोंके हाथमें आजाय।

प्रेस कायम करना, छोटी २ पुस्तकें तयार करना, एवं सड़कोपर उपदेशक खड़े कर उनसे व्याख्यान दिलवाना आदिक कार्य तो उनके शुरू थेही, किंतु अब तो वे कथाभी कहने लगे। पूनाके हौदों (जलाशयों) को छूकर यथाशक्य लोगोंको भ्रष्ट करना और यदि ऐसा न हो सके तो कमसेकम अंग्रेजी राज्य के कारण प्राप्त होनेवाले अपने ऊंचे अधिकारोंका डंका पीटना इत्यादि कामोंमें भी वे पीछे नहीं रहते थे। परन्तु कई विचारी लोगोंने पहलेही सोच लिया था कि इन बातोंका नतीजा कुछ न निकलेगा। बहुत हुआ तो हिन्दुओंके तैंतिस करोड़ देवताओंमें ईसा मसीहकी एकमूर्ति और बढ़ जायगी पर हिन्दूधर्म नष्ट न होगा। सन १८६९के ज्ञानप्रकाशमें एक विद्वान हिन्दू लिखता है कि "The disheartening disproportion between the unremitting labours of the Missionaries to christianise India and the success with which they have hitherto been attended is sufficient to cool the most violent ebullitions of religious enthusiasm."

ईसाई मिशनारियोंके धर्मप्रचार के कारण होनेवाली हिन्दूधर्म की हानि महाराष्ट्रीय जनता के ध्यानमें शीघ्रही आगई। समाचारपत्रों में भी इस विषय के लेख आते रहते थे, किन्तु वे उतने अधिक ज़ोरदार न होते थे. एक उपदेशक पर दूसरे प्रतिस्पर्धी उपदेशक का प्रभाव बहुत पड़ सकता है। उन दिनों मिशनरी ईसाइयों एव हिन्दूधर्मोपदेशकोंके वाग्युद्ध बड़े २ गावों की चौपालपर देखनेमें आते थे। इस बात का अनुभव प्रायः सभी लोगोंको है कि मिशनरी लोग एकबार जब हिंदुधर्मके विरुद्ध भाषण शुरू कर देते हैं तब उनके तर्क-शास्त्रका कोई निश्चित नियम ही नहीं रहता। ऐसी दशामें उन्हें उत्तर देनेवाला उपदेशक भी भावना-प्रधान वक्ता होना चाहिये। इस प्रकार की वक्तृताका बल अंग्रेजी पढ़े हुए वक्ताओंमें प्रायः नहीं होता। अतएव उसके लिए प्राचीन पद्धतिसे शिक्षा पायेहुए तथा वेदों को अपौरुषेय माननेवाले भाविक संन्यासी या ब्रह्मचारी ही चाहिए। तिलक से पूर्वके महाराष्ट्रीय इतिहास में, विष्णुबुआ ब्रह्मचारीने हिन्दूधर्मको मिशनरियोंसे बचाने में बड़ाही काम किया है। विष्णुबुआ का जन्म सन १८२५ में कुलाबा जिलाकी निजामपूर तहसीलके शिरवली नामक छोटेसे गाँवमें हुआ। इनके पिता का नाम भिकाजीपंत गोखले था। ये महाशय विष्णुबुआ को पांच वर्षका छोड़कर ही स्वर्ग-वासी हो गये। घर की गरीबी के कारण, विष्णुबुआ को आरंभमें कृषिकार्य और उसके बाद कुछ दिनोंतक एक दूकानदारके यहां नौकरी करनी पड़ी। तत्पश्चात् अपनी आयुके सोलहवें वर्ष, इन्हें कस्टम-विभाग में नौकरी मिली। आरंभसेही धार्मिक वृत्तिवाले होनेके कारण इन्होंने अपनी नौकरीसे बचा हुआ समय धार्मिक ग्रंथोंके पठन, श्रवण एवं मननमें ही व्यतीत किया। बीस वर्षकी अवस्थामें इन्हें साक्षात्कार हुआ। वे स्वयं अपने आत्मचरित्रमें लिखते हैं " सप्तशृंगीके पहाड़पर जगदीश्वरने धर्मोपदेशकी आज्ञा दी। मुझे दत्तात्रेय का वर प्राप्त है "। इ० सन १८६५ से ७१ तक वे बम्बईमें समुद्रतटपर धर्म-सम्बन्धी व्याख्यान दिया करते थे और मिशनरियोंसे वाद-विवाद करते रहे। कभी २ वे सुधारकोंसे भी वाद-विवाद करते रहते थे। इनके विषयमें कहा जाता है कि अपनी युक्तियुक्त शैलीसे वे इन दोनो प्रकारके लोगोंको निरुत्तर कर देते थे। महाराष्ट्रको मिशनारियोंके चुंगुलसे बचानेवालोंमें विष्णुबुआ एक प्रमुख व्यक्ति थे। अपने आत्मचरित्रके सिवाय आपने मानव-धर्म-प्रकाश एवं भगवद्गीता--टीका तथा 'सामान्य लोकसत्ताक-निदर्शक' आदि पुस्तकें भी लिखी है। सन १८७१ में ये बम्बईमें ही उनका शरीरान्त हो गया। पूनेका "ज्ञानप्रकाश" उनके मृत्यु-लेखमें लिखता है कि " हमारे बम्बई प्रान्तमें अंग्रेजी राज्यकी स्थापना के बादसे अबतक अनेक ब्रह्मचारी एवं धर्मोपदेशक हो चुके हैं, किन्तु विष्णुबुआके समान ज्ञाता, सुविचारशील लोककल्याणेच्छु तथा कार्यशील पुरुष हमारे देखनेमें नहीं आया।"

मिशनरी लोगों के ध्यानमें यह बात शीघ्रही आ गई, किंतु फिर भी उन्होंने अपना शिक्षा-प्रचार का उद्योग नहीं छोड़ा। उनका यह गुण अनुकरणीय कहा जा सकता है। यदि अंग्रेजी शिक्षा के सहारे ईसाई धर्मके प्रचारमें विशेष सहायता न मिली तो न सही, किंतु उससे अंग्रेजी राज्य-सत्ता भी अबाधित रह सकेगी या नहीं, इस विषयमें तत्कालीन अधिकारियों के चित्तमें शंका उत्पन्न होना स्वाभाविक था। पर इस विषयमें भी कई एक व्यक्ति धोखेका सामना करनेको तयार हो गये थे। लेफ्टिनेंट मिन्ज एक बार स्टूअर्ट एलफिन्स्टनसे मिलने गये थे। उनके पास छापी हुई नई मराठी पुस्तकें पड़ी देखकर उन्होंने बड़े ही आश्चर्य से पूछा कि ये पुस्तकें आपके पास कैसी रखी हुई हैं? इसपर एलफिन्स्टन् ने उत्तर दिया कि "मराठों को सुशिक्षित बनानेके काममें इनका उपयोग होगा। किन्तु इसीके साथ २ तुम्हें यह भी याद रखना चाहिये कि 'यह सुशिक्षा ही हमें भारतसे विदा करनेका मुख्य साधन बन जायगी'।"

मराठी पुस्तकें छापने का कार्य, मिशनरी लोगोंने पेशवाई सत्ता के नष्ट होनेके आठ वर्ष पूर्वही से आरंभ कर दिया था। मराठोंका सिंहासन अंग्रेजोंके हाथमें आनेसे पहलेही उनकी मुद्रणकलाने मराठी "सिंहासन बत्तीसी" हस्तगत कर ली थी। पेशवाई के नष्ट होनेके बाद एलिफन्स्टनने सबसे पहला काम शिक्षा-प्रचार का किया। सन १८२२ के अगस्त मासमें बंबईमें "बाम्बे नेटिव एज्यूकेशन सोसायटी" की स्थापना की गयी। उक्त संस्थाको मिले हुए पचास हजार रुपयोंसे ग्रंथप्रकाशन का कार्य प्रारंभ किया गया। यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि ये ग्रंथ मुख्यतः शालोपयोगी होते थे। इसके बाद यह समस्या उत्पन्न हुई कि मराठोंको जो कुछ शिक्षा दी जाय वह उनके पुराने ग्रंथोंसे दी जाय या पाश्चात्य विद्या का उन्हें ज्ञान कराया जाय। इसका निर्णय बड़ीही सुगमता से पाश्चात्य-शिक्षा के पक्षमें हो गया। अतएव पुराने संस्कृत ग्रंथो के बदले नये किन्तु सरल भाषा के मराठी ग्रंथ तयार करवाकर छापना ही विशेष आवश्यक समझा गया।

विद्या और दक्षिणा ये दोनोंही एक दूसरे के कार्य-कारण हो सकते हैं। पेशवाई जमानेमें या उससे पहले भी सरकारकी ओरसे शिक्षासम्बन्धी कोई सुविधा प्रजा को प्राप्त न थी। किन्तु, विद्यासम्पन्न लोगोंको दक्षिणा देने की प्रथा अवश्य प्रचलित थी। किसी भी देश की प्रतिष्ठित सरकारको ले लीजिये, उसे प्रजा की धर्मरक्षा के नाते कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य करनी पड़ती है। सुधरे हुए पाश्चात्य देशों में भी सरकारके अनेक विभागोंमें धर्ममण्डल नामका एक विभाग अवश्य होता है। मराठोंके राज्य में धर्ममण्डल में खास सरकारी पुरोहित या

उप-पुरोहित के रूप में यद्यपि अधिकारी लोग नियत नहीं किये गये थे तथापि प्रतिवर्ष भिन्न २ प्रसंगोंपर दक्षिणा-दान अवश्य किया जाता था। साथही, कहीं खिचड़ी और कहीं सदावर्त अथवा कहीं राज्यकी ओरसे बँधे हुए धर्मादाय के द्वारा विद्वान एवं धार्मिक लोगों का निर्वाह होता रहता था। इस द्रव्याश्रयपर उपजीविका चलानेवाले शास्त्री एवं पण्डित लोग अपने घरपर शिष्योंको पढ़ाकर विद्या-दान की परम्पराको कायम रखते थे। फलतः ऐसे लोगों के लिए जो रुपया खर्च होता, वह विद्यावृद्धि के नाम पर किया गया व्यय समझा जाता था। पेशवाई में वार्षिक दक्षिणा की रक़म कहांतक बढ़ गई थी, इसका पता डेक्कन वर्नाक्यूलर ट्रान्सलेशन सोसायटीद्वारा प्रकाशित "पेशवाओंके रोजनामचे" (डायरी) परसे भलीभांति लगा सकता है। इस प्रकार पेशवाई के अन्ततक, विद्या से ही दक्षिणा निर्माण होती थी किन्तु पेशवाई के बाद दक्षिणा से ही विद्याका निर्माण होने लगा। बाजीरावशाही के समाप्त हो जाने के बाद एलिफन्स्टनसाहबने ब्राह्मणों को सभा में एकत्र करके दक्षिणा-दानसम्बन्धी प्रथा को बन्द कर दिया, किन्तु अन्य देवालयसम्बन्धी व्यय के साथ २ उन्होंने दक्षिणा का ख़र्च भी जारीही रक्खा। उन्होंने इसका रूपान्तर अवश्य कर दिया। उक्त दक्षिणाफ़ंडसे प्रथमतः विद्योन्नतिके लिए पुरस्कार दिये जाने लगे। इसके बाद नाशिक और चैत्र वाई में हिन्दुओं के लिए संस्कृत कॉलेजकी स्थापना का विचार होने लगा। किन्तु वह विचार स्थगित किया जाकर अन्तमें खास पूना के ही विश्राम-बाग के बाड़ेमें सरकारी संस्कृत पाठशाला की स्थापना हुई और उसके लिए पचास हजार की रकम निकाल कर अलग रख दी गई।

दो-एक वर्ष के भीतरहीं इस पाठशाला में लगभग डेढ़सौ विद्यार्थी पढ़ने लगे। इस पाठ-शाला में संस्कृत के शास्त्रीय ज्ञान के ही साथ २ धर्म-शास्त्र एवं गणित सिखलानेकी विशेषरूपसे व्यवस्था की गई थी। इसके बाद बम्बई की ही तरह पूने में भी एज्यूकशन सोसायटी के कायम हो जानेपर सन १८४२ से इसी शालामें अंग्रेजी शिक्षा का प्रबंध भी हो गया। ता. ७ जून सन १८५१ के दिन ये संस्कृत और अंग्रेजी कक्षाएँ "पूना-कॉलेज" के रूप में परिवर्तित कर दी गयी। सन १८५५ में एज्यूकेशन सोसायटी टूट कर जब शिक्षाविभाग सरकारके हाथ में चला गया, तब इस कॉलेजकी व्यवस्था डॉयरेक्टर ऑफ् पब्लिक इन्स्ट्रक्शन के हाथमें गयी। इसके बाद यह कॉलेज सन १८६३ में विश्रामबाग से बदल कर बानवड़ी चला गया; और वहांसे सन १८६८ में 'डेक्कन-कॉलेज' के नाम से (मूळा-मुठा नदीके) संगम के उसपार खंडोबा के टिब्बेपर बनी हुई नई इमारत में शुरू हुआ। सन १८४२ में जो अंग्रेजी पाठशाला शुरू हुई थी, वही आगे चलकर स्वतंत्ररूप से "विश्रामबाग हाईस्कूल" के नामसे जारी रही। इसी विश्रामबाग में

ट्रेनिंग कॉलेज का भी क्लास था। ट्रेनिंग कॉलेज के लोगोंको केवल मराठी भाषा की ही उपयुक्त शिक्षा दी जाती थी। सन १८६१ के लगभग, हाईस्कूल, कॉलेज और ट्रेनिंग कॉलेज में मिलाकर कोई ४०० विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। सन १८५७में, बम्बई विश्वविद्यालय की स्थापना हो जानेपर, शाला-पाठशाला सम्बन्धी पुराने पण्डितोंका अधिकार, उससे छीन लिया जाकर वे यूरोपियनोंकी देखरेखमें कर दी गई। क्योंकि पुराने पण्डित केवल मराठी ही जानते थे, अतएव उनको नियुक्ति संस्कृत ग्रंथोंका अनुवाद करानेवाले विभागमें कर दी गई। उनमेंसे कृष्णशास्त्री चिपलूणकर या केरोपंत छत्रे सरीखे अंग्रेजी भाषाभिज्ञ पण्डितोंको अवश्य ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपल या सरकारी रिपोर्टर अथवा प्रोफेसर आदिके उच्च पदोंपर प्रतिष्ठित किया गया। कृष्णशास्त्री के बाद, रेवरेंड मेगडुगाल, मेजर कैंडी, रेवरंड फ्रेज़र, प्रो. ग्रीन, ई. आई. हावर्ड, रेम्हरंड मरी मिचेल, प्रो. हूपर, एड्विन अर्नोल्ड, डॉ. मार्टिन हो, प्रो. रसेल, विलियम वर्ड्स्वर्थ, डॉक्टर कीलहार्न, प्रो. फारेस्ट एवं प्रो. शूट आदि यूरोपियन लोग प्रिंसिपल एवं प्रोफेसर आदिके रूपमें तिलक की शिक्षा समाप्त होनेतक, पूना (कालेज) एवं डेक्कन कॉलेज में थे। क्रमशः अंग्रेजोंसे पूर्ण प्रकारसे संस्कृत का स्थान लेलिया और इसी प्रकार मराठी भी पिछड़ चली। सन १८६६ में मरी मिचेल साहबने कॉलेजकी रिमार्क बुकमें मोडी हस्ताक्षरपर अधिक ध्यान देने की सम्मती प्रकट की थी, किन्तु सन १८२८ में एड्विन अर्नोल्डने तो यहांतक लिखा है कि "Most of the advanced students are better scholars in English than in Marathi." बम्बई में मराठी की दशा पूनासे भी अधिक गिरी हुई थी। मतलब यह कि, गतवर्ष १९२२ मराठी भाषाविषय के लिए स्वतंत्ररूप से प्रोफेसर नियुक्त होने तक, मेजर कैंडी की यादगार में मराठी निबंध के लिए रखे हुए एक छोटे से पुरस्कार के सिवाय महाराष्ट्र के इस मुख्य कॉलेज में मराठी भाषा के अध्ययन का कहीं पतातक नहीं था।

यह एक मानी हुई बात है कि नये शिक्षा-युग के आरंभमें शिक्षक और परीक्षक दोनों यूरोपियन होना चाहिए थे। किन्तु अच्छे यूरोपियन यहां अधिक दिन ठहरते न थे। और ऐरे-गैरे लोग जो यहां टिकते थे पर वे किसी काम के न होते थे। एड्विन अर्नोल्ड और डॉ. हो आदि प्रोफेसर उच्च प्रतीके शिक्षक थे। किन्तु ये दोनों ही अल्प काल में भारत से चले गये। डॉ. हो जर्मन थे और संस्कृत के दिग्गज पंडित थे। आरंभ में ये केवल डेढ़ सौ रुपये मासिक वेतन पर काम करने चले आये। किन्तु थोड़े ही दिनों बाद इनका वेतन पांचसौ रुपये तक बढ़कर सरकार की ओर से बड़े २ पुरस्कार भी इन्हें मिले। किन्तु फिर भी ये नाराज होकर इस्तीफा दे, यहां से चले गये। कैंडी और कर्कहैम ये दूसरी श्रेणी के

अंगरेज थे। इनमें कैंडी किंचित् भोले और किसिक्रहर मुर्ख भी थे, किन्तु कर्क हैम पक्के उस्ताद थे। कैंडीसाहब को मराठी भाषा के अपने ज्ञानपर गर्व था, अतएव उनके मराठी के अज्ञान की पोल बारम्बार खुल जाती थी। कर्क हैम होशियार तो थे पर आलसी थे। सन १८६४ के लगभग ये पूना हाईस्कूल के हेडमास्टर थे। उस समय ये हजरत तीन तीन दिनतक स्कूलमें जाकर झांकते भी न थे; और न कभी यही देखते थे कि कौन अध्यापक क्या काम करता है। यूनीवर्सिटि के परीक्षक भी प्रायः सभी यूरोपियन होते थे। कैंडीसाहबने एन्ट्रेन्सकी परीक्षा के लिए मराठी का प्रश्नपत्र निकाला था। जिसका एक प्रश्न इस प्रकार था। "Analyse and give the meaning of डोचकें की बोंचकें, डोकें की फोकें!" इसी प्रकार ऑक्सन हैम साहबने भूगोल के पर्चेमें यह प्रश्न पूछा था "Name the chief towns on any European river with a course chiefly on the parallel of the longitude." एल्फिन्स्टन कॉलेजमें एक प्रोफेसर-साहब गणित पढ़ाते थे। ये महाशय अलजब्रा खोलकर Omit अर्थात् मत पढ़ो के समय में केवल O (ओ) अक्षर और Read अर्थात् "पढ़ो" के लिए केवल R ही बनाकर विद्यार्थियोंकी ज्ञानवृद्धि करते थे।

तिलकके बी. ए. होनेसे बीस वर्ष पूर्व अर्थात् सन १८५६ में बम्बई यूनिवर्सिटी का क़ानून पास हो चुका था। इसके पांच वर्ष बाद सन १८६१ में उसका पहला केलेण्डर प्रकाशित हुआ। जिसपरसे सन १८५९ से अर्थात् महाराष्ट्रीय शिक्षा-सम्पन्न व्यक्तियों की आरंभिक पीढ़ी के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। सन १८५७ से पूना कॉलेज से विद्यार्थी लोग मेट्रिक्युलेशन की परिक्षा में बैठने ल इससे पूर्व कॉलेज और हाईस्कूल दोनों संस्थाएँ मिलकर एक ही थी, किन्तु यहां उसके दो भाग हो गये। सन १८५९ में पूना कॉलेजसे प्रवेश (एन्ट्रेन्स) परी पास करनेवाले विद्यार्थियों में बाबा गोखले, व्यंकटराव रामचंद्र, विष्णु बालकृष्ण सोहनी, के नाम पाये जाते हैं। रामकृष्णपन्त भाण्डारकर, वामन आबाज मोड़क, महादेव नारायण परमानन्द, माधवराव रानड़े, खण्डेराव बेदरकर, बा मंगेश वागले, जनार्दन सखाराम गाडगील, आदि भी इसी वर्ष मेट्रिक्युलेट हुए किन्तु ये सब बम्बई के स्कूल से परीक्षामें बैठे थे। इनसे भी पहले के विद्यार्थिय में डॉ. सखाराम अर्जुन राउत, डॉ. सीताराम विठ्ठल आदि के मेडिकल कॉलेज के विद्यार्थियोंकी सूचीमें पाये जाते हैं। इन लोगों ने एन्ट्रेन्स की परीक्षा नहीं दी थी। क्योंकि उन दिनों उसका अस्तित्व ही न था। विना प्रवेश-परीक्षा के ही वे कॉलेज में भर्ती कर लिये गये थे। सन १८६२ में जो विद्यार्थी पास हुए उनमें श्री. माधवराव कुंटे का नाम पाया जाता है। इसके बाद तो थोड़ेही वर्षोंमें मेट्रिक्युलेशन

परीक्षा के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ गई। सन १८७६ में यह संख्या ११०० से ऊपर पहुंच चुकी थी। सन १८६२ में केवल वामन आबाजी मोदक ही अकेले बी. ए. हुए। इसके बाद तिलक के बी. ए. होनेतक इस प्रकार बी. ए. होनेवालों की संख्या बढ़ती गई:—सन १८६३ (३), १८६४ (५), १८६५ (७), १८६६ (७), १८६७ (११), १८६८ (२०), १८६६ (२) ?, १८७० (१८), १८७१ (१२), १८७२ (१०), १८७३ (२०), १८७४ (१६), १८७५ (२७), १८७६ (१८), १८७७ (४०)। अर्थात् तिलक के बी. ए. पास होने से पहले १७१ व्यक्ति बी. ए. हो चुके थे। किन्तु ये जिस वर्ष बी. ए. हुए उसी वर्षसे इस संख्यामें अत्यधिक वृद्धि होने लगी थी। यही क्रम एल् एल् बी. होनेवाले विद्यार्थियों का भी रहा। एल्-एल्. बी. की डिग्री पानेवालोंके नाम सन १८६६ से पाये जाते हैं। और इस वर्ष केवल दोही व्यक्ति एल् एल्. बी. में उत्तीर्ण हुए थे; पहले माधवराव रानडे और दूसरे बाल मंगेश वागले। इसके बाद सन १८६७ में २, ६८ में ३, ६६ में ३, ७० में ३, ७१ में १३, ७२ में ० (!) ७३ में १, ७४ में ३, ७५ में २, ७६ में ५, ७७ में ३, ७८ में ४ और १८७६ में ६, इस प्रकार कुल १४ वर्ष में ५३ व्यक्ति एल् एल्. बी. हो चुके थे। किन्तु तिलक जिस साल अर्थात् सन १८८० में डिग्री प्राप्त की, उस वर्ष इनकी संख्या एकदम २० पर पहुँच गई।

सन १८८० में अर्थात् जिस वर्ष तिलक एल एल. बी. हुए, बम्बई प्रान्त की समस्त पाठशालाओं की संख्या लगभग पांच हजार से कम थी और उनमें पैंनेतीन लाख विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। सब प्रकारके मिलाकर कुल ८ कॉलेज, एक आर्टस्कूल, ४८ हायस्कूल, १७७ मिडलस्कूल, दो वैद्यक कक्षाएँ और पांच औद्योगिक क्लास तथा शेष सब प्राथमिक शालाएँ थी। लड़कियों की शालाएँ २८४ थीं, और ट्रेनिंग के क्लास नौ थे। कुल विद्यार्थीयों में ब्राह्मण की संख्या सैकड़ा २३, अन्य हिन्दू लोग ५६ और मुसलमान सैंकड़ा १० थे।

इस प्रकार की मर्यादित शिक्षा का भी दुष्परिणाम क्रमशः लोगोंकी समझमें आने लगा था। ज्ञानप्रकाश में विद्यार्थीयोंका एक शुभचिन्तक लिखता है कि:-"सम्प्रति इस देश में विद्यावृद्धि का कार्य जोर-शोर से हो रहा है। किन्तु इससे विद्यार्थीयों के शरीर कृश होने जा रहे हैं अतएव स्थिरतापूर्वक कॉलेज कि शिक्षा समाप्त कर वे यूनिवर्सिटी से डिग्री प्राप्त करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं। और यदि किसीने ज़ोर लगाकर उक्त डिग्री प्राप्त करभी ली तो उसकी शरीर-सम्पत्ति बिलकुल ही बिगड़ जाती है। किन्तु यह सब होते हुए भी विद्यावृद्धि को रोक देने की चर्चा किसी की ओरसे नहीं की गयी। सन १८६१ में विश्रामबाग के "उपहार-वितरण" उत्सव देखकर पूना के लोग बहुत खुश हुए, और उसी समय उनकी ओरसे

सूचित किया गया कि पचास हज़ार रुपये की लागतसे पूनेमें एक बोर्डिंग हाउस खोला जाय और उक्त रकम के व्याज से सौपचास गरीव विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दिलवाने का प्रबंध हो। यद्यपि यह सूचना तत्कालही कार्यरूपमें परिणत न की जा सकी, किन्तु अन्यान्यप्रकार से शिक्षावृद्धि का कार्य रुका नहीं वल्कि वह वरावर वढ़ता ही गया।

जहाँ पुरुषों की ही शिक्षा का प्रमाण इतना थोडा था वहां का स्त्री-शिक्षा यदि पिछडी हुई रहे तो आश्चर्य ही क्या? स्त्री-शिक्षा का नाम निकलतेही इसका विरोध समाजमें ज़ोर--शोर से होने लगा था। पूना की नेटिव जनरल लायब्रेरी में एक पुराने ढर्रे के शास्त्री और नवशिक्षित-युवक में जो वात-चीत हुई थी उसे ज्ञानप्रकाशमें 'पिशाच्य' नामधारी एक व्यक्तिने इस प्रकार प्रकाशित करवाया था:-

शास्त्रीः—तुम्हें कुछही दिनोंमें औरतोंके पैर धूना पड़ेंगे!

युवकः—कोई हर्ज नहीं। स्त्रियोंको मैं गंधर्व एवं घरकी आत्मा समझता हूं।

शास्त्रीः—अर्थ वतलाने की अबकी शैली वड़ी अच्छी है।

युवकः—धन्य 'पेशवाई' शास्त्रीजीमहाराज! भला कहीं "रामः रामौ" करने से भी अक्ल आ सकती है?

शास्त्रीः—अच्छा भाई न सही। तुम्हारे यस्--नो सेही लोगोंको अक्ल आने दो।

इसके वाद 'पिशाच्य' आगे चल कर यों लिखता है, "यदि स्त्रियां घर की आत्मा हैं तो सूर्य जल है और समुद्र कवेलू है। हमारे समयमें तो क्या मजाल थी कि स्त्रियां चार व्यक्तियोंके सामने भी आ जाय। किन्तु विलायतमें तो रानी राज्य करती है और उसके पति को कोई पूछता तक नहीं। जान पड़ता है कि अव यही नियम भारत में भी होनेवाला है कि प्रातःकाल उठते ही पति अपनी पत्नी को द्वादश नमस्कार करें।"

सन १८७१ के लगभग जनवरी महीने में पूना में "विचारवती स्त्रीसभा" नाम की एक संस्था क़ायम हुई थी। इस प्रकार की संस्थाओं के लिए उन दिनों लोकमत का अनुकूल हो सकना असंभव था। यही कारण है कि उक्त सभा की सदस्याएँ कुल सात-आठही हो सकी थीं। "ज्ञानप्रकाश" आरंभ सेही मध्यम सुधारका पक्षपाती रहा है। अतएव स्त्रीशिक्षा के विषय में यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टिसे उसका मत प्रतिकूल न था, किन्तु फिर भी वह ९ जनवरी सन १८७१ के अंक में लिखता है कि "हमारे प्रान्त में स्त्रियोंकी सभा आजतक कहीं भी नहीं हुई थी और संभव है कि समग्र भारत में भी आजतक कहीं ऐसी सभा न हुई होगी। ऐसी दशा में लोगों के सन्मुख इस नई वात को रखनेका श्रेय हमारे

पूना नगर को मिल रहा है, यह देखकर हमें अत्यधिक प्रसन्नता होती है।" किन्तु ये उद्गार किंचित् उपहासात्मक ही थे। क्योंकि "ज्ञानप्रकाश" आगे चलकर फिर लिखता है कि "किन्तु इस पर कई एक लोगों की राय यह भी है कि इस समय ऐसी सभाओं को किया जाना घुटनेके बल चलनेवालों से दौड़ाने का प्रयत्न करवाने के तुल्य है।"

तिलक ने जिस वर्ष बी. ए. की पदवी प्राप्त की उस वर्ष के कनवोकेशन के भाषण में उल्लेखनीय बात कोई भी नहीं पाई जाती। किन्तु उनके एल्एल्. बी. होने के समय चान्सलर के नाते सर रिचर्ड टेम्पल ने जो भाषण किया था वह महत्व का था। Floreat Academia का शुभाशीर्वाद किस प्रकार सफल होता चला था इसका पता पदवीधारियों की उपरि निर्दिष्ट क्रमसे बढ़नेवाली संख्यापर से तो लग ही जाता है, किन्तु इससे भी अधिक महत्व की बात यह कही जा सकती है कि यूनीव्हर्सिटी के द्वारा शिक्षा देने और लेनेवाले दोनों कि दृष्टि अधिक विकसित हो चली थी। पदवियां प्राप्त करने का एक उद्देश्य सरकारी नौकरियां प्राप्त करना भी था। किन्तु उच्च नौकरियों की संख्या अभी अधिक बढ़ी हुई थी। सरकार के रेविन्यु विभाग में तहसीलदारी की जगहें बहुतसी थी। किन्तु सन १८८० तक उनमें उपाधिवाले को, उपाधि-विहीन से पहले जगह नहीं मिलती थी। हायर-स्टैन्डर्ड परीक्षोत्तीर्ण उपाधिवाले और उपाधि-विहीन दोनों एक-ही पंक्ति में बैठाये जाते थे। यह असुविधा सर रिचर्ड टेंपल की समझ में आ गई अतएव उन्होंने उपाधि-विहीनों के पहले उपाधि-वालों को, सब नहीं तो भी किंचित अधिक प्रमाण में, तहसीलदारी देने का नियम बनाकर सन १८८० के दान उत्सव में इस नयी नीति की घोषणा भी कर दी। टेम्पल साहब ब्राह्मणों से द्वेष अवश्य करते थे, किन्तु फिर भी वे शिक्षा के चाहनेवाले थे। और उनका यह अनुरोध था कि ग्रेजुएटों को सरकारदरबार में दूसरों से अधिक सम्मान दिया जाना चाहिए। थोड़ेही दिनों के अनुभव से उनके ध्यान में यह बात भी आगई कि निरे पुस्तकीय ज्ञान से इस देश के लोगों का काम नहीं चलेगा। अतएव उन्होंने बी. एस्-सी. की नई पदवी कायम करने की योजना की थी और उसकी भी इस भाषण में घोषणा कर दी थी। मौखिक परीक्षा के बन्द करने आदि कितनी ही बातों के सुधार की चर्चा इससे पूर्वही शुरू हो चुकी थी। इधर दो वर्ष से पहलेसे, एन्ट्रेन्स की परीक्षा बम्बई के सिवाय अन्य स्थानों में भी ली जा सकते, अर्थात बाहर के विद्यार्थियों के लिए विशेष सुविधा कर देने का प्रबंध भी हो चुका था। भिन्न प्रकार की शिक्षा देकर विद्यार्थियों को भाँति २ के उद्योगधन्धों के लिए तैयार करने का, यूनिवर्सिटी का सर्वसाधारण उद्देश्य तो थाही किंतु इसी के

साथ २ सर रिचर्ड टेम्पल का मत यह भी था कि 'किसी भी प्रकार की शिक्षा प्राप्त क्यों न की जाय किन्तु प्रत्येक पदवीधारी का सुराज्य व्यवस्था के लिए उपयुक्त होना आवश्यक है। किम्बहुना इसी कार्य में जितनी योग्यता शिक्षित लोग बतलायेंगे, उतनी ही उनकी वास्तविक योग्यता समझी जाय। वे कहते हैं कि "I should consider the success of natives as civil administrators to be the truest test of that combined mental and moral training which our education seeks to give."

किन्तु सभी ग्रेजुएट या सुशिक्षित युवक व्यावहारिक उद्योग या सरकारी नौकरियों मेंही लग जाते हों सो बात नहीं है। बल्कि शिक्षाके योग से मनुष्य में स्वतंत्रविचारों का उत्पन्न होना भी स्वाभाविक है। इसका पता सर रिचर्ड टेम्प को अपने इँग्लँण्डके अनुभव से भली भांति लग चुका था। इसी प्रकार वे य भी जानते थे कि यदि ऐसा हुआ तो शिक्षित लोग कदाचित असंतुष्ट भी रहे, य सरकार के विषय में उनके चित्तमें अश्रद्धाभी उत्पन्न हो जाय। वे अपने इस प्रकार के विचारों को प्रकट किये विना न रहेंगे और दूसरे कोंभी ये विचार अनुकरणीय प्रतीत होने लगेंगे और इस प्रकार समाज में सरकार की आलोचना करनेवाला एक दल स्थायीरूपसे निर्माण हो जायगा। किंतु इंग्लंड के शिक्षितों के नियमानुसार इस आपत्ति से भय न खाते हुए उन्होंने अपने भाषण में इसे प्रकटरूप से स्वीकार किया है। "यदि शिक्षित युवक लोग खुले दिल से भाषण करेंगे तो केवल इसी एक कारण से हम उन्हें राज-विद्रोही न मानलेंगे। यदि शिक्षित समाज कृतघ्न भी बन जाय तो उसका पाप उसी के सिर रहे गा और हम शिक्षा-दानमें कभी अपना हाथ पीछे न खींचेंगे। असंतोष के भाव शिक्षितों को शोभा देते है या नहीं इसके निर्णय का भार हम उन्हीं की विवेकबुद्धि पर छोड़ देंगे।" इस ढंग उदार मतप्रदर्शक विचार उन्होंने अपने भाषण में प्रकट किये थे। परन्तु देशीभाषा के समाचार पत्रों का गला घोटनेवाला कानून (प्रेस एक्ट) इसी अवसर में गवर्नर जनरल लार्ड लिटन ने पास करवालिया था, अतएव टेम्पल साहब के मनमें कौनसी बात अवश्य में असर कर रही थी, और उनके मुंहसे निकले हुए इस प्रकार [illegible] [illegible] था, इसे उस समय के लोग [illegible] समझे हुए थे। [illegible] के एम. ए. की होने से पांच [illegible] [illegible] "निबंध-माला" का जन्म हो चुका था, और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है कि [illegible] टेम्पल साहब के [illegible] [illegible] शिक्षित युवक [illegible]

सन १८६२ तक वकालत के धन्दे का महाराष्ट्र में अधिक फैलाव था। किन्तु फिर भी एक सूचीके देखने से पता लगता है की सन १८७४ में पूना में ३१-३६ वकील थे। क़ानून की धाराओं को पुस्तकों में ठीक तरहसे दिखा देनाही उस समय बड़ी वीरता का काम समझा जाता था! सन १८६२ में पूना की अदालत मेंही वकालत की लेखी परीक्षा हुई। इसमें ३१ उम्मेदवार शामिल हुए थे और पुस्तकों से सहायता लेकर प्रश्नों के उत्तर लिखने को विद्यार्थियों को इजाज़त थी। दाई घरमें की इमारत में ये सब उम्मेदवार घुटनेसे घुटना भिड़ाकर बैठे थे और स्वतंत्रतापूर्वक एक दूसरे से पूछताछ कर प्रश्नों का उत्तर लिख रहे थे! उस समय के एक विनोदी समालोचक लिखते हैं कि "उम्मेदवारों का परस्पर का प्रेमभाव और उनपर परीक्षकों की दयादृष्टि देखकर हमें बड़ा संतोष हुआ। मनुष्यमात्र का धर्म है कि वह इस संसार में जन्म ले कर अपने बन्धुजनों की यथाशक्ति सहायता करे। इसी धर्मपर ध्यान दे कर परीक्षा के समय उम्मेदवार और परीक्षक बरत रहे थे, यह देखकर भला किस मनुष्य को आनंद न होगा? परीक्षा का परिणाम भी तत्कालही सुना दिया गया। अर्थात् मुख्य परीक्षक असिस्टंट जजने, उमेदवारों ने जिस भाषा में उत्तर लिखे थे उस (मराठी) का एक अक्षर भी न जानते हुए अपने दो-एक सलाहाकारों की सहायता से डेढ़-दो घंटे में ही उत्तरपत्रों की जांच कर, परीक्षा फल सुना दिया। समालोचक महाशय का कथन है कि "इस प्रकार बच्चों के खेल जैसी परीक्षा लेने की अपेक्षा प्रत्येक उम्मेदवार के नाम की चिठ्ठी उठवाकर ही परीक्षा फल क्यों नहीं सुना दिया?" कई महाशयों का यह अंदाज था कि उत्तम प्रकार के वकीलों की कमी पूरी करने के लिए यदि पूनामें सरकारी लॉ क्लास खोला जाय, और उसकी फीस पांच रुपया महिना भी रखी जाय तो भी कानून पढ़ने वाले उम्मेदवारों की संख्या यथेष्ट हो सकेगी। जहां खुद कानून-दां वकीलों की यह दशा है वहां के असेसर और ज्यूरर किस प्रकार के होंगे? इसकी कल्पना पाठक स्वयमेव कर सकते हैं। निमंत्रित असेसरें को तो कमसे कम यहीं मालम होता था कि अदालत में जाना एक प्रकार से अपने लिए शरम सा है। तत्कालीन एक पत्रसंपादक लिखते हैं कि "एक बार पूना की अदालत के एक मुकद्दमे के बारे में हमने एक असेसर से पूछा कि आपने यह कैसे जानलिया कि कैदी पर अपराध साबित हो गया?" इसके उत्तर में वह कहता है "अजी जाने भी दो। इन साबित करने-कराने के झगड़े में क्या रक्खा है? कुछ न कुछ जवाब तो देना था न!"

उन दिनों ब्राह्मणोंके मुकाबले में ब्राह्मणेतरवर्ग शिक्षा की दृष्टिसे पिछड़ा हुआ था। किन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि ब्राह्मणेतरोंकी शिक्षित

पिढ़ी का जन्म तिलक के साथ ही अथवा इनसे दो–चार वर्ष पहले ही हो चुका था। इनमें अग्रस्थान जोतिराव गोविन्दराव फुले को दिया जा सकता है। इनके प्रपितामह सितारा जिलाके खातगुण नामक गाँवके वतनदार थे। वहांके पटवारी से उन्हे बड़ा कष्ट पहुँचता था, अतएव उसका खून करके वे पूना जिल्हे की पुरन्दर तहसील के खानवड़ी में गाँव में जा बसे थे। उनके पुत्र शेटिबा कुछ वर्ष पश्चात् पूना चले आये। इनके तीनों लड़कोंने माली का धन्दा किया। पेशवा सरकार के यहां फुले के घरसे फूलोंकी पुड़िया नित्य प्रति जाने लगी। अतएव इस परिवार की अस्ल मूलमें 'गोन्हे' होते हुए भी उक्त कारण से फुले हो गई। इन तीनों भाईयोंमें से गोविंदराव के यहां सन १८२७ में जोतिराव का जन्म हुआ। इन्हें बचपन से ही पढ़ने का शौक था। पड़ौस के एक मुसलमान मुंशी की नसीहत एवं मेजर लिजिट की सहायतासे जोतिराव अंग्रेजी पढ़ने लगे। उसके बाद पूना की तत्कालीन प्रमुख ब्राह्मण मण्डली में से सदाशिवराव गोवण्डे एवं सखाराम यशवंत परांजपे से इनका स्नेह हो गया। इनको बचपन सेही स्वदेशाभिमान की धुन सवार हो गई थी, और वासुदेव बलवंत फडके की तरह ये भी उनके गुरु लहूजीबुआ की शागिर्दी में बन्दूक चलाना और पटा–लकडी आदि का चलाना सीख गये थे। "गुलामगिरी" नामक पुस्तक में इन्होंने लिखा है कि "ये विद्याएं (कलाएँ) मैंने अंग्रेजी सत्ताको उलट देने के लिए सीखी हैं। और इस काम में मुझे सुधरे हुए भट्ट विद्वानोंसे उत्तेजन मिली थी। किंतु थोड़ेही दीनोंबाद उन्हें मालूम हुआ कि उन्होंने यह भूल की। आगे चलकर तो उन्होंने ब्राह्मण जातिको नष्ट कर देने के उद्देश्य से "सत्य–समाज" की भी स्थापना कर डाली।

अपनी आयु के बीस वें वर्ष तक श्रीयुत फुले ने अंग्रेजी, मराठी और गणित की उत्तम शिक्षा प्राप्त करली थी, और विद्या सीखने की ओर विशेष अभिरुचि होने के कारण वे आजन्म विद्यार्थी ही बन रहे। सन १८४८ में पूना के बुधवार पेठ में श्री. भिड़े के मकान में उन्होंने मराठों के लिए मराठी भाषा का स्कूल खोला। उन्होंने खुद अपनी स्त्री को भी मराठी पढ़ा दिया था, अतएव उससे ये अपने में सहायक अध्यापिका का काम लेने लगे। इस स्कूल में लड़कियां भी भर्ती की जाती थी। किन्तु जोतिरावके पिता को अपनी पुत्रवधू का स्कूल में अध्यापिका होकर रहना अच्छा नहीं लगा, अतएव पिता की ओर से पुत्र के इस काम में बहुत कुछ बाधाएँ भी डाली गई। थोड़े ही दिनों बाद लड़कियों के लिए सरकारी स्कूल के खुल जाने पर जोतिराव ने यह स्कूल बन्द कर दिया। इसी प्रकार नाना की पेठ में उन्होंने अस्पृश्य लोगों के लिए भी एक स्कूल खोला और कई दिनोंतक उसे यथानियम चलाया, और इसके बाद वह म्युनिसिपलिटी के अधिकार में दे

दिया गया। पंढरपुर के अनाथालय की तरह इन्होंने पूने में भी एक अनाथगृह खोलकर उसमें बालकों के लिए की हुई व्यवस्था के इश्तहार छपवा दिये। किन्तु यह काम भी लोगों को अच्छा न लगा। सन १८५२ में विश्रामबागवाले मकान में दरबार करके स्त्री-शिक्षा प्रसार के प्रयत्न करने के उपलक्ष में सरकार की ओर से सम्मान-सूचक २००) रुपये क़ीमत का एक दुशाला इन्हें उपहारमें दिया गया। अंग्रेजों में सर अर्स्किन पेरी और कर्नल मेडोज टेलर तथा पूनानिवासी गोपालराव देशमुख, रावबहादुर मदन श्रीकृष्ण, तुकाराम तात्या, नारायणराव परमानंद आदि सज्जन इन्हें जीसे चाहते थे। मिशनरी लोगोंने भी अपनी गुणज्ञता प्रकट कर अपने अधिकारमें की कन्या-शालाओं का काम उन्हें सौंप दिया था।

सन १८७३ में सितम्बर महीनेकी २४ तारीखके दिन उन्होंने "सत्यशोधक-समाज" की स्थापना की। इसके उद्देश्य प्रसिद्ध ही हैं। यथाः—ब्राह्मणेतर लोग शिक्षा के मार्ग में अग्रसर हों, वे ब्राह्मणों की गुलामी से मुक्त हो जाँय, इत्यादि बातें तो इस समाज के मुख्योद्देश्य के रूप में थी हीं, किन्तु इसी के साथ २ इस समाज की ओर से यह उपदेश भी दिया जाता था कि, ब्राह्मणेतर समाज हिन्दू समाजका सुधारको एवं शराब खोरी की बंदी की जाय। साथही उन्होंने समाचार पत्रों में यह भी प्रकाशित करवा दिया था कि "मैं बिना किसी प्रकार की जात-पाँत का लिहाज़ किये हरएक व्यक्ति के घर भोजन कर सकता हूं"। "जाति-भेद-विवेक-सार" नामक वर्णव्यवस्था का खंडन करनेवाला एक ग्रंथ बम्बई के तुकाराम तात्या पडवल ने लिखा था, किंतु उसे छापने की किसी की हिमत न हुई। कहा जाता है कि जोतिराव ने खुद अग्रसर हो कर उसे छपवाया था। 'गुलामगिरी' 'श्रासूड़' 'सत्सागर' 'इशारा' 'ब्राह्मणांचें कसब' (ब्राह्मणों की चालें) 'सार्वजनिक सत्यधर्म' आदि पुस्तकें उन्होंने अपनी जातिके लिए लिखीं। यद्यपि इन पुस्तकों की भाषा और विवेचनपद्धति दोनो ही निर्दोष न थी, किन्तु ब्राह्मणेतर समाज के आन्तरिक भाव प्रकट करनेवाली पुस्तकों के नाते उन का महत्त्व कम नहीं कहा जा सकता। जोतिराव की स्फूर्ति एवं शिक्षा से ब्राह्मणेतर समाज में सत्यशोधक समाज का मत फैलानेवाले बहुत से लोग तैयार हो गये। उनमें धोंडीराम नामदेव, कृष्णराव भालेकर, गणपत सखाराम पटेल, नारायण मेघाजी लोखंडे, डॉ. सन्तूजी रामजी लाड, गणपतराव मल्हार बोकड, भाऊ कोंडाजी पटेल, माधवराव हाटवल, दर्याजीराव थोरात, भाऊ पटेल आदि व्यक्ति सामान्यतः प्रसिद्ध हैं।

सत्यशोधक समाज की स्थापना हो जानेके बाद जब अ-ब्राह्मण पक्ष का समर्थन करनेवाले पत्र की आवश्यकता प्रतीत होने लगी, तब जोतिराव के कामाठी मित्र-मण्डलने इन्हें १२०० रुपये कीमत का एक प्रेस खरीद दिया। किन्तु जोतिराव के

पिढ़ी का जन्म तिलक के साथ ही अथवा इनसे दो–चार वर्ष पहले ही हो चुका था। इनमें अग्रस्थान जोतिराव गोविन्दराव फुले को दिया जा सकता है। इनके प्रपितामह सितारा जिलाके खातगुण नामक गाँवके वतनदार थे। वहांके पटवारी से उन्हे वड़ा कष्ट पहुँचता था, अतएव उसका खून करके वे पूना जिल्हे की पुरन्दर तहसील के खानवड़ी में गाँव में जा बसे थे। उनके पुत्र शेटिबा कुछ वर्ष पश्चात् पूना चले आये। इनके तीनों लड़कोंने माली का धन्दा किया। पेशवा सरकार के यहां फुले के घरसे फूलोंकी पुड़िया नित्य प्रति जाने लगी। अतएव इस परिवार की अल्ल मूलमें 'गोन्हे' होते हुए भी उक्त कारण से फुले हो गई। इन तीनों भाईयोंमें से गोविंदराव के यहां सन १८२७ में जोतिराव का जन्म हुआ। इन्हें बचपन से ही पढ़ने का शौक था। पड़ौस के एक मुसलमान मुंशी की नसीहत एवं मेजर लिजिट की सहायतासे जोतिराव अंग्रेजी पढ़ने लगे। उसके बाद पूना की तत्कालीन प्रमुख ब्राह्मण मण्डली में सें सदाशिवराव गोवण्डे एवं सखाराम यशवंत परांजपे से इनका स्नेह हो गया। इनको बचपन सेही स्वदेशाभिमान की धुन सवार हो गई थी, और वासुदेव बलवंत फडके की तरह ये भी उनके गुरु लहूजीबुआ की शागिर्दी में बन्दूक चलाना और पटा–लकडी आदि का चलाना सीख गये थे। "गुलामगिरी" नामक पुस्तक में इन्होंने लिखा है कि "ये विद्याएं (कलाएँ) मैंने अंग्रेजी सत्ताको उलट देने के लिए सीखी हैं। और इस काम में मुझे सुधरे हुए भट्ट विद्वानोंसे उत्तेजन मिली थी। किंतु थोड़ेही दीनोंबाद उन्हें मालूम हुआ कि उन्होंने यह भूल की। आगे चलकर तो उन्होंने ब्राह्मण जातिको नष्ट कर देने के उद्देश्य से "सत्य–समाज" की भी स्थापना कर डाली।

अपनी आयु के बीस वें वर्ष तक श्रीयुत फुले ने अंग्रेजी, मराठी और गणित की उत्तम शिक्षा प्राप्त करली थी, और विद्या सीखने की ओर विशेष अभिरुचि होने के कारण वे आजन्म विद्यार्थी ही बन रहे। सन १८४८ में पूना के बुधवार पेठ में श्री. भिड़े के मकान में उन्होंने मराठों के लिए मराठी भाषा का स्कूल खोला। उन्होंने खुद अपनी स्त्री को भी मराठी पढ़ा दिया था, अतएव उससे वे अपने में सहायक अध्यापिका का काम लेने लगे। इस स्कूल में लड़कियां भी भर्ती की जाती थी। किन्तु जोतिरावके पिता को अपनी पुत्रवधू का स्कूल में अध्यापिका होकर रहना अच्छा नहीं लगा, अतएव पिता की ओर से पुत्र के इस काम में बहुत कुछ बाधाएँ भी डाली गई। थोड़े ही दिनों बाद लड़कियों के लिए सरकारी स्कूल के खुल जाने पर जोतिराव ने यह स्कूल बन्द कर दिया। इसी प्रकार नाना की पेठ में उन्होंने अस्पृश्य लोगों के लिए भी एक स्कूल खोल कर कई दिनोंतक उसे यथानियम चलाया, और इसके बाद वह म्यूनिसिपालिटी के अधिकार में दे

२०१. मासिक पत्रादि की संख्या १२१ थी और कुल समाचार पत्र ८३ थे। इनमें अंग्रेज़ी के दो तथा एंग्लो-मराठी के दस पत्र थे। देशी भाषा के समाचार पत्र ७१ थे। इनमें ३४ मराठी, तथा ३१ गुजराती थे। कुल पुस्तकालयों की संख्या ८७ थी। शिलाप्रेस (लीथो) बम्बई में २२ थे। समाचार पत्रों में सबसे अधिक प्रचार एक गुजराती पत्र का था, और उस की अधिकसे अधिक १६५० प्रतियाँ निकलती थीं। हजार प्रतियोंसे अधिक निकलनेवाले पत्र ६ थे और पांचसौ प्रतियां निकालनेवाले पत्रों की संख्या १४ थी। उस समय के समाचार पत्रों में से कुछ के नाम अभीतक लोगों के स्मरण में हैं, और उनमें के कुछ तो अब भी निकल रहे हैं। ज्ञानप्रकाश, इन्दुप्रकाश, सुबोधपत्रिका, ज्ञानोदय, वर्तमान-दीपिका, शुभसूचक, पूर्व-चन्द्रोदय, वैश्यपंच, धूमकेतु, जगन्मित्र (रत्नागिरी), बेलगांव-समाचार, वृत्त-वैभव, नेटिव ओपीनियन, नागपुर क्रानिकल, सिंधियन, प्रभाकर, दर्पण इत्यादि उस समयके प्रधान पत्र थे।

महाराष्ट्र में मुद्रणकला का जन्म सन १८२२ तक न भी हुआ हो, किंतु इस प्रान्त में सबसे पहले प्रेस खोलनेवाला व्यक्ति पेशवाई सत्ता के नष्ट होने से १८ वर्ष पूर्व ही जन्म धारण कर चुका था। इन मुद्रक महाशय का नाम था गणपत कृष्णाजी। इनके जीवन में और उसके बाद भी हजारों छापाखाने कायम हुए, किंतु इनका बनाया हुआ टाइप का ठप्पा स्वतंत्र ढंग का था, अतएव उसके कारण उनका नाम आज भी लोगों की ज़बान पर है। ठप्पे का यह ढंग सुघड़ है और आज भी वह गणपत कृष्णाजी का स्मारक बना हुआ है। ये महाशय भंडारी जाति के थे और टामस ग्रेहॅम नामक एक मिशनरी सज्जन के प्रेस में नौकरी करते थे। नौकरी छोड़ देने के बाद स्वतंत्र हो जाने पर इन्होंने एक काष्ठ-यंत्र एवं शिलाके टुकड़े जुटाकर शिला प्रेस खोला और उसके लिए स्वदेशी स्याही भी तैयार कर ली। इसके बाद सन १८३१ में उन्होंने सबसे पहले मुद्रित-पंचाङ्ग प्रकाशित किया। छपा हुआ पंचाङ्ग उस समय के लिए एक नई वस्तु था, अतएव वह आठ आने क़ीमत पर बेचा गया। सन १८३६ में दादोबा पांडुरंग ने अपना व्याकरण भी इन्हीं के प्रेस में छपवा कर प्रकाशित किया। इसके सात वर्ष बाद, उन्होंने टाइप का कारखाना और प्रेस शुरू किया। विशेष शिक्षित न होते हुए भी, केवल स्वावलंबन और महत्त्वाकांक्षा, इन दो गुणों के द्वारा उन्होंने यथेष्ट ख्याति-लाभ किया। उन्हें यदि महाराष्ट्र का "कैक्सटन" कह दिया जाय तो अनुचित न होगा। गणपत कृष्णाजी की मृत्यु के बाद रावसाहब मांडलिक कुछ दिनों तक उनके प्रेस के ट्रस्टी रहे, और इसके बाद पुरुषोत्तम गोविंद नाडकर्णी सन १९०० तक उसकी व्यवस्था करते रहे। अन्त को सन १९१४ में कुछ नियम-विरुद्ध पुस्तकें

हाथसे समाचार पत्रके न निकल सकनेके कारण, कृष्णाजी पांडुरंग भालेकर ने अपने ख़र्च से नया प्रेस खरीद कर सन १८७७ के जनवरी महीनेसे "दीनबन्धु" नामका साप्ताहिक पत्र निकालना शुरू किया। किन्तु अर्थाभाव एवं सहकारी लेखकों की ओरसे अपेक्षित सहायता न मिलनेके कारण उन्हें सन १८७९ में अपना दूसरों को सौंप देना पड़ा। इसके बाद उस पत्रको रामजी सन्तू आवटे, नाराय मेघाजी लोखंडे, दामोदर साँवलाराम यंदे आदि लोगोंने चलाया। उक्त पत्रके आग इतिहासको लिखने की यहां आवश्यकता नहीं है। यहां हमारा उद्देश्य केवल इस बातको प्रकट कर देना है कि ब्राह्मणेतर समाजमें न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना पूर्व ही सार्वजनिक आन्दोलन का आरंभ हो चुका था, और इस समाज का एक उत्त समाचारपत्र भी 'केसरी' के जन्मसे तीन वर्ष पूर्व निकल चुका था। इतने पर भ यह कह देना अनुचित न होगा कि तिलक एवं आगरकर आदि विद्वानों के स्वार्थत्याग को उस समय के ब्राह्मणेतर लोगो ने भी सराहा था। श्री. तिलक और आगरकर के कारागार से मुक्त होनेपर उनका सम्मान करनेवालोमें ये अब्राह्मण नेता भी शामिल थे। और जोतिराव फुले के विषय में तो यहां तक कहा जाता है कि कोल्हापूरवाले मामले में रामसेठ उरवणे से तिलककी जमानत के लिये दस हजार रुपये की रकम उन्होंने भरवाई थी। रायगढ़ पर श्री. शिवाजी महाराज की भग्नावस्था को पहुँची हुई समाधिका वर्णन सबसे पहले दीनबन्धु नामक पत्रमें प्रकाशित हुआ था, और पूनेमें चाफलकर स्वामी के सभापतित्व में शिवाजी स्मारक सम्बन्धिनी जो सभा हुई थी उसमें जोतिराव विद्यमान थे। ता. २७ नवम्बर सन १८९० ई. के दिन जोतिराव की मृत्यु हो गई। श्री विष्णुशास्त्री चिपलूनकर ने निबंधमाला में जोतिराव फुले के ग्रंथो की जो कठोर आलोचना की है, उसमें का कुछ भाग केवल प्रतिक्रिया रूप में था, किन्तु उसका अधिकांश समर्थनीय कहा जा सकता है, फिर भी तिलक से पूर्वके महाराष्ट्र की दशा का सिंहावलोकन करते हुए यहां हमें केवल यह बात दिखलानी है कि तिलक के सार्वजनिक कार्यों में भाग लेनेसे पूर्व ही अब्राह्मणों का आन्दोलन आरंभ हो चुका था, और स्वयं विशेष विद्वान न होते हुए भी अपने सार्वजनिक हित-बुद्धि से किये हुए प्रयत्न और [illegible] प्रयत्नों के कारण जोतिराव महाराष्ट्र में ख्याति प्राप्त कर चुके थे।

शिक्षा की गति उन दिनों [illegible] की भी पर्याप्त वृद्धि नहीं हो पाई थी। उस वर्ष की सरकारी रिपोर्ट में पूरे बम्बई प्रान्त में [illegible] और [illegible] की संख्या इस प्रकार पाई जाती है:— [illegible] बम्बई में ४८, महाराष्ट्र में [illegible] और गुजरात में १८ थे। [illegible] बम्बई में २३१ महाराष्ट्र में ७३४ और गुजरातमें [illegible] की दृष्टि से उनका क्रम इस प्रकार था— [illegible] १०० [illegible] और [illegible]

२०२, मासिक पत्रादि की संख्या १२१ थी और कुल समाचार पत्र ८३ थे। इनमें अंग्रेज़ी के दो तथा एंग्लो-मराठी के दस पत्र थे। देशी भाषा के समाचार पत्र ७१ थे। इनमें ४५ मराठी, तथा ३१ गुजराती थे। कुल पुस्तकालयों की संख्या ८० थी। शिलाप्रेस (छापे) बम्बई में २२ थे। समाचार पत्रों में सबसे अधिक प्रचार एक गुजराती पत्र का था, और उस की अधिकसे अधिक १६६० प्रतियां निकलती थीं। हजार प्रतियोंसे अधिक निकलनेवाले पत्र ६ थे और पांचसो प्रतियां निकालनेवाले पत्रों की संख्या १४ थी। उस समय के समाचार पत्रों में से कुछ के नाम अभीतक लोगों के स्मरण में हैं, और उनमें के कुछ तो अब भी निकल रहे हैं। ज्ञानप्रकाश, इन्दुप्रकाश, सुबोधपत्रिका, ज्ञानोदय, वर्तमान-दीपिका, शुभसूचक, पूर्ण-चन्द्रोदय, वस्त्रार्थक, धूमकेतु, जगन्मित्र (रत्नागिरी), बेलगांव-समाचार, वृत्त-वैभव, नेटिव ओपीनियन, नागपुर क्रानिकल, सिंधियन, प्रभाकर, दर्पण इत्यादि उस समयके प्रधान पत्र थे।

महाराष्ट्र में मुद्रणकला का जन्म सन १८२२ तक न भी हुआ हो, किंतु इस प्रान्त में सबसे पहले प्रेस खोलनेवाला व्यक्ति पेशवाई सत्ता के नष्ट होने से १८ वर्ष पूर्व ही जन्म धारण कर चुका था। इन मुद्रक महाशय का नाम था गणपत कृष्णाजी। इनके जीवन में और उसके बाद भी हजारों छापखाने कायम हुए, किंतु इनका बनाया हुआ टाइप का ठप्पा स्वतंत्र ढंग का था, अतएव उसके कारण उनका नाम आज भी लोगों की जबान पर है। ठप्पे का यह ढंग सुघड है और आज भी वह गणपत कृष्णाजी का स्मारक बना हुआ है। ये महाशय भंडारी जाति के थे और टामस ग्रेहॅम नामक एक मिशनरी सज्जन के प्रेस में नौकरी करते थे। नौकरी छोड़ देने के बाद स्वतंत्र हो जाने पर इन्होंने एक काष्ठ-यंत्र एवं शिलाके टुकड़े जुटाकर शिला प्रेस खोला और उसके लिए स्वदेशी स्याही भी तैयार कर ली। इसके बाद सन १८३१ में उन्होंने सबसे पहले मुद्रित-पंचाङ्ग प्रकाशित किया। छपा हुआ पंचाङ्ग उस समय के लिए एक नई वस्तु था, अतएव वह आठ आने क़ीमत पर बेचा गया। सन १८३६ में दादोबा पांडुरंग ने अपना व्याकरण भी इन्हीं के प्रेस में छपवा कर प्रकाशित किया। इसके सात वर्ष बाद, उन्होंने टाइप का कारखाना और प्रेस शुरू किया। विशेष शिक्षित न होते हुए भी, केवल स्वावलंबन और महत्त्वाकांक्षा, इन दो गुणों के द्वारा उन्होंने यथेष्ट ख्याति-लाभ किया। उन्हें यदि महाराष्ट्र का "कैकस्टन" कह दिया जाय तो अनुचित न होगा। गणपत कृष्णाजी की मृत्यु के बाद रावसाहब सावदालिक कुछ दिनों तक उनके प्रेस के ट्रस्टी रहे, और इसके बाद पुरुषोत्तम गोविंद नाडकर्णी सन १६०० तक उसकी व्यवस्था करते रहे। अन्त को सन १६१४ में कुछ नियम-विरुद्ध पुस्तकें

छापने के कारण सरकारने उसे जप्त कर लिया। किन्तु फिर भी, इस प्रेस के छपे हुए सैकड़ों ग्रंथ और ख़ासकर धार्मिक ग्रंथ, उसका नाम मराठी ग्रंथ संग्रहालयों क अस्तित्व रहने तक बराबर क़ायम रखेंगे।

"ज्ञान-प्रकाश समाचार-पत्र" पूने में सन १८४९ के फरवरी महीने से निकल लगा। उस समय यह पत्र कृष्णाजी त्र्यंबक रानडे नामक सज्जन की ओर से शुक्र पेठ के बारामतीकर के वाड़े-अर्थात् वर्तमान में दाते के वाड़े में, ज्ञान-प्रका प्रेससे छपकर निकलता था। यह पत्र प्रति सोमवार को प्रकाशित होता था। उ समय इस का आकार १० × ८ इंच का था, और प्रत्येक अंक में आठ पृष्ठ रहते थे। प शिलाप्रेस पर छपता था, और यह सब होते हुए भी इसका वार्षिक मूल्य १० रुप था! जान पड़ता है कि पत्र मूल्य इतना इस लिए रखा गया हो कि, कम बिक्रि के कारण होनेवाले नुकसान की भरपाई हो जाय। इस तरह १९ वर्ष निकलने के बाद यह पत्र टाइपसे छपने लगा। और इसका वार्षिक मूल्य भी तब कम कर दिया गया। इससे आगे के जीवन में 'ज्ञानप्रकाश' के कई रूपान्तर हुए। प्रारंभ में केवल मराठी, इसके बाद अंग्रेजी-मराठी, कुछदिनों तक अर्धसाप्ताहिक और फिर दैनिक इस प्रकार उसके रूप में जो २ परिवर्तन हुए वे सर्व प्रसिद्ध हैं। इस पत्र के लिए समय-समय पर पूना के अनेकानेक विद्वान संपादक मिलते रहे। 'केसरी' के प्रकाशन से पूर्व, कृष्णशास्त्री चिपळूनकर, बाबा गोखले, आदि सज्जन "ज्ञान-प्रकाश" पत्र को चलाते थे। महादेव गोविन्द रानडे भी कभी २ 'ज्ञान-प्रकाश' के लिए अंग्रेजी लेख लिखकर दिया करते थे।

किन्तु ज्ञान-प्रकाशके अंग्रेजी एवं मराठी लेखोंमें समानता नहीं रहती थी। यदि अंग्रेजी लेख किसी बड़े विद्वानका लिखा हुआ होता तो मराठी लेख किसी मध्यम शिक्षित का और शेष अंश, मुख्यतः पत्रव्यवहार बिलकुल सामान्य व्यक्तिके द्वारा लिखा जाता था। इसी कारण किस ढंग के समाचार या लेख कवितादि इस पत्रमें छप सकते हैं, इसके लिए कोई नियमही न था। उदाहरणार्थ ता. १७ अक्टूबर सन १८६१ के "ज्ञानप्रकाश" में प्रकाशित एक उद्धरण देखिये।

"आपके सुन्दर पत्रमें छापने के लिए कुछ कविताएँ भेजी जाती हैं। उन्हें कृपा करके आप स्थानप्रदान करेंगे ऐसी (!)-[आशा] है।

श्लोक (चाल-वासनी)
हवा थंड आहे तया बेळगाँवीं।
वसे बहु त्वां बळें बाळगावी॥
आळस करितां बहु दुःख वाटे।
शरीर सुद्धां फुटली खवाटे॥ १॥

आर्या

माहे ग्रामीं मुनसफ, नाम विनायक पिताचि आपाजी।
याते जो निन्दितसे तो नर जाणा खराचि हो पाजी॥ इत्यादि"

ये तथा इसी प्रकारकी अनेक हास्यास्पद कविताएँ उस समय के समाचार पत्रों में संपादक की स्वीकृतिसे छापी हुई पाई जाती हैं। किन्तु अधिक उदाहरण देकर हमें अधिक स्थान घेरना इष्ट नहीं है।

पूनाके 'ज्ञान-प्रकाश' की ही तरह बम्बईका 'इंदु-प्रकाश' भी पुराना पत्र है। उन दिनों उसकी भी विशेष ख्याती थी। इसे सन १८६४ में श्रीयुत विष्णु परशुराम पंडित ने निकाला था। पंडित महाशय का जन्म १८२७ में सितारेमें हुआ था। उन्होंने यहीं श्री राघवेन्द्राचार्य गजेन्द्रगदकर के पास संस्कृत का अध्ययन किया, और इसके बाद अंग्रेजी पढ़नेके लिए ये पूना आये। सन १८५५ में इन्होंने शिक्षा विभागमें नौकरी करके धारवाड़, मालेगाँव आदि स्थानोंमें शिक्षक का काम किया। इसके बाद उन्होंने सन १८६४ में नौकरीसे इस्तीफा देकर "इंदु-प्रकाश" पत्र निकाला। "पुनर्विवाहोत्तेजक मण्डल" की स्थापना करनेवालों में प्रमुख व्यक्ति यही थे। सन १८७० में श्रीमान शंकराचार्यजी महाराज के सन्मुख पुनर्विवाह के सम्बन्धमें जो वाद-विवाद सभा हुई थी, उसकी योजना करनेवालोंमें मुख्यतः इन्हीं का हाथ था। सन १८७४ में ख़ुद इन्होंने भी पुनर्विवाह किया, किन्तु इसके दोही वर्ष बाद अर्थात् सन १८७६ में इनकी मृत्यु हो गई।

सन १८७२ के मार्च महीने में "एक समाचार पत्र के पाठक" ने "ज्ञान-प्रकाश" में अपनी लम्बी चिट्ठी छपवाई है। उस परसे तत्कालीन मराठी समाचार पत्रोंकी स्थिति का पता लग सकता है। वे महाशय लिखते हैं कि "मराठी लेखोंके विषय में बम्बई के "इन्दु-प्रकाश" को पहला स्थान दिया जा सकता है। क्योंकि उसकी भाषा सभ्य एवं सज्जनोचित होती है। उसमें राजनैतिक लेख खूब भरे रहते हैं, किंतु अन्य लोकोपयोगी विषयों के लेख नहीं दिये जाते। लेख लम्बे होते हैं अतएव अधिकर तर पाठक पढ़ते २ ऊब जाते हैं। उसकी नीति अच्छी है। पत्रव्यवहार भी उसमें खूब रहता है। किन्तु ज़िलेवार सम्वाददाता नहीं हैं, अतएव उसमें के समाचार प्रायः अंग्रेजी पत्रोंपरसे लिये हुए होते हैं। 'नेटिव ओपीनियन' पत्रके अंग्रेजी लेख जोशीले और पक्षपातरहित होते हैं। किन्तु अव्यवस्था के कारण पत्रका महत्व कम हो गया है। इसका मराठी भाग शुरूसेही साधारण रहा है। भाषा भी साधारण है! 'हिन्दू रिफार्मर' का नाम तो अंग्रेजी है, किन्तु इसमें अंग्रेजी लेखादि बहुत कम रहते हैं। अशुद्धियों बहुत रहती हैं। मराठी लेख-सामग्री ठीक होती है, किन्तु उसका काम

रहती। कभी २ इसमें छिछोरपन भी आ जाता है। बम्बई के अ
समाचार-पत्र निकमे हैं। 'ज्ञानोदय' में समाचार-सार अच्छा हो
है, किन्तु केवल धार्मिक होते हैं। 'स्वदेशहितेच्छु' नामक एक नया प
निकला है, पर होनहार प्रतीत होता है। मूल्य भी उसका केवल डेढ़ रुप
है। किन्तु अभी तक लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकी है। पूनाके पत्रों
'ज्ञान-प्रकाश' उत्तम प्रकार का पत्र है, किन्तु फिर भी 'इन्दु प्रकाश' की तर
लोगोंमें उसकी यथेष्ट प्रतिष्ठा नहीं है। इसमें संस्कृत शब्दों की भरमार एवं भाषा क
सौन्दर्य नहीं है। इसके लेख कभी बड़े जोशीले और कभी छिछोरपन लिये हु
होते हैं। पत्र-व्यवहारमें मज़ाक और छेड़छाड़ का अंश अधिक रहता है।
समाचार-सामग्री ठीक नहीं रहता। अंग्रेज़ी लेख भाषा की दृष्टिसे अच्छे होते हैं
किन्तु नियमित एवं व्यवस्थित नहीं होते। 'ज्ञान-चक्षु' ने अंग्रेजी सामग्री
देकर दशा ठीक करली थी। इसका मूल्य भी कम है, किन्तु इसका रंगढंग
सरकारी कहा जाता है। कोंकण प्रान्त के 'अरुणोदय' एवं 'जगन्मित्र' ये दो
पत्र अच्छे हैं। 'सूर्योदय' के लेख भी अच्छे होते हैं। 'अरुणोदय' का प्रबन्ध
उत्तम है। 'सूर्योदय' ने अंग्रेजी का झगड़ा दूर कर केवल मराठी लेख देना शुरू
किया है। बाहरी पत्रोंमें "बेलगांव समाचार" और "महाराष्ट्र-मित्र" कुछ
अच्छे हैं। किन्तु किसान लोगोंके काम की बातों का सभी पत्रोंमें अभाव है"
अंतमें, इन्हीं महाशयने प्रत्येक गाँव में लायब्रेरियोंकी स्थापना करके, समाचारपत्र
पढ़ सुनानेका प्रबंध करने पर ज़ोर दिया है। विश्रामबाग़ की शास्त्री-मण्डली ने
भी एक पत्र निकालने की तैयारी की थी। किन्तु 'ज्ञान-प्रकाश' ने इस पर
यह मज़ाक उड़ाया था कि शास्त्री पंडित और समाचारपत्र ये दोनों ही बातें तो परस्पर
विरुद्ध हैं। पर दैवयोग से उस पत्र के निकलने का मौका ही न आया। समा-
चारपत्रों की संख्या के कम होनेका कारण शिक्षा-प्रचार की न्यूनता तो था ही,
किन्तु इसी के साथ २ पोष्टेज की दर उस समय बहुत बढी हुई थी। आज कल
जिन समाचारपत्रोंपर एक पैसा पोष्टेज लगता है, उतने ही बड़े पत्रपर उन दिनों
एक आना लगता था। इसके बाद सन १८७१ से फर्वरी महीनेमें यह पोष्टेज
एक आने से घटाकर आधा आना कर दिया गया।

नई शिक्षा के कारण महाराष्ट्र के रीतिरिवाज़ सुगमतापूर्वक किन्तु अनजानी
दशामें बदलते जा रहे थे। ता. १८ सितंबर सन १८७१ के "ज्ञान-प्रकाश" में
एक सज्जनने नीचे लिखे अनुसार पचास वर्षोंमें पूना के रीतिरिवाजों में पड़े हुए
अन्तर का वर्णन किया है:— "धर्म-श्रद्धा को पंख निकल आने से अब वह
उड़ने लगी है। अँगरखे के स्थानमें कोट-कमीज पतलन और वेस्टकोट
आगये हैं। विना बढ़िया बूट और स्टॉकिंग के मनुष्य की शोभाही नहीं बढ़ती।

पुरानी पगड़ियों का रिवाज उठ गया, और अब चारों-ओर उनकी खलासी ढंग की टोपी पहनने वाले व्यक्ति नज़र आते हैं। पहले तो जाड़े की मौसिम म ही कोई २ आदमी कभी सिरपर फेंटा बांधते थे, किन्तु अब तो बार हों महीने कँफर्टर बांधे जाने लगे है। बानात की मग़ज़ीदार ऊनी बण्डियों का स्थान अब कोटों ने छीन लिया। मख़मल और किनखाब के ज़ीन की जगह लोग अब बैठक के लायक चमड़े की काठी ही घोड़े पर कसकर अपना शौक़ पूरा कर लेते हैं। पहले गर्मीके दिनों में लोग पानी में खस डाल सुगन्धित बना करते थे, किन्तु अब जिधर देखिये उधर ही लेमुनेड अथवा सोडा वॉटर की बोतल के काग की खटा खट्-खुलते सुनाई देते हैं। बिना फँसी बेंत हाथमें लिए कोई व्यक्ति घरसे बांहर नहीं निकलते। पहले शंकराचार्य एक थे, किन्तु अब तो वे घर घर हो रहे हैं! पहले घरकी ड्योढ़ी पर पहरेदार रखे जाते थे, किंतु अब उनकी जगह बपड पुच्छे कुत्ते कहीं कहीं देखने में आते हैं! आज कल कलाल लोग धनाढ्य होते चले हैं और धर्म-पथ भी तरह २ के शुरू हो रहे है इत्यादि।

सन १८६६ तक आवागमन के साधन आजकल के हिसाबसे बहुत थोड़े थे। विलायतकी डाक एक महीने में पहुँचती थी। इसी प्रकार विलायत जानेवाले हिंदुस्थानियों की संख्या भी बहुत ही कम होती थी। सन १८६८ में सिविल-सर्विस परीक्षा देनेके लिए महाराष्ट्र का पहला विद्यार्थी विलायत गया था। इसका नाम था श्रीपाद बाबाजी ठाकुर। इससे पहले बम्बई के कुछ व्यापारी अवश्य विलायत आते जाते रहते थे। श्रीपाद बाबाजी से पहले सन १८६४ में भी फीरोजशाह मेहता बैरिष्टरी की परीक्षा देनेके लिए विलायत जा चुके थे। दादाभाई नौरोजी इनसे भी पहले वहां मौजूद थे। उस समय विलायत में भारत के विद्यार्थी उँगलियों-पर गिने जा सकते थे। यदि माधवराव रानडे ब्राह्मण न होते, तो सर फीरोजशहा मेहता से पहले ही वे विलायत जा पहुँचते। किन्तु विलायत जानेपर ब्राह्मण-समाज की ओर से किये जानेवाले बहिष्कार से उस समय के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण बहुत डरते थे। सन १८७२ में विलायत में पार्लमेन्टरी कमेटी नियुक्त की गयी थी। यह भारत के जमाखर्च की जांच करनेवाली थी उस के सम्मुख गवाही देनेके लिए पूना की सार्वजनिक सभाने भी महाराष्ट्रीय प्रतिनिधियों को भेजने की योजना की थी। किन्तु प्रायश्चित्तकी कठिनाई से भयभीत होकर विलायत जाने के लिए कोई भी तैयार न हुआ। क्योंकि उन दिनों विदेशयात्रा के निषेध का विवाद जोरों पर छिड़ रहा था। किन्तु ऐसी अवस्था में भी द्रव्य प्राप्त करने की इच्छासे विलायत जानेकी कल्पना मनमें रखनेवाला एक महाराष्ट्रीय विद्यमान था; यह जानकर चित्तको संतोष होता है। सन १८७१ के "ज्ञान-प्रकाश" मे किसी गमनाम सज्जनने सम्पादक को पत्र लिखकर पूछा है कि "विलायत में मराठी स्कूल खोलनेसे

लहरी। कभी २ उसमें छिछोरपन भी आ जाता है। बम्बई के अन्य समाचार-पत्र निकम्मे है। 'ज्ञानोदय' में समाचार-सार अच्छा होता हैं, किंतु केवल धार्मिक होते है। 'स्वदेशहितेच्छु' नामक एक नया पत्र निकला है, पत्र होनहार प्रतीत होता है। मूल्य भी उसका केवल डेढ़ रुपया है। किन्तु अभी तक लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा नहीं हो सका है। पूनाके पत्रोंमें 'ज्ञान-प्रकाश' उत्तम प्रकार का पत्र है, किन्तु फिर भी 'इन्दु प्रकाश' की तरह लोगोंमें उसकी यथेष्ट प्रतिष्ठा नहीं है। इसमें संस्कृत शब्दों की भरमार एवं भाषा का सौंदर्य नहीं है। इसके लेख कभी बड़े जोशीले और कभी छिछोरपन लिये हुए होते हैं। पत्र-व्यवहारमें मज़ाक और छेड़छाड का अंश अधिक रहता है। समाचार-सारभी ठीक नहीं रहता। अंग्रेजी लेख भाषा की दृष्टिसे अच्छे होते हैं किन्तु नियमित एवं व्यवस्थित नहीं होते। 'ज्ञान-चक्षू' ने अंग्रेजी सामग्री देकर दशा ठीक करली थी। इसका मूल्य भी कम है, किन्तु इसका रंगढंग अस्थायी कहा जाता है। कोंकण प्रान्त के 'अरुणोदय' एवं 'जगन्मित्र' ये दो पत्र अच्छे है। 'सूर्योदय' के लेख भी अच्छे होते हैं। 'अरुणोदय' का प्रबन्ध उत्तम है। 'सूर्योदय' ने अंग्रेजी का झगड़ा दूर कर केवल मराठी लेख देना शुरू किया है। बाहरी पत्रोंमें "बेलगांव समाचार" और "महाराष्ट्र-मित्र" कुछ अच्छे हैं। किन्तु किसान लोगोंके काम की बातों का सभी पत्रोंमें अभाव है" अंतमें, इन्हीं महाशयने प्रत्येक गाँव में लायब्रेरियोंकी स्थापना करके, समाचारपत्र पढ़ सुनानेका प्रबंध करने पर ज़ोर दिया है। विश्रामबाग़ की शास्त्री-मण्डली ने भी एक पत्र निकालने की तैयारी की थी। किन्तु 'ज्ञान-प्रकाश' ने इस यह मज़ाक उड़ाया था कि शास्त्री पंडित और समाचारपत्र ये दोनों ही बातें तो परस्प विरुद्ध हैं। पर दैवयोग से उस पत्र के निकलने का मौका ही न आया। सम चारपत्रों की संख्या के कम होनेका कारण शिक्षा-प्रचार की न्यूनता तो था ही किन्तु इसी के साथ २ पोष्टेज की दर उस समय बहुत बढी हुई थी। आज कल जिन समाचारपत्रोंपर एक पैसा पोष्टेज लगता है, उतने ही बड़े पत्रपर उन दिनों एक आना लगता था। इसके बाद सन १८७१ से फर्वरी महीनेमें यह पोष्टेज एक आने से घटाकर आधा आना कर दिया गया।

नई शिक्षा के कारण महाराष्ट्र के रीतिरिवाज़ सुगमतापूर्वक किन्तु अनजानी दशामें बदलते जा रहे थे। ता. १८ सितंबर सन १८७१ के "ज्ञान-प्रकाश" में एक सज्जनने नीचे लिखे अनुसार पचास वर्षोंमें पूना के रीतिरिवाजों में पड़े हुए अन्तर का वर्णन किया है:— "धर्म-श्रद्धा को पंख निकल आने से अब वह उड़ने लगी है। अँगरखे के स्थानमें कोट-कमीज पतलन और वेस्टकोट आगये हैं। बिना बढ़िया बूट और स्टाकिंग के मनुष्य की शोभाही नहीं बढ़ती।

पुरानी पगड़ियों का रिवाज उठ गया, और अब चारों-ओर ऊनकी गलासी ढंग की टोपी पहनने वाले व्यक्ति नज़र आते हैं। पहले तो जाड़े की मौसिम म ही कोई २ आदमी कभी सिरपर फेंटा बांधते थे, किन्तु अब तो बारहों महीने कैंफटर बांधे जाने लगे हैं। बानात की मग़ज़ीदार ऊनी बण्डियों का स्थान अब शर्टों ने छीन लिया। मखमल और किनखाब के ज़ीन की जगह लोग अब बैठक के लायक चमड़े की काठी ही घोड़े पर कसकर अपना शौक़ पूरा कर लेते हैं। पहले गर्मीके दिनों में लोग पानी में खस डाल सुगन्धित बना करते थे, किन्तु अब जिधर देखिये उधर ही लेमुनेड अथवा सोडा वॉटर की बोतल के काग की खट खट्-खुलते सुनाई देते हैं। बिना फेंसी बेंत हाथमें लिए कोई व्यक्ति घरसे बाहर नहीं निकलते। पहले शंकराचार्य एक थे, किन्तु अब तो वे घर घर हो रहे हैं! पहले घरकी ड्योढ़ी पर पहरेदार रक्खे जाते थे, किंतु अब उनकी जगह बयड पुच्छे कुत्ते कहीं कहीं देखने में आते हैं! आज कल कलाल लोग धनाढ्य होते चले हैं और धर्म-पथ भी तरह २ के शुरू हो रहे है इत्यादि।

सन १८६६ तक आवागमन के साधन आजकल के हिसाबसे बहुत थोड़े थे। विलायतकी डाक एक महीने में पहुँचती थी। इसी प्रकार विलायत जानेवाले हिंदुस्थानियों की संख्या भी बहुत ही कम होती थी। सन १८६८ में सिविल-सर्विस परीक्षा देनेके लिए महाराष्ट्र का पहला विद्यार्थी विलायत गया था। इसका नाम था श्रीपाद बाबाजी ठाकुर। इससे पहले बम्बई के कुछ व्यापारी अवश्य विलायत आते जाते रहते थे। श्रीपाद बाबाजी से पहले सन १८६४ में भी फीरोजशाह मेहता बैरिष्टरी की परीक्षा देनेके लिए विलायत जा चुके थे। दादाभाई नौरोजी इनसे भी पहले वहां मौजूद थे। उस समय विलायत में भारत के विद्यार्थी उँगलियों-पर गिने जा सकते थे। यदि माधवराव रानडे ब्राह्मण न होते, तो सर फीरोजशहा मेहता से पहले ही वे विलायत जा पहुँचते। किन्तु विलायत जानेपर ब्राह्मण-समाज की ओर से किये जानेवाले बहिष्कार से उस समय के महाराष्ट्रीय ब्राह्मण बहुत डरते थे। सन १८७२ में विलायत में पार्लमेन्टरी कमेटी नियुक्त की गयी थी। वह भारत के जमाखर्च की जांच करनेवाली थी उस के सम्मुख गवाही देनेके लिए पूना की सार्वजनिक सभाने भी महाराष्ट्रीय प्रतिनिधियों को भेजने की योजना की थी। किन्तु प्रायश्चित्तकी कठिनाई से भयभीत होकर विलायत जाने के लिए कोई भी तैयार न हुआ। क्योंकि उन दिनों विदेशयात्रा के निषेध का विवाद जोरों पर छिड़ रहा था। किन्तु ऐसी अवस्था में भी द्रव्य प्राप्त करने की इच्छासे विलायत जानेकी कल्पना मनमें रखनेवाला एक महाराष्ट्रीय विद्यमान था; यह जानकर चित्तको संतोष होता है। सन १८७१ के "ज्ञान-प्रकाश" में किसी गुमनाम सज्जनने सम्पादक को पत्र लिखकर पूछा है कि "विलायत में मराठी स्कूल खोलनेसे

पैसे कमायें जा सकेंगे या नहीं? उस समय यह विचार असम्भवसा था। आजकल श्रीयुत कान्हेरे शास्त्री ने यहां के तत्वज्ञान के ही साथ साथ थोड़ी सी मराठी सिखलाकर इंग्लैण्डमें भी पेट भरा जा सकता है यह सिद्ध कर दिखाया है। अस्तु। इसी अवसर पर विलायत में हिन्दू मन्दिर निर्माण करने की वात भी हो रही थी। इसीको लक्ष्य कर "ज्ञान-प्रकाश" ने विनोदपूर्वक लिखा था कि अब "शंकर-पार्वती विलायत को जानेवाले हैं!" किन्तु उस समय हिन्दूसमाज की जो दशा थी वही हिन्दू देवताओंकी थी। वेभी विदेशगमन से भय खाते थे! परिणाम इसका यह हुआ कि लन्दन में हिन्दूमन्दिर की स्थापना का प्रस्ताव आजतक कल्पना के ही साम्राज्यमें विचरण कर रहा है; जबकि सर्वत्र सञ्चार करनेवाले मुसल्मानोंकी मसजिद विलायत में 'वोकिंग' में अवसे वहुत पहले ही वनचुकी है! यही नहीं वरन वहां के मुल्ला मौलवियों की वस्ती भी स्थायी हो गयी है। विलायत जानेकी सुविधाएँ और कालेपानी को लांघकर विलायत जानेके लिये दी हुई ब्राह्मण-समाज की आज्ञा, इनका वैसे तो कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जैसे २ यात्रा के लिए सुविधाएँ वढ़ती जाती हैं, उसी प्रमाणमें मनुष्य उनसे लाभ उठाकर अधिकाधिक यात्रा करने लगता है। और जिस हिसाबसे यात्रा करनेकी बुद्धि एवं क्रिया वृद्धिंगत होती है, उसी क्रमसे प्रवासविषयक धार्मिक वन्धन अपने आप शिथिल होते जाते हैं। अस्तु। सन १८६१ से वम्बई और कोंकण के बीच अग्निबोट चलने लगे। किंतु फिरभी सप्ताह में एक-आध ही वोट आती जाती थी। अतएव यह यात्रा छोटी नौकाओं में भी करनी पड़ती थी। तब तक कोंकण तट की सड़क भी तैयार न हो पाई थी, अतएव आवागमन का प्रमाण परिमित ही रहता था। पूना और वम्बई के वीच रेल चल-जाने से इधर का आवागमन वहुत वढ़चला था। और साथ ही पूना से वाहर को चारों ओर सड़के वनाने का काम भी शुरू हो गया था। सन १८६४ में कात्रज का घाट और उस की पहाड़ी सुरंग (बोगदा) तैयार हो जाने से सितारा-वेलगांव एवं वँगलौर तक का मार्ग खुल गया। डाक का काम अधिकांश भागों में घुँगरू-वाले हरकारों के ही द्वारा होता था। हाँ, पूना-कोल्हापुर के वीच, डाक का इक्का चलना शुरू होगया था। सन १८६४ में पूना शहर और छावनी में केवल एक ही डाकघर था। और सारे शहर में जो एक लेटर वक्स था, वह बुधवार वाड़े में रखा रहता था। उन दिनों के समाचारपत्रों की सवसे वड़ी शिकायत यह थी कि शहर में भिन्न २ स्थानो में पत्रादि छोड़ने के लिए लेटर वक्स, रखे जाने चाहिये।

जिन दिनों तिलक कॉलेज की शिक्षा समाप्त करके लौटे, उन दिनों महाराष्ट्र में भयंकर अकाल पड़ रहा था। अन्न रुपये का पांच सेरभी न मिलता था। फलतः सरकार को भी दुर्भिक्षनिवारण की चिन्ता हुई, किंतु उसके हाथों यह कार्य भलीभांति संपन्न न हो सकने के कारण दुर्भिक्ष में मृत्युसंख्या बहुत

अधिक बढ़गई थी। इस नैमित्तिक आपत्तिसे भी अधिक भयंकर और सच्ची आपत्ति महाराष्ट्रपर हमेशा सेंडी पड़ रही थी, वह आपत्ति भी महाराष्ट्रीय कृषकों की बढ़ती हुई ऋणग्रस्त अवस्था थी। इस दशाके उत्पन्न होने का वास्तविक कारण एकही न था। एक तो वैसे ही महाराष्ट्र की जमीन पथरीली होनेसे कम उपजाऊ है, उसमें भी फिर पानी की कमी बाधक हो पड़ती है। ताल-तलैया और नहरों का भी अभाव है, घास-पात की भी कमी है, अतएव पशुओं के लिए भी बड़ा कष्ट होता है। इन्हीं सब कारणों से किसान और कुर्मियोंका निर्वाह केवल उस पथरीली जमीन में उत्पन्न होनेवाले अध-कचरे अन्नपर ज्यो त्यों चलता है। कुर्मियोंके घर में एक तो वैसेही अपनी पूंजी नहीं होती, पुराने जमाने मे सरकरी पेशेका गाँवभरमें थोड़ा बहुत फैलाव रहता था जिससे महाराष्ट्र की नाममात्रकी सम्पत्ति का अभिसरण बहते हुए झरने कोई तरह जीवित दिखाई पड़ता था। अंग्रेजी सत्ताके स्थापित होने से निम्न श्रेणिके लोगों की दशा तो यहांतक गिरगई कि, मानों वे कटिपर्यन्त भूमि में गाड़ दिये हो या रसी से रंकटे को बांध दिये गये हो। साल अख़ीर में जमाख़र्च का मुँह न मिलाया गया कि उन्हें साहूकार का घर देखने को बाध्य होना पड़ता था। और उस घर में जहां एकबार कुर्मीका पांव पड़ा कि फिर जिस प्रकार मकड़ी किसी मक्खी को पकड़कर तत्काल अपने तंतुपाश में फाँस लेती और सजीव मृत्युका अनुभव करा देती है, यही दशा साहुकारोंद्वारा उस समय के महाराष्ट्रीय किसानों की होती थी।

यह साहूकार लोग किसी एक ही जातिके नहीं होते थे। बल्कि मारवाड़ी, गुजराती, मराठे, बनिये, ब्राह्मण सभी यह धंदा करते थे। उस समय के साहुकारी व्यवहार का ढंग ही ऐसा हो गया था कि बर्छी में फँस जानेवाले जानवर की तरह पूंछ से आरंभ करके अंतमें सींग छुड़वाकर ही बिचारा किसान बाहर निकल सकता था। उन गरीब किसानों के अज्ञान एवं कपटी साहूकार की द्रव्य-लोलुपता को क़ानून की सहायता बड़ी ही सुगमता से मिल जाती थी। किसान केवल इतनी ही बात याद रखता था कि उसने रुपये अपने हाथ से गिनकर लिये हैं। इस के बाद क़र्ज़ के दस्तावेज में उसके नाम पर क्या लिखा गया है, अथवा उसके बदले में कौनसी जमीन गिरवी या जामीन रखनी पड़ी है, या सूद और असल रक़म का हिसाब किस प्रकार रखा गया है, उसके नाम पर लिखी हुई रक़म किस प्रकार बढ़ती गई है, रसीदों में चालबाज़ी के शब्द कैसे लिखे गये हैं, अदालत में वकील ने क्या कहा और मुन्सिफने किस तरह का फैसला दिया है, इन बातों का ज्ञान उसे अपने आप कभी नहीं हो पाता था। आख़िर जब हुक्मनामा हो जाता था, उसका घर और जमीन का नीलाम होने लगता और उसे अपना घर

या खेत छोड कर जाना पड़ता था तब कहीं जाकर उसे सम्पूर्ण स्थिति की स्थूल कल्पना हो पाती। और उसके आखोंके सामने अंधेरा छा जाता। इस प्रकारके अनुभव से जब गरीब एवं सात्विक मनुष्योंके हृदयमें भी प्रतिकार-बुद्धी उत्पन्न हो जाती है तब यदि तामसी मनुष्य बदला चुकानेको उद्यत् हो जाय तो इसमें क्या आश्चर्य है! गाँव गाँव में इस प्रकार की दशा हो जाने से साहुकारोंके विरुद्ध षड़यंत्र रचे जाने लगे। उनका बहिष्कार किया जाने लगा और अन्त में अवस्था यहां तक पहुँच गई कि डाके डालकर उनके नाक--कान काट लेने और खून तक कर डालने से लोक पीछे न हटने लगे! इसके बाद सच्चोंकें साथ झूंटे भी मिल गये। असल उद्देश्य एक ओर रह गया और मनमाने ढंग से लोग जिसे चाहे उसी को लूट लेने लगे। साहूकारों के घर कब लूटे या जला दिये जायँगे, इसके लिए कोई नियम ही न रहा। कभी २ ऐसाभी होता था कि सताये हुए किसानोंकी टोलियां साहूकार के घरमें घुस जाती और उससे अपने ऋणका दस्तावेज वापस छीनकर अपने हाथोंसे उसे फाड़ डालती या यदि यह न मिलता तो उसके सारे कागजपत्र एवं जमाखर्च की वहियों को सड़कपर जमाकर उनमें आग भी लगा देती थी। अत्याचार न करनेवाले किसान भी चुप नहीं बैठे थे। उन्होंने भी कई गाँवों में बहिष्कार का आन्दोलन शुरू कर दिया था। साहूकारों का काम-काज करनेवाले महार (डोम) लोगों की रोज़ी बंद कर दी थी। उस आन्दोलन का स्वरूप यह हो गया था कि या तो साहूकार की जमीन ही कोई जोते नहीं और यदि जोते भी तो उसे लगान न दे। किन्तु इस आन्दोलन का प्रसार केवल महाराष्ट्रमेंही न था, वरन् गुजरात प्रान्त तक हो चला था। वहां के साहूकार भी प्रायः महाराष्ट्रीय साहूकारोंके ही भाई-बन्धु की ही तरह थे! फलतः महाराष्ट्रके ही साथ २ गुजरात में भी थोड़ी बहुत गड़बड़ मची। किंतु इसका अधिक ज़ोर पूना और अहमदनगर, इन दोही ज़िलोंमें रहा। अन्तमें किसान लोगोंको ऋण-मुक्त करने के लिए कमीशन बैठाया जाकर जो क़ानून पास हुआ, वह केवल महाराष्ट्र के ही लिए था; उन दिनों तिलक कॉलेज में पढ़ते थे अतएव इन दंगे-फसादों के समाचार उन्हें समाचारपत्रों में पढ़ने या लोगोंसे सुनने को मिला करते थे। इन उपद्रवोंके कारण लगभग हजार मनुष्य पकड़े गये थे और उनमें कोई पांच सो व्यक्तियों पर छोटे बड़े दंगे के अपराध भी सिद्ध हुए होंगे। सन १८७६ के दुर्भिक्ष में राव बहादुर रानड़े की प्रेरणा से पूना की सार्वजनिक सभा ने जो आन्दोलन किया था उसका परिणाम विद्यार्थी दशामें भी तिलक के हृदयपर अवश्य हुआ होगा। आगे चलकर, सार्वजनिक सभा के सर्वे सर्वा बनजानेपर स्वयं टिलकने सरकारकी दुर्भिक्ष-व्यवस्था एवं लगान वसूलीके जुल्मों के विरुद्ध जो आन्दोलन किया था, उसका बीज हमारी धारणाके अनुसार इस बीस-वर्ष पूर्वकी स्मृति में हो सकता है।

उच्च कोटि की राजनीति के विचार से देखते भारत के सिक्काटपर पार्लमेंट के नियमानुसार दासता का सिक्का जमना अभी शेष था। यह कार्य आगे चलकर चार वर्ष पश्चात्, लार्ड लिटन के शासनकाल में जब दिल्ली के बड़े दरबार में महारानी विक्टोरिया के 'भारत की सम्राज्ञी' का पद ग्रहण करने की घोषणाके समय पूरा हुआ तबतक भारत और इंगलैण्डका परस्पर सम्बन्ध क्या था इसका ठीक २ खुलासा कोई कानूनदांभी कर सकता या नहीं, इस विषय में हमें सन्देह है। यदि कुछ कहा भी जा सकता, तो केवल यही कि दिल्ली के बादशाह से प्राप्त किये हुए मुख्तारनामे के आधारपर, या रावबाजी (पेशवा) के दिये हुए दानपत्र एवं सितारा के महाराज को राज्य-च्युत करके उनका राज्य हड़प बैठने के आधार पर,-सारांश इस तरह के कच्चीबुनियाद पर ही महारानी विक्टोरिया के राज्य की नींव रची गई थी। कम्पनीसरकार के स्थानपर रानी का राज्य अवश्य कायम हो गया, किन्तु जो बात मूल में ही नहीं थी वह रानी का राज्य होने से कहाँ से आती? जितना कानूनी अधिकार कंपनी को प्राप्त था, वही महारानी को भी था। रानी एलिजाबेथ के जमाने में सत्रहवी शताब्दि में ईस्ट इण्डिया कम्पनी और विलायत सरकार का जो कानूनी सम्बन्ध प्रस्थापित हुआ था आगे चलकर उनके कई रूपान्तर हो गये थे उनमें सन १८५८ का कानून ही स्थायी एवं निर्णायक व्यवस्था के रूप में इस कानून से भारत की जनता और विलायत सरकार के बीच का सम्बन्ध निश्चित न हो सका न प्रकट ही हो सका। असल में प्रजाकी स्वीकृति ही, राजा के लिए सत्ताधारी होने एवं राज्योपभोग का अधिकार पत्र कही जा सकती है यह अधिकारपत्र महारानी विक्टोरियाद्वारा भारतसम्राज्ञी का पद ग्रहण करने एवं प्रजा के द्वारा वह अधिकार लेने देने के कारण विलायतसरकार के पल्ले में पड़ गया। किन्तु इससे दो चार वर्ष पूर्व ही से रानी साहिबा को 'भारत-सम्राज्ञी' की उत्कट इच्छा हो रही थी, और इसकी पूर्ति भारतवासियों की ओर से किस रूप में की जायगी। इसका पता लगाने के आशय से उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र एडवर्ड प्रिन्स ऑफ वेल्स को भारत में भेजा था। इनका स्वागत जब यहां मनोनुकूल हुआ तब इंग्लैण्ड के राजा-रानी के भारतके सम्राट्-सम्राज्ञी का बनाने का विचार निश्चित किया जाकर थोड़े ही दिनों बाद, कार्यरूप में परिणत कर दिया गया। इधर भारत के राजा-महाराजा एवं संधि-पत्र के कारण कृपापात्र बननेवाले मित्रों पर भी अंग्रेजी-राज्य की सत्ता किस हद तक चल सकती है, इसका परिचय बड़ौदा के मल्हारराव गायकवाड़पर विषप्रयोग का दोषारोपण कर तथा उन्हें पदच्युत कर देने से मिल ही चुका था। बम्बई इलाके का सम्पूर्ण कारोबार एक गवर्नर एवं दो कौंसिलरों के हाथ में था। धारा सभामें लोक-नियुक्त सभासद एक भी न था,

और सर्कार के नियुक्त किये हुए सदस्यों में कुछ ऐसेभी थे, जिन्हें अंग्रेजी अक्षर-ज्ञान तक न था।

इस पुरानें ज़माने में महाराष्ट्र की राजनीति बिलकुल मामूली थी। यह तक कि स्थानिक-स्वराज्य के भी अधिकार प्राप्त न रहने से किसी छोटे एवं गंदे मार्ग को साफ कराने की शिकायत भी राजनैतिक समझी जाती थी। गया हुआ 'स्वराज्य' शब्द अलबत्ता लोगों को याद था; किन्तु प्राप्त किये जानेवाले 'स्वराज्य' का उच्चार तो क्या किंतु उसका ध्यानतक किसीको न होता था। अखिल भारत की राष्ट्रीय-महासभा भी जब बीस वर्षकी हो जानेतक 'स्वराज्य' शब्द का उच्चारण न कर सकी तो फिर महाराष्ट्र की आरंभिक राजनीति में उसकी कहां से कल्पना होती? यद्यपि उस समय के लोगों को इस बात का पता अवश्य लग चुका था कि राजनैतिक दृष्टिसे हम अवनत हो रहे हैं किन्तु उसे रोकने के लिए लोगों में जिस जागृति अथवा संघशक्ति के निर्माण होने की आवश्यकता थी, उसका अभी केवल आरंभही हुआ था। जागीर के टांके (इनाम कमीशन) और नक्द पेन्शन का इन्तजाम, शराबका प्रचार, जंगलकी वृद्धि, आदि विषयों में राजकारोबार का असर प्रतीत होने लगा था, और हानीका अनुभव होने लगा था। किन्तु व्यक्तिशः अधिकारियों से निवेदन करने के सिवाय राजनैतिक आन्दोलन भी कोई चीज़ होती है; इस कल्पना का जन्म अभीं होना बाकी था। साहब लोग और ख़ासकर सोल्जर (सोजिर) तो हिंदुस्तानियों के साथ इतनी उन्मत्तता और अप्रतिष्ठाके साथ वरतने लगे थे कि लोगों के मुँहसे अथवा समाचार-पत्रों में प्रकाशित दर्दभरी कहानियोंको सुनकर लोग मन मसोसते हुए रह जाते थे। किंतु उस झल्लाहटके हिसाब से कठोर बातें प्रचलित समाचार-पत्रोंमें नहीं निकल सकती थीं। लोक-क्षोभ भी कहीं २ एक साथ उठता था। हिंदुओंको भ्रष्ट करनेवाले कई मिशनरियों की खूब पिटाई हुई थी, और सन १८७१ में तो वसई (जि. बम्बई) में इनकमटेक्स कलेक्टर मि. हंटर को पचीस आदमियोंने पकड़कर मारते २ बेदम कर दिया था। हाट-बाजारमें किसी गोरे अधिकारीको भीड़में घेरकर, धक्के-मुक्के लगा देनें की घटनाएं भी होती थीं। सन १८५७ का बलवा यदि पुराना कर दिया जाय, तो भी कलकत्ता हाईकोर्ट के जास्टिस नॉर्मन और गवर्नर जनरल लॉर्ड मेयो जैसे उच्च पदस्थ गोरे अधिकारियों की हत्या हो जाना कोई मामूली बात नही कहीं जा सकती। प्रसंग-विशेष के अनुसार यह बात भी लोगों के ध्यान में आ चली थी कि अंग्रेजों की इज्जत कोई ऐसा अभेद्य-कवच नहीं है जिस पर हाथ न डाला जा सके। किंतु फिर भी, चारों ओर से सार्वजनिक एवं स्थायी राजनैतिक आन्दोलन अभी शुरू नहीं हो पाया था।

श्री. तिलक के सार्वजनिक कार्योंमें योग देनेसे पूर्व, महाराष्ट्र की पुरानी पीढ़ी की हालत कैसी थी, इसका हाल खुद तिलकने ही एक बार प्रकट किया था। ता. १८ मार्च सन १९०१ के दिन श्री विष्णुशास्त्री चिपलूनकर की पुण्यतिथि (बर्सी) के निमित्त तिलकने व्याख्यान दिया था, जिसमें उन्होंने शास्त्रीजी की स्मृति-विषयक कठोर टीका का समर्थन करते हुए उपर्युक्त विषयपर निम्न आशय का विवेचन किया था :—

प्रत्येक समाजमें नेतृत्व प्राप्त करनेके लिए केवल विद्वत्ता से ही काम नहीं चल जाता। पेशवाई नष्ट होनेके बाद भी कुछ दिनोंतक पुराने खान्दानी लोगों की महत्ता कायम बनी हुई थी। जनता एवं सरकार दोनोंमें उनका मान था। नई शिक्षा भी उस समय तक बढ़ ना पाई थी। अतएव उन दिनों से खान्दानी लोग नेता माने जाते किन्तु कुछही दिनों में निरुद्योगी-अतएव निरुपद्रवी बन गये! धीरे २ सरकार में भी उनकी इज्जत कम हो गई और तब उनकी दशा दंतनख-विहीन केसरी की तरह हो गई। "जिस प्रकार पिंजरेमें पड़े हुए सिंहको छिपो, और छोकरे भी ककर मार सकते हैं, वही गत इनकी भी हुई। इसके बाद जब नई शिक्षा के स्कूल खुले तब उनमें शिक्षा प्राप्त करनेवालों को हथियाना ही सरकार को सुविधा-जनक प्रतीत हुआ। राज्यकारोबार की दृष्टि से यही उचित भी था। किन्तु इस पाठशालाओं में धर्म एवं नीति की शिक्षा का प्रबंध नहीं किया गया था। अतएव आरंभमें शिक्षा पानेवालों सुशिक्षितों की मनोदशा भयंकर एवं शोचनीय हो गई। सनातन समाज-नियमों पर उन्हें अश्रद्धा हो गई। शिक्षा थोड़ी होते हुए भी दोष युक्त थी, किन्तु उतने ही से ज्ञान के साथ गृहस्थी चला सकने योग्य वेतन और राजसम्मान प्राप्त हो सकता था; अतएव इधर अधिकार-मत बढ़ने लगा और उधर समाजका मज़ाक उड़ाने की प्रवृत्ति बढ़ चली। सन १८३७ से १८७४ तक के बीच सुशिक्षित व्यक्तियोंकी दोतीन पीढ़ीयां हो गई। इनमें पहली पीढ़ी थी, गोपालराव हरी की कही जा सकती है। इस पीढ़ीमें शिक्षा-संस्कार थोड़ा था, और खुद गोपालराव इस विषय में अपवादवत् थे। दूसरी पीढ़ी माधवराव रानडे और कुंटे की थी। इस पीढ़ीके लोगो को पहली पीढ़ीसे भी समाज-बंधन का भय कम था। इसका परिणाम यह हुआ कि विद्या, नीतिमत्ता, धर्मनिष्ठा, व्यवस्थित आचरण और गृहस्थिति इनका परस्पर जो सम्बन्ध हो सकता है, और जिसके बिना विद्वान लोग भी नेता बनकर देश का उत्कर्ष कर सकने योग्य सिद्ध नहीं हो सकते उसी सम्बन्ध-मर्यादा को आरंभ मेंही अंग्रेजी शिक्षा ने तोड़ दिया। फलतः उन शिक्षित युवकों की दृष्टि सामाजिक स्थिति के दोषोंपर ही सबसे पहले पड़ने लगी। विदेशी शिक्षक एवं मिशनरी लोगों ने भी

इस कार्य में यथेष्ट सहायता दी। ऐसी दशा में निरे तर्कवाद के उत्तर से समाज की रक्षा हो सकना कठिन था। फिर भी यह बात नहीं थी कि समाज-सुधारकों में मिशनरियों के आक्रमण रोक सकने की बुद्धिमत्ता न हो। किन्तु उनको इस बात का विश्वास न हुआ कि ब्रह्मसमाज या प्रार्थनासमाज जैसे नये धर्मपंथ स्थापित कर समाज की रक्षा कर सकने की कल्पना भ्रमयुक्त अथच हास्यास्पद है। वे यह न समझ सके कि सरकारी इज्जत और थोड़ी बहुत अंग्रेजी शिक्षा की सकुंचित सामग्री ही नया धर्म प्रचलित करनेवाले के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती। अपने नये धर्म-प्रचार के जोश में आकर उन्होंने ईसाई धर्म के प्रचार में तो किसी प्रकार की रुकावट न डाली। किन्तु अपने को अलबत उन्होंने बहिष्कृत लोगों की तरह बना लिया। इस नई प्रजा के मनमाने आचार-विचार एवं आहार पर जब लोगों की दृष्टि पड़ी तब वे इन्हें हेय दृष्टि से देखने लगे। हजारों वर्ष पुरानी समाज व्यवस्था को बातकी बात में उठा देने की ढींग मारने वाला व्यक्ति यदि समाज में उपहासास्पद सिद्ध हो, तो इस में लोगों का क्या दोष? किन्तु सन १८७४ के बाद नई प्रजा को इस बात का विश्वास हो गया कि केवल धार्मिक और सामाजिक सुधार से ही देश का कार्य नहीं चल सकता। इस बात की कल्पना उत्पन्न होते ही कि,—शिक्षा का उपयोग समाज के लिए सरकारी नौकरी के सिवाय अन्यान्य रूप में भी किया जा सकता है, और संघशक्ति के द्वारा काम करने की बुनियाद डालने से उसका उपयोग विशेष रूपसे हो सकेगा—नेतापन का ध्येय बदल गया। गम्भीर विचार और निरन्तर के अभ्यास एवं सदाचार के साथ २ नीति-धैर्य अथवा स्वार्थत्याग के गुण पुराने आन्दोलन के नेताओं में नही दिखाई पड़ते थे। बल्कि उनके आचरण में एक प्रकार की शिथिलता और बेहूदगी झलकती थी। अपने व्यवहार के द्वारा वे देश के युवा समाज को अनियमितता एवं नीति-दौर्बल्य का पाठ पढाते थे। उफनता हुआ दूध अन्तको जिस प्रकार आग में गिरकर भस्म हो जाता है, वही दशा आरंभिक दो तीन पीढीयों के नेताओं के आन्दोलन की हुई और तभी पता लगा कि नेता बनने के लिए निरी बुद्धिमत्ता के सिवाय और भी किसी बातकी आवश्यकता होती है, श्री. विष्णुशास्त्री की आलोचना का रुख किसी व्यक्ति की अपेक्षा की अव्यवस्थितता की ओर ही विशेषरूपसे होता था।

तिलक–चिपलूनकर की आलोचना का एक अत्यंत सौम्य उदाहरण माधवराव कुंटे का हो सकता है। माधवराव कुंटे का स्थान विद्वत्ता की दृष्टि से रानडे से बाद का था और पूना के हाई स्कूल की हेडमास्टरी जैसा तत्कालीन उच्च एवं सम्माननीय पद भी उन्हें मिल चुका था। वे उत्तम प्रती के वक्ता भी थे। "Vicissitudes of Aryan Civilization" नामक उनकी बनाई हुई पुस्तक को

देखकर यह कहा जा सकता है कि गहन विषयों में भी उनकी गति कम न थी। उद्योगशीलता के नाते भी उनकी ख्याति थी। उन्होंने पेन्सिल बनाने का एक कारखाना चला रक्खा था। कुछ दिनों गान-विद्या का अभ्यास भी उन्हों ने किया, किन्तु उनके पाण्डित्य एवं स्वभाव में एक बड़ी त्रुटि थी जिसको निदर्शन पदपद पर होता था। लिखने में ये बड़े तेज़ थे, किंतु उसमें भी यह नियम नहीं था कि ये लिखते २ किधर को बहक् जायँ गे। जब बोलने को खड़े होते थे तो ऐसा जान पड़ता था मानों अंग्रेजी भाषा की मूसलधार वर्षा हो रही है, किंतु उस वर्षा में कहाँ की मोरियाँ आ जायँगी, इसका कोई ठिकाना नहीं। गायन-शास्त्र का अभ्यास एकान्त में करना कठिन होता है, किन्तु कुंटेजी के कर्कश स्वर की तालीम शुरू होते ही बिचारे मुहल्लेवाले घबरा उठते थे। बेहूदा इतने थे कि अपनी भावुक मां को कह उठते थे कि 'जितने मुझे बाप थे उतने ही ब्राह्मण श्राद्ध भोजन के लिए निमंत्रण करूं गा।' किन्तु इसीके साथ २ समय पड़नेपर पैरों में घुंघरू बांधकर करताल बजाते हुए भजन करने को भी तैयार हो जाते थे। स्कूल में लड़कों को शिस्त और अभ्यास की शिक्षा देनेवाले हेडमास्टर खुद किस प्रकार बैठते और लड़कों को क्या बतलाते थे, इसका यदि हम वर्णन करें तो वह शिष्टाचार के विरुद्ध होगा। सन १८७२ में "ज्ञानप्रकाश" में "मैं कौन हूं और मेरा नाम क्या है?" इस शीर्षक से एक पत्र प्रकाशित हुआ था। जिसमें दिखलाया गया था कि कुंटेजी लड़कों से संभाषण करते समय कैसे २ भोंडे शब्दों का प्रयोग करते थे। हमारा ख्याल है कि, और संभवतः कुंटे कोही लक्ष्य करके विष्णुशास्त्री ने यह लिखा था कि 'संसारभर के समस्त कुशब्दों को इनके सन्मुख रखदिया जाय तो भी वे इनके लिए अपर्याप्त होंगे'।

उस पुरानी महाराष्ट्र पीढ़ी का यह वर्णन जो भी यथार्थ है, तथापि कहा जा सकता है कि उस समय भी अंग्रेजी राज्यके विषयमें लोग लबालब राजभक्त न थे। मराठेशाहीको नष्ट हुए अभी केवल पचासही वर्ष बीते थे, अतएव उसकी याद इतनी जल्द कैसे भुलाई जा सकती थी? यही नहीं, बल्कि वह कई-एक लोगों के दिमाग में उछल २ कर प्रकट भी होती थी। इस दृष्टिसे तिलक के पहलेके महाराष्ट्रीय राजनैतिक इतिहास में वासुदेव बळवंत फड़के का विशेष स्थान है। देश के लिए उन्मत्त बनकर आत्मघातक के प्रयत्न करनेवाले लोगोंकी परम्परा महाराष्ट्र में बहुत पुरानी है। माधवराव रानडेने सरकारी नौकरी करते हुए एक साधारण किन्तु मर्यादासुन्दर राजनैतिक क्षेत्र निर्माण किया था। किन्तु फड़केने इससे भी आगे बढ़कर सरकारी नौकरी में रहते हुए ही विद्रोह का आन्दोलन मचा दिया था। इन दोनों उदाहरणों से इस बात का पता लग सकता है कि महाराष्ट्र में सरकारी

नौकरी की अवश्यकता बहुत तीव्र रहती है। पर राजसेवा का परिणाम नौकरों के दिल पर अधिक नहीं पड़ सकता था। बंगाल के होनहार युवाओं की तरह फड़के के चित्र में भी यह बात जम गई थी कि राजनैतिक आन्दोलन के लिए सरलता-पूर्वक न मिल सकनेवाला द्रव्य दूसरे उपायोंसे यथेष्ट प्रमाण में प्राप्त कर उसके बलपर सरकार की जड़ हिला देना चाहिए। फड़केने निजी तौर पर शिकारी और फौजी पेशेके सब पैंतरे सीख लिये थे। सन १८७६-७७ के अकाल में रामोशी आदि लोगोंद्वारा डाले हुए डाकों का मुहूर्त लेकर फड़के ने अपना उद्योग आरंभ कर दिया। इसे डाकू लोगों को ही आरंभमें उन्होंनें अपने साथी बनाया। किन्तु साध्य-साधन का साथ जमने जैसा न था। उन डाकुओं ने फड़के के उच्च ध्येय की पर्वाह न करते हुए केवल डाकेज़नीकाही धंदा शुरु कर दिया। आखिर इस कणकमय जालसे फड़के साफ न निकल सके, और अंतको वे विद्रोही ठहराये जाकर फाँसीपर चढ़ा दिये गये। नानासाहब पेशवेके बाद यदि किसी का नाम सुनकर अंग्रेजों के होश उड़जाते थे तो वह व्यक्ति एकमात्र फड़के ही था। वासुदेवराव फड़के के दंगोंकी अद्भूतरसात्मक कहानियां आजभी सुनी जाती हैं। कहा जाता है कि तिलक का एक निकट-सम्बन्धी भी इस मण्डली में शामिल था। बहुत संभव है कि उसकी जवानी तिलकको भी आपने कॉलेज के शिक्षा काल में कितनीही मनोरंजक घटनाओं के वर्णन सुनने को मिले होंगे।

किन्तु वासुदेव बलवंत फड़के जैसे लोग अपवादात्मक ही कहे जा सकते हैं। यह एक मानी हुई बात है कि राजनैतिक-प्रगति का वृद्धि मंदगति से आगे बढ़ने पर ही स्थायी रूपसे होनेवाली थी। जिस प्रकार समुद्रमें ज्वार आनेपर पहली से दूसरी लहर अधिक ज़ोरदार एवं दूरतक जानेवाली होती है और दूसरी से तीसरी जिस प्रकार अधिक प्रबल होती है, उसी प्रकार महाराष्ट्र की राजनैतिक वाद क्रममें भी पहिली पीढ़ीसे दूसरी अधिक ज़ोरदार और उससे आगे की पीढ़ी और भी अधिक स्वतंत्र-विचार एवं स्वार्थ-त्याग की वृद्धिवाली निकली और इसी परम्परासे वह विष्णुशास्त्री चिपलूनकर तक आ पहुँची थी। श्री. चिपलूनकरने आरंभ में नौकरी करके उसके बाद जो कार्य आरंभ किया, उसे श्री. तिलक और आगरकरने बिना नौकरी किये ही शुरू कर दिया, यह भी राष्ट्रीय भावना की नैसर्गिक परिणति के ही अनुकूल कार्य था। इस दृष्टिसे उपर्युक्त सामान्य विवेचन को समाप्त करके, तिलकसे पहले की दो तीन पीढ़ियों में उत्पन्न होनेवाले पूना और बम्बई के चार-पांच प्रधान महाराष्ट्रीय सज्जनों के संक्षिप्त चरित्र यहां, देना आवश्यक समझते हैं। ऐसे चरित्र जितने भी दिये जायँ, कम ही होंगे, किन्तु स्थानाभाव के कारण चार-पांच ही दिये जाते हैं। ये चरित्र उस समय के

एक प्रकार के नमूने कहे जा सकते हैं, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें कालक्रम के अनुसार लगातार प्रगति का ही निदर्शन होता जाय गा।

डॉ० भाऊ दाजी लाड नामक सज्जन तिलक से पहले की पीढ़ी के एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे। इनका मूलवंश गोमान्तकीय (गोवा) था। सन १८१८ में इनका जन्म हुआ, बाल्यावस्था में घर की गरीबी के कारण जब ये बम्बई आये, तब आरंभ में मिट्टीके खिलौने बना २ कर उनकी आयसे अपना पेट भरते थे। कुछही दिनों बाद ये शतरंज खेलने में विशेष प्रविण हो गये। फलतः इस कला के कारण बड़े २ लोगों के ही साथ २ बम्बई के गवर्नर तक से इनका परिचय हो गया। और उन्होंने इस होनहार युवक के जिवन को बिना शिक्षा के व्यर्थ नष्ट होता देख "केवल भाऊ के ही लिए स्कूल कायम करवाया।" कहा जाता है कि बम्बई में राठी की यही पहली सरकारी पाठशाला थी। (महाराष्ट्र सारस्वत, शर्मल सन १२२ पृ० ३१) स्कूल में भर्ती होने पर ही वर्षवाद ये ग्रैंट मेडिकल कॉलेज क पहुँच गये। इस कॉलेज के सबसे पहले G. G. M. C. भाऊदाजीही थे। दया, क्षमा, शान्ति एवं मधुर भाषिता जैसे स्वाभाविक गुणों में शिक्षा का जोड़ हो जाने से उनकी डॉक्टरी खूब चली। अंग्रेजों के लिए बड़े प्रिय डाक्टर बन गये, उन लोगों में इनका नाम डॉक्टर बॉव पड़ गया था। इधर अपने समाजके गरीब, आधारहीन लोगों के भी वे सहायक थे। बम्बई के नार्थब्रुक पार्क की स्थापना उन्हींने गरीबों के लिए, स्मारक आन्दोलन से लाभ उठा कर, की थी। विठोबा मल्हारी नामक एक गरीब दर्जी पर अन्यायपूर्वक चलाये जानेवाले मुकद्दमें ने बम्बई में एकबार बड़ी गड़बड़ मचा दी थी। उस समय डॉ. भाऊ दाजी ने हजारों रुपये खर्च कर उसके पक्ष में न्याय करवाया था। डॉ. भाऊ दाजी दो बार बम्बई के शेरिफ बनाये गये थे। अपने डॉक्टरीके धन्देके ही साथ २ उन्होंने विद्यार्जन एवं साहित्यसेवा भी खूब की। शिलालेख एवं ताड़पत्रों की खोज करने का उन्हें बड़ी धुन थी। इस विषय पर उन्होंने कुछ लेख भी लिखे हैं। वनस्पतिशास्त्रपर भी कुछ पुस्तकें उन्होंने बनाई, और साधु-संतोंकी कृपा से कुछ अद्भुत जड़ी-बूटियां प्राप्त कर रक्तपित्त (कोढ़) की अचूक औषधिका भी आविष्कार किया। हिंग्रेजी भाषा के मर्मज्ञ विद्वान एडवर्ड पेहेंटसेक को पागल की हालत में एक भटियारखानेमें चिलम फूँकते देख, डॉ. भाऊ दाजीने उसे वहांसे अलग करके थोड़ी-सी आर्थिक सहायताद्वारा सन्मार्गपर लगा दिया था। इन महाशय का डॉक्टर साहब की सहायता से यहांतक सुधार हुआ कि विलसन कॉलेज मे ये लैटिन भाषा और गणित के प्रोफेसर बनाये दिये गये थे। डॉ. भाऊ की नाट्यकला में भी बड़ी रुचि थी। सांगलीकर नाटक मण्डली जब बम्बई में पहुँची तब उसके लिए

अपने यहां टिकटघर खोलने से लगाकर जितनी भी बातों की आवश्यकता होती, उन सब का प्रबंध ये शुरू कर देते थे। रावसाहब मण्डलिक के ये ख़ास मित्रों में से थे। सामाजिक विषयों में नवीन और पुरातन मतों का सम्मेलन करने में ये बड़ी ही कुशलता दिखलाते थे। सन १८७३ में इन का शरीरांत हो गया।

श्री. महादेवशास्त्री कोल्हटकर भी उस समय के एक उत्कट विद्वान एवं रसिक पंडित थे। ये असल में श्री. क्षेत्र वाई के रहनेवाले थे। पूना की पाठशाला में ज्योतिष एवं व्याकरण का अभ्यास कर लेने पर स्कॉलरशिप देकर पांच वर्ष के लिए अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जिन विद्वान एवं युवा पंडितों को सरकारने कैंडी साहब की देखरेख में रक्खा था, उनमें कोल्हटकर मुख्य थे। बम्बई में इन्होंने श्री. बालशास्त्री जांभेकर के पास शिक्षा प्राप्त की थी। इसके बाद सन १८५१ में जब कि पूने की संस्कृत पाठशाला और अंग्रेजी स्कूल मिलकर पूना कॉलेज की स्थापना हुई, तब उसमें श्री. कोल्हटकर शास्त्री मराठी के प्रोफेसर बनाये गये थे। इसके बाद ये सेन्ट्रल बुक डिपो के क्यूरेटर बनाये गये थे। उसी हालत में ४३ साल की ही अवस्था में सन १८६५ में स्वर्गवासी हो गये। ये महाशय बड़े वक्ता एवं सुलेखक के नाते विख्यात थे। उनके व्याख्यान सुनने के लिए बाहर के लोग भी आया करते थे। कोलंबस-चरित्र, अर्थशास्त्र, ओथेल्लोका मराठी अनुवाद, आदि पुस्तकें और कुछ कविताएँ भी उनकी बनाई हुई पाई जाती हैं। यथेष्ट अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त न हो सकने के कारण, शिक्षा-विभाग में उनकी समुचित पद-वृद्धि न हो सकी। किंतु फिर भी, महादेव शास्त्री उस पीढ़ी के एक प्रधान व्यक्ति के नाते विख्यात थे।

उस समयके आदर्श आदमियो मे श्री. गोपालराव हरि देशमुख प्रधान व्यक्ति थे। इन की शिक्षा आरंभ से ही बहुत थोड़ी थी, पर फिर भी अपने प्रयत्न के बलपर इन्होंने उसे बहुत कुछ बढ़ा लिया था। इतना ही नहीं, वरन उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही विद्यार्थी की तरह ज्ञान संपादनके कार्य में बिता दिया। इन्हें हम लेखक या ग्रंथकार नहीं कह सकते। क्यौंकि इनके प्रायः सभी लेख टिप्पणियों के रूप में ही होते थे। अर्थात् उसमें कुछ न कुछ नई ज्ञातव्य बात अवश्य ग्रथित की हुई रहती थी। ये टिप्पणियां उनके निज के ही उपयोग के लिए होती थी, पर फिरभी उन्हें वैसे ही रखकर उनकी सहायतासे निष्कर्षरूप एक-आध निबंध लिखने का उन्होंने कभी प्रयत्न नहीं किया। हां; इतनी बात अवश्य थी कि वे जैसे २ उन टिप्पणियों को तैयार करते थे वैसेही वे लोगों की जानकारी के लिए उन्हें प्रकट भी कर देते थे। जो कोई उनसे मिलता उसीसे बात-चीत करके वे नई जानकारी प्राप्त करते, अंग्रेजी पुस्तकें पढ़कर उनपर से भी टिप्पणियां तैयार कर लेते, और इसके

बाद किसी समाचार पत्र में वे उन्हें छपवा देते थे। "लोकहितवादी" के नामसे इनके लिखे हुए अधिकांश लेख लगभग इसी प्रकारके कहे जा सकते हैं। इनके ग्रंथोंको विद्यार्जन की दूकान की रोकडकी उपमा दी सकती है। टिप्पणियों का छापकर प्रकाशित करना, एक अजीबसा बात जान पड़ती है। किन्तु उन दिनों प्रेस और समाचारपत्र दोनोंही एकदम नई वस्तु थी अतएव लोगों के लिए आश्चर्य में डाल देनेवाले थे। ऐसी दशामें समाचारपत्रोंमें कोई क्या छपवा सकता है, इसका कोई नियम ही न था, और जो कुछ छापा जाता उसे उस पत्र के पाठक एक नयी बात समझते थे। अन्य देशोंमें भी जब मुद्रणकला नयी २ थी, तब वहां के समाचारपत्रोंमें भी इसी प्रकार के टिप्पणात्मक लेख निकलने का पता लगता है, चर्चा और वाद-विवाद ये दोनों ही बातें उस समय के लिए यद्यपि नई न थी, किन्तु फिर भी समाचारपत्र इतने अधिक न थे कि उनमें वाद-विवाद होता। सार्वजनिक आन्दोलन का उस समय नाम भी न था। ज्ञानार्जन का व्यापार और विनिमय आजकल थोकरूप में होता है, उन दिनों वह फुटकररूप में होता था। जब किसी प्रान्त में एक-आध ही छोटासा समाचारपत्र होता है तब उसे दूसरों से विवाद करने के लिए न तो स्थान ही न मौका ही होता है। आजकल समाचारपत्रों के लेखोंको व्याख्यान या संभाषण अथवा पंडित-सभा के वाद-विवाद का स्वरूप प्राप्त है। उस पुराने समय के यह बात न थी। उस समय के लेख केवल आत्मगत भाषण की तरह थे। उस समय के समाचारपत्र आधुनिक पत्रों से कहीं अधिक अपने नाम को चरितार्थ करते थे। बाजार-हाट, चौमुहाने अथवा अड्डेपर या किसी भीड़ में परिचित व्यक्तिसे भेट हो जाने पर चींटियों की भाँती जिस तरह हम मुंह मिलाकर क्षणमात्र में ही परस्पर बातचीत कर आगे बढ़ जाते है, उसी प्रकार उस समय के समाचारपत्र किसी बात का संक्षिप्त विवरण देकर अंतमें जाते २ एक-आध वाक्य आलोचना का भी लिख दिया करते थे। उस समय भी लिखनेवाले अपना स्वतंत्र मत रखते थे। किन्तु जिस प्रकार मत प्रतिपादन के लिए आजकल खींचातान की जाती है, वह बात उस समय न थी। बहुत हुआ, तो लोग बातचीत में अपना मत प्रकट कर देते थे। किंतु उसकी साधक-बाधक चर्चा कभी न होती थी। उस समय के समाचारपत्रों को यदि खदान से निकाले हुए अनगढ़ हीरे के पत्थर कह दिया जाय तो आधुनिक पत्रों की, उसी पत्थर को घिस कर पहलूदार बनाये हुए, एवं अपनी किरणों का जाल फैलानेवाले गुलाबी फूलके हीरे से समता की जा सकती है। उस समय के समाचारपत्र पढ़ना ऐसा था, मानों किसी अँधेरी पहाड़ी सुरंग मेंसे उसके दूसरे सिरे पर उजेले में पड़ी हुई किसी वस्तु को देख रहे हैं। आजकल के समाचार पत्र

तो इस प्रकार प्रतीत होते हैं, मानों हम किसी प्रदर्शनीमें रखे हुए कृत्रिम काँच महल में खडे हो ! जिधर देखिये उधर ही एक की ही अनन्त मूर्तियां दृष्टिगोचर होने लगती हैं ।

गोपालराव हरी "क्षणशः कणशश्चैव" के सुप्रसिद्ध न्यायानुसार कण कणके क्रमसे स्वयंविद्या-संपादन करनेवाले एवं उसे लोगों में प्रचलित करनेवाले आदर्श गुरू थे। उनकी पुस्तकें देखनेसे यह बात ध्यान में आ जाती है। उनके विद्या-व्यासंग एवं बहुश्रुत वृत्तिकी प्रशंसा करते समय विष्णु शास्त्री चिपळूनकर द्वारा उनकी कीसी आलोचना का कुछ भाग छोड भी दिया जाय तो वह अनुचित न होगा। वे सरकारी नौकर, रावबहादुर एवं सुधारक न होनेपर भी सुधार-प्रिय थे, इसलिए शास्त्रीजीने इनपर आलोचनीका प्रहार किया था। किंतु 'लोकहित-वादी' की बुद्धि शुद्ध थी और उनके मनमें भी कोई बुरी बात न थी। 'हमारे देशभाईयों में सांसारिक ज्ञान की कमी है, अतः वे अपनी दृष्टि-मर्यादाको जितनी ही अधिक विस्तृत करें गे, उतने ही प्रमाणमें उनका हित होगा। पुराने रीति-रिवाजों में रद्दोबदल अवश्य होना चाहिये, और यदि अपने हाथों प्रत्यक्ष कोई कार्य न भी हो सके तो भी कमसे कम, मनुष्य को ज्ञान-समृद्ध तो अवश्य बन जाना चाहिये।' यही श्री. गोपालरावजी का मुख्य उपदेश होता था। वे अपनी बुद्धिमत्ता के ही बलसे जिला जज्जके पदपर आसीन हो सके थे। और सन १८६०-६२ के लगभग हिन्दूधर्मशास्त्र के आधुनिक निर्णयोंका "डाइजेस्ट" अर्थात व्यवस्थित संग्रह तैयार करने के लिए सरकार की ओरसे वह काम इन्हीं को सौंपा गया था। सन १८८८-८९ में जब ये वृद्ध महानुभाव बहुत ही जराजीर्ण हो चले थे, तब यदि पूना शहर में कहीं भी कोई छोटी बड़ी सभा होती या कहीं स्माल साहब का मिशनरी व्याख्यान होता तो उसतक में लाठी टेकते २ इन्हें, पहुँचता हुआ हमने खुद अपनी आखों से देखा है। मतलब यह कि हम गोपालराव हरी देशमुख को उस समय की ज्ञानार्जन आकांक्षा के मूर्तिमान अवतार कह सकते हैं। इन्ही लोकहितवादी महानुभाव के विषय में स्वयं विष्णुशास्त्री चिपळूनकर ने भी लिखा है:—

"लोकहितवादी" को स्वदेश के लिए उद्योग करते २ आज चालीस वर्ष हो गये। इस दीर्घकाल में देश की स्थिति सुधारने के लिए जो २ परिवर्तन और आन्दोलन हुए उन सब में ये अपने नामाभिधान के अनुसार प्रमुख बनकर योग देते आये हैं। इस समय भी, उनकी अत्यंत वृद्धावस्था हो जाने एवं राज-सेवा के भारसे मुक्त हो जाने पर भी अपने लोकहित-साधक उद्योग को उन्होंने पूर्ववत् ही जारी रक्खा है।........ठीक साठ वर्ष की अवस्था में भी इन महानुभाव के मुख

से निरुत्साह या अकर्मण्यता के विचार नहीं निकलते हैं । देशहित के लिए आन्दोलन, आवश्यकतानुसार ग्रंथरचना या सभापाण्डित्य आदि की इच्छा में उनका जो उत्साह प्रकट होता है वह किसी नवयुवक में भी न पाया जायगा । यहांतक इस वयातीत पुरुष में आज की घड़ी में तत्परता है । लोक-कल्याण के निमित्त निरन्तर एवं दीर्घकालपर्यन्त उद्योग करने एवं प्रत्येक कार्य में सदैव उत्साह प्रकट करने आदि के विषय में, खासकर आधुनिक शक्तिहीन युवासमाज के लिए देशमुखजी का चरित्र अनुकरणीय कहा जा सकता है ।

आनरेबल रावबहादुर कृष्णाजी लक्ष्मण नूलकर, सी. आई. ई., भी तिलक से पहले की पीढ़ी के ख्यातनामा व्यक्ति थे । इनका जन्म तिलक से छब्बीस वर्ष पहले हुआ था । इनका मूल- वंश सावंतवाड़ी की ओर था, और इनके एक चचा संकेश्वर के जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य के ऐहिक संसार के प्रबंधक भी थे । इनकी आयु के आठवें वर्ष ही पिता का देहान्त हो गया और माता उनके साथ सती हो गई । चौदह वर्ष की अवस्था तक ये अंग्रेजी का एक अक्षर भी न जानते थे । किंतु फिरभी इन में विद्या प्राप्त करने की हविस और स्वावलंबन इन दो गुणों का प्राधान्य था, अतएव इन्होंने इधर-उधर से निजी प्रयत्नके बलपर थोड़ी-बहुत अंग्रेजी सीख ली । इसके बाद सौभाग्यवशात् पोलिटिकल एजंट जनरल जेकब की इस होनहार युवकपर दृष्टि पड़ी और उन्होंने इसे चतुर सुंदर एवं पानीदार देखकर अपने निजी क्लर्क की जगह पर नियुक्त कर दिया और आगे अपने दफ्तर का हेडक्लर्क बना दिया । रावसाहब मण्डलिक भी उन दिनों (१८२०-२२) सरकारी नौकरी में ही थे । उनसे नूलकर की घनिष्ट मैत्री हो गई । श्री. मण्डलिक आरंभ में भुज (कच्छ) में अकाउन्टन्ट थे । इसके बाद ये सर बार्टल फ्रियर के प्रायवेट क्लर्क बनकर रहे । तत्पश्चात् बम्बई में स्कूल इन्स्पेक्टर की जगह पर इनकी नियुक्ति हुई । इन्होंने श्री नूलकर को सर बार्टल से कहकर अपनी जगह दिलवाई थी । आगे जाकर बम्बई के सेक्रेटेरियट, काठियावाड़ पोलिटिकल एजंसी, बम्बई की स्माल कॉज कोर्ट और अन्तमें कच्छ दर्बार के यहां, इस क्रम से बड़े २ उहदों पर काम करके सन १८७१ में ये पूना आकर बस गये । सन १८७८ में पूना की सार्वजनिक सभा ने इन्हें अपना सभापति बनाया और इस पदपर ये सन १८८७ तक कायम रहे । इसी बीच सन १८८४ में बम्बई सरकार ने जंगल के झगड़ों की जांच करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया, उसके ये एक सदस्य चुने गये । इसी कार्य में योग्यता प्रकट करने के बदले इन्हें सी. आई. ई. का खिताब मिला । इसी प्रकार कृषक वर्ग को ऋणमुक्त करने के लिए नियुक्त किये हुए कमीशन, एवं बम्बई की धारा-सभा और अन्तमें बड़ी धारा-सभा के सदस्य भी ये

सरकार की ओर से मुकर्रर किये गये थे । सारांश, उस समय सरकार-दरबार में किसी देशी मनुष्य को अधिक से अधिक जितना सम्मान प्राप्त हो सकता था वह सब इन्हें मिल चुका था । इस समय सार्वजनिक सभा (पूना) के भवनमें उनका जो छाया-चित्र (फोटो) लगा हुआ है, उसे देखकर उनके प्रधान गुणों का परिचय सहजही में मिल सकता है ।

नूलकर की मुखाकृति प्रभाव-शाली थी और वे स्वभाव से भी स्वाभिमानी थे । पूना आते ही यहां की जनता ने समझ लिया कि ये सम्माननीय पेन्शनर सज्जन हमें अपने सौभाग्य से ही मिले हैं । अनेक प्रकार के सार्वजनिक आन्दोलनों में नेता बनने के लिए इनसे विनय की जाने लगी । नगर की म्युनिसीपालिटी में, इनका निर्वाचन हुआ था, किंतु वहां का काम इन्हें फुटकर और उकताहट उत्पन्न करनेवाला प्रतीत हुआ । बड़े २ उहदोंपर रहने के कारण सिवाय एक अपने उच्च अधिकारी के इनसे कोई कुछ कह भी नहीं सकता था । अतएव इन्हें किसी के मुँह से कठोर बात सुनने की भी आदत न थी । किंतु म्युनिसिपालिटी जैसी संस्थाओं में तो मतभेद होना और लोगों का मनमाने ढंग से कहना-सुनना स्वाभाविक बात थी । इसी कारण उन्होंने स्वेच्छापूर्वक ही उस म्युनिसिपल सदस्यता के पद को त्याग दिया । सार्वजनिक सभा में अध्यक्ष के नाते उनके नौ वर्ष तक काम करने का उल्लेख उपर किया ही जा चुका है । कहते हैं कि इस पदपर रहकर श्री. नूलकर ने बड़ी ही निर्भीकता से सब काम किये । उनकी निर्भीकता का अर्थ यह किया जा सकता है कि प्रायः वे रावबहादुर रानडे की पर्वाह न करते थे । वैसे भी ये रानड़े से अधिक वयोवृद्ध एवं पुराने सरकारी नौकर के नाते विशेष प्रतिष्ठित थे । हमें यह भी कह देना होगा कि नूलकर यूनीवर्सिटी के पदवीधर तो थे ही नहीं, किन्तु उनमें रानड़े की तरह व्यापक-बुद्धि और उद्योग प्रियता का भी अभाव था । इसी कारण इस वृद्ध-युवक विरोध में चतुराई और बुद्धिमत्ता की दृष्टि से रानड़े का ही प्रभाव बढ जाता था । किन्तु फिर भी उनमें इस स्वाभिमान की वृत्ति हमेशा जागृत रहती थी कि मैं पदवीधर नहीं हूं न सही किन्तु कुछ ज्ञान अवश्य रखता हूं, और प्रत्यक्ष कामकाज का जितना मुझे अनुभव है, उतना रानड़े को कभी नहीं हो सकता । इसके सिवाय रानड़े की अपेक्षा नूलकर में स्पष्ट-भाषिता और बुद्धिस्वातंत्र्य का गुण विशेष था । अतएव प्रायः वे रानड़े की बात को चलने न दिया करते थे । रानड़े को बुरा माननेवाला एक दल ख़ास सार्वजनिक सभा में ही था । रानड़े से जूझने के लिए वे इस वृद्ध पुरुष को काफी योग्य समझता था । और इन दोनों को भिडाकर प्रायः वह तमाशा देखा करते थे । श्री. नूलकर ने फारेस्ट कमिशन में तो लोकपक्ष का खूब साथ दिया, किंतु

सम्मति वय (Age of Consent) बिल के लिए स्वीकृति देने के कारण लोग उनसे नाराज़ हो गये। श्री. नूलकर ता. २८ मार्च सन १८९३ ई. को महाबलेश्वर में स्वर्गवासी हो गये। सरकारी नौकरी से ये पचास वर्ष की अवस्था से पहले ही मुक्त हो चुके थे, इसके बाद दस-बारह वर्ष तक इन्होंने सार्वजनिक कार्यों में योग दिया। उनका यह कार्य उस समय के हिसाब से पूरी स्वतंत्र वृत्ति का था। न्यू इंग्लिश स्कूल की युवक मण्डली को आगे बढ़ते देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी, किन्तु सिवाय सार्वजनिक सभा के किसी अन्य स्थानिक कार्य की ओर उनका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित नहीं होता था।

तिलक से कुछ ही पहले की पीढ़ी के विख्यात राजकीय नेता स्व. महादेव गोविंद रानडे थे। एक अर्थमें वे न केवल पूना के ही, वरन् सम्पूर्ण भारतके गुरू कहे जा सकते हैं। भारतका ऐसा एक भी प्रान्त नहीं था कि जहां के सुशिक्षित व्यक्ति उस समय रानडे को विद्वत्ता एवं राजनैतिक ज्ञान तथा स्वदेश प्रेम की दृष्टिसे अपने गुरू न मानता हो। गत बीस-बाईस वर्षोंमें भारत में कितने ही राजकीय नेता इसपर उत्पन्न हुए, और उन्होंने देशको आशातीत उन्नति तक पहुँचा दिया, किंतु फिरभी, रानडे का नाम लेते ही उनकी योग्यता का स्मरण करके प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति आज भी उनकी वन्दना ही करता है। अलौकिक बुद्धिमत्ता, दीर्घ कार्यतत्परता, देशहितसम्बन्धी सच्ची अन्तर्वेदना, विद्यार्जन का स्वाभाविक व्यसन, अचूक कल्पकता आदि अनेक गुणों के ही योग से माधवरावजी का चरित्र शिक्षाप्रद एवं महत्वपूर्ण बन सका है। इस प्रकार की साधारण प्रशंसा तो तिलक तकने रानडे के मृत्युलेखमें की है, किन्तु अपने मामुली पद्धति के अनुसार उन्होंने रानडे की जो विशेषता आगे चलकर प्रकट की हैं, वह यथार्थ ही में बड़े महत्व की है। वे लिखते हैं कि "महाराष्ट्रका तेज विविधकारणोंमें नष्ट होकर वह एकदम ठंडे गोलेकी तरह बन गया था। उसे चैतन्यमय बनाकर पूर्वावस्था तक पहुँचानेकी रातदिन चिन्ता करनेके साथ ही उस कठिन कार्य को अपने सिरपर लेने और उसके लिए प्राणपण से चेष्टा करनेवाले सबसे पहले वीर माधवरावजी ही थे।" महाराष्ट्र के पुराने किन्तु उच्च घरानोंके लोग तो घरकी सुखमय अवस्था के कारण पेंढीसे बन ही रहे थे, इधर पाठशालाओं से निकलकर कार्य-क्षेत्रमें आनेवाले विद्वान नौकरी के जाल में फँसकर निस्तेज हो गये थे। ऐसी दशा में श्री. रानडेने जो कुछ काम किया उसका महत्व और उनकी स्फूर्ति का तेज सहजही में विशेषता युक्त कहा जा सकता है। और उसमें भी खूबी यह है कि यह सारा पराक्रम उन्होंने सरकारी नौकरी में रहकर किया है।

सरकार की ओर से मुकर्रर किये गये थे। सारांश, उस समय सरकार-दरबार में किसी देशी मनुष्य को अधिक से अधिक जितना सम्मान प्राप्त हो सकता था वह सब इन्हें मिल चुका था। इस समय सार्वजनिक सभा (पूना) के भवनमें उनका जो छाया-चित्र (फोटो) लगा हुआ है, उसे देखकर उनके प्रधान गुणों का परिचय सहजही में मिल सकता है।

नूलकर की मुखाकृति प्रभाव-शाली थी और वे स्वभाव से भी स्वाभिमानी थे। पूना आते ही यहां की जनता ने समझ लिया कि ये सम्माननीय पेन्शनर सज्जन हमें अपने सौभाग्य से ही मिले हैं। अनेक प्रकार के सार्वजनिक आन्दोलनों में नेता बनने के लिए इनसे विनय की जाने लगी। नगर की म्युनिसीपालिटी में इनका निर्वाचन हुआ था, किंतु वहां का काम इन्हें फुटकर और उकताहट उत्पन्न करनेवाला प्रतीत हुआ। बड़े २ उहदोंपर रहने के कारण सिवाय एक अपने उच्च अधिकारी के इनसे कोई कुछ कह भी नहीं सकता था। अतएव इन्हें किसी के मुँह से कठोर बात सुनने की भी आदत न थी। किंतु म्युनिसिपालिटी जैसी संस्थाओं में तो मतभेद होना और लोगों का मनमाने ढंग से कहना-सुनना स्वाभाविक बात थी। इसी कारण उन्होंने स्वेच्छापूर्वक ही उस म्युनिसिपल सदस्यता के पद को त्याग दिया। सार्वजनिक सभा में अध्यक्ष के नाते उनके नौ वर्ष तक काम करने का उल्लेख उपर किया ही जा चुका है। कहते हैं कि इस पदपर रहकर श्री. नूलकर ने बड़ी ही निर्भीकता से सब काम किये। उनकी निर्भीकता का अर्थ यह किया जा सकता है कि प्रायः वे रावबहादुर रानड़े की पर्वाह न करते थे। वैसे भी ये रानड़े से अधिक वयोवृद्ध एवं पुराने सरकारी नौकर के नाते विशेष प्रतिष्ठित थे। हमें यह भी कह देना होगा कि नूलकर यूनीवर्सिटी के पदवीधर तो थे ही नहीं, किन्तु उनमें रानड़े की तरह व्यापक-बुद्धि और उद्योग प्रियता का भी अभाव था। इसी कारण इस वृद्ध-युवक विरोध में चतुराई और बुद्धिमत्ता की दृष्टि से रानड़े का ही प्रभाव बढ जाता था। किन्तु फिर भी उनमें इस स्वाभिमान की वृत्ति हमेशा जागृत रहती थी कि मैं पदवीधर नहीं हूं न सही किन्तु कुछ ज्ञान अवश्य रखता हूं, और प्रत्यक्ष कामकाज का जितना मुझे अनुभव है, उतना रानड़े को कभी नहीं हो सकता। इसके सिवाय रानड़े की अपेक्षा नूलकर में स्पष्ट-भाषिता और बुद्धिस्वातंत्र्य का गुण विशेष था। अतएव प्रायः वे रानड़े की बात को चलने न दिया करते थे। रानड़े को बुरा माननेवाला एक दल ख़ास सार्वजनिक सभा में ही था। रानड़े से जूझने के लिए वे इस वृद्ध पुरुष को काफी योग्य समझता था। और इन दोनों को भिडाकर प्रायः वह तमाशा देखा करते थे। श्री. नूलकर ने फारेस्ट कमिशन में तो लोकपक्ष का खूब साथ दिया, किंतु

सम्मति वय (Age of Consent) बिल के लिए स्वीकृति देने के कारण लोग उनसे नाराज़ हो गये। श्री. नूलकर ता. २८ मार्च सन १८९३ ई. को महाबलेश्वर में स्वर्गवासी हो गये। सरकारी नौकरी से ये पचास वर्ष की अवस्था से पहले ही मुक्त हो चुके थे, इसके बाद दस-बारह वर्ष तक इन्होंने सार्वजनिक कार्यों में योग दिया। उनका यह कार्य उस समय के हिसाब से पूरी स्वतंत्र वृत्ति का था। न्यू इँग्लिश स्कूल की युवक मण्डली को आगे बढ़ते देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी, किन्तु सिवाय सार्वजनिक सभा के किसी अन्य स्थानिक कार्य की ओर उनका ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित नहीं होता था।

तिलक से कुछ ही पहले की पीढ़ी के विख्यात राजकीय नेता स्व. महादेव गोविंद रानडे थे। एक अर्थमें वे न केवल पूना के ही, बरन् सम्पूर्ण भारतके गुरू कहे जा सकते हैं। भारतका ऐसा एक भी प्रान्त नहीं था कि जहां के सुशिक्षित व्यक्ति उस समय रानडे को विद्वत्ता एवं राजनैतिक ज्ञान तथा स्वदेश प्रेम की दृष्टिसे अपने गुरू न मानता हो। गत बीस-बाईस वर्षोंमें भारत में कितने ही राजकीय नेता इसपर उत्पन्न हुए, और उन्होंने देशको आशातीत उन्नति तक पहुँचा दिया, किंतु फिरभी, रानडे का नाम लेते ही उनकी योग्यता का स्मरण करके प्रत्येक विचारवान् व्यक्ति आज भी उन्हकी वन्दना ही करता है। अलौकिक बुद्धिमत्ता, दीर्घ कार्यतत्परता, देशहितसम्बन्धी सच्ची अन्तर्वेदना, विद्यार्जन का स्वाभाविक व्यसन, अचूक कल्पकता आदि अनेक गुणों के हो योग से माधवरावजी का चरित्र शिक्षाप्रद एवं महत्वपूर्ण बन सका है। इस प्रकार की साधारण प्रशंसा तो तिलक तकने रानडे के मृत्युलेखमें की है, किन्तु अपने मामुली पद्धति के अनुसार उन्होंने रानडे की जो विशेषता आगे चलकर प्रकट की है, वह यथार्थ ही में बड़े महत्व की है। वे लिखते हैं कि "महाराष्ट्रका तेज विविधकारणोंसे नष्ट होकर वह एकदम ठंडे गोलेकी तरह बन गया था। उसे चैतन्यमय बनाकर पूर्वावस्था तक पहुँचानेकी रातदिन चिन्ता करनेके साथ ही उस कठिन कार्य को अपने सिरपर लेने और उसके लिए प्राणपण से चेष्टा करनेवाले सबसे पहले वीर माधवरावजी ही थे।" महाराष्ट्र के पुराने किन्तु उच्च घरानोंके लोग तो घरकी सुखमय अवस्था के कारण ऐदीसे बन ही रहे थे, इधर पाठशालाओं से निकलकर कार्य-क्षेत्रमें आनेवाले विद्वान नौकरी के जाल में फँसकर निस्तेज हो गये थे। ऐसी दशा में श्री. रानडेने जो कुछ काम किया उसका महत्व और उनकी स्फूर्ति का तेज सहजही में विशेषता युक्त कहा जा सकता है। और उसमें भी खूबी यह है कि यह सारा पराक्रम उन्होंने सरकारी नौकरी में रहकर किया है।

श्री. रानडे की सर्व-मान्यता में बट्टा लानेवाली एक बात अवश्य थी। उनका विश्वास था कि भारत की उन्नति सर्वाङ्गीण होनी चाहिये इसी लिए उन्होंने प्रार्थना-समाज और विधवा-विवाह एवं धर्मसहिष्णुता आदि बातोंपर ही अधिक ज़ोर दिया। किन्तु ये तीनों ही बातें उस समय समाजमें अप्रिय थी, अतएव इनके कारण ही उनकी राजनैतिक कार्य-वाहियों से भी लोग संसर्ग-दोष-जन्य के नाते नाक भौं सिकोड़ते थे। परन्तु लोकापवाद से सर्वथा उदासीन रहकर वे दिनरात किसी न किसी आन्दोलन की चर्चा या उसके लिए उद्योग करने में निमग्न रहते थे। जिस प्रकार लोकमत की उन्होंने पर्वाह नहीं की, उसी प्रकार वे सरकार की अवकृपा की भी उन्होंने पर्वाह न की। अंग्रेजोंसे गुण ग्रहण करने-पर भी उनसे वे व्यक्तिशः लगाव न रखते थे। व्यर्थका मैत्री-भाव न बढ़ा। उदार-वादिता का निदर्शन करानेके लिए उनके घर भोजनादि के लिए वे नहीं जाते थे न उन्हें अपने यहां बुलाते थे। उनके द्वारा अपमान की संभावना उत्पन्न करने वाले सभी प्रसंगों को वे युक्तिपूर्वक टाल देते थे और उनसे मतभेद रहनेपर उसे लिखकर या समझाकर स्पष्ट कर देने से भी वे कभी न चूकते थे। रानड़े ने उस मध्यम श्रेणिकी नीति का पूर्ण तपःस्वीकार किया था जिसमें कि न तो किसी का अपमान करना पड़े और न अपनी प्रतिष्ठामें कोई धक्का लगा सके। सरकारने तैलंग एवं भाण्डारकरको तो यूनीवर्सिटी का वाईस चान्सलर बना दिया, किंतु रानड़े को कभी उस सम्मानका भागी न बनने दिया; इसका कारण भी केवल यही था कि उनकी विद्वत्ताका लोहा मानते हुए भी सरकार का हृदय उनकी तरफसे शुद्ध न था। इसी प्रकार स्व. तैलंग के पश्चात् सरकारने उन्हें हाई कोर्ट में भारतीय न्यायाध्यक्ष जगह दी तो वह केवल विवशता के कारण ही। उन्होंने एल्-एल्. बी और एडवोकेट दोनोंही प्रकारकी परीक्षाएँ पास की थीं, किन्तु फिर भी वकालत करने की इच्छा उन्हें नाम को भी न थी; इसी लिए उन्हें सरकारी नौकरी में घुसना पड़ा था। दादाभाई नौरोजी की तरह वे अपने पेट के लिए स्वतंत्र उद्योग करते अथवा श्री. विष्णुशास्त्री या तिलक की तरह स्वार्थ-त्याग कर एक-आध शिक्षा-दान की संस्था स्थापित करते तो वे विशेष ख्याति-लाभ करते। किन्तु यह कहने की अपेक्षा कि उन्होंने अमुक कार्य किया होता तो उनकी कीर्ति अधिक व्यापक होती-हमारे लिए आश्चर्य की बात यही है कि सरकारी नौकरी करते हुए भी उन्होंने उसमें जो कुछ देशसेवा की वह भी लोगों को गुरु-उपदेशवत् आदरणीय अलौकिक प्रतीत हुई। नौकरी के बन्धन को रानड़े इतनी ही हद तक मानते थे, कि खुल्लमखुल्ला तौर पर सरकारी नौकर राजनैतिक आन्दोलन में भाग न ले थोड़ी सी आड़ रखकर वह

खुशी से जो चाहे कर सकता है। इसी प्रकार वे खुद भी जो कुछ काम करते थे वह इस खूबी से करते थे कि सरकार के लिए भी प्रकटरूप से उन्हें बुरा भला कहने की जगह न रहे। देश की राष्ट्रीय महासभा के संस्थापकों में जिन दो चार व्यक्तियों के नाम लिये जा सकते हैं उनमें रानडे की गणना प्रधान-रूप से होती है। इससे पहले भी पूने में जो दुष्काल का आन्दोलन हुआ था उस कारण भी सरकार रानडे कोही समझती थी। पूने के आंदोलन और रानडे का इतना निकट संबंध था।

न्यायमूर्ति रानडे से पहले और उनकी मौजूदगी के ज़माने में भी अनेक विद्वान लोग हो गये, और उनमें से कितने ही व्यक्तियों ने सार्वजनिक कार्यों में योग देने का भी थोड़ाबहुत प्रयत्न किया था। किंतु "यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" के सिद्धान्तानुसार देश-सेवा का मर्म रानडे ही ने सबसे कर दिखाया। लोगों की तरह सरकार भी यदि चाहती तो रानडे की बुद्धि का उपयोग हाई कोर्ट से भी ऊंचे दर्जे के किसी कामपर कर सकती थी। किंतु वह ऐसा न कर सकी, इस के लिए लोकमान्य तिलक के मतानुसार सरकार ही दोषी कही जा सकती है, रानडे कभी नहीं। खुशामत का पचड़ा हर-एक के पीछे लगा रहता है, उससे कोई बच नहीं सकता। किंतु उस दशा में भी देशसेवा का राष्ट्रीय झंडा हाथ में ले कर रानडे ने महाराष्ट्र को सार्वजनिक कार्यका पाठ पढ़ाया है। देश के सौभाग्य से उनके बाद की सुशिक्षित युवकों की पीढ़ी स्वार्थत्याग में उनसे भी आगे बढ़ गई, अतएव रानडे की मृत्यु के बाद भी महाराष्ट्र का कदम बराबर आगे ही बढ़ता गया। गोपाल कृष्ण गोखले तो उनके प्रत्यक्ष शिष्य थे ही, किंतु कितनी ही बातों में रानडे के प्रतिपक्षी होते हुए और उत्कर्ष के शिखर तक पहुँच जानेपर भी जब कभी रानडे के संबंध में बातचीतका अवसर आता तब तिलक भी उनके लिए कृतज्ञता एवं पूज्यबुद्धि रखकर ही बोला करते थे।

ज्ञानवेत्ता की दृष्टि से, न्यायमूर्ति रानडे को भी तिलक पूर्वकालीन हेमाद्री अथवा माधवाचार्य की उपमा दिया करते थे, ज्ञान की ही तरह रानडेद्वारा प्रोत्साहित होकर प्रकटरूप में आनेवाली संस्थाएं भी विविध स्वरूपों की थीं। वक्तृत्वोत्सव, वसंत-व्याख्यानमाला, औद्योगिक परिषद्, प्रदर्शनियां, फीमेल हाइस्कूल, प्रार्थनासमाज, लाइब्रेरी, सार्वजनिक सभा आदि पूने की कोई भी सार्वजनिक संस्था न थी जिसके प्रकट या गुप्त संचालकों में रानडे न हो। इसका पता सरकार को भी कई दिन पहले से लग चुका था। यहां तक कि टेम्पलशाही में यद्यपि रानडेपर राजद्रोह का अभियोग न चलाया गया हो, किंतु इसका दोषारोपण तो उनपर किया ही गया। सन १८७४ से ७६ तक राजनैतिक आन्दोलन के उदय की

पूर्वावस्था पूले में विविध स्वरूपों में दिखाई देती थी। सन १८७४-७५ में बड़ौदा के महाराज मल्हारराव गायकवाड़पर वहां के रेसिडेंट कर्नल फ्रेअर को विष देने का दोष लगाया जाकर कमिशन के द्वारा उसकी जांच की गई। इस मामले की सभी बातें अजीब थीं। मल्हाररावसरीखे मनमानी करनेवाले, अजीब सुलतानी राजा थे, उनके रेसिडेंट गोरी चमड़ी के होते हुए भी उन्ही के समान 'सुलतान' तबीयत थे। इनकी सुलतानशाही यहांतक बढ गई थी कि दादाभाई नौरोजीसरीखे सात्विक वृत्ति के मनुष्य को भी त्रस्त होकर बड़ौदे की दीवान छोड़ देनी पड़ी। गायकवाड नरेशपर लगाया हुआ आरोप भी इतना भयंक कि जिसकी प्रकट रूप से जांच हुए बिना किसी को संतोष नहीं हो सकता अंग्रेजी राज्य में इतने बड़े राजा को आरोपी बनाकर इन्साफ चुकाने का दूसरा मौका था। इस मामले की चर्चा देश भर में हुई, किंतु महाराष्ट्र ने विषय में अपनी विशेषता दिखलाई। बात यह थी कि जब कमीशन नियुक्त कि गया था तब जांच भी दुतर्फा होनी चाहिए थी। सरकार की ओर कानूनदां लोगों कभी न थी; क्योंकि उसे धन की कमी न थी। किंतु हिरासत में रहने के का मल्हारराव आर्थिक दृष्टि से बिलकुल पराधीन बन रहे थे। आनेवाले बुरे दि की आशंका से उन्होंने बहुत पहले ही एक बड़ी रक़म को उड़ा देने का प्र किया था, किंतु उसमें वे असफल हुए। इधर लाखों रुपये के नोट और तिजो की सिलक एवं आभूषणादि सब को जमा करके अंग्रेजी अम्मलदारोंने मुहरब ताले में रख दिया था, अतएव वकील-बॅरिष्टर की फ़ीस के लिए अवश्यक रुपय पैसा भी उन्हें सरकार से ही मांगने को बाध्य होना पड़ा। इस, बात की च चली कि महाराज मुक़दमे की पैरवी के लिए कितना रुपया दिया जाय मल्हाररावजी की ओर से जेफर्सन और पेन ये दो सालिसीटर पैरवी करते थे। इ लोगों ने डिफेन्स के लिए लगभग चार लाख बत्तीस हजार रुपये के ख़र्च क अंदाज कूता था। किंतु सरकार इतनी बड़ी रक़म देने को तैयार न थी। अंतक लाचार होकर मल्हारराव को वाइसराय के पास इस आशय का तार भेजना पड़ कि "पास में पैसा न रहने से मेरे सफाई का काम रुक रहा है। इस लिए बड़ौदा के ख़ज़ाने से मुझे फौरन दो लाख रुपये दिये जाँय। इनका हिसाब सालिसीटर पेश करेंगे। "Deeply pained to learn from my Solicitors that preparations for my defence are at a stand-still for want of funds, their requirements for legitimate expenses not granted. Promises of ample opportunity for vindicating my innocence thus practically ignored.

Private purse attached. Rani's marriage ornaments and money seized. My character, liberty and kingdom at stake." यह तार यद्यपि प्राइवेट था। किन्तु इसका पता सारे देश को लग जाना स्वाभाविक था। तार की आफ़वाट उड़ते ही सारे महाराष्ट्र में गड़बड़ मच गई। मल्हारराव गायकवाड़ के विषय में लोगों की व्यक्तिशः सहानुभूति न थी। किन्तु जब लोगों ने देखा कि सरकार मल्हारराव को सफाई के लिए धन नहीं देती है, तब वे समझने लगे कि सरकार ने उनके नाश के लिए षड्यंत्र रचा है। इस सचे या कल्पित षड्यंत्र का क्रियात्मक धिक्कार करने की स्फूर्ति अकेले पूनाने ही दिखाई। यहांवालोंने बड़ौदा और वाइसराय के पास एकदम तार भेज कर प्रकट किया कि "महाराज के बचाव के लिए महाराष्ट्र एक लाख रुपये तक सहायता देने के लिए तैयार है। उन्हें सब प्रकार से आवश्यक क़ानूनी सहायता दी जाय।" इतनी गड़बड़ होने के बाद कहीं जाकर सरकारने दो-ढाई लाख रुपये ख़र्च के लिए दिये। विलायत से बैरिस्टर बुलाया जाकर कमिशन के सन्मुख उसने महाराज के बचाव के लिए समुचित प्रयत्न किया, और पूनावालो को एक पाई भी न खरचनी पड़ी। किन्तु इस कार्य से देशभर में जहाँ प्रकार पूने की ख्याति हुई तहाँ वह सरकार की आख में खटकने भी लगा। फलतः पूने में सुफिया पुलिस का दौरदौरा बढ़ चला। यद्यपि पूनेवालों का तार खुले तौरपर हस्ताक्षर युक्त गया था, किन्तु हरएक बात को उलट पलट कर देखने की सरकार की बानरवृत्ति तो प्रसिद्ध ही है। अतएव उसने उस तार के विषय में बारीक छान-बीन शुरू की। ऐसी जांच में नगर के प्रधान व्यक्तियोंपर सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक था, उसने माधवरावजी रानडे को अपने संदेह का शिकार बनाया और इस कारण को दिखलाते हुए कि, 'यहां रहते हुए तुम्हें बहुत दिन हो गये हैं' उनकी बदली नाशिक कर दी।

श्रीमती रमाबाई साहब रानडे ने अपनी पुस्तक में उस समय के एक प्रतिष्ठित व्यक्तिकी जासूदी का वर्णन दिया है, वह बड़ा मनोरंजनक है। इस भले आदमीने पूने में धनाढ्यताका प्रपंच रचकर एवं मनोरंजन के नानाविध साधनों की योजना कर अपने घरपर अड्डा कायम किया और कई एक आदमियों को अपने चंगुलमें फाँस लिया। यह समाचार जब श्री. सीताराम पंत चिपलूनकर के उदाहरण से रानडे को ज्ञात हुआ, तब उन्होंने इस बात का पता लगाना शुरू किया कि उस भले आदमी का पत्र-व्यवहार कहां कहां और किस किस से है। तब जाकर मालूम हुआ कि वह व्यक्ति डिटेक्टिव है। "तीसरे दिन सीताराम-पंत चिपलूनकर ने आकर कहा कि परसों और कल के दिनमें मैं ने डाक की हर

पूर्वावस्था पूने में विविध स्वरूपों में दिखाई देती थी। सन १८७४-७५ में बड़ौदा के महाराज मल्हारराव गायकवाड़पर वहां के रेसिडेंट कर्नल फ्रेअर को विष देने का दोष लगाया जाकर कमिशन के द्वारा उसकी जांच की गई। इस मामले की सभी बातें अजीब थीं। मल्हाररावसरीखे मनमानी करनेवाले, अजीब सुलतानी राजा थे, उनके रेसिडेंट गोरी चमड़ी के होते हुए भी उन्ही के समान 'सुलतान' तबीयत थे। इनकी सुलतानशाही यहांतक बढ गई थी कि दादाभाई नौरोजीसरीखे सात्विक वृत्ति के मनुष्य को भी त्रस्त होकर बड़ौदे की दीवानगिरी छोड़ देनी पड़ी। गायकवाड नरेशपर लगाया हुआ आरोप भी इतना भयंकर था कि जिसकी प्रकट रूप से जांच हुए बिना किसी को संतोष नहीं हो सकता था, अंग्रेजी राज्य में इतने बड़े राजा को आरोपी बनाकर इन्साफ चुकाने का यह दूसरा मौका था। इस मामले की चर्चा देश भर में हुई, किंतु महाराष्ट्र ने इस विषय में अपनी विशेषता दिखलाई। बात यह थी कि जब कमीशन नियुक्त किया गया था तब जांच भी दुतर्फा होनी चाहिए थी। सरकार की ओर कानूनदां लोगों की कमी न थी; क्योंकि उसे धन की कमी न थी। किंतु हिरासत में रहने के कारण मल्हारराव आर्थिक दृष्टि से बिलकुल पराधीन बन रहे थे। आनेवाले बुरे दिनों की आशंका से उन्होंने बहुत पहले ही एक बड़ी रक़म को उड़ा देने का प्रयत्न किया था, किंतु उसमें वे असफल हुए। इधर लाखों रुपये के नोट और तिजोरी की सिलक एवं आभूषणादि सब को जमा करके अंग्रेजी अम्मलदारोंने मुहरबन्द ताले में रख दिया था, अतएव वकील-बॅरिष्टर की फ़ीस के लिए अवश्यक रुपया-पैसा भी उन्हें सरकार से ही मांगने को बाध्य होना पड़ा। इस, बात की चर्चा चली कि महाराज मुक़दमे की पैरवी के लिए कितना रुपया दिया जाय। मल्हाररावजी की ओर से जेफर्सन और पेन ये दो सालिसीटर पैरवी करते थे। इन लोगों ने डिफेन्स के लिए लगभग चार लाख बत्तीस हजार रुपये के ख़र्च का अंदाज कूता था। किंतु सरकार इतनी बड़ी रक़म देने को तैयार न थी। अंतको लाचार होकर मल्हारराव को वाइसराय के पास इस आशय का तार भेजना पड़ा कि "पास में पैसा न रहने से मेरे सफाई का काम रुक रहा है। इस लिए बड़ौदा के ख़जाने से मुझे फौरन दो लाख रुपये दिये जाँय। इनका हिसाब सालिसीटर पेश करेंगे। "Deeply pained to learn from my Solicitors that preparations for my defence are at a stand-still for want of funds, their requirements for legitimate expenses not granted. Promises of ample opportunity for vindicating my innocence thus practically ignored.

के सूत्रधार की हैसियत से उनपर सरकार का कोप हमेशा बना रहा। कुछ दिन बाद रानडे धूलिया से फिर पूना आये और वहां से बम्बई चले गये। किन्तु फिर भी उन्हों ने अपने आरंभ किये हुए कार्यक्रम को उसी तरह पूरा किया। तिलक और रानडे के स्वभाव में बड़ा अन्तर था, किन्तु फिरभी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि रानडे से तिलक को बहुत कुछ स्फूर्ति-लाभ हुआ।

अंतमें हम उस संस्था का वर्णन करके इस प्रकरण को समाप्त कर देना चाहते हैं, जो कि तिलक से पहले पूनेमे स्थापित होकर यथेष्ट ख्यातिलाभ कर चुकी थी; किंबहुना जिस संस्था के कारण उन दिनों पूने का नाम तत्कालिन राजनैतिक क्षेत्र में प्रधान रूपसे लिया जाता था। वह संस्था है पूने की सार्वजनिक संस्था। सन १८६७ मे "बाम्बे एसोसियेशन" के ढंग पर पूनामें भी पूना एसोसियेशन की स्थापना हुई थी। पर्वती संस्थान (पूना) की बिगड़ी हुई दशा सुधारने का उद्योग करनेके लिए मुख्यतया यह संस्था स्थापित हुई थी। पर्वती संस्थान के प्रबन्धकर्ता पंच लोग नियत थे, किन्तु हिसाब-किताब साफ नही रखा जाता था और न उस के द्रव्य का उचित कार्यों में व्यय ही होता था। इन सब बातों का प्रबंध करने के लिए एक खानगी सभा की गई, और वही आगे चलकर प्रकट स्वरूप को पा गई। उसी में से इस "पूना एसोसियेशन" की उत्पत्ति भी हुई। उसी के विचारपर सार्वजनिक सभा का जन्म हुवा और थोड़े ही दिनोंबाद "यह पूना एसोसियेशन" भी "सार्वजनिक सभा" मेही मिलकर एक जीव हो गयी। इस कार्य में श्री. काशीनाथपंत गाड़गील और काशीनाथपंत नातू तथा काशीनाथपंत मराठे एवं केशवराव गोडबोले आदि सज्जन ही अगुआ बने थे। पर्वती संस्थान की ही तरह अन्य अनेक विषयों में भी योग देने का निश्चय किया जाकर इस सभा को प्रातिनिधिक स्वरूप दिया गया और इसके लिए पचास हजार हस्ताक्षर-युक्त मुख्तारनामें की नींव रची गई। इस सभा में धनाढ्य एवं ग़रीब दोनों ही प्रकार के लोगों को समावेश हो सके, और लोक-समाज की ही तरह सर्कार दर्बार में भी इसकी इज्जत हो, इस आशय से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के पद पर महाराष्ट्र के प्रधान राजा एवं सरदार लोगों का चुनाव किया गया था। इस सभा के सबसे पहले मंत्री सरदार राजमार्चीकर, सरदार गोखले, बाबा गोखले वकील, गणेश वासुदेव उर्फ़ काका जोशी तथा पाण्डुरंगपंत कर्वे ये पांच व्यक्ति थे। इनमें से केवल जोशी ही विशेष उद्योगी एवं प्रयत्न शील व्यक्ति थे, उन्ही के कारण पूनेका नाम अन्य प्रान्तों में विख्यात हुआ। यही नहीं बल्कि आज भी '*सार्वजनिक काका*' के नाते उनका नाम आदरपूर्वक लिया जाता है।

काका जोशी का जन्म सन १८२८ में हुआ। घर की गरीबी के कारण इन्हें आरंभ में सरकारी नौकरी करनी पड़ी। किंतु इसके बाद हाइकोर्ट प्लीडरशिप की

तरह से खोज की, तो पता लगा कि उस भले आदमी की डाक पोष्ट मेन या चपरासी के हाथ नहीं आती है, वरन् वह खुदही घरसे यह कह कर कि मैं घूमने जाता हूं बड़े सवेरे चल देता है, और टेढ़े-मेढ़े रास्तोंसे जनरल पोस्ट ऑफिस पहुँचकर अपनी डाक वह आप ले आता है। इसी प्रकार जानेवाली डाक भी वह अपने ही हाथों से पोष्ट ऑफिस में जाकर रवाना करता है। कल उसके पीछे २ किन्तु बहुत दूर रह कर मैने पता लगाया तो मार्ग में मुझे यह खाली लिफाफा मिला। इसपर की मुहर शिमला के डाकघर की है। मतलब यह कि आपका सन्देह बहुत कुछ ठीक जान पडता है। पोष्ट ऑफिस में काम करनेवाले एक मित्रने अभी मुझे बतलाया है कि उस व्यक्तिका पत्रव्यवहार कलकत्ता और शिमलाके गवर्नमेंट सेक्रेटरी के साथ होना पाया जाता है। कि उसी के नामपर इसके अधिकतर पत्र जाते हैं।" इस वर्णनपर से ज्ञात होता है कि सीतारामपंत चिपळूनकर में खुफ़िया पुलिस की होशियारी थी! खुफ़िया पुलिस का सन्देह और मरे हुए चूहे की दुर्गन्ध दोनों ही एकसे कहे जा सकते है, क्योंकि दोनों के आगे ही लोग अपना २ घर छोड़कर चल देते हैं। इस शिमलावाले डिटेक्टिव के पूनानिवासी मित्रोंने भी एक ही दिनके भीतर उसका घर छोड़ दिया, और वह भी एक ही रात में अपनी गृहस्थी समेट कर एकदम अदृश्य हो गया।

किन्तु दूसरे की डाक पर नजर रखने की यह विद्या खुद रानड़े के लिए भी शीघ्र फलदायी सिद्ध हुई! क्योंकि नाशिक से उनकी बदली धूलिया हो जानेपर भी सरकार के चित्तसे उनके संबंध का संदेह दूर न हुआथा। इधर सन १८७९ में वासुदेव बलवंत फड़के के विद्रोहकी धूम मची हुई थी। उसी में ता. १५ मई के दिन जब की न्या. रानड़े पूने में ही थे, किसी अन्य रानड़े नामक व्यक्ती ने पूनाके बुधवार वाड़े और विश्रामबाग महल में आग लगा दी। बस; इसी एक कारणसे कई एक महीनों तक जस्टिस रानड़े की डाक सरकारी हुक्म से खोलकर पढ़ ली जाने लगी। यह अनुमान मात्र ही नहीं बल्कि खुद उस डाक को खोलकर पढ़नेवाले असिस्टंट कलेक्टर डॉ० पोलन ने ही रानड़े से क्षमा याचना कर इस बात को स्वीकार किया था। रानड़े के नामपर आनेवाले पत्रों में दंगे फसाद, लूटपाट एवं षड्यंत्र आदि अनेक बातों का वर्णन रहता था। भला वासुदेव बलवंत फड़के या हरी रामोशी ये बिचारे क्यों कर रानड़े के पास धूलिये ऐसे पत्र भेजं गे! बात असल में यह थी कि इस तरह उनके नाम पत्र भेजनेवाली थी पुलिस और उसे खोलकर पढ़ने वाले थी सरकार! किन्तु रानड़े उन सब पत्रों को ज्यों के त्यों पुलिस के पास भेज देते थे। यह सिल सिला कई दिनों तक जारी रहा। कालान्तर में जाकर रानड़े के विषय में सरकार का चित्त शुद्ध हुआ; किन्तु महाराष्ट्रीय आन्दोलनों

अपेक्षा संस्था अधिक बलवान एवं चिरायु होती है और इसी प्रकार उसे समाज का प्रातिनिधिक स्वरूप भी विशेषरूपसे प्राप्त रहता है। किंतु इसके विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि जो काम दस का हो वह किसी का भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो दायित्व दस मनुष्यों में बँट जाएगा, वह यथार्थ में किसी पर भी नहीं हो सकता। किंतु प्रत्यक्ष अनुभव की दृष्टिसे देखनेपर यही मालूम होता है कि, काम बँट जाने के कारण टूटी हुई संस्थाओं की अपेक्षा किसी भी देश में ऐसी संस्थाँएही अधिक प्रमाण में पाई जायँगी जो कि कार्य के सुसंगठित होनेसे कार्यक्षम एवं स्थायी बन गई है। महाराष्ट्र में अंग्रेजी शिक्षा से पूर्व धार्मिक संस्थाएँ थी सही, किंतु ऐहिक संसार एवं राजनीतिसे सम्बन्ध रखनेवाली संस्थाएँ बनाकर संगठित कार्य करना लोग नहीं जानते थे। इसका आरंभ अंग्रेजी शिक्षाके बादसे हुआ। सन १८७१ कि सिंधिया महाराज पूना आये थे तो उस समय आर्थिक सहायता देने योग्य संस्थाओंकी एक सूची 'ज्ञानप्रकाश' में प्रकाशित की थी। उसमें आगे लिखी संस्थाओंका उल्लेख था:— (१) पुस्तकालय (२) स्त्रियों का नार्मल स्कूल (३) कन्याशाला (४) नई पेठ का भिक्षागृह (५) प्राईवेट इँग्लिश स्कूल (६) ज्ञानप्रकाश और ज्ञानचक्षु कार्यालय (७) डेक्कन कॉलेज (८) सार्वजनिक संस्था (९) वक्तृत्वोत्तेजक सभा (१०) कला-कौशल्यशिक्षक सभा, आदि। इस सुचीपर से पता लग सकता है कि उस समय महाराष्ट्र में ऐसी संस्थाओं का क्रमशः प्रचार बढ़ रहा था। किन्तु इन थोडीसी संस्थाओं के विषय में भी लोकमत अधिक अनुकूल न था, इस बात को "निबंधमाला" के पाठक अच्छी तरह जानते है। आज भी कई नाममात्र की संस्थाएँ पाई जाती है, जिन में काम कुछभी नहीं होता। किन्तु फिरभी यही इसे सामान्य दोष मानलिया जाय तोभी संस्थाओंकी संख्या, उन कार्यों का वैचित्र्य, उनका संगठित मनुष्य एवं द्रव्यबल तथा उस सदोष परिस्थिति में भी उनके द्वारा होनेवाले प्रत्यक्ष अन्दोलन एवं जागृति-प्रसार की दृष्टिसे तिलक से पहले और बाद के समय में जमीन आस्मान का अंतर पाया जाता है। खुद तिलक एवं उनकी सहकारी मित्रमंडली ने यह महदंतर किस तरह उपस्थित किया, यही बात तिलक के जीवन प्रधान वस्तु है, और उसीका प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष वर्णन आगे के अनेक प्रकरणोंमें पाठकों को पढ़ने के लिए मिलेगा।

परीक्षा देकर ये पूना में वकालत करने लगे, और इसी से ये आगे भी बढ़ सके। किन्तु अपने धन्धे की अपेक्षा सार्वजनिक कार्यों ओर इनका ध्यान अधिक रहता था, अतएव लोग इन्हें सार्वजनिक काका कह कर संम्बोधित किया करते थे। महाराजा मल्हारराव के मुकद्दमें के लिए कमिशन मुकर्रर होनेपर एक लाख रुपये की सहायता पहुँचाने के लिए जो तार वाइसराय के पास भेजा गया था, उसका अधिकांश श्रेय इन्हीं महानुभाव को दिया जा सकता है। इसी प्रकार ग़रीब किसान आदि के कल्याणार्थ भी ये निरन्तर प्रयत्न करते रहते थे। पूने में पंचायत-कोर्ट की स्थापना आरंभ में इन्होंने की थी। और महाराष्ट्र के स्वदेशी आन्दोलन के उत्पादक भी यही महाशय थे। किसी आन्दोलन को सर्व प्रिय बना देने के लिए जिन मनमौजी किन्तु साहसपूर्ण दृढ स्वभाव की आवश्यकता होती है, वह इनमें सोलहों आने विद्यमान था। सन १८६१ से पहले सार्वजनिक काका का पोशाक अन्य लोगों की तरह प्रतिष्ठित ढंग एवं शान-शौकत का था। किन्तु स्वदेशी के सिद्धान्तपर विश्वास होकर उसके लिए आन्दोलन छेडते ही उन्होंने एकदम अपनी सारी वेष-भूषा ही बदल दी। मलमल सफेद इस्त्री किये हुए अँगरखे की जगह खादी का अँगरखा काम में आने लगा, और रेशमी किनारी का स्थान खादी उपरणे ने ले लिया। इसी प्रकार पहनने की धोती भी देशी ही उपयोग में आने लगी और चक्रीदार पगड़ी के बदले मोटी गाढ़े की पगड़ी पहन ने लगे। इस स्वदेशी व्रतका काकाने आजन्म पालन किया। इसी प्रकार सार्वजनिक सभा की ही जोड़ में उत्तम व्याख्याता तैयार करनेके लिए पूने में जो वक्तृत्व–सभा स्थापित हुई उसे भी उन्होंने यथेष्ट सहायता दी। यद्यपि वे खुद बहुत बड़े विद्वान वक्ता न थे, किन्तु हार्दिक उद्गार प्रकट करने के कारण उनका व्याख्यान बड़ाही प्रभावशाली हो जाता था। उनके अन्यान्य स्वाभाविक गुणोंकी अपेक्षा आन्दोलन मचाने का गुण ही अधिक ज़बरदस्त था। पूना की सार्वजनिक के ढंगपर सम्पूर्ण महाराष्ट्र में सार्वजनिक नामधारण करनेवाली स्थानिक शाखा सभाएँ स्थापित करने के इरादे से उन्होंने खुद घूमकर एवं पत्रव्यवहारद्वारा और इसीके साथ २ वैतनिक या अवैतनिक उपदेशक भेजकर बहुत कुछ प्रयत्न किया था। उनके इस प्रयत्न के अंकुर आज भी कई शहरों में पल्लवित होकर उनका नाम अमर किये हुए हैं।

प्रत्येक राष्ट्रका इतिहास वहां की संस्थाओंका इतिवृत्त होता है। प्रत्येक संस्था अनेक व्यक्तियों के संगठित प्रयत्नों के फलस्वरूप होती है। जो शक्ति अकेले एक व्यक्ति में नहीं होती वह अनेक व्यक्तियों के मिल जानेपर सहजही में उपलब्ध हो सकती है; और जो गुण एक में नहीं होते वह अनेक व्यक्तियों के सम्मेलन से इष्ट कार्य के लिए उपयोगी हो पड़ते हैं। इसी लिए व्यक्ति की

न्यू इंगिलश स्कूल की स्थाप

बी. पास करनेवालों में वकालत न कर के स्कूल मास्टरी
कोई युवक बम्बई युनीवर्सिटी से शायद ही निकाला
कमसे कम तिलक के विषय में तो यही कहा जा सकत
अपूर्व अलौकिक विशेषता दिखलाने की अपनी अभिरुचि
बी. अध्यापक" बन कर भी अच्छी तरह प्रकट कर दिखाया ... म अध्ययन करते समय तिलक के सामाजिक और राजनैतिक मत क्या थे, इसका निदर्शन हम पहले करा चुके हैं। उस परसे जाना जा सकता है कि वे आरंभसे ही इस बात के हामी थे कि सुशिक्षित लोग समाज के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हों। अतएव आश्चर्य नहीं कि उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को चरितार्थ कर दिखाने ही के लिए वकालत की अपेक्षा स्कूल मास्टरी को विशेष उपयोगी समझा हो।

समाज-सेवाके लिए मुख्य मार्ग दोही हो सकते हैं—(१) पुरानी पीढ़ी को उपदेश देना और (२) नई पीढ़ी को शिक्षा देना। इनमें प्रथम मार्ग को स्वीकार करना तो 'औंधे घड़ेपर पानी, की तरह है। क्योंकि पुरानी पीढ़ी के नेता एक तो वैसे ही वृद्ध एवं गंभीर विचारवाले होते हैं, साथ ही उनकी बुद्धिका भी विकास हो चुकता है। संसार में उनके पैरपूरी तरह फँसे हुए रहने से वे नई दिशा में ौड़ भी नहीं सकते। इन सब बातो के साथ ही जब एक बार मनुष्य लब्ध-प्रतिष्ठ न जाता है तो फिर उसे अपना ध्येय बदलना न तो पसंद होता है और न वह ुगमतापूर्वक ऐसा कर ही सकता है। इन्हीं कामों से वृद्ध-समाज को उपदेश देने में कोई विशेष लाभ नहीं होता। और कमसे कम किसी नव युवक की ओरसे वृद्ध-जनों को उपदेश दिया जाना तो असंभवता एवं अप्रयोजकता है। इसी लिए नयी दुनिया का निर्माण करनेवाले पुरुष हमेशा युवा शिष्यों की पीढ़ीपर ही विश्वास रखते हैं। संसार के समस्त धर्मगुरुओं ने अपने नये धर्म का प्रचार इन युवाओं के ही द्वारा किया है। इसी तरह सुशिक्षित युवक को जितना प्रेम स्कूल या कॉलेज से होता है उतना किसी अन्य संस्था से नही होता। क्योंकि विद्यादान में स्वाभाविक गुण ही इस प्रकार का है। क्या पहले और क्या अब, सुशिक्षित व्यक्तियों में वकील की अपेक्षा प्रोफेसर का ही पद सर्वदा श्रेष्ठ समझा जाता रहा है। इसी लिए संभव है कि एक आध शिक्षा-संस्था स्थापित कर उसके द्वारा ही लोकसेवा का आरंभ करने की इच्छा तिलक के मनमें उत्पन्न हुई हो।

किन्तु स्कूल कायम करनेसे पहले अध्यापकों के विषय में तिलक का मत क्या था, यह जान सकना कठिन है। किंतु अंशतः तिलक को जिनसे उत्तेजन मिला, अथवा कमसे कम स्कूल कायम करने के उद्योग में जो उनके आदरणीय सहायक थे, उन श्री. विष्णुशास्त्री चिपळूनकर का मत अवश्य बतलाया जा सकता

भाग चौथा।

न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना।

यद्यपि इस वात का ठीक २ निर्णय कर सकना कठिन है कि तिलक वकालत या मुन्सिफी की नौकरी न करने का निश्चय कब किया, किन्तु फिर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि एल् एल्. बी. की शिक्षा प्राप्त करते सम ही उनके चित्त में यह विचार अनेकोंवार उत्पन्न हो चुका होगा कि अपने क़ानून ज्ञान का उपयोग द्रव्यार्जन के कार्य में न करना चाहिए। इतने साल पहले तिलक ने वकालत का वहिष्कार किया था, पर इसका मतलब यह नहीं है कि महात्मा गांधी जिन कारणों के लिए अदालतों का वहिष्कार करने के लिए कहते हैं, उन्हीं कारणों की वजह से उस समय लोकमान्यजी को भी वहिष्कार करना ठीक मालूम हुआ था। उनका तो सम्पूर्ण जीवन ही अदालत में लडाई लडने में व्यतित हुआ; फिर भले ही वे लड़ाइयाँ अपने उन की हों या दूसरों की। इस पर से यह भी न समझ लेना चाहिए कि उन्हें पंचायत-प्रथा अमान्य थी। जहां उस प्रथा का उपयोग हो सकता था, वहां उससे वे खुद तो काम लेते ही थे साथ ही दूसरों भी उसका उपयोग करने की सलाह दिया करते थे। किंतु जिस मामले में विप पंचायत-प्रथा को न मानता हो, वहां मामले को व्यर्थ ही में बिगाड़ लेने वास्तविक अधिकार को छोड़कर मुफ्त में ही अपना नुकसान कर लेने को वे क तयार न थे। इतने पर भी कानूनसम्बन्धी झगड़ों तक में अपने कानूनी ज्ञान बेंचकर द्रव्यो-पार्जन करने की वात ही उन्हें हेय प्रतीत होती थी। इस लि एल् एल्. बी. की परीक्षा पास कर लेने पर भी, उन्होंने एक अर्थ से आजन्म वकालत की, किन्तु दूसरे अर्थ से उन्होंने यह धंदा कभी नहीं किया। यदि वे हाईकोर्ट से सनद प्राप्त कर बम्बई में वकालत करते तो अवश्य ही अन्यान्य उद्योगों की तरह इसमें भी यथेष्ट धन कमा सकते थे। किन्तु जान पड़ता है कि उन्होंने पहले ही कदाचित् इस वात का निर्णय कर लिया था कि समाज-सेवा के काम में अपनी शिक्षा का और भी किसी तरह स्वतंत्र उपयोग हो सकता है या नहीं, इसका अनुभव प्राप्त कर लेने के वाद ही यदि आवश्यकता हुई तो वकालत शुरू करनी चाहिए। वैसे कानून विषयक ज्ञान के लिए उनके चित्त में वहुत कुछ आदर और अभिमान था। समाचारपत्र के व्यवसायद्वारा राजनैतिक मैदान में आनेकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य यदि उनके पास आता तो वे उसे एम. ए. की अपेक्षा एल् एल्. वी. पास करने की ही सलाह विशेष रूपसे दिया करते थे और यही वात स्वयं उन्होंने अपने लिए भी की थी। तिलक से पहले एल् एल्.

न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थाप

बी. पास करनेवालों में वकालत न कर के स्कूल मास्टरी
कोई युवक बम्बई युनीवर्सिटी से शायद ही निकाला
कमसे कम तिलक के विषय में तो यही कहा जा सकत
रपूर्व अलौकिक विशेषता दिखलाने की अपनी अभिरुचि
ी. अध्यापक" बन कर भी अच्छी तरह प्रकट कर दिखाया ...न अध्ययन
करते समय तिलक के सामाजिक और राजनैतिक मत क्या थे, इसका निदर्शन हम पहले करा चुके हैं। उस परसे जाना जा सकता है कि वे आरंभसे ही इस बात के हामी थे कि सुशिक्षित लोग समाज के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हों। अतएव आश्चर्य नहीं कि उन्होंने अपने इस सिद्धान्त को चरितार्थ कर दिखाने ही के लिए वकालत की अपेक्षा स्कूल मास्टरी को विशेष उपयोगी समझा हो।

समाज-सेवाके लिए मुख्य मार्ग दोही हो सकते है—(१) पुरानी पीढ़ी को उपदेश देना और (२) नई पीढ़ी को शिक्षा देना। इनमें प्रथम मार्ग को स्वीकार करना तो 'औंधे घड़ेपर पानी' की तरह है। क्योंकि पुरानी पीढ़ी के नेता एक तो वैसे ही वृद्ध एवं गंभीर विचारवाले होते हैं, साथ ही उनकी बुद्धिका भी विकास हो चुकता है। संसार में उनके पैरपूरी तरह फँसे हुए रहने से वे नई दिशा में दौड़ भी नहीं सकते। इन सब बातो के साथ ही जब एक बार मनुष्य लब्ध-प्रतिष्ठ बन जाता है तो फिर उसे अपना ध्येय बदलना न तो पसंद होता है और न वह सुगमतापूर्वक ऐसा कर ही सकता है। इन्हीं कार्मों से वृद्ध-समाज को उपदेश देने में कोई विशेष लाभ नहीं होता। और कमसे कम किसी नव युवक की ओरसे वृद्ध-जनों को उपदेश दिया जाना तो असंभवता एवं अप्रयोजकता है। इसी लिए नयी दुनिया का निर्माण करनेवाले पुरुष हमेशा युवा शिष्यों की पीढ़ीपर ही विश्वास रखते हैं। संसार के समस्त धर्मगुरुओं ने अपने नये धर्म का प्रचार इन युवाओं के ही द्वारा किया है। इसी तरह सुशिक्षित युवक को जितना प्रेम स्कूल या कॉलेज से होता है उतना किसी अन्य संस्था से नही होता। क्योंकि विद्यादान में स्वाभाविक गुण ही इस प्रकार का है। क्या पहले और क्या अब, सुशिक्षित व्यक्तियों में वकील की अपेक्षा प्रोफेसर का ही पद सर्वदा श्रेष्ठ समझा जाता रहा है। इसी लिए संभव है कि एक आध शिक्षा-संस्था स्थापित कर उसके द्वारा ही लोकसेवा का आरंभ करने की इच्छा तिलक के मनमें उत्पन्न हुई हो।

किन्तु स्कूल कायम करनेसे पहले अध्यापकों के विषय में तिलक का मत क्या था, यह जान सकना कठिन है। किंतु अंशतः तिलक को जिनसे उत्तेजन मिला, अथवा कमसे कम स्कूल कायम करने के उद्योग में जो उनके आदरणीय सहायक थे, उन श्री. विष्णुशास्त्री चिपळूनकर का मत अवश्य बतलाया जा सकता

लो. तिलकका चरित्र.

"शालापत्रक" (मासिक पत्र) को सन १८७२ के जनवरी के अंकमें प्रकाशित शास्त्रीजीका लिखा हुआ 'शिक्षक का कर्तव्य' शीर्षक लेख उनके स्फुट लेख संग्रह में छपा है। उस लेखमें शास्त्रीजीने इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है:—"सम्प्रति लोग समझते हैं कि अत्यधिक प्रमाण में विद्याप्रसार हो रहा है, और विद्याभिरुचि बढ़ रही है यह विचार भ्रमात्मक है। हमारे देशके विद्यार्थी इस समय केवल सरकारी नौकरी के लोभ सेही विद्या पढ़ रहे है। उनमें विद्या-विषयक व्यसन तो क्या किन्तु साधारण अभिरुचि भी नहीं होती। यूनिवर्सिटीका चोगा शरीरपर से उतारते ही उसके साथ २ वे स्वदेशाभिमान, विद्याभिरुचि एवं दुर्जन-तिरस्कार आदि मन के आभूषणों का भी त्याग कर देते हैं। स्वयं शिक्षक को ही अपने कार्य की महत्ता प्रतीत नहीं होती तो फिर दूसरों के चित्त में उसके लिए आदर कैसे उत्पन्न हो सकता है! अर्थात् निरुपाय होकर अध्यापक-वृत्ति स्वीकार करनेकी उनकी बात को सुनते २ लोग भी वैसेही समझने लगते। पहले समय में तो गुरुके विषय में शिष्य की पूज्यबुद्धि रहती थी, किंतु अब उसका पता तक नहीं है। अब तो दोनो ही ओरसे परस्पर स्वार्थका नाता रह गया है। शिक्षा के विषय निश्चत हो चुके हैं, सरकार की ओर से ऐसा कुछ प्रबंध किया गया है जिस में कि विद्यार्थी अपने शिक्षाकाल में धर्म, नीति एवं अन्यान्य आवश्यक विषयों का अक्षरतक न जान सके। किंतु इस ढंग को बदल कर यदि शिक्षक विद्यार्थी के चित्त पर विद्या की सच्ची महत्ता अंकित कर दे या उसके अभ्यास से प्राप्त होनेवाले अनिर्वचनीय सुख की अभिरुचि उत्पन्न कर उसे उत्साहित करे तो यही शिक्षा निरी पोच सिद्ध न होकर फ़ौलादी तल्वार की तरह सख्त एवं चमकदार बन सकती है, और तब इसके द्वारा उस राक्षस का निर्दलन कर के जिसने कि देश में मुद्दतों से डेरा डालकर उसे निर्वीर्य बना दिया है—भारत के विद्यावान व्यक्ति एवं उनके निर्माता चतुर अध्यापक अपना अपूर्व यश संसार में सर्वत्र फैला सकते हैं।" पेरिक्लीज एवं अलाकिबाइडीज़ तथा सिकन्दर आदि बड़े २ व्यक्तियों को देश-कार्यक्षम बनानेवाले उनके विद्यादाता गुरु लोग ही थे। इस बात का श्री. शास्त्रीजीने ख़ास तौरपर उक्त लेख में उल्लेख किया। उन्हें विश्वास था कि महाराष्ट्र की नई प्रजा को इसी प्रकार देशके लिए कार्य-क्षम बनाने के लिए समयपर उसे उत्तम शिक्षक प्राप्त होना चाहिए।

जो विचार श्री. विष्णुशास्त्री को थे, वेही तिलक के थे। इन उभय महानुभावोंका कुछ बातों में मतभेद होने हुए भी राष्ट्रीय विषयों में दोनों के विचार एक ही से पाये जाते हैं। निबंधमाला के कारण शास्त्रीजी की ख्याति बहुत बढ़ गई,

और इसीके साथ २ वे विद्यार्थी-समाज में तो अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे। लोग यह भी जान चुके थे कि शास्त्रीजीका विचार सरकारी नौकरी छोड़कर शीघ्रही पूने में एक स्वतंत्र पाठशाला खोलकर उसके द्वारा शिक्षादान करने का है। पर किसी एकही व्यक्ति के द्वारा स्कूल कैसे चल सकता है? अर्थात् या तो वह किसी प्रचलित किंतु पुरानी संस्था को हाथ में ले, या नई संस्थाको चलाने के लिए पर्याप्त सहयोगी शिक्षकों का संघ जुटाकर कार्यारंभ करे। बस, यही दो मार्ग उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने के लिए उपलब्ध होते हैं किन्तु इनमें प्रथम मार्ग अधिक सुलभ कहा जा सकता है, और पूना जैसे नगर में प्राइवेट पाठशालाओं की कमी कभी पड़ नहीं सकती। श्री. शास्त्री के पूना आने से पहले ही वहां दो प्राइवेट अंग्रेजी शालाएँ चल रही थीं। उनमें पहली शाला सुविख्यात बाबा गोखले की थी। ये महाशय वकालत पास करने से पहले स्कूल में मास्टरी करते थे। अंग्रेजी भाषा के ये पंडित समझे जाते थे। उस समय के मिशनरी स्कूलों से टक्कर लेनेवाली यही एक पाठशाला पूने में थी। स्वयं विष्णु शास्त्री को भी बी. ए. की कक्षा में दोएकबार अनुत्तीर्ण होने के कारण सन १८७१ में इसी स्कूल में नौकरी करनी पड़ी थी। कुछ समय पश्चात् जब बाबा गोखले की वकालत अच्छी तरह चलने लगी, तब उन्होंने सन १८७६ में इस पाठशाला को बन्द कर दिया। अर्थात् उसका पुनरुज्जीवन करने से शास्त्रिजी को एक पुरातन संस्था की परंपरा चलाते रहने का श्रेय मिलता था। किंतु इस दृष्टि से विचार करने के पूर्व ही दूसरी एक प्रचलित प्राइवेट अंग्रेजी शाला के संचालकोंने शास्त्रीजीसे अपनी संस्था में चले आने के लिए साग्रह-निवेदन किया। वह संस्था "दि पूना नेटिव इन्स्टिट्यूशन" थी। उसके संचालक श्री. वामन प्रभाकर भावे की ख्याति शिक्षक की अपेक्षा प्रबंधक के नाते ही विशेष थी। नेटिव या युरोपियन, मिशनरी या फौजी, जो कोई भी अधिकारी इन्हें मिलता उसीसे ये अपनी संस्था का निरीक्षण करने के लिए कहते; और उसका इत्रपान कर सम्मति-पुस्तक में उससे अच्छी सम्मति लिखवा लेते थे। यह काम उनके बायें हाथ के खेल की तरह था परंतु उनमें स्वाभिमान का गुण न था। यही नहीं बल्कि युरोपियन एवं मिशनरी लोग अथवा अधिकारियों के साथ उनका जो बरताव था उसमें और शास्त्रीजी के स्वभाव में जमीन-आसमान का अंतर था। यह बात शास्त्रीजी को विदित थी। अतएव उस संस्था श्री. भावे के स्कूल में वे जाते तो, वहाँ की मुख्याध्यापक की जगह इन्हें मिलती पर उक्त असुविधा के कारण उन की इच्छा उस में काम करने को न हुई। व्यवस्थापक के नाते जहां प्रतिदिन भावेजी किसी न किसी प्रतिष्ठित पुरुष को घेर लाते, वहां शास्त्रीजी की यह दशा थी कि वे सरकारी आश्रय में

१ "अध्यापक" (मासिक पत्र) को सन १८७२ के जनवरी के अंकमें प्रकाशित शास्त्रीजीका लिखा हुआ 'शिक्षक का कर्तव्य' शीर्षक लेख उनके स्फुट लेख संग्रह में छपा है। उस लेखमें शास्त्रीजीने इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है—"आजकल लोग समझते हैं कि अत्यधिक प्रमाण में विद्याप्रसार हो रहा है, और विद्याभिरुचि बढ़ रही है यह विचार भ्रमात्मक है। हमारे देशके विद्यार्थी इस समय केवल सरकारी नौकरी के लोभ सेही विद्या पढ़ रहे हैं। उनमें विद्या-विषयक अनुराग तो क्या किन्तु साधारण अभिरुचि भी नहीं होती। युनिवर्सिटीका चौगा शरीरपर से उतारते ही उनके साथ २ वे स्वदेशाभिमान, विद्याभिरुचि एवं दुर्दिन-तिरस्कार आदि मन के आभूषणों का भी त्याग कर देते हैं। स्वयं शिक्षक को ही अपने कार्यकी महत्ता प्रतीत नहीं होती तो फिर दूसरों के मनमें उसके लिए आदर कैसे उत्पन्न हो सकता है! अर्थात् निरुपाय होकर अध्यापक-वृत्ति स्वीकार करनेकी उनकी बात को सुनते २ लोग भी वैसेही समझने लगते हैं। पहले समय में तो गुरुके विषय में शिष्य की पूज्यबुद्धि रहती थी, किंतु अब उसका पता तक नहीं है। अब तो दोनो ही ओरसे परस्पर स्वार्थका नाता रह गया है। शिक्षा के विषय निश्चत हो चुके हैं, सरकार की ओर से ऐसा कुछ प्रबंध किया गया है जिस में कि विद्यार्थी अपने शिक्षाकाल में धर्म, नीति एवं अन्यान्य आवश्यक विषयों का अक्षरतक न जान सके। किंतु इस ढंग को बदल कर यदि शिक्षक विद्यार्थी के चित्त पर विद्या की सच्ची महत्ता अंकित कर दे या उसके अभ्यास से प्राप्त होनेवाले अनिर्वचनीय सुख की अभिरुचि उत्पन्न कर उसे उत्साहित करे तो यही शिक्षा निरी पोच सिद्ध न होकर फ़ौलादी तलवार की तरह सख्त एवं चमकदार बन सकती है, और तब इसके द्वारा उस राक्षस का निर्दलन कर के जिसने कि देश में मुद्दतों से डेरा डालकर उसे निर्वीर्य बना दिया है—भारत के विद्यावान व्यक्ति एवं उनके निर्माता चतुर अध्यापक अपना अपूर्व यश संसार में सर्वत्र फैला सकते हैं।" पेरिक्लीज एवं अलाकिबाइडीज तथा सिकन्दर आदि बड़े २ व्यक्तियों को देश-कार्यक्षम बनानेवाले उनके विद्यादाता गुरु लोग ही थे। इस बात का श्री. शास्त्रीजीने ख़ास तौरपर उक्त लेख में उल्लेख किया। उन्हें विश्वास था कि महाराष्ट्र की नई प्रजा को इसी प्रकार देशके लिए कार्य-क्षम बनाने के लिए समयपर उसे उत्तम शिक्षक प्राप्त होना चाहिए।

जो विचार श्री. विष्णुशास्त्री को थे, वेही तिलक के थे। इन उभय महानुभावोंका कुछ बातों में मतभेद होने हुए भी राष्ट्रीय विषयों में दोनों के विचार एक ही से पाये जाते हैं। निबंधमाला के कारण शास्त्रीजी की ख्याति बहुत बढ़ गई,

और इसीके साथ २ वे विद्यार्थी-समाज में तो अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे। लोग यह भी जान चुके थे कि शास्त्रीजीका विचार सरकारी नौकरी छोड़कर शीघ्रही पूने में एक स्वतंत्र पाठशाला खोलकर उसके द्वारा शिक्षादान करने का है। पर किसी एकही व्यक्ति के द्वारा स्कूल कैसे चल सकता है? अर्थात् या तो वह किसी प्रचलित किंतु पुरानी संस्था को हाथ में ले, या नई संस्थाको चलाने के लिए पर्याप्त सहयोगी शिक्षकों का संघ जुटाकर कार्यारंभ करे। बस, यही दो मार्ग उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने के लिए उपलब्ध होते हैं किन्तु इनमें प्रथम मार्ग अधिक सुलभ कहा जा सकता है, और पूना जैसे नगर में प्राइवेट पाठ्शालाओं की कमी कभी पड़ नहीं सकती। श्री. शास्त्री के पूना आने से पहले ही वहां दो प्राइवेट अंग्रेजी शालाएँ चल रही थीं। उनमें पहली शाला सुविख्यात बाबा गोखले की थी। ये महाशय वकालत पास करने से पहले स्कूल में मास्टरी करते थे। अंग्रेजी भाषा के ये पंडित समझे जाते थे। उस समय के मिशनरी स्कूलों से टक्कर लेनेवाली यही एक पाठशाला पूने में थी। स्वयं विष्णु शास्त्री को भी बी. ए. की कक्षा में दोएकबार अनुत्तीर्ण होने के कारण सन १८७१ में इसी स्कूल में नौकरी करनी पड़ी थी। कुछ समय पश्चात् जब बाबा गोखले की वकालत अच्छी तरह चलने लगी, तब उन्होंने सन १८७६ में इस पाठ्शाला को बन्द कर दिया। अर्थात् उसका पुनरुज्जीवन करने से शास्त्रीजी को एक पुरातन संस्था की परंपरा चलाते रहने का श्रेय मिलता था। किंतु इस दृष्टि से विचार करने के पूर्व ही दूसरी एक प्रचलित प्राइवेट अंग्रेजी शाला के संचालकोंने शास्त्रीजीसे अपनी संस्था में चले आने के लिए साग्रह-निवेदन किया। वह संस्था "दि पूना नेटिव इन्स्टिट्यूशन" थी। उसके संचालक श्री. वामन प्रभाकर भावे की ख्याति शिक्षक की अपेक्षा प्रबंधक के नाते ही विशेष थी। नेटिव या युरोपियन, मिशनरी या फौजी, जो कोई भी अधिकारी इन्हें मिलता उसीसे ये अपनी संस्था का निरीक्षण करने के लिए कहते; और उसका इत्रपान कर सम्मति-पुस्तक में उससे अच्छी सम्मति लिखवा लेते थे। यह काम उनके बायें हाथ के खेल की तरह था परंतु उनमें स्वाभिमान का गुण न था। यही नहीं बल्कि युरोपियन एवं मिशनरी लोग अथवा अधिकारियों के साथ उनका जो बरताव था उसमें और शास्त्रीजी के स्वभाव में जमीन-आसमान का अंतर था। यह बात शास्त्रीजी को विदित थी। अतएव उस संस्था श्री. भावे के स्कूल में वे जाते तो, वहीं की मुख्याध्यापक की जगह इन्हें मिलती पर इस असुविधा के कारण उन की इच्छा उस में काम करने की न हुई। व्यवस्थापक के नाते जहां प्रतिदिन भावेजी किसी न किसी प्रतिष्ठित पुरुष को घेर लाते, वहां शास्त्रीजी की यह दशा थी कि वे सरकारी आश्रय में

ही तिलक और आगरकर दोनों अपने जीवन को सार्वजनिक कामों में और खास कर शिक्षा-विषयक कार्य में लगा देने का निश्चय कर चुके थे। यही कारण था कि शास्त्रीजी की ओर से नई पाठशाला खोलने के संवाद पाते ही ये दोनों मित्र उनसे जाकर मिले और अपने विचार उनपर प्रकट कर यह अभिवचन दे आये के आप कि ओर से पाठशाला खोली जाने पर हम लोग सबतरह आपकी साथ देंगे। तिलक और आगरकर के साथ २ भागवत और करन्दीकर ये दो युवक और भी उस शुभ संकल्प में सम्मिलित हुए थे। इनमें बालाजी, आबाजी भागवत तो आगे चलकर हाइकोर्ट के वकील बन गये और इसके बाद इंदोर राज्य में कई वर्ष न्याया-धिकारी के पद पर काम करके अब वे उक्त राज्य से पेन्शन पा रहे हैं। कॉलेज में उनका ऐच्छिक विषय इतिहास था, और उनमें बहु-श्रुतता भी थी। श्री. वेंकटेश बालाजी करन्दीकर बी. ए. पास हो जाने पर ग्रँट मेडिकल कॉलेज में जा कर भर्ती हो गये। वहां से एल्. एम्. एण्ड एस्. की पदवी प्राप्त कर ये सरकारी नौकरी द्वारा असिस्टंट सर्जन तक बढ़े। मूल विचार में तिलक और आगरकर के साथ ये दोनों भी थे। किन्तु आगे चल कर उन्होंने अपने विचार बदले। अस्तु। सन १८७९ के सितम्बर महीने में एक दिन रातके वक्त तिलक और आगरकर शास्त्री जी से उनके नारायणपेठवाले, घर जाकर मिले और उनके सामने अपना मन्तव्य प्रकट किया। इस से शास्त्रीजी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि नई पाठशाला और नये शिक्षकोंका संघटन ही सब प्रकार श्रेयस्कर हो सकता है। ता. १३ सितम्बर सन १८७९ को शास्त्रीजीने अपने छोटेभाई लक्ष्मणराव को एक पत्र भेजा था। जिसमें कि उन्होंने कृत संकल्प को इच्छा-नुसार पूर्ण कर सकनेका सुयोग अनायास ही प्राप्त हो जाने का संवाद बड़ी ही उमंग के साथ निम्न लिखित शब्दोंमें सूचित किया था:—The memorable 1st of October is approaching. I shall enjoy the pleasure of kicking off my chains that day. Mr. Agarkar (going for M. A.), Mr. Tilak (going for LL. B.), Mr. Bhagwat and Karandikar (appearing for B. A.), have tendered proposals for joining me in the enterprise. This they have done of their own accord. We have settled 1st of January for the hoisting of the Standard. Such a battery must carry the High School instataneously before it." अर्थात् ""तारीख १ अक्टूबर का स्मरणीय दिन निकट आ रहा है। गुलामी की बेड़ियों को लातोंसे तोड़कर मुक्तिलाभ करने के सुखका उस दिन मुझे अनुभव हुए बिना न रहेगा।

प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को देखते ही नाक भौं सिकोड़ते लगते थे। ऐसी दशा में शास्त्रीजी की भावे से पट सकना एकदम असंभववात थी। इसी प्रकार उस संस्थाके शिक्षकों में ख्यातनामा अथवा तेजतर्दार व्यक्ति भी कोई न था। फलतः इस प्रकार की नादान मण्डली में मिलकर किसी प्रकार का उल्लेखनीय कार्य न कर सकने का ख़्याल शास्त्रीजी के मनमें उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इसी कारण वे बहुत कुछ विचार करने पर भी अपना कर्तव्य पथ निश्चित न कर सके।

किन्तु इसी बीच में उपर्युक्त दो मार्गों में से दूसरा और अधिक सुविधाजनक अनायास ही उनके सामने आ उपस्थित हुआ। बात यह थी कि, जिस प्रकार ऊंचे स्थान में पानी का संग्रह करनेपर नीचे की ओर अनेक स्थानों में झरने फूट निकलते हैं. उसी प्रकार जिस वातावरणमें रहनेसे शास्त्रीजी के हृदय में स्वातंत्र्य-स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, उसी में ठीक उनसे नीचे की पीढ़ी के युवक तैयार हो रहे थे। ऐसी दशामें यदि उनमें भी स्वतंत्रताकी भावना जागृत हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या हो सकती है? सचमुच ही उन दिनों डेक्कन कॉलेज में पढ़ने-वाले कुछ विद्यार्थी थे भी ऐसे ही। क्योंकि तिलक, आगरकर आदि उन दिनों विद्यार्थि दशा में ही अपने लिए भविष्य का कार्यक्रम सोच रहते थे। अपनी "कारावास कहानीं" में श्री. आगरकर लिखते है कि "जब में एम्. ए. का और तिलक एल् एल्. बी. का अध्ययन करने के लिए कॉलेज में रहते थे तभी हमने सरकारी नौकरी न करते हुए देशसेवा में ही अपना जीवन लगा देने का जिस दिन निश्चय किया था उस दिन से हम में जो-कुछ बातचीत हुई थी, उसका पुनरावृत्ति जेल में बारम्बार होती रहती थी।" शास्त्रीजी तिलक से अवस्था में छह वर्ष बड़े थे, और तिलक के बी. ए. होनेसे दो वर्ष पूर्व ही उनकी "निबंधमाला" भी शुरू हो चुकी थी, और उसके राज-विद्रोही स्वरूप के विषय में बाम्बे गजेट में चर्चा भी हो चुकी थी। किन्तु फिरभी यह मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं है कि तिलक के जो स्फूर्ति हुई वह शास्त्रीजी के ही कारण हुई थी। "निबंधमाला" के निकलने से पूर्व ही तिलक और उनके सहपाठियों में अपने कॉलेज में परस्पर क्या २ संभाषण हुआ करते थे, इस विषय की प्राप्त-सामग्री पर से यह जाना जाता है कि शास्त्रीजी की दीप-ज्योति से तिलक की स्फूर्ति का दीपक प्रज्वलित नहीं हुआ था, बल्कि इन दोनों की ज्योतियां परिस्थिति के विद्युत्प्रवाह से स्वयमेव ही प्रज्वलित हो रही थी। एक बात हमारे देखने में यह भी आयी है कि कुछ लोग तिलक की इस स्फूर्ति के मूल कारण श्रीयुत आगरकर को मानते हैं। क़िन्तु यह बात प्रायः निराधारसी है। कुछ भी हो। किन्तु यह तो हम निश्चितरूप से कहा सकते है कि शास्त्रीजी के नौकरी छोड़ कर पूना आने से पहले

ही तिलक और आगरकर दोनों अपने जीवन को सार्वजनिक कार्यों में और खास कर शिक्षा-विषयक कार्य में लगा देने का निश्चय कर चुके थे। यही कारण था कि शास्त्रीजी की ओर से नई पाठशाला खोलने के संवाद पाते ही ये दोनों मित्र उनसे जाकर मिले और अपने विचार उनपर प्रकट कर यह अभिवचन दे आये कि आप कि ओर से पाठशाला खोली जाने पर हम लोग सबतरह आपकी साथ देंगे। तिलक और आगरकर के साथ २ भागवत और करन्दीकर ये दो युवक और भी उस शुभ संकल्प में सम्मिलित हुए थे। इनमें बालाजी, श्रीबाजी भागवत तो आगे चलकर हाइकोर्ट के वकील बन गये और इसके बाद इंदोर राज्य में कई वर्ष न्यायाधिकारी के पद पर काम करके अब वे उक्त राज्य से पेन्शन पा रहे है। कॉलेज में उनका ऐच्छिक विषय इतिहास था, और उनमें बहु-श्रुतता भी थी। श्री. वेंकटेश बालाजी करन्दीकर बी. ए. पास हो जाने पर ग्रँट मेडिकल कॉलेज में जा कर भर्ती हो गये। वहा से एल्. एम्. एण्ड एस्. की पदवी प्राप्त कर ये सरकारी नौकरी द्वारा असिस्टंट सर्जन तक बढ़े। मूल विचार में तिलक और आगरकर के साथ ये दोनों ही थे। किंतु आगे चल कर उन्होंने अपने विचार बदले। अस्तु। सन १८७९ के सितम्बर महीने में एक दिन रातके वक्त तिलक और आगरकर शास्त्री जी से उनके नारायणपेठवाले, घर जाकर मिले और उनके सामने अपना मन्तव्य प्रकट किया। इस से शास्त्रीजी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि नई पाठशाला और नये शिक्षकोंका संघटन ही सब प्रकार श्रेयस्कर हो सकता है। ता. १३ सितम्बर सन १८७९ को शास्त्रीजीने अपने छोटेभाई लक्ष्मणराव को एक पत्र भेजा था। जिसमें कि उन्होंने कृत संकल्प को इच्छानुसार पूर्ण कर सकनेका सुयोग अनायास ही प्राप्त हो जाने का संवाद बड़ी ही ठसके के साथ निम्न लिखित शब्दोंमे सूचित किया था:—The memorable 1st of October is approaching. I shall enjoy the pleasure of kicking off my chains that day. Mr. Agarkar (going for M. A.), Mr. Tilak (going for LL. B.), Mr. Bhagwat and Karandikar (appearing for B. A.), have tendered proposals for joining me in the enterprise. This they have done of their own accord. We have settled 1st of January for the hoisting of the Standard. Such a battery must carry the High School instataneously before it." अर्थात् "तारीख १ अक्टूबर का स्मरणीय दिन निकट आ रहा है। गुलामी की बेड़ियों को लातोंसे तोड़कर मुक्तिलाभ करने के सुखका उस दिन मुझे अनुभव हुए बिना न रहेगा।

प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को देखते ही नाक भौं सिकोड़ते लगते थे। ऐसी दशा में शास्त्रीजी की भावे से पट सकना एकदम असंभवबात थी। इसी प्रकार उस संस्थाके शिक्षकों में ख्यातनामा अथवा तेजतर्रार व्यक्ति भी कोई न था। फलतः इस प्रकार की नादान मण्डली में मिलकर किसी प्रकार का उल्लेखनीय कार्य न कर सकने का ख्याल शास्त्रीजी के मनमें उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इसी कारण वे बहुत कुछ विचार करने पर भी अपना कर्तव्य पथ निश्चित न कर सके।

किन्तु इसी बीच में उपर्युक्त दो मार्गों में से दूसरा और अधिक सुविधाजनक अनायास ही उनके सामने आ उपस्थित हुआ। बात यह थी कि, जिस प्रकार ऊंचे स्थान में पानी का संग्रह करनेपर नीचे की ओर अनेक स्थानों में झरने फूट निकलते हैं, उसी प्रकार जिस वातावरणमें रहनेसे शास्त्रीजी के हृदय में स्वातंत्र्य-स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, उसी में ठीक उनसे नीचे की पीढ़ी के युवक तैयार हो रहे थे। ऐसी दशामें यदि उनमें भी स्वतंत्रताकी भावना जागृत हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या हो सकती है? सचमुच ही उन दिनों डेक्कन कॉलेज में पढ़ने-वाले कुछ विद्यार्थी थे भी ऐसे ही। क्योंकि तिलक, आगरकर आदि उन दिनों विद्यार्थि दशा में ही अपने लिए भविष्य का कार्यक्रम सोच रहते थे। अपनी "कारावास कहानी" में श्री. आगरकर लिखते है कि "जब में एम्. ए. का और तिलक एल् एल्. बी. का अध्ययन करने के लिए कॉलेज में रहते थे तभी हमने सरकारी नौकरी न करते हुए देशसेवा में ही अपना जीवन लगा देने का जिस दिन निश्चय किया था उस दिन से हम में जो-कुछ बातचीत हुई थी, उसका पुनरावृत्ति जेल में बारम्बार होती रहती थी।" शास्त्रीजी तिलक से अवस्था में छह वर्ष बड़े थे, और तिलक के बी. ए. होनेसे दो वर्ष पूर्व ही उनकी "निबंधमाला" भी शुरू हो चुकी थी, और उसके राज-विद्रोही स्वरूप के विषय में बाम्बे गजेट में चर्चा भी हो चुकी थी। किन्तु फिरभी यह मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं है कि तिलक के जो स्फूर्ति हुई वह शास्त्रीजी के ही कारण हुई थी। "निबंधमाला" के निकलने से पूर्व ही तिलक और उनके सहपाठियों में अपने कॉलेज में परस्पर क्या २ संभाषण हुआ करते थे, इस विषय की प्राप्त-सामग्री पर से यह जाना जाता है कि शास्त्रीजी की दीप-ज्योति से तिलक की स्फूर्ति का दीपक प्रज्वलित नहीं हुआ था, बल्कि इन दोनों की ज्योतियां परिस्थिति के विद्युत्प्रवाह से स्वयमेव ही प्रज्वलित हो रही थी। एक बात हमारे देखने में यह भी आयी है कि कुछ लोग तिलक की इस स्फूर्ति के मूल कारण श्रीयुत आगरकर को मानते हैं। किन्तु यह बात प्रायः निराधारसी है। कुछ भी हो। किन्तु यह तो हम निश्चितरूप से कहा सकते है कि शास्त्रीजी के नौकरी छोड़ कर पूना आने से पहले

ही तिलक और आगरकर दोनों अपने जीवन को सार्वजनिक कार्यों में और प्रायः कर शिक्षा-विषयक कार्य में लगा देने का निश्चय कर चुके थे। यही कारण था कि शास्त्रीजी की ओर से नई पाठशाला खोलने के संवाद पाते ही ये दोनों मित्र उनसे जाकर मिले और अपने विचार उनपर प्रकट कर यह अभिवचन दे आये कि आप कि ओर से पाठशाला खोली जाने पर हम लोग सबतरह आपकी साथ देंगे। तिलक और आगरकर के साथ २ भागवत और करन्दीकर ये दो युवक और भी उस शुभ संकल्प में सम्मिलित हुए थे। इनमें बाबाजी, बोधजी भागवत तो आगे चलकर हाइकोर्ट के वकील बन गये और इसके बाद इंदोर राज्य में कई वर्ष न्याया-धिकारी के पद पर काम करके अब वे उक्त राज्य से पेन्शन पा रहे हैं। कॉलेज में उनका ऐच्छिक विषय इतिहास था, और उनमें बहु-श्रुतता भी थी। श्री. वेंकटेश बालाजी करन्दीकर बी. ए. पास हो जाने पर ग्रँट मेडिकल कॉलेज में आ कर भर्ती हो गये। वहां से एल्. एम्. एण्ड एस्. की पदवी प्राप्त कर ये सरकारी नौकरी द्वारा असिस्टंट सर्जन तक बढ़े। मूल विचार में तिलक और आगरकर के साथ ये दोनों भी थे। किंतु आगे चल कर उन्होंने अपने विचार बदले। अस्तु। सन १८७९ के सितम्बर महीने में एक दिन रातके वक्त तिलक और आगरकर शास्त्री जी से उनके नारायणपेठवाले, घर जाकर मिले और उनके सामने अपना मन्तव्य प्रकट किया। इस से शास्त्रीजी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि नई पाठशाला और नये शिक्षकोंका संघटन ही सब प्रकार श्रेयस्कर हो सकता है। ता. १३ सितम्बर सन १८७९ को शास्त्रीजीने अपने छोटेभाई लक्ष्मणराव को एक पत्र भेजा था। जिसमें कि उन्होंने इस संकल्प को इच्छा-नुसार पूर्ण कर सकनेका सुयोग अनायास ही प्राप्त हो जाने का संवाद बड़ी ही उमंग के साथ निम्न लिखित शब्दोंमें सूचित किया था:—The memorable 1st of October is approaching. I shall enjoy the pleasure of kicking off my chains that day. Mr. Agarkar (going for M. A.), Mr. Tilak (going for LL. B.), Mr. Bhagwat and Karandikar (appearing for B. A.), have tendered proposals for joining me in the enterprise. This they have done of their own accord. We have settled 1st of January for the hoisting of the Standard. Such a battery must carry the High School instataneously before it." अर्थात् "तारीख १ अक्टूबर का स्मरणीय दिन निकट आ रहा है। गुलामी की बेड़ियों को लातोंसे तोड़कर मुक्तिलाभ करने के सुखका उस दिन मुझे अनुभव हुए बिना न रहेगा।

प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को देखते ही नाक भौं सिकोड़ते लगते थे। ऐसी दशा में शास्त्रीजी की भावे से पट सकना एकदम असंभववात थी। इसी प्रकार उस संस्थाके शिक्षकों में ख्यातनामा अथवा तेजतर्दार व्यक्ति भी कोई न था। फलतः इस प्रकार की नादान मण्डली में मिलकर किसी प्रकार का उल्लेखनीय कार्य न कर सकने का ख़्याल शास्त्रीजी के मनमें उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इसी कारण वे बहुत कुछ विचार करने पर भी अपना कर्तव्य पथ निश्चित न कर सके।

किन्तु इसी बीच में उपर्युक्त दो मार्गों में से दूसरा और अधिक सुविधाजनक अनायास ही उनके सामने आ उपस्थित हुआ। बात यह थी कि, जिस प्रकार ऊंचे स्थान में पानी का संग्रह करनेपर नीचे की ओर अनेक स्थानों में झरने फूट निकलते हैं. उसी प्रकार जिस वातावरणमें रहनेसे शास्त्रीजी के हृदय में स्वातंत्र्य-स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, उसी में ठीक उनसे नीचे की पीढ़ी के युवक तैयार हो रहे थे। ऐसी दशामें यदि उनमें भी स्वतंत्रताकी भावना जागृत हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या हो सकती है? सचमुच ही उन दिनों डेक्कन कॉलेज में पढ़ने-वाले कुछ विद्यार्थी थे भी ऐसे ही। क्यौंकि तिलक, आगरकर आदि उन दिनों विद्यार्थि दशा में ही अपने लिए भविष्य का कार्यक्रम सोच रहते थे। अपनी "कारावास कहानीं" में श्री. आगरकर लिखते है कि "जब में एम्. ए. का और तिलक एल् एल्. बी. का अध्ययन करने के लिए कॉलेज में रहते थे तभी हमने सरकारी नौकरी न करते हुए देशसेवा में ही अपना जीवन लगा देने का जिस दिन निश्चय किया था उस दिन से हम में जो-कुछ बातचीत हुई थी, उसका पुनरावृत्ति जेल में बारम्बार होती रहती थी।" शास्त्रीजी तिलक से अवस्था में छह वर्ष बड़े थे, और तिलक के बी. ए. होनेसे दो वर्ष पूर्व ही उनकी "निबंधमाला" भी शुरू हो चुकी थी, और उसके राज-विद्रोही स्वरूप के विषय में बाम्बे गजेट में चर्चा भी हो चुकी थी। किन्तु फिरभी यह मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं है कि तिलक के जो स्फूर्ति हुई वह शास्त्रीजी के ही कारण हुई थी। "निबंधमाला" के निकलने से पूर्व ही तिलक और उनके सहपाठियों में अपने कॉलेज में परस्पर क्या २ संभाषण हुआ करते थे, इस विषय की प्राप्त-सामग्री पर से यह जाना जाता है कि शास्त्रीजी की दीप-ज्योति से तिलक की स्फूर्ति का दीपक प्रज्वलित नहीं हुआ था, बल्कि इन दोनों की ज्योतियां परिस्थिति के विद्युत्प्रवाह से स्वयंमेव ही प्रज्वलित हो रही थी। एक बात हमारे देखने में यह भी आयी है कि कुछ लोग तिलक की इस स्फूर्ति के मूल कारण श्रीयुत आगरकर को मानते हैं। किन्तु यह बात प्रायः निराधारसी है। कुछ भी हो। किन्तु यह तो हम निश्चितरूप से कहा सकते है कि शास्त्रीजी के नौकरी छोड़ कर पूना आने से पहले

ही तिलक और आगरकर दोनों अपने जीवन को सार्वजनिक कार्यों में और ख़ास कर शिक्षा-विषयक कार्य में लगा देने का निश्चय कर चुके थे। यही कारण था कि शास्त्रीजी की ओर से नई पाठशाला खोलने के संवाद पाते ही ये दोनों मित्र उनसे जाकर मिले और अपने विचार उनपर प्रकट कर यह अभिवचन दे आये कि आप कि ओर से पाठशाला खोली जाने पर हम लोग सबतरह आपकी साथ देंगे। तिलक और आगरकर के साथ २ भागवत और करन्दीकर ये दो युवक और भी उस शुभ संकल्प में सम्मिलित हुए थे। इनमें बालाजी, धोंडाजी भागवत तो आगे चलकर हाइकोर्ट के वकील बन गये और इसके बाद इंदौर राज्य में कई वर्ष न्यायाधिकारी के पद पर काम करके अब वे उक्त राज्य से पेन्शन पा रहे है। कॉलेज में उनका ऐच्छिक विषय इतिहास था, और उनमें बहु-श्रुतता भी थी। श्री. वेंकटेश बालाजी करन्दीकर बी. ए. पास हो जाने पर ग्रैंट मेडिकल कॉलेज में जा कर भर्ती हो गये। वहां से एल्. एम्. एण्ड एस्. की पदवी प्राप्त कर ये सरकारी नौकरी द्वारा असिस्टंट सर्जन तक बढ़े। मूल विचार में तिलक और आगरकर के साथ ये दोनों भी थे। किंतु आगे चल कर उन्होंने अपने विचार बदले। अस्तु। सन १८७६ के सितम्बर महीने में एक दिन रातके वक्त तिलक और आगरकर शास्त्री जी से उनके नारायणपेठवाले, घर जाकर मिले और उनके सामने अपना मन्तव्य प्रकट किया। इस से शास्त्रीजी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि नई पाठशाला और नये शिक्षकोंका संघटन ही सब प्रकार श्रेयस्कर हो सकता है। ता. १२ सितम्बर सन १८७६ को शास्त्रीजीने अपने छोटेभाई लक्ष्मणराव को एक पत्र भेजा था। जिसमें कि उन्होंने कृत संकल्प की इच्छानुसार पूर्ण कर सकनेका सुयोग अनायास ही प्राप्त हो जाने का संवाद बड़ी ही उसके के साथ निम्न लिखित शब्दोंमे सूचित किया थाः—The memorable 1st of October is approaching. I shall enjoy the pleasure of kicking off my chains that day. Mr. Agarkar (going for M. A.), Mr. Tilak (going for LL. B.), Mr. Bhagwat and Karandikar (appearing for B. A.), have tendered proposals for joining me in the enterprise. This they have done of their own accord. We have settled 1st of January for the hoisting of the Standard. Such a battery must carry the High School instataneously before it." अर्थात् "तारीख १ अक्टूबर का स्मरणीय दिन निकट आ रहा है। गुलामी की बेड़ियों को लातोंसे तोड़कर मुक्तिलाभ करने के सुखका उस दिन मुझे अनुभव हुए बिना न रहेगा।

प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को देखते ही नाक भौं सिकोड़ते लगते थे। ऐसी दशा में शास्त्रीजी की भावे से पट सकना एकदम असंभवबात थी। इसी प्रकार उस संस्थाके शिक्षकों में ख्यातनामा अथवा तेजतर्रार व्यक्ति भी कोई न था। फलतः इस प्रकार की नादान मण्डली में मिलकर किसी प्रकार का उल्लेखनीय कार्य न कर सकने का ख़्याल शास्त्रीजी के मनमें उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। इसी कारण वे बहुत कुछ विचार करने पर भी अपना कर्तव्य पथ निश्चित न कर सके।

किन्तु इसी बीच में उपर्युक्त दो मार्गों में से दूसरा और अधिक सुविधाजनक अनायास ही उनके सामने आ उपस्थित हुआ। बात यह थी कि, जिस प्रकार ऊंचे स्थान में पानी का संग्रह करनेपर नीचे की ओर अनेक स्थानों में झरने फूट निकलते हैं. उसी प्रकार जिस वातावरणमें रहनेसे शास्त्रीजी के हृदय में स्वातंत्र्य-स्फूर्ति उत्पन्न हुई थी, उसी में ठीक उनसे नीचे की पीढ़ी के युवक तैयार हो रहे थे। ऐसी दशामें यदि उनमें भी स्वतंत्रताकी भावना जागृत हो तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या हो सकती है? सचमुच ही उन दिनों डेक्कन कॉलेज में पढ़ने-वाले कुछ विद्यार्थी थे भी ऐसे ही। क्यौंकि तिलक, आगरकर आदि उन दिनों विद्यार्थि दशा में ही अपने लिए भविष्य का कार्यक्रम सोच रहते थे। अपनी "कारावास कहानीं" में श्री. आगरकर लिखते है कि "जब मैं एम्. ए. का और तिलक एल् एल्. बी. का अध्ययन करने के लिए कॉलेज में रहते थे तभी हमने सरकारी नौकरी न करते हुए देशसेवा में ही अपना जीवन लगा देने का जिस दिन निश्चय किया था उस दिन से हम में जो-कुछ बातचीत हुई थी, उसका पुनरावृत्ति जेल में बारम्बार होती रहती थी।" शास्त्रीजी तिलक से अवस्था में छह वर्ष बड़े थे, और तिलक के बी. ए. होनेसे दो वर्ष पूर्व ही उनकी "निबंधमाला" भी शुरू हो चुकी थी, और उसके राज-विद्रोही स्वरूप के विषय में बाम्बे गजेट में चर्चा भी हो चुकी थी। किन्तु फिरभी यह मानने के लिए कोई विशेष कारण नहीं है कि तिलक के जो स्फूर्ति हुई वह शास्त्रीजी के ही कारण हुई थी। "निबंधमाला" के निकलने से पूर्व ही तिलक और उनके सहपाठियों में अपने कॉलेज में परस्पर क्या २ संभाषण हुआ करते थे, इस विषय की प्राप्त-सामग्री पर से यह जाना जाता है कि शास्त्रीजी की दीप-ज्योति से तिलक की स्फूर्ति का दीपक प्रज्वलित नहीं हुआ था, बल्कि इन दोनों की ज्योतियां परिस्थिति के विद्युत्प्रवाह से स्वयमेव ही प्रज्वलित हो रही थी। एक बात हमारे देखने में यह भी आयी है कि कुछ लोग तिलक की इस स्फूर्ति के मूल कारण श्रीयुत आगरकर को मानते हैं। किन्तु यह बात प्रायः निराधारसी है। कुछ भी हो। किन्तु यह तो हम निश्चितरूप से कहा सकते है कि शास्त्रीजी के नौकरी छोड़ कर पूना आने से पहले

ही तिलक और आगरकर दोनों अपने जीवन को सार्वजनिक कार्यों में और ख़ास कर शिक्षा-विषयक कार्य में लगा देने का निश्चय कर चुके थे। यही कारण था कि शास्त्रीजी की ओर से नई पाठशाला खोलने के संवाद पाते ही ये दोनों मित्र उनसे जाकर मिले और अपने विचार उनपर प्रकट कर यह अभिवचन दे आये कि आप कि ओर से पाठशाला खोली जाने पर हम लोग सबतरह आपकी साथ देंगे। तिलक और आगरकर के साथ २ भागवत और करन्दीकर ये दो युवक और भी उस शुभ संकल्प में सम्मिलित हुए थे। इनमें बालाजी, श्रीबाजी भागवत तो आगे चलकर हाइकोर्ट के वकील बन गये और इसके बाद इंदोर राज्य में कई वर्ष न्यायाधिकारी के पद पर काम करके अब वे उक्त राज्य से पेन्शन पा रहे है। कॉलेज में उनका ऐच्छिक विषय इतिहास था, और उनमें बहु-श्रुतता भी थी। श्री. वेंकटेश बालाजी करन्दीकर बी. ए. पास हो जाने पर ग्रँट मेडिकल कॉलेज में जा कर भर्ती हो गये। वहां से एल्.एम्. एण्ड एस्. की पदवी प्राप्त कर ये सरकारी नौकरी द्वारा असिस्टंट सर्जन तक बढ़े। मूल विचार में तिलक और आगरकर के साथ ये दोनों भी थे। किंतु आगे चल कर उन्होंने अपने विचार बदले। अस्तु। सन १८७९ के सितम्बर महीने में एक दिन रातके वक्त तिलक और आगरकर शास्त्री जी से उनके नारायणपेठवाले, घर जाकर मिले और उनके सामने अपना मन्तव्य प्रकट किया। इस से शास्त्रीजी को हार्दिक प्रसन्नता हुई। क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया था कि नई पाठशाला और नये शिक्षकोंका संघटन ही सब प्रकार श्रेयस्कर हो सकता है। ता. १३ सितम्बर सन १८७९ को शास्त्रीजीने अपने छोटेभाई लक्ष्मणराव को एक पत्र भेजा था। जिसमें कि उन्होंने कृत संकल्प को इच्छानुसार पूर्ण कर सकनेका सुयोग अनायास ही प्राप्त हो जाने का संवाद बड़ी ही उत्सुकता के साथ निम्न लिखित शब्दोंमे सूचित किया थाः—The memorable 1st of October is approaching. I shall enjoy the pleasure of kicking off my chains that day. Mr. Agarkar (going for M. A.), Mr. Tilak (going for LL. B.), Mr. Bhagwat and Karandikar (appearing for B. A.), have tendered proposals for joining me in the enterprise. This they have done of their own accord. We have settled 1st of January for the hoisting of the Standard. Such a battery must carry the High School instataneously before it." अर्थात् "तारीख १ अक्टूबर का स्मरणीय दिन निकट आ रहा है। गुलामी की बेड़ियों को लातोंसे तोड़कर मुक्तिलाभ करने के सुखका उस दिन मुझे अनुभव हुए बिना न रहेगा।

श्री. तिलक, आगरकर, भागवत और करन्दीकर ने खुद ही मेरेपास आकर (पाठशाला स्थापित करने के) मेरे साहसपूर्ण उद्योग में सम्मिलित होनेका स्वेच्छापूर्वक वचन दिया है। ता. १ जनवरी सन १८८० का शुभ दिन हमने अपनी विजय-ध्वजा फहराने के लिए निश्चित किया है। इस प्रकार के तोपखाने के सामने (सरकारी) हाई स्कूल कहां तक टिक सकेगा। उसको क्षणमात्र में ही जमींदोज हो जाना पड़ेगा।" पर पाठशाला तारीख १ जनवरी के बदले ता. २ को खुल सकी। यही एक मात्र अन्तर उस के उद्घाटन मुहूर्त में पड़ा। किन्तु उपरि निर्दिष्ट गोलन्दाजों में से उस दिन केवल दो ही वीर मोर्चेबन्दीपर हाजिर न हो सके थे। अर्थात् तोप दागने का काम श्री. शास्त्रीजी और तिलक को ही करना पड़ा। क्योंकि एम. ए. में फेल हो जाने के कारण आगरकर को और भी एक वर्ष के लिए कॉलेज की सेवा करनी पड़ी। और थोडेसे के लिए डिग्री को छोड़कर स्कूलमें योग देने से खुद उनकी अपेक्षा स्कूल की ही अधिक हानि थी। उनके लिए वर्षभर पीछे रहने की सम्मति का दिया जाना भी सब प्रकार उचित ही हुआ। करन्दीकर और भागवत का मामला इस प्रकार का न था चाहे दूसरों के बहकाने से कहिये चाहे उन्हीं के बुद्धि-भेद के कारण कहिए, किन्तु उनका उत्साह ठीक वक्त पर ठंडा पड़ गया। कुछ भी हो, किन्तु उनके बिना इस शाला का कोई काम अड़ नहीं सका। थोड़े ही दिनोंमें उनसे भी अधिक दृढ़ और विद्वान व्यक्ति स्कूल को मिल गये। और इस तरह एक बार जो गोलाबारी शुरू हो गई थी वह फिर आगे जाकर कभी बंद हो नहीं सकी। किन्तु शास्त्रीजीके संकल्पानुसार सरकारी हाईस्कूल का किला अलबत्ता ज़मींदोज न हो सका। हाईस्कूल से ख़ासकर दो कारणों से शास्त्रीजी क्रुद्ध थे। एक तो उसका सरकारी होना और दूसरा यह कि उनके अध्यक्ष माधवराव कुंटे थे। किंतु शास्त्रीजीकी ओरसे बेशुमार गोलाबारी की जानेपर भी हाईस्कूल की दीवारें सरकारी ख़जानेके रुपयोंकी थैले से सुरक्षित थीं और सरकारके हुक्मसेही नहीं वरन् उसके कृपाकटाक्ष मात्रसे वशीभूत हो जानेवाले पालकों के लड़कोंके सैन्य-समूह तैयार था अतएव जो भी यह दुर्ग कहीं कहीं ढहपड़ा और उसपरका झंडा भी टूट गया। किंतु फिर भी उसके मुख्यद्वारके बुर्ज ज़मींदोज न हो सके। पूनेमें शास्त्रीजीकी पाठशाला का सिक्का कुछही दिनों में इस हद तक जम गया कि सरकारी हाईस्कूल के विद्यमान और भावी विद्यार्थियों की आरंभिक कक्षाएँ एकदम खाली हो गई और बिचारे कुंटे की सारी शानकिर करी हो गई। अर्थात् उनका यह अभिमान कि, ऐसे विक्षिप्त 'रोमेन्टिक छोकडे' क्या पराक्रम दिखा सकते है!–बात की बातमें काफूर हो गया। अधिक तो क्या किन्तु रे. प्रि. मेकिकनने तो उस प्रकारके लेखी उद्गार भी प्रकट कर दिए कि "बिना किसी सरकारी सहायता

के ही अब पूने की यह संस्था आज जोरों के साथ शिक्षा प्रचार कर रही है, तो फिर क्यों व्यर्थ में प्रतिवर्ष ११-१३॥ हजार रुपये खर्च कर पूनेका हाईस्कूल चला जाय ? " किन्तु यह सब होते-हुए भी आगे चलकर सरकारी हाईस्कूल का खर्चा कम होनेके बदले और भी बढ़ गया, परंतु शिक्षा की और विद्यार्थियों की संख्या किसी भी प्रकार न बढ़ सकी। ऐसी ही दशामें सन १८६० से सरकारने उसका खर्चा और बढ़ देने के लिए एक यूरोपियन हेडमास्तर रखनेकी योजना की! किन्तु यह टोटगा भी काम न आया। इतनेपर भी सरकारने हाईस्कूल बन्द नहीं किया। सन १९१२ में शहरसे बाहर ले जाकर उसे इँग्लैंडके पब्लिक स्कूल के ढंगपर –अर्थात् धनाढ्योंके लिए अमीरी ढंगपर-चलाने का निश्चय किया और इसके लिए दस-पंद्रह लाख रुपये मंजूर भी हुए। किंतु आगे चलकर स्थान की कठिनाई उपस्थित हुई। महायुद्ध के कारण किफायतशारी करनेपर ज़ोर दिया गया तथा इसीके साथ २ शिक्षा-विभाग के लिए जबाबदार मंत्री नियुक्त हो गया। इन कारणों से सन १९२२ के मार्च महीने की पहिली तारीख के दीन अंतमें यह सरकारी स्कूल बन्द कर ही दिया गया। इस तरह श्री. विष्णुशास्त्री की तोपसे छूटे हुए लोगों को विश्रामबाग़ के किले में बयालीस वर्षतक दबे रहना पड़ा। किन्तु राजनैतिक वातावरण में आवश्यक उष्णता के उत्पन्न होतेही, उन्होंने एकदम फूटकर अन्तमें अपना प्रभाव दिखाही दिया। इस कार्य में गोलन्दाज़ की अपेक्षा गोला-बारूद की ही आयु अधिक सिद्ध हुई!

तारीख १ जनवरी सन १८८० के दिन शास्त्रीजी की नई शाला का उद्घाटनोत्सव यथाविधि हो गया। किन्तु एक दिन पूर्वही पिछली रातके समय शास्त्रीजी के घर में एक अपमृत्यु के हो जाने के कारण आरंभवाले दिन ही शिक्षादान का शुभ कार्य नियमपूर्वक कोई भी न कर सका। ता. २ से यथानियम यह कार्य आरंभ हुआ। वैसे भी न केवल नई ही किन्तु पुरानी संस्थाओं में भी किसी बड़ी छुट्टी के बाद का पहला दिन इसी तरह फुटकर बातों में बीत ही जाता है। उसी तरह इस शालामें भी पहले दिन का काम केवल रजिष्टर में लड़कों के नाम लिख कर ही समाप्त कर दिया गया। इस नई पाठशाला में आरंभिक उपस्थिति १६ लड़कों की ही रही, किन्तु रजिस्टर में उनकी संख्या बहुतही अधिक अर्थात् डेढ़सौ तक पहुँच गई। और इसके बाद वह बराबर बढ़ती ही गई।

पाठशाला के आरंभ में अध्यापक के नाते काम करनेवाले प्रमुख व्यक्ति शास्त्रीजी और तिलक तो थे ही, किन्तु इनके साथ अन्य होनहार नवयुवक भी थे। उनमें माधवराव नामजोशी, वासुदेव शास्त्री खरे, नंदर्गीकर शास्त्री, हरी

कृष्ण दामले, कृष्णराव मांडे और श्री० मुळे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन में माधवराव नामजोशी विना किसी विशेष परीक्षा के पास होते हुए भी स्वावलंबी सम्पादक एवं उद्योगप्रिय सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के नाते पूने के प्रधान व्यक्तियों को उनका परिचय होने लगा था। इसके वाद तो पांच सात वर्षों में अपने आन्दोलन करनेवाले स्वभाव एवं साहसयुक्त वृत्ति के कारण उन्होंने जनता और सरकार दोनों में अपनी पूरी धाक जमा ली। वासुदेव शास्त्री खरे उन दिनों काशीनाथ नारायण साने और जनार्दन वालाजी मोड़क के साथ 'काव्येतिहाससंग्रह' के संपादक का काम करते थे। उनके जिम्मे अधिकतर इस मासिक पत्र का संस्कृत-विभाग रहत था। इसके वाद खरे शास्त्री एक सुप्रसिद्ध कवि, एवं नाटककार और इतिहास-संशोधक के नाते किस प्रकार विख्यात हुए, इसे मराठी-जनता अच्छी तरह जानती है। श्री. नंदर्गीकरशास्त्री अपनी जराजीर्ण अवस्थातक वरावर इसी पाठशाला में संस्कृत अध्यापक का कार्य करते रहे। श्री. हरी कृष्ण दामले को जब आगे चलकर शास्त्रीजी के "किताबखाना" अर्थात् पुस्तकालय का प्रबंधक वनाया गया, तव उन्हें स्कूल छोड़ देना पड़ा, और इसके वाद उन्होंने उक्त पुस्तकभंडार को खूब उन्नतावस्थामें पहुँचा दिया। उन्होंने कुछ शालोपयोगी पुस्तके भी प्रकाशित की, किन्तु उनका प्रधानकार्य श्री. शास्त्रीजीकी आरंभ की हुई पुस्तक 'अरेवियन नाइट्स' के अनुवाद को पूरा कर देना था। श्री. मांडेका 'श्रीशिवाजी' नामक प्रेस और समाचार पत्र दोनों सन १८८० से पहले ही जारी हो चुके थे, किन्तु इसी के साथ उन्होंने अध्यापन कार्य को भी हाथ में लेकर अपनी विद्या को विशेष रूपसे जनता के लिए उपयोगी सिद्ध कर दिखाया। उनका पत्र और प्रेस दोनों ही आगे चल कर विख्यात न हुए, किंतु फिर भी उन्हों ने वक्तृत्वोत्तेजक सभा के मंत्री आदि के सार्वजनिक कार्य यथाशक्ति किये। मतलव यह कि शास्त्रीजी की नई पाठशाला के आरंभिक शिक्षकों में प्रायः सभी व्यक्ति ऐसे थे कि जिन्हे सार्वजनिक कार्यों से थोड़ावहुत प्रेम अवश्य था।

यह नई पाठशाला वुधवार पेठ के सुप्रसिद्ध मोरोवा दादा फड़नवीस के भवन के अगले भाग में कायम की गई। यह भवन उस समय अच्छी दशा में था, और इसके चौक में जगह भी खूब थी। इस पाठशाला का नाम 'न्यू इँग्लिश स्कूल' रखा गया। क्योंकि इसमें केवल अंग्रेजी हाईस्कूल की सातवी कक्षातक की ही पढ़ाई रक्खी गई थी। राष्ट्रीय शिक्षा के विचार उस समय भी लोगों के मनमें उदित हो चुके थे, किन्तु तवतक न तो किसीने मुखसे उसे प्रकट किया था न उसका 'नामाभिधान' ही हो सका था। उसी वर्ष मई महिने की छुट्टी के लिए पाठशाला वन्द होते समय शास्त्रीजीने जो अंग्रेजी का लिखित भाषण

सुनाया उसमें राष्ट्रीय शिक्षा के भाव अनेक रूपोंमें झलक रहे थे। इस भाषण में उन्होंने पूने की अन्य कितनी ही मृत अथवा मृतप्राय शिक्षासंस्थाओं का तुच्छता-पूर्वक उल्लेख करते हुए इस बातपर स्वाभाविक अभिमान प्रकट किया था कि केवल तीन ही महीनेमें उनकी पाठशाला के विद्यार्थियों की संख्या ४०० तक बढ़ गई है। विरुद्ध पक्ष में सरकारी शालाधिकारियों के प्रयत्न और इसीके साथ २ लोगोंकी स्वाभाविक अश्रद्धा जैसी कठिनाइयों का सामना करते हुए सचमुच ही इस शालाने आशातीत उन्नति कर दिखाई थी। यह हमें निःसंकोच भावसे स्वीकार करना पड़ेगा कि शास्त्रीजीके भाषण के शब्द प्रायः दर्प भरे थे। किन्तु इसीके साथ २ यह ध्यान में रहे कि स्वयं शास्त्रीजी एवं उनके सहकारी युवा मित्रोंने तत्कालीन लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा की जानेवाली अप्रिय वाग्वृष्टि को भी चुपचाप सहन किया था। विश्रामबाग़ हाईस्कूल के तत्कालीन हेडमास्टर श्री० वामन आबाजी मोडक ने शास्त्रीजी के उक्त भाषण से कुछ दिन पूर्व अपने स्कूलकी सालाना रिपोर्ट अपने अधिकारियों के पास भेजी थी। उसमें उन्होंने 'न्यू इँग्लिश स्कूल' के कारण अपने हाईस्कूल के विद्यार्थियों की संख्या घटजाने की बात स्वीकार करते हुए भी उसके परिहारार्थ निम्न शब्दोंका प्रयोग किया था। "यहां के कुछ उद्दंड एवं हुल्लड़बाज युवाओंकी ओरसे एक ख़ानगी पाठशाला खोली जाने के कारण हाल में हमारे स्कूल के विद्यार्थियों की संख्या कुछ कम अवश्य हो गई है। किंतु इस प्रकारकी पाठशालाओंका अस्तित्व केवल कुत्तों के...... (कुकर मुत्ते) पेड़ की तरह क्षणिक होनेके कारण उक्त संख्या के स्थायी रूपसे कम होने की विशेष संभवता नहीं है।" मोडक के समान प्रतिष्ठित एवं शान्त-वृत्तिके धार्मिक अथच स्थिर-पदस्थ व्यक्ति के मुँहसे ही जब ऐसे शब्दों में अपने भाव प्रकट होते हैं, तो उनके कानमें चुभते रहने की दशामें, कार्यसिद्धि एवं उत्कर्ष के जोश में, यदि शास्त्रीजीके मुँहसे किंचित् उद्दण्ड वृत्ति के शब्द निकल पड़े हों तो उनका यह दोष क्षम्य ही कहा जायगा। विपक्षियों के प्रयत्नों को:—"Little interested doings of little folks" एवं "Mean devices of disappointed malice" अर्थात् "क्षुद्र लोगोंका क्षुद्र षड्यंत्र" और "निराशाग्रस्त ईर्ष्यालुओं के दुष्प्रयत्न" जैसे बुरे विशेषणों से अवश्य संबोधित किया गया, किंतु वे एकदम अन्यायपूर्ण थे, ऐसा कमसे कम मि० मोडक के उक्त वाक्यों को पढ़ लेने पर तो कोई स्वीकार न करेगा।

अस्तु। शास्त्रीजी के भाषण के अन्य मुद्दे इस प्रकार थे "हमारे स्कूल में अध्यापकों की ही तरह विद्यार्थियों को भी व्यक्तिस्वातंत्र्य का पूर्ण अधिकार प्राप्त रहता है। प्रत्येक घंटे में बेत उठाये हुए कक्षाओं की जांच की गश्त करनेवाला

हेडमास्टर यहां किसी को न मिलेगा। इसी प्रकार शिक्षकों के लिए भी इस बात से भयभीत होने की कोई आवश्यकता नहीं रहती कि स्कूल इन्स्पेक्टर आकर अचानक कब परीक्षा ले बैठेगा! दूसरे स्कूलों में जब नया हेडमास्टर आता है तो वह अपनी रुची के अनुसार वेश-भूषा एवं व्यवहारादि की नयी व्यवस्था चला" है और सख्ती के साथ उसका पालन कराता है, किन्तु यह स्कूल इस आपत्ति भी बचा हुआ है। सरकारी स्कूलमें देखनेपर प्रतीत होगा कि घड़ी और टाई टेबल की मशीन में पड़कर शिक्षक किसी चाबीसे चलनेवाले पुतले की तरह का करता रहता है और अपने पेट के लिए बडे अधिकारियों की आज्ञा को चुपचा पालन करता हुआ स्वाभिमान को भी खो बैठता है, ऐसी दशा में उसका जीव अधिकारियों की घुड़कियां चुपचाप सहते हुए मुट्ठीमें जान रखकर काल-क्रमर करनेवाले पशु की तरह हो जाता है। हमारे स्कूलमें किसी को बेंत या छड़ी नाम को भी न दिखाई देगी। और न किसी विद्यार्थी की ओर से स्कूल का नियम भंग होनेपर उसे क्षमा ही की जायगी। किन्तु फिरभी 'गुरूजी' जैसे एक शब्द में जो भयपूर्ण अनुभव के द्वारा संचित हो चुका है, उसका साम्यस्वरूप ही यहां दिखाई देगा। जिस प्रकार स्कूल इन्स्पेक्टर अध्यापकों के लिए हौआ न रहेगा उसी प्रकार विद्यार्थियों के लिए भी शिक्षक हौआ न रहेगा। प्रश्न पूछने की पद्धति से ज्ञान सम्पादन करनें की स्वतंत्रता विद्यार्थियों के लिए यथेष्ट रहेगी, किसी विद्यार्थी की ओरसे प्रश्न किया जानेपर प्रायः अज्ञान अध्यापक अपने अज्ञानपर पर्दा डालने के लिए व्यर्थ को गुर्राता या उनपर क्रुद्ध होने लगता है; यह दशा यहां देखने में न आवेगी। युवा विद्यार्थी केवल भावुक होते हैं, अतएव उनके स्वतंत्र विचारों को उद्दंडता के नाम से सम्बोधित नहीं किया जायगा, और न उनकी प्रगतिशील प्रवृत्ति को ही निरी शिस्त के बोझ से दबा दिया जायगा।"

विद्यार्थियों को उन्होनें जो उपदेश दिया था, वह उनके लिए सर्वथैव योग्य ही था। उन्होंने उनसे कहा था, "भाइयो, अब वह समय नहीं रहा है जबकि दिनरात सोने उद्दंडता का बर्ताव रखने अथवा साधारणसी शिष्यवृत्तियों-पर निर्वाह चला कर ग्रेजुएट बनने के बाद अपने घर लौटनेपर लोग तुम्हारे अद्भुत दर्शन करके अपनी लालसा को तृप्त कर सकें। अब तो जीवन-संग्राम पहले से दस गुना तीक्ष्ण हो चला है। प्रतिस्पर्धी जोरोंपर है। अतएव छुट्टी के दिनों में भी तुम्हें मनःपूर्वक अध्ययन करना चाहिये। यद्यपि यह बात ठीक है कि धनुष्य की डोरी हमेशाही चढ़ी हुई न रखनी चाहिये, किन्तु अध्ययन और मनोरंजन दोनों का ही उलटपलट कर मेल करना चाहिये। देहांत में जानेवाले विद्यार्थी प्राकृतिक सौन्दर्य एवं अन्य सुलभ साधनों से सुख प्राप्त करें और पूरा

वैसे शहर के विद्यार्थी यहां की सार्वजनिक संस्थाओं से लाभ उठावें।" शास्त्रीजी की बतलाई हुई कितनीही बातों का आरंभ में तो कुछ अनुभव हुआ, किन्तु कालान्तर में जाकर उनकी इस शाला का स्वरूप भी परिवर्तित हो गया। इस परिवर्तन का इतिहास बड़ा मनोरंजक है। अर्थात् जबतक सरकारी ग्रैन्ट (सहायता) नहीं ली जाती थी, तबतक इन्स्पेक्टर का होवा इस स्कूल में आड़ी नहीं सकता था, किंतु आगे चलकर यह हालत बदल गई। सरकारी ग्रैन्ट मांगी और ली जाने लगी। ख़ानगी स्कूल के अध्यापक जो भी व्यक्तिशः इन्स्पेक्टर से भय नहीं खाते किन्तु फिर भी अपनी संस्थाको अधिक ग्रैंट दिलवाने के लिए इन्स्पेक्टर की सिफारिश की ख़ास ज़ुरूरत समझ कर उन्हें अपने लिए न सही किन्तु कमसे कम संस्था के ही लिए किसी क़दर दब-झुककर अवश्य बरतना पड़ता है। खुद शास्त्रीजी जो भी टाईमटेबले की अधिक पर्वाह न करते थे, किन्तु इस पर से यह न समझ लेना चाहिये कि अन्य शिक्षकों की ओर से समय की पाबंदी न होने पर वे चुप रह जाते होंगे। आगे चलकर जब वामन शिवराम आपटे न्यू इंग्लिश स्कूल के सुपरिन्टेन्डेन्ट हुए तब से तो घड़ी, टाइमटेबल और छड़ी (बेंत) तीनों का कड़ा शासन आरंभ हो गया। किन्तु इस पर से किसी की धारणा यह न हुई कि पाठशाला की लोकप्रियता या उस की विशेषता में इससे बट्टा लगता है। मतलब यह कि शास्त्रीजीके व्याख्यान के सभी मुद्दोंका राष्ट्रीय शिक्षा की दृष्टि से यद्यपि समान महत्त्व नहीं है तथापि पुरानी सरकारी स्कूलों का जो चित्र उन्होंने उपर्युक्त चार पांच वाक्योंमें अंकित किया है, वह अपनी यथार्थता के कारण हर एक व्यक्ति को हृदयंगम हुए बिना न रहेगा।

न्यू इंग्लिश स्कूल के संगठन एवं उसकी स्थापनाके ठीक पांच वर्ष बाद डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी का 'फर्ग्युसन कॉलेज' स्थापित हुआ। अतएव तब से कॉलेज की ख्याति बढ़कर इस स्कूल की नाम किंचित् पीछे पड़ गया। अर्थात् इस स्कूलका स्वतंत्र इतिहास आरंभ के पांच वर्षों की कारगुज़ारी ही माना जा सकता है। यह पंचवर्षीय इतिहास बड़ा स्फूर्तिदायक है। इस स्कूल की विद्यार्थी-संख्या पहले दिन हाजिरी के लिहाज़ से १६ थी, किन्तु रजिस्टर में १२० से अधिक लड़कों के नाम दर्ज हो चुकने का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यह संख्या सन १८८० के अंत में ३३६, सन १८८१ में ४०१; १८८२ में ५६३; १८८३ में ७३२; और १८८४ में १००६ इस तरह बराबर बढ़ती गई। इधर अध्यापकों में भी पदवी-धारी (ग्रैजुएट) व्यक्तियों की संख्या इसी क्रमसे बढ़ चली। इस स्कूल को यूनीवर्सिटी की प्रवेश (मैट्रिक) परीक्षा में यश प्राप्त होनेका प्रमाण भी इसी क्रमसे बढ़ता गया। यहां के विद्यार्थी मैट्रि-

कार अपने हाथ में रखने का उन्हें इच्छा थी। अनुशासन का अमल करने लिए शास्त्रीजी की अपेक्षा आपटे ही विशेष योग्य समझे जाते थे और यूनी सिटी द्वारा उनको मिला हुआ सम्मान सबसे बढ़ कर था, अतएव स्कूलका मुख्य धिकार उनको सौंपा जाना जितना अपरिहार्य था उतना ही इष्ट भी था। इस इ आपत्ति को स्वीकार कर श्री. शास्त्रीजीके ही साथ २ अन्य समस्त संचालकों एकमत से सुपरिंटेंडेण्ट का नया पद निर्माण कर प्रसन्नतापूर्वक उस पद प आपटे को स्कूल की देखरेख के लिए नियत कर दिया। केलकर और गोले ऐ समय स्कूल में आये जबकि कोल्हापुरवाले मामले के कारण उस संस्थापर एक प्रकार का संकट आ रहा था। उस प्रसंग पर ध्यान देकर वे सहानुभूति के भाव से प्रथम २ काम करने लगे, और इसके कुछ दिन बाद संस्था का कार्य मनोनुकूल समझकर वे इसके आजीवन सदस्य भी हो गये।

न्यू इंग्लिश स्कूल की कीर्ति का तीसरा कारण था तिलक और आगरकर पर चलाया गया कोल्हापुर का मुकदमा, चौथा कारण था इस स्कूलके संचालकों द्वारा आरंभ किये हुए 'केसरी' और 'मराठा' नामके पत्रोंका प्रकाशन। इन दोनों विषयोंपर हम आगे चलकर स्वतंत्र प्रकरणों में चर्चा करनेवाले हैं, अतएव यहां इनके विषयमें अधिक चर्चा करना उचित नहीं जान पड़ता। यहां हम केवल यह बतला कर कि, इस स्कूल की कीर्ति न केवल पूने में ही वरन् पूने से बहार और सरकार-दरबार में भी कहांतक बढ़ गई थी—इस प्रकरण को पूरा कर देना चाहते हैं। इस कीर्ति के कारणों में भी कुछ अंश उक्त अभियोग की चर्चा फैल जाने का हो सकता है। किंतु उस मामले में जिन २ की ख्याति हुई उन सब की ख्याति टिकी नहीं रही अतएव यह स्पष्ट ही प्रकट है कि उक्त अभियोग के सिवाय भी इस स्कूल एवं इसके प्रधान संचालकों को कोई स्वतंत्र महत्व अवश्य प्राप्त था। सन १८८२ में माननीय रावसाहब विश्वनाथ नारायण माण्डलिक ने इस स्कूल की जी खोलकर प्रशंसा करते हुए यह इच्छा प्रकट की थी कि संस्था के संचालकों द्वारा इस स्वयं वैभवसंपन्न बन जानेवाली शाला की स्थान २ पर शाखाएं कायम हों, और लोकाश्रयद्वारा यह एक महान् संस्था का रूप धारण करे। श्री. माण्डलिक एक तो लो. तिलक के पिता गंगाधर रावजी के मित्रों में से थे, दूसरे वे खुद महाराष्ट्रीय भी थे, अतएव उनकी सम्मति को कदाचित् किन्हीं विशेष महत्व न भी दिया होता, तथापि प्रो. वर्डस्वर्थ तो भारतीय थे ही नहीं। उनके चित्त पर भी इस स्कूल ने पहले दो वर्षों में ही विचित्र प्रभाव जमा दिया। वे अपनी सम्मति में लिखते हैं कि "इस स्कूल के प्राप्त यश को देखकर सचमुच मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। मैं समझता हूं कि अंग्रेजी शिक्षा के कारण भारतीय

समाज में जो एक नवीन नैतिक शक्ति निर्माण हुई है उसी का यह स्कूल एक ताज़ा उदाहरण है। सुशिक्षित व्यक्ति सरकारी नौकरी की इच्छा न करते हुए सब प्रकार के उद्योगों में स्वावलंबन के बल पर यदि उच्च पद और यश प्राप्त करने लगें तो इस से बढ़कर ऊंचे भाव और क्या हो सकते है? मेरा विश्वास है कि भारत के भावी इतिहास पर इस प्रकार के ऊंचे भावोंका चिरस्मरणीय प्रभाव पड़े बिना न रहेगा!" इनसे भी बढ़कर सम्मति मिशनरियों की है। उनकी यह मनकी इच्छा थी कि, शिक्षा का प्रबंध खानगी व्यक्तियों के हाथ में रहना चाहिये, वे चाहते थे कि जहांतक हो सके वह मिशनरियोंके ही हाथ में रहे। यदि यह न हो सके तो कमसे कम अपने जैसों (क्रिश्चियनों) के हाथ में रहे। किन्तु इतने पर भी पूना के ख्यातनामा मिशनरी डॉक्टर मरेमिचेल ने प्रकट रूपसे यह प्रमाणपत्र दिया है कि न्यू इँग्लिश स्कूल ने सरकारी हाईस्कूल से बाज़ी मार ली है। दूसरे मिशनरी डॉ. मैकिकिन के प्रशंसापत्र का उल्लेख पहले एक स्थानपर किया ही जा चुका है।

इन सब से अधिक महत्त्व की सम्मति एज्यूकेशन कमिशन के अध्यक्ष सर विलियम हँटर की कही जा सकती है, यह कमिशन जब बम्बई आया, तब न्यू इँग्लिश स्कूल की ओरसे उसके सामने वामन शिवराम आपटे की गवाही हुई। उस गवाही में सरकारी और खानगी (प्रजाकीय) शिक्षासंस्थाओं के सम्बन्ध में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया था, वह कमिशन को पसंद आया था। उसमें मुख्य बात यह थी कि यदि सरकार की सचमुच ही यह इच्छा हो कि शिक्षा की व्यवस्था का भार धीरे २ प्रजा अपने हाथ में ले ले, तो इसके लिए उसे प्रजा को आर्थिक सहायता तो देनी ही चाहिये, किन्तु इसीके साथ २ उसे प्रजाकीय संस्था के आन्तरिक प्रबंध में किसी प्रकारकी दस्तन्दाज़ी न करने का भी वचन अवश्य दे देना चाहिये। यदि उसके (संस्था के) संगठन में कोई दोष भी हो तो सुधारके लिए उसे मौक़ा देना चाहिये। यह बात कमीशन को बहुत भायी और अपनी रिपोर्ट में उसने इसका बहुत कुछ समर्थन भी किया है। सरकारी ग्रँट के स्केल के विषय में भी आपटेजीने कुछ सूचनाएँ की थीं। इस गवाही और कमिशनद्वारा किया हुआ न्यू इँग्लिश स्कूल का निरीक्षण एवं इस संस्थाके कार्यकर्ताओंका परिचय इन सबका डॉ. हंटर के चित्त पर जो उत्तम प्रभाव पड़ा उसे उन्होंने अपनी सम्मतिमें निम्न शब्दोंद्वारा व्यक्त किया है। "इस स्कूल की उन्नति को देखते हुए मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि भारतभर में इसके जोड़ की कोई संस्था मेरे देखने में नहीं आई। बिना सरकारी ग्रँट के लिये ही यह संस्था सरकारी हाईस्कूल से केवल बराबरी ही नहीं करती बल्कि उससे

भी श्रेष्ठ सिद्ध हो रही है। अन्य देशों की संस्था से तुलना करने पर भी मैं इसे ही उनसे श्रेष्ठ समझता हूं!" यह बात प्रसिद्ध है कि खुद प्रान्ताधिकारी सर जेम्स फर्गसन और लार्ड रे का मत भी इस स्कूल के विषय में बहुत अच्छा था। यह कहना अनुचित न होगा के लार्ड रे जैसे विद्यारसिक अंग्रेज को तिलक एवं नामजोशी आदिने एकदम मुग्ध कर दिया था; इन सबसे बढ़कर श्रेष्ठ अभिप्राय बम्बई के एंग्लो इण्डियन दैनिक पत्रों का कहा जा सकता है। किन्तु उन्हें भी न्यू इंग्लिश स्कूल के विरुद्ध कुच्छ कहने को मौक़ा न मिला। 'टाइम्स' सम्पादक के मतानुसार "इस स्कूल ने सरकारी सहायता लेने की पुरानी प्रथा को तोड़कर उसके स्थानपर एक नवीन प्रथा शुरु कर देने की अनिवार्य आवश्यकता निर्माण कर दिखाई है।" कोल्हापुरवाले मामले में इन एँग्लो इंडियन पत्रों ने श्री. वर्वे का पक्ष लेकर तिलक और आगरकर को सजा दिलवानेपर ज़ोर दिया था। किन्तु इस समय उस सारे वैरभाव को भूलकर उन्होंने इस बात का प्रतिपादन किया कि कई लोगोंकी ओर से गवर्नरसाहब को स्कूल न देखने की प्रार्थना होते हुए भी उन्होंने इस स्कूल का निरीक्षण कर, एक बड़ा अच्छा काम किया है तथा वर्तमान समय में तो कमसे कम पूना की यह संस्था अपूर्व कही जा सकती है।"

न्यू इंग्लिश स्कूल की नींव यद्यपि विष्णुशास्त्री चिपलूनकर केही द्वारा पड़ी, किन्तु शिक्षक के नाते असल में उनका काम थोड़े ही दिनों का कहा जा सकता है। उन से शिक्षा पाये हुए लोग उनकी शिक्षा-पद्धति का वर्णन बड़ेही मनोरंजक ढंग से करते हैं। उनकी विद्वत्ता के विषय में तो कोई सन्देह नहीं था। उनकी अध्यापन की इच्छा इतनी अधिक थी की टाइमटेबल में निश्चित घंटे कब समाप्त हो जाते थे, इस का उन्हें और उनके छात्रोंको पता तक न रहता था। किन्तु निश्चित विषय या ग्रंथ को यथानियम सिखाना निश्चित समय में ही उसे समाप्त कर ने का विचार उनके हृदय में कभी उत्पन्न तक नहीं होता था। एक विषय की शिक्षा देते २ दूसरे विषय की बातें करने लग जाना और कभी असम्बद्ध विषयों की चर्चा छेड़ देना, आदि बातें तो उनके नित्यनियम में आ गई थी। किन्तु इतनेपर भी वे विद्यार्थियों को जो कुछ सिखाते या समझाते थे उससे युवा विद्यार्थियों की शुद्ध भावना एवं उनकी स्वदेशप्रीतिविषयक वृत्ति के पोषण में बहुत कुछ सहायता मिलती थी। किन्तु ऐसा करते हुए अनजाने में उनसे व्यक्तिविषयक निन्दा भी हो जाती थी। किम्बहुना उनके व्याख्यानों को जबानी पढ़ाई हुई दूसरी "निबंधमाला" भी कह दिया जाय तो अनुचित न होगा। शास्त्रीजी के चरित्रलेखक लिखते हैं "अपनी अल्पज्ञता के कारण विद्यार्थी लोग शास्त्रीजी की अपेक्षा अन्य शिक्षकोंके

ही अधिक अच्छा समझते थे!" क्यों कि उनका ध्यान असंबद्ध बातोंमें न बँटकर अपने ग्रंथ की ही ओर बराबर लग रहता था। इधर स्कूल के प्रबंध में श्री. वामनराव आपटे का प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता जाने से विद्यार्थियों के चित्तमें शास्त्रीजी को पहले के बजाय दूसरा स्थान मिलने लगा। ऐसी दशामें यदि शास्त्रीजीके चित्तमें यह विचार भी उत्पन्न हुई हो तो आश्चर्य नहीं कि, जिस मानसिक स्वातंत्र्य कि इच्छा से यह स्कूल खोला गया है उसके आशातीत प्रसार एवं उत्कर्ष से ही एक प्रकारसे हमारी स्वतंत्रता में बाधा पड़ती है। स्कूल के ही समान, किम्बहुना उससे भी अधिक प्रमाण में उनका ध्यान अपने अन्यान्य प्रिय उद्योगों की ओर भी बँट जाता था। न्यू इँग्लिश स्कूल में पुस्तकों की मांग अत्यंत अधिक रहने से शास्त्रीजी के 'किताबखाने' की भी यथेष्ट वृद्धि हुई। इसी प्रकार चित्रशाला का प्रबंध शास्त्रीजी के मित्र श्री. वासुदेव गणेश जोशी के हाथ में था उधर भी उन्हें कभी कभी ध्यान देना पड़ता था। इधर निबंधमाला, शुरू थी ही। इसके बाद सन १८८१ से आर्यभूषण प्रेस की स्थापना एवं 'केसरी' और 'मराठा' नामके दो साप्ताहिक पत्र शुरू हो जानेसे शास्त्रीजी का कुछ समय उधर भी व्यय हो जाता था। इधर स्कूल की अत्यधिक वृद्धि हो जाने के कारण धीरे २ शास्त्रीजी द्वारा निश्चित लिये गये उद्देश्य से कुछ कुछ गिरती चला। साथ ही अपने संकुचित स्वभाव के कारण शास्त्रीजी स्कूल के अध्यापकों से जी खोलकर कभी बात भी न. करते थे। यही दशा समाचारपत्रोंके विषयमें भी उनकी थी। कोल्हापुरवाला मामला इतना अधिक बढ़ जानेपर भी शास्त्रीजीने उस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। ता. ९ मार्च सन १८८२ को वे अपने भाई के नाम भेजे हुए पत्रमें लिखते हैं कि "वर्तमानमें जो मामला चला रहा है उसका हाल सब को मालूम है ही। जब मुकदमा शुरू होगा तब औरभी कुछ नई बातें मालूम होगी। किन्तु फिर भी इस मामलेमें मेरा सम्बन्ध बहुत ही थोड़ा है। तिलक और आगरकर ने इस मामले की निजी तौरपर जांच करके स्वेच्छापूर्वकही इन दोनों ने इसमें योग दिया है।"

ता. १७ मार्च सन १८८२ के दिन शास्त्रीजी का अचानकही स्वर्गवास हो गया। न्यू इंग्लिश स्कूल से उनका सम्बन्ध केवल सवा दो वर्ष ही रह सका। और इस अवधि में भी जबसे आपटे स्कूल के सुपरिन्टेन्डेन्ट हुए थे, तबसे स्कूल के कुछ कामों की ओर से उन्होंने अपना ध्यान और भी हटा लिया था। किन्तु शास्त्रीजीने इस स्कूल की नींव में जिस मसालेका पाया दिया था वह जो ठीक होनेके कारण उत्पादक के न रहने पर भी स्कूल बराबर चलता रहा।

अंक के विषय में बातचीत करने लगते थे। किंतु इसमें कुछ अंश अत्युक्तिका हो सकता है। अस्तु। आगरकर को लिखने की धुन बचपनसे ही थी। बचपन जब कि वे 'कन्हाड' में रहते थे तब वहांके मुंसिफ अमृत श्रीपत नागपूरव प्रति रविवार को अपने घर नागरिक जनों की सभा किया करते थे। उस सभा दो-एकबार आगरकर ने इतने बढ़िया निबन्ध पढ़कर सुनाये थे कि, उन्हें सुनक श्रोताओंने उन्हें किसी प्रौढ़ विद्वानद्वारा लिखे हुए बतलाया था। क्योंकि वैसे लेर किसी बालक के हाथ से लिखा जाना उन्हें नितांत असंभव प्रतीत होता था डेक्कन-कॉलेज में तो उन्होंने अपने मराठी लेखोंपर अनेकबार पुरस्कार भी पाया था। यदि यह भी कह दिया जाय कि लिखने और पढ़ाने इन दो बातों में उन्हें लिखने का व्यवसाय ही अधिक प्रिय था, तो अनुचित न होगा। इसके बाद वामनराव आपटे भी इनमें आ मिले। इन्हें पुस्तकें लिखने का बड़ा चाव था। और कमसेकम प्रेस खोलने के विचार को उन की ओरसे समर्थन हो सकनेवाला था। वे विद्वान् थे, अतएव उनमें समाचारपत्र निकाला जाने पर उसके लिए लेखादि लिखने की योग्यता थाही। केसरी एवं मराठा का प्रकाशन आरंभ होतेही वे मराठा के लिए नियमित रूपसे लेख लिखने भी लगे थे। एकमात्र तिलक महाशय ही ऐसे थे जिन्हें घुटना मोड़कर हाथमें लेखनी ले लिये हुए लेखादि लिखने की स्वाभाविक उत्कंठा न थी। इसी लिए पत्र और प्रेस की कल्पना का उद्भव मूलतः तिलक के हृदय से न होकर नामजोशी और शास्त्रीजी के ही हृत्क्षेत्र से हुआ था और इसकेबाद इन्होने उसका समर्थन किया।

श्री. वामनराव आपटे के स्कूल में शामिल होने के दो तीन ही महीने बाद एक दिन उनके घर किसी श्राद्ध-तिथी के निमित्त तिलक-आगरकर आदि मित्रमंडली भोजनार्थ एकत्रित हुई थी। उसी दिन संध्या-समय तक बहुत कुछ वाद-विवाद होने के पश्चात् 'केसरी' और 'मराठा' नामके साप्ताहिक पत्र सन १८८१ के जनवरी महीने से निकालना तय हुआ। किन्तु ये दोनों ही पत्र हमेशा किसी दूसरे के प्रेस में छापकर निकालना असंभव था। पत्र के लिए प्रेस की प्रथम आवश्यकता समझकर ये प्रेस की स्थापना के उद्योग में लगे। प्रेस के लिए मूलधन (पूंजी) की आवश्यकता थी, किन्तु इसमें भी नामजोशी की ही सलाह उपयोगी सिद्ध हुई। बात यह थी कि वे जिस प्रेस में अपना 'किरण' नामक पत्र छपवाते थे वह केशव बल्लाल साठे नामके एक सज्जन के यहां गिरवी पड़ा हुआ था। साठेजी ने अपने अधिकार में आये हुए प्रेस की सब सामग्री अपने किसी लाभ की न समझकर शनिवार पेठ के श्री. आपासाहब मांडे के "श्री शिवाजी" नामक प्रेस में डाल रख दी थी। इन सब बातों का पता रहने के कारण उस सामग्री को खरीद लेने

की बात नामजोशी अपने मित्रों को सुझाई और इसके लिए साठेजी से बातचीत भी शुरू करदी। किन्तु उस समय इस मित्रमंडली में किसीका सामर्थ्य न था कि वे श्री. साठे को उक्त अवयके चौबीस सौ रुपये देकर प्रेस खरीद लेता। किन्तु खुद साठे भी प्रेस चलाने के धन्देसे अपरिचित थे, अतएव उन्हें भी इस कचरे का बोझ भारी जान पड़ता था। इसी प्रकार उन्हें यह शंका भी उत्पन्न हो चली थी कि पराये घर रखे हुए अपने प्रेस-आदि सामान को भी अब धीरे २ पैर फूटने लगे हैं। अतएव किश्तबन्दी से रुपया चुकाने की शर्तपर साठेने वह प्रेस इस मित्रमण्डली से सम्मिलित दस्तावेज़ लिखवा कर, सौंप दिया। इस सौदे के पटजानेपर सब मित्रों को बड़ी प्रसन्नता हुई। और इस ख़बर के लोक-प्रसिद्ध होने से पूर्व ही प्रेस का सब सामान एकदम मोरोबादादा के वाड़े में पहुँचा दिया जाना आवश्यक प्रतीत होनेसे यह सारी व्यवस्था एक ही रात में हो गई। इसी घटना को लक्ष्य करके लोकमान्य तिलक कभी २ मौजमें आकर अभिमानपूर्वक कहा करते थे कि "मैने स्वयं अपने इन कन्धोंपर आर्यभूषण प्रेस के टाइप की पेटियां उठा २ कर ढोई है।" मौका पड़नेपर इसके बाद भी उन्हे खुद प्रेसके यंत्रो की जोड़-तोड़ का काम करते हुए जिन्होंने देखा है, उन्हें उक्त कथन में अत्युक्ति नाम को भी न जान पड़ेगी।

इस तरह न्यू इँग्लिश स्कूल का छोटा किन्तु अधिक प्रतापी भाई अर्थात् प्रेस भी उसी के साथ २ मोराबा दादा के वाड़े में आ बसा, और गणेश मोरेश्वर सोहनी नामक सज्जन की ओरसे उसका 'आर्यभूषण प्रेस' के नामपर डिक्लेरेशन भी हो गया। श्री. सोहनी को बम्बई के 'जगदीश्वर' प्रेस में रहने से इस विषय की थोड़ी बहुत जानकारी थी ही, इधर वे श्री. नामजोशी के भी परिचित व्यक्तियों में थे, अतएव प्रेस के मैनेजर की जगह पर उन्ही की नियुक्ति हुई। इस प्रेस को सबसे पहला काम श्री. शास्त्रीजी की "निबंधमाला" का मिला। माला का ६६ वा अंक इसी प्रेस से छपकर पहलीबार निकला और उसीमें केसरी का उद्देश्यपत्र भी प्रकाशित किया गया। आर्यभूषण प्रेस के सम्बन्ध में "निबंधमाला" के छठे वर्ष के अंतिम अंक में निम्न प्रकार से उल्लेख मिलता है।

"गतवर्ष के उपसंहार में जिस प्रेस का उल्लेख किया गया था, वह यही 'आर्यभूषण प्रेस' है। इसमें पूर्वोक्त विद्यालय (न्यू इँग्लिश स्कूल) की ही मंडली भागीदार है, और उसीके परिश्रम से यह विशाल कार्य-आरंभ हुआ है। आज तक अन्यान्य व्यापारों की तरह प्रेस का धंदा भी प्रायः अविद्वान एवं गँवार लोग ही करते आये हैं, अतएव अज्ञानान्धःकार को नाश करनेवाले यन्त्ररूपी इस मुद्रणयंत्र का प्रभाव यथेष्ट प्रमाणमें न पड़ सका है। यदि वह बात अब भी

'केसरी' के पहले अंकसे ही देखने में आते हैं। कितनी ही बार तो केसरीमें भीतर की ओर पाठ्य विषय के उपर नीचे इन विज्ञापनों को स्थान न मिलने के कारण 'केसरी' के बराबर क़ागजपर उसके हेडिंग ब्लाक एवं उद्देश्यसहित इन की दवाइयों के क्रोडपत्र छापकर बाँटे गये हैं! डॉ. गर्दे के साथ केसरी का यह ऋणानुबन्ध आज भी उसी प्रकार बना हुआ है, इसे केसरी के सब पाठक जानते हैं।

प्रथम वर्ष के केसरी में शास्त्री, तिलक और आगरकर तीनों के लेख प्रकाशित हुए हैं। इसमें साहित्यविषयक लेख शास्त्रीजी लिखते थे। इतिहास, अर्थशास्त्र और केवल सामाजिक विषयोंपर लिखनेवाले आगरकर थे, और धर्मशास्त्र एवं राजनीति या क़ानूनसम्बन्धी लेख तिलक के लिखे हुए हैं। एक-आध अग्रलेख को छोड़कर शास्त्रीजी या अपने लिए निश्चित किये हुए विषयों के सिवाय तिलक, समाचारपत्र की अन्य बातों की ओर अधिक ध्यान नहीं देते थे। फुटकर लेखादि की पूर्ति का भार आगरकरपर रहना प्रतीत होता है। क्योंकि इनमें उनके विनोद, निरहृहता एवं रोमेन्टिक स्वभाव की झलक भी पद-पदपर दिखाई पड़ती है। नवनीत (मक्खन) विषयक लेख में के निम्न वाक्यों को पढ़कर हर एक व्यक्ति जान सकता है कि वह लेख शास्त्रीजी का ही लिखा हुआ है। उदाहरणार्थ "जिस विचारे सीधे-सादे कवि (तुकाराम) ने शिवाजी महाराज के आदर-सत्कार को ठुकरा दिया, उसके भाग्य में दो शताब्दियों के बाद द्वीपान्तरवासी प्रभू के हाथों यही प्रतिष्ठा लिखी रहने से उनकी जयंती के निमित्त २४ तोड़े खाली कर देने का हुक्म हो गया, इस बातपर ध्यान देने से हर एक के समझमें आ सकता है कि अंग्रेजी सत्ता के ज़माने में कहांतक मुगलाई झलक दिखाई देती है।" (केसरी वर्ष १ अंक ४)

'केसरी' के सातवें अंक में ही बहिष्कारविषयक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेख की दस-बीस पंक्तियां पढ़ते ही हर कोई समझ सकता है कि इसके लेखक तिलक हैं। "बहिष्कार को हमारे शास्त्ररचयिताओं ने कितने ही पातकोंपर दंड के रूप में बतलाया है, किन्तु अंग्रेजी ग्रंथकारों ने उसके दैविक, लौकिक और राजनैतिक इस प्रकार तीन भेद कर दिये हैं। इनमें से दूसरे भेद में बहिष्कार का समावेश हो जाता है। किन्तु उसे जो धार्मिक स्वरूप प्राप्त हो रहा है वह केवल आनुषंगिक है क्योंकि हमारे यहां धर्म और राजनीति का विवेचन धर्मशास्त्र में ही एकसाथ ही कर दिया गया है, अतएव हमें वह धार्मिक प्रतीत होता है।" इस प्रकार के आर्य एवं पाश्चात्य धर्म और राजनीति का मेल देख कर, या "राजा कालस्य कारणम्" अथवा "स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः" आदि वचनों को पढ़कर अथवा इस प्रकार के फुटकर विचारों को देख कर कि 'पुरातन राजनीति में

पर भी संवादात्मक लेख कभी २ निकल जाते थे। आजकल के हिसाबसे बहुतही संकुचित समझे जानेवाले 'क्रीडाभुवन' के इस सम्बन्ध में उन दिनों जो गंभीर विवेचना और प्रश्नोत्तर होते थे, उन्हें पढ़ कर बड़ा आनन्द होता है। नाटक जैसे विषय के लिए भी किसी प्रकार की रुकावट न थी। बल्कि 'आर्योद्धारक मंडली' के नाट्य प्रयोगों पर प्रशंसात्मक लेख भी 'केसरी' में पाये जाते हैं। इस कंपनी के विरुद्ध या स्कूल में खेले जानेवाले विद्यार्थियों के नाट्य-प्रयोग की आलोचना करनेवाले लेखों को "प्रास पत्र" के स्तंभ अतिरिक्त विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। वरन् प्रो. केरू नाना छत्रे, बाबा गोखले, दामोदर विद्याधर गोखले और शिवराम हरी साठे जैसे नेताओं के हस्ताक्षरसहित एक निवेदनपत्र "आर्योद्धारक मंडली" का 'ओथेलो' नाटक 'पुनः एकवार' (नाटकों के वन्स् मोअर) होने के लिए 'केसरी' के पांचवे पृष्ठपर छपा हुआ देखने में आया है। इसके विरुद्ध आयर्लैंण्ड की स्थिति का वर्णन करते हुए सम्पादकीय लेख में इस प्रकार के स्पष्ट उद्गार भी देखने को मिलते हैं कि "स्वातंत्र्यरूपी अमूल्य रत्न की प्राप्ति के लिए नरमेध-यज्ञ को छोड़कर अन्य समस्त लौकिक साधन व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इस ऐतिहासिक सिद्धान्त को मिथ्या कौन कर सकता है!" अतएव यह प्रकट है कि 'केसरी' की संपादक-समिति की विचारधारा साहित्य आदि मनोरंजक विषयों की ही तरह गंभीर बातों में भी स्वच्छंदरूपसे बहती रहती थी।

इस प्रकार 'सम्पादित' विषयों की, लेखनपद्धति और लेखकों के स्वभाव की खिचड़ी इस पहले वर्ष के केसरी में दिखाई देती है, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि उसपर किसी विशेष मत का प्रभाव पड़ा हो। संपादकीय नीति की दृष्टि से वह (सम्पादक-समिति) एक संयुक्त पूंजी की कंपनी ही कही जा सकती है। और प्रारंभ में ऐसा होना स्वाभाविक भी था। किन्तु दूसरे और तीसरे वर्ष से क्रमशः ये बातें कम होने लगीं। सन १८८१ के अंत से कोल्हापुर-वाले मामलेपर केसरी में लेख छपने लगे और सन १८८२ के आरंभ में तो मानहानि का मामला भी अदालततक जा पहुंचा था। इस मामले में तिलक और आगरकरपर अभियोग चलाया जाने के कारण वे कुछ समयतक केसरी के लेखक-वर्ग में न रह सके। इसी प्रकार मराठा में प्रकाशित अपमानकारक लेख के लेखक श्री. आपटे थे, किन्तु पत्र का डिक्लेरेशन भिडक के नाम से होने के कारण वे बच गये। उन्हें अधिकाधिक लेख लिखकर उक्त दोनों महानुभाव की कमी को पूरा करते रहना पड़ा। अभियोग के चलते रहने की ही दशा में सन १८८२ के मार्च में विष्णुशास्त्री चिपळूनकर का देहान्त हो गया। अतएव श्री. नामजोशी को भी केसरी में अधिक प्रमाण में लिखना पड़ा।

भी परिवर्तन होना चाहिये'। 'बिना झगड़ा किये इस समय कुछ भी नहीं मिल सकता,' 'राजनैतिक शिक्षा लोकमतपर ही अवलम्बित होती है,' 'राजाज्ञा का प्रभाव लोकमत पर कभी पड़ही नहीं सकता'–कौन नहीं समझ सकता कि ये लेख तिलक के लिखे हुए नहीं है। इसी प्रकार के 'अंग्रेज महाकवि पोप ने एक स्थान पर कहा है कि, कविता की ध्वनि उसके अर्थ की प्रतिध्वनि होनी चाहियें अर्थात् अर्थ के अनुसार भाषा में चढ़ाव उतार होना चाहिये।' इस तरह का अंग्रेजी कवियों के वचन का हवाला देखते ही हरएक व्यक्ति समझ लेता था कि इस के लेखक आगकर होने चाहिये। 'संयुक्त परिवार में रहना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता' यह सिद्धान्त सोलहों आने आगरकर का अथवा इसी प्रकार "पन्द्रहवें वर्ष से आरंभ करके लगातार चालीसवें वर्ष तक सन्तानोत्पत्ति का कार्य बन्द न होने के कारण लोकसंख्या इतनी बढ़गई है कि यदि एक आध बार ही वर्षाकाल में वरुण देव की कोपदृष्टि हो जाय तो ग़रीब लोगों को आपने बाल-बच्चे या खुद अपने ही शरीर के हाथ-पाँव आदि अवयव को चबाकर पेट भरने के लिए वाध्य होना, पड़े। ऐसी दशामें एक का भूख की यातना भोगते हुए मरना और दूसरे का आखें बन्द करके पेटार्थी की तरह खाते रहना कभी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता"। इन जैसे वाक्यों को देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि इनमें शास्त्रीजी या तिलक का हाथ है। वल्कि इस प्रकार विनोदपूर्ण स्पष्टोक्ति को देखते ही लोग समझ जाते हैं कि यह आगरकर की लेखनीका चमत्कार है।

इन बातों के सिवाय समाचार-सारवाले स्तंभ में अद्भुत प्रकार के शीर्षक देकर साधारण और शुष्क घटनाएं भी 'केसरी' में ग्राम्य शब्दों में प्रकाशित हुई हैं, इसपर से ज्ञात होता है कि मैनेजर या अन्य एरगैर लोगों का हाथ भी आरंभ में 'केसरी' की शेष-पूर्ति में रहा होगा। "शाबास रामभटजी" "जर्मनीमें रामभटजी की उड़ान्" "हिंदुस्तान में अंग्रजों की कैसी फज़ीहत हो रही है" "एक बन्दर की प्रेम-कहानी" इन जैसे चुटकेली को देखकर भी दूसरी किसी प्रकार की कल्पना नहीं की जा सकती। माधवराव नामजोशी भी "पूना म्युनिसीपालिटी" "महसूल के झगड़े" आदि विषयों के लेख लिखकर लोगों के सामने स्थानिक राजनीति की चर्चा उपस्थित किया करते थे। 'केसरी' के चौथे अंकसेही कर्नाटक की चिट्ठी छपने लगी थी। इसपर से पता लगता है कि न्यू इंग्लिश स्कूल की यशोदुंदुभी के कारण 'केसरी' पत्र के विषय में परप्रान्तीय जनता भी कहांतक उत्सुक हो रही थी। 'संवाददाताओं को सूचना' वाले शीर्षक के नीचे २ कभी २ ऐसे विचित्र संवाद भी देखने में आते थे जिनमें मंत्रशास्त्री और भूत-प्रेतादि की बातचीत के समान पत्र संपादक अपने संवाददेताओंसे मनोरंजक संवाद कर रहे हैं। नाटक और प्रहसन आदि

इसके कागज़ का खर्च तक उन लोगों को भारी पड़ रहा था। इधर केसरी का प्रचार अधिक था, किंतु उसका मूल्य कम होनेसे जमाखर्च बराबर हो जाता था। उस समय के ज्ञानप्रकाश, ज्ञानचक्षु, पुणें-वैभव, शिवाजी, जैसे पत्रों का मूल्य केसरी से दूना या इससे भी अधिक था। विज्ञापन की दर भी उस समय इतनी अधिक बढ़ी नहीं थी। सोलह पंक्तियों तक के विज्ञापन का एक रुपया और इस के बाद प्रतिपंक्ति डेढ़ आना की दर सन १८८३ के फर्वरी महिने तक पाई जाती है। इसके बाद से दस पंक्ति का एक रुपया दर कर दी गई। इधर कोल्हापुरवाले मुकद्मे के कारण ख़र्च बढ़ कर पत्रपर थोड़ासा ऋण भी हो गया था, और इसी लिए श्री. साठे को दी जानेवाली प्रेस के मूल्य की कुछ किश्तें भी रुकी हुई थीं। प्रेस के मैनेजर श्री. सोहनी की व्यवस्था भी जितनी चाहिए उतनी किफायत शारी की न थी। इन सब कारणों से जब तिलक और आगरकर १०१ दिन की 'डोंगरी' जेल से मुक्त होकर आये, तो उन्हों ने देखा कि उनके सामने प्रेस और पत्र की ऋणग्रस्त-दशा का एक नया संकट खड़ा हुआ है। इस आपत्ति के भय एवं मुक़द्दमे की दहशत के कारण आपटे ने स्वेच्छापूर्वक पत्रों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। तिलक के जेलसे छूटकर आते ही पहिली ही मुलाक़ात के समय आपटे ने उनसे कह दिया कि "लो भाई, अपने पत्रों को अब तुम्हीं सम्हालो"। इसके बाद जब २ न्यू इँग्लिश स्कूल के झगड़ों में इन समाचारपत्रों का सम्बन्ध आया, तब २ वे तिलक, नामजोशी और केलकर के विरुद्ध आगरकर का ही पक्ष लेते रहे। जेलसे छूटकर आने के बाद, तिलक का 'केसरी' और 'मराठा' के लिए लेखादि लिखनेका भार और भी कम हो गया। अब वासुदेवराव केळकर ही उनके बदले सब कुछ लिख दिया करते थे। श्री. नामजोशी ने क्रमशः 'मराठा' के लिए लेखादि लिखनेका भार स्वेच्छासे ही बढ़ा लिया। इधर केसरी में आगरकर की लिखाई बढ़ जानेसे प्रधान संपादक वे ही माने जाने लगे। यह व्यवस्था ता० २२ अक्टूबर सन १८८७ तक अर्थात् तिलक की ओरसे 'केसरी' का डिक्लेरेशन अपने नामपर बदलवा कर उत्तरदायी संपादक बन जानेतक बराबर कायम रही। यहांतक केसरी की दशा का वर्णन करनेके बाद अब हम उसके साथी 'मराठा' की स्थिति से भी अपने पाठकों को परिचित कर देना उचित समझते हैं। इसके बाद हम दोनों पर संयुक्त विचार प्रकट करेंगे।

'मराठा' पत्र का प्रथमाङ्क ता. २ जनवरी सन १८८१ को रविवार के दिन प्रकाशित हुआ। इसका आकार डिमाई आठ पृष्ठोंका था। उस समय पत्र-पत्रिकाओंपर व्यक्तिशः संपादक या प्रकाशक का नाम जिम्मेदारी के लिहाज़ से छापने की कायदाकी सख़्ती न थी। अतएव मराठा के अंतिम पृष्ठ के सिरेपर केवल

केसरी का आकार प्रथम वर्ष के छब्बीसवें अंक तक बहुत ही छोटा अर्थात् डिमाई चार पृष्ठ का रहा। इसके बाद २७ वें अंक से वह रायल चार पेजी कर दिया गया। इस वर्ष का केवल ४० वा अंकही उपर्युक्त प्रमाणसे दूने आकार में निकाला गया था। और इसके स्पष्टीकरण के लिए संपादक ने अपने पाठकों की सेवामें स्फुट सूचना के रूप में निवेदन किया था कि " क्रोड़पत्र निकालने की अपेक्षा हमने इस प्रकार दूना अंक निकालनाही उचित समझा है। " किन्तु इस सूचना की भाषा किसी सुशिक्षित संपादक के बदले एक-आध निकम्मे क्लर्क की ही लिखी हुईसी जान पड़ती है। इस वर्ष के आरंभ में केसरी की लगभग १८०० प्रतियां विकती थीं, किन्तु कोल्हापुरवाले मामले के कारण सितम्बर महिने तक यह संख्या ३५०० पर जा पहुँची। बिक्री की बढ़ती देखकर व्यापारियोंने भी अधिकाधिक विज्ञापन देना शुरू कर दिया। ऐसी दशामें न तो उनसे इन्कार ही किया जा सकता था और न हामी ही भरी जा सकती थी। संवाद भेजने और विविध विषयों पर लेख लिखनेवाले भी संपादक से अनुरोध करने लगे कि हमारे पत्रों को कहीं आप रद्दी की टोकरीमें न फेंक दीजियेगा। इन सब कारणों से केसरी का आकार बढ़ा ने की इच्छा हुई। पत्र संचालकों की इच्छा यह भी थी कि 'इंदु प्रकाश' के बराबर आकार का केवल मराठी पत्र बहुतही अल्पमूल्य अर्थात् एक ही रुपये में दिया जाना चाहिए। किन्तु यह काम एकदम किसी उदार व्यक्ति की ओर से यथेष्ट सहायता मिलने पर ही किया जा सकता था, और पाठकों को इस बात की स्पष्ट सूचना भी दे दी गई थी। किन्तु यह सारी कल्पना एक ही सप्ताह में कैसे कार्य में परिणत हो सकती थी? फलतः यह विशेष अंक 'नमूने के तौर पर ही' रहा और इसके बाद इकतालीसवें अंकसे फिर केसरी अपने पुराने आकार में ही निकलने लगा। इस तरह संपादक, व्यवस्थापक और विज्ञापन-दाताओं के साथ ही तृषित पाठकों के भी मनोरथ सफल न हुऐ। इसके बाद सन १८८३ के अंततक केसरी का आकार-प्रकार पूर्ववत् ही रहा, किंतु सन १८८४ से वह डबल क्राउन कर दिया गया। सन १८८४-८५ में केसरी की बिक्री साढ़े चार हज़ार प्रतियों तक बढ़ गई। आगरकर के संपादन-काल में यह संख्या बड़ी शान के साथ केसरी के मुखपृष्ठ पर छापी जाती रही।

किंतु इस बिक्री के हिसाब से जमाख़र्च की मीज़ान बराबर होकर कुछ रकम बचनी चाहिये थी वह न बच पाती थी। बिल्कुल शुरू में प्रेस और पत्र दोनों में घाटा रहता था और इसकी पूर्ति के लिए न्यू इँग्लिश स्कूल की थैली से कितनी ही बार उधार रक़में लानी पड़ीं। 'मराठा' तो उन दिनों नुक्सानमें चल रहा था। उस के संपादकों को उससे किसी प्रकार के लाभ की इच्छा न थी, किंतु फिर भी

इसके कागज़ का ख़र्च तक उन लोगों को भारी पड़ रहा था। इधर केसरी का प्रचार अधिक था, किंतु उसका मूल्य कम होनेसे जमाख़र्च बराबर हो जाता था। उस समय के ज्ञानप्रकाश, ज्ञानचक्षु, पुणें-वैभव, शिवाजी, जैसे पत्रों का मूल्य केसरी से दूना या इससे भी अधिक था। विज्ञापन की दर भी उस समय इतनी अधिक बढ़ी नहीं थी। सोलह पंक्तियों तक के विज्ञापन का एक रुपया और इस के बाद प्रतिपंक्ति डेढ़ आना की दर सन १८८३ के फर्वरी महिने तक पाई जाती है। इसके बाद से दस पंक्ति का एक रुपया दर कर दी गई। इधर कोल्हापुरवाले मुकद्मे के कारण ख़र्च बढ़ कर पत्रपर थोड़ासा ऋण भी हो गया था, और इसी लिए श्री. साठे को दी जानेवाली प्रेस के मूल्य की कुछ किश्तें भी रुकी हुई थीं। प्रेस के मैनेजर श्री. सोहनी की व्यवस्था भी जितनी चाहिए उतनी किफायत शारी की न थी। इन सब कारणों से जब तिलक और आगरकर १०१ दिन की 'डोंगरी' जेल से मुक्त होकर आये, तो उन्हों ने देखा कि उनके सामने प्रेस और पत्र की ऋणग्रस्त-दशा का एक नया संकट खड़ा हुआ है। इस आपत्ति के भय एवं मुक़द्दमे की दहशत के कारण आपटे ने स्वेच्छापूर्वक पत्रों से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। तिलक के जेलसे छूटकर आते ही पहिली ही मुलाक़ात के समय आपटे ने उनसे कह दिया कि "लो भाई, अपने पत्रों को अब तुम्हीं सम्हालो"। इसके बाद जब २ न्यू इँगिलिश स्कूल के झगड़ों में इन समाचारपत्रों का सम्बन्ध आया, तब २ वे तिलक, नामजोशी और केलकर के विरुद्ध आगरकर का ही पक्ष लेते रहे। जेलसे छूटकर आने के बाद, तिलक का 'केसरी' और 'मराठा' के लिए लेखादि लिखनेका भार और भी कम हो गया। अब वासुदेवराव केळकर ही उनके बदले सब कुछ लिख दिया करते थे। श्री. नामजोशी ने क्रमशः 'मराठा' के लिए लेखादि लिखनेका भार स्वेच्छासे ही बढ़ा लिया। इधर केसरी में आगरकर की लिखाई बढ़ जानेसे प्रधान संपादक वे ही माने जाने लगे। यह व्यवस्था ता० २२ अक्टूबर सन १८८७ तक अर्थात् तिलक की ओरसे 'केसरी' का डिक्लेरेशन अपने नामपर बदलवा कर उत्तरदायी संपादक बन जानेतक बराबर कायम रही। यहांतक केसरी की दशा का वर्णन करनेके बाद अब हम उसके साथी 'मराठा' की स्थिति से भी अपने पाठकों को परिचित कर देना उचित समझते है। इसके बाद हम दोनों पर संयुक्त विचार प्रकट करें गे।

'मराठा' पत्र का प्रथमाङ्क ता. २ जनवरी सन १८८१ को रविवार के दिन प्रकाशित हुआ। इसका आकार डिमाई आठ पृष्ठोंका था। उस समय पत्र-पत्रिकाओंपर व्यक्तिशः संपादक या प्रकाशक का नाम जिम्मेदारी के लिहाज़ से छापने की कायदाकी सख़्ती न थी। अतएव मराठा के अंतिम पृष्ठ के सिरेपर केवल

"Printed and pnblished for the Proprietors at the Aryabhushan Press, No 520 Budhwar Peth, Poona" इतने ही शब्द छापे जाते थे। इसी प्रकार मुखपृष्ठपर " The Maratha with which is incorporated the Deccan Star " (अर्थात् इसीमें 'डेक्कन स्टार' नामक पत्र भी शामिल कर दिया गया है।) इस प्रकार उल्लेख पाया जाता है और इसी को ध्यान में रखकर कदाचित 'मराठा' के प्रथम वर्ष के प्रथमाङ्कपर भी "न्यू सीरीज" (नई आवृत्ति) का शब्द एक ओर छापा गया है। मराठा के उद्देश्यपत्र पर चिपलूनकर, गर्दे, आपटे, तिलक, आगरकर और नामजोशी के यथाक्रम हस्ताक्षर हुए है।

'डेक्कन स्टार' नामक पत्र श्री. नामजोशी का निजी पत्र था। किंतु उसे उन्होंने उत्साह में आकर निकाल तो दिया था, किंतु फिर भी पत्र को चलाने के लिए आवश्यक साधनों का उनके पास अभाव था। जैसेतैसे करके वे पत्र को चला रहे थे। ऐसे पत्र को 'मराठा' में शामिल करलेने से उस (मराठा) के संचालकों को 'गुडविल' अथवा मालमत्तेके रूप में किसी विशेष लाभ के होने की संभावना न थी। किन्तु सबसे मुख्य लाभ यह हुआ कि एक ऐसा उत्साही संपादक जो कि एकाकी होने के साथही अप्रसिद्ध रहनेपर भी अपने पैरोंपर खड़ा हो कर अंग्रेजी पत्र चला रहा था मराठा के संचालकों में बढ़ गया। और यथार्थ में ही नामजोशी ने मराठा के लिए समय पड़ने पर कभी लेखादि की कमी न पड़ने दी। पूना म्युनीसीपालिटी के कारोबार एवं उसके संगठन, बम्बई सरकार के दरबार में होनेवाली कारगुज़ारिया एवं औद्योगिक आन्दोलन इत्यादि विषयोंपर वे हमेशा कुछ न कुछ नई बात सोचते और तदनुसार नया आन्दोलन खड़ा करते थे। ऐसी दशामें 'मराठा' के लिए उनका उपयोग होने की अपेक्षा यही कहना सब प्रकार उचित होगा कि 'मराठा' काही उन्होंने अपने लिए उपयोग कर दिखाया। जब डेक्कन स्टार के सम्पादक को ही अपनी समिति में शामिल कर लिया, तो फिर उसके स्वामित्व का पत्र भी उसी के साथ २ शामिल कर लेना आवश्यक ही था; किंतु प्रथम वर्ष के अंतमें ही 'डेक्कन स्टार' का नाम संयुक्तपत्र के नाते मराठा के मुखपृष्ठ पर से हटा दिया गया। वर्षभर की शरपंजरी निद्रा पूर्ण हो कर अगले वर्ष से 'डेक्कन स्टार' अंतर्धान हो गया। किन्तु फिर भी उसके पाठक या मूल संपादक के लिए किसी विशेष प्रकारके दुःखका अनुभव होने जैसी कोई बात न थी; और इधर मराठा भी संयुक्त नामाभिधान की व्याधि से सहज ही में मुक्त हो गया।

'मराठा' ने केसरी से दो दिन पूर्व जन्म धारण किया था, अतएव बड़प्पन का मान इसे प्राप्त होना स्वाभाविक ही था। आगे चलकर सन १८८१ में

लगभग जब इन दोनों पत्रों में पंडिता रमाबाई आदि दो-एक विषयों पर परस्पर विरोधी मत प्रकट किये जाते थे तब इनमें भाई-बन्दी भी शुरू हो गई। तब केसरी के सम्पादक 'मराठा' के विषय में लिखते हुए अनेकोंबार 'हमारे दादा' या 'बड़े भाई मराठा सम्पादक' इस तरह कुचेष्टापूर्वक उल्लेख करते थे। यह उल्लेख दो दिन पूर्व जन्म लेने की घटना को लक्ष करके ही होता था। और संसार के नियमानुसार बड़े भाई का भोला होना स्वाभाविक ही है। अतएव केसरी के कथन का उद्देश भी यह था कि हमारे भाई मराठा भी भोला है। किन्तु इसी के साथ २ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि यह इच्छा प्राप्त ज्येष्ठ कनिष्ठ भाव अन्यान्य प्रकार से भी संपादित हो चुका था। मराठा की भाषा अंग्रेजी (अधिकांश परप्रान्तीय अथवा परदेशीय लोगों से यह समझाने में अबतक हमें अपना बहुत कुछ समय लगाना पड़ता है कि मराठा की भाषा मराठी नहीं बल्कि अंग्रेजी है!) और केसरी की भाषा मराठी; इस प्रकार केवल भेद के ही कारण यथार्थ में इन दोनों पत्रों की लेखन-पद्धति में हमेशा से बहुत कुछ अन्तर पड़ता रहा है। हम परकीय भाषा में अधिक से अधिक योग्यता प्राप्त कर लें, किन्तु उसमें अपनी देशी-भाषा के समान जोरदार लेख नहीं लिख सकते। किन्तु ओजस्विता की दृष्टिसे जो यह दोष माना जाता है, वही दाक्षिण्य की दृष्टि से गुण दिखाई पड़ता है। सारे भारत में जो पत्र पढ़ा जाता हो उसके विषय और विचार किसी प्रान्त विशेष के पत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक होना अनिवार्य होता है। यही कारण है कि प्रान्तिक विषयोंपर अपनी भाषा में लिखते हुए पत्रसंपादक मनोनुकूल भाव भली-भांति व्यक्त कर सकते है। व्यक्तिगत निन्दा-स्तुति या लेखवाद करने अथवा ग्राम्य भाषाका उपयोग कर सकने की भी उन्हें स्वतंत्रता रहती है। किन्तु पर-भाषा इस प्रकारके अपराध न होने देने के लिए एक प्रकारसे जमानत के ही समान कही जा सकती है। क्यों कि जंजीर से जकड़े हुए पैर की लात या हाथ कड़ी से कसे हुए हाथों का घूसा उतने जोर के हो ही नहीं सकते। उसमें भी फिर हम अंग्रेजी पढ़नेवाले भारतीय एकदम नये सिरेसे अंग्रेजी साहित्य को पढ़कर विद्वत्ता प्राप्त करते है, अतएव समय पड़नेपर बर्क या शेक्सपियर की प्रौढ़ एवं सुसंगठित भाषा सरणी का एक आध वाक्य स्वयंस्फूर्ति से भलेही हमारे मुँहसे निकल जाय, किन्तु सादी, सरल ग्राम्य और खूबीदार बातें हम अंग्रेजी भाषा में हर्गिज़ नहीं कह सकते। इस विषय में तो कमसे कम एक मामूली सोल्जर ही माननीय स्व० गोखले जैसे अंग्रेजी के अपूर्व पण्डित को भी पराजित कर सकता है।

मतलब यह कि मराठा-संपादक के सन्मुख सम्पूर्ण भारतवर्ष एवं इंग्लैण्ड तक का पाठक समाज रहने और उनका भाषाज्ञान एकाकीन एवं मर्यादित होने के कारण मराठा के लेख प्रायः केसरी के लेखोंसे अधिक प्रौढ़, जोशीले एवं राष्ट्रीयता लिए हुए विद्वत्तासूचक प्रतीत होते हैं। किम्बहुना यदि एकहि व्यक्ति एकही विषयपर उसी सप्ताह में मराठा और केसरी दोनों के लिए लेख लिखे तोभी उनमें उपरोक्त भेद प्रकट हुए बिना न रह सकेगा। यहांतक कि हमें भी कितनी ही बार इस विषय में इसी प्रकार का अनुभव हुआ है। किन्तु इसका एक कारण यह और भी है कि केसरी अपनी भाषा में लिखा जाने से वह अपनी लक्ष्य विशेष सुगमतापूर्वक खोजकर ज़ोर-शोर के साथ उसका संहार कर सकता है। यद्यपि यह बात ठीक है कि मराठी की तरह अंग्रेजी के पाठक अन्य प्रान्तों के ही समान महाराष्ट्र में भी कम हैं, किन्तु महाराष्ट्रीय मनुष्यों को खास तिलक के द्वारा लिखित केसरीके लेख जितने अधिक पसंद आते या उनके चित्त पर प्रभाव डालते थे, उतने मराठेके लेख नहीं। यही कारण था कि मराठा की अपेक्षा केसरी का प्रचार बहुत अधिक रहा। ऐसी दशामें इस बात को प्रकटरूपसे स्वीकार करने में हानि प्रतीत नहीं होती कि पिछले चालीस या बयालीस वर्षों में यहां तक कि खुद तिलक के संपादन काल में भी मराठा का जमाखर्च कभी बराबर नहीं हुआ। वैसे भी भारत की दृष्टी से अंग्रेजी साप्ताहिकों का भविष्य कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। क्यों कि भारतभर में आजतक कहीं उनकी जड़ नहीं जमी। एक उच्च कुलीन अंग्रेज तक का चलाया हुआ बम्बई का "चॅम्पियन," और खुद अंग्रेजोंतक से बढ़िया अंग्रेजी लिखनेवाला सेठ मलबारीका 'इंडियन स्पेक्टेटर' तथा श्री. नटराजन् के "इंडियन सोशल रिफार्मर' ने भी लोगोंके सामने यही अनुभव प्रगट किया है। यही कारण है कि आजतक केसरी अर्थात् छोटे भाई की कमाई से बड़े भय्या 'मराठा' के पोषण होता रहा है। मराठा का वार्षिक मूल्य आरंभ में एकव्यय सहित पूरे आठ रुपये, अर्थात् उस समय के केसरी के मूल्य से आठ गुना था। किन्तु इसी के साथ २ उसके आठ पृष्ठों की छपाई कागज़ का खर्च भी उतना ही भारी था। उस समय मराठा के विज्ञापन की दर प्रति बारह पंक्ति का एक रुपया के हिसाब से थी। किन्तु पत्र का प्रसार कम होने से इस विभाग की आय "मराठा" को कभी अधिक प्रमाण में नहीं हुई। यहां तक कि मराठा के जमाखर्च का मिलान करते समय उसे छोड़ भी दिया तो भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ सकता। शुरू से अबतक उस पत्रमें विज्ञापन का स्थान 'विज्ञापन की दर' छापने में ही घिरा रहता आया है!

यहां पर प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि इस प्रकार खर्च पूरा न होते हुए भी "मराठा" पत्र को बराबर जारी रखनेका कारण क्या है? इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि उन लोगों की तत्कालीन राष्ट्रीय भावना के उद्गारों ने अंग्रेजी में प्रगट होने की भी आवश्यकता सिद्ध कर दी थी। राजनैतिक विषयों पर जो विचार अपने प्रान्तीय भाइयों को समझाने के लिए केसरी का उपयोग होता था, वही विचार अंग्रेज शासकों या परप्रान्तीय जनताके सन्मुख उपस्थित करनेके लिए 'मराठा' जैसे अंग्रेजी पत्र से काम लिया जा सकता था। अंग्रेजी के विद्वानो को उस भाषा में लिखने की रुचि स्वभावतः होती है। और आगे चलकर यह केवल रुचि ही नहीं रहती वरन् आदत भी बन जाती है। श्री. विष्णुशास्त्री चिपलूनकर भी जब निबन्धमाला जैसा उच्च मासिक पत्र चलाते हुए उस में आँग्लमय या आँग्लप्राय बन जानेवाले सुशिक्षितों पर आलोचनात्मक विचार प्रकट करते थे, और खुद अपने भाई या मित्रों को वे अंग्रेजी में पत्र लिखते थे, तो फिर ऐसी दशा में उनका यह कार्य क्या 'वदतो-व्याघात' (खुदरा फज़ीहत दीगरां नसीहत) नहीं कहा जा सकता? किन्तु यह दोष आज तक हम लोगों में से दूर नहीं हुआ है। यह एक प्रसिद्ध बात है कि रानडे और गोखले ही नहीं बरन् तिलक-चिपलूनकर भी अपना निजी पत्र-व्यवहार मराठी की अपेक्षा अंग्रेजीमें ही अधिक करते थे। किन्तु फिर भी 'मराठा' पत्र निकालनेका उद्देश्य अंग्रेजी भाषा में लिखने की इच्छापूर्ति की अपेक्षा उपयोग के लिहाज़ से ही अधिक था। मराठी में बहुत कुछ लिख देने पर भी सरकार-दरबार में उसका अनुवाद करवाकर पढ़ने की किसे गरज पड़ी है? इसी प्रकार हमारे जो हितैषी इँग्लैंड में हैं उन्हें हम अपनी बातें स्पष्टतया बिना पत्र के मार्मिक ढंग से समझा कैसे सकते थे? और यथार्थ में ही बात यह थी कि तत्कालीन सुशिक्षित देशभाइयों के चित्तमें यह विश्वास दृढ़ हो गया था कि, अंग्रेज शासक या तटस्थ व्यक्तियों के सामने किसी बात को अकाट्य प्रमाणों सहित उपस्थित करने या उस विषय का युक्तिवाद उनके गले उतार देने से ही हमारा हर एक काम बन सकता है। इसी प्रकार आन्दोलन की आवश्यकता जरूर है, किन्तु उसका उपयोग स्वकीयों की अपेक्षा परकीयों की शिक्षा में ही अधिक होता है। अर्थात् आन्दोलन का अर्थ विशेष शिक्षा हो सकता है, कृति नहीं।

सरकार के पास महाराष्ट्रियों के विचार यथातथ्य में पहुँचानेवाला कोई दुभाषिया न था, और न उसे रखने की सरकार की इच्छा ही थी। रहा ओरियंटल ट्रान्सलेटर, सो वह बिचारा कहांतक पढ़ सकता या उसका अनुवाद कर सकता था। और यदि कुछ करता भी तो उसकी दृष्टि अनुग्रह की अपेक्षा निग्रहकी ओर ही अधिक रहती थी। अतएव उनकी रिपोर्ट, एकतर्फा, मुख्तसिर, असंबद्ध और

भूलें अनुवाद या खुराफात से दूषित हो सकती थी। ऐसी दशा में यह कह देना अनुचित न होगा कि इन सब आपत्तियों से बचने के लिए घाटा उठाकर भी किसी अपने ही मध्यस्थद्वारा निर्दोषरूप में अपने विचार सरकारतक पहुँचाने के ही उद्देश्य से 'मराठा' निकाला गया था। मराठा के प्रथमाङ्क में 'आत्मनिवेदन' रूपी लेखद्वारा उसके संचालकोंने पत्र का उद्देश्य इन शब्दोंद्वारा प्रकट किया है:— "Our true primary duty will be to interpret, petition and instruct, and advocacy may be said to form the second part of our real work" यह दुभापिये का काम उनदिनों दो दो भाषाओं में निकलनेवाले इन्दुप्रकाश, ज्ञानप्रकाश, सुबोधपत्रिका, जैसे एँग्लोवर्नाक्यूलर पत्रोंद्वारा निकल जाता था। किन्तु इस युवा महाराष्ट्रीय मित्र मंडली को यह काम बेढंगा और अधूरा जान पड़ा। इसी लिए उन्होंने एँग्लोवर्नाक्यूलर पत्र की अपेक्षा केसरी मराठी में और मराठा अंग्रेजी में निकालने का निश्चय किया। संपादकीय लेखों की ही तरह मराठा के एक दूसरे भाग की भी उन्होंने योजना की थी। किंतु वह केवल अपने ही लोगों की शिक्षा के लिए था। इसमें अंग्रेजी के प्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओंसे उद्धरण या बड़े २ लेखों के सारांश दिये जाने का प्रबंध था। इस स्तंभ के विषय में शास्त्रीजीने निबंधमाला में मराठा का वर्णन इस प्रकार किया था:—

"अब इसे (मराठा के) पढ़ लेने पर अधिकांश बड़े २ अंग्रेजी के पत्र-पत्रिकाओं को पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी। और ऐसी दशा में जिन्हें सरकारी काम के लिए दूर देशांत में जाकर रहना पड़ता है, अतएव संसार की हलचल को जो नहीं जान सकते, उनके लिए यह पत्र बड़ा लाभ का ही सिद्ध होगा।"

'पत्र का नाम "मराठा" होने पर भी इस की दृष्टि संकुचित और कार्यक्षेत्र केवल प्रान्तीय स्वरूप का न होगा।' इस प्रकार अपने कार्यक्षेत्र की मर्यादा बतलाते हुए मराठा-संपादक ने आरंभिक लेख में ही यहभी कह दिया था की "हमारे इतिहासप्रसिद्ध नाम को देखकर यदि किसी को इस बातका भय प्रतीत हो कि हम दूसरों के प्रदेश आक्रमण करने या छापा डालने लगें गे, तो उस की यह शंका एकदम निराधार होनी चाहिये। 'मराठा' पत्र जो भी कुछ पूनानिवासी ब्राह्मणों के हाथ रहेगा, किन्तु फिर भी वह किसी जातिविशेष का पक्षपाती न होगा।" हम समझते हैं कि आजतक इस प्रतिज्ञा का पालन मराठाने बसभर पूरी तरह से ही किया है।

पहले वर्ष, मराठा में अन्यान्य विषयों के लेखादि के साथ कोल्हापुर राज्य पर अधिक जोरदार एवं आलोचनात्मक लेख निकले। इस विषय की अधिकांश

बातें हम आगे चलकर 'कोल्हापुर प्रकरण' वाले भाग में देंगे, किंतु फिर भी यहां संक्षेप में यह बतला देना अनुचित न होगा कि, कोल्हापुर के मुकद्दमे में तिलक को सज़ा हो जाने के बाद उनके छूट जाने पर 'मराठा' का डिक्लेरेशन उनके नाम से नहीं किया गया। अर्थात् तिलक की अनुपस्थिती के समय से ही 'मराठा' का सम्पादनभार वासुदेवराव केलकर पर आ गया था। यह कार्य ता. १ सितंबर सन १८९१ तक उनके आधीन रहा। इस तारीख को जब तिलक को मराठा और केसरी दोनों पत्र के स्वामित्व का अधिकार मिल गया, तब जाकर उन्होंने इनके उत्तर-दायी सम्पादक के नाते नया डिक्लेरेशन दाखिल किया था, किन्तु इस घटना का पूर्व वृतान्त भी बतला देना यहां आवश्यक प्रतीत होता है। यह वर्णन एक दो ही नहीं वरन् पूरे सात वर्ष का है। और उस में मतभेद के तीन चार विषयों का भिन्न २ प्रकार से विचार करना सुविधाजनक होगा यह जानकर उन्हें संक्षेप में चार भागों में विभक्त कर दिया है (१) केवल न्यू इंग्लिश स्कूल और कॉलेज अथवा डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी का परिचालन किस सिद्धान्त के अनुसार हो, अर्थात् इनमें काम करनेवाले लोग वेतन की आशा कहां तक रक्खें, और सोसायटी का काम सम्हालते हुए ही क्यों न हो, किन्तु अन्य कार्य का भार वे अपने ऊपर लें या नहीं, और द्रव्योत्पादक कार्यों के प्रति उनका भाव कैसा रहे? (२) डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी और उसके सदस्य का पत्र और प्रेस से सम्बन्ध रहे या नहीं, रहें अगर और भी तो वह किस प्रकार का होना चाहिये (३) सोसायटी का कोई सम्बन्ध न रहते हुए भी, मतभेद के मामलों में खुद केसरी और मराठा पत्रों का ही, सामयिक स्वामित्व की दृष्टि से परस्पर सम्बन्ध कैसा रहे! (४) सार्वजनिक मतभेद या व्यक्तिगत स्वभाव-भेद के कारण होनेवाले विवाद का निर्णय कौन किस ढंग से करे। इत्यादि इनमें से प्रथम भाग के विषय का स्वयं लोकमान्य तिलक ने सोसायटी छोड़ते समय जो त्यागपत्र उपस्थित किया था उसमें सविस्तर वर्णन किया है। उसका सारांश दे देनेसे हमारे मतानुसार इस पर हमें यहां कुछ भी न लिखना पड़ेगा। दूसरे मुद्दे के सम्बन्ध में सामाजिक विषयों के मतभेद के कारणसे डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी के तिलक पक्ष और आगरकर पार्टी में चार वर्षोंतक किस प्रकार झगड़ा चला, और अन्त को सन १८८७ में तिलक पक्ष विजयी हो कर समाचार-पत्रों के विभाग से आगरकर किस प्रकार अलग हो गये, इन सब बातों का विवेचन करना पड़ेगा। इसी प्रकार तीसरे मुद्दे के सम्बन्ध में केसरी और मराठा पत्र तथा आर्यभूषण प्रेस के परस्पर साम्पत्तिक सम्बन्ध की थोड़ी सी जानकारी करा देनेसे अंतमें केवल सोसायटी के समाचारपत्र विषयक शेष प्रकरण अर्थात् अकेले वासुदेवराव केलकर

और तिलक के बीच फूट होने, एवं वासुदेवराव केलकर का पत्रों से संबन्ध विच्छेद होने तथा अकेले तिलक की ओरसे आर्यभूषण प्रेस एवं दोनों पत्रों की हिस्सेदारी तोड़कर उनको ऋणसहित खरीदने और सर्वतंत्रस्वतंत्र हो जाने का वर्णन-ही रह जायगा । चौथा मुद्दा अर्थात् उत्साहपूर्वक किसी उच्च ध्येय पर मोहित हो कर सोसायटी में शामिल होनेवाले इन युवा सज्जनों का स्वभाव भेद के कारण मार्ग परिवर्तन कर लेनेसे और उसमें तत्परतापूर्वक लगे रहने का मनो-रंजक, उपदेशप्रद किन्तु खेदकारक वर्णन ही हो सकता है ।

भाग छठा।

कोल्हापुर का मामला और पहली सज़ा।

प्रत्येक देश में सार्वजनिक कार्योंमें योग देनेवाले मनुष्यों को जेल जाने तक के लिए तैयार रहना पड़ता है। यह बात नहीं है कि सन १८८२ से पहले भारतमें जेलखाने ही न हों या किसी मनुष्य ने कारावास ही न भुगता हो। किन्तु फिर भी किसी अपराध विशेष के कारण जेलमें जाने और सार्वजनिक आन्दोलन करते हुए सज़ा पाने मे ज़मीन-आसमान का भेद है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि सन १८८२ से पहिले इस दूसरे प्रकार के अपराध के लिए भारतभरमें कहीं भी किसी व्यक्ति ने जेलयात्रा नहीं कि थी, क्योंकि सन १८५७ के विद्रोह में सैंकड़ों अपराधी ही नहीं वरन् निरपराध व्यक्तियों तक को फाँसी हो गई, तो फिर सज़ा पाना कौन बड़ी बात हो सकती है। हमारा कहना मुख्यतः शांतिपूर्ण राजनैतिक आन्दोलनविषयक है। दूसरे किसी को यह सम्मान-प्राप्त हुआ हो या न हो, किंतु महाराष्ट्र में तो कमसे कम सबसे पहले तिलक ही इस सम्मान के भागी हुए, और वे भी अपने जीवन की पहिली पचीसी में ही। सन १८८२ में उन्हें चार महिने की सादी कैद की सज़ा मिली। और इस प्रकार मानों उनके जेल-जीवन का उपनयनसंस्कार भी हो गया। यद्यपि यह ठीक है कि वह सज़ा स्वरूपतः एक व्यक्ति विशेष की बदनामी करने के अपराध में हुई थी, किंतु फिर भी वस्तुतः यह झगड़ा व्यक्तिगत न था। और न इसमें किसी व्यक्ति-विशेष का स्वार्थ ही सिद्ध हो सकता था। इस मान-हानि के मुक़दमे को अन्दरूनी तौरपर राजनैतिक आन्दोलन का पुट दिया गया था। उसका प्रमाण यही है कि इस सज़ा से ि तिलक के व्यक्तिगत चरित्र को नाम मात्र के लिए भी धक्का न पहुँच कर उलटी ग-प्राप्ति ही हुई।

न्यू इँग्लिश स्कूल की समिति की ओर से ये पत्र प्रकाशित किये जाते ही नताने समझ लिया था कि ये लोग कोरे अध्यापक ही नहीं वरन् देश और समाज का अभिमान रखनेवाले उद्योगशील आन्दोलनकर्ता भी होंगे। इससे पहले ही पूनेसे 'ज्ञानप्रकाश' निकल रहा था। किन्तु उसे विद्वान एवं राजनीतिज्ञ संपादक के न मिलने से लोकप्रियता का सम्मान प्राप्त न हो सका। जिस प्रकार समाचारपत्र के लिए प्रेस हो सकता है, उसी प्रकार प्रेस के लिए पत्र भी हो सकता है। किन्तु इस दूसरे प्रकार के समाचारपत्र की स्थिती लावारिस छोकरे की तरह होती है। अर्थात् यदि किसीने आकर समयपर उसे घूंटभर दूध पिलाया तो पिला दिया, वर्ना

भलेही वह भूखों मरता रहे। इसी कारण वह न तो कभी बाल्यकाल में प्रेमपात्र बन सकता है और न उसे देखकर किसी का चित्तही प्रसन्न होता है। इसी प्रकार उस के हाथों किसी कार्य-विशेष के हो सकने की आशाही नहीं की जा सकती। केसरी और मराठा ये दोनों पत्र लेखकको उत्साह एवं उद्योगप्रियता के कारण निकाले जाते थे इस लिए इन्हें लेखादि की त्रुटि कभी नहीं रही; वर इनके कुल अंक विद्वान एवं विचारशील लोगों के ही लेखों से अलंकृत होकर निकले इसी प्रकार लोगों के इस बात पर विश्वास भी हो गया था कि यदि कहीं किसी के राजकीय कष्ट होगा तो उसे प्रकाश में लाने के लिए यह सुभीते का साधन है।

किन्तु कोई दुःखकथा राजनैतिक होने पर भी उसका सच्चा वर्णन ही समाचारपत्र में प्रकाशित करना न्यायपूर्ण कहा जा सकता है। किन्तु इस विषयमें साधारण जनता का भोलापन और उसकी भावुकता के ही साथ २ कानूनसम्बन्धी अज्ञानता भी बढ़ी हुई रहती है। अतएव वे हर किसी सच-झूंठ अथवा वास्तविक या काल्पनिक घटना को एक साथ मिलाकर समाचारपत्रों में भेज देते हैं। इसमें सम्वाददाता का उद्देश्य पत्र-संपादक को धोका देना या चक्करमें डालना नहीं होता, बरन् वह अपने विचारोंको सर्वसाधारण में प्रगट कर देना ही चाहता है। किन्तु फिर भी उसे छापने की सारी जबावदारी पत्र-संपादक पर रहने से उसके सामने यह एक समरयासी खड़ी हो जाती है कि वह उसे प्रकाशित करे या नहीं। क्यों कि जब सच-झूंठ का निर्णय कितनी ही बार घटनास्थल पर पहुँचकर भी प्रायः नहीं हो पाता तो फिर भला संपादक की बैठक में ही वह कैसे हो सकता है! और यदि अकारण ही किसी व्यवहार-दक्ष मनुष्य की तरह बाहर के संवाददातापर से एकदम ही विश्वास उठा लिया जाय तो साहस और तत्परता सम्बन्धी जो गुण संपादक के लिए आवश्यक है, उनसे वह ही न सिद्ध होकर उसके नैतिक चरित्र में धब्बा आ सकता है। ऐसी दशामें संपादक के चित्त में ही किसी प्रकार की अशांति उत्पन्न होनेसे ही वह आन्दोलन खड़ा कर सकता है, अन्यथा नहीं। फिर भले ही उसमें कोई भूल भी हो जाय।

यह अशांति केसरी और मराठा की संपादक मंडली में अवश्य थी। तभी तो उन की गति सावधानी की अपेक्षा साहस की ही ओर अधिक प्रवृत्त हुई यद्यपि वे इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि हमारी इस स्फुर्ति या उत्साह-प्रियता से अविचारी एवं दुष्ट और उतावले लोगों के भी लाभ उठा सकने की संभावना है, और कदाचित् इसी बात को लक्ष करके ता. १३ सितंबर सन १८८१ के केसरी में "संवाददाताओं को सूचना" के नाते निम्न लिखित स्पष्ट सूचना देनी पड़ी थी कि "बड़ौदा के मामले में हमारी ओरसे चर्चा होती देखकर ही

कुछ व्यक्ति हमारे पास विचित्र प्रकार के पत्र भेजते है। ऐसा करनेवालों का आशय भलेही कुछ हो, किन्तु समस्त संवाददाताओं को यह बात अवश्य ध्यानमें रखनी चाहिये कि विश्वसनीय हस्ताक्षर के साथ वे जो कुछ लिखकर भेजेंगे वही वर्णन या लेख सच्चा और आधारयुक्त समझा जायगा। अन्यथा बिना इस प्रकारका विश्वास दिलाये हम किसी के भी पत्र या लेख को न छाप सकेंगे। इसलिए विचारवाले व्यक्तियों के ऐसे वैसे लेख रद्दी की टोकरी के हवाले कर दिये जायँगे।" किन्तु दुर्भाग्यवश केसरी के युवा संपादकों की व्यवहारदक्षता की यह दर्पोक्ति व्यर्थ सिद्ध होने का समय थोड़े ही दिनमें आ उपस्थित हुआ। अर्थात् केसरी और मराठा के इन चौकन्ने पहरेदारों को धमका देनेवाली साहसी मंडली इनसे पहले ही जन्म धारण कर चुकी थी। अतएव जिस प्रकार किसी पक्की फर्श के मकान में ही एकदम पोल निकलकर घुटने तक पैर जमीन में घुस जाता है, उसी प्रकार झूठे, नकली और बहुत बड़ी बदनामी करनेवाले, संवाददाताओं के पत्र छापने के लिए, संपादक महाशय को एकदम जेलखाने की हवा खानी पड़ी।

केसरी और मराठा में प्रथमवर्ष आन्दोलनात्मक लेख जितने भी निकले, उनमें अधिकांश देशी राज्योंसे सम्बन्ध रखते थे। यद्यपि ब्रिटिश सरकारपर भी आलोचनात्मक बातों के लेख रहते थे, किंतु आजकी तरह उन दिनों भी लोगों का ख्याल था कि पोलिटीकल एजंट एवं रेसिडेंट की करतूतों से रियासतों में बहुत अन्याय होता है। अन्तर केवल यही था कि जनता के हृदय में देशी राज्य-विषयक जो प्रेम आज है, उससे वह उन दिनों दसगुना अधिक होता था, संभव है कि चालीस वर्ष पूर्व लोगोंकी यह धारणा हो कि यदि किसी देशी रियासत का स्वामी दैवयोग से चतुर, न्यायी और साहसी निकल सका, तो वह अपनी सुराज्यव्यवस्था एवं प्रजावत्सलता के द्वारा अंग्रेजी सरकार को लज्जित कर देगा। और ऐसी दशामें हमें अभिमानपूर्वक यह कहनेका मौका मिल सकेगा कि जरा 'इस चित्रको देखिये और फिर अपनी ओर नज़र डालिये'। किंतु आज चालीस वर्षके बाद यह नहीं कहा जा सकता कि उस विश्वास की मात्रा अब भी किसी अंशमें मौजूद है। साथही इन दिनों राजनैतिक प्रगति बहुत अधिक हो जानेसे स्वराज्य (लोकसत्ता) की तृषा सुराज्य के द्वारा स्वदेशी राजा के हाथों भी न बुझ सकने का सिद्धांत भी दृढ़रूप धारण कर चुका है। हमारा यह मुद्दा कि, केसरी और मराठा का जन्म होते समय प्रजाके चित्तमें देशी राज्यके स्वामियों के प्रति प्रेमभाव अधिक था, और पोलिटिकल एजंट एवं रेसिडेंट को पर अत्यंत अविश्वसनीय समझती थी और उनके ध्येय एवं अनुरोधानुसार चलनेवाले देशी

मंत्री (दीवान) एवं कारबारियों के प्रति तो वह एक प्रकार से द्वेषभाव ही रखती थी। अंग्रेज सरकार तो हरतरह से विदेशी ही ठहरी! उसे भला यह क्व अच्छा लग सकता है कि हमारे देशी राज्यों का भला हो! किन्तु दीवान और कारबारी तो हमारे ही देशभाई हैं, इन्हें क्योंकर अपने देशी राज्य के विषय में अभिमान नहीं होता? जब वे इतना बड़ा वेतन पाते हैं तो फिर ईमानदारी के साथ वे अपने मालिक की ओरसे अंग्रेज सरकार के साथ क्यों नहीं झगड़ते! इस प्रकार जनता के साधारण विचार थे। किन्तु अनुभव इसके विपरीत होता था। 'रविरपि न दहति तादृक् यादृक् परिदहति वालुकानिकरः। अन्यस्मात् लब्धपदो नीचः प्रायेण दुःसहो भवति।" इस उक्ति की यथार्थता का पदपदपर अनुभव होता था। एकबार एजंट या रेसिडेंट धक सकता था, क्योंकि वह विदेशी होने के कारण कमसे कम दूर तो रहता ही था। किन्तु धूर्त दीवान या कारबारी सें संकट अधिक, क्योंकि वह उच्च राजनैतिक मामलों से लगाकर राजमहल की भीतरी और कोने २ तक की बातों से जानकार होता है। इसी प्रकार उसके हाथमें सत्ता भी पूरी होती है। अतएव समाचारपत्रों में देशी राज्योंपर जो लेख उन दिनों निकलते थे उनमें प्रायः इन दीवान-कारबारियोंपर ही वार किये जाते थे।

शुरू साल से ही केसरी में कोल्हापुर के राज्यकारोबार से सम्बन्ध रखने वाले लेख निकलने लगे और, अगले साल जाकर उन्हींपर से मामला भी चल पड़ा। किन्तु केसरी ने सबसे पहले इसी राज्य का प्रश्न हाथ में न हीं लिया था, बल्कि वह इससे पहले बड़ौदा की चर्चा भी कर चुका था। इससे कुछही वर्ष पूर्व बड़ौदा के महाराज मल्हारराव गायकवाड़ पदच्युत कर दिये गये थे, और दत्तक लिये हुए महाराज सयाजीराव यद्यपि गद्दीनशीन हो चुके थे, किन्तु अभी उ अधिकार मिलना बटकी थे। अतएव सारा कारोबार दीवान के ही हाथमें था और उसपर देखरेख करनेवाली अंग्रेज सरकार थी। बड़ौदा के तत्कालीन दीवा ख्यातनामा राजा सर टी. माधवराव थे। इन्होंने ट्रावनकोर में दीवान रहकर अच्छ नाम कमाया था। इनके ख़ास महाराष्ट्रीय ब्राह्मण होनेपर भी इंदौर के मरा दरबार में इनकी कुछभी प्रतिष्ठा न जमी। बडौदा में तो उनसे लोग असन्तुष्ट ही थे। इसका असली कारण यह था कि संभाजीराव महाराज की चतुरता एवं समझदारी को देखकर लोग उत्सुकतापूर्वक आशा लगाये बैठे थे कि शीघ्रही ये सत्ताधारी बनकर पिछली बुराइयों को दूर कर राज्य को शान्तिमय बना देंगे। किन्तु युवा राजपुत्र को शासन के अधिकार प्राप्त होनेसे पूर्व का समय एक प्रकार से सन्धिकाल होता है। अपने मनोरथ पूर्ण करने के लिए सरकार को भी इसीसमय मौका मिलता है। राजकुमार इस लिए बिना सरकार की बात सुने

शासन के अधिकार शीघ्र न मिल सकेंगे, उसकी बतलाई हुई शर्तें मंजूर कर लेता है। इन कठिनाई भरी शर्तों को निश्चित करने एवं उनका भविष्य पहले सुन लेने के काम में सरकार को दीवान या कारबारीसे ही पूरी २ सहायता मिलती है।

इसी नियमानुसार लोगों के चित्त में यह संदेह दृढ़रूप से जम चुका था कि राजा सर टी. माधवराव ने इसी प्रकार के सन्धिकाल में अंग्रेज सरकार का हितसाधन कर अपने अन्नदाता के साथ धोकेबाजी की है। कहां वे निःस्वार्थ दादाभाई नौरोजी कि जिन्होंने बड़ौदा राज्य के हितके लिए दीवानगिरी तक को छोड़ दिया, और कहां ये सर टी. माधवराव कि जिन्होंने अपने उत्कर्ष के लिए बड़ौदा राज्य के अधिकारों को भी गवाँने में मदद की! खैर। श्री. माधवराव ने फुटकर सुधार राज्य में बहुत कुछ किये थे, किन्तु लोगों की विवेकबुद्धि जागृत रहने के कारण वे उनपर मुग्ध न होकर मुख्य मुद्देपर ही कायम थे। बड़ौदा की नई राज्यपद्धति के मसविदे 'कान्स्टिट्यूशन' और बड़ौदा 'कन्टिन्जन्ट' अर्थात् तैनाती फौज आदि के विषय में भलतीही शर्तें मंजूर कर इन दीवान साहबने राज्यको स्थायीरूप में हानी पहुँचाई। यह बात लोगों को जरा भी अच्छी न लगी। इसके अलावा कचहरियों में भी जहां तहां मद्रासियों की भर्ती हो रही थी और गुजरातियों का सम्मान घट चला था। इसी प्रकार महाराज सयाजीराव पर भी अकारण ही कड़ी नजर रखने एवं उन्हें स्वतंत्र राजनैतिक शिक्षा प्राप्त न करने देनेके इरादे से सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक पत्र जैसे साधन भी छीन लेने आदि के फुटकर दोषारोपण उनपर और थे। केसरी और मराठा में इन विषयों पर वर्षभर तक बड़े मार्मिक एवं प्रमाणयुक्त लेख निकले थे। किंतु सौभाग्य से यह आलोचना दुष्परिणामकारी न हुई।

किन्तु दैवदुर्विपाक के कारण कोल्हापूर की दशा बड़ौदा से भी अधिक बुरी हो रही थी। वहां के खास महाराज शिवाजीराव के पागल हो जानेकी शंका ने लोगों को बहुत दुःखी बना दिया था। और इससे भी अधिक दुर्भाग्य का विषय यह था कि करवीर महाराज को पागल बनाने में वहांके दीवान पर लोगों को मिथ्या ही क्यों न हो किन्तु विश्वसनीय शंका थी। इसी कारण कोल्हापुर के कारबारी रावबहादूर माधवराव बर्वे की अपेक्षा लोग बड़ौदाके दीवान सर टी-माधवराव कोही अच्छा समझते थे। महाराजा की बाल्यावस्था में कोल्हापुर की सम्पत्ति दूसरों के आधीन, अर्थात् अंग्रेज सरकार के ट्रस्टी और दीवान उसके वैतनिक मुनिम रहने की दशा में दरबार खजाने का लाखों रुपया बर्बाद हो गया। कई निरुपयोगी किन्तु बड़ी २ इमारतें बनवाने और उनमें नक्काशी करवा कर

राज्य का दिवाला निकालने प्रसंग उपस्थित करने आदि के लोकापवाद भी चारों ओर फैल रहे थे। फलतः केसरी और मराठा के साहसपूर्ण ध्येय को देखकर कोल्हापुर राज्यपक्षपाती लोगों में उत्तेजना पढ़ना स्वाभाविक ही था। इसी कारण उन्होंने संपादकों के पास वहां की सब बातें खुलासेवार लिखकर भेजना शुरू किया। और इस प्रकार क्रिया प्रति-क्रिया शुरू होकर कुछ ही दिनों में 'कोल्हापुर प्रकरण' केसरी और मराठा के पाठकों के लिए एक महत्त्वपूर्ण पठणीय विषय बन गया। ता. ११ अक्टूबर सन १८८१ के केसरी में निम्न लिखित शब्द इस विषय के पाये जाते है कि "कोल्हापुर के छत्रपति महाराज की इस समय यह दशा हो रही है कि जिसे सुनकर पाषाण-हृदय व्यक्ति भी द्रवित हो उठे गा। क्या महाराजा का प्राणान्त होकर उनकी लाश हाथमें आने पर हमारे लाट साहब की निद्रा भंग होगी? यदि किसी भी कारण से महाराज की जान को जोखम पहुँची तो उसका सारा कलंक महारानी विक्टोरिया और उसके प्रतिनिधि वाइसराय के सिर लगे बिना न रहे गा।"

ये शब्द तो ज़ोरदार हैं ही, किन्तु इनसे भी कई जगह अधिक कठोर आलोचना, लोग निजी संभाषणों में करते होंगे और दीवान माधवराव बर्वे ने अपने स्वामी के साथ की हुई धोखेबाजी कहांतक सच्ची मानी जाती होगी इसका पता ऊपर के शब्दों पर से लग सकता है। इस का प्रमाण पूने में ता. २४ नवम्बर के दिन आनन्दोद्भव नाटकघरवाली सभा में लोगों को मिल गया। उस दिन सभा में हजारों लोग उपस्थित थे, और वृद्ध पेंशनर गोपाल राव हरी देशमुख ने अध्यक्षस्थान ग्रहण किया था। सभा में मुख्य भाषण कोल्हापुर के एक नेता सदाशिव पाण्डुरंग उर्फ नानासाहेब भिड़े वकील का हुआ। ये महाशय वकील तो थे ही, किंतु कोल्हापुर के दत्तक महाराज की पहिली (ख़ास) माता राधाबाई साहिबा ने इस कार्य में उन्हें अपना मुख्तार भी बना दिया था। लोगों का विश्वास था कि महाराज राधाबाई के पुत्र हैं, अतएव उनको, महाराज की विशेष चिंता है। भिड़े साहब ने भी श्रोताओं को अपने डेढ़-दो घंटे के भाषण से सहज ही में मुग्ध कर दिया। उन के भाषण में जो असंगत बातें और ग्रामीणता आगई थीं वे करुणारस के लिए उपकारक सिद्ध हुईं। उस विषय के मूल वर्णन की भयानक भूमिका ही ऐसी थी।

श्री. भिड़ेजी की वर्णित रामकहानी का सारांश यह था कि 'कोल्हापुर नरेश असल में पागल नहीं हुए है, बल्कि उनपर यह वृथा कलंक लगा कर दीवान लोगों ने ही जनता को धोखा दिया है। इस में महाराज की दत्तक-वंश की एक माता भी शामिल है, और उसी के तंत्रानुसार महाराज का उन के स्त्री-पुत्रादि

से निर्दयतापूर्वक सम्बन्ध-विच्छेद किया गया है। इसी प्रकार कारावास में भी महाराजा को बड़े २ कष्ट दिये जा रहे हैं, और ऐसी दशा में संभव है कि उनपर देखरेख रखनेवाले डाक्टरों के ही हाथ से उन की हत्या भी करा दी जाय।' यद्यपि इन भयंकर घटनाओं को अपनी कल्पना के बलपर लोग पहले ही ताड़ चुके थे, किन्तु श्री. भिड़े की रसमयी वाणी में जब प्रत्यक्ष रूप से उनका वर्णन सुना तब उनकी क्या दशा हुई होगी इसे पाठक स्वयं ही अनुभव कर सकते हैं। ता. २१ नवम्बर सन १८८१ के केसरी में उक्त सभा का वर्णन छापने के साथ ही संपादक ने अपने अग्रलेख में निम्नलिखित आलोचना प्रकाशित की थी:—

"कोल्हापुर जैसी बड़ी रियासत और उसमें इतने दिन गड़बड़ मची रहे, चाबुक और कोरड़े की मार के ही साथ २ रंगमहल में लज्जास्पद घटनाएँ होती रहें, और सरकार बहादुर को उसको पता न लगने पावे, अथवा वह उसकी ओर से अपना ध्यान ही हटा ले! ये बातें सरकार की राजनीति और उसकी सुप्रबंधकता में अतिशय कालिमा लगानेवाली हैं! हमारी जो सरकार कैदियों की दुर्गति न होने देने के लिए उपाय करती है, क्या उसके कानतक विचारे छत्रपति का आक्रोश पहुँचता ही नहीं?" साथ ही केसरी ने यह भी कहा कि जब किसी का जीवन नष्ट करना होता है तो उसे व्यर्थ ही में उल्लू बना कर पागल खाने में बन्द कर देने की जो घटनाएँ हम विलायती उपन्यासों में पढ़ते हैं, ठीक उसी प्रकार की घटना यह भी कही जा सकती है। लेकिन वे घटनाएँ जहां कल्पित होती हैं, वहां यह प्रत्यक्ष घटित हो रही है। ग्रीन फॉक्स जैसे गोरे चौकीदार का दर्शन ही महाराज को अप्रिय प्रतीत होता है तो फिर उसे हटा कर ममतामयी उनकी जन्मदात्री माता को क्यों उनकी सुश्रूषा में नहीं रखा जाता? यदि महाराजा को विलायती दवाइयों से घृणा हो गई तो देशी औषधियां देकर क्यों उनका समाधान नहीं किया जाता? मतलब यह कि विकृत मस्तिष्कवाले व्यक्ति को उस की इच्छानुसारही बरतने देना चाहिये; अन्यथा उसकी गति के विरुद्ध होते ही यदि वह पागल नहीं होगा तो इससे उसका दिमाग़ फिर जायगा। श्री. राधाबाई ने कलकत्ते जाकर गवर्नर साहब को अपना सब हाल सुनाया, किन्तु उन्होंने यह कह दिया कि, बिना डाक्टरी इलाज की व्यर्थता सिद्ध हुए महाराज उनकी माता के अधिकार में भी नहीं दिये जा सकते-उन बेचारी को निराश कर दिया।

'टाइम्स' आदि अंग्रेजी पत्रों में भी यह चर्चा जारी थी, और वे यह सलाह देते थे कि महाराज को विलायत भेज दिया जाय। किंतु जहां इस बात की शंका ज़बरदस्त हो रही हो कि ये लोग धोखा दे कर महाराज को मार डालेंगे, वहां भला ऐसी सलाह कब पसंद आ सकती है? सिवाय, इसमें पहले

राजाराम महाराज भी यूरोप की यात्रा में ही इटली के फ्लोरेंस नगर में स्वर्गवासी हो चुके थे, अतएव तब यह सूचना भी विशेष उत्तेजनायुक्त न थी। ता. ६ दिसम्बर के केसरी में महाराजा को किसी अंशमें ही क्यों न हो किन्तु सच्चा बुद्धि-भ्रंश होना स्वीकार किया गया था। किन्तु साथ ही यह भी कह दिया गया था कि महाराजा के संतप्त होने के यथार्थ कारण सर्वसाधारण में प्रकट कर सकने योग्य नहीं है, और गोरे डाक्टर या तो उन्हें समझते ही नहीं, अथवा जानबूझकर ही उसकी ओर ध्यान नहीं देते, ऐसी दशामें मौजूदा ढंग से ही यदि उनकी सुश्रूषा होती रही तो उनका स्वास्थ्य सुधारने की कभी आशा नहीं की जा सकती। जान पडता है कि इससे पहलेही नाना भिड़े ने इस मामले में आगे चलकर कृत्रिम सिद्ध होनेवाले पत्रादि पुना के अन्यान्य व्यक्तियोंकी तरह केसरी और मराटा के संपादकों को भी दिखा दिये थे। तभी तो उस अंक में केसरी कहता है कि, "कोल्हापूर के सम्बन्ध में जो कागज़पत्र हमारे देखने में आये हैं उन परसे रावबहादूर माधवराव वर्वे के राक्षसी अंतःकरण का हमें पूरा २ पता लग गया है। आजही उनकी वे काली करतूतें प्रकाश में नहीं लाई जा सकतीं अतएव हम विवश हैं। किंतु वे इतनी घोर एवं घृणित हैं कि जिन्हें सुनकर सहृदय पुरुप का अन्तःकरण फट जाय गा, यही नहीं बरन् आकाश-पाताल एक हो जायँगे"।

इधर एँग्लो-इंडियन पत्रों में भी दूसरी बाजू इतनेही ज़ोर के साथ भड़कीले रंगमें रंगी जाती थी। उनके संवाददाता लिखते थे कि, 'महाराज सचमुच ही पागल हो गये हैं, राधाबाई के पक्षपाती एवं पूना के सब लोग बाहर की ही तरह अन्दर भी काले हृदय के हैं। धूम-धड़ाका मचाकर रुपया इकट्ठा करनेसे उन्हें मतलब है, और दीवान वर्वे एकदम निःस्वार्थी एवं निर्दोष व्यक्ति हैं।' इसपर केसरी ने यह फब्ती उड़ाई थी कि अंग्रेजी पत्रों का निस्पृहता एवं निरभिलपता का स्वांग भी प्रायः निस्सार होता है। दीवान वर्वे तो हमारे देशभाई हैं, फिर उच्च पदासीन हैं, ऐसी हालतमें उन्हें अकारण ही बदनाम करनेमें हमें क्या लाभ हो सकता है? किंतु माधवराव के पाप तो इतने बढे चढे है कि उनका मुंहसे उच्चारण तक नहीं किया जा सकता! हम समझते हैं कि समय आनेपर वे उन्हें प्राणान्त दंड के ही योग्य सिद्ध करें गे। तब तक वे अपराध प्रमाणित करनेवाले पत्र अथवा दूसरे कागज़ात केसरी में प्रकाशित नहीं हुए थे। फिर भी वर्वे की बदनामी बहुत अधिक हो चुकी थी। अतएव वे पत्रादि प्रकाशित होते या न भी होते, किन्तु वर्वे को तो दावा दायर कर के अपने लिए फैसला कर ही लेना था। इधर बाजार गप्पे भी शुरू थी हीं। कोई कहता था कि कोल्हापूरसे एक आदमी "तीन

पकोतरे आधिकृत करने के लिए बीस हजार के तोड़े लेकर आया है" तो किसी की ओरसे यह खबर उड़ाई जाती थी कि, "बर्वे सस्पेंड किये जाकर उनपर सर डेविड वेडरबर्न का कमिशन बैठाया जायगा"। इधर सन १८८१ के अंतमें बडौदा के सयाजीराव महाराज को शासन के अधिकार मिल जानेसे लोगों की आशालता फिर हरी हो चली थी। उनके अधिकारदान के उत्सव में उपस्थित रहकर अभिनन्दनपत्र देने का सम्मान पूना की सार्वजनिक सभा को प्राप्त हुआ था। साथही ता. २७ दिसम्बर १८८१ के केसरी में नये महाराज को प्रौढपन के नाते दोचार उपदेशप्रद बातें लिखकर संपादक ने बडौदा के मामले की इतिश्री की थी। कई लोगों केसरी के एकदम शान्त हो जाने पर मनमानी कल्पनाएँ भी कीं। कोई कहने लगा कि 'केसरी' को कुछ देदिलाकर मामला दबा दिया गया, तो किसीने यह सुनाई कि कोल्हापूरवाले मामले में नालिश हो जाने से केसरी ने अब देशी राज्योंपर लेखादि लिखनाही छोड दिया है। किंतु यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें की एक बात भी यथार्थ नहीं थी। बडौदे का मामला यथार्थ मेंही स्वाभाविक रीतीसे समाप्त हो गया था। नये महाराज के गद्दीपर बैठतेही दीवान की सत्ता घट गई। वर्षभर में ही उस छोटेसे केसरी में अकेले बडौदा के सम्बन्ध में इतने अधिक लेख निकले कि जिनके कारण दूसरे विषयोंपर बहुत कम लेख निकल सके। इसपर कई पाठकों ने तो शिकायत भी की। दावा दायर हो जाने पर भी संपादक अपने निश्चय से डिगनेवाले व्यक्ति न थे, अतएव तद्विषयक नये उद्योग शुरू हो जानेसे बडौदा को छोडकर कोल्हापूर का मामला हाथ में लेना उनके लिए सर्वथैव योग्य ही था।

"आगामी वर्ष इससे भी अधिक सुरकर हो" इस प्रकार की शुभाशा सन १८८२ के प्रथम अंकमें केसरी ने गतवर्ष का सिंहावलोकन करते हुए व्यक्त की थी। किंतु ईश्वरी इच्छा कुछ और ही थी। अर्थात् श्रीयुत नाना भिडे के लाये हुए कृत्रिम पत्रादि इससे पहिलेही 'ज्ञानप्रकाश' में प्रकाशित हो गये और बर्वे भी कोल्हापूर छोडकर पूना चले आये। बस, इन्हीं दो घटनाओंपरसे लोगों में नाना प्रकार के तर्क-वितर्क बढ चले। कोई कहता था कि यातो थोडीबहुत रिश्वत ले देकर मामला दबा दिया जायगा, अथवा बर्वे साहब कोल्हापूरसे नाता तोड देंगे और राजद्रोह का मामला दाखल कर दिये जायंगे। इधर केसरीने भी बर्वे को मामला चलाने के लिए आव्हान करते हुए ता. १७ जनवरी के अंकमें 'ज्ञान-प्रकाश' से ये पत्र भी उद्धृत कर छाप दिये। बेचारे बर्वे भी अंतिम निर्णय केही लिए पूना आये थे। उन्होंने मामला चलानेकी सरकारसे आज्ञा मांगी। सरकारने

भी उन्हें आज्ञा दे दी और मामले के सारे कागज़पत्र सरकारी सॉलिसिटर के पास बम्बई भेज दिये गये । केसरीने भी इस मामले को लच्च करके ता. २४ जनवरी के अंकमे प्रकट कर दिया कि "हम तो अपने संकल्पित मतके अनुसार कही हुई बातों को सत्य सिद्ध कर दिखाने के लिए तयार हैं ही, किंतु लोगों को भी अपनी ओरसे इसमें उचित सहायता देनी चाहीये।" इत्यादि । अंतको बम्बई में नालीश दायर होकर पुलीस कोर्ट मैजिस्ट्रेट मि. वेब के सामने ता. ८ फर्वरी बुधवार के दिन मामले की जांच शुरू हुई । वादीकी ओरसे 'इन्व्हेरैरिटी' बैरिष्टर और क्रीवलैंड एवं लिटल ये दोनों सॉलिसिटर थे । इधर प्रतिवादी के बैरिष्टर सर फीरोजशाह मेहता थे। वे शापुरजी और ठाकुरदास की सहायता पैरवी करते थे।

यद्यपि केसरी और मराठा दोनों पत्र न्यू इंग्लिश स्कूल के संचालकोंमेंसे कुछ विशेष उत्साही युवकों के प्रयत्न करनेपर निकले थे, और मूल उद्देश्य पत्रिकापर भी छह सात सज्जनों के हस्ताक्षर थे। किन्तु फिरभी मराठा के लिए तिलक और केसरीके लिए आगरकर उत्तर–दायी संपादक नियुक्त किये गये थे। श्री. विष्णुशास्त्री चिपलूनकर का ध्यान केसरी की ओर विशेषरूपसे रहता था, और मराठा में असल में तिलककी अपेक्षा नामजोशी या आपटे आदि ही विशेपरूपसे लिखा करते थे । किंतु फिरभी तिलक और आगरकरपर ही मामला चलाया जाना कानूनसे उचित ही था। पत्रादि छापने या न छापने का निर्णय मुख्यतः तिलक की हि सलाह से हुआ था । किन्तु उन्हें प्रकाशित करने से पहले उनमें के लेखांश का समावेश कर गव्हर्नमेंट के पास जो अर्जी भेजी गई उसपर तिलक और आगरकर केही साथ २ वामनराव आपटे के भी हस्ताक्षर थे। इसी प्रकार आरोपविषयक पत्रादि भी उन्होंने देखे थे । क्योंकी उस समय तिलक, आगरकर और आपटे तीनों एक ही मकानमें रहते थे। तीनों ने इस विषय में सलाह भी कर ली थी। किंतु केवल कानून की कठीनाई के कारण बर्वे का दाव आपटेपर न चल सका। वैसे उस संपादकीय लेख के लेखक श्री० आपटे ही थे। उपर्युक्त आवेदन पत्र में तिलक और आगरकर के ही साथ आपटे ने यह लिखा था कि 'हम सार्वजनिक मत के प्रतिनिधि के नाते यह अर्जी भेज रहे हैं।' इसके बाद गवाही होते समय भी आपटे ने बैरिस्टर इन्व्हेरैरिटी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भी यही कहा कि 'हमने पत्र संपादक या उसके लेखक के रूपमें आपने को सार्वजनिक मत का प्रतिनिधि समझा था'। किंतु इस प्रतिनिधित्व में अपराधी सिद्ध होनेका सौभाग्य आपटे को प्राप्त न हो सका । जब आपटे से यह प्रश्न किया गया कि तुम केसरी और मराठा के स्वामियों में से हो या नहीं? तब

आपटे ने गोलमाल उत्तर दिया कि 'मैं इस पत्रकी आय में से कोई हिस्सा नहीं लेता'। यथार्थ में ही उस समय प्राप्ति का आधा हिस्सा लेने लायक न था।

अस्तु। प्रेसिडेन्सी मैजिस्ट्रेट मि. वेब के सामने ता. २१ फर्वरी सन १८८२ को इस मामले की आखिरी पेशी होकर मामला सेशन के सिपुर्द कर दिया गया। और अपराधी की ओरसे हाज़िर जमानत के लिए रु. २००० के मुचलके और एक एक हजार की दो जमानतें ली गई। इस निर्णय की कल्पना पहले ही हो चुकी थी। किंतु मामला कमिट होने से पहिले फिरोजशहा मेहता ने इस बात पर झगड़ा किया कि वादी ने अपने सब सुबूत पेश नहीं किये हैं। उन्होंने कहा कि मराठा में निकले हुए लेख सद्-हेतु से लिखे गये है, अतएव वे पिनल कोड ४११ धारा के अनुसार अपराधयुक्त सिद्ध नहीं होते। इसी प्रकार बर्वे और तिलक के परस्पर द्वेषभाव होने का भी कोई प्रमाण नहीं है। उन बनावटी पत्रों को छापने से पहिले तिलक ने इनके खरेखोटेपन की भी सावधानी से जांच कर ली थी। अतएव लेखक के सद्हेतु को सिद्ध करनेके लिए इससे अधिक प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। समचारपत्रमें प्रकाशित करने से पहले उन पत्रोंका उपयोग गव्हर्नर के पास भेजी हुई अर्ज़ी में किया जा चुका था, और उसीके साथ मामले की खुली जांच करने के लिए भी प्रार्थना की गई थी। जब जांच नहीं की गई तब विवश होकर उन पत्रों को छापना पड़ा। इस प्रकारका खुलियाद बॅरिस्टर मेहताने किया था।

इस मामले में पांच मनुष्य आरोपी थे। (१) नाना भिडे, (२) केशव नारायण बखले, (३) वामन गोविन्द रानडे, (४) बाल गंगाधर तिलक, और (५) गोपाल गणेश आगरकर। इनमें से मराठा के लिए अकेले तिलक, केसरीके लिए तिलक और आगरकर, ज्ञान-प्रकाश के लिए अकेले वामनराव रानडे, और भिडे तथा बखले खुद आपने ही लिए आरोपी थे। इनपर अलग २ मामले चलाये गये, और वे मैजिस्ट्रेट के सामने तथा सेशन में भी अलग २ ही रहे। चारों मामले की सेशन में सुनवाई होकर पंचोंके अभिप्राय सुना दिये जाने बाद, सबको एक साथ सजा दी गई।

इस स्थानपर यह बतला देना अनुचित न होगा कि, केसरी, मराठा और ज्ञानप्रकाश कीहि तरह और भी कई पत्रोंमें बर्वे के विरुद्ध अपमानकारक लेख निकले और आक्षेपित पत्रादि भी उद्धृत किये गये थे। उनमें 'नेटिव-ओपीनियन' पत्र के मुद्रक मोरो विठ्ठल वाळवेकर थे, किन्तु इन महाशय ने ता. २२ जुलाई सन १८८२ के दिन बर्वे से उनके सालिसिटर की मार्फत पत्र भिजवा कर माफी मांग ली और इसीके साथ २ ता. १९ आगस्टके पत्र में यह भी

सूचित् कर दिया कि, 'नेटिव-ओपिनियन' पत्र में बर्वे के विरुद्ध जो संपादक लेख निकाला है उसके लेखक केशव नारायण बखले ही थे। सच झूठकी बात को ईश्वर जाने, किन्तु किसी भी प्रकारसे बखलेके छुटकारे की संभावना देखकर ही कदाचित् एकही द्वारा अनेक पितरों का श्राद्ध करा लेने की तरह बर्वे क्षेत्र में वालवेकर ने उन (बखले) के द्वारा अपना प्रायश्चित्तकर्म करवा लिया हो। थानाके अरुणोदय पत्र ने भी ता. २४ जुलाई को माफीनामा लिखकर पेश करते हुए बतलाया कि हमारे पास कोल्हापूर के किसी वासुदेव नारायण जोशी नामक व्यक्तिने सब वर्णन लिखकर भेजा था। यद्यपि यह बात स्पष्ट है कि बिना सच्ची जानकारी प्रकट किये उनका छुटकारा होना असंभव था, किन्तु फिरभी क्षमा याचना के बलपर फिर्यादी ने अपने शत्रुओंके नाम सहज भी ज्ञात कर लिये, और बतलानेवालों ने वे नाम बतला भी दिये! इस तरह अरुणोदय पत्र के संपादक काशिनाथ विष्णु फड़के भी मुक्त हो गये। सितारा के 'महाराष्ट्र मित्र' पर भी जब मि. वेबके सामने मामला चला, तो पत्र-संपादक कोल्हटकर ने माफी मांगना स्वीकार कर लिया। किंतु वह माफी उस दिन मंजूर नहीं हुई। इसके पांच दिन बाद जब कोल्हटकर ने बर्वे के सालिसिटर को माफीनामा लिखकर साथ में समाचार भेजनेवालों के नाम भी सूचित किये और मूल संवादपत्र भी पेश कर दिये, तब जाकर उनकी माफी मंजूर हुई। इसी प्रकार 'पूना वैभव' के संपादक शंकर विश्वनाथ केलकर ने भी अपने पत्र के चार पांच अंको में बर्वे के विरुद्ध लेख छापे थे, अतः उन्हें भी ता. ३ सितम्बर सन १८८२ के अंक में माफी मांगनी पड़ी। अन्ततः भिड़े, बखले, रानड़े और तिलक एवं आगरकर इन पांच व्यक्तियों पर अपराध सिद्ध होकर सजा दे दी जाने के कारण बर्वे के लिए इन अन्य व्यक्तियोंपर मामला चलाने की आवश्यकता न रही। अतएव उनसे माफी मँगवाकर बर्वे ने उन परसे मुकद्दमें उठा लिये।

कोल्हापूर के मामलेपर लोकमत किस प्रकार का था, यह पूर्वोक्त विवेचन परसे भलीभांति जाना जा सकता है। प्रत्येक लोकापवाद को विषयमें प्रायः जो बात सिद्ध होती है, वही बर्वेपर लगाये गये लोकापवाद के लिए भी हो सकती है। अर्थात् न्यायालय से अपनी मानरक्षा सिद्ध करा लेनेपर भी कुछ फुटकर विषय या कमसेकम कुछ ऐसे आदमी बचही जाते हैं कि जिनपर न्यायालय के निर्णय का कुछ भी प्रभाव नहीं पडता। बर्वेपर लगाये हुए बडे २ आरोप तो मूल में ही मिथ्या सिद्ध हो गये, और जिन पत्रों के आधारपर उनकी रचना हुई थी, वे भी बनावटी निकल गये। ऐसी दशा में लोगों को उस विषय में जो सन्देह था वह अनायास ही दूर हो गया। किन्तु फिर भी लोकमत यह कायम

ही रहा कि अपने स्वामी कोल्हापुर के महाराज के साथ जितनी सदयता के साथ बर्वे को व्यवहार करना चाहिये था, उतनी सदयता से उन्होंने नहीं किया। इसी प्रकार लोगों की यह धारणा भी मिथ्या न थी कि बर्वे पोलिटिकल एजंट के तंत्रानुसार चलते थे। इस मामले में साधारण जन की ओरसे जो मुख्य प्रश्न उत्पन्न होता है यह बर्वे से नहीं किन्तु तिलक और आगरकर से सम्बन्ध रखता है। वह यह कि इन जैसे सुचतुर व्यक्तियों ने उन बनावटी पत्रोंपर विश्वास कैसे कर लिया, उन्हें अपने पत्रों में छाप कैसे दिया? और उन पत्रोंके आधारपर इतने जोरदार संपादकीय लेख कैसे लिख दिये? इन प्रश्नों के उत्तर भी दो तीन तरहसे दिये जा सकते हैं। किन्तु उससे पहले हमें यह देखना चाहिये कि न्यायालयमें तिलक और आगरकर अथवा इनके वकीलों ने इस विषय में क्या कहा है।

मैजिस्ट्रेट मि. वेब के सामने भिडे और वखले का मामला चलता रहने की दशामें ता० ८ मार्च को वादी के गवाह की हैसियतसे तिलक ने बयान दिया, उसमें बर्वे के पत्रोंके सम्बन्ध में यह बात कही थी कि— "नाना भिडे ने ये पत्र मुझे दिखाकर यह बतलाया कि ये उन्हें वामनराव रानडे से प्राप्त हुए हैं। इससे अधिक न तो उन्होंने कुछ कहा और न मैंने ही कुछ पूछा। वामनराव रानडे से सिर्फ मेरी मामूली मुलाक़ात है। मैंने जब उनसे इस पत्रों के प्राप्त होने के विषय में पूछ ताछ की तो उन्होंने यह बतलाया कि उन्हें स्टेट के (खासगी) प्राइवेट विभाग से मिले हैं। इसके बाद जब मैंने उनसे पत्र लाकर देनेवाले का नाम पूछा तो उन्होंने यह कहा कि ये एक विश्वस्त मनुष्य ने लाकर दिये हैं और उसका नाम समय आनेपर प्रकट कर दिया जाय था। किन्तु उनका यह समय आजतक नहीं आया, और जब २ मैंने उनसे इस विषय में पूछा तब २ उन्होंने यही उत्तर दिया। मुझे आजतक उस आदमीका नाम मालूम न हुआ। रानडे से मैं बराबर मिलता रहा हूं और मैंने उनसे मिलने के बाद ही अर्जी भी भेजी थी।

इसके बाद जब तिलक पर मामला चलाया गया, तब मि. वेब के सामने नाना भिडे ने उन पत्रों के विषय में यह कहा कि "वे पत्र मुझे 'ज्ञानप्रकाश' के मालिक वामन गोविंद रानडे ने पूना में दिये। उन्हे लेकर मैंने वहां के बड़े २ अधिकारियों को दिखाया। श्री. विनायक रघुनाथ काले, पेनशनर सदर अमीन; हरी अनंत गोखले, शहर फौजदार कोल्हापूर; रा. ब. गोपालराव गोविंद फाटक, फर्स्ट क्लास सवजज पूना, आदि कितने ही बड़े २ प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने उन्हें देखा है। इन्होंने कहा कि यदि हमें गवाही देने के लिए जाना पड़े तो हमारे नाम

मत बतलाना। उनमें से मुख्य व्यक्ति विष्णुपंत अरण्णासाहब भोपटकर, भोर राज्य के कारबारी और महादेव गोविंद रानड़े आदि थे। वे पत्र मैंने तिलक को भी दिखलाये, और जब उन्होंने गवर्नमेंट के पास अर्जी भेज दी, तब वे पत्र मुझे वापस मिले। ......मैं तिलक के घर अनेक बार गया। जब तिलक ने पूछा कि ये पत्र तुमने कहांसे प्राप्त किये, तो इसके उत्तर में मैंने यह कहा कि एक भले आदमी के पा से। (अर्थात् वामनराव रानड़े से) किन्तु इसके बाद तिलक ने मुझसे यह नह पूछा कि वामनराव के पास वे कहां से आये। जब वामनराव रानड़े से मैं उन पत्रों के पाने का स्थान और व्यक्तिका नामादि पूछा तो उन्होंने यहि कहा वि तुम किसी बात की चिंता न करो। जिस व्यक्ति के हाथों इस प्रकारके पत्र आ सकने की संभावना रहती है, उसीसे मैंने ये पत्र प्राप्त किये हैं। वह व्यक्ति खासगी विभाग में नौकर है। उन पत्रोंको देखते ही मुझे विश्वास हो गया कि ये सच्चे हो सकते हैं, क्यों कि उनमें लिखीत बातों का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है। वामनराव को वे पत्र कहां से प्राप्त हुए इस विषय में मुझे केवल सुनी हुई बात मालूम है। और वह यह कि वे उन्हें खाजगी विभाग से प्राप्त हुए। इत्यादि" किन्तु यह गुप्त बात भी उन्हें सेशनमें जाकर प्रगट करही देनी पड़ी।

वामनराव रानड़े पर मामला चलते समय तारीख १३ जुलाई के दिन रामचंद्र विश्वनाथ जोशी उर्फ शेगुणशीकर की बड़े महत्व की गवाही हुई। उन्होंने इन पत्रों के विषय में सारी बातें शपथपूर्वक कह सुनाईं। उनके बयान का सारांश इस प्रकार है:— शेगुणशीकर कोल्हापुर का रहनेवाला नहीं था, किंतु कार्य-कारणवश वह कोल्हापुर आता जाता रहता था। सन १८८१ के नवम्बर महीने की २७ या २८ तारीख को वह अपने किसी काम से रामभाऊ ऐनापुरकर नामक व्यक्ति के घर गया। इन दोनों में परस्पर मैत्री थी, और साथ ही ये रिश्तेदार भी थे। उस दिन रामभाऊ घर पर न था। किंतु फिर भी शेगुणशीकर ने यह कह कर कि मुझे अपने घर एक पत्र लिखना है, उसकी बहन से उसके लिखने का बस्ता मँगवाया उसी बस्ते में कोरा कागज तलाश करते हुए १०-१५ पत्रों का एक बण्डल उसके हाथ लगा और कोरे कागज़ भी निकले। उसने अपना पत्र लिख लेने के बाद इस विचार से कि देखे इस बंडल में कैसे पत्र है। उन्हें खोला तो पता लगा कि बर्वे की ओरसे रामभाऊ ऐनापुरकर तथा आपटे आदि व्यक्तियों को लिखवाये हुए तथा कुछ खुद बर्वे के दस्तखती पत्र हैं। उनमें कोल्हापुर प्रकरण और विशेषतः महाराजा साहब से सम्बन्ध रखनेवाली बातें थी, अतएव उन्हें वह चुपचाप जेब में रखकर वहां से चल दिया। इसके बाद जब दूसरे दिन उसकी भेट वामनराव रानड़े से हुई तो उसमें से कुछ पत्र लाकर उसने उन्हें दे दिये। जब रानड़े ने

उससे और कुछ पूछताछ की तो उसने यह उत्तर दिया कि, इसमें के कुछ पत्र और भी हैं। किन्तु वे मैं फिर लाकर आपको दूंगा। इसके बाद उसने कुछ पत्र तो उसी समय उन्हें सौंप दिये, और शेष सब पत्रों को रजिस्टर्ड पोस्ट से उसने रानडे के पास पूना भेज दिये! जब रानडे ने शेगुणशीकर से पूछा कि "मौका पड़ने पर क्या तुम अदालत में यह बतला सकोगे कि ये पत्र तुम्हें कैसे और कहांसे प्राप्त हुए हैं?" तब उसने सब बातें वहां बतलाना स्वीकार किया। और अन्त में जाकर उसने अपने वचन का पालन भी कर दिखाया। ये पत्र यथार्थ में ही खासगी विभाग से प्राप्त हुए थे, क्योंकि रामभाऊ पैनापुरकर बर्वे के प्राइवेट विभाग का विश्वासपात्र नौकर था। यही नहीं वरन् इस विश्वास के लिए लोग बर्वे को बुरा-भला भी कहते थे। लोग अक्सर कहते थे कि बर्वे ने महाराज की देखरेख के लिए प्रायः ऐसेही मनुष्यों को रक्खा है जो कि उन्हें एकदम अप्रिय थे और उनमें रामभाऊ पैनापुरकर का ही नाम प्रधान रूपसे पाया जाता था। बर्वे के गुप्तचर या विश्वस्त नौकर के नाते पागल महाराज की तैनाती के लिए पैनापुरकर ही दिनरात नियुक्त रहता था।

वामनराव रानडे का ध्यान उन पत्रों के प्राप्त होने से पूर्व ही महाराजा के इस मामले की ओर सोलहों आने आकर्षित हो चुका था, और वे दिनरात इसी विचार में मग्न रहते थे। ऐसी दशा में अचानक ये पत्र मिलजाने से उन्होंने इन्हें (पत्रों को) ईश्वरीय अनुग्रह ही समझा। ये पत्र हाथ लगते ही वामनराव तत्काल पूना लौट आये, और यहां आकर उन्होंने कई प्रतिष्ठित व्यक्तियों को वे पत्र दिखलाये। नानासाहब भिड़े भी उन्हीं में से एक व्यक्ति थे। अतएव जब उन्होंने ले जाकर वे पत्र तिलक और आगरकर को दिखलाये तो सारे मामलेपर विचार करते हुए उन्हें भी यही जान पड़ा कि वे सब पत्र सच्चे हो सकते हैं। किंतु तिलक ने केवल इतनेही से संतुष्ट न होकर कानून की दृष्टि से उनकी जितनी भी छान-बीन की जा सकती थी, वह सब कर देखी। इस जांचके कई एक ढँग थे। अर्थात् पत्रों में लिखी हुई बातें लोक-प्रवाद से कहांतक मिलती हुई हैं, अथवा लोगों के कथन का खुलासा भी पत्रों में है या नहीं-इन बातों का सूक्ष्म निरीक्षण तो तिलक ने किया ही, किन्तु उन पत्रों के प्राप्त होने के साधनपर भी विचार करते हुए उन्हें यही बात संभवनीय जान पड़ी कि ये सब पत्र रामभाऊ पैनापुरकर के ही पास से मिल सकते थे। वामनराव रानडे और नानासाहब भिड़े दोनों ही प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। भिड़े तो केवल मुख्तार (वकील) ही थे, किंतु रानडे एक पक्के सनदयाफ्ता वकील थे और उनकी आय भी खूब थी, फलतः ऐसे अनुभवी वकील ने भी जब उन पत्रोंपर विश्वास कर लिया तो फिर तिलक उन्हें कैसे अविश्वसनीय समझ लेते?

रानड़े या भिड़े के लिए ऐसा कोई कारण ही न था कि जिसमें वे तिलक को भ्रम में डालकर अपना काम बनाते किम्बहुना सबसे पहिले ज्ञानप्रकाश में उन पत्रों को छापकर उनकी सारी जबाबदारी भी उन्होंने अपने सिर लेली थी। इस परसे भी यही सिद्ध होता है कि उन पत्रों को वे पूर्णतः विश्वसनीय समझते थे।

उन पत्रों में लिखी हुई बातों से मिलती-जुलती चर्चा इससे पूर्व लोग प्रकटरूप से कोल्हापुर में करते रहे थे और बर्वे उनका कोई प्रतिबंध न कर सके थे। इसी प्रकार अंबामाता के मन्दिर में जो सार्वजनिक सभा हुई थी उसमें जिन २ लोगों के भाषण हुए वे भी लुक-छुप कर या गुमनाम से नहीं हुए। किन्तु उन लोगोंपर भी बर्वे कोई मामला न चला सके। पत्रोंमें लिखी हुई बातोंका कुछ खुलासा कोल्हापुर में कमीशन के जानेपर, तथा इसके बाद सेशनमें भी कुछ गवाहोंने अपने बयान में कर दिखाया। उदाहरणार्थ प्रीतिराव रताजीराव चौहान अर्थात महाराज के मामा ने शपथपूर्वक बयान देते हुए बतलाया कि खुद महाराज ने उनसे अपने को कष्ट दिये जाने की निवेदन की थी। श्री. विनायक रघुनाथ काले ने भी-जोकि तेंतीस वर्षतक कोल्हापुर में सदर अमीन रह चुके थे--उन तीन पत्रों में जामनिया रोशनाई से लिखे हुए अक्षर माधवराव बर्वे के ही बतलाये, और साथही यह भी कहा कि, मुझे ये पत्र पहले नानासाहब भिड़े ने बतलाये थे, और तब मैंने उन्हें भी विश्वास दिला दिया था कि ये अक्षर माधवराव बर्वे के ही हैं, यह बात शपथपूर्वक कही। इन सब बातों की पक्की जांच तो पहले तिलक कर ही चुके थे, किंतु इसी के साथ २ उन्होंने एक खास बात यह की थी कि ये सब पत्र उन्होंने अपने मित्र गोपालराव फा[illegible] सबजज और ख़ास रा. ब. रानड़े को भी दिखा लिये थे; और उभय सज्जनों ने भी उन पत्रों की सत्यता पर तिलक के सामने अप[illegible] विश्वासभाव प्रकट किया था। वे पत्र रावबहादुर रानड़े के पास एक महिना [illegible] तक रखे गये थे। उन दिनों पूना के सुशिक्षित युवा समाज के नेता श्रीयुत रान[illegible] ही थे। साथही उनकी विवेकशीलता एवं शान्त प्रकृति-अथच कानून-ज्ञाता [illegible] नाते पूना में ख्याति हो रही थी। नानासाहब भिड़े के बयानमें शपथपूर्वक इ[illegible] बातका उल्लेख हो जाने का जिक्र कि- रा. ब. रानड़े ने उन पत्रोंपर विश्वास प्रक[illegible] किया था-हम ऊपर एक जगह कर आये हैं। और यदि खुद तिलक को भी गवाही के लिए खड़ा किया जाता-जैसा कि उनको आरोपी बना दिये जाने के कारण न हो सका-तो वे भी इस बात को शपथपूर्वक कह सकते थे। इस बातको खु[illegible] हमने अनेकोंबार तिलक के मुहसे सुना है।

मामला सेशन सिपुर्द हो जानेपर रावबहादुर रानडे से प्रार्थना की गई कि वे अपनी जानकारी की बातें शपथपूर्वक प्रकट करें। किन्तु रानडे ने ऐसा करना स्वीकार न किया। कहा जाता है कि उन्होंने अप्रत्यक्षतः इस बात की धमकी भी दी थी कि यदि हमें गवाह करार दोगे तो हम कानपर हाथ रखकर साफ कह देंगे कि इस विषय में हम कुछ भी नहीं जानते। किंतु यदि रानडे की गवाही होती तो केवल उनका नामोचार भिडे के मुँहसे होनेकी अपेक्षा तिलक के लिए उस का बहुत ज़ादा उपयोग होता। जो भी उन मौजूदा पत्रोंपर रानडे की ओरसे विश्वास प्रकट किया जानेपर भी वे सच्चे सिद्ध नहीं होते थे, और न इससे किसी प्रकार तिलक की जवाबदारी ही कम होती थी, किंतु फिर भी कोर्टके सामने जो यह वादग्रस्त विषय बच रहा था कि उन पत्रोंके विषय में यथाशक्य साव-धानी रखकर अपना विश्वास दृढ़ कर लेने का प्रयत्न तिलक या आगरकर ने किया था या नहीं, इस का निर्णय करने में अवश्य ही रानडे की गवाही का पूरा २ उपयोग हो सकता था। 'डोंगरी की जेल में १०१ दिन' नामक पुस्तक में श्री. आगरकर ने राजनैतिक झगड़ों में पड़नेवाले लोगों के लिए कुछ व्यावहारिक सूचनाएँ लिख दी हैं। उन में नंबर ३ की सूचना इस प्रकार हैः—हस्ताक्षरयुक्त लेखी गवाहियां ले रखना........किसी मनुष्य की बाहरी भलमनसाहत पर विश्वास कर तथा यह समझ कर कि समय पड़नेपर अदालत में हाज़िर हो कर बिना किसी भी प्रकार की सु-रियायत के जो कुछ भी ये जानते हैं, कह देंगे-अतएव उनसे किसी प्रकार की लेखबद्ध गवाही, उनके हस्ताक्षरसहित ले रखने की जरूरत नहीं, ऐसा यदि कोई समझे, तो वह उसकी भूल है। प्रेमभाव और विश्वासवृत्ति को एकदम भूलकर नास्तिक बन जाना चाहिये, और इस तरह भी धारणा की संसार का हरएक व्यक्ति धूर्त है, अतएव उससे अपने उपयोग की जो कुछ बातें ज्ञात हो सकती हों उनको उसीसे लेखबद्ध करवा कर उसपर उसके हस्ताक्षर करा लेने चाहिये। और उचित समय की प्रतीक्षा करते हुए उन्हें किसी लोहे की संदूक में रख छोड़ना चाहिये। " ये शब्द आगरकर ने किस को सम्बो-धित करके लिखे हैं, इस का खुलासा करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। किन्तु कहते दुःख होता है कि यही सूचनाएँ दुर्भाग्यवश आगरकर के ही ध्यानमें अधिक दिनोंतक किस प्रकार न रह सकीं, इस का स्पष्टीकरण आगे चल कर प्रामयय-प्रकरणपर से स्वयमेव हो जाय गा। सेशन कोर्ट में टेरी नामक एक ड्राइंग मास्टर अक्षरशास्त्रज्ञ के नाते गवाहिमें पेश किया गया था। उसने अपने बयानमें कहा कि पत्रपर के हस्ताक्षर और लेखनशैली हूबहू बर्वे के अक्षरों जैसी ही है, किन्तु ये ट्रेसिंग करके बनाये हुए जान पड़ते हैं। किन्तु खुद बर्वे

ने शपथपूर्वक यह कहा कि इन दस्तखत के या अन्यान्य पत्रों के अक्षर मेरे हाथ के अक्षरों से जरा भी नहीं मिलते। यहांतक की संशयपुर्ण दशा में रा. ब. रानड़े या रा. ब. फाटक की ही तरह कोल्हापुर के बर्वे की परिचित मंडली तक को सलाह ले लेनेके बाद तिलक ने उन पत्रों का उपयोग किया; तो फिर इससे अधिक सावधानी या जांचपताल वे करही क्या सकते थे? इस प्रकार का युक्तिवाद सामान्यतः तिलक का वकील उपस्थित कर सकता था।

किंतु यह मौका भी निकल गया। क्योंकि तिलक का मामला सेशन-सिपुर्द होने से पहले ही भिड़े, बखले और रानड़े तीनों के अभियोग का निर्णय होकर प्रत्येक आरोपी को जूरी ने अपराधी सिद्ध कर दिया था। अतएव इसके बाद तिलक और आगरकर के मामले की नींव भी कमज़ोर पड़ गई। ता. ६ जुलाई सन १८८२ के दिन पहिले अभियोग में भिड़े को दोषी सिद्ध करते ही तिलक और आगरकर के वकील एवं मित्रलोगों ने उनके पीछे यह पचड़ा लगाया कि तुम लोग अब भी यदि बर्वे से माफ़ी मांग लोगे तो संभवतः तुमपर से अबभी मामला उठा लिया जायगा। इस सलाह के देनेवालों में बम्बई के कई-प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनके लिए इस विश्वास का कारण-कि बर्वे अब भी मामला उठा लेंगे–क्या था, यह आज नहीं बतलाया जा सकता। किंतु फिर भी वे इस प्रकारके आश्वासन देते अवश्य थे। इधर दूसरे मित्रों का कहना यह था कि "जैसे तैसे मुक़द्दमा इस हालत-पर पहुँच चुका है, अतएव अब माफी मांगना व्यर्थ है। यद्यपि माफ़ी न मांगने से सजा अवश्य भोगनी पड़ेगी, किन्तु केसरी के लिखे हुए शब्द तो वापस न लेने पड़ेंगे, यह क्या कम लाभ की बात है? जिन लोगों ने तुम्हें वे पत्र दिये थे वेही जब शपथपूर्वक उस बात को स्वीकार करते है, और जिसने सबसे पहले उन पत्रों को प्राप्त किया वह भी शपथपूर्वक इस बात को स्वीकार कर रहा है, इसी प्रकार जिन्होंने हस्ताक्षर पहचाने हैं वे भी शपथपूर्वक बयान दे चुके है, और भिड़े, बखले एवं रानड़े जैसे लोगों ने भी जब माफि नहीं मांगी, यही नहीं बल्कि बैरिस्टर ब्रेन्सन और मेहताने, भिड़े की ओरसे ज़ोरदार डिफेंस देते हुए इस बातपर खूब कह सकी कि वे पत्र जाली नहीं हो सकते, ऐसी दशा में तुम्हारे लिए माफी मांग कर कलंक का टीका माथे लगाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। इसके अलावा, वामनराव रानड़े का मामला अभी विचाराधीन है, अतएव उनके लिए भी यह माफी बाधक होगी, इतनेपर भी यदि तुमने माफी मांग ली और फिर भी बर्वे ने मामला न उठाया तो माफी की माफी मांगोगे और सजा मुफ्तमें भोगनी पड़ेगी।" अंतको इन मित्रों के कहा भविष्य ठीक निकला।

ता. ६ जुलाई के दिन संध्यासमय श्री. भिडे के मामले का फैसला सुना दिया गया। उसी रातको बम्बई में तिलक-आगरकर के निवासस्थानपर सलाह-मसलेहत की बड़ी कौंसिलसी बैठी, और रातभर वाद-विवाद होता रहा। तिलक और आगरकर इसी मतपर गंभीरतापूर्वक डटे हुए थे कि माफी किसी हालत में भी न मांगेंगे। किंतु उनके बम्बई-निवासी मित्र लोग उनकी एक भी न चलने देते थे। पत्र भलेही असली हों या बनावटी, किन्तु महाराजाके साथ बुरा बर्ताव होने की बात सिद्ध करने के लिए काफ़ी सुबूत मौजूद थे, और उनमें एक प्रमाण तो कोल्हापूर के एक बड़े सरदार किम्बहुना एक मराठा संस्थानिक के पत्रों-परसे भी मिल सकता था। ये पत्र खुद तिलक के पास मौजूद थे, अतएव वे बेफ़िक्र थे। किन्तु अदालत में वे पत्रादि मिथ्या सिद्ध हो चुके तो इधर ये सरदारों के पत्र भी तिलक अपने पास न रख सकते थे। क्योंकि उनके वापस दिये जाने और उनका उपयोग न कर देने के लिए ज़ोरों का प्रयत्न शुरू हो गया था; और इधर मित्र लोग भी उन्हें पास में न रखनेपर ज़ोर दे रहे थे। कोल्हापुर के अवसरप्राप्त मुख्य न्यायाधीश बलवंतराव जोशी जहां एक ओरसे तिलक के मित्र थे, वहीं दूसरी ओर उन सरदार महाशय से भी उनका घनिष्ट सम्बन्ध था। सरदार साहब अपने पत्रों को अख़ीर सुबूत में पेश न होने देना चाहते थे, अतएव रा. ब. जोशी ने उन पत्रों को वापस कर देने पर ज़ोर डाला। रातभर वाद-विवाद होने के बाद अंतमें उन सरदार साहब के पत्र पेश न करने की ही बात तय पाई। और उक्त जोशी जी के सामने ही तिलक ने अपने ही हाथों वे पत्र जला देकर बर्वे से लेखी माफ़ी मांगने की सलाह मंजूर कर ली। तदनुसार दूसरे दिन अर्थात् ता. ७ जुलाई को तिलक और आगरकर के हस्ताक्षर से क्षमा-याचना के पत्र बर्वे के पास रवाना किये गये। इन पत्रों में कोई भी बात चाल बाज़ी से न रखी गई थी, बल्कि सरल और स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार क्षमा-याचना की गई थी कि:—"जिस समय हमने अपने पत्रों में वे बातें लिखीं, तब हमें उनके सप्रमाण होनेपर ही विश्वास था, और इसी लिए हमनें उनको सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकट भी किया। जिसने हमें उस विषय का भेद बतलाया उसपर भी तबतक हमें पूर्ण विश्वास था। किन्तु वे सब बातें और पत्रादि श्री. भिडे के मामले में मिथ्या सिद्ध होने से हमारे लेख के दोषारोपण भी निराधार हो जाते हैं। इस प्रकार की बातोंपर विश्वास रखने के लिए हमें हृदयमें दुःख होता है। हमारी ओरसे ये पत्र लिख देने के बाद भी आप आगे की कार्यवाही (अर्थात् मुक़द्दमा हटाने या कायम रखने) के लिए स्वतंत्र हैं। आप कुछ करें या न करें किंतु हम जो आज इन पत्रोंद्वारा जो खेद प्रदर्शित कर रहे हैं वह हमारे पत्रों में

हमेशा वैसा ही बना रहेगा।" यह क्षमा-याचना बर्वेतक पहुँचते ही सेर मुकद्दमें का सारा जोश ठंडा पड़ गया।

ता. १५ जुलाई के दिन अकेले तिलक के मामले की सुनवाई, मराठा में प्रकाशित तीन लेखों पर से उनपर अलग २ आरोप लगाये गये वादी की ओरसे बैरिस्टर इन्व्हेन्यारिटी और तिलक की ओर से बैरिस्टर काशी त्रिंबक तैलंग पैरवी कर रहे थे। सुनवाई आरंभ होते ही तिलक की मांगी माफ़ी व्यर्थ सिद्ध हुई। बर्वे के बैरिष्टर ने उस माफ़ी का आरंभ में ही उल्लेख करते हुए कहा कि अब इस क्षमा-याचना में विशेष पुण्य नहीं रहा। क्योंकि मामला सिद्ध होते देख कर आरोपीको यह क्षमा-याचना की बात सूझी है। के और मराठा के लेखों से सारे कोल्हापूर में लोकमत दूषित हो चुका है। इस माफी दे कर यदि बर्वे इन पत्रोंपरसे मामला उठा लें तो इसमे बदनामी उ की होगी। लोग उन्हीं से यह कहने लगेंगे कि तुम्हारा ही पक्ष कमज़ोर तभी तो क्षमा-प्रदान का ढोंग रचकर तुमने जैसेतैसे अपनी इज्जत बचाई! अत बिना तिलक-आगरकर को सज़ा दिलाये अज्ञानी लोगों के हृदयसे वह दूषित भ दूर नही हो सकता।

बर्वे, डॉक्टर मर्फी और वामन शिवराम आपटे के बयान हो जाने बैरिस्टर तैलंगने वादी के सुबूत की आलोचना करते हुए ज्यादा जोर इस बातप दिया कि सन १८७६ से बर्वे के विरुद्ध अन्यान्य समाचारपत्रों मे लेख निकलते रहनेपर भी उन्होंने उनका कोई प्रतिबंध नहीं किया। इसी प्रकार ख़ास कोल्हापु में भी सभाएँ की जाकर उनमें बर्वे के व्यवहार की आलोचना हुई, उसे भी रोक न सके। तो फिर इतनी दूर पूना में रहनेवाले तिलक जैसे व्यक्तियों ने यदि उनपर विश्वास करलिया तो इसमें कौन आश्चर्य की बात हो सकती है?"

इसके बाद नाना साहब भिड़े, वामनराव रानडे, विनायकराव काले, हरिपंत गवाले आदि की गवाहियां होने के बाद बैरिस्टर इनव्हेन्यारिटी का भाषण और न्यायमूर्ति जस्टिस लेथमका उपसंहार होकर ता. १७ जुलाई के दिन ज्यूरी ने फैसला सुना दिया। उसमें प्रथम आरोप के विषय में सब एकमत रहे, किंतु दूसरे और तिसरे आरोपों के लिए सात के विरुद्ध दो के मतभेद से तिलक दोषी ठहराये गये। इसके बाद तिलक-आगरकर के संयुक्त मामलेका फैसला सुनानेमें दस-पांच मिनिट से अधिक समय न लगा। दोनों अभियुक्त अपना अपराध स्वीकार कर सुबूत पेश करनेसे इनकार कर चुके थे। अतएव अंतमें जाकर पांचों अपराधियों को एकत्र करके सजा सुनाई गयी। तिलक, आगरकर और वखले इन तीन व्यक्तियों से प्रत्येक को चार महिने की सादी कैद और भिड़े एवं

नडे को दो वर्ष की सादी कैद एवं एक हजार रुपये जुर्माना की सजा दी गई। और जुर्माने की ये दोनों रक़में बर्वे को मुक़द्दमे के खर्च के बदले में दिया जाने का हुक्म हुआ। तिलक, आगरकर और बरवे तो सजापर ही छूटे, किंतु भिडे और रानडे ने शपथपूर्वक झूटी गवाहियां देकर बनावटी कागजपत्रों का उपयोग किया, अतएव बर्वे ने इस बातपर फिरसे मुक़द्दमा चलाने के लिए अदालत से मंजूरी चाही, किंतु उन्हें वैसी आज्ञा नहीं मिली। किंतु रामभाऊ सोगुपर्शीकर उन बनावटी पत्रोंका उत्पादक था, अतएव उसपर मुक़द्दमा चलाये जानेकी आज्ञा अदालत ने अवश्य दी।

इस प्रकार कोल्हापुर के मामले का फैसला हो गया, किंतु उससे लोगोंकी संशय-वृत्ति सर्वथा निवृत्त न हो पाई। यहांतक कि खुद केसरी ने भी मुक़द्दमे के निर्णयपर दूसरे दिन अर्थात् ता० १८ जुलाई के अंक में निम्न वाक्यद्वारा क्षुब्ध आलोचना की थी, "इस मामले में जो निर्णय हुआ उसका स्वरूपवर्णन नहीं किया जा सकता।" 'दीनबन्धु' नामक पत्र ने यह अभिप्राय प्रकट किया था कि "कोल्हापुर के लोगों को अभियोग के विरुद्ध काम करनेके लिए पुरस्कार दिये जा रहे हैं, किंतु ब्रिटिश भारत के जो व्यक्ति अभियुक्तों की ओरसे गवाह बनकर आये थे, उनका पारितोष ब्रिटिश अधिकारी अभीतक नहीं कर सके। इस अवशिष्ट सन्देह को निवृत्त कर देनेपर ही बर्वे की इज्जत धुले हुए मोती के समान स्वच्छ हो सकती है।" लोगों के हृदय से संदेह दूर न होनेका दूसरा एक कारण यह था कि कोल्हापुर महाराज की दुःखद स्थितिपर कोई ध्यान न देता था। इधर मामला शुरू रहने की दशा में केसरी ने २७ जून १८८२ के अंक में "कोल्हापुर के महाराज को पूना से हटा ले जानेका कारण क्या है?" इस शीर्षकवाले लेखद्वारा, डाक्टर लोगोंकी सलाह के नामपर महाराज की जो दुर्गति की जाती थी, उसे स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया था। "डाक्टर की इच्छा होते ही तत्काल रोगी के पास उसके स्त्री-पुत्रादि का आनाजाना बन्द कर दिया जाता है, स्वच्छन्दतापूर्वक शरीर के हर किसी भाग पर पलस्तर लगा दिया जाता है और अनिच्छापूर्वक उन्हें देरतक टहलाया जाता है, बुरा भला हरतरह का खाना दिया जाते हैं, और जिसे वे चाहते हैं उससे उन्हें मिलने नहीं दिया जाता।" पूना से हटाकर महाराजा को कोल्हापुर ले जाने का कारण क्या है? और उनपर देखरेखके लिए यदि होशियार मनुष्य रखना है तो इसके लिए यदि फाक्स या ग्रीन जैसे गोरे की ही क्या आवश्यकता है। 'मराठा' के एक संवाददाता से महाराजा ने खुद यह बात कही थी कि "कुछ ही दिनों में मुझे मल्हारराव बन जाना पड़ेगा"। अंतमें जाकर तो उनकी मल्हारराव से भी अधिक

दुर्गति के साथ मृत्यु हुई। इसके कुछही दिन बाद माधवराव बर्वे का एक पुत्र मर जाने पर भोलेभाविक लोगों को यह कहने के लिए मौक़ा मिल गया कि 'ईश्वरने उसे भी समझ लिया'। संसार में न्याय-अन्याय की खरी कसौटी हो सकना प्रायः कठिन ही होता है। यद्यपि यह ठीक है कि न्यायालय में किसी न किसी एक तरफवाले को पक्षमें निर्णय होता है। किन्तु किसी भी मामले में न्यायाध्यक्ष जो फैसला करता है, वह यदि यथार्थ भी हो तो भी जो अखीर अंतिम निर्णय लोगों के ही हाथ रहता है। अर्थात् लोग ही जब उसे अंतिम निर्णय मान लें, तभी वह मामला फैसल समझा जा सकता है। लोकमत स्वयं स्वच्छंद होता है, न तो उसके लिए कोई नियम बन सकता है और न उसपर अपील हो सकती है।

अस्तु। अब हम अंतमें तिलक-आगरकर की मुक्तता के पश्चात् किये जाने-वाले उनके लोकादर का वर्णन एवं लोकमतानुसार उनके मामले का अंतिम निर्णय देकर इस परिच्छेद को पूरा कर देना चाहते है। किंतु इससे पूर्व इस मुक़द्दमे के अन्य अपराधियों के विषय में दो चार बातें कह देना अनुचित न होगा। श्री. बखले असल में कोल्हापुर के रहनेवाले थे। और उनका निजी सम्बन्ध इस मामले में बहुतही थोड़ा था। किंतु ये नाना साहब भिड़े को बहुत मानते थे। अतएव इन्हीं के कहने पर बखले ने बम्बई गवर्नर के पास अंग्रेजी में लिखकर अर्ज़ी भेजी और उसपर अपने हस्ताक्षर भी किये। श्री. भिड़े और ढंग के पुरुष थे। इनमें किसी स्टेट की मुख्तारी कर सकने के गुण यथेष्ट प्रमाण में विद्यमान थे। इसी प्रकार इनके भाषण में ग्राम्यविनोद भी खूब होता था। बम्बई में मुक़द्दमा चलता रहने की दशा में जब २ भी लोगों को एक साथ हँसना पड़ा तब २ उन सबको हँसानेवाले ये महाशय भिड़ेजी ही थे। 'शेक हेएड' शब्द का जानबूझकर 'शिखंडी' उच्चारण करते हुए नाना साहाब भिड़े ने हाई कोर्ट के बीच जो कोटी लोगो के सम्मुख प्रकट की, वह आजभी कइयों को याद है। लोग यह कहते रहें की महाराजा की आद्य जननी राधाबाई के मुख़्तार आम होने से भिड़े साहाब की वकालत को इस मामले के कारण बहुत बड़ा धक्का पहुँचा, किंतु उनके चित्तमें बर्वे की बेइमानी और उसके द्वारा महाराजाकी होनेवाली दुर्गति के विषय में जो दृढ़ विश्वास था, वह अंततक दूर न हुआ, इसे हम भी जानते हैं। वामनराव रानड़े एक सनद या पत्ता वकील थे, और उनसे 'ज्ञानप्रकाश' का भी सम्बन्ध था। उनके चित्तमें बर्वे के विषय में जो किल्मिष था वह सुदृढ़ एवं प्रमाणयुक्त था। उन्होंने हाई कोर्ट में अपने मामले की पैर भी खुद ही की, और लगभग ढाई घंटे-तक जो डिफेंस (सफाई) दिया वह निःपक्ष एवं युक्तियुक्त था। उन्होंने ज्यूरी से

स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि 'इन पत्रों के विषय में मैंने जो कुछ भी छान-बीन या-प्रयत्न किया वह राधाबाई के प्रतिनिधि के नाते नहीं, बल्कि कोल्हापुर रियासत के विषय में अपना हार्दिक स्नेहभाव रहने के ही कारण। इस मामले में सरकार का भी हाथ था और इसी लिए गवर्नर को भेजी हुई अर्जी उन्होंने बर्वे के पास भेज दी!

तिलक और आगरकर को सजा सुना दी जाने के बाद उसी दिन संध्यासमय वे "डोंगरी-जेल" के लिए रवाना कर दिये गये। यद्यपि सजा चार महिने की थी किंतु इनके अच्छे बर्ताव के कारण १६ दिनकी रिआयत करके १०१ दिनमें ही ये छोड़ दिये गये। इन १०१ दिन जेल-जीवन का वर्णन श्री. आगरकर ने इसी नाम की एक पुस्तक में किया है, और उसमें दोनों ही महानुभावों की दिनचर्या का वर्णन किया गया है। जेल में दोनों सज्जनों को कई दिन भूखों भी मरना पड़ा। इस अवधी में तिलक का २४ पौंड और आगरकर का १६ पौंड वजन कम हो गया। पेट के आगे किसी का वश नहीं चल सकता। पहले ही दिन जो भोजन इनके सामने रखा गया, उसमें से दो तीन ग्रास खाते ही, कै हो गई। श्री. आगरकर लिखते हैं कि "जेलमें जाने का तो हमें कभी दुःख न हुआ, किंतु वहां का अन्न हमारे सामने आते ही चित्त उद्विग्न हो उठता था। तेरह फुट की चौरस कोठरी में दिनरात रहना और प्याज-रोटी खाना, अन्न में मिर्च और लहसुन की भरमार, ओढ़ने-बिछाने के कम्बलमें मच्छर और डांस का दौरदोरा और दिवार की सन्धियों में खटमल की प्रबलता रहते हुए किस प्रकारके सुख की संभावना की जा सकती है, इसे विज्ञजन स्वयं विचार लें। २१ दिन जेल में बितानेके बाद हमारे लिए लिखने-पढ़ने की आज्ञा मिल गई, किंतु शरीर एवं मस्तिष्क क्षीण हो जाने से लिखने पढ़ने में मन नहीं लगता था। आजसे तीन वर्ष पूर्व दोनें मित्रों के बीच डेक्कन कॉलेज की कोठरियों में जो सलाह-मशविरे हुए थे उन सब की पुनरावृत्ति यहां कोठरियों में बैठकर प्रतिदिन होती थी। और कभी २ इनकी बातें यहांतक ज़ोर पकड़ जाती थी कि पास के वार्डर या चौकीदार विवश होकर इन्हें धीरे बोलने के लिए बाध्य करते थे। उस विवाद में ही कभी २ 'रात्रिरेव व्यरंसीत्' वाली उक्ति चरितार्थ हो जाती थी। इन्हीं संभाषणों में दोनों मित्रों ने निश्चय कर लिया था कि "यदि फिर कभी जेल में आना पड़ा तो उस समय भी अमुक प्रकारसे अमुक काम करना चाहिये।" आगरकर लिखते हैं कि "इस पुस्तक में लिखित अनुभव तो हम लोगों की अभी पहिली ही जेलयात्रा का है।" किंतु इन शब्दोंमें परिवर्तन करके लिखने का प्रसंग इन उभय महानुभावों में से आगरकर के लिए न आ सका। हां, तिलक के भाग्य में

अलबत्ता अनेक 'जेलों' का अनुभव करना पड़ा था। उन अनुभूत-कथाओं का उल्लेख आगे चलकर यथास्थान किया ही जानेवाला है। अस्तु।

जेल-जीवनके विषय में आगरकर का मत एक ही बार के अनुभव से इस रूप में निश्चित् हो गया था कि, निःसीम व्यवहारदक्ष मनुष्य, जिनका कि पर्यवसान प्रायः जेल-जीवन में ही हो सकता है, उन झगड़ों में कभी नहीं पड़ता। सरकार से सामना करने के लिए जो खड़ा होना चाहता हो उसे अपना पक्ष भलीभांति मज़बूत कर लेना चाहिये। इस प्रकार का विचार भी आगरकर ने प्रकट किया था।

तिलक-आगरकर को जुर्मानेपर न छोड़कर उन्हें क़ैद की सजा दि जाने के कारण लोकमत एकदम असन्तोष-मय हो उठा। अनेकानेक सभाएँ भी की गईं। मि० वर्डस्वर्थ, माननीय माण्डलिक आदि प्रतिष्ठित व्यक्तियों ने अगुआ बनकर सर जेम्स फर्ग्यूसन के पास इस आशय का निवेदनपत्र भी भेजा कि तिलक और आगरकर की सजा रद्द कर दी जाय। किंतु उसका कुछ भी फल न हुआ। फिर भी लोगोंने अपना सच्चा लोकमत प्रकट करने के लिए इन दोनों सज्जनों के बन्धन-मुक्त होनेपर इनका सार्वजनिक सम्मान करने का निश्चय किया। इस विषयमें दीनबन्धु नामक पत्र ने यह बात सुझाई थी कि "अन्याय पूर्वक इन दोनों होनहार युवाओं को जेलखाने भेजा गया है; अतएव उनके चित्तमें सजाविषयक तिलमात्र भी दुर्भावना न रहने देने के लिए बन्धनमुक्त होते ही उन्हे मानपत्र दिया जाय, और जेल के दर्वाज़े से उन्हें एक रथमें बिठाकर गीत-वाद्य के साथ इच्छित स्थानपर पहुँचाया जाय। ऐसा करनेके लिए हम सर्वथैव स्वतंत्र है।"

ता. २६ अक्टूबर बृहस्पतिवार के दिन प्रातःकाल तिलक और आगरकर डोंगरी जेल से छोड़ दिये गये। उस समय उनके स्वागतार्थ द्वारपर लगभग दो हजार मनुष्य उपस्थित हुए थे। 'दीनबन्धु' पत्र के संपादक श्रीयुक्त लोखण्डे, तथा दामोदर साँवलाराम यन्दे आदि ब्राह्मणेतर सज्जन उस समारोह में ब्राह्मणोंसे भी आगे मौजूद थे। दोनों महानुभाव गाड़ी में बिठलाकर शहर में लाये गये। इसके बाद मुरारजी गोकुलदास का बंगला, दीनबन्धु कार्यालय, यूनियन क्लब एवं माधवदास रघुनाथदास का बंगला आदि स्थानों में हजारों लोगों ने उनका सत्कार किया। इस प्रसंगपर बाहर की जनता भी कुछ कम न थी। बम्बई से पूना जाते हुए खड़की स्टेशनपर डेक्कन कॉलेज के लोगों ने उनका सत्कार किया। पूना स्टेशनपर खड़ी हुई जनता का तो कुछ पार ही न था। हजारों लोगों के समारोह के साथ तिलक और आगरकर का जुलूस शहर में घुमाया जाने के बाद

सबेरे श्री. हरी रावजी चिपलूनकर के बंगलेपर और संध्यासमय मोरोबादादा के बाड़े में सार्वजनिक सभा के द्वारा उनका इत्रपान किया गया।

लोकसेवा में शारीरिक दुःख एवं सम्मान सुख का जो संयुक्त अनुभव प्राप्त होता है, उसी में तिलक का भावी जीवन व्यतीत होनेवाला था, अतएव इस प्रकार कोल्हापुरवाले मामले के कारण तिलक को उसका प्रथम परिचय अनायास प्राप्त हो गया। जान पड़ता है कि तिलक और कोल्हापुर का संबन्ध आजन्म बना रहने में कोई ईश्वरीय संकेत ही था। किंतु प्रथम और द्वितीय सम्बन्ध के बीच ज़मीन-आसमान का अंतर किस प्रकार पड़नेवाला था, इसका पता आगे चलकर लगे गा।

तारीख १ जनवरी सन १८८३ के केसरी में गतवर्ष का 'सिंहावलोकन' करते हुए आगरकर ने इस मामले को लक्ष्य करके जो मत प्रकट किया उस परसे यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि, अदालत ने भलेही सजा दे दी हो, किन्तु कोल्हापुर-प्रकरण के विषय में तिलक और आगरकर के चित्त में पूर्वभाव तबतक यथावत ही था। और सचमुच ही उसका दूर हो सकना असंभव था। बर्वे के विरुद्ध प्रकाशित पत्र मिथ्या सिद्ध हो जाने के कारण उनके विषय में केसरी कुछ लिख न सकता था, किंतु बर्वे के विषय में दृढ़ हो जानेवाली दुर्भाव इससे एकदम क्यों कर दूर हो सकता था? आगरकर लिखते हैं कि "मराठा और केसरी के युवा संपादकों ने कठोर भाषा में लेख लिखे हो, किन्तु इन दोनों पत्र के जन्म से पहिलेही, करवीरस्थ प्रभु के विषय में चुभनेवाले तेज लेख लिखकर मुम्बापुरी के जिस नर्मदल के पत्र ने महाराष्ट्रीय लोकमत को एकदम भड़का दिया था। उसमें भी इस प्रकार के लेख निकले हैं या नहीं इस बात पर भी जब लोगों के चित्त में शंका उत्पन्न हो गई तो फिर लोकप्रवृत्ति का इस विषय में दृढ़ होना एक स्वाभाविक बात हो सकती है कि 'वर्तमान समयही सत्पक्ष के लिए प्रतिकूल है'। बिना किसी द्वेष-भाव के केवल सद्बुद्धिपूर्वक लिखे हुए लेखोंपर अदालतने ऐसी २ कठोर सजाएँ दे डालीं। ये बातें जिस प्रकार लोगों के हृदय से सहजही में दूर नहीं हो सकती है उसी प्रकार कोल्हापुर के पागल महाराजा को चाबुक से पीटने की आवश्यकता बतलानेवाले डॉक्टर मर्फी का अदालत को दिया हुआ उत्तर भी जनता सहजही में नहीं भूल सकती। वादग्रस्त पत्रों में लिखित बातें सिद्ध न की जा सकने के कई कारण थे। यदि राजपरिवार की लज्जा बचाने के इरादे से उन पत्रों को अदालत में पेश न करने की हठ छोड़कर कमीशन के कोल्हापुर जानेपर कुछ प्रतिष्ठित व्यक्ति शुद्धान्तःकरणसे अपने वक्तव्य लिखवाते तो बहुत संभव था कि इस मामले का निर्णय किसी दूसरे ही रूपमें होता।

उन बनावटी पत्रों के प्राप्त होनेसे पूर्व जिन सुनी हुई वातोंपर से अपमानकारक लेख लिखे गये थे, उन सबके सप्रमाण सिद्ध होने में यदि इस प्रकार की रुकावट न पड़ती तो उन पत्रों के बनावटी सिद्ध हो जाना, कुछ भी मूल्य न रखता।" इन सब बातों का विवेचन करने के बाद केसरी ने अपने अन्य सहयोगियों को मित्रभाव से उसी लेखमें इस प्रकार सूचना दी है कि, दायित्वपूर्ण लेख लिखते समय अपनी सरकार की भलमनसाहत एवं हमारे समाज के निकम्मे पिठुओं की बनावटी बातों और भीरु-हृदय राजाओं के वचन अथवा धैर्यपर कभी विश्वास न करना चाहिये।"

कोल्हापुर-प्रकरण का न्यायालय के हिसाब से इस प्रकार निर्णय हो गया, किन्तु पागल बतलाया जानेवाला कोल्हापुर का राजा जबतक अहमदनगर के क़िले में जेल-यातनाएँ भोग रहा था, तबतक लोगों के हृदय से इस प्रकरण का अस्तित्व मिट सकना असंभव था। किम्बहुना उक्त राजा की अपने यूरोपियन रक्षकोंद्वारा मारपाट के साथ दुर्गति की जाने की ख़बर फैल जाने के कारण लोगोंका ध्यान जेलवासी तिलक आगरकर से कहीं अधिक अहमदनगर की जेल में कष्ट पानेवाले राजाकी ओर आकर्षित हो रहा था। अंत में ता. २५ दिसंबर के दिन भयंकर मारपीट होनेके पश्चात् कोल्हापुर के महाराज शिवाजीराव की मृत्यु का संवाद--उनकी मृत्यु हो जानेके बहुत बाद--प्रकट किया गया। इस समाचार ने बिजली की तरह फैलकर सारे महाराष्ट्रमें हलचल मचा दी। इस मृत्यु--संवाद को प्रकट करनेसे पूर्व अहमदनगर के फर्स्ट क्लास मॅजिस्ट्रेट जॉप साहब तथा वहां के कलेक्टर एलिफस्टन ने (महाराज के) बंगले पर रहनेवाले लोगों के बयान लेकर गवर्नमेंट के पास भेज दिये। किंतु उन्हें ज्यों का त्यों प्रकट न करते हुए सरकारने केवल जॉप साहब का मत ही प्रकट किया। इस पर भी लोगों के चित्त में संदेह उत्पन्न हुआ। पागल महाराज के हाथों अपने रक्षक ग्रीन साहब के पीटे जाने की बात तो सच्ची बतलाई गई, किन्तु इसके विरुद्ध ग्रीन साहब के हाथों महाराजा की हत्या होना असत्य कहा गया!

यद्यपि महाराजाकी मृत्यु ग्रीन के साथ धूमधक्का होनेसेही हुई, किन्तु उसे इस विषय में निरपराध सिद्ध कर, जाते २ जॉप साहब ने यह अवश्य कह दिया कि, यदि महाराजा के वारिस लोग चाहें तो ग्रीनपर मामला चला सकते हैं। इसी प्रकार महाराजा की दंतकड़ी भिड़जाने के बाद बहुत देर हो जाने एवं महाराजा के सेवक मल्हारी की ओरसे डॉक्टर बर्च को तत्काल बुलवाने की प्रार्थना की जानेपर भी ग्रीनने उन्हें नहीं बुलाया। ये बातें सन्देह प्रगट करनेवाली थी। ता. १८ दिसम्बर तक तो महाराजा की तिल्ली बढ़ी नहीं थी, फिर केवल आठही

दिन में सिर्फ धक्का लगतेही उनका प्राणान्त हो जाने जितनी बेशुमार कैसे बढ़ गई; इसका खुलासा न हो सका। फलतः लोगों ने ग्रीन की खुली जांच कराने के लिए आग्रह किया, किन्तु सरकार ने उसपर नाम को भी ध्यान नहीं दिया। महाराजा को लावारिस करार देकर जब सरकार ने उनपर निगाह रखने एवं उनके लिए गोरे बॉडीगार्ड नियुक्त रखने की जवाबदारी अपने सिर ली तब सरकार ही उनकी वारिस सिद्ध होती है। ऐसी दशा में जॉप साहब के कथनानुसार ग्रीन-पर मामला चलाने के लिए सरकार को ही तैयार होना चाहिये। इस प्रकार का भी एक युक्तिवाद सरकार के सामने पेश किया गया था, किन्तु वह भी व्यर्थ गया। मालिकपर सत्ता चलानेवाला कोई नहीं हो सकता, अतएव किस की ताब थी जो सरकारपर मामला चलाता, या उसके साथ सख्ती करता। सब लोग विचारे मनमसोस कर रह गये और उनका कुछ भी वश न चल सका। महाराजा को अपने आत्मीय-जनोंसे अलग रखकर उनके अप्रिय मनुष्यों को सुश्रूषा के लिए नियुक्त करना तथा स्थान परिवर्तन के नाते उन्हें राजकोट से नीलगिरी, और वहां से महाबलेश्वर एवं महाबलेश्वर से पूना तथा पूना से अहमदनगर इस प्रकार जबरन् उन्हें घुमाते रहने की ही तरह ग्रीन की जांच न करने की बात भी थी। सरकार का किसी भी प्रकार से परित्राण न किया जा सकने के कारण लोगों के लिए सिवाय जी मसोस कर बैठ रहने के दूसरा उपाय ही क्या था?

इस आन्तरिक उद्वेग को व्यक्त करते हुए ता. २२ जनवरी सन १८८४ के केसरी में आगरकर ने हृदयविदारक आलोचना की थी। उन्होंने लिखा था कि "हम तो अब इस मामले से यहांतक ऊब गये है कि यदि संसार में बिना दंड के यदि कुछ अन्याय बच भी रहे तो पर्वाह नहीं, किंतु उस हतभाग्य राजा के विषय में बारम्बार ग्रीन का नाम हमारे कानों से टकराना दूर हो जाय तो अच्छा हो! क्योंकि अब गयी-गुजरी बातों में सिर पची करनेसे कोई लाभ नहीं, अतएव आगे के लिए सब बातोंका यथावत् विचार करना ही इस समय उचित है। अब जो लड़का दत्तक लिया जाय वह जहांतक हो सके पूर्णवयस्क ही हो, जिसमें कि इस बात की भली भांति परिक्षा की जा सके कि वह विक्षिप्त या पुरुषत्व-हीन तो नहीं है, अथवा माता को देखकर चिढ़ता है या नहीं। कुछ बड़ी उम्र का लड़का गोद लेनेसे वह सरल-स्वभाव अथवा निर्दोष-चरित्र-वाला तो न मिल सकेगा, किन्तु फिर भी उसे घोड़ों के पीटने के चाबुक की मार सहने या बड़ी हुई तिल्लीपर धक्का पहुँचने से आँखें फेर कर आयोंलक्ष्मय करते-समय गंगाजल के बदले ग्रीन के हाथ की व्हिस्की पीने के लिए तो लाचार न होना पड़ेगा। कुछ भी हो, किन्तु २१ दिसंबर की वह कालरात्रि, और अहमद-

नगर के किले में करवीर महाराज का कारावास, पास में किसी आत्मीय स्वजन के न होनेसे निराशायुक्त मूर्छितावस्था में पड़े हुए महाराजका संताप, और ग्रीन जैसे उद्दंड एवं हट्टेकट्टे सोल्जर के साथ उनकी मारपीट, ये सब दृश्य आँखों के आगे आते ही चित्त आज भी उद्विग्न हो उठता है! महाराजाके साथ निठुरता का वर्ताव करने में सद्बुद्धिपूर्वक ही क्यों न हो, किन्तु बम्बई सरकार ने जो दुराग्रह प्रकट किया, उसपर ध्यान देने से तो अंग्रेजी की यह कहावत ही सत्य प्रतीत होती है कि "The way to hell is paved with good intentions" (अर्थात्) अधःपतन या नर्क में जानेका मार्ग सद्हेतुओं के पत्थरों से ही जड़ा रहता है।"

दुर्भागी शिवाजी महाराज की मृत्यु दुःखकारक रूप में अवश्य हुई, किंतु उससे आगे चलकर कभी न सुधरनेवाले इस मामले का तो अंत हो ही गया। अर्थात् जो दिन गये वे बुरे तो अवश्य थे, किंतु अब कमसे कम आगे आनेवाले दिन तो अवश्य अच्छे होने की आशा की जा सकती थी, अर्थात् इस तरह दुःख में सुख माना जा सकता था। इस प्रकार कोल्हापुर के सभी हितचिंतकों को आशा बँध गई थी। कई मनुष्यों को यह विश्वास भी हो चला था कि गत दुःख के साथ भावी सुख का सम्बन्ध जोड़ने योग्य परिस्थिति निर्माण कर सकनेवाला एक मनुष्य फिर भी मौजूद है। वह व्यक्ति कागल राज्य के स्वामी श्री. आबासाहब घाटगे थे। कोल्हापुर का मामला चलता रहने की दशा में वर्व के समालोचकों को आबासाहब की ओर से बहुत कुछ सहानुभूतियुक्त आश्रय मिला था। श्री शिवाजीराव महाराज की दशाके विषय में आबासाहब घाटगे हरएक प्रकारसे अनुकम्पा प्रकट करते और तिलक आगरकर की ओरसे कमिशन के सन्मुख कुछ प्रमाण भी देने को वे तैयार थे। किंतु ठीक समय पर अकल्पित रूपमें दबाव डाला जाने के कारण वे अपने सुबूत पेश न कर सके। उनसे सम्बन्ध रखनेवाले जो पत्र तिलक के अधिकार में थे वे भी आबासाहब के प्रेम-भाव के कारण तिलक को अपने हाथ से जला देने पड़े। अर्थात् कोल्हापुरवाले मामले में अपराधियों की ओर से आबासाहब का जो सम्बन्ध आता या उसका जैसा कुछ उपयोग किया जा सकता था, उन सबसे तिलक एवं आगरकर को विरत हो जाना पड़ा सही किन्तु आन्तरिक हृदय से ही क्यों न हो पर अपने विषय में और ख़ासकर स्वर्गीय कोल्हापुर नरेश के विषय में शुद्ध अन्तःकरण से चिंता करने या सहानुभूति प्रकट करनेवाला कोल्हापुर का ही एक निकट सम्बन्धी मराठा सरदार अभी मौजूद है, इसी एक बातपरसे तिलक और आगरकर की आशावृद्धि हो कर उनके उत्साह की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जाती थी। इसके

बाद जब कोल्हापुर के रिक्त सिंहासन पर बिठाने के लिए किसी योग्य राजकुमार की खोज हुई, तब आबासाहब के द्वितीय पुत्र यशवन्तराव को ही दत्तक लेने की बात सरकार की ओरसे प्रकट की गई। इस संवाद को सुनकर कोल्हापुर के मामले में जेल भोग आनेवाले तथा उस समयतक जेल में सज़ा भोगनेवाले निष्पक्ष समालोचकों के लिए संतोष मानने के लिए कुछ आधार मिल गया। इस प्रकार के विचार केसरी ने प्रकट किये थे।

आबासाहब एक लोकप्रिय एवं सुशिक्षित सत्ताधारी नरेश थे, अतएव रीजंट के नाते चलाया हुआ उनका सारा कारोबार सुखमय ही हुआ। और इसी लिए उनके पुत्र को कोल्हापुर का स्वामी बनानें में सभी को संतोष हुआ। स्वर्गीय महाराजा की दुर्गति होने में उनका कोई चतुर आत्मीय-स्वजन पास में न रहने का जो कारण पेश किया जाता था, उसका भी निवारण इस नई योजना के द्वारा अनायास हो सकता था। अर्थात् श्री. आबासाहब के समान सरक्षक पिता की विद्यमानता के कारण नये महाराज की रक्षा-शिक्षा आदि सभी की ओर से प्रजा निश्चिन्त हो सकती थी। एक ओरसे यह भी सूचित किया गया था कि सितारा के भोंसला-वंश का कोई लड़का गोद लेकर कोल्हापुर और भोंसला-वंश के बीच का द्वैतभाव मिटा दिया जाय, किन्तु यह सूचना अनेक दृष्टियों से अव्यवहार्य सिद्ध हुई। उस समय लोगों का प्रेम-भाव सितारा के भोंसले वंशकी अपेक्षा आबासाहब घाटगे की ही ओर विशेषरूप से था, और वह यहांतक कि कोल्हापुर की गद्दी के लिए आबा साहब के अपने पुत्र को दत्तक देनें में लोग उनका निःस्वार्थभाव अथच परोपकार समझते थे। संभवतः पिछले कष्टों के कारण ही लोग वैसा कह रहे थे। द्रव्य-लाभ अथवा ऐश्वर्य-प्राप्ति के लोभसे अपनी आत्मा के अंशरूप पुत्र को परकीय वंश को सौंप देने के लिए तैयार होने में कोल्हापुर के लोगोंका प्रेम, कोल्हापुर की सम्मति का अभीष्ट-चिंतन, भोसला वंश के साथ का निकट सम्बन्ध, और अपने अधीनस्थ राज्य-सिंहासन की चिंता, इत्यादि बातोंका यदि आबा-साहब के सुदृढ़-स्वभावपर प्रभाव न पड़ता तो, लोगों की यही धारणा थी कि, वे कभी अपने पुत्रको-किसी भी लोभ से-दत्तक न देते। मृत्यु-यातना भोगते हुए शिवाजीमहाराज की ओरसे उनके माता-पिता के नाम जो पत्र भेजे गये, उनके हृदय-द्रावक शब्दों को लोग अभी भूल न सके थे। और इसी कारण लोगों की प्रवृत्ति यहांतक उदास एवं वैराग्यशील हो गई थी कि उन्हें राज-सिंहासन का शब्दतक कर्णकटु प्रतीत होने लगा था।

ता १७ मार्च सन १८८४ को नये छत्रपति महाराज का यथाविधि दत्तक विधान होकर उनका राज्याभिषेक किया गया। इस प्रसंग के लिए पूना की सार्व-

जनिक सभा को दरबार में उपस्थित होनेका विशेपरूप से आमंत्रण दिया गया था और अभिषेक के पश्चात् रीजंट के नाते श्री. आबासाहब को सम्बोधित कर मानपत्र पढ़नेका सम्मान सार्वजनिक सभा की ओरसे सीतारामपंत चिपलूनकर को प्राप्त हुआ था। अभिनन्दनपत्र बड़ी ही खूबी के साथ लिखा गया था। क्योंकि उसमें केवल गुणानुवादही न था, वरन् विगत दुःखमयी घटना का भी उल्लेख किया गया था। साथही पिछले शासन में सरकारी इमारतें आदि बनाने में राज्य की जो विपुल सम्पत्ति नष्ट कर दी गई थी उसका भी विरोध किया गया था। इसी प्रकार आबासाहब ने भी उस मानपत्र का उत्तर देते हुए सार्वजनिक सभा को समः महाराष्ट्र की प्रागतिक (राष्ट्रीय) प्रतिनिधि सभा बतला कर इन शब्दों में उसकी प्रशंसा की थी कि उसने सर्वसाधारण जनता से भी यथेष्ट कीर्ति एवं सम्मान प्राप्त कर लिया है। भावार्थ यह कि केसरी और मराठा के संपादक का कोल्हापुरके मामले में जेल जाना इस रूपमें पूना के लिए प्रतिफलित होकर ही रहा। कुछ दिनोंतक कोल्हापुर और पूना एक घाय-दो शरीर की तरह बन गये, यही नहीं वरन् जब आगे चलकर तिलक-आगरकरने पूना में कॉलेज स्थापित करने की आशा की, वह भी कोहापुर के ही द्वारा फलीभूत हुई। अर्थात् कोल्हापुर दरबार ने तो उसके लिए यथेष्ट धन दिया ही, किंतु इसीके साथ २ आबासाहब की सहायता के द्वारा महाराष्ट्र के प्रायः सभी संस्थानिकों (राजा महाराजाओं) से भी बहुत साधन मिल सका। उन दिनों बम्बई के गवरनर सर जेम्स फर्ग्यूसन थे और उन्हीं ने आबासाहब के पुत्र को कोल्हापुर की गद्दी दिलवाई थी, अतएव (स्वाभाविकतया आबासाहब उनके प्रति कृतज्ञ थे)। कोल्हापुर प्रकरणमें तिलक–आगरकर ने निरपेक्षबुद्धि से आन्दोलन किया था अतएव कोल्हापुरवाले इनके प्रति कृतज्ञता साथ ही पूना निवासियों के देशी-राज्यसमर्थक होनेसे उनके विषय में महाराष्ट्रीय राजा-महाराजाओं के मनमें सम्मान भाव उत्पन्न हो गया था। इन सब के संयुक्त परिणाम स्वरूप ही पूना के पहले प्रजाकीय फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना हुई। इसी प्रकार आगे चलकर जब सन १८९५ में यह कालेज शहर से बाहर चतुश्रृंगी के मैदान में बनी हुई नई इमारतमें ले जाया गया, तब भी उस नये भवन का उद्घाटन कोल्हापुर के छत्रपति महाराज करवीरकर के ही हाथोंसे करवाया गया था। इस प्रकार पूना और कोल्हापूर के बीच जो घनिष्ठ सम्बन्ध कायम हुआ वह आगे चलकर पंद्रह वर्षतक यथापूर्व बना रहा। पर यदि एकबार का ही सम्बन्ध हमेशा बना रहे तो इस जगतको नश्वर कहने की आवश्यकता ही क्यों पड़े? अथवा Vanity of human wishes मानवी मनोरथ की व्यर्थता कैसे सिद्ध हो सकती है? दुर्भाग्यवश अगली ही पीढ़ी में जाकर पूना और

कोल्हापुर का प्रेम-सम्बन्ध टूट गया। इस के बाद तो क्या तिलक और क्या गोखले और क्या फर्ग्युसन कॉलेज, पूना के देशप्रेमी मात्रसे ही कोल्हापुर के नये छत्रपति का जैसा बर्ताव रहा वह प्रकट ही है। इस चरित्रके आगले प्रकरणों में इस विपरीत भाव का उल्लेख खंड २ में यथाक्रम आनेहीवाला है। अतएव यहां कुछ नहीं लिखा जाता!

अन्त में इस मामले से सम्बन्ध रखनेवाली अवशिष्ट दो एक बातोंका विवेचन करके हम इस प्रकरण को समाप्त कर देंगे। जब कोल्हापुरके मामले में तिलक और आगरकर डोंगरी जेल से १०१ दिनकी सजा समाप्त कर ता. २६ आक्टूबर सन १८८२ को छूटे उस समय उनका जो विराट-सम्मान हुआ उसका वर्णन पहले किया ही जा चुका है। इनके बाद श्री. बरवे अपनी पूरी चार मासकी सजा भोगकर छूटे, और भिड़े एवं रानडे की भी जब दो वर्ष की सजा समाप्त हुई, तब उनको भी लोगोंने बड़े ही सम्मानके साथ बधाई दी। इस विषय वर्णन ता. १ जुलाई सन १८८४ के केसरी में इस प्रकारसे प्रकाशित हुआ था:—"गत शुक्रवार को नानासाहब भिड़े और वामनराव रानडे मेल ट्रेनसे जब पूना वापस आये, तब स्टेशनपर उनके स्वागतार्थ प्रतिष्ठित व्यक्तियों सहित नगर की बहुतसी जनता उपस्थित हुई थी। इस सज्जनों के गाड़ीसे उतरते ही सर्व-साधारण की ओर से आनन्द-प्रदर्शित किया गया, और इसके बाद समारोह के साथ इन्हें 'ज्ञानप्रकाश' कार्यालय में पहुँचा। वहांपर दो-एक व्याख्यान होकर इत्रपान किया जानेका बाद सब लोग प्रसन्न चित्त से अपने घर लौट गये।" इन्हीं सज्जनों का बम्बई में किस प्रकार स्वागत हुआ, यह "नेटिव ओपीनियन के इस उद्धरण से जाना जा सकता है:—"जिस समय श्रीयुक्त नानाभाईका इत्रपान हुआ, उसी समय श्री ठाकुरद्वारमें बर्वे से सम्बन्ध रखनेवाले मामले में सजा भोगकर आये हुए श्रीयुक्त भिड़े और रानडे का भी स्वागत-सत्कार किया गया। लोगों की भीड़ इतनी बढ़ गई थी कि उस विशाल कम्पौंड में भी लोगों को खड़े रहने के लिए जगह न मिली। मि. रानडे बम्बई की ही जेल में थे। वे सबेरे ७ बजे छूटे। उस समय जेलखाने के द्वारपर लगभग ४०० मनुष्य उपस्थित थे। वहां से मि. रानडे को बग्घी में बिठाकर तथा पुष्पमालादिसे सम्मानित करते हुए नगर में लाया गया। इसके बाद मि. भिड़े को थाना (बम्बई) से लाकर दोनों का एकसाथ स्वागत-सत्कार किया गया। उस समय दो तीन सुन्दर व्याख्यान भी हुए, और अन्तमें इन दोनों सज्जनों को नागपुरी दुपट्टे उपहारस्वरूप भेट देकर छोटे २ बालकों से कवितागान करवाने के बाद सभा विसर्जित की गई।"

कोल्हापूर प्रकरण के योग से लोकमान्य तिलक के साथ जा लोकसहानुभूति एवं लोकप्रियता सम्बद्ध हुई, उसने ममतामयी माता की तरह आजीवन तिलक को अपने प्रेमसे मुक्त न होने दिया। अर्थात् विष्णुशास्त्री चिपळूनकर के साथ तिलक के भी स्वार्थत्यागपूर्वक जो निजी संस्कृत पाठशाला स्थापित की और उसके कारण लोगोंमें उनके लिए आदरभाव उत्पन्न हुआ वह कोल्हापुरवाले मामले में इनकी जेलयात्रासे और भी अधिक बढ़ गया। इसे आप चाहे तिलक का सौभाग्य कहिये चाहे और कुछ हो, किन्तु प्रत्येक संकटावस्थामें उन्हें सकारण और अकारण दोनों ही प्रकार के मित्रोंका अभाव प्रतीत न हुआ। कोल्हापूर के मामले में दावा दाय होनेतक तिलक के सार्वजनिक जीवन का केवल डेढ ही वर्ष बीता था, किन्तु इतने ही समय के प्रभाव से उनके लिए बिना किसी विशेष प्रयत्न के जमानतदार मिल गया। कहा जाता है कि भवानीपेठ (पूना) में श्री. उरवणे नामक एक गुड़के बड़े व्यापारी थे। उन्होंने तिलक से बिना किसी प्रकारका परिचय पाये ही उनके लिए जमानत के तौरपर ५००० रुपये की थैली ले जाकर अदालत में रख दी थी। इन सेठजी से तिलक का स्नेह सम्बन्ध आगेभी आजीवन बना रहा।

सेठजीकी मृत्युके पश्चात् उनके दोनों पुत्रोंने भी अपना स्नेहसम्बंध कायम रक्खा। यहांतक कि उरवणे की दूकान एकप्रकार से तिलक के लिए गंगाजली (ख़जाना) ही बन गई थी। मौका पड़नेपर आधी रात के समय भी तिलक को इस दूकानसे सहायता मिल सकती थी। समस्त व्यवहार में तिलक का निरपेक्षिता का ही भाव प्रकट होने के कारण, आगे चलकर जब सेठजीके दोनों पुत्रोंमें सम्पति-विभाजन का विवाद खड़ा हुआ, तब भी दोनों भाइयोंने तिकल को ही अपना पंच बनाया। तिलक ने भी परिश्रमपूर्वक दोनों भाइयों के लि" समाधानकारक रीतिसे सम्पत्ति-विभाजन कर दिया। इसके बाद भी तिलक व संकटसमयपर अपने लिए अकारणमित्र या सहायक ही बहुत मिले, किन्त उरवणे खानदान की स्मृति उनके मस्तिष्कमें निरन्तर जागृत रही। वे अपनं मित्रमण्डली हमेशा उरवणे का दृष्टान्त देकर कहा करते कि "पांच हजार रुपये नक्त देकर बिना किसी पूर्व परिचय के ही जब सेठजी मेरी जमानत देने को तैयार हो गये तब मुझे इस घटनापर बडा आश्चर्य हुआ। किंतु उसी समय मुझे अपने सार्वजनिक जीवन की देहलीपरही इस बात का भी विश्वास हो गया कि "सार्वजनिक सेवा का सुफल प्राप्त होनेमें विशेष प्रतीक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं रहती"। उरवणे सेठजी की ही तरह वकील लोगोंने भी आगे बढकर इस मामले में तिलक-आगरकर-भिड़े-रानड़े चारों की ओरसे पैरवीमे सहायता दी थी। यद्यपि उस समय के संग्रहीत 'डिफेंस फंड' (बचाव के लिए इकठ्ठा किया

हुआ चंदा) का ठीक २ पता नहीं लगता, किन्तु फिरभी हम कह सकते हैं कि वह उस समय के हिसाब से बहुत बड़े प्रमाण में होगा। क्योंकि प्रान्सन, फीरोजशाह मेहता जैसे बैरिस्टर प्रतिदिन बराबर फीस चुकाकर पैरवी करनेके लिए रखे गये थे। सभी अपराधियोंके डिफेंस (बचाव) का काम एक साथ शुरू रहनेसे इन बैरिस्टर साहब का सबके लिए उपयोग हो सका था। पूना और बम्बईमें सभाएँ की जाकर बड़े २ चन्दे किये गये। किन्तु फिरभी चन्दे की रकम इस काम के लिए पर्याप्त सिद्ध न हुई; और श्री. ठाकुरदास सॉलिसिटर ने बिलकुल नि:स्वार्थभाव से काम किया। फिर भी केसरी और मराठा को ऋणग्रस्त बन ही जाना पड़ा। इस ऋण से मुक्त होनेकी चिन्तासे कहीं अधिक तिलक-आगरकर को इस बात की चिन्ता रहती थी कि लोगोंने अकल्पित रूप में हमपर जो उपकार किये हैं उनसे हम किस प्रकार उऋण हो सकें गे। यह निर्विवाद सिद्ध है कि, इस प्रथम संकटमें ही तिलक और आगरकर के साथ लोगोंकी सहानुभूति इतने अधिक प्रमाण में व्यक्त हुई थी कि जिसके कारण उनकी ओरसे उक्त प्रकार की चिन्ता किया जाना स्वाभाविक ही था।

भाग ६ परिशिष्ट (१).

कोल्हापुर–प्रकरण के विषयमें आगरकर के विचार।

['डोंगरीच्या तुरुंगांतील आमचे १०१ दिवस' नामक लेख श्री. आगरकर ने ही लिखा था, किन्तु इसमें हमारे शब्द से तिलक–आगरकर दोनों से मतलब है। इस लेख के लिखे जाते समय या कमसे कम इस विषय का विचार होते समय तो तिलक और आगरकर एकत्र ही रहते थे। ऐसी दशा में इस लेख को तिलक के चरित्र ग्रंथ के आधारसामग्री में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। तिलक के जीवन के इस विभाग के विषयमें इस लेख से अधिक सत्य एवं उच्च श्रेणि का प्रमाण मिल सकना असंभव है। इसी लिए इस लेख में से कोल्हापुर-प्रकरण-विषयक दो तीन उद्धरण नीचे दिये जाते हैं।]

"अपराधियों को 'द्वेष' के दोषसे मुक्त करके अविचारपूर्ण लेख लिखने के लिए दंड की आज्ञा सुनाकर अदालत उठ गई, और सब लोग मुँह नीचा किये हुए अपने २ घर चले गये। इसके बाद हमें दुमँजिले पर से नीचे लाकर एक कोठरी में रखा गया। लगभग छह बजे दो बग्घियां लाई जाकर उनमें हम ठीक तरहसे बैठा दिये गये। और इसके बाद हमारी देखरेख के लिए साथ में सिपाहियों का पहरा देकर बिना किराये के मकान की ओर हमें भेज दिया गया।' अपनी विवेकबुद्धि के अनुसार देशहित के लिए आरंभ किए हुए उद्योग, एवं करवीरस्थ स्वामी की भलाई के लिए लिखे हुए लेख तथा मामला शुरू हो जानेपर हमारी मित्रमंडली का किया हुआ जी तोड़ श्रम लोगों का हमपर बढ़ा हुआ प्रेम, और उनके साथ का हमारा व्यवहार, अपने देश की स्थिती एवं संसार की न्याय पद्धतिआदि अनेकानेक विषयोंपर हमारी विचारधारा दौड़ ही रही थी कि इतने में जेल के दरवाज़ेपर हमारी गाड़ियां जा खड़ी हुई। गाड़ी से उतरने के बाद जेल के दर्वाजे में प्रवेश करते ही हमारे चित्त की क्या दशा हुई होगी इस की कल्पना पाठक स्वयंही कर सकते है। अन्दर पहुँचनेपर हम कुछ देर चुप बैठ रहे। इसके बाद अपने कपड़े उतार देने पर सरकारी वार्डर ने हमारी झड़ती ली और हमें जेल की पोशाक पहना दी।

* * * *

परस्पर धीरे २ बातें करते, अथवा ग्यारह बजनेपर बैरकमें बन्दकर दिये जानेपर उसमें घूमते रहनेके सिवाय हमारे लिए न कोई काम ही था और न मनोरंजन का साधन। मेरा और तिलक का अधिकांश समय परस्पर वाद–विवाद करनेमें ही

व्यतीत होता था। कितनीही बार तो हम रातरात भर बैठे बातें किया करते थे। मैं एम् ए के लिए और तिलक एल् एल्. बी के लिए कालेजमें पढते हुए जिस दिन से हमने सरकारी नौकरी न कर देश-सेवा में ही अपना जीवन लगा देने का निश्चय किया था तबसे हम लोगों में जो कुछ बातचीत हुई थी उसी की इस जेल जीवन में बारम्बार पुनरावृत्तियां होतीं रहतीं थीं। किसी एक सज्जन से भेट करके पूना केम्प से लौटते हुए अँधेरेमें मार्ग भूलकर रातके दो बजे घूमते २ केस प्रकार हम बँड गार्डनतक आ पहुँचे, पाठशाला के विषय में विष्णुशास्त्री चेपलूनकर से बातचित करने के लिए शहर जाकर वहांसे कॉलेज को वापस लौटते समय किस प्रकार हमें सर्दी में ठिठुरना पड़ा, वचन-बद्ध होकर भी स्कूल और प्रेस खोलते समय किन २ मनुष्यों ने मुँह छिपा लिया, और इस प्रकार के प्रपंच में न फंसनेवाले किन २ व्यक्तियों को वे घेर सके, अपने मूल उद्देश्य क्या थे और वे कहांतक सिद्ध हुए, इसी प्रकार विष्णुशास्त्री की अकाल-मृत्युसे हमारे उद्योग का कहांतक धक्का पहुँचा, हमारे आरंभ किये हुए कार्य हमारे जीवन में तथा उस के बाद भी यदि कुछ वर्षोंतक अविराम होते रहे तो उनका परिणाम देश की स्थिति पर क्या होगा; इस देश पर अँग्रेजों की राज्य होजाने से किन २ विषयों में उनका हित और अनहित हो रहा है, लोकशिक्षा की यदि उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही तो भारत की भावी स्थिति क्या हो जायगी; देशी राज्यों के सुधार के लिए क्या २ उपाय किये जा सकते हैं; देशभाषा को यूनीवर्सिटी में स्थान दिलाने के लिए किस प्रकार का प्रयत्न होना चाहिये, स्कूल और कॉलेज की इमारतें बनवाने के लिए धनसंग्रह कैसे किया जाय; कोल्हापुरके मामले में हमारी भूल कहांतक थी, और हमें जो सजा भोगनी पड रही है वह कहांतक न्याय्य है, हमारे यहां कैद रहने का प्रभाव लोगों के चित्तपर कैसा पड़े गा, और हमारे स्कूल एवं प्रेस की कहांतक हानि हो रही होगी, कठिन प्रसंगपर किन २ मित्रों ने हमारा साथ दिया, और भविष्यत् में हम किन २ की सहायता या वचनपर विश्वास कर सकेंगे; तथा दुबारा जेल की हवा न खानी पड़े, इस के लिए किन २ बातों की सावधानी रखनी चाहिये, इत्यादि बातें ही हमारे जेल जीवन के विचारणीय विषय हो रही थीं।

" कोल्हापुर प्रकरण के विषयमें नाना प्रकारके तर्कवितर्क हुए हैं। कई लोगों का कहना है कि यदि मुकद्दमा बंबई में न चल कर पूनेमें चलाया जाता तो इसका परिणाम कुछ और ही होता; दूसरे कुछ लोगोंका कथन है कि इस मुकद्दमें में पंच-लोग यदि सभी भारतीय या आधेसे अधिक भारतीय होते तो अवश्यही उन्होंने पत्र संपादकों को निर्दोष सिद्ध कर दिया होता। इसी प्रकार तीसरे एकदल के लोगों का

कथन है कि 'इस कार्य में सरकारके विरुद्ध रहनेसे हमें अपयश मिला'। कुछ लोग यह समझते हैं कि 'हमने अंतसमय में क्षमा याचना कर बहुत बुरा काम किया' तो कितने ही लोग हमारी सजा को उचित भी बतलाते होंगे। इनमें किनका कहना सत्य है और किनका नहीं, अथवा किस कथन में तथ्यांश नहीं है, इन बातों के निर्णय करनेकी जबाबदारी हम अपने सिरपर लेना नहीं चाहते। पुलिसकोर्ट एवं हाईकोर्टमें लोगों के सामने कई बातें प्रकट हुई हैं, और हरएक आदमी अपनी समझके अनुसार हमें या दूसरोंको भलाबुरा कहता है। हमा तो कथन केवल यही था कि कोल्हापुर का मामला किसी तरह एकबार न्यायालय सामने पेश हो जाय, सो वह हमारी इच्छा के अनुसार सबके सामने प्रकट हो गया इसके बाद न्यायकर्ता एवं पंचलोगोंको कुछ ठीक जान पड़ा हो उसीको सर्वमान समझना चाहिये। क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो किसीभी झगडेका निर्णय नहीं हो सकता। यदि न्यायालय का दिया हुआ फैसला सर्वमान्य न भी हो, औ उसमें मतभेद प्रकट किया जाय, तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है। किंतु फिरभी सरकार ने जिन्हें किसी बात के निर्णय का अधिकार दे दिया है, उनके विचार से जो सत्यसिद्ध हो उसी को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लेना सुशिक्षित एवं व्यवहार-दक्ष अथच धर्मतत्वज्ञ का कर्तव्य धर्म कहा जा सकता है। महामना सुक्रात को इस बात का दृढविश्वास हो चुका था कि उसे दी जानेवाली सजा अन्यायपूर्ण है, किन्तु फिर भी उसने न्यायाध्यक्ष के विचार को ही संतोषपूर्वक मान लिया। क्यों कि जब मनुष्य सर्वज्ञ नहीं हो सकता तो फिर उसके हरएक कार्य में भूल होने की संभावना की जा सकती है। महामना सुक्रातपर लगाये हुए अपराध की जांच करनेवाले दस पांच ही पंच न थे बल्कि एथेन्स के प्रजासत्ताक राज्य की जनता का बहुमत ही उसे दोषी ठहरा चुका था। और इसी लिए उसे विष-पान करना पड़ा किन्तु कालान्तर में जाकर उसके विषयमें इतना मतान्तर हो गया कि लोग उसे निर्दोष समझने लगे और यह माना जाने लगा कि उसका फैसला करनेवाले पांच छहसौ मनुष्यों के हाथसे सरासर भूल हुई। आज भी हरएक विचारशील व्यक्ति इस बातपर विश्वास करता है।

'सत्यमेव जयते' वाले सिद्धान्त की पूर्णता होने में बहुत अधिक समय लग जाता है। क्यों कि सत्य में कोई नैसर्गिक सामर्थ्य तो है नहीं, यदि ऐसा होता तो वह तत्काल फलीभूत भी हो जाता! किन्तु कालान्तर में जाकर सत्य की विजय होती अवश्य है, क्यों कि सत्यावलंबन से अधिकांश लोगों का कल्याण हो सकता है। और जब इस अधिकांश का प्राबल्य हो जाता है, तभी सत्य की भी विजय हो जाती है। और यदि विरुद्ध पक्ष प्रबल हुआ तो

वह सत्य को भी दबा देता है। किन्तु फिर भी समझदार पाठकों के लिए इस बात को प्रथक् रूप से समझाने की अवश्यकता नहीं है कि मुझतके समय से इस युगतक जमीनआसमान का अंतर पड़ गया है, एवं राज्यपद्धति और न्याय के विषय में भी लोगों की विचारशैली बहुत कुछ बदल चुकी है, इसी प्रकार सत्यासत्यविवेचन की क्रिया भी बहुत सूक्ष्म रूप धारण कर चुकी है। अस्तु। संसार की न्यायपद्धति शतरंजके खेल की तरह है। विपक्षी के बन्धन में न पड़ते हुए उसकी चाल को रोकना और अंतमें उसे पराजित कर देना आदि बातें खिलाड़ों की अपनी कल्पना, उसके अपने अनुभव एवं बौद्धिक सामर्थ्य अथवा अन्य साधनोंपर अवलंबित होती हैं। इसमें जिसका पक्ष निर्बल होगा, वही हारेगा और प्रबलपक्ष का उत्कर्ष हो जाय गा। जो जिस पक्ष का समर्थक होता है, वह उसीके अनुसार आचरण रखता है। फ्रान्सके राजा चौदहवे लुई ने प्रजापर इतना अधिक अन्याय किया था कि उसके बाद दो पुश्तोंतक बराबर क्रान्ति होती रही और अंतमें प्रजा-सत्ताक राज्य की स्थापना हो गई, किन्तु लुई को कभी यह प्रतीत न हुआ कि मेरे आचरण से प्रजा को कष्ट पहुँच रहा है।

" लुई की तरह इँग्लैण्ड के राजा द्वितीय जेम्स का भी आचरण था। किन्तु राज्यसिंहासन से च्युत कर दिये जानेपर भी इन्हें अपनी करतूतें अन्याय-मूलक प्रतीत न हुई। असल बात यह है कि, कोईसा भी पक्ष जबतक अधिकारारूढ रहता है, तबतक उसकी भूलें दिखाने का सामर्थ्य कोई प्रकट नहीं करता, क्योंकि वैसा करनेमें दंडित होने की संभावना रहती है। उस राज्य-लोलुप राघोबादादा ने ज़रासी बात के लिए अपने सगे भतीजे को हत्यारों के हवाले कर दिया, किन्तु उसके इस कृत्य को निन्दित बतलाकर उसे प्रायान्त दंड के योग सिद्ध कर सकने की हिम्मत सारी पेशवाईमें अकेले रामशास्त्री ही रखते थे! शासन का सामना करनेवाले को अपना सिर हाथोंपर रख कर आगे बढ़ना चाहिये। अन्यायी अधिकारी के मर जानेपर उसकी दो एक पुश्तों के बाद यदि उसके दुराचरण की चर्चा की जाय तो उसमें विशेष भय का स्थान नहीं रहता। सखाराम बापू सरीखे हठीले वृद्ध को अपने पक्ष में मिला लेने के लिए नानासाहबने गंगाबाई को अत्यंत गर्ह्य युक्ति बतलाई, नानासाहब और गंगाबाई का गाढ़ सम्बन्ध था, अथवा नाना के कष्टों से संतप्त हो कर सवाई माधवराव अटारी परसे कूद पड़े इत्यादि ऐतिहासिक बातों की चर्चा हम आज खुल्लमखुल्ला करते और निधड़क होकर उसकी आलोचना कर सकते हैं। किन्तु जिसे जी चाहा उसी को तोप के मुँह खड़ा कर सकने का सामर्थ्य जबतक नाना में था, तबतक उसके किसीभी कार्य की ओर उंगली तक उठा सकने का सामर्थ्य किसी

में न था। बल्कि इसके विरुद्ध उसके आचरण की ही सर्वत्र प्रशंसा होती थी। क्योंकि संधिया, होलकर, गायकवाड़, सावंत, भोसले, सचिव, प्रतिनिधि, कागलकर, पटवर्धन, आदि घरानों के पुरातन व्यक्तियों के आचरणपर ग्रांट डफ साहब ने अपने इतिहास में जैसी चर्चा की है, वैसी ही चर्चा यदि हम उनके वर्तमान वंशजों के विषय में करने लगे तो हमारा काम कैसे चल सकता है?

"कोई तापर्वा एवं निर्भीक व्यक्ति यदि ऐसी बकवाद शुरू करे तो कर सकता है, किन्तु इसीके साथ २ उसे अपनी जान भी हथेलीपर रखलेनी होगी। प्राणों की पर्वाह न करते हुए संसार के कल्याणार्थ ऐसे कार्यों अपनी ही प्रतिष्ठा समझनेवाले गेलिलिओ, क्रानमर अथवा रामशास्त्री जैसे विचित्र प्राणी भी कहीं २ देखनेमें अवश्य आते हैं, किन्तु व्यवहारदक्ष मनुष्य ऐसों का अनुकरण कभी नहीं करता! अर्थात् सत्ताधारी का विरोध करने में जिस प्रकार किसी का भला नहीं हो सकता, उसी प्रकार सरकार का विरोध करनेवालेको भी अपने गार्हस्थिक सुखों को तिलाञ्जलि दे डालनी चाहिये। सरकार का अर्थ है सत्ताधारियों का समुच्चय। ज्ञान-हीन अथच गरीब जनता को सरकार हौआसी जान पड़ती है, किंतु जिसने राजा और प्रजा के विषय में न्यूनाधिक विचार किया है, वह अच्छी तरह जानता है किं व्यक्ति-विशेष-अधिकारी में जिस प्रकार मद, लोभ, सौजन्य, मैत्रीभाव, अपनापन या परकीयता आदि भली बुरी मनोवृत्तियां होती हैं, उसी प्रकार उसकी सरकार में भी हो सकती हैं। अन्तर केवल यही होता है कि विशेष हठ धारण कर लेने पर अधिकारी किसी का जितना नफा नुकसान कर सकता है, उससे कहीं अधिक सरकार कर सकती है। वैसे सरकार की ओरसे किसी को भला या बुरा कह दिया जानेपर वह वैसा हो थोड़े सकता है!

"कितनी ही बार ऐसा होता है कि राजा और प्रजा के लाभालाभ में परस्पर अत्यंत विरोध होने के कारण अतिशय नीच व्यक्ति को आगे करके सरकार उसे बढ़ावा देने लग जाती है। ब्रह्मघाती त्रिंबकजी के लिए बाजी (राव) ने पाजीपन करके अपने प्रदेश को जिस प्रकार मिट्टी में मिलवा दिया, उसे सब लोग जानते ही हैं। जिसप्रकार प्रतिभासम्पन्न कवि अपने कल्पना-वैचित्र्य के बलपर शुष्क विषयतक की महत्ता बढ़ा सकता है, उसी प्रकार सरकार भी किसी टुच्चे मनुष्य को अनुचित महत्त्व देकर बढ़ा सकती है। जिस प्रकार स्विफ़्ट जैसे व्यक्ति के द्वारा यदि बुहारीया झाड़ू का वर्णन भी हो, तो स्लेट के मतानुसार वह भी लोगों को मनोरंजक प्रतीत होगा, उसी प्रकार यदि सरका ने ज्ञानशून्य पशु को भी अधिकारारूढ़ करके उसका समर्थन किया तो वह भ

लोगोंके लिए हौआ बन जायगा। पिछले जमानेमें एक रोमन बादशाह ने अधिकार के बलपर अपनी व्यभिचारिणी स्त्रीको सेनेट सभा से देवी कहलवाया और इसी प्रकार अपने विवाह दिवस को उस पतिव्रता की वेदी के सन्मुख मनाकर मनानेका प्रस्ताव पास करा लिया था। सरकारी सत्ता के सामर्थ्य परिचय पानेके लिए इतनी दूर जानेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। भारत धारासभाओंमें अवसर कैसे २ लोगोंका नियुक्ति हो जाती है, इसपर विचार कर पर ही सब बातोंका पता लग सकता है। मतलब यह कि सरकार का जो भी कोई स्वर्गीय वस्तु नहीं हो सकता या जो भी उसे सत्ता के सब अधिकार जनता से ही प्राप्त हुए होते हैं तो भी वे अधिक दिनोंतक उसके पास रहनेसे वह उन्हीके बलपर लोगोंसे सिरजोरी कर बैठती है। यहांतक कि यह लोगोंको गुलाम बनाने का भी प्रयत्न करती है, और ऐसा होनेपर यदि जनतामें कुछ भी चैतन्यभाव होता है तो वह उदासीनता की निद्रा त्याग कर उठ खड़ी होती है, और अन्यायी सरकार को दो चार खरी बातें सुना कर रास्तेपर ले आती है। किंतु जहां इस प्रकारके लोग नहीं होते वहां की सरकार प्रजापर जी चाहा अन्याय कर सकती है। सरकार अन्यायी हो और प्रजा मूकभावसे उसके अन्याय को सहती रहे तो थोड़े ही समय में दोनों नष्ट हो जायँगे। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सत्ताधारी या सरकार के साथ जो लोग झगड़ते हैं उन्हें प्रायः अपने कार्य में सफलता नहीं मिलती।

"सारांश यह कि राजा और प्रजा के बीच का युद्ध एक पक्ष के लिए साधक और दूसरे के लिए बाधक हो जाता है। ऐसी दशा में जहां विदेशीय सरकार किसी मामले का न्याय करनेपर तुल जाती है, तब उसका सामना करनेवाले को अपना पक्ष बहुत ही मज़बूत करना पड़ता है। किंतु हमारी सरकार तो कुछ ऐसी विचित्र है कि किसी मामले में पहलेसे वह खुद तो कोई खबर देती नहीं, और अनजाने में यदि किसीनें कुछ छाप दिया तो फिर तात्काल उससे प्रमाण दाखिल करानेपर तुल जाती है। किन्तु यथार्थ में ही यदि देखा जांय तो जिन बातों से लोगों का निकट सम्बन्ध होता है, उनकी जानकारी सरकार को स्वयमेव ही तत्काल करा देनी चाहिये। इस तरह वह बड़ी सुगमतासे लोगों का भ्रम दूर कर सकती है। सुना जाता है कि अमेरिकन सरकार अपनी प्रजा को सरकारी गज़ट द्वारा इस प्रकार की बातों से बारम्बार सूचित किया करती है। किन्तु हमारे यहां यदि किसी को सरकार या उसके किसी उच्च अधिकारी के साथ पत्र की भाषा से विवाद करना हो तो उसे निम्न लिखित बातोंपर विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये (१) रुपया पैसा पासमें खूब रहे।" क्यों कि पैसे जैसी काम की चीज

संसारभर में दूसरी नहीं हो सकती। यह वस्तु अपनी गुलाई के कारण मेंच ग्रंथकार के कथनानुसार बिना घर्षण के ही हर एक स्थान में प्रवेश कर सकती है। चाहे जिस व्यक्ति को वश में करनेके लिए इससे बढ़कर पंचाक्षरी मंत्र ही दूसरा नहीं मिल सकता। " मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम् यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवं।" इस श्लोक में यदि 'माधवं' को बदल कर रूपकं कर दिया जाय तो पैसे के सामर्थ्य का सच्चा वर्णन हो सकता है। और यदि ऐसा पाठान्तर न भी किया जाय तो भी कुछ हानि नहीं, क्योंकि 'माधव' तो वैसे ही लक्ष्मीका पति है। अतएव माधव शब्द का ही अर्थ यदि रुपया कर लिया जाय तो सारा काम बन सकता है। जिसने "थैली का मुंह खोला उसे किसी चीज़की कमी नहीं"। इसी लिए किसी कवि ने कहा है कि "धनैर्निष्कुलीनाः कुलीना भवन्ति धनैरापदं मानवा निस्तरंति। धनेभ्यः परो बान्धवो नास्ति लोके धनान्यर्जयध्वं धनान्यर्जयध्वम् ॥"

जिसके पास विपुल द्रव्य की अनुकूलता होती है, उसे जगतकी वर्तमान परिस्थिति में ही सच्चे को झूठा या झूठे को सच्चा कर देने में कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ती। किन्तु द्रव्यहीन के मनोरथ गत-भर्तृका के स्तनों की तरह जहां के तहां विकसित होकर विलीन भी हो जाते हैं। (२) कागज-पत्रादि यथेष्ट होना चाहिये। अर्थात् मुकद्दमा खड़ा करनेके लिए जितनेभी महत्व के कागजपत्रादि हों वे सब कब्जे में कर लेना चाहिये। यदि असल मिल सके तब तो अच्छा ही है, अन्यथा कमसे कम उसकी हूबहूब नकल तो अवश्य ही रखनी चाहिये। इसी प्रकार यदि किसी जवाबदार मनुष्य से उसकी तस्दीक हो जाय तो और भी अच्छा होगा। इस विश्वासपर कि अमुक २ मित्र या अमुक सज्जन से मुझे आवश्यकता पड़नेपर अमुक प्रकार की सहायता मिल सकेगी-किसी मनुष्यपर अवलंबित रहना अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मार लेनेके समान है। उपयोग में आ सकनेवाला छोटेसे छोटा कागज भी समयसे पहले अपने अधिकार में कर लेना चाहिये। क्योंकि जब जरा भी गड़बड़ हो जाती है तब साधारणसा कागज भी दुष्प्राप्य हो जाता है और कभी २ तो वे सुरक्षित स्थान में से अन्तर्धान भी हो जाते हैं इसे खूब याद रखना चाहिये। (३) हस्ताक्षरयुक्त लेखी बयान ले रखना। यह मेरा पिता है अथवा यह मेरी माता है अथवा यह मेरा अमुक निकट सम्बन्धी या प्राणप्रिय मित्र है, या तो अमुक सज्जन, धनी, रईस या भला मानस हैं, अतएव जब आवश्यकता पड़ेगी तभी ये बिना किसी पक्षपात के हाई कोर्ट के सम्मुख जो कुछ भी जानते है, बयान कर देंगे, अतएव इनसे लेखी बयान लेनेकी आवश्यकता नहीं, इस विश्वासपर किसी भी देश-कार्येच्छु को न रहना

चाहिये। प्रेम, विश्वास आदि सबको एकदम भुलाकर सात्विक मन अपने मतलब की बात हरएक व्यक्ति से संग्रह कर लेनी चाहिये। और उसपर उसके हस्ताक्षर करवाकर ऐसे कागज़ों को समय आनेतक एक मज़बूत लोहे के संदूक में बन्द करके रखना चाहिये। (४) वकीलों का मत लेना। किसी भी काम को हाथ में लेनेसे पूर्व उससे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त कागज़पत्र किसी कानूनदाँ मर्मज्ञ वकील को दिखा कर उनपर उसका लेखबद्ध मत ले लेना चाहिये। इस कार्य के लिए जिस वकीलसे रायली जाय वह अपने विषय का मर्मज्ञ हो एवं लोक-विश्रुत भी हो। उसे स्पष्ट कह देना चाहिये कि आप निश्चित फीससे भले ही कुछ अधिक लेलें, किंतु जो कुछ मत दें, वह भलीभांति अपनी पुस्तकों को देखकर विचारपूर्वक ही दें। ऐसा करने में प्रथमतः कुछ अधिक खर्च हुआसा अवश्य जान पड़ेगा, किंतु प्रमाण किस प्रकार का होना चाहिये, अथवा उसमें किन २ बातों की कमी है और यदि कमी है तो अवशिष्ट प्रमाण कैसे प्राप्त किया जा सकता है ये सब बातें पहले ही ज्ञात हो जाने पर आगे के लिए विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता और न हानि उठानी पड़ती है (५) फुटकर तैयारी। स्थान २ पर चतुर संवाददाता होने चाहिये। वे रातदिन गुप्तरूपसे अपने विषय की खोज में घूमते रहे। किसी का क्या झगड़ा चल रहा है, अथवा समाज में लोग क्या कहते सुनते हैं, और विपक्षी की ओरसे कहांतक की तैयारी हो चुकी है, इन सब बातों की भलीभांति जानकारी प्राप्त करके चुपचाप ही यथासमय अपने पास मँगवाने के लिए विश्वासपात्र संवाददाता के बिना काम नहीं चल सकता। और न गड़बड़ के समय काम का ढंग ही जम सकता है। इसी प्रकार कमसे कम दस पांच यूरोपियनों से परिचय भी अवश्य होना चाहिये, जिससे कि उनके द्वारा उन्हीं के समाज अर्थात् 'ऑफीशियल' वर्ग में जो कुछ चर्चा चल रही हो, उसका पता लग जाय। और आगे के लिए नई युक्तियां सोचने का मौका मिल सके। इन सब बातों के सिवाय प्रत्येक समाज में मध्यस्थरूपसे रहनेवाले जो एक प्रकार के व्यक्ति होते हैं, उनसे भी कभी २ अज्ञातरूप से काम लिया जा सकता है। इसीलिए इनमेंसे भी दो एक व्यक्तियों को क़ाबू में रखनेसे बड़ा लाभ होता है। सारांश यह कि; मास्तर, डॉक्टर, बैरिस्टर कोई भी क्यों न हो, जिस २ का भी प्रसंगानुसार उपयोग हो सकता हो, उसे अपने क़ाबू में कर लेना परमावश्यक कार्य है। दूसरी एक महत्व की सूचना जिसे कि देना मैं भूल जाता हूं, वह यह है कि 'शिववन्दन के लिए प्रथम नंदी की प्रार्थना करो' उसके न्यायानुसार प्रत्येक बड़े २ देवालय या गृह मठ के द्वारपाले को टुकड़ा डालकर वशमें कर लेने से महादेव तक पहुँचने ज़रा भी कष्ट नहीं होता।

भाग ६, परिशिष्ट (२).

डोंगरीमाहात्म्यवर्णन.

[निम्न लिखित कविताएँ डोंगरी जेल में ही सन १९०८ के अक्टूबर महिने में लिखी गई थीं। और इन कल्पनाओं की उत्पत्ति का कारण भी यही था कि तिलक-आगरकर को मानहानि के अपराध के कारण इस जेल की जिस बैरिक में रहना पड़ा था, ठीक उसी बैरिक में इन कविताओं के रचयिता को १४ दिन तक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। तिलक-आगरकर के समय का एक वृद्ध वार्डर उनके विषय की बातें अर्ध-विस्मृतावस्था में सुनाया करता था। अस्तु। इस कवि को न्यायाध्यक्ष दावर साहब की मानहानि के अपराध में कारावास का दंड मिला था। न्यायमूर्ति ने तिलक को जो छह वर्ष की सजा दी थी और उस समय उनके लिए जो अपमानव्यंजक शब्द उच्चारण किये थे उनकी टीका की बदौलत न्यायमूर्ति को अपमान हुआ था। इस तरह डोंगरी जेल के साथ तिलक का सम्बन्ध सन १८८२ से १९०८ तक बराबर क़ायम रहा। इसी लिए सन १८८२ के प्रकरण के अंतमें सन १९०८ में बनाया हुआ डोंगरीमाहात्म्यवर्णन परिशिष्ट-रूपसे दिया गया है !]

(कविता ज्यों की त्यों मराठी में आगे दी है:)—

(चाल—लावनी)

इहलोकीं दरबार यमाचा अनुदिनिं कारागृहिं भरतो।
पापपुण्य ऋद्तिला निर्घोनीं मनुज मोकळा तो होतो ॥ ध्रु० ॥

(१) प्राकारावृत पुरी डोंगरी अन्वर्थक हें नांव तिला।
उंच उंचशा भयाण भिंती पहाडसम चौबाजूला ॥ १ ॥
कभिन्न काळे दरवाजे ते दोन दिशेला दिसति उभे।
मेघडंबरी त्यावरि केली मेघशबलशा नीलनभें ॥ २ ॥
समंत भागीं वस्ति दाटली जशा वारुळामधि मुंग्या।
परि अंतरिं शून्यता राखिती उभ्या संगिनी त्या नंग्या ॥ ३ ॥
जरी म्हणावें स्मशान येथें हाथ पाय तरि वावरती।
सदन म्हणावें तरी मनुष्यें मुकीं भुतासम आचरती ॥ ४ ॥
सदन म्हणा वा स्मशान येथें सदा नांदतो यमराजा।
परलोकाचा अनुभव देई मनुजा, चालु न दे गमजा ॥ ५ ॥

* * * *

(२) द्वारामार्गे द्वार लागलें प्रवेश दुर्घट तो मोठा ।
वर्दी देऊनि उभें रहावें घटका दो घटका घटा ॥ १ ॥
यमदूतांच्या संगति पांसुनि संचारासी वाव नसे ।
शुक्रकाष्ठ पाठिचें पाठिशीं सदा जपेउनि ते बैसे ॥ २ ॥
कारभार करणार यमाचा त्यासी 'जेलर' ही संज्ञा ।
प्रमाण शिरसा वंद्य तयाची कोणि अवमानिति आज्ञा ॥ ३ ॥
काम धाम तरि चिठ्ठि–चपाटी; व्हा आडनिं त्या पुढति उभे ।
शिका प्रथम नम्रता नीचपण उचित दंडधर काल–सभे ॥ ४ ॥
भेट कुणाची हवी तरी ती षण्मासितशा अवधींत मिळे ।
अधिक उयों बोलण्यास चोरी यमसचिवाचे कान खुले ॥ ५ ॥

* * * *

) आंत बन्दिजन जे सांपडले वर्णुं तयांची काय गती ।
बोल बोलण्या तद्विषयक मम जीभ धरितसे बहु खंती ॥ १ ॥
पंजरस्थ पिक मोर सारिका यांचें हृद्गत आजि कळलें ।
प्रवेश परकायेंत न केला अनुभवबीज परी फळलें ॥ २ ॥
ऐकतसे सिद्धान्त आजवरि गहनचि आत्मौपम्याचा ।
प्रकाश पडला हृदयिं तयाचा कुंठित हो म्हणुनी वाचा ॥ ३ ॥
स्वातंत्र्यासम हरहर दुसरें प्रायशा जगतीं सौख्य नसे ।
विघात करि जो त्या सौख्या त्या सम अधमाधम तोचि असे ॥ ४ ॥
व्यक्ति असो वा राष्ट्र असो तत्पापाची खुणगांठ खरी ।
स्वतंत्रतः हानिची आपदा अतुल तिजसि सम ना दुसरी ॥ ५ ॥

* * * *

(४) बन्दिजनांचा नित्यदिनविधी सूत्रबद्ध जणुं रेखटला ।
अनंतकल्पें अबाधित असा चालु असे हो हा खटला ॥ १ ॥
दो घटका रात्रिसी उठोनी अग्राचि शौचमार्जन करणें ।
वदनिं येत तरि स्फुट न वदा हरिनामादिक प्रातःस्मरणें ॥ २ ॥
जरि मजुरीची कैद तुम्हाला सत्य पुढती घ्या खोलाया ।
इतरहि अथवा कर्म नीचतर उरकाया सारा वाझा ॥ ३ ॥
दस घंट्याला करा तयारी भोजनविधिची गर्दि उठे ।
कदान्नमय तीं दोन वर्तुळें त्यावरि तुरिचें दाट घुटें ॥ ४ ॥
घृतदुग्धादिक शाक लवण वा गरम मसाला सो विसरा ।
करा साजरा पाणि घोटुनी, शिमगा, दिपवाळी, दसरा ॥ ५ ॥

(५) दिन ओसरतां रांठ कांबळ्यावरति देह–यष्टी पसरा ।
झोंप न ये तरि जन्मजन्मिच्या कर्माची ती टीप करा ॥ १ ॥
मत्कुण दंशति नरशोणित पी चावचावुनी करिति दशा ।
अंश भागि त्यां करा वरा मग सर्वांनें शिबिराजयशा ॥ २ ॥
अळे पिळे ध्या पळा तळमळा योगासनविधि सर्व करा ।
टाच न सोडा शब्द न काढा खुशाल मग सुखशेज करा ॥ ३ ॥
आस्तिकता ती येत नास्तिका अहृदय हि प्रेमी बनतो ।
क्षणभर सद्गुरु रामकृष्ण वा आयबाय बाबा म्हणतो ॥ ४ ॥

* * * *

(६) दो घटका रात्रीस होतसे ठायिं ठायिं नाकेबन्दी ।
फिरुं न शके कोणिही होउ तो चोर साव वा फटफंदी ॥ १ ॥
सवाल करितां जवाब द्यावा सांकेतिकशा शब्दाचा ।
यमकिंकर तो हत्यार सांवरि अडखळली जरि लव वाचा ॥ २ ॥
शिपाइ भाई पूर्व रात्रि बहु सक्त हुषारी दाखवितो ।
परि माध्यान्हीं डोळ्यावरतीं झांपड येउनि तो पडतो ॥ ३ ॥
घंटानादें उठे खडबडे सजीव होतां जसें मढें ।
अलकान्या तलकान्या देउनि आलबेलिचा मंत्र पढे ॥ ४ ॥

* * * *

(७) कारागृह हें बह्मस्वतंत्रचि चौप्राकारान्तरि वसलें ।
शिव–शिव सच्चित् प्रकृति पुरुष गुणउपाधि त्यांतचि सांठवले ॥ १
एक नियंता समस्वरूपी इतर सर्व त्याची लीला ।
सुखदुःखादिक भोग मोक्ष वा देत असे तो मनुजाला ॥ २ ॥
स्वस्थानासी कधिं नच सोडी परी मनानें वावरतो ।
दूतपाश पसरुनी करविं त्या सर्व कार्यभर आवरितो ॥ ३ ॥
गरुडपुराणचि दुर्जे असे हें जेल कायदा त्या म्हणती ।
स्केल–कोष्टकें मांडुनि करिती पापापुण्याची गणती ॥ ४ ॥
उठबशा अंधार कोठडी दंड पाश फटके खोडे ।
प्रायश्चित प्रकार येथिल वर्णावे तितुके थोडे ॥ ५ ॥

* * * *

(८) भलाबुरा हा भेद न येथें एकतत्व कीं शिरगणती ।
धर्म जाति वा नीति सुजनता विवेक यांचा नच करिती ॥ १ ॥

भाग सातवां।

फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना।

एल् एल्. बी., पास करते ही जब तिलक ने ही शिक्षाविषयक कार्य आरंभ करने का निश्चय किया, तभी उनके मनमें एकदम एक प्रजाकीय कॉलेज स्थापित करनेका विचार था। किन्तु आरंभ में जब हाईस्कूल चला सकने जितने भी कार्यकर्ता न मिल सके तो फिर कॉलेज कैसे चलाया जा सकता था? इसी लिये कॉलेज रूपी दुग्धपान की इच्छा को उन्होंने आरंभ में पाठशालारूपी तक्रपान से ही पूरा कर लिया। किन्तु फिर भी कॉलेजस्थापना की उनकी इच्छा विलीन न हो गई। वरन् प्रतिदिन अनेकानेक कारणोंसे उसकी पुष्टि ही हुई। कोल्हापुरवाले मामले के कारण तिलक–आगरकर की ख्याति बढ़ जाने, एवं सामान्य जनता की सहानुभूति प्राप्त होने तथा बड़े लोगोंसे परिचय हो जाने के कारण राजामहाराजाओं की ओरसे उदार–आश्रय मिलनेकी संभावना दिखाई देने लगी। इसी प्रकार इधर न्यू इँग्लिश स्कूल के लिए तिलक के बाद आगरकर, उनके बाद आपटे और तत्पश्चात् गोले, केलकर, धारप जैसे होनहार एवं योग्य पदवीधर बराबर मिलते गये। स्कूल में पढ़नेवाले विद्यार्थियोंकी संख्या भी तेजी से बढ़ने लगी। मेट्रिक्युलेशन परीक्षा में पास होनेवाले विद्यार्थियोंका प्रमाण भी अन्य हाईस्कूलों से बढ़ चला। इसी प्रकार जगन्नाथ शंकर सेठ–छात्रवृत्ति पानेका भी इस स्कूल से ठेकासा हो गया। रिपनशाहीमें उदार शिक्षा का प्रचार हो चला था। हं[illegible] साहब के एज्यूकेशन कमिशन ने शिक्षाविषयक प्राइवेट संस्थाओं को सरकार [illegible] ओर से सहायता दिलवाने का प्रस्ताव भी पास हो गया था। इन सब शु[illegible] संयोगों को साधकर न्यू इँग्लिश स्कूल में काम करनेवाले युवा अध्यापकों[illegible] आजन्म एकत्र रहकर शिक्षाविषयक ध्येय का हीं अनुसरण करना निश्चित किया। और उसी समय डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी (दक्षिण भारतीय शिक्षाप्रसारक समिति) स्थापित होकर उसके आजीवन सदस्य भी चुन लिए गये। इससे आगेका कार्य कॉलेज़स्थापना के सिवाय और कुछ न हो सकता था। सन १८८४ के अन्तमें कॉलेज की कल्पना भी सफल हो गई।

जब तिलक न्यू इँग्लिश स्कूल में अध्यापनकार्य करने लगे उस समय शिक्षकों में उच्च नीच का भेदभाव न रहनेसे इस बातका कोई नियमही न था कि कौन अध्यापक किस कक्षा को क्या पढ़ावे। बिलकुल आरंभिक कक्षा को पढ़ाने के लिए भी यदि किसी को घंटे दो घंटे के लिए जाना पड़ता तो भी सब लोग इस काम को बड़ी प्रसन्नतासे करने के लिए तैयार हो जाते थे। क्योंकि ऐसा करने

में उन लोगों को एक प्रकार से मौज मालूम होती थी। ये सब लोग होनहार एवं योग्य अध्यापक थे, अतएव वे अपने को न्यू इँग्लिश स्कूल के ही प्रोफेसर समझते थे। इनका मतलब यह था कि उस समय यद्यपि उन्होंने स्कूल ही चला रक्खा है किंतु इतने ही से उनकी महत्वाकांक्षा पूर्ण नहीं हो सकती थी। उन लोगोंकी आकांक्षाएं यहांतक बढ़ी हुई थी कि कॉलेज स्थापित कर बी.ए., एम्.ए. के विद्यार्थियों के पढ़ाना ही चाहिए। इसी के साथ २ युनिवर्सिटी में भी प्रवेश करके उसे अपने सुधारों से हिला छोड़ने की भी उनकी इच्छा थी। यद्यपि आरंभ में तिलक को 'कॉलेज छोड़ते ही कॉलेज स्थापित कर दिखाने' की महत्वाकांक्षा को दबाये रखना पड़ा, किंतु पाठशाला का दूसरा वर्ष आरंभ होते ही विश्वासयोग्य पदवीधारियों की संख्या यहांतक बढ़ाई कि कॉलेज की स्थापना हस्तामलकवत् प्रतीत होने लगी। आपटे और तिलक गणित एवं संस्कृत की शिक्षा दे सकनेके लिए पूरी तरह तैयारी कर चुके थे। आगरकर अर्थशास्त्र और इतिहास में निष्णात थे ही। चिपलूनकर के अंग्रेजी और संस्कृत दोनों विषय तैयार थे। इसी प्रकार आपटे भी अंग्रेजी पढ़ाने योग्य सिद्ध हो चुके थे। गोळे ने पदार्थ-विज्ञान शास्त्र में एम्. ए. पास किया था और केलकर आंग्लविद्याविशारद कहलाने लगे थे। इस प्रकार सब शिक्षकों की तैयारी हो चुकी थी। दैवयोग से सन १८८२ में जब लार्ड रिपन का नियुक्त किया हुआ एज्युकेशन कमिशन घूमता हुआ बम्बई आया तब उसके योग से इस युवक-समाज की महत्वाकांक्षा सफल होने में बड़ी सहायता मिली। कमिशन के सन्मुख वामनराव आपटे ने अपनी डेक्कन एज्युकेशन सोसायटीका जो उच्च ध्येय उपस्थित किया, और सामान्यतः सरकारी सहायता प्राप्त करनेवाली शिक्षा संस्थाओं के अधिकार-सम्बन्धी जो पक्ष समर्थन किया, उसका प्रभाव कमिशन पर कैसा पड़ा, इसका पता कमिशन के अध्यक्ष सर विलियम हंटर के न्यू इँग्लिश स्कूल के सम्बन्ध में लिखे हुए रिमार्क (सम्मति) पर से लग सकता है, जिसका उल्लेख चतुर्थ प्रकरण में किया जा चुका है। कमिशन की ही तरह बम्बई विश्वविद्यालय के प्रधान व्यक्तियोंपर भी आपटे के कथन का ख़ासा प्रभाव पड़ा। प्रिंसिपॉल वर्ड्स्वर्थ, ऑक्सनहॅम्, डॉ० माकिकन प्रभृति यूरोपियन एवं भाण्डारकर, रानडे, तैलंग आदि भारतीय विद्वानोंपर न्यू स्कूल के लोगों का यहांतक प्रभाव पड़ा कि कॉलेज स्थापित करने की आज्ञा मांगी जानेपर क्षणमात्र का भी विलंब न कर वे मंजूरी देने को तैयार थे। श्री. चिपलूनकर शास्त्री की मृत्यु से पूर्व ही काशीनाथ-पंत तैलंग न्यू इँग्लिश स्कूल का निरीक्षण करने आ चुके थे। उन्होंने इस प्रभाव-शाली स्कूल एवं इसमें काम करनेवाले स्वार्थत्यागी विद्वानों की श्रम-शीलता

देखकर बड़ा आश्चर्य प्रकट किया था। साथ ही उन्होंने इन लोगोंसे यहांतक कह दिया था कि हाईकोर्ट में वकालत करनेकी अपेक्षा इस स्कूल में शिक्षक बनकर काम करनेसे मुझे कई गुना अधिक आनंद प्राप्त हो सकता है। किंतु उनकी इस इच्छा-पूर्ति में केवल एकही बाधा थी। वह यह कि उनके कमाये हुए रुपयोंके पहिले लाख की संख्या पूरी हो चुकी थी और दूसरे लाख की पूर्ति अभी हो रही थी।

एज्यूकेशन कमिशन के सन्मुख उपस्थित किये हुए वक्तव्य में श्री. आपटे ने निम्न लिखित बातोंपर जोर दिया था:—

(१) शिक्षा के सुभीते बढ़ाना (२) शिक्षा को अधिक सुलभ बनाना (३) सरकारी ढंग से दी जानेवाली शिक्षा में सुधार करना (४) प्राइवेट शिक्षा संस्थाओं को यथाशक्य स्वतंत्र रखना (५) सरकार से आर्थिक सहायता पाते हुए भी स्कूलों की अंतर्व्यवस्था का स्वतंत्र रहना (६) शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी के बदले देशी भाषा कर देना (७) शिक्षापद्धति में इंग्लैण्ड का अनुकरण न करके यहीं उसे नय स्वरूप देना। (८) शिक्षाविषयक पुस्तकें यहीं तैयार करवा कर उनसे शिक्षा देना (९) उच्च शिक्षा देने का अधिकार भारतीयों के हाथमें रखना। इन सब विषयोंको उन्होंने राष्ट्रीय-शिक्षा के नाम से उल्लेख किया था। कमिशन की ओरसे जिरह की जानेपर श्री. आपटे ने उक्त विषयों का बड़ी ही उत्तमता से समर्थन किया था। इस राष्ट्रीय शिक्षा का ध्येय शिक्षा के द्वारा पदवीधरों में परकीय संस्कृति के भाव न आने दे कर उन्हें देशाभिमानी बनाना ही था, और इसी के साथ २ उन सुशिक्षितों के द्वारा देश का सामाजिक एवं राजनैतिक सम्मान बढ़वाने एवं परिणाम में शांतिपूर्ण राज्यक्रान्ति करवाने की उन्हें अपेक्षा थी। सन १८८३ में अपनी संस्था का वार्षिक विवरण लिखते हुए सन १८८४ एवं ८५ में जो २ काम करना निश्चित किया गया था, उन सब का उल्लेख संचालकों ने निश्चित-रूपसे किया है। उन सब का हेतु निम्न शब्दोंद्वारा व्यक्त कर के बतलाया गया है:-

"We have undertaken this work of popular education with the firmest conviction and belief that of all the agents of human civilization Education is the only one that brings about Material, Moral and Religious regeneration of fallen countries and raises them up to the level of most advanced nations by *slow and peaceful revolutions*"

ता. २४ अक्टूबर सन १८८४ के दिन सर विलियम वेडरबर्न के सभापतित्व में गंद्रे के बाड़े में पूना शहर के प्रधान २ व्यक्तियों की सभा हुई, और

इसमें डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी की यथानियम स्थापना की गई। आरंभ में वेडरबर्न साहबने 'इंग्लिश स्कूल' के संचालकों की प्रशंसा की। तदनंतर श्री. आपटे ने सोसायटी की स्थापना का प्रस्ताव पेश करते हुए यह दिखलाया कि, कॉलेज आदि संस्थाओं की स्थापना का उपक्रम बिना जनता की यथेष्ट आर्थिक सहायता के नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार लोगों को इस बातका विश्वास कराने के लिए कि, उनके दिये हुए धनका सदुपयोग हो रहा है, प्रतिष्ठित पुरुषों की एक प्रबंधक समिति भी अवश्य बनाई जानी चाहिये। इस प्रकार की समिति के लिए सदस्य चुनने का प्रस्ताव श्री तिलक ने उपस्थित किया। और उस समिति में वेडरबर्न, वर्डस्वर्थ, तैलंग, नारायणभाई दांडेकर, यशवंत मोरेश्वर केलकर आदि सज्जन चुने गये। तीसरा प्रस्ताव डॉ. भाण्डारकर ने उपस्थित करते हुए कहा कि 'सात स्वार्थत्यागी एवं उदारचेता सुशिक्षित युवाओंने अपनेही साहस के भरोसे स्कूल चलाकर उसे ख्यातनामा बना दिया और अपनी कर्तव्यशीलता के आधारपर उन्होंने उसे लोगों के उदार आश्रय के योग्य भी सिद्ध कर दिखाया है।' विशेषतः तिलक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए डॉ. भाण्डारकर ने कहा कि "इन सप्त ऋषियों के अग्रस्थान में एक फर्स्ट क्लास एल् एल. बी. का भी नाम है। यदि यह युवक इस प्राईवेट शिक्षा के फेर में न पड़कर अपने हित के विचार से सरकारी नौकरी कर लेता तो अबतक रावसाहब बनकर आनंद से अपना जीवन बिता सकता था" इत्यादि। इन सब औपचारिक बातों के हो जाने-के बाद अंतमें श्री. मंडलीक और वर्डस्वर्थ को ट्रस्टी नियुक्त कर तथा सोसायटी के नियम स्वीकृत करा लेनेके बाद सभा विसर्जित हुई। प्रारंभिक सात सदस्यों में तिलक, आगरकर, नामजोशी, आपटे, केलकर, गोले और धारप, ये सज्जन थे।

सोसायटी की स्थापना एक प्रकारसे कॉलेज की स्थापना की नींव के ही समान थी। पांच वर्षतक न्यू इंग्लिश स्कूल जैसी संस्था को ज़ोर के साथ चलाकर उसके संस्थापकों ने कॉलेज चला सकनेकी अपनी योग्यता प्रकट कर दी थी। इसके बाद ता १३ फर्वरी सन १८८३ के दिन जब सर जेम्स फर्ग्यूसन न्यू इंग्लिश स्कूल के निरीक्षणार्थ आये, तभी से कॉलेजविषयक कल्पना विशेष बलवती हो चली थी। इसके बाद एक वर्ष पूरा संस्था के लिए धनसंग्रह करने एवं आश्रयदाता तैयार करने में व्यतीत हो गया।

सन १८८४ के दिसम्बर मास के प्रथम सप्ताह में बंबई विश्वविद्यालय की सिंडीकेट ने सेनेट सभा से सिफारिश की, कि पूनाकी हालहीं में डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी अपना निजी कॉलेज स्थापित करना चाहती है, अतएव उसे तीन वर्ष में पी. ई. की परीक्षा के लिए उम्मेदवार भेजने के लिए आज्ञा दे दी जाय, और

इस अवधिमें यदि सेनेट को इस बात का विश्वास हो जाय कि कॉलेज भली भांति चल सकेगा, तो फिर युनिवर्सिटी उसे अपनेसे सम्बद्ध करले। इस आनन्दमय वार्ता को श्री आगरकर ने निम्न लिखित विनोदपूर्ण शब्दों में प्रकट किया कि "इस फर्ग्युसन कॉलेजसम्बन्धी जादूका रहस्य हम शीघ्रही अपने पाठकों के सन्मुख प्रकट करनेवाले हैं, किन्तु उस प्रसंग के लिए हमारे पाठकों की ही तरह अन्यान्य लोगों को भी सावधान हो जाना चाहिये, क्यों कि उस वर्णन को पढ़ते ही उनकी जेब के रुपये निकल २ कर यदि दक्षिण भारत विद्याप्रसारक समिति के दफ्तर में पहुँचने लगें तो इसके लिए हम जबाबदार न होंगे।" इसी अवधिमें डेक्कन कॉलेज को लॉ–क्लास खोलने की आज्ञा मिल गई, और उसके लिए न्यायमूर्ति माधवराव रानड़े व्याख्याता भी नियुक्त कर दिये गये। किन्तु इसके लिए लोगों की राय यह रही कि यदि इस क्लास को येरोड़ापर डेक्कन कॉलेज में ही न रखकर येरोड़ा और पूना के बीच ससून हास्पिटल के पास ही किसी स्थान में खोला जाय तो डेक्कन–कॉलेज की ही तरह फर्ग्युसन कॉलेज के विद्यार्थी भी इससे लाभ उठा सकेंगे। अर्थात् फर्ग्युसन–कॉलेज की स्थापना से पहले ही लोग उसके लिए डेक्कन की बराबरी का अपना अधिकार प्रकट करने लगे।

ता. २ जनवरी सन १८८५ ई. के दिन फर्ग्युसन कॉलेज का उद्घाटन हुआ कॉलेज के विद्यार्थियों की संख्या के अनुमान से आरंभ के लिए गद्रेजी का वाड़ा (भवन) ही प्रर्याप्त था। और यद्यपि होलकर महाराजा की कृपा से यह वाड़ा स्थायी रूप से कॉलेज का हो चुका था, किन्तु फिर भी ऐसी इमारतों में कॉलेज को स्थायी रूप से रखना सुविधाजनक न था। अत एव सोसायटीनें सरकार से प्रार्थना की कि यदि कोई रुकावट पेश न होती हो तो हमें शनिवार बाड़ा (महल) कॉलेज के लिए दे दिये जाय। इसपर सरकार की ओरसे यह उत्तर मिला कि बाड़े की भूमि तो हम तुम्हें दे सकते हैं, किन्तु कॉलेज के लिए इमारतें तुम्हें अपने ख़र्चे से बँधवालेनी होगी। इस के बाद ही सरकारने शनिवार बाडेवाला स्थान देनेसे इनकार कर उसके बदले बुधवार–महल की भूमि देना मंजूर किया। थोड़े दिन बाद इसके बदले नाना साहब का वाड़ा देने की बात कही गई। किन्तु सोसायटी ने बुधवार बाड़ेवाला स्थान ही पसन्द किया। लगभग पांच हजार रुपये इकठ्ठे किये जा चुके थे, और सुप्रसिद्ध इंजिनियर श्री. वासुदेव बापूजी कानिटकर ने यह अनुमान प्रकट किया कि 'फरासखान और बुधवार महल' दोनों स्थान की संयुक्त भूमिपर सुविधाजनक भवन बनवाने में लगभग डेढ़ लाख रुपया ख़र्च होगा। उसका नक़शा बनाने एवं इमारत बँधवा देने की बात भी उन्होंने स्वीकार कर ली थी।

गुरुवार ता० २ मार्च सन १८८२ के दिन संध्यासमय कॉलेज की नई इमारत की नींव रखनेका उत्सव बड़े ठाटसे हुआ। सारे बुधवार पेठ के मार्गपर प्रचण्ड मण्डप बनाकर दोनों ओरसे नक्शाकारी के ही साथ २ सफेद चांदनी, बड़ी २ झंडियां और रंगबिरंगी पताकाएँ एवं केलके खम्भोंकी पंक्तिबद्ध बन्दनवारें लगाकर वह मार्ग ही सभाभवन बना दिया गया था। आरंभ में कॉलेज का प्रास्ताविक विवरण सुना दिया जानेपर सर जेम्स फर्ग्यूसन ने चिपलूनकर, तिलक, आपटे आदि का विशेषरूपसे नामनिर्देश कर उनके स्वदेशाभिमान की प्रशंसा करते हुए कहा कि "जिस स्थानपर मैं खड़ा हुआ हूं, वह इस देश के इतिहास में बड़ी विख्यात है। अतएव उसे इस सोसायटी को देकर सरकारने बड़ी योग्यता से अपना कर्तव्य पालन किया है।" इस समारोह से एक दिन पूर्व ही हुजूर पायगावाली जगह में कन्या-पाठशाला की नई इमारत की नींव रखी गई थी। यह स्थान श्रीमान सांगलीनरेश का था, और उन्होंने ११ वर्ष के वचनपर फीमेल् एज्यूकेशन सोसायटी को दे दिया था। उस समय सरकार या देशी रजवाड़ों के पास प्रजा को देने के लिए सामान्य शिक्षा से बढ़कर कोई देन ही न थी। मिरज के श्रीयुक्त खरेशास्त्री ने नाना फड़नवीस का चरित्र लिखते हुए अन्तमें इस बात का उल्लेख किया कि नाना फड़नवीस का पौत्र आजकल सरकारी हाईस्कूल की मैट्रिक-क्लास में पढ़ रहा है। अंग्रेजोंने पेशवाओं के प्रजाजनों को यदि बुधवार वाड़े की भग्नावशेष भूमि परभाषा एवं परविद्या की शिक्षा के लिए देदि तो इस घटना से व्यक्त होनेवाली अपकर्ष की ध्वनि के साथ खरेशास्त्री के उपर्युक्त वाक्य का अपकर्ष व्यंजन भाव पूरी तरह मेल खा जाता है। किन्तु इस विषय में ख़ास तौरपर कहनेयोग्य बात यह है कि फर्ग्यूसन कॉलेज की यह नींव एकदम व्यर्थ चली गई, और वहांसे उठा कर उसे चतुश्रृंगी के मैदान में ले जाना पड़ा।

आगे चलकर लिखने की बात यहीं संक्षेप में इस प्रकार कही जा सकती है कि, ता. ११ जनवरी सन १८९२ ई० को संध्यासमय फर्ग्यूसन कालेज की नींव बदली जाने की क्रिया बम्बई के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड हेरिस के हाथों बड़े समारोह के साथ की गई। बेचारे उस नींव के पत्थरको न तो किसी बात का सुख ही है और न दुःख ही। क्योंकि इससे पहले जब बुधवार चौक में उसकी समारोह के साथ स्थापना हुई थी तब भी उस का वही ठाट था, जो आज इस स्थानान्तर की क्रिया के समय रहा। अर्थात् दोनों ही बार उसे गवर्नर साहब के हाथों का स्पर्श हुआ। यद्यपि नींव दूसरी बार रखी गई थी और गवर्नर के हाथ भी दूसरे ही थे, किन्तु फिर भी पत्थर वही था। संस्थाओं का क्रम इसी प्रकार अखंड रहता,

है। सन १८६२ में फर्ग्यूसन कॉलेज में बी. ए. की कक्षा खोलने के लिए आज्ञा मिल जाने से कॉलेज पूर्णता को प्राप्त हो गया था, और यद्यपि तिलक फर्ग्यूसन कॉलेज की प्रोफेसरी छोड़ चुके थे, किन्तु फिर भी केवल संस्था के लिए उनके मनमें दुर्भाव उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं हो सकता था, और न उनके चित्तमें वह भाव था ही। ता. १२ जनवरी सन १८६२ के केसरी में तिलक लिखते हैं कि "चतुश्शृंगी के मैदान में इमारत खड़ी हो जानेपर कॉलेज के लिए उसकी योग्यता के अनुसार सत्तायुक्त भवन मिल जायगा। और जिस आधारपर न्यू इंग्लिश स्कूल एवं फर्ग्यूसन कॉलेज की रचना हुई है वह प्रति दिन दृढ़तर होकर गवर्नर साहब के कथनानुसार इन दोनों संस्थाओं के संचालकों की निरपेक्ष बुद्धि एवं परिश्रम के फल सम्पूर्ण महाराष्ट्र में दृष्टिगोचर होने लगें गे। कालेज के संचालकों की यह इच्छा पूर्ण होकर प्रजाद्वारा चलाये जानेवाले इस संस्था एवं इसके संचालकों के सद्धेतु के उत्कर्ष के लिए हम ईश्वर से मंगल-कामना करते हैं।"

फर्ग्यूसन कॉलेज स्थापित होते ही जहांतहां उसकी धाक खूब बैठ गई। आरंभ में केवल प्रीवियस क्लास के ही लिए आज्ञा मिली। किन्तु अध्यापकों की दृष्टि से यूनिवर्सिटी इस संस्थाके लिए कोई रुकावट न कर सकती थी। रही स्थान की कमी। सो जहां सातवीं कक्षा को तीन-तीन चार-चार भागों में बाँटकर काम चलाया जाता था, वहीं पी. ई. अर्थात् आठवीं कक्षा की एक श्रेणि चला सकना कौन कठिन कार्य था? साथही यूनिवर्सिटी को इस बात का भी पता था कि किसी संस्था के लिए एकदम ही अपनी बहुत बड़ी इमारत नहीं बँधवाई जा सकती, अतएव उसने न्यू इँग्लिश स्कूल के ही स्थान में कॉलेज की कक्षाएँ चलाने के लिए आज्ञा दे दी। फलतः गद्रे के भवनमें ही सुरू (वृक्ष विशेष) के दालानवाले मुख्य दीवानख़ाने में यह कक्षा सुरू की गई। विश्वविद्यालय की ओरसे कॉलेजपर देखरेख रख़नेके लिए एक समिति नियुक्त करनेकी शर्त भी लगा दी गई थी, किन्तु आरंभ से ही बोर्ड के लिए डॉ भाण्डारकर और ऑक्सनहॅम जैसे सज्जन सदस्य मिल जानेके कारण यह असुविधा भी दूर हो गई।

गद्रे वाड़ा, पूना के पेशवाकालीन गद्रे नामक प्रसिद्ध साहुकार का था। इसको गायकवाड़ महाराज ने ख़रीद लिया था। जिस समय इस भवनमें न्यू इँग्लिश स्कूल बदला गया, उन दिनों यह श्रीमती यमुनाबाई रानीसाहिबा की पुत्री तारा बाबा (सावंतवाड़ी की महाराज्ञी) के नामपर था। अतएव इस भवन को प्राप्त करने का कार्यभार तिलकपर डाला गया। जिनके नामपर यह भवन था, उन्हें इसकी कुछ भी आवश्यकता न थी। किन्तु फिर भी कभी २ ऐसा हो जाता है कि एक के लिए अनावश्यक वस्तु दूसरे किसी आवश्यकता-

ाले मनुष्य को सहज ही में नहीं मिल सकती। देखने में तो यह काम साधा-रणसा था, किंतु इसके लिए भी तिलक को दो तीन महीने तक लगातार प्रयत्न करना पड़ा। उस भवन को बेंच देनेके लिए प्रथमतः श्री. यमुनाबाई की सम्मति प्राप्त करनेकी जरूरत थी और उनकी सम्मति मिल जानेपर उनकी पुत्री उसके लिए आज्ञा दे सकती थी। किन्तु श्रीमती यमुनाबाई की अनुमति प्राप्त करने के लिए ऐसे मनुष्य की आवश्यकता थी जिसकी सलाह को वे मान सकें। ऐसे मनुष्य की खोज में तिलक को सितारा जिले की माया तहसील में कई दिन ठहरना पड़ा। मनमौजी एवं स्वच्छन्द मनुष्यों से कोई काम उनकी इच्छानुसार चलकर ही कराया जा सकता है। इसी लिए माया तहसील के इन महाशय से, अपना काम करा लेने के लिए कई दिनोंतक एक जगह ठहर कर किसी परराष्ट्रीय राजनीति की तरह तिलक को धीमेपन के साथ वकालत करनी पड़ी। यह की हो जानेपर वे बड़ौदा गये और वहांसे कागजपत्र लेकर इन्हें फिर सावंतवाड़ी जाना पड़ा। सावंतवाड़ी से आखिरी मंजूरी लेकर ये वेंगुर्ले होते हुए पूना लौटे। इस तरह गद्रे वाड़ा मिल जाने के बाद उसके पास ही के होल्कर बाड़े के लिए भी वचन मिल गया। अतएव इन दोनों भवन से आरंभ में स्कूल और कॉलेज दोनों का काम चल सकता था। पी ई. की कक्षा जहां बैठती थी, वह कमरा मेहराबदार था पर पूरी तरह प्रकाशयुक्त न था। अतएव आजकल कॉलेज के लिए सामान्यतः जिस प्रकार की इमारतें दी जाती हैं उस दृष्टि से फर्ग्यूसन कॉलेज को मिली हुई जगह विशेष स्फूर्ति-दायक नहीं कही जा सकती।

किन्तु यह बात हम निःसन्देह कह सकते हैं कि कॉलेज के लिए जो अध्यापक नियुक्त किये गये थे, वे हरतरह से स्फूर्तिदायक ही थे। श्री. आपटे की पढ़ाई अपने ढंग की अपूर्व ही होती थी। उनकी मौजूदगी में कोई चूं तक न कर सकता था। उनका संभाषण किसी प्रकार अधोचरित एवं तुतलापन लिए होता था। किंतु फिर भी उनका ढंग गर्वयुक्त एवं प्रतिष्ठापन की झलक लिये हुए होता था। कोई भी विद्यार्थी उनसे अतिपरिचय न कर सकता था। विषयान्तर करके वे अपना एक मिनट भी नहीं खोते थे। विद्यार्थियों के लिए चुन हुए उपयोगी नोट्स तैयार कर देते थे। गोखले के मुँहपर अभी ही मूछों की रेख बँधने लगी थी, और उनका गौर किन्तु कोमल मुखमण्डल एवं विनयशील स्वभाव शिक्षा के ही साथ २ विद्यार्थियों के चित्तपर बड़ा उत्तम प्रभाव डालता था। कक्षा के विद्यार्थियों में विद्यार्थी की ही तरह शोभित होने योग्य रहते हुए भी वे प्रोफेसर बन कर अवकों को पढ़ाते हैं, इसपर विद्यार्थियों को बड़ा आश्चर्य होता था। तिलक भी अपनी कक्षा में अत्यन्त मित भाषी रहते थे, और प्रधान विषय

को छोड़कर दूसरी बातों में वे क्षणभर भी समय न खोते थे। उस्तुरे धार की तरह उनकी बुद्धि की तीव्रता हाज़िर-जवाबी या अन्य किसी प्रकार शंका का यथार्थ निराकरण में दिखाई दे जाती थी। प्रो० केलकर की पद्धति भी आपटे की ही तरह थी। किन्तु उनकी व्याख्यानरूपी गाड़ी बड़ी तेजी के साथ दौड़ती थी। विद्यार्थी लोग उनके पास शकासमाधान करानेके लि प्रायः नहीं जाते थे, क्योंकि उनकी आदत ही कुछ इस प्रकार की थी कि सबसे पहले वे शंका करनेवाले विद्यार्थीपर ही टूट पड़ते और उसका मानमर्दन क देते थे। उनके नेत्र बड़े एवं चंचल होने के साथही किसी क़दर ज़र्दिया रं के थे, अतएव जिस विद्यार्थी की ओर रुख करके वे देखने लग जाते थे, यदि गंभीर न होता तो प्रायः भयभीत हो उठता था। श्री० गोले विशेष अ एवं हकलाकर बोलते थे। यद्यपि अनेक विषय के वे पारदर्शी विद्वान थे। केलकर की मेल ट्रेन के मुकाबले में उनके व्याख्यान प्रत्येक स्टेशनपर ठह जाकर किसी तरह मंजिल पूरी करनेवाली मालगाड़ी के समान प्रतीत होते थे आगरकर की कक्षा में जानेपर विद्यार्थियों को अपने घरकासा अनुभव ह लगता था। उनके प्रशान्त मुखमण्डलपर मुसक्यान की झलक निरन्तर दिख पड़ती थी। अतएव विशेषरूप से गंभीरता लानेके लिए वे जब आँखें ब करते या भौं चढ़ा लेते थे, तब भी विद्यार्थी यही समझते थे कि यह सब गंभ रता बहाना ही है। उन्हें श्वासरोग हो गया था, अतएव पढ़ते समय उन बारम्बार खांसना पड़ता था। किन्तु जब वे किसी विद्यार्थी की अज्ञानतापर अनुकम्पाभाव प्रकट करते थे, तब तो विद्यार्थी यह समझ कर की स्वास्थ्य की दृष्टि से अपने शिक्षक में भी अनुकम्पा को योग्य कोई बात है, क्षणभर के लिए उनसे तादात्म्य कर लेते थे। आगरकर की शिक्षापद्धति विद्यार्थियों के समक्ष में सहजही आने जैसी थी पर कुछ अधिक विस्तृत हो जाती थी। उन्हें याद आ जाने पर किसी विषय में वे क्या कह डालेंगे या अपने मुँहफट स्वभाव के अनुसार क्या बात बतला देंगे इसका कोई नियम ही न था। इसके बाद झगड़ा खड़ा हो जानेपर जब वे तिलकपर यह आक्षेप करते कि "तुम समयपर कक्षा में उपस्थित नहीं होते हो" तब तिलक उन्हें यह उत्तर दिया करते थे कि "तुम भलेही समयपर क्लास में चले जाते होगे किंतु मैं तुम्हारी तरह इधर-उधर व बातें सुनाने में अपना समय नहीं खोता। तुमने यदि घंटाभर पढ़ाया और पौन ही घंटा पढ़ाऊं तो भी दोनोंका योग समानही रहेगा।" सारांश कॉलेज के अध्यापकों की शिक्षापद्धति भिन्न रहनेपर भी वे विषयज्ञान की दृष्टि से अपने विषय के विद्वान एवं योग्य प्रोफेसर कहे जा सकते थे।

कॉलेज में तिलक ने गणित और संस्कृत दोनों ही विषयोंकी उत्कृष्ट शिक्षा दी। कालो तख़्ते की ओर न देखते हुए ज़बानी ही गणित के प्रश्न हलकरना संभवतः नीचेकी कक्षाओं में ही काम दे सकता है, किन्तु इस विचित्रता के कारण कॉलेज-कक्षा के सामान्य विद्यार्थियों को यदि कठिनाई पड़ जाती थी। संस्कृत में वे 'मेघदूत' और भर्तृहरि का नीतिशतक पढ़ाया करते थे। कहा जाता है कि इन के सिखानेका ढंग बड़ा मार्मिक होता था। तिलक के लेखों से निकट परिचय रखनेवालों को पता लग सकता है कि उन्हें गीता के बाद भर्तृहरिके 'नीतिशतक' के 'अवतरण' स्मरण हो आते थे।

कॉलेज शुरू होने के दो वर्ष बाद में ही उसे एक इष्ट आपत्ति का सामना करना पड़ा। अर्थात् फर्ग्यूसन कॉलेज के अध्यापकों को विद्वान एवं कॉलेज जैसी संस्था के चला सकने योग्य समझकर उस समय की उदार मतवादिता के कारण, बम्बई सरकार ने यह सोचा कि डेक्कन कॉलेज भी इन्हीं फर्ग्यूसन कॉलेज-वालों को सौंप दिया जाय। किन्तु इस उदारमतवादिता में किसी अंश में अनिष्ट हेतुओं का भी मिश्रण था। डेक्कन कॉलेज को सरकार डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी के गले मढ़कर अपने ख़र्च में कुछ बचत करना चाहती थी। और उसका कहना था कि यह बचत प्राथमिक शिक्षा के काम में खर्च की जायगी। संभव था कि वह ऐसा करती भी। किंतु इसमें मतभेद होनेके लिए स्थान था। प्रश्न था कि प्राथमिक शिक्षा कि ही तरह उच्च शिक्षा देनेका दायित्व भी सरकारपर है, या नहीं? तत्कालीन सरकार इसका उत्तर यों देती थी कि "अधिकतर नहीं।" और जनता का विशेष भाग यही कहता था कि नहीं, सारा भार तुम्हींपर है। और कुछभी हो, किन्तु यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि बम्बई सरकार ने स्वयमेव ही डे. ए. सोसायटी से चर्चा शुरू करके दोनों कॉलेज उसी के तंत्रानुसार चलाने एवं खर्च के लिए तेईस हजार रुपये सालना ग्रँट देने का मत प्रकट किया था। इस विचार से कि सोसायटी इस योजना को स्वीकार कर ले उसने यह भय भी दिखाया कि गुजरात और सिंध के कॉलेजों को सहायता देना सरकार के लिए अनिवार्य हो जाने एवं साथही डेक्कन कॉलेज की मौजूदा खर्च से बराबर चलते रहने के लिए आर्थिक दृष्टि से उसके असमर्थ होनेसे यदि सोसायटी कॉलेज न ले तो विवश होकर सरकार को डेक्कन कॉलेज बन्द कर देना पड़ेगा। वैसे डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी की यह इच्छा कभी नहीं थी कि वह इस कॉलेज को हाथमें ले किन्तु फिर भी सोसायटी के सदस्यों ने सोचा कि अपने हाथ में आजानेसे यह एक पुरातन संस्था डूब न सकेगी; फर्ग्यूसन कालेज नया एवं अपूर्ण है अतएव यदि वह डूब भी जाय तो भी संचालकों के हाथ में डेक्कन कॉलेज

रहेगा और वो सरकार को दिखा सकेंगे कि भारतवासी भी उच्च शिक्ष संस्था को स्वतंत्रता-पूर्वक चला कर उसे सफल बना सकते हैं। इसी खयाल प्रथमतः सोसायटी ने सरकार की बात मंजूर करली। वह बात भी ऐसी ही थी कि सोसायटी उसे मंजूर करती। यदि यह बात आती तो बारह वर्ष पूर्व तिलक जहां विद्यार्थि-जीवन व्यतीत किया था, वहीं वे प्रिंसिपाल या व्हाइस प्रिंसिपाल बनकर भी वे काम कर सकते थे।

किन्तु इस योजना में दो बाधाएं उपस्थित हो गईं। यद्यपि न्यू इंग्लिश स्कूल के संचालकों के सम्बन्ध में सबके चित्त से सन्देहवृत्ति एवं तुच्छता की भावना दूर हो चुकी थी, फिर भी पुराने लोगों को यह भय उत्पन्न हो चला था कि ये युवा लोग अपने स्वतंत्र बाने के कारण हमारे लिए कुछ ही दिन में भारी हो जायँगे। ऐसी दशा में डेक्कन कॉलेज भी यदि इनके हाथ में चला गया तो उस महत्त्वशालिनी संस्था के योग से इनकी महत्ता और भी बढ़ जायगी, यह बात उन्हें असह्य होने लगी। इधर उस कॉलेज के विषय में निरर्थक अभिमान धारण करनेवाले कुछ लोगों से भी न रहा गया। वे कहने लगे कि भारतीयों के हाथमें कॉलेज सौंप देना कोई खेल नहीं है। वहां पहले की ही तरह यूरोपियन प्रोफेसरों की प्रतिष्ठा होनी चाहिये। इत्यादि। अन्तमें जाकर क़ानूनी-विवादों की भी कमी न रहे इसी लिए मानों, सर जमशेटजी जीजीभाई आगे बढ़कर यों कहने लगे कि "मेरे बापदादों ने डेक्कन कॉलेज की इमारतोंके लिए लाखों रुपये दिये, वे इसी लिए कि यह संस्था सरकार के हाथ में रहे। यदि सरकार ने उसे भारतीयों के हाथ में सौंप दिया तो वह मृत दाताओं के साथ विश्वासघात करेगी"। अंतमें जाकर यह सूचित किया गया कि यदि फर्ग्यूसन कॉलेज-वालों को ही डेक्कन कॉलेज सौंपा जाता हो तो कमसेकम उसमें दो गोरे प्रोफेसर अवश्य रहें। अन्यथा यह कॉलेज ही डूब जायगा! इसके बाद सरकार ने संशोधित सूचना के रूप में यह बात प्रकट की कि डेक्कन कॉलेज के प्रबंध के लिए एक स्वतंत्र बोर्ड बनाया जाकर वह डे. ए. सोसायटी का ही एक भाग माना जाय। उसमें सोसायटी के ५।६ और सरकार के तीन प्रतिनिधि रहे। आर्थिक-दायित्व पूर्णतया सोसायटीपर ही रहे। सरकार दो योरोपियन प्रोफेसरों के आधे वेतन के लिए दस हजार एवं अन्य दस हजार मिलाकर बीस हजार रुपये की भेंट देती रहे। तीन हजार रुपये जो स्कॉलरशिप के लिए रखे गये हैं उनमें से एक हजार पार्सियोंके लिए रखा जाय। इतनी दूरीपर डेक्कन कॉलेज में पी. ई. की कक्षा न रखकर उसे शहर में ही रखने का प्रबन्ध किया जाय। शेष सब कक्षाएँ कॉलेज में ही रहे। किंतु यह व्यवस्था सोसायटी को सब प्रकार से

अनिष्ट-कारक प्रतीत हुई, अतएव उसने सरकार की योजना को अस्वीकार कर दिया। संयुक्त बोर्ड अच्छी तरह चल नहीं सकता था, और दो यूरोपियन प्रोफेसरों का रहना संस्था के लिए मनमानी करनेका कार्यक्रम बनाके अनर्थ करने-का तो कारण अवश्यही बन जाता। इस तरह यह कॉलेज मिशनरी संस्था जैसा बनकर सोसायटी पर सरकार का अधिकार बढ़ाने में सहायक हो जाता। यदि प्रबंध उत्तम हुआ तो उसका श्रेय भी यूरोपियनों को ही दिया जाता। अतएव इन सब बातों का विचार करके सोसायटी ने सरकार को यह सूचित कर इन्कार कर दिया कि, हम लोगोंपर ही पूर्ण-विश्वास हो तो सारा कॉलेज हमें सौंपकर यथेष्ट भेंट दी जाय अन्यथा हमें कॉलेज की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यह देख सरकार ने भी कह दिया कि फर्ग्यूसन कॉलेज को सहायता देने की सरकार के पिछले सब अभिवचन रद्द समझे जाँय, इसपर केसरीने आलोचना की थी कि 'डेक्कन कॉलेज न भी मिला तो पर्वा नहीं, किंतु उससे टक्कर लेनेके लिए पूने में फर्ग्यूसन कॉलेज हर हालतमें खड़ा ही रहेगा। यह भविष्य अंतमें जाकर सत्य सिद्ध हुआ, इसे सब जानतेही हैं।

भाग आठवाँ।

तिलक और आगरकर का विरोध।

तिलक और आगरकर जब न्यू इँग्लिश स्कूल में आये, तभीसे उनमें परस्पर सामाजिक विषयों का मत-भेद अंकुरित हो चुका था। बल्कि यदि यह भी कह दिया जाय कि उनके कॉलेजजीवन में ही इस विषय का बीजारोपण हो चुका था, तो भी अनुचित न होगा। इसी ग्रंथ के द्वितीय भाग के परिशिष्टपर से इस विषय का पता लग जाता है। फिर भी आरंभ में यह मत-भेद बढ़कर विवादास्पद नहीं बन पाया था। क्योंकि लोगों को इस बात का ज्ञान हो चुका था कि केसरी पत्र एक होनेपर भी उसमें लिखनेवाले अनेक हैं। अतएव पाठकसमाज की ही तरह लेखकवर्ग भी सहिष्णु बन गया था। और परस्पर मत-भेदसूचक लेख केसरी—मराठा में निकल जानेपर भी कोई उनके लिए शिकायत न करता था। इस ढंग के लेखों के लिए एक चतुराई की योजना के कारण ख़ासा मौका मिल जाता था। अर्थात् जब किसी लेखक को किसी विषयपर विरुद्ध—मत प्रकट करना हो अथवा किसी विषय में अत्युत्कट विचार प्रकट करने हों तो वह उसे अपने हस्ताक्षरसहित पत्रों में प्रकाशित करे या अपना नाम न देना चाहे तो संपादक उसे "प्राप्त-पत्र" के शीर्षक में प्रकाशित कर दें। इससे भाषा एवं विचारपद्धति को देखकर ही पाठक समझ लेंगे कि इसका लिखनेवाला कौन हो सकता है, और प्रत्येक व्यक्तिको भी अपने मत को प्रकाशित करने का श्रेय भी मिल जाय गा, साथ ही संपादकीय ध्येय भी चंचलता के दूषण से बच जाय गा। श्री. माधवराव गोले आदि सज्जन इस प्रकार के प्रच्छन्न (गुप्तनाम) लेख बड़ी रुचि के साथ लिखते थे। वैसे तो प्रायः केसरी से उनका मत मिलता ही रहता था, किन्तु जब मत-भेद हो जाता तब वे उपर्युक्त सुविधा से लाभ उठाया करते थे। केसरी के सम्पादकीय विभाग से उनका कोई ख़ास सम्बन्ध न रहने के कारण अपने मत की कट्टरता का प्रचार वे किसी भी प्रकार न कर सकते थे।

किन्तु आगरकर के विषय में यह बात नहीं थी। वे स्वतः संपादक थे, अतएव मत-भेद की असुविधा उनके लिए विशेष रूपसे बाधक हो जाती थी। यदि वे अपने ही मत को प्रकट करते तो न्यू इँग्लिश स्कूल में काम करनेवाले उन्हींके समान अधिकारियों के अप्रसन्न हो जाने की संभावना और यदि उनकी बात लिखी जाती तो वह उनकी अपनी विवेक—बुद्धि के विरुद्ध हो जाती थी। यदिप्राप्तपत्र के रूपमें छापते हैं तो अपने ही घर में स्वच्छन्दतापूर्वक उठने-

बैठने की चोरी का पाप लगता है, और यदि नाम दे कर वह लेख छापा जाता है, तो यह उक्ति चरितार्थ होती है कि मालिक मकान होते हुए भी खुद ही अपने लिए किरायेदार की तरह भाड़ा चिट्ठी लिख दे रहे हैं। किंतु फिर भी न्यू स्कूल के लोगों में प्रायः तिलक के ही ढंग के विचार रखनेवाले लोग अधिक थे, और आगरकर केसरी के संपादक रहनेपर भी उनके एकपक्षीय विचार दूसरों के लिए असह्य हो जाते थे, अतएव उन्हें शीघ्रही पीछे हटना पड़ा।

सन १८८१ केसरी के लिए प्रारंभिक वर्ष था, अतएव वह कौतुक के रूप में निकल गया। विष्णुशास्त्री चिपलूनकर सब लोगों में बड़े और प्रौढ़ विचारों-वाले थे, अतएव उन्हीं के आदेशानुसार पत्र चलाया जाता रहा। शास्त्रीजी और तिलक के बीच सामाजिक विषयों में विशेष मतभेद न था। सन १८८२ का पूरा वर्ष कोल्हापुर के मामले की गड़बड़ में व्यतीत हुआ। यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि पर राज्योंसे युद्ध छिड़ा रहनेपर स्वराज्य की जनता में प्रायः ऐक्यता बनी रहती है। यद्यपि सन १८८३ किसी प्रकार शांतिपूर्वक व्यतीत हुआ, और इस वर्ष में जो भी 'न्हाणवलीचा शास्त्रदृष्टया विचार' (अर्थात् नव-ऋतु-प्राप्ता के विषय में शास्त्रदृष्टि से विचार) तथा 'धर्माज्ञा पाळण्याची मर्यादा' (धर्माज्ञापालन की मर्यादा) आदि लेख केसरी में निकले सही, किन्तु रिपनशाही की सत्ता जोरोंपर रहनेके कारण इसके प्रातिनिधिक सत्ता, स्थानिक-स्वराज्य, इलबर्ट बिल् एवं आयर्लैंड आदि राज-नैतिक विषयों को ही विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ था। 'न्हाणवळी' वाले लेख में केवल इसी बात का समर्थन किया गया था कि 'गर्भाधानसस्कार वैकल्पिक है'। सूत्रग्रंथों में प्रचलित पद्धति के गर्भाधान-संस्कार की विधि वर्णित नहीं है, अतएव यदि इस सस्कार को कम भी कर दिया जाय तो उससे वैदिक धर्म के विरुद्ध आचरण नहीं हो जाता। कमसेकम पूने में निकलने-वाला "ऋतुप्राप्ता" का जुलूस बंद करा देने में तो कोई रुकावट नहीं आती। जान पड़ता है कि इसके लेखक तिलक ही थे।

किन्तु इस प्रकार की विचारपद्धति से ही सुशिक्षितों में दलबन्दी हो जाने-की सभावना नहीं थी। इस विषय के अंतिम लेख को समाप्त करते हुए लेखक ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया है कि केसरीका सामाजिक मत मध्यम श्रेणि की उदार मतवादिता का होगा। वह लिखता है कि 'व्यर्थ ही के लिए धर्म के विषय में हस्तक्षेप करके लोगों के चित्त दुखानेका इरादा केसरी का नहीं है। और न प्रार्थनासमाज, ब्रह्मसमाज या आर्यसमाज आदि के झगड़े में वह स्वेच्छा-पूर्वक पड़ना चाहता है। किन्तु फिर भी व्यवहारदृष्टि से अपना मत प्रकट

कर देना उसे आवश्यक जान पड़ता है। अतएव किसी निरर्थक अथवा ग्राम्य प्रथा को धर्म के साथ सम्बन्द्ध किया जाता है, (इस प्रकारकी प्रथाएँ बहुत अधि हैं, और सुविधानुसार उनपर विचार करने का हमारा इरादा भी है) तब उसं दोषोद्घाटन करनेमें केसरी कभी पीछे नहीं रह सकता। ऐसी दशा में उसे यदि धर्मपर क़लम उठानी पड़े तो वह बुरा नहीं समझता। जब कि गर्भाधानोत्स जैसी शुष्क एवं निरर्थक अथच ग्राम्य प्रथा हमसे नहीं छोड़ी जाती तो फि बालविवाहादि की बुरी प्रथाएँ कैसे दूर हो सकती हैं? ऐसे विषयोंपर निबंध लिख कर उसका स्वरूप लोगों के सन्मुख प्रकट करना केसरी अपना प्रधान कर्तव्य समझता है। जो लोग केवल मनमानी बकवाद करनेमें ही वीरता समझते हैं, वे अपनी इच्छानुसार केसरी को जीभर गाली देलें। अपने काम को केसरी यथामति पूरा करके ही रहेगा। "अनुहुंकुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी।"

हमारी समझ से उपर्युक्त छोटासा उद्धरण केसरी के सामाजिक और धार्मिक विषयों के अनादि ध्येय के संबन्ध में बहुतही उपयुक्त कहा जा सकता है। सामान्य शिक्षित समाज के ध्येय की ही तरह केसरी भी धर्मशास्त्र, एवं रूढ़ प्रथाओं के ही साथ २ व्यावहारिक विषयों की तात्त्विक चर्चा करके धर्मशास्त्र की सच्ची शिक्षा देते हुए उचित व्यवहार का मार्ग दिखाना चाहता था, किन्तु ये सब सुधार कार्य उसे शिक्षा और उपदेश के ही द्वारा पूर्ण करना था। अतएव ऐसी दशा में यदि उसे एकान्तिक-मतानुयायी पुरातन समाज से विवाद करना या उनके आक्षेप सहना पड़े तो इसके लिए भी वह तैयार रहता था। इसके विपरीत, जो बातें 'केसरी' करना नहीं चाहता था उनका भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। उदाहरणार्थः— शिक्षा के द्वारा केसरी लोगों की चित्तवृत्ति को उदार बनाना चाहता था अर्थात् अपनी उदारवादिता की सिद्धि के लिए उसे विदेशियों की, विशेषतः सरकारी क़ानून आदिकी, सहायता अपेक्षित न थी। इसी प्रकार धर्म की चर्चा करके रूढ़ी एवं शास्त्र का मतभेद प्रकट करते हुए सारासार विचार प्रवर्तित करने को केसरी तैयार था, किन्तु फिरभी उसकी इच्छा किसी नये धर्म को चलानेकी न थी बल्कि वह अपने सनातन धर्म का अभिमान ही दृढ़ करना चाहता था।

यह विचार अकेले तिलक के ही न थे, बरन् न्यू इँग्लिश स्कूल का बहुमत भी उन्हीं के पक्ष में था। किंतु आगरकर अपने एकान्तिक विचार एवं स्वेच्छाचारी स्वभाव के कारण अकेले ही उनसे अलग हो जाते थे। सन १८८३ के केसरी की फाइल टटोलनेसे उसमें सामाजिक, अथवा जिन्हें हम 'सुधारक' मत के कह

सकते है ऐसे अनेक विषयों के लेख दिखाई देंगे। किन्तु सन १८८४ से न्यू इंग्लिश स्कूल के कार्यकर्ताओं में सामाजिक मत-भेद के झगड़े शुरू हो गये, इसका मूल कारण यह प्रश्न था कि बाल-विवाह की रोक के लिए सरकारी कानून की सहायता ली जाय या नहीं? बंबई के सेठ मलबारी सहायता लेनेका समर्थन करते थे और राज-दरबार में उनकी रसाई होने के कारण लोगों के मनमें इस बात की आशंका उत्पन्न हो गई थी कि सरकार कहीं इस बात का क़ानून ही न बना दे! फलतः इस विषयपर ज़ोर का विवाद छिड़ गया। मलबारी सेठ का कहना था कि "बाल-विवाह की रोक के लिए कम उमर में ब्याहे हुए लड़कों को यूनीवर्सिटी की परीक्षा में न बैठने दिया जाय, और न उन्हें किसी सरकारी विभाग में नौकरी ही दी जाय। तथा इसी के साथ २ सरकार क़ानूनद्वारा इस प्रथा को रोके।" जब इस विषयपर अपना मत प्रकट करने का केसरी के लिए मौका आया, तब बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई। सुधारक लोगों में भी एक ओर रानडे, कुंटे, मोडक आदि थे तो दूसरी ओर तैलंग आदि, इस प्रकार दो दल हो रहे थे। सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक पत्र में जो लेख निकला था उसमें इस विषयपर मिश्रित विचार प्रकट किये गये थे। उसीको अनुसार केसरी में भी द्विमत दिखाई देने लगा। ता. १८ नवम्बर सन १८८४ के केसरी में जो लेख निकला था वह तैलंग के पक्ष के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार का था, किन्तु ता. २५ नवम्बर के अंक में ही संपादकजी ने यह प्रकट कर दिया कि "बाल-विवाह का निषेध कानूनद्वारा किया जाय अथवा नहीं, इस विषयपर हम अपना कोई स्पष्ट मत प्रकट नहीं करना चाहते।"

'केसरी' ने कानून की सहायता लेनेवाले तथा न लेनेवाले दोनों ही पक्षों के मन्तव्य विस्तारपूर्वक प्रकट करनेमें ही अपने कई अंक भर दिये। ता. २ दिसम्बर के अंक में तो यह शीर्षक देकर कि "कानून के पक्षपाती-मित्रद्वय का कथन इस प्रकार है" पूरा एक लेख अवतरण चिन्हों में ही संपादकीय-टिप्पणियोंवाले स्तंभ के नीचे छापा गया! किन्तु अंतमें यह समस्या ता. १६ दिसम्बर सन १८८४ के अंक में केसरी-संपादक श्री. आगरकरद्वारा अपने हस्ताक्षरसहित निजी व्यक्तिगत मत प्रकट करनेपर हल हुई। उस लेख में आगरकर लिखते हैं कि 'बाल-विवाह कि रोक के लिए सभादि स्थापित करने का विचार निकम्मा सिद्ध होता है। यद्यपि रॉबर्ट नॉइट के लेखपर से हमें प्रतिबन्धक क़ानून की कल्पना सूझी है, किंतु हमारे ही कुछ मित्रों को ऐसा होना पसंद न आया, अतएव आज तीन वर्षों से इस प्रश्न पर बराबर चर्चा होती आ रही है किंतु 'मलबारी सेठ ने जब से इस प्रश्न को हाथ में लिया है, तभीसे

जनता प्रायः बिगड़ उठी है, इसी लिए हमें भी अपना स्पष्ट मत प्रकट करने। आवश्यकता प्रतीत हुई।'

प्रश्न हो सकता है कि जब आगरकर खुदही केसरी के संपादक थे तब क्य कारण हो सकता है कि वे अपने ही पत्र में अपने नाम से लेख छापें? इसक उत्तर आगरकर ने इस प्रकार दिया है कि "नाम देकर लेख छापनेमें आगरक कोई महत्ता नहीं समझते। किंतु बाल-विवाह-निषेधक साधनों के विषय में उनके विचार उनके मित्रों से नहीं मिलते, अतएव विवश होकर उन्हें इस मार्ग का अवलंबन करना पड़ा है। मेरे प्राणप्रिय मित्रों ने हमारे आरंभित संयुक्त उद्योग का दायित्व प्रत्येकपर थोडे २ अंश में विभक्त कर देने का प्रस्ताव करके मेरे सिर 'केसरी' का प्रकाशनभार डाल दिया है, अतएव महत्त्वके प्रश्नोंपर 'केसरी' अपने संपादकीय स्तंभ में जो मत प्रकट करता है, वह मेरी पसदगी का होनेके साथही अधिकांश हमारे मित्र भी उसके साथ अवश्य सहमत होते हैं। अन्य विषयों में प्राय वे पूर्णतया सहमत होते है किन्तु इस विषयमें ९९$\frac{3}{4}$ भाग में वे सहमत होते हैं किन्तु $\frac{1}{4}$ अंश में मेरा विरोध है, और वह हम लोगों को महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। आजतक अपने मित्रोंपर अपने स्वतंत्र विचार ज़बरन् न लादते हुए इस विषयपर जितने लेख लिखे जा सके, वे मैंने लिख डाले, किन्तु आजकल इस प्रश्न ने पूने में बिकट रूप धारण कर लिया है, अतएव मित्रों के लिए दब २ का लेख लिखने का ढंग छोड़ कर एक बार स्वतंत्रतापूर्वक कानूनवालों का पक्ष प्रकट कर देने की मेरी इच्छा है। विरुद्ध पक्ष में 'मराठा' सरीखे रथी महार धनुष्य चढ़ा कर बाण छोड़ रहे हैं। अतएव केसरी महाराज भी शीघ्रही अप पंजों में फँसे हुए लोगों पर आक्रमण करनेवाले हैं। इस प्रकार की भयंक मारकट से अपनी जान बचा कर निकल जाना बड़ा ही श्रेयस्कर कहा जा सकता है। ता. १६ दिसम्बर के अंक में प्रकाशित आगरकर का हस्ताक्षरयुक्त लेख अपूर्ण छपा है, किन्तु ता २३ या ३० के अंक में भी लेख पूरा होता नहीं दिखाई देता। समझमें नहीं आता कि इसका कारण क्या है। यहांतक कि सन १८८५ के जनवरी के अंक में भी इसे विषय की पूर्णता होती नहीं देखी जाती। इस का कारण कदाचित् यह हो कि सन १८८५ की २ जनवरी को फर्ग्यूसन कॉलेज की स्थापना को महोत्सव होनेके कारण उस उत्सव प्रसंग पर इस मतभेदवाले सामाजिक प्रश्न को भुला दिया गया हो।

किन्तु फिर भी यह न समझ लेना चाहिये कि इस विवाद की यहां समाप्ति हो गई थी। बम्बई सरकार ने बाल-विवाह के प्रश्नपर विद्वान लोगों से सम्मति मांगी थी; और इसके बाद मलबारी सेठने इसी बाल-विवाह की जोड़ में असम्मत

वैधव्य को भी क़ानूनद्वारा रोकने का प्रश्न खड़ा कर दिया था। किन्तु इसी समय से आगरकर का पक्ष गिर कर उनके विरुद्ध लेख केसरी में लगातार छप रहे थे। ऐसा मौका फिर कभी न आया कि आगरकर को अपने हस्ताक्षरसहित कोई लेख प्रकाशित करना पड़ा हो। इसी वर्ष से न्यायमूर्ति रानडे के मतपर केसरी में प्रकाश्यरूप से घावें होने लगे थे। ता. १२ मई सन् १८८९ के केसरी में उस वर्ष के डेक्कन कॉलेज के सम्मेलन प्रसंगपर भाषण हुए थे। उनमें अधिकांश धर्म एवं समाज-विषयक होनेके कारण भाण्डारकर एवं रानडे के लिए क्रोध उत्पन्न करनेवाले थे। उन्हींको लक्ष्य करके (केसरी का) एक संवाददाता इस प्रकार लिखता है कि "आक्षेपकों के बोलने का प्रवाह जब धर्म की ओर बढ़ चला, तब रानडे जैसे शीत एवं गंभीरवृत्ति के पुरुष को भी अपनी वृत्तिपर क़ाबू रखना कठिन हो गया। उस दशा में उन्हों ने जो वाक्प्रहार किया उसके सामने तो लोगों को यहां-तक भय प्रतीत हुआ कि कहीं स्पेंसर, मिल्, लेके, सेजविक् जैसे महान् तत्ववेत्ता एवं डेक्कन कॉलेज के प्रिंसिपाल सेल्बी साहब तथा फर्ग्यूसन कालेज के युवा भारतीय प्रोफेसर एवं उभय कॉलेज के धर्ममूढ़ विद्यार्थियोंतक की हार तो नहीं हो जायगी! रानडे अपनी शान्त प्रकृति के नाते सर्वप्रसिद्ध हैं, किंतु उनके जो निजी मत बहुत समय से उनके हृदय में घर कर चुके हैं, उनपर यदि कोई आक्षेप करे तो वे भी साधारण व्यक्ति की तरह अपने ही मत की सत्यता का आग्रह धारण कर संतप्त हो उठते हैं। ज्ञात होता है कि यदि भारतवर्ष स्वतंत्र होता और उसमें यदि पोप के पदपर नियुक्त किये जाते तो अवश्य ही उन्होंने धर्म-युद्ध आरंभ करा दिये होते।

किन्तु सन १८८९ से केसरी में पहले की तरह सामाजिक विषय छपना कम होकर राजनैतिक औद्योगिक एवं परराष्ट्रीय विचारों से सम्बन्ध रखनेवाले लेखों का ही प्रमाण बढ़ चला। समाज-सुधारकों की ओरसे क़ानून का पक्ष अधिक खींचा जानेके कारण विरुद्धपक्ष में सनातन धर्म के अनुकूल प्रतिक्रिया शुरू हो गई। श्री. कुंटे के लिए आदर भाव तो वैसे ही घट चला था, किन्तु अब रानडे और भाण्डारकर के सामाजिक एवं धार्मिक मतपर भी केसरी और मराठा की ओरसे खुल्लम्खुल्ला आलोचनाएँ होने लगी। ता. ६ जून सन १८८९ के केसरी में "ऑनरेबल रायबहादुर भ्रष्ट हो गये" इस शीर्षक से एक आलो-चनात्मक अग्रलेख प्रकाशित हुआ। उसका सारांश केवल यही था कि रा.बहादुर रानडे के कुछ उद्गारों से इस बात की गंध आती थी कि उन्हें अपने प्रार्थनासमाज में जानेपर दुःख हुआ है। श्री. रानडे हिन्दूधर्म की महत्ता गाने लगे और वर्णसंकरों के विषय में उद्गार प्रकट करते हुए उन्हें भय प्रतीत

होने लगा, अतएव वे पुनः सनातन धर्म में आश्रय पाने की इच्छा करने लगे। यहांतक कि वे पाठशालाओं में शिवकवच और रामरक्षादि स्तोत्रों का पाठ कराने एवं उपहार वितरणोत्सव की ही तरह श्रावणी आदि के कर्म भी स्कूलों में ही किये जानेका उपदेश देने लगे। इन बातों का उल्लेख करते हुए केसरी लिखता है कि "हम हिन्दू धर्माभिमानियों के लिए यह बात बडे ही हर्ष की हैं। किन्तु समाजियों को जब इस का भलीभांति पता लगेगा, तब उन्हें अत्यंत खेद होगा और वे अपने एक महान् आधार को नष्ट हुआ समझकर दीर्घकालपर्यंत अशौच मनावेंगे"। रानड़े और भाण्डारकर दोनों ही डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी की नियामक सभा के नेता थे, अतएव इन दोनों के स्नेह-सम्बन्ध में यह मत-भेद बाधक होने लगा। इधर आगरकर आदिने भी उतने ही प्रकाश्यरूप से रानड़ेदल का समर्थन शुरू कर दिया। फलतः स्कूल और उसके बाहर दोनों ही स्थानों में झगड़े शुरू हो गये।

इतनेपर भी केसरी में "उत्तम न्हाविणी पाहिजेत" (उत्तम नाइन-[दाई!] की आवश्यकता) जैसे लेखों को छापने के लिए "प्राप्त पत्र" का शीर्षक देकर अग्रलेख के स्थानका आगरकर अपने दायमी अधिकार के बलपर उपयोग कर सकते थे। बेचारे समाचारपत्रों के कालम तो उस झगड़े को इस हद से आगे न बढ़ा सकते थे, किन्तु सोसायटी के निजी झगडे बे तरह बढ़ रहे थे। केसरी को देखनेपर तो उसमें निर्विवाद राजनैतिक विषयोंपर ही अधिक लेख छपते रहनेके कारण बाह्यतः लोग सब प्रकार शांति समझते थे, किन्तु अन्दर कितनी गड़बड़ मची हुई थी, इसे जो जानता था, वही जान सकताथा। "पहले सामाजिक या पहले राजनैतिक" नामक वादग्रस्त विषय की चर्चा का दंगल भी अभी आगे होने का था। किन्तु ता. १९ सितंबर सन १८८९ के केसरी में सम्पादक ने अपना निश्चित मत प्रकट कर दिया था कि "परतंत्रता के कारण हमारी स्थिति ही ऐसी हो गई है कि बिना राजनैतिक बातों का सुधार हुए हमारी सामाजिक अवस्था कभी सुधर ही नहीं सकती। इस पर से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि उस दिनों आगरकर का पक्ष पीछे पड गया था तथा केसरी के थाने पर तिलक-पक्ष की पूर्ण सत्ता कायम हो गई थी और यह बात डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी को भी मान्य थी।

दैवयोग से उसी अवसर पर सेठ मलबारीके उद्योग में बाधा पहुँचाने वाला एक प्रतिष्ठित युरोपियन मिल गया। उसने सेठजी को यह उत्तर दिया कि "तुम्हारी शीघ्रता के कारण सारे प्रयत्नोंका अनुकूल परिणाम न हो सकेगा। यह ठीक है कि बाल-विवाह के परिणाम बुरे होते हैं, किंतु कुछ सुधारक लोग

प्रकारण ही उस की अतिशयोक्ति कर डालते हैं। हिन्दु विधवाओं की स्थिति इटली देशकी मठ-वासिनी अविवाहिता स्त्रियों से अधिक बुरी न होगी। इसी प्रकार वैधव्यावस्था एकदम ही असंगत नहीं पाई जाती। क्योंकि कुछ विधवाओं को उसीमें सुखका अनुभव होता है सो कितनी ही उसे धर्मश्रद्धा के बलपर सहन करती होंगी। कई एक का दुःख मनोनुकूल व्यवसायों में लग जानेके कारण विस्मृत हो जाता होगा। अतएव यही सुधारणा स्थायीरूप धारण कर सकती है, जोकि लोगों को शिक्षित बनाकर गणित के नियमानुसार सच्चे या झूंठे शास्त्र की चर्चा कर निश्चित की जायगी। लोगों में नये प्रकार से उत्साह उत्पन्न करना चाहिये। क्योंकि राजनैतिक सुधारोंका सामाजिक सुधारपर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है; और इंग्लैण्ड ऐसे देशमें भी केवल प्रमाणसिद्ध शास्त्र एवं राजनैतिक शिक्षा इन दोही बातों के द्वारा समाज-सुधार हुआ है।" इसी प्रकार का युक्तिवाद वर्ड्स्वर्थ साहब ने बड़ी ही शांति के साथ सेठजी के सन्मुख उपस्थित किया था और सर विलियम वेडरबर्न का मत भी इसी प्रकार का था।

सौभाग्यवश श्री. काशीनाथपंत तैलंग ने भी ता. २२ फर्वरी सन १८८६ के दिन बम्बई की एक सभा में अपने व्याख्यानद्वारा इसी मत का समर्थन किया। तैलंग महाशय के विषयमें यह बात मशहूर थी कि जिस प्रकार जिव्हा को द्राक्ष की मधुरता का भान होता है, उसी प्रकार तैलंग का भाषण भी कर्णप्रिय होता था। उस भाषण को सुनते समय ऐसा प्रतीत होता था मानों कोई स्वच्छ जलका प्रवाह मंजुल कल-कल शब्द करता हुआ बह रहा हो। विपक्षी लोग भी उनका भाषण मनःपूर्वक सुनते थे, और जब कभी समझौते का युक्तिवाद उनके भाषण का विषय होता था तब तो उनके भाषण की सरसता बहुत ही बढ़ जाती थी। प्रस्तुत व्याख्यान में उन्होंने यही सिद्धान्त प्रकट किया था कि अमुक प्रकार की सामाजिक सुधारणा होनेपर ही अमुक प्रकार की राजनैतिक स्थिति प्राप्त हो सकेगी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं कि सामाजिक सुधार से पहले राजनैतिक सुधार कियेही न जाँय। हिन्दु-गृहों को जो लोग गुलामखाने समझते हैं, उनका कथन भी कभी सच्चा नहीं माना जा सकता, क्यों कि छत्रपति शिवाजी अथवा पेशवा लोग बाल-विवाह की स्थिति मे उत्पन्न हुए थे, और फिर भी उन्होंने जो पराक्रम कर दिखाया, उसे अंग्रेजी पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संस्कृति का आधारतक न था। सातवीं शताब्दिकी हिन्दुगृहस्थी हमारी आज की स्थिति से अधिक अच्छी न थी। किन्तु फिर भी राजनैतिक अवस्था अत्यंत उज्ज्वल थी। इंग्लैण्ड के ट्यूडर राजा से झगड़कर जिन्होंने अधिकार प्राप्त किये, उनकी भी गृहस्थिति सर्वोत्तम नहीं थी। अंग्रेजों

होने लगा, अतएव वे पुनः सनातन धर्म में आश्रय पाने की इच्छा करने लगे। यहांतक कि वे पाठशालाओं में शिवकवच और रामरक्षादि स्तोत्रों का पाठ करने एवं उपहार वितरणोत्सव की ही तरह श्रावणी आदि के कर्म भी स्कूलों में ही किये जानेका उपदेश देने लगे। इन बातों का उल्लेख करते हुए केसरी लिखता है कि "हम हिन्दू धर्माभिमानियों के लिए यह बात बड़े ही हर्ष की है। किंतु समाजियों को जब इस का भलीभांति पता लगेगा, तब उन्हें अत्यंत खेद होगा और वे अपने एक महान् आधार को नष्ट हुआ समझकर दीर्घकालपर्यंत शोक मनावेंगे"। रानडे और भाण्डारकर दोनों ही डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी की नियामक सभा के नेता थे, अतएव इन दोनों के मेल-सम्बन्ध में यह बात भी बाधक होने लगा। इधर आगरकर आदिने भी उतने ही महाराष्ट्र में रानडेदल का समर्थन शुरू कर दिया। फलतः स्कूल और उसके बाहर दोनों में

कारण ही उस की अतिशयोक्ति कर डालते हैं। हिन्दु विधवाओं की स्थिति इटली देशकी मठ-वासिनी अविवाहिता स्त्रियों से अधिक बुरी न होगी। इसी प्रकार व्यवस्था एकदम ही असंमत नहीं पाई जाती। क्योंकि कुछ विधवाओं को उसीमें सुखका अनुभव होता है तो कितनी ही उसे धर्मश्रद्धा के बलपर सहन करती होंगी। कई एक का दुःख मनोनुकूल व्यवसायों में लग जानेके कारण विस्मृत हो जाता होगा। अतएव वही सुधारणा स्थायीरूप धारण कर सकती है, जोकि लोगों को शिक्षित बनाकर गणित के नियमानुसार सच्चे या झूंठे शास्त्र की चर्चा कर निश्चित की जायगी। लोगों में नये प्रकार से उत्साह उत्पन्न करना चाहिये। क्योंकि राजनैतिक सुधारोंका सामाजिक सुधारपर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है; और इँग्लैण्ड ऐसे देशमें भी केवल प्रमाणसिद्ध शास्त्र एवं राजनैतिक शिक्षा इन दोही बातों के द्वारा समाज-सुधार हुआ है।" इसी प्रकार का युक्तिवाद वर्ड्स्वर्थ साहब ने बड़ी ही शांति के साथ सेठजी के सन्मुख उपस्थित किया था और सर विलियम वेडरबर्न का मत भी इसी प्रकार का था।

सौभाग्यवश श्री. काशीनाथपंत तैलंग ने भी ता. २२ फर्वरी सन १८८६ के दिन बम्बई की एक सभा में अपने व्याख्यानद्वारा इसी मत का समर्थन किया। तैलंग महाशय के विषयमें यह बात मशहूर थी कि जिस प्रकार जिव्हा को द्राक्ष की मधुरता का भान होता है, उसी प्रकार तैलंग का भाषण भी कर्णप्रिय होता था। उस भाषण को सुनते समय ऐसा प्रतीत होता था मानों कोई स्वच्छ जलका प्रवाह मंजुल कल-कल शब्द करता हुआ बह रहा हो। विपक्षी लोग भी उनका भाषण मनःपूर्वक सुनते थे, और जब कभी समझौते का युक्तिवाद उनके भाषण का विषय होता था तब तो उनके भाषण की सरसता बहुत ही बढ़ जाती थी। प्रस्तुत व्याख्यान में उन्होंने यही सिद्धान्त प्रकट किया था कि अमुक प्रकार की सामाजिक सुधारणा होनेपर ही अमुक प्रकार की राजनैतिक स्थिति प्राप्त हो सकेगी, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं कि सामाजिक सुधार से पहले राजनैतिक सुधार कियेही न जाँय। हिन्दु-गृहों को जो लोग गुलामखाने समझते हैं, उनका कथन भी कभी सच्चा नहीं माना जा सकता, क्यों कि छत्रपति शिवाजी अथवा पेशवा लोग बाल-विवाह की स्थिति में उत्पन्न हुए थे, और फिर भी उन्होंने जो पराक्रम कर दिखाया, उसे अंग्रेजी पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संस्कृति का आधारतक न था। सातवीं शताब्दिकी हिन्दूगृहस्थी हमारी आज की स्थिति से अधिक अच्छी न थी। किन्तु फिर भी राजनैतिक अवस्था अत्यंत उज्ज्वल थी। इँग्लैण्ड के ट्यूडर राजा से झगड़कर जिन्होंने अधिकार प्राप्त किये, उनकी भी गृहस्थिति सर्वोत्तम नहीं थी। अंग्रेजों

थाये आनेका विचार हुआ है। इस सभा के संयोजकों का मूल उद्देश यह है कि समग्र भारतवर्ष के लिए आवश्यक जितने भी सामाजिक विषय हैं उनकी चर्चा होकर सरकार से जिन २ अधिकारों के प्राप्त करने का निश्चय हो, एवं उन के सम्पादनार्थ जिन २ उपायों की योजना की जाय, उनकी पूर्ति के लिए समस्त देशवासी एकमत होकर प्रयत्न करें। इस उद्देश्यके सिद्ध हो जानेपर ब्रिटिश सरकार की सत्ता के नीचे अबतक संकुचितरूप से महाराष्ट्र, कर्नाटक, बंगाल, सिन्ध, मध्य प्रदेश, संयुक्त प्रदेश, एवं सीमान्त प्रदेशादि के रूपमें जो राष्ट्रमणि बिखरे हुए पड़े हैं वे सब अन्योन्य साधारण्य कार्यरूपी सोनेकी लड़ी में पिरोये जाकर राष्ट्रीय सम्बन्ध में एकमाला के रूप में गठित हो जायँगे। और ऐसा हो जानेपर "कलौ संघे शक्तिः" वाली उक्ति चरितार्थ हो कर हमारे सुधार की गति अबसे कहीं अधिक शीघ्रगामी हो सकेगी। इस प्रकार की महासभाओं का सच्चा स्वरूप बिना दूरदर्शी मनुष्य के दूसरा कोई नहीं समझ सकता। किंतु जो लोग इतिहास के पठन या मननद्वारा इस बातको समझ चुके हैं कि राष्ट्रीय सुधार किस प्रकार होते है, वे इस कान्फ्रेंस के संयोजकों को धन्यवाद दिये बिना न रह सकेंगे। आरंभ में तो यह सभा गुड़ियों के खेल की ही तरह होगी, किन्तु बिना ऐसा हुए उसे पार्लमेन्ट का स्वरूप भी कभी प्राप्त नहीं हो सकता। इन दिनों देशकी परिस्थिती ही कुछ इस प्रकार की हो गई है कि बिना इस ढंग के प्रयत्न किये हम लोगों का काम ही नहीं चल सकता।"

बलवन्तरावजी तिलक पहले ही से यह मत निश्चित कर चुके थे कि श्री. तलंग के कथनानुसार अधिकांश लोगों को राजनैतिक और कुछ लोगों को सामाजिक सुधार का काम हाथ में लेना चाहिये, और यदि इन दोनों सुधारों के विषय में श्रम-विभाग करदिया जाय तो और भी अच्छा हो। इसी प्रकार उनपर किया जानेवाला यह आक्षेप भी प्रसिद्ध हैं कि 'तिलक केवल राजनैतिक सुधारों के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं, और समाजसुधार की ओर वे ध्यान तक नहीं देते'। उनका तो यह मत आरंभ ही से न था कि राजनैतिक और सामाजिक सुधार की खिचड़ी एक साथ ही पकाई जाय। इसी प्रकार सोसायटी भी यह नहीं चाहती थी। यही कारण है कि ता० ४ जनवरी सन् १८८७ के केसरी में इस प्रकार की मिश्रित राष्ट्रीय सभा की कल्पना का विरोध किया गयाका पता लगता है। यद्यपि उपर्युक्त कथनानुसार राष्ट्रीय महासभा के संयोजकों के मूल उद्देश्य में राजनैतिक और सामाजिक दोनों ही विषयों का मिश्रण हो गया था, किंतु प्रथम महासभा में जो कुछ प्रस्ताव हुए अथवा जिस प्रकार की चर्चा हुई वे अधिकांश राजनैतिक स्वरूप के ही थे। इसपर से स्पष्ट

से धर्म में हस्तक्षेप किया जाना महारानी की घोषणा के एकदम विरुद्ध है।" इसपर गवर्नर साहब ने भी यही उत्तर दिया कि "ऐसे विषयोंमे सरकार एकतर्फा फैसला नहीं करेगी। मोल्हिल साहब ने जो मस्विदा तैयार किया है, वह व्यक्तिशः उन्हीं के मतानुसार है।"

इसके बाद गवर्नरसाहब से शास्त्री लोगों से यह भी कह दिया कि "वर्तमान काल में प्रचलित एवं सचमुचमें अनिष्ट-कारक प्रथाओं सुधार करनेके लिए यदि सरकार को छोड़ भी दिया जाय तो आप पुरातन प्रथा के समर्थक लोग ही खुद क्या प्रयत्न करते हैं?" इसपर शास्त्री लोगों ने यह उत्तर दिया कि "शास्त्र-आज्ञा के अनुसार आचरण के नियम बनानेके लिए हम लोग शीघ्रही एक संस्था स्थापित करनेवाले हैं"। इसके अंतमें जाते २ शास्त्रियोंने सरकार की ओरसे संस्कृत विद्या को विशेषरूप से आश्रय दिये जानेकी प्रार्थना की। किंतु उसे गवर्नर साहब ने यह कहकर टाल दिया कि खर्च में कमी करनेके लिए फायनेन्स कमेटी बैठ चुकी है, अतएव विवशता है। किन्तु फिर भी शास्त्रियों ने 'सुरापान' का प्रश्न छेड़ ही दिया। इसपर गवर्नरसाहब ने उत्तर दिया कि आपकी सूचनाएँ महत्वपूर्ण एवं विचारणीय हैं, अतएव हम सरकार से सिफारिश करेंगे कि इन महत्त्वशाली व्यक्तियों की सूचनाएँ ध्यान देने योग्य हैं!

सन १८८६ में समाज-सुधार के वादको एक आकस्मिक कारणसे और भी उत्तेजना मिली। वह कारण था दादाजी विरुद्ध रखमाबाई का मशहूर मुकदमा। इस दावे में तथा इससे उत्पन्न होनेवाले विवाद में समाज-सुधार के लिए नया कानून बनानेका कोई प्रश्न न था, वरन् इस बात का निर्णय होनेका था कि पुराने कानून की ही अमलबजावनी किस प्रकार और कहांतक होनी चाहिये। सोसायटी के तिलकपक्ष और आगरकर पार्टी के बीच विवाद करनेके लिए यह प्रश्न दो वर्षतक काम देता रहा। केसरी, अर्थात् सोसायटी के बहुमत ने दादाजी का पक्ष ग्रहण किया था, और आगरकर ने रखमाबाई का। इस मामले का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है कि "सन १८७१ में बम्बई के डॉ० सखाराम ने एक 'पंचकलश' जाति की विधवा के साथ पुनर्विवाह किया। इस स्त्री के साथ अपने पूर्व-पति से उत्पन्न रखमाबाई नामकी एक कन्या भी थी। माताके साथ रखमाबाई भी डॉ० सखाराम के घर जाकर रहने लगी। रखमाबाई के पिताकी सम्पत्ति उसकी पुनर्विवाहित माता को न मिलकर खुद उसीको दी जानेको थी, अतएव उसे अनाथ रण ही छोड़ देनेके लिए डॉक्टर साहब तैयार न थे। इसी लिए उन्होंने अपने एक निकट सम्बन्धी दादाजी नामक व्यक्ति के साथ रखमाबाई का विवाह कर दिया। दादाजी घरका गरीब व्यक्ति था, अतएव डॉ० सखाराम ही उसका पालन-पोषण

किया करते थे। दादाजी की शिक्षा भी साधारण दर्जेकी ही थी। विवाह हो जाने के बाद दादाजी को क्षयरोग की भावना हो गई। किंतु फिर भी जैसे तैसे वह उससे बच गया। इसके बाद कारणवश डाक्टर से भी उसकी खटक् गई, अतएव उन्होंने रखमाबाई को अपने घर रखकर उसे अलग कर दिया! रखमाबाई विशेष पढ़ी लिखी न थी, किंतु निरुद्योगिता के कारण किसी ने उसे "आर्य महिला समाज" का मंत्रित्व सौंप दिया था; अतएव अपनी असली योग्यता से भी कहीं अधिक उसकी ख्याति हो गई।

इसके बाद जब दादाजी ने रखमाबाई को अपने घर ले जाना चाहा तो उसने इन्कार कर दिया। इसी बीच डॉक्टर सखाराम का भी देहान्त हो गया। अतएव दादाजी ने अपनी स्त्री को अधिकार में दिलवाने के लिए ता० १२ मार्च सन १८८४ को हाई कोर्ट में दावा दायर किया। इधर रखमाबाई ने यह समझ कर कि, हिन्दू-धर्मशास्त्र के अनुसार मेरा दादाजी के अधिकार में सौंप दिया जाना बहुत संभव है, बम्बई के एँग्लो. इण्डियन पत्रों में खुली चिट्ठियां छपा कर अपनी रामकहानी सुनाते हुए समाज-सुधारकों से अनायास ही सहानुभूति प्राप्त करने एवं उसके द्वारा हाई कोर्ट को लाचार कर देनेका प्रपंच रचा। ये चिट्ठियां रखमाबाई के नाम से ही छपती थीं, किंतु उसने साधारण पत्रादि लिख सकने जितनी भी शिक्षा नहीं पाई थी। दादाजी उससे कम शिक्षित न था। इतने पर भी वह उसे अपनी चिट्ठियों में अशिक्षित कुली (मजदूर) के शब्द से सम्बोधित करती थी। बिचारे दादाजी के साथ पत्रादि लिख देनेतक की सहानुभूति कोई प्रकट नहीं करता था। अस्तु, इस दावे का ख़ास मुद्दा ही यह बन बैठा कि जब रखमाबाई की सम्मती बिना ही दादाजी का उसके साथ विवाह कर दिया गया है, तब ऐसी दशा में यह बात अनुचित होगी कि हाई कोर्ट सख्ती करके कानून की रूसे उसे दादाजी के साथ रहनेको विवश करनेमें सहायता दे। असलमें इस मत के लिये। मौजूदा कानून का कोई आधार न था। फिर भी न्यायमूर्ति पिन्हे ने फैसला रखमाबाई के ही पक्षमें किया। (ता० २१ सितँबर सन १८८५) आगे चल कर दादाजी ने इस मामले की अपील की। जिसका परिणाम यह हुआ कि चीफ जस्टिस सार्जंट और जस्टिस येले ने पिन्हेसाहब का फैसला रद्द करके दादाजीका अपनी स्त्रीपर का अधिकार स्वीकार कर लिया।

इस फैसलेपर फिर मतभेद हो चला। हाई कोर्टका निर्णय हिन्दूधर्मशास्त्र के अनुकूल था, अतएव अग्रगामी सुधारकों के लिए उस धर्मशास्त्र को ही असभ्य एवं जंगली बतलानेके सिवाय दूसरा मार्गही नहीं रह गया था। इधर रखमाबाई ने भी यह निश्चय प्रकट कर दिया था कि "मैं हाई कोर्ट की आज्ञा को अस्वीकार करने

एवं आवश्यकता पड़नेपर उसके बदलेमें सजा भोगनेकोभी तैयार हूं, किन्तु दादाजी के घर कभी न जाऊँगी ” । फलतः उसके लिए बडी भूतदया प्रकट की जाने लगी । कहीं उसके ख़र्च के लिए चंदा किया जाने लगा और कहीं कुछ दूसरा उद्योग होने लगा । सेठ मलवारी इस मामले में थेही, अतएव उन्होंने दो सौ रुपये देकर चंदेकी शुरूआत करदी । इधर यह प्रश्न जोर पकड़ गया कि “ हाईकोर्ट की ओरसेही हुई आज्ञा के अनुसार यदि एक महीने के भीतर रखमाबाई अपने पतिके घर न चली जायगी तो उसे चार महीने जेल भोगनी पड़ेगी ” । इसकी रोकके लिए क्या उपाय किया जाय ! ऐसी दशामें फैसले से पूर्व लोकमत का जो पलड़ा उसके विरुद्ध झुक रहा था, वह इस सजा के कारण उसकी ओरको झुक चला । सुधारकों की यह दलील कि ऐसी स्त्री को इस प्रकार के पति के घर भेजनेका अधिकार न तो धर्मशास्त्र को है और न कानून को ही; बात की बात में गिर गई । पं० भीमाचार्य झलकीकर जैसे शास्त्री ने आगे बढ़कर धर्मशास्त्रों के वचनद्वारा उन्हें लाजवाब कर दिया । किंतु सुधारकों के प्रतिपक्षी जो कि सिद्धान्त की दृष्टि से दादाजी के पतित्वरूपी अधिकार का पक्ष समर्थन कर रहे थे, वही अब मेलजोलकी भाषामें यों कहने लगे कि, दादाजी का अधिकार सिद्ध हो जानेसे ही पुरातन मत की यथेष्ट विजय हुई मानी जा सकती है । अतएव दादाजी को मामला अधिक न बढ़ाकर अब चुप हो जाना चाहिये । ऐसी स्त्री को जेलमें भेज देनेसे न तो दादाजी को ही कुछ लाभ पहुँच सकता है और न दूसरों को । इस प्रकार भी असंतुष्ट स्त्री को यदि घरमें बैठाया भी गया तो वह सुखपूर्वक गृहस्थीको चलाही कैसे सकेगी ? सारांश, यह कि अब दादाजी उसका नाम छोड़ दें, फलतः उसने यही किया भी ।

किन्तु इससे सुधारक और सनातनी के झगड़े में कुछभी कमी न आ सकी । विभिन्न दृष्टियों से इन दोनों पक्ष का आधा जय और आधा पराजय हुआ । किन्तु मौजूदा हालत में भी यश के भागी सनातनी ही हो रहे थे; क्योंकि रखमाबाई को जेल न भेज सकनेका कारण केवल उसके पति का उधरसे ध्यान हट लेना ही था ! फिरभी, सुधारकों के दिलमें यह कांटा चुभता ही रहा । अंततः यह विवाद फिर शुरू हो गया कि इस स्थिति को कानून की सहायता से सुधारा जाय या नहीं ! तब सनातन पक्ष की ओरसे फिर उसी जोर-शोरके साथ यह प्रश्न सामने लाया जाने लगा कि “ हमारे रीति-रिवाज में हस्तक्षेप करनेवाली सरकार कौन होती है ?” इस विवाद में वर्डस्वर्थ, तैलंग, कीर्तिकर आदि सज्जन सनातन पक्षके और केवल यह कहनेवाले थे कि रखमाबाई को जेल न भेजा जाय । विरुद्ध पक्ष में मलबारी, रानडे, आदि थे । किंतु डॉ. कीर्तिकर ने सुधारक होते हुए भी इस प्रश्नकी चर्चा में सुधारकों को ऐसी खरी २ सुनाई कि उनके कान खुल गये । वे लिखते हैं कि ” रखमाबाई की

अवस्था के लिए ही इतनी गड़बड़ क्यों मचाई जाती है ?-क्या हिंदूसमाज में बालविवाह के नमूने कम मौजूद हैं ? किंतु क्या किसी भी स्त्री ने अविचारपूर्वक अपने पति का त्याग किया है ? यदि आजकल की शिक्षा के कारण अपने पतितक को त्याग देनेकी कठोरता स्त्री में आजाती हो तो उचित यही होगा कि उस दूषित शिक्षाके हमारी पुत्रियों को वंचित ही रखा जाय।"

कई भावुक सुधारकों ने रखमाबाई को डॉ० आनंदीबाई जोशी के पदपर जा बिठाया था; किंतु केसरी ने ऐसे लोगों को बुरी तरह फटकारा। सुधारकों में से ही कई-एक इस तुलना के विरुद्ध थे। केसरी रखमाबाई के विरुद्ध था, किंतु फिर भी उसने स्त्री शिक्षाका विरोध नहीं किया। उसे आनंदीबाई सरीखी स्त्रियों पर गर्व था। ता० २१ मार्च सन १८८७ के अंक में केसरी लिखता है कि "रखमाबाईका नाम डॉ० आनन्दीबाई के साथ लेना महापातक होगा। आनंदीबाईने हिन्दू स्त्रीसमाज की यथार्थ यातनाओं के निवारणार्थ अपने जीवन और ज्ञान को ही नहीं वरन सर्वस्वतक को लगा देनेका निश्चय किया है, जब कि रखमाबाई ने ज्ञान-लव दुर्विदग्ध होकर धर्मरूढी एवं लोकाचार का तिरस्कार करते हुए अपने पूर्वजों की मूर्खतापूर्ण (!) प्रथाओं से मुक्त होनेका दृढ धारणा किया है। आनंदीबाई ने अपने उत्तर हेतु को पूर्ण करनेके लिए, अपने परमप्रिय इष्ट मित्रों का विरह सहकर अनिवार्य विघ्न-राशियों मे अपना मार्गक्रमण करते हुए तीन वर्षतक के लिए देशत्याग भी स्वीकार किया। किंतु रखमाबाई ने अपनी निःसीम स्वेच्छाचारिता को कायम रखने एवं पितृगृहको न त्यागनेके लिए संसार के सामने अपने निन्दनीय आचरण का नमूना रख दिया। आनंदीबाई ने अपने धर्म, आचार एवं रीति-रिवाज़ को हजार योजन ही नहीं वरन् अर्धगोल के अन्तरपर जाकर भी नाममात्र के लिए न छोड़ा, जब कि रखमाबाई ने सुखशांतिपूर्वक रहते हुए अनन्त परिवारों में झगड़े का बीज बोने, एवं मलवारी-पंथ में नाम्रिका से लगाकर पश्चिमी विधवातकको शामिल करा देनेके लिए काया-वाचा एवं मनःपूर्वक जो कुछ किया जा सकता था, वह सब कर रक्खा है। आनंदीबाई की मूर्ति शांतिपूर्वक प्रत्येक *कुलीन स्त्री-पुरुष के अन्तःकरणमें वास करेगी, और उनकी यशोदुंदुभी का नाद* हिन्दुओं में हिन्दुत्व कायम रहनेतक उनके कानोंको सुखकर प्रतीत होता रहेगा। किंतु रखमाबाई की डफली बंबई या बाहरके इनेगिने सुधारक भले ही जोर-शोर के पीटें हो किन्तु इस मुकदमेका फैसला हो जानेपर वह जरा देरमें फूट जायगी।

श्री. काशीनाथपंत तैलंग ने इस मौकेपर हमेशासे भी अधिक स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार अपना मत प्रकट किया कि "रखमाबाई की सहायता के लिए जो कमेटी निर्माण हुई है, उसका केवल यह उद्देश्य ही मुझे मान्य है, कि उक्त बाई को कैद

न होने दिया जाय। किंतु कमेटी असलमें इससे बहुत आगे बढ़ रही है। अतए उसे कमसे कम दो एक काम न करनेका निश्चय कर उन्हें करनेकी बात लोगों सामने प्रकट भी कर देनी चाहिये। वे काम ये हैं:- कि ' हिन्दूसमाज के विवाह विषयक अधिकार क़ायम करनेके मामले अदालत में न चलनेकी मांग न की जा इसी प्रकार ' वाल-विवाह की प्रथा उठानेके उद्योग से यह कमेटी अपना संबन्ध न रखे '। हाई कोर्ट से फैसला हो जानेपर उसकी अपील प्रीवी कौंसिल में न की जाय। क्योंकि हाई कोर्ट ने दादाजी को दाद दी है, और उसे ऐसा करनेका अधिकार भी है। किंतु इस झगड़े में पड़नेकी हमारे लिए कुछभी आवश्यकता नहीं है कि, हम रखमाबाई के इस मुद्दे को लोगों के सामने पेश करें कि उसका विवाह विना उसकी सम्मति से हुआ है। इस मामले को हाथ में लेते ही हिन्दूसमा के साथ हमारा वैर-भाव बढ़ जायगा, और उस दशा में मैं समाज के ही सा रहना पसंद करूगा। "

तैलंग सदृश विचारशील लोगों के इस प्रकार के विचार होते हुए भी वामनराव मोड़कने " केसरी " और " नेटिव ओपीयन " आदि पत्रों के गृहीत ध्येय की जोर-शोर के साथ आलोचना की; और हीराबाग (पूना) की एक सभा में व्याख्यान देते हुए उन्होंने यह भी कह दिया कि इन पत्रों के धर्मसमर्थनविषयक विचार संपादकों की उच्च एवं उदार शिक्षा को शोभा देनेवाले नहीं कहे जा सकते साथही उन्होंने यह कह कर कि, ये राष्ट्रीय वृथाभिमानी लोग हां में हां मिलाक समाज के बुरे रीति-रिवाज को उत्तेजन देते हैं, इन्हें दोष भी दिया। इसी बात को लक्ष्य कर ता. ३१ मई सन १८८७ के अंक में केसरी ने अपने सामाजिक ध्येय का खुलासा ख़ास तौरपर किया। " यथार्थ में ही इस देश के जो बुरे रीति-रिवाज है उनकी रोक या सुधार के काम से केसरीने कभी मुँह नहीं मोड़ा है, वरन् वह सदैव अपना मत इस प्रकार प्रकट करता रहा है कि इन्हें धीरे २ दूर करना चाहिये। किंतु इन महाशय का धीरे २ जुदा अर्थ रखता है और हमारा जुदा। इनके धीरे २ शब्द का अर्थ एकदम क़ानून बनवा देना है, और हम धीरे २ ज्ञान प्रसार का सुधार किया चाहते है ! इस अर्थान्तर के लिए हम क्या करें ? "

रावबहादुर रानड़े ने पूने में इसी वर्ष के मई महिने में वक्तृत्वसमारंभ का उपसंहार करते हुए वक्ताओं के भाषण की आलोचना कर ' स्त्रीपुरुषों का वैवाहिक संवन्ध एवं उसका परिपालन ' इस विषय पर एक बड़ासा व्याख्यान दिया। उसमें उनका मुख्य मुद्दा यह था कि, " मौजूदा क़ानून स्त्री और पुरुष दोनोंके लिए समानरूप से लागू है। किंतु केवल व्यवहार में वह स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों के लिए कम कठोरता का परिचय देता है। शास्त्रकारों ने हरएक स्थानपर स्त्रियों के

लिए सुविधा रख दी है। यहांतक कि उनको दोषयुक्त होनेपर भी घरमें रख लेने की आज्ञा दे रक्खी है। इसी प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री का भी त्याग न करने को कहा है, क्योंकि "रजसा शुध्यते नारी" कहकर उन्होंने उनकी बाजू रख ली है। इसी प्रकार प्रस्ताव की अमलबजावनी भी की जाय. किन्तु जिस ढंग से अमल करनेपर विशेष कष्ट पहुँच कर वैमनस्य बढ़ता हो, उसे छोड़ दिया जाय। धर्मशास्त्रों ने स्त्रियों के पोषण का तारतम्य उनके आचरणानुसार रक्खा है। निर्दोष स्त्री को यदि उसका पति त्याग दे तो उस के लिए शासन केवल यही कर सकता है कि न्यूनाधिक प्रमाण में अन्न-वस्त्र का प्रबंध करा देवे। किंतु घर में रखनेके लिए पुरुष या स्त्री को दंड या सजा न दी जानी चाहिये, और यदि यह बात मौजूदा क़ानून में कहो तो इस बातका उसमें भी सुधार कर दिया जाना चाहिये।"

इस व्याख्यान का उत्तर केसरी के अगले ही अंक में (ता० ७जून सन १८८७) तिलक ने शास्त्रप्रमाणों सहित दिया, और "सभां वा न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा समंजसम्" इस मनुवाक्य के अवतरणसे आरंभ कर निम्नलिखित कठोर शब्दों में केसरी ने उनपर आक्रमण किया है:—" भारतीय युद्ध में जिस प्रकार शिखंडी को आगे करके पाण्डवों ने भीष्म पितामह को जीतने का प्रयत्न किया था, उसी प्रकार कुछ अंशों में पुरातन आर्य धर्म को निर्बली करने के विचार से इस विचार को मन में लाकर कि हिन्दूशास्त्रकारों की स्त्रियों पर सदयदृष्टि है, रखमाबाई की आड़से हमारे पुरातन धर्मपर सुधारकों ने शुरू की थी, और उन्हें इस बात की दृढ़ आशा थी कि इस स्त्रीछत्र के नीचे बृहन्नला की तरह हम सहज ही में विजय प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु उनके दुर्दैव ने उन्हें यह जो अंतिम उपाय सुझाया उसकी तथा उनके मनोरथों की एकदम ही वाहोली हो गई"। इसके बाद धर्मशास्त्रों के प्रमाण ग्रंथ एवं उनकी विचारपद्धति का सप्रमाण विवेचन कर एकवाक्यता का महत्व बतलाते हुए तिलक ने यह प्रतिपादन किया कि स्मृतिग्रंथों में स्त्रियों का रक्षण करनेके विषय में जो उल्लेख है उसका अर्थ यह कभी नहीं हो सकता कि वे स्वतंत्रतापूर्वक उदर-पोषण करें अथवा वे कैसी ही हों तो भी पुरुषादि सम्बन्धियों को निर्वाहार्थ उन्हें कुछ न कुछ देना ही चाहिये। क्योंकि स्मृतिकारों ने स्त्रियों की स्वतंत्रता ही छीन ली है। रक्षण शब्द का अर्थ स्वतंत्रतापूर्वक बरतने देकर संकट से उसकी रक्षा करना नहीं हो सकता, बल्कि स्त्री को अधिकार में रखना ही उसका मूल आशय माना जाता है। ईसाई धर्मशास्त्र में आदमने भी अपनी पुत्री अर्थात् ईव्हसे शरीर-सम्बन्ध किया, अतएव रा. ब. कहते हैं कि "न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" का अर्थ अत्यंत संकुचित करना पड़ता है! अयि युक्तिः, अकांडपांडित्य प्रकर्षः, कहां महाभारत! और कहां मनु! और कहां हमारे राव बहादुर! वेदवाक्यों

से रेलगाड़ी या तार-यंत्र की बात सिद्ध करना जितना असमंजस युक्त है उतना स्मृतिग्रंथों से स्त्री-स्वातंत्र्यविषयक वचन ढूंढ निकालना दुःसह है।"

अगले लेख में पति को त्यागनेवाली के लिए स्मृतिकारों स्त्री के बतलाये हु राजदंड को सिद्ध कर अंत में तिलक लिखते हैं कि "आज की अपेक्षा पुराने शास् लोग और भी अधिक कठोर थे। इस समय तो पति का दावा दीवानी में हो सकत है, किन्तु उस जमाने में वह फौजदारी में होता था। वास्तव में रावबहादुर रानडे के लिए धर्मशास्त्र के झगड़े में पड़नेकी कुछ भी आवश्यकता न थी। आजकल किसी भी प्रकार का सुधार करनेके लिए डॉ० कीर्तीकर के कथनानुसार केवल उस की सयु-क्तिकता, आवश्यकता और सुगमता का विचार करलेना ही पर्याप्त होता है। और इस प्रकार का विचार करने में हमारी ओरसे कुछ भी बाधा नहीं की जा सकती। किंतु जब रानडे सरीखे विद्वान एवं अनुभवी लोग अपने पक्ष के समर्थनार्थ नि ज्ञान एवं चातुर्य के बलपर लोगों को मुग्ध कर लेने को प्रवृत्त हो जाते हैं तो हमें भी विवश होकर अपने पाठकों की आख में थोडासा अंजन लगा पड़ता है।"

इस कथन का डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी का मत कमसे कम इ विषय में तो तिलक के ही पक्ष में था, प्रमाण यही हो सकता है कि, वामनरा आपटे ने अन्य विषयों में सोसायटी के तिलक पक्ष से प्रतिकूल होते हुए भी इस सामाजिक विषय पर एक निबंध लिखकर रानडे के कथन को मिथ्या सिद्ध कर दिया था। आपटे लिखते हैं कि–"पिन्हे साहब ने जब रखमाबाई के पक्ष में फैसला दिया तब सुधारकों को यही प्रतीत हुआ कि भारत वर्ष से बालविवाहरूपी अन्यायपूर्ण असभ्य एवं जंगली प्रथा उठकर अब इस देश में न्याय की मूर्ति का सच्चा अवतार हुआ है। असंमत विवाह जिन्हें असम्मत था वे आनंदमग्न हो कर नाचने लगे। शृंगार-रसाभिज्ञ न्यायाध्यक्ष की ओरसे इस न्यायदान के प्राप्त होते ही उनके स्तुति-गान से त्रिभुवन गूंज उठा। और चारों ओर यह प्रवाद सुनाई देने लगा कि आजसे स्त्री-जाति की उन्नति का आरंभ हो गया है। कारलाइल स्थान के धर्मोपदेशक को भी रखमाबाई ने लिखा था कि "यदि जांच होनेके बाद मामले का निर्णय बदल न जाता तो हजारों स्त्रियों का परम कल्याण होकर आज स्त्री-दास्य-विमोचन की ध्वजा फहराने लगती। किन्तु दैव की गति विचित्र है। पिन्हे साहब का फैसला रद्द हो जानेसे सुधारक लोग दुःखसागर में गोते खाने लगे और चारों ओर हाहाःकार मच गया।" श्री आपटे "रेलगाडी सुधारक" के नामसे सुधारकों की मज़ाक उड़ाते हुए लिखते हैं कि "इस प्रकार के सुधारक नेताओं ने अपने २ मठ से आज्ञापत्र प्रकाशित कर इस निर्णय को न्यायविरुद्ध बतलाया!" सारांश यह कि

आपटे ने स्त्रियों के विषय में स्मृतिकारों के यथार्थ कथन का सविस्तार विवेचन कर तिलक के ही पक्ष का समर्थन किया। सहधर्मिणी शब्द का रानडेद्वारा किया हुआ अर्थ मिथ्या बतला कर उन्हों ने कहा कि स्त्रियों को बुद्धिमती एवं सुशिक्षिता बनाना ही प्रधान कर्तव्य हो सकता है। सभी अधिकार समान बतला देनेसे कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। क़ानून के विचार से आपटे ने यह कहा कि सन १८७६ में यमुनाबाई विरुद्ध एन्. एम्. पंडसे वाले मुक़द्दमें में मेल्विहल और वेस्टन के न्यायाध्यक्षोंने यह निर्णय दिया था कि " स्त्री उसी दशा में पति के घर नहीं जा सकती जब कि उसकी जान जोखिम में हो; अन्यथा उसके लिए बिना पति के घर गये छुटकारे का कोई उपाय ही नहीं है। इसी प्रकार सन १८७७ में कलकत्ता हाई कोर्ट में गार्थ और पेन्टिफिक्स नामक न्यायाध्यक्षों ने दुर्व्यसनी पति का अधिकार भी अबाधित माना है। ऐसी दशा में तो रखमाबाई की दशा और भी अच्छी कही जा सकती है। अर्थात् सुधारकों की ओरसे उसका मामला बढ़ाना एकदम निरर्थक कार्य होगा। " इत्यादि.

सन १८८७ की वसंतव्याख्यानमाला बहुधा इस सामाजिक विवादसे ही गुंजायमान हो उठी थी। एकबार डॉ. गर्दे के व्याख्यान पर वाद-विवाद होते हुए रानडे और आपटे के बीच प्रत्यक्ष में ही बात बढ़ गई। रानडे के मतानुसार स्त्री-शिक्षा की सीमा नृत्य गायन तक भी बढ़ सकती थी, और आपटे यह कहते थे कि यदि आज स्त्री शिक्षा में इस प्रकार की योग्यायोग्य प्रथाओंका समावेश कर दिया गया तो कदाच स्त्रियोंके जन्मका विघटापन एवं अधःपतन हो जायगा। इसी प्रकार वे यह भी कहने लगे कि हम पुरुष लोग ही जब अंग्रेजी को जबरन् सीखते हैं, तो फिर बिचारी स्त्रियोंपर इसका बोझ क्यों व्यर्थ में डाला जाय ?

इन सब बातों को देखकर लोग चक्कर में पड़ गये। आगरकर का मत अलग, तिलक का अलग और आपटे का उससे भी अलग। सोसायटी के पक्षभेद को देखा जाय तो उसका ढंग जुदा और बाहरवालों का मत देखा जाय तो वह उससे भी, जुदा। लोगों की धारणा थी कि ' केसरी ' और ' मराठा ' पर डे. ए. सोसायटी के आजीवन सदस्यों का स्वामित्व है और ये उन्हीं के मतसूचक पत्र हैं। सोसायटी में प्रभाव रानडे का बढ़ा हुआ था। पर इधर आपटे जैसे लोग भी तिलक के पक्षपाती थे। कदाचित् इन सारे गूढ़ रहस्यों को ही लक्ष्य करके ता. २८ जून सन १८८७ के केसरी में संपादक ने निम्न स्पष्टीकरण किया है कि " वर्तमान आजीवन-सदस्यों में जबसे ऐसे सदस्यों का समावेश हुआ, जिनका केसरी और मराठा से सम्बन्ध नहीं है [कहीं गोखले या भानु आदि तो नहीं ?] तभी से ये दोनों पत्र लाइफ मेम्बरों के आर्गन (मत-दर्शक) नहीं रहे। आजीवन सदस्यों में कुछ लोगों का इन

पत्रोंसे सम्बन्ध है। इसी एक कारण से इन में प्रकाशित लेखों की जवाबदारी सब-पर नहीं आ सकती।" यह स्पष्ट ही प्रकट है कि उपर्युक्त स्पष्टीकरण आगरकर पार्टी की हालत साफ करनेके ही लिए किया गया था। अभीतक बाहरके लोगोंकी यही धारणा थी कि केसरी के संपादक और प्रकाशक आगरकर ही हैं, किंतु पत्र में प्रकाशित होनेवाले लेख सुधारक-दलके विरुद्ध होते थे! अन्त में यह रहस्य ता. २५ अक्टूबर के केसरी में प्रकाशित एक सूचना से खुल गया। उस अंक के आरंभ में ही पांच पंक्तियों की एक महत्वपूर्ण टिप्पणी इस प्रकार प्रकाशित हुई कि "आजसे श्रीयुक्त बाल गंगाधर तिलक, बी. ए, एल्., एल्. बी., केसरी के प्रकाशक नियुक्त हुए हैं, अत एव पत्र-प्रकाशन का दायित्व उनपर आगया है। श्रीयुक्त गोपाल गणेश आगरकर, एम. ए. पर अब वह जिम्मेदारी नहीं रही।"

इस प्रकार आगरकर का केसरी से छह सात वर्ष का पुराना सम्बन्ध हमेशा के लिए टूट गया। अतएव आगे चल कर एक वर्ष के बाद गोपाल कृष्ण गोखले की सहायता से उन्होंने "सुधारक" नामका नया साप्ताहिक पत्र निकाला। तिलक अब भी यही कहते थे कि पूर्व सम्बन्ध को ध्यान में रखकर आगरकर नया पत्र प्रकाशित करके आन्तरिक-कलह को प्रकट रूप देनेका प्रयत्न न करें। यदि वे चाहें तो अपने नाम से केसरी में लेख लिख सकते हैं। किन्तु आगरकर को यह सलाह पसन्द नहीं आई। एक अर्थ में आगरकर का ऐसा न करना ही ठीक था। क्योंकि यदि उन्होंने केवल सामाजिक विषयोंपर ही स्वेच्छानुसार स्वतंत्र एवं एकान्तिक मत-प्रदर्शन करते हुए समाज-सुधार का बीड़ा उठाया था जो फिर केसरी में अपने नाम से दो एक लेख छपा देनेसे उन की इच्छा की पूर्ति कैसे हो सकती थी? केसरी का कलेवर जब खुद संपादक को ही अपने काम के लिए अप-र्याप्त प्रतीत होता था तो फिर वे आगरकर के लिए कहांतक स्थान रिक्त कर सकते थे? अधिक से अधिक वे दो-एक अंकमें आगरकर के लिए दो-तीन कॉलम का स्थान दे देते, कितनी ही बार जब स्थानाभाव के कारण लेख को अगले अंक के लिए रख छोड़ना पड़ता तो इससे आगरकर मन में न जाने क्या समझकर दुखी हो बैठते, इसके अलावा यदि केसरी और मराठा डे. ए. सोसायटीके ही मुखपत्र बना दिये जाते तो उनमें भी किसी कॉलेज मेगेजिन की तरह अपने २ नाम से सोसायटी के लेखक-सदस्य अनेक लेख छपवाते रहते। इसमें कोई बुराई न थी। किंतु सोसायटी तो इन पत्रों के स्वामित्व और जिम्मेदारी को कभीसे छोड़ चुकी थी। इतने पर भी यदि सोसायटी के कार्यक्रम के विषय में सब सदस्यों का एकमत होता और केवल समाचारपत्रों के लेख के सम्बन्ध में ही विवाद रहता तो भी तिलक की सूचना का कुछ अर्थ निकल सकता था! मतभेद के

अरघ भीतर और बाहर सर्वत्र ही सभासदों के दिल के गुबार निकलते रहते थे। ऐसी हालत में तिलक की सूचना के अनुसार आगरकर ने अपने नाम से केसरी में लेख लिखना मंजूर कर लिया होता, तो उससे क्या लाभ पहुँच सकता था? केसरी के पाठक तिलक और आगरकर के नामों को प्रमाण-भूत एवं प्रिय समझते थे किन्तु एकही अंक में पास २ के कॉलम में परस्पर विरुद्ध सामाजिक मतों के प्रकाशित होते देखकर वे बिचारे इस चक्कर में कबतक पड़े रहते?

सारांश यह कि जिन कारणों से आगे चलकर तिलक के लिए सोसायटी में रहना कठिन हो गया, हमारा कथन है कि उन्हीं कारणोंसे आगरकर को भी पहले ही से " केसरी " छोड़ देना पड़ा। सोसायटी में अंतस्थ झगड़ों में बहुमत तिलक के विरुद्ध रहता था, और सामाजिक विषयों में आगरकर के विरुद्ध। अतएव यह मान लेने में हानि नहीं कि तिलक और आगरकर दोनों के ही सुख-दुःख समान थे। इसी के साथ २ आगरकर पर यह आक्षेप भी किया जाने लगा कि, सोसायटी छोड़ देने पर भी तिलक ने किसी नये स्कूल या कॉलेज की स्थापना कर (सोसायटी से) स्पर्धा नहीं की; किंतु आगरकर ने केसरी को छोड़ते ही अपना नया पत्र निकाल कर उस (केसरी) पर वार करना शुरू किया। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करनेपर इसका भी उत्तर दिया जा सकता है। यदि तिलक किसी स्कूल या कॉलेज की स्थापना करते और वे खुद ही उस के सुपरिन्टेन्डेन्ट या प्रिंसिपाल बन जाते तो भी अपनी संस्था के शिक्षक या प्रोफेसरोंके साथ उन्हें नौकर की तरह नहीं बल्कि लगभग बराबरी के नाते बरतना पड़ता। इस प्रकार के नये प्रपंचों की स्वाभाविक असुविधाओं और ख़ास कर तिलक के स्वच्छंद स्वभाव एवं स्वातंत्र्यप्रिय वृत्ति का विचार करते हुए यही कहना पड़ता है कि उन्होंने अपने पूर्वानुभव परसे इन झगड़ों में न पड़कर अच्छा ही किया। पर समाचारपत्र का मामला तो, एक खंभेपर खड़े किये जाने-वाले डेरेकी तरह कहा जा सकता है। अर्थात् जब जी चाहा उसे खड़ा कर लिया और जब इच्छा हुई खोल कर रख दिया। आवश्यकता पड़नेपर उसका सब काम एक ही मनुष्य कर सकता है। अतएव अन्य कार्यों की अपेक्षा समाचार-पत्र चलाना सुलभ होता है। केसरी को हाथ में लेकर उसे एकतंत्र में चलाते हुए तिलक ने जो बात प्राप्त की वही आगरकर ने सुधारक निकाल कर की। ऐसी दशा में दो भिन्न २ पत्रोंके निकाले जानेपर परस्पर का विवाद बढ़ना स्वाभाविक ही था। किन्तु इन झगड़ों के मिटाने का उभय पक्षों ने ही ऐसा कौन महान् उपक्रम किया था कि जिसमें भिन्न समाचारपत्र निकालने की बात पर ही सारा दोष रख दिया जाय? यदि सुधारक न भी निकाला जाता तो भी ' ज्ञान-

प्रकार ' ' मराठा ' और ' केसरी ' की तिरछी टक्कर तो पहले ही से शुरू थी सुधारक से यह जोरों से हुई, बस यही मात्र अन्तर पड़ा।

आगरकर पर नया पत्र निकालने के संबंध में आक्षेप का किया जाना [illegible] है। फिर भी इस बात के लिए हम उनकी प्रशंसा नहीं कर सकते कि उन्होंने अपने हाथ से 'केसरी' को जाने दिया। [illegible] ने जब पत्र और प्रेस को अलग से करार किया, तब भी आगरकर ही संपादक थे। इस के बाद केवल समाचार पत्र ही [illegible] के स्वामित्व में बचाये जाने पर यह मतभेद हुई कि अपने निजके [illegible] इन पत्रों को अपने हाथ में लेकर चला सकता है; [illegible] रहने की आवश्यकता नहीं; तब आगरकर ' केसरी ' के संपादक [illegible] इस के लिए सबसे पहले अधिकारी से ही माने गये। किंतु [illegible] पत्र का जिम्मेदारी लेना उन्होंने उचित न समझा। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का कोई एक ही [illegible] था; बल्कि खुद आगरकर के इसके लिए अंशतः जिम्मेदार थे। इतनेपर भी जिन पत्र एवं प्रेस को [illegible] तिलक और [illegible] लेकर हाथ में लेकर काम चला सके, उन्हीं को आगरकर अपने अधिकार में रख कर, उनके द्वारा अपने स्वतंत्र मत का मनोनुकूल ढंग से प्रतिपादन कर सकते थे। तिलक की तरह आगरकर में भी [illegible] भले ही रहा हो, किन्तु कर्तव्य-शीलता का उनमें अधिकतर अभाव ही था।

आगरकर के संपादनकाल में केसरी की बिक्री बहुत बढ़ गई थी, और वे अभिमानपूर्वक केसरी के मुख-पृष्ठपर छापा करते थे कि ' इस पत्र की ३७०० से भी अधिक प्रतियां खपती हैं ' । ऐसी दशा में अपने हाथ से उन्हें केसरी पत्र जाने न देना चाहिये था। किंतु वे ऐसा न कर सके, अतएव सन १८८४ से १८८७ तक के विवाद में उन्हें धीरे २ पीछे हटना पड़ा। फिर भी उनकी जी खोल कर लिखने की इच्छा पूर्ण न हुई। अपने नाम से या ' प्राप्त पत्र ' के रूप में लेख लिखना और अंत में स्वेच्छापूर्वक केसरी का प्रकाशन-भार तिलक को सौंप देना एक प्रकार से इस युद्ध में आगरकर का पराभव ही सूचित करता है। इसी प्रकार ' सुधारक ' के निकाले जानेपर भी उनकी क्या दशा हुई ? गोखले की अंग्रेजी लिखने की एवं इनकी मराठी पाण्डित्य प्रदर्शन विषयक इच्छा एक ही पत्र में सम्पुटित कर दी जाने के कारण पाठकों की दृष्टि से अंग्रेजी कालम मराठी का और मराठी कालम अंग्रेजी का मांस तोड कर खाते थे। वर्ष के अंत में इन दोनो संपादकों के हिस्से में वार्षिक वेतन कुल पचास रुपये प्रकार आया था। विरुद्ध पक्ष में, तिलक कों उनके व्यावहरिक ज्ञान

के भरोसे प्रेस और पत्र को संयुक्त पूंजी से निकाल कर व्यक्तिगत अधिकार में देते समय हिसाब की जांच के लिए नियुक्त किया गया था। इसी प्रकार नया मैनेजर रखकर उसके द्वारा कारखाने की दुरुस्ती कराने का भार भी तिलक पर ही डाला गया था। इसके बाद सन १८६१ में मराठा और केसरी यां वासुदेवराव केलकर और तिलक के बीच अनबन हो जानेपर जब दोनों पत्रों को किसी एक के ही अधिकार में सौंप देने का उपाय सोचा गया और एक ओर प्रेस तथा दूसरी ओर दोनों पत्र एवं उनके सिर सात हजार का कर्ज इस प्रकार हिस्से-रसी की गई, तब तिलक ने ऋणसहित समाचार पत्रों को अपने हिस्से में लिया और कर्ज चुका कर कारखाने को सम्पन्न बनाया। इन सब बातों को खुलासेवार समझनेका स्थान यह नहीं है। किंतु यहां पर यह अनुमान प्रकट कर देना अनुचित न होगा कि इस तिलक-आगरकरवाली मुठभेड़ में आगरकर के पराभव का कारण उनमें व्यावहारिक ज्ञान का अभाव और समाचार-पत्रों को सफलतापूर्वक चला सकने की हिम्मत की कमी ही थी। तिलक में ये दोनों बातें पूर्ण-प्रमाण में मौजूद थी!

ता. २५ अक्टूबर सन १८८७ के दिन से आगरकर की जगह तिलक 'केसरी' के प्रकाशक के नाते प्रसिद्ध हुए। किंतु तत्कालीन प्रेस एक्ट की उदासीन वृत्ति के कारण आजकल की तरह समाचारपत्र पर संपादक या प्रकाशक का नाम स्पष्टतया छापनेकी आवश्यकता नहीं थी। इसी लिए तिलक के प्रकाशक बन जाने पर भी केसरी के अंतिम पृष्ठ के नीचे प्रेस लाइन में केवल यही शब्द छापे जाते थे कि "आर्यभूषण प्रेस ने पत्र के स्वामी के लिए छाप कर प्रकाशित किया।" जिसने ता. २५ का अंक नहीं पढ़ा हो उसे तिलक के प्रकाशक बनने का पता तबतक नहीं लग सका, जबतक कि उसने कानोंकान यह खबर न सुन ली या केसरी के अंतर्गत प्रमाणको न देख लिया। फिर भी इसी अंकसे केसरी के दृश्य एवं जड़ स्वरूप में एक विशेष परिवर्तन अवश्य हो गया था। वह यह कि अबतक पत्र के अग्रलेख और टिप्पणियां ग्रेट प्रायमर अर्थात् कुछ मोटे टाइप में छापे जाते थे, किंतु लिखना अधिक था और स्थान की कमी थी अतएव उपर्युक्त लेखादि भी पायका अर्थात् बारीक टाइप में छापे जाने लगे। यद्यपि आर्यभूषण प्रेस की अपनी फाउण्डरी (टाइप बनाने की मशीन) थी, किंतु बारीक एवं सुंदरतायुक्त टाइप ढालने के लिए मेट्रिसों का उसमें अभाव था। अतएव बम्बई के गणपत कृष्णाजी प्रेस के स्वामी ने अपने पासके पायका टाइप के ठप्पे अर्थात् पंच से नई मेट्रिसें तयार करके आर्य-भूषण प्रेस को बेच दी, और इस तरह आर्य-भूषण प्रेस में हरसमय

आवश्यकतानुसार पायका टाइप ढाल सकनेका सुभीता हो गया। 'केसरी' के पाठकों के लिए ग्रेट प्रायमर टाइप पढने के लिए सुविधाजनक था, पर टाइप के वारीक होने से उतनेही स्थान में कुछ अधिक मज़मून छप सकनेके कारण उत्साही पाठक एवं लेखक वर्ग दोनों की सुविधा हो गयी।

आगरकर ने केसरी को छोड़ तो दिया किंतु नया पत्र निकालनेका उनका विचार कुछ दिनोंवाद निश्चित हुआ। तबतक वे केसरी में ही 'प्राप्त-पत्र' वाले स्तंभ में लेखादि लिखते रहे। इस तरह स्वतंत्रता प्राप्त हो जानेपर उनके लेख में निर्भीकता की मात्रा पहलेसे भी अधिक आ गई। अगले ही अंक में (४३ वे अंक में) 'प्राप्त-पत्र' के स्तंभ में "फीमेल हाई स्कूल की शिक्षापद्धति" शीर्षक आगरकर का एक लेख निकला है जो कि केसरी के अग्रलेख से भी अधिक स्थान घेरे हुए है। इस लेख में अबसे पहले लगातार चार अंकों में छपे हुए 'केसरी' के फीमेल हाई स्कूल की शिक्षा-पद्धति-विषयक आलोचनात्मक लेख का विस्तृत एवं वक्तृत्वपूर्ण उत्तर दिया गया है। इस लेख के दो चार वाक्यों को देखते ही लोग समझ सकते हैं कि "नाम हो न हो यह लेख अवश्य ही आगरकर का लिखा हुआ है।"

इस लेख में आगरकर ने केसरी संपादक को परशुराम का अवतार कहकर निंदायुक्त विशेषण की योजना की है। इस प्रकार के विशेषण की कल्पना उत्पन्न होनेमें यह कुत्सित शंका कारणीभूत हो सकती है या नहीं कि 'केसरी' के प्रकाशक कोंकणस्थ और आगरकर कन्हाड़े ब्राह्मण थे! 'परशुराम ने अपने पिता की आज्ञा मान कर माता का शिरच्छेद कर दिया था' इस अर्थ का सूचक संस्कृत अवतरण (श्लोक) उक्त लेख के आरंभ में दिया गया है। हिन्दू-धर्म-शास्त्र-प्रणेता लोग अपने पूर्व-पुरुषों के वचन का आधार दिखलाकर स्त्रियों को अज्ञान पंक में आकण्ठ फँसी रहने दें तो यह भी एक प्रकार का शिरच्छेद ही है! इस तरह यद्यपि यह उदाहरण ठीक तरह मिल जाता है, किन्तु उस लेख पढते ही पाठकों के दृष्टि-पथ में यह चित्र अवश्य आ खड़ा होता है, मानो चिढ़-चिढ़े स्वभाव के आगरकर ईर्ष्या-पूर्वक खाँसते हुए तिलक से कहा रहे हैं कि "तुम कोंकणी ब्राह्मण अपनी माता के भी घातक वन सकते हो।" इस लेख के दो एक वाक्य ही यहां हम उदाहरणार्थ दिये देते हैं:—वेहतर होगा कि इसकी अपेक्षा हम धर्मत्याग करदें, भाषात्याग करदें, रूढी और आचारतक को छोड़दें, किंतु अन्तःकरणयुक्त बाह्य-आचरण की उन्नति करके ही रहेंगे? ऐसे विकट प्रसंग पर यदि कहीं भारत स्वराज्य-सम्पन्न होता तो हम हिन्दू-धर्म-शास्त्र एवं उनके प्रतिपादकों को अग्निस्नान कराकर ही शुद्ध करते......समस्त बुद्धिमान एवं

विचारशील व्यक्तियों से हमारी करबद्ध प्रार्थना है कि वे मनःपूर्वक हमारी सहायता करके इस सुधाररूपी शकट का धुरा अपनी गर्दनपर उठा कर वीरतापूर्वक उसे ठेठ धवलगिरी के उच्च शिखरपर पहुँचाते हुए उस महान श्रेय को संपादन करें, जिसे कि आजतक किसी राजर्षि या ब्रह्मर्षि अथवा भट्टाचार्य या साधु-संत ने भी कभी प्राप्त नहीं किया है। "

आगे के केसरी में आगरकर के लेख क्रमशः कम होते जाते हैं, अतएव उक्त लेख में स्त्रियों कि दशापर उन्होंने जलीभुनी भाषा में जो कुछ लिखा है, उसके दो चार वाक्य और भी यहां दिये बिना हमसे आगे नहीं बढ़ा जाता, अतएव वे वाक्य हम यहां दिये देते हैं:- " रसोई बनाने या चौका-बर्तन करने में योग्यता दिखाना ही इस देशमें स्त्रीजाति के चातुर्य की पराकाष्ठा समझी जाती है। इस गुणके अलभ्य लाभ से यथाशीघ्र लाभ उठानेके लिए सारा देश दस-पंद्रह वर्ष में ही विवाह के सब कार्य समाप्त कर चुप हो जाता है। इसके बाद उस महान् गुणवती सहधर्मिणी के लिए हमारे नवयुवक अपने सारे बुद्धिबल एवं कौशल्य का उपयोग कर द्रव्यार्जन के काम में लगते हैं; और ऐसे धर्मंगल गृह में अपना डेरा जमाते है, जहां कि वह सूपशास्त्रसम्पन्न एवं गृह-प्रबंध-निष्णाता भार्या अपने कौशल्य का भलीभांति उपयोग कर सके। इस प्रकार जीवन बिताने का नाम इस देश में पारिवारिक सुख रखा गया है! किंतु इस कल्पना को नामशेष करने का हमने बीड़ा उठाया है, अतएव इससे केसरी संपादक और उनके अनुयायी भयभीत हो उठे हैं! एक दृष्टीसे इस महामूढ़ कुटुम्बिनी को पारिस की तरह समझनी चाहिये, क्योंकि यदि घरमें एकबार के लिए खाने को अन्न भी न रहे तो पर्वाह नहीं, बाल-बच्चे घर में नंगे घूमते रहें तो भी हर्ज नहीं, पतिदेव को फटी पुरानी धोतीपर ही सारा दिन काटना पड़े तो भी चिंता नहीं, किंतु गृहिणी के हाथ पांव और गले में सोने चांदी युक्तायुक्त नकली आभूषण अवश्य होने चाहिये, और उन विभूषित कर्मेन्द्रियों से उसे अपने झाड़ बुहार जैसे धर्मप्रधान गृहकृत्यों को पूरा करना चाहिये। "

असल में फीमेल हाई स्कूल के शिक्षाक्रम पर चार अग्रलेख लिख कर केसरी ने जो आलोचनात्मक विचार प्रकट किये थे, उसके अधिकांश मुद्दे हरएक विचारशील पुरुष को पट सकते थे। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि लड़कियों को शिक्षा न दी जाय। किंतु मौजूदा फीमेल हाईस्कूल का सारा ध्येय और उसके रंग-ढंग विलायती ठाट के होने से लोगों के चित्त में चिढ़ उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। यह बात अलग है कि शहर में दूसरी कन्याशाला के न होनेसे विवश हो कर लोग अपनी कन्याओं को उस स्कूल में भेजते थे।

किन्तु वहां का अधिकांश ढंग देश के लिए निरुपयोगी था, और उसमें पदपद पर विलायती रीतिरिवाज़ का अनुकरण ठूंसठूंस कर भरा गया था। लाचारी के कारण खुद तिलक भी अपनी बड़ी पुत्री को इसी स्कूल में भेजते थे। किन्तु फिर भी यदि उन्होंने वहां की शिक्षा और व्यवस्था में दिखाई पड़नेवाले दोषों को प्रकट कर उसने सुधार के उपाय भी बतला दिये तो इसमें उन्हें दोष देने की क्या आवश्यकता है? इससे पहले, शारदा-सदन के मामले के दूध से मुँह जल जानेपर इस फीमेल हाईस्कूलरूपी मठे को भी फूंक कर पीने का उपदेश देनेवाला सावधानी की अतिशयोक्ति के दोष का भागी नहीं हो सकता। यदि संचालकों को विलायत जाकर पढ़ आनेवाली कोई भारतीय स्त्री मिल जाती तो अवश्य ही उसे इस स्कूल के सुप्रन्टेन्डेंट के पद पर नियुक्त कर देते यह ठीक है। किन्तु इसीके साथ २ उन्हें यह भी तो सोचना चाहिये था कि, उसके न होनेपर नियुक्त की हुई अंग्रेज मिस्ट्रेस सारे प्रबंध एवं शिक्षाक्रम को विलायती सांचे में ढाल देगी। कालान्तर में जा कर स्त्री-शिक्षा के कट्टर हिमायती प्रो. कर्वे ने भी स्त्रियों के लिए स्वतंत्र किन्तु उन्हींके योग्य उच्च एवं आरंभिक विद्यालय खोल कर 'केसरी' की इस आलोचना का अप्रकट रूपमें समर्थन ही किया है। यदि आगरकर ने अपने उत्तर में यह कहा होता कि 'केसरी' के दिखलाये हुए दोष यथार्थ हैं, किन्तु जबतक वह अपने मनोनुकूल प्रथापर चलाई जानेवाली निर्दोष संस्था की स्थापना के लिए स्फूर्तिमय विधायक सूचना प्रकाशित नहीं करता, तबतक उसकी विध्वंसक आलोचना का परिणाम यही होगा कि जो कुछ अधूरीं सुविधा है वह भी नष्ट हो जायगी" तो अलबत उनके शुद्धान्तःकरण एवं सच्ची समाजसेवा का पता लग जाता। किंतु उनकी प्रतिक्रियारूप आलोचना तो मार्मिक एवं सारासार की भूमि त्यागकर एकदम रोमैन्टिक सुधारा के उच्च धवलगिरी के शिखर पर जा बिराजी!

केसरी में तिलक और आगरकर के बीच जो विवाद छिड़ा हुआ था उसे अब इस परिच्छेद में अधिक बढ़ानेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अगले वर्ष आगरकर ने "सुधारक" नाम का अपना स्वतंत्र पत्र निकाला, और प्रथमाङ्क में ही अपने इस पत्र-प्रकाशन का उद्देश्य प्रकट करते हुए तिलक का नाम न देकर-किन्तु उन्हींको लक्ष्य करके निम्न लिखित वाक्य लिखें:— "लोकमत का सुधार हो कैसे सकता है? जब कि हरएक व्यक्ति मौजूदा लोकमत को सामना करनेमें ही हिचकता है तो फिर उसमें परिवर्तन हो कैसे सकेगा? यदि नेता ही इस काम को हाथ में न लें तो दूसरा कौन इन्हें करेगा? यदि सभी व्यक्ति इस लोकमतरूपी हौवासे भयभीत होकर चुप बैठ जाँय तो समाज की उन्नति

कभी नहीं हो सकती। यही नहीं वरन् उसकी वर्तमान दशा भी कायम न रह कर उत्तरोत्तर उसका पतन होता जायगा। अंत में उसका पूर्णतयः ह्रास हो जायगा। ऐसी दशा में लोकमत के दोषों को दिखाने एवं समाज के अधिकांश व्यक्तियों के लिए अप्रिय किन्तु हितकर विचार प्रकट करते हुए इष्टियुक्त कार्य को हाथ में लेनेवाला भी तो कोई व्यक्ति तैयार अवश्य होना चाहिये। जिस समाज के कुछ व्यक्तियों में भी इस प्रकार का धैर्य न हो उसे अपना सिर उठाने की भी कभी इच्छा न करनी चाहिये। जो लोग किसी भी बहानेसे लोगों के सामने नेतापन की ठसक दिखाने लगे हों उन्हें लोकमत-संपादन करने या उससे अपना पक्ष समर्थन करानेके लिए अथवा परोपकार का पाखंड रचकर स्वहित साधन करनेके लिए उसके दोष या दुराग्रह का संवरण अथवा सेवन करना कभी शोभा नहीं दे सकता। कहना न होगा कि इस प्रकार के नेता, लोगों को सन्मार्ग दिखलाकर कभी न कभी गड्ढेमें ही गिराकर रहेंगे। "

इसके बाद मामयथादि (तद) दो एक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले तिलक-आगरकर या केसरी-सुधारक के विवाद का उल्लेख और भी दो एक बार किया जानेका है। अतएव आगरकरविषयक विवेचन यहीं समाप्त कर दिया जाता है। पर इससे पूर्व यह कह देना होगा कि सुधारक चलानेमें आगरकर और गोखले (गोपालकृष्ण) इन दो सुलेखकों की जोड़ मिल गई थी; और दोनों को अपनी २ प्रिय भाषा में लिखने का अवसर प्राप्त हो सके, इसी लिए पत्र में अंग्रेजी और मराठी दोनों प्रकार के लेख दिये जाने लगे। गोपाल कृष्ण गोखले सन १८८४ में डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी में सम्मिलित हुए। वे यद्यपि अवस्था में कम थे, किंतु तीव्रबुद्धि होने के साथ ही गणित विषय लेकर द्वितीय श्रेणि में बी. ए. पास हो चुके थे। गणित विषयक निष्णात एवं होनहार विद्यार्थी को उस समय इंजिनियरिंग कॉलेज की अंतिम परीक्षा में प्रथम आनेपर एक्जीक्यूटिव इंजिनियर जैसी बहुत बड़े वेतन की नौकरी मिल सकने का संभव रहता था। इसी लिए प्रथमतः गोखले उस कॉलेज में जाकर भर्ती भी हुए, इस के कुछ दिनोंबाद उन्हें वह मार्ग न भाया, अतएव वे नव-स्थापित फर्ग्युसन कॉलेज में प्रोफेसर बनकर पढ़ाने लगे। वे हमेशा कहा करते थे कि सोसायटी में मेरे सम्मिलित होने का मूल कारण तिलक के आदर्श की स्फूर्ति ही थी। किंतु सोसायटी में सम्मिलित हो जानेपर उन्हें आगरकर का ही मत अधिक पसंद आने लगा। यद्यपि उनके सोसायटी में सम्मिलित होनेके समय तक केसरी और मराठा का सम्बन्ध सोसायटी से पूर्णतयः विच्छिन्न नहीं हुआ था किंतु फिर भी गोखले ने इन पत्रों में कोई लेख नहीं लिखा।

गोखले के पूना आते ही रानडे की दृष्टि उनके होनहारपन पर आकर्षित हुई, और इसके बाद उनका रानडे के घर आना-जाना शुरू हो जानेसे केसरी और मराठा विषयक उनका आरंभिक प्रतिकूल मत और भी अधिक दृढ़ हो गया। वे गणित की ही तरह अंग्रेजी में भी विशेष दक्ष थे। आरंभ में वे न्यू स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाने लगे। उनके अंग्रेजी पाठान्तर की उत्तमता एवं अंग्रेजी कविताओं अथवा उत्तम गद्य वाक्यों का पाठ धाराप्रवाही रूप में सुन कर विद्यार्थी चकित हो जाते थे। इसका पता आज भी उनके पढ़ाये हुए शिष्यों के कथन पर से लग सकता है। इसके बाद कॉलेज में भी वे गणित के ही साथ २ अंग्रेजी भी पढ़ाते रहे। मतलब यह कि रानडे से राजनैतिक विषयों की शिक्षा पाना आरंभ हो जाने और अंग्रेजी भाषा विषयक उनकी स्वाभाविक अभिरुचि रहने के कारण गोखले के लिए अपने विचार प्रकट कर सकने योग्य किसी समाचार पत्र की आवश्यकता थी ही ? अतएव आगरकर के 'सुधारक' ने उनके लिए बड़ा काम दिया। गोखले समाज-सुधार के कट्टर पक्षपाती थे, किन्तु फिर भी उन्होंने आगरकर की तरह इस विषय के प्रतिपादनार्थ अपनी लेखनी का कभी विशेष उपयोग नहीं किया। और वे प्रोफेसर कर्वे की तरह समाज-सुधार विषयक संस्थाएँ कायम करनेके ही उद्योग में नलगे। उनका पूरा झुकाव राजनैतिक कार्य पर ही था, अतएव 'सुधारक' में लिखे हुए उनके लेखों में समाज-सुधार की अपेक्षा राजनैतिक विषय ही अधिक रहते थे।

इस तरह सुधारक के लिए अपने २ विषय के ये दो उत्कृष्ट लेखक अनायास ही मिल गये। किंतु सुधारक के उपर्युक्त उद्धरण में आगरकर द्वारा कथित वक्तव्यके अनुसार उक्त पत्र के मत लोगों को अप्रिय थे अतएव केसरी की तरह उसका अधिक प्रचार न हो सका। कहा जाता है कि सुधारक के प्रथम वर्ष के अंत में सिंहावलोकन करते हुए आगरकर ने पत्र के जमाखर्च का संक्षिप्त विवरण पाठकों के सन्मुख उपस्थित करते हुए बतलाया था कि पत्र की छपाई-कागज आदि का ख़र्च जाकर उन्हे और गोखले को प्रति मास चार रुपये के हिसाब से वेतन मिला ! किन्तु यह बात उक्त दोनों महानुभावों के लिए दोषास्पद नहीं वरन् भूषणीय कही जा सकती है। लोगों के लिए अप्रिय विचार आगरकर जैसे लेखकों की तीव्र लेखनीरूपी शल्य द्वारा लोगों के हृदय में मोंके जाने पर भी यह कभी संभव न था कि पुराण-मतवादी उसे आश्रय देते ! किन्तु सुधार का पक्षपाती सुशिक्षित समाज महाराष्ट्र में विशेष प्रमाण में होते हुए और उस समाज के कई आदमी बड़ी बड़ी तन्खाएँ पाते रहने पर भी उनके हाथों 'सुधारक' सम्पन्नावस्था को न पहुँच सका और आगरकर के लिए यह लिखनेका मौक़ा

आया कि पत्रसंपादक को मासिक चार रुपये वेतन मिला! ये बातें सचमुच ही आश्चर्य में डाल देनेवाली है!

गोखले के साथ ही अथवा उनके बाद जो लोग सोसायटी में सम्मिलित हुए वे भी प्रायः केसरी और मराठा में कुछ न लिखते थे। सोसायटी में रहते हुए तिलक से उनका सम्बन्ध झगड़े के रूप में ही रहा। पुराने लोगों में श्री. गोळे एक मार्मिक लेखक थे। किंतु वे प्रसंगविशेष पर ही थोड़ा बहुत लिखते थे। श्री. केलकर के ही तरह उनका स्वभाव भी विनोदप्रिय होने के कारण कभी २ वे दोनों मिल कर भी लिखा करते थे।

आगरकर और केलकर (वासुदेवराव) के सिवाय अन्य किसीसे भी समाचार पत्रों के विषय में तिलक का झगड़ा नहीं हुआ। वैसे भी सोसायटी के सदस्यों मे लिखने की अभिरुचि रखनेवाले ये ही तीन व्यक्ति थे। इनमें से केलकर ने सन १८९१ में केसरी और मराठा से अलग हो जाने पर कोई नया पत्र नहीं निकाला। बल्कि यह भी कह दिया जाय तो अनुचित न होगा कि उनका इससे बादका जीवनक्रम ही सार्वजनिक कार्यों से मुक्त हो गया। हाँ० कॉलेज में शिक्षा-दान का काम, जरूर ये अंतसमय तक करते रहे। आगरकर और तिलक का आजीवन समाचार पत्रों से सजीव सम्बन्ध बना रहा। इन उभय महानुभावों की सामाजिक विचार-पद्धति में जमीन-आसमान का अंतर रहने के कारण उनका यह मतभेद सोसायटी का मतभेद बन गया। और तिलक के सोसायटी से अलग हो जाने पर उनका मतभेद अखिल महाराष्ट्र का मतभेद बन गया। ये उभय वीर थे भी ऐसे ही बुद्धिमान, स्वार्थत्यागी एवं मताभिमानी कि जिनका यहांतक प्रभाव पड़ता।

किंतु इतना तीव्र मतभेद रहते हुए भी ये दोनो एक दूसरे को हृदय से चाहते थे। सार्वजनिक विवाद में गाली-गलौज हो जाने पर भी अपनी अंतिम बीमारी के समय आगरकर को तिलक की याद आई, और उन्होंने इन्हें बुलाकर अपना दुःख हलका किया। इसी प्रकार 'केसरी' में आगरकर का मृत्युलेख लिखते समय तिलक अविराम अश्रुधारा बहाते रहे। कहा जाता है कि उस दो कालम के लेख को तैयार करने में उन्हें इस शोकसागर के उमड़ आनेसे चार घंटेसे भी अधिक समय लग गया! उस लेख में तिलक ने लिखा है कि "मृत्यु के उग्र स्वरूप के सन्मुख छोटे बड़े मतभेद एकदम विस्मृत हो गये और पुरानी याद ताज़ा होकर बुद्धि एवं लेखनी गड़बड़ाने लगी। आगरकर ने मूलतः गरीब स्थिति में उत्पन्न होने पर भी अपनी शिक्षा का उपयोग द्रव्यार्जन के काम में न करके उसे समाज का ऋण चुकाने में ही लगाया'। इस बात को

यथेष्ट महत्त्व दे कर तिलक ने आगरकर को उस पीढ़ी के अनेक ने
श्रेष्ठ सिद्ध कर दिखाया। इसी प्रकार उस लेख में आगरकर के ले
के लिए भी तिलक ने स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि "देशी समा
यदि इस समय किसी कारण से महत्त्व प्राप्त हुआ हो तो उसका श्र
निःसन्देह आगरकर की विद्वत्ता एवं मार्मिकता को है।" हमारे
बात के मानने का भी कोई कारण नहीं है कि ये शब्द मृत्यु-लेख
प्रकट करने के ही लिए लिखे गये हों। इसके इक्कीस वर्ष बाद,
१९१६ में आगरकर की श्राद्ध-तिथी के उत्सव के विषय में जब
लिखने का समय आया तब भी तिलक ने इसी प्रकार निःसंकोच भा
विषयक उद्गार प्रकट किये थे।

"सत्यता, करारपन और एकनिष्ठा एवं स्वार्थत्याग की म
विलक्षण है कि उदयोन्मुख व्यक्ति को भी दारिद्रापन? किंतु एकनि
सेवा करनेवाले मनुष्य की महिमा गानी पड़ती है"..." अपनी
के बलपर व्यावहारिक उन्नति कर सकनेका विश्वास रहते हुए भी,
तरह मनोदेवता को साक्षी करके संकट, विपत्ति, दुःखक्लेशादि को
देश-सेवा के संकल्प को पूरा करनेका जो निश्चय करता है, यह पुर
और वही सच्चा वीर एवं वन्दनीय कहा जा सकता है।" इन दो
ही पता लग जायगा कि तिलक के चित्त में आगरकर के लिए कहांतक
भाव था। तिलक और आगरकर का विवाद सामाजिक विषयों का ह
तिलक इस बात को नहीं मानते थे कि आगरकर की महत्ता उनके विश
सामाजिक मतों के ही कारण थी। विचार एवं मत केवल मानवीय मत
मात्र कहे जा सकते हैं। तिलक के मतानुसार महत्ता या बड़प्पन की
सिद्ध अथवा संपादित अंतःकरण में होती है। अतः आगरकर को
होने अथवा उच्छृंखलतापूर्वक अपना मत प्रकट करने के कारण
वालों की उक्त श्राद्ध-तिथी के दिन तिलक ने अच्छीतरह ख़बर ली।
"मानों सुधार के सिवाय आगरकर ने कुछ किया ही नहीं।......
जिक सुधारकों ने) उन्होंने कभी इस बातकी खोज भी की है कि
राजनैतिक विचार क्या और किस प्रकारके थे? सन १८८८ तक वे
राजनैतिक लेख निकले हैं, वे प्रायः आगरकर के ही लिखे हुए हैं,
बाद सुधारक में भी इस प्रकारके बहुत से लेख निकले हैं। उन स
सूक्ष्मतापूर्वक निरीक्षण करने पर ज्ञान होगा कि आगरकर पक्के
थे।......राजनैतिक एवं औद्योगिक अवनति को देखकर उनका

पनादि प्रथाओं के निरीक्षण से भी अधिक संतप्त एवं दुःखित हो उठता था। उनको दृढ़ विश्वास हो गया था कि इन कामों के लिए स्पेन्सर-आदि के प्रतिपादित स्वराज्य-सिद्धान्त के सिवाय दूसरा कोई उपाय ही नहीं है। जो तर्क-बुद्धि समाज सुधार के विषय में उनमें मौजूद रहती थी, उसी का उन्होंने राजनैतिक विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले अपने लेखों में भी उपयोग किया है। ......जिन्हें अन्य विषयों पर ध्यान देनेकी इच्छा नहीं थी, उन्हें राजनैतिक आगरकर की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। किंबहुना राजनैतिक आगरकर उनके द्वारा हज़म भी न हो सकते।" आगरकर का तर्क-चक्र राजनैतिक एवं सामाजिक सभी विषयों में समानरूप से अप्रतिहत गति से चला करता था। और उसका यह गुण तिलक को भी सोलहों आने पसंद आया था। अर्थात् भूल में पड़ जाने पर भी वे सच्चे थे, इसी में आगरकर की सच्ची महत्ता है। तिलक का यह आक्षेप यथार्थ था, कि उनका श्राद्ध करनेवाले लोग सामाजिक विषयों में तो उन्हीं (आगरकर) की तरह तर्कवश रह जाते थे, किन्तु राजनैतिक विषयों में अवश्य ही वे कर्कश तर्क करके दब्बू नर्म दलिये बन जाते हैं। आगरकर की न केवल बाल्यावस्था ही वरन् उसका सम्पूर्ण जीवन ही गरीबी में व्यतीत हुआ। उन्होंने कभी अपने जी को बहलाने या चैनबाज़ीमें लगाने का प्रयत्न नहीं किया। बल्कि अध्यापक के नाते अपने कर्तव्य का योग्यतापूर्वक पालन कर बचे हुए सारे समय को उन्होंने अपने मनोनुकूल विचारों के चिंतन एवं उपदेश में व्यतीत किया। इस दृष्टि से देखनेपर स्वयं तिलक के कथनानुसार " स्वार्थो यस्य परार्थ एव स पुमानेकः सतामग्रणीः।" वाली उक्तिको चरितार्थ करनेवाले आगरकर की गणना निःसन्देह महाराष्ट्र के महापुरुषों में ही की जानी चाहिये।

विषय में निष्ठा एवं उत्साह दिखाने पर ही सफलता प्राप्त हो सकेगी–हम काम में जुट गये। आरंभ में कुछ दिनोंतक सब बातें यथानियम हुई, इसी लिए पासमें अधिक द्रव्य न रहते हुए भी संस्था की प्रतिष्ठा बढ़ ग उसमें नैतिक बल भी आ गया। किन्तु इसके बाद ही सिद्धान्त के बन्धन लगे और व्यक्ति-माहात्म्य बढ़ चला; तथा हित-सम्बन्ध का प्रसार होकर ह अन्य उद्योगों का समावेश होने लगा। हमारे आचार-विचारों में व्यग्रता उ हो गई। परस्पर विवाद छिड़ गये, पार्टियां बन चलीं, मत्सर बढ़ा और उत्पन्न हो गया। एक दूसरे से रुख मिलाना कठिन हो गया और स्वार्थत्या एवं स्वावलंबन अथच सादेपनका आपस में ही मज़ाक किया जाने लगा! यहांत कि अंत में उससे अरुचि भी उत्पन्न हो गई! दिसम्बर सन १८८९ में होत कर सरकार के दिये हुए सात सौ रुपयों के विषय में आगरकर और मेरे बीच क पत्रव्यवहार उसीका एक प्रत्यक्ष उदाहरण कहा जा सकता है।

इस संस्था में प्रवेश करते समय मूल उद्देश्य क्या था, उसे मैं अपनी समझ के अनुसार बतला देना चाहता हूं। सन १८७९ के जुलाई-अगस्त महीने में एल् एल्. बी. का अध्ययन करनेके लिए मैं डेक्कन कॉलेज में रहने लगा वहीं आगरकर, भागवत, करन्दीकर और मैने मिलकर चर्चा की कि हिन्दुओं मिशनरी ढंग की निजी पाठशालाएँ खोलनी और चलानी चाहिये। ऐसी दशा यह प्रकट बात थी कि इस प्रकार की पाठशालाएँ स्वार्थ-त्याग-पूर्वक काम क पर ही सफल हो सकती हैं। सबके एक साथ काम करने, समानता के न बरतने और समानरूप से श्रम-विभाग किया जाने तथा निजी लाभ के विषयों अलग रहने–आदि का मार्ग कठिन दिखाई देनेपर भी इस विषय में सब एक मत था कि इसी मार्ग से चलकर हम कृत-कार्य हो सकेंगे। तदनुसार हमने पूना के एक सम्मान्य एवं नेता कहलानेवाले सज्जन के पास जाकर कहा कि यदि आप इतना फंड (चंदा) इकट्ठा कर देवें कि जिससे जादासे जादा पचहत्तर रुपये मासिक वेतन दिया जा सके, तो हम लोग अपना सारा जीवन शिक्षा-कार्य के लिए देनेको तैयार हैं; और इसतरह संभवतः निःशुल्क शिक्षा भी दे सकेंगे। उन सज्जन ने उत्तर देते हुए हमारी योजना को ठीक बतलाया किन्तु साथ ही यह भी कह दिया कि बिना प्रत्यक्ष कार्यारंभ किये तुम्हें सहायता नहीं मिल सकेगी। इस उत्तर से हमें निराश हो जाना पड़ा, किन्तु फिर भी उद्देश्य को हमने नहीं छोड़ा।

"इसी बीच हमें पता लगा कि विष्णुशास्त्री चिपलूनकर सरकारी नौकरी छोड़कर निजी पाठशाला खोलनेवाले हैं, अतएव हमने उनके पास जाकर

लो. बाळ गंगाधर तिलक.

अपना मन्तव्य कह सुनाया। उन्होंने भी इस कार्य में नेतृत्व ग्रहण करना स्वीकार किया और सन १८८० के आरंभ से पाठशाला खोलनेका निश्चय हो गया। तबतक भागवत और करन्दीकर के विचारों में परिवर्तन हो चला, अतएव किसी ख़ास व्यक्ति का नाम न देते हुए केवल अपने ही हस्ताक्षर से शास्त्रीजी ने ता. १४ दिसंबर सन १८७६ के दिन पाठशाला का विज्ञप्ति-पत्र प्रकट कर दिया। उस पत्र में उन्हों ने मूल-हेतु की बिना अत्यधिक प्रशंसा किये, केवल यही लिखा कि शिक्षा को सुलभ और सस्ता करना ही हमारा उद्देश्य होगा। ऐसा लिखना एक प्रकार से ठीक भी हुआ। क्योंकि मनुष्य की बुद्धि स्थिर नहीं रहती और उसका निश्चय भी डावांडोल हो जाता है, इसके उदाहरण भागवत और करन्दीकर उनके सामने मौजूद ही थे। उच्च फेलोशिप मिलते ही आगरकर ने भी स्कूल में आने के अपने मन्तव्य को एक वर्ष के लिए स्थगित कर दिया। अतएव ता. १ जनवरी सन १८८० के दिन शास्त्री जी और मैं–इस प्रकार कुल दोही व्यक्ति काम करनेवाले रह गये। इसी बीच नामजोशी भी हममें आ मिले और उनके विरुद्ध नाना प्रकार के लोकापवाद के रहते हुए भी शास्त्रीजी ने उन्हें अपने काम में शामिल कर लिया। इसके बाद हमने श्री. वामनराव आपटे से अपने कार्य में योग देने के लिए प्रार्थना की, किन्तु उस समय उन्होंने इन्कार कर दिया। ऐसी दशा में प्रथमतः अधिक मनुष्य जुटा सकनेके काम में हमें निराशा हुई। जब आपटे को दूसरी और कोई अच्छी नौकरी नहीं मिली, तब वे विवश होकर हममें आ मिले। प्रथमतः उन्हें हमने अपनेसे अधिक वेतन दिया। इसके बाद जब उन्होंने आगरकर को भी इस कार्य में योग देते देखा, तब वे भी संस्था के आजीवन-सदस्य बन गये। किंतु फिर भी, *उनकी यह इच्छा प्रकटरूप में दिखाई देती थी कि संस्था के सिवाय अन्यान्य* कार्योंद्वारा वे विशेष द्रव्यसंग्रह करना चाहते हैं। अतएव उन्हींके उपक्रम से हमने श्री. नामजोशी के "स्वार" पत्र को लेकर उसका नाम "मराठा" रख दिया। इसतरह मराठी "केसरी" और अंग्रेजी "मराठा" ये दो पत्र हमनें निकालना शुरू किया।

"सन १८८१ के आरंभ में आगरकर भी हमारे साथ काम करने आ गये और इस तरह चिपलूनकर, मैं, नामजोशी, आपटे और आगरकर हम पांच व्यक्तियों ने मिलकर एक स्कूल एवं दो समाचार-पत्र चलाना शुरू किया। शास्त्रीजी केवल हेडमास्टरी करते रहे और आपटे के लिए हमें सुपरिन्टेण्डेन्ट की नई जगह कायम करनी पड़ी। यहींसे किसी अंश में प्रथमतः उद्देश्य-भिन्नता दिखाई देने लगी। अस्तु। आरंभ में प्रायः सभीपर काम का बोझ अधिक रहा,

किंतु पात्रता के अनुसार काम बांट दिये गये थे। कभी २ मतभेद अथवा विवा जोरों पर उठ खड़ा होता था। किंतु फिर भी सबके दृष्टिपथ में एकही का रहनेसे झगड़े होनेका अवसर न आ सका। आवश्यकतानुसार यदि किसी क कम-ज्यादा भी वेतन देना पड़ता तो भी हम निःसंकोच उसकी सहायता करते रहते थे। प्रथम वर्ष मैंने और चिपलूनकर ने एक पाई भी स्कूल से नहीं ली। सन १८८२ के मार्च महीने में कोल्हापूरवाला मामला शुरू हो गया। इस आक स्मिक संकट से कुछ दिनोंतक हममें ऐक्यता अधिक जोरपर रही। समानाधिकार का प्रश्न उस समय सामने नहीं लाया गया। बाहर से भी लोगों ने यथेष्ट सहायता दी। अतएव मुकद्दमा हो जानेपर भी पाठशाला बराबर चलती रही। वासुदेवराव केलकर से हमारा परिचय इस मुकद्दमे के ही समय हुआ। सन १८८३ में वे और माधवराव गोले भी हम में आ मिले। किंतु सन १८८२ के अक्टूबर जब हम जेल से छूटे और जब हमारा सम्मान किया गया, तभी आपटे ने हम स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि अबसे मैं समाचार-पत्रों से किसी प्रकार क संबन्ध न रखकर शालोपयोगी पुस्तकें लिखने का ही काम करूंगा। केसरी और मराठा पत्र चलाना स्कूल की दृष्टि से भिन्न कार्य मान लिया जाने पर भी उस (स्कूल) की स्थापना के मूल उद्देश्य का पोषक ही था। किंतु पुस्त कादि लिखना एकदम अन्य बात थी। इसके बाद सितम्बर में जब एज्यूकेशन कमीशन पूने में आया, उस समय हमारी संस्था की ओरसे जो साक्षी दी गयी, उसमें स्पष्ट बतला दिया गया था कि हमारा उद्देश्य मिशनरियों की तरह निस्वार्थ भाव से काम करना एवं महाराष्ट्र भर में पाठशालाओं का जाल फैला देना ही है।

"हमारे आरंभिक तीन वर्ष स्कूल और समाचार-पत्रों की जड़ जमाने में बीते। इसके लिए हमें लोगों की गालियां एवं परिहास की बोछारें भी सहनी पड़ीं। इन बातोंका पता उन लोगों को कहांसे हो सकता है जो अगले सुख-शांति युक्त अवसर में संस्था में सम्मिलित हुए थे? सन १८८३-८४-८५-इन तीन वर्षों में हमने संस्था का संगठन दृढ़ किया। कोल्हापूर के मामले का ऋण अभी कुछ शेष था, किन्तु कर्ज रहनेपर झगड़े कम हुआ करते हैं। अतएव हमारा किया हुआ संगठन स्थिर-मूल हो जानेपर उसमें हम स्वार्थ-त्याग का सिद्धान्त भी समा विष्ट कर सके। सन १८८४ के फर्वरी मास में सर जेम्स फरगुसन हमारे स्कूल का निरीक्षण करने आये, और इसी अवसर पर आबासाहब धाडगे कागलकर ने भी संस्था को उदारतापूर्ण आश्रय दिया। गवर्नर साहब के सन्मुख जो उद्देश्य पत्र पढ़ा गया, उसमें भी कम वेतन लेकर महाराष्ट्रभर में स्कूलों का जाल बिछा

देने एवं प्रजा का कॉलेज खोलकर उच्च शिक्षा देनेके ध्येय का उल्लेख किया गया था। कॉलेज-स्थापना का हेतु केवल यही था कि हमारी तरह स्वार्थत्यागी पदवीधर शिक्षक प्राप्त हो सकें। संगठन के अंतर्नियमों में यह बात निश्चित कर दी गई थी कि सब कार्यकर्ता मासिक वेतन लें तथा प्रसंग-विशेष पर ग्रेचुएटी भी लें, और तीन हजार रुपये का अपने जीवन का बीमा भी करा लें। इन सब सूचनाओं को उपस्थित करते समय मैं ही अग्रसर हुआ था। इस योजना का हेतु भी यही था कि कार्यकर्ताओं के लिए संस्था के बाहर के उद्योगों में ध्यान देने या किसी अन्य साधन से अधिक धन कमाने की आवश्यकता न रहे।

"जेजुइट मिशनरियों के नियम हमारे नियमों से भी अधिक कठोर हैं। उनसे भी अधिक द्रव्यप्राप्त होने का वचन मिल जानेपर भी यदि हम अपनी लोभ-वृत्तिका संवरण न कर एकनिष्ठा से कार्य-रत न हो सकें, तो हमें देशभक्त कहाने का क्या अधिकार हो सकता है? अस्तु। इस प्रकार ता० १४ अक्टूबर सन १८८४ के दिन डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी रजिस्टर्ड संस्था हो गई और सन १८८५ के जनवरी महीने में फर्ग्यूसन कॉलेज भी खुल गया।

"स्कूल और कॉलेज दोनों को सरकार की ओरसे ग्रेंट मिलने लगी। और सोसायटी की साम्पत्तिक स्थिति भी सुधर गई। संस्था की रजिष्ट्री हो जाने-पर आर्यभूषण प्रेस एवं केसरी और मराठा पत्र, संस्था की मूल संम्पत्ति होते हुए भी, उससे अलग रखने पड़े। सन १८८५ से १८८६ तक संस्था का काम यथा नियम होता रहा, किन्तु इसी कारण लोगों का ध्यान दूसरी ओर जाना शुरू हो गया। थोड़ासा आराम मिलना शुरू होते ही अपनी दीनावस्था का हम ही तिरस्कार करने लगे और अधिक प्राप्ति की इच्छा बढ़ चली। उस अच्छी हालत में सोसायटी के नये मेम्बर बननेवालों के लिये तो वह अधिक ही बाधक हुई। नयों ने पुरानों को घेर लिया और मिशनरी सिद्धान्त के अनुसार चलनेवालों का बहुमत नामशेष हो गया। यही आज के इस बड़े हुए झगड़े का मूल कारण है। एक बार झगड़े शुरू हो जानेपर किसने किन साधनों से काम लिया, यह विषय गौण है। प्रधान विषय झगड़े उत्पन्न होनेके कारण जान लेना ही है। ता. २१ अक्टूबर सन १८८९ के दिन, प्रत्येक सभासद के नाम पर निकलनेवाले न्यूनाधिक हिसाबी लेन-देन पर झगड़ा शुरू हुआ, और अंत में जाकर यह निर्णय किया गया कि सबका वेतन समान रखा जाकर हिसाब किया जाय, और जिसके जिम्मे अधिक रुपया लेना निकले वह अपने रुपये शीघ्र जमा करादे। यह समता का सिद्धान्त वैसे तो बड़ा ही सीधा, सच्चा और सुंदर दिखाई दिया, किंतु आगे चलकर यही झगड़े बढ़ाने का कारण भी बन गया।

सन १८८६ में प्रेस विषयक विवाद छिड़ा। प्रेस की साम्पत्तिक स्थिति पा आशा की तरह उत्तम नहीं थी। उसका ऋण तो चुकता जाता था, किन्तु समाचा पत्र के लेखकों का वेतन नहीं दिया जा सकता था! हममें से कई एक व्यं एक पाई तक न लेते हुए अपना पूरा समय पत्र और प्रेस के काम में लगाते और व्यक्तिगत मतों को एक ओर रखकर संस्था के सामुदायिक सिद्धान्त पर पत्र को चलाते थे। अन्य कितने ही व्यक्तियोंने द्रव्योपार्जन के धन्दे शुरू कर दि थे। उसीमें समाचार-पत्रों में प्रकाशित होनेवाले विषय-सम्बंधी मत-भेद की वृद्धि हो जानेसे, अंतमें यह सूचना सामने लाई गई कि, जिसमें मत-भेद की छूत न लग सके ऐसी एक मात्र प्रेसरूपी सम्पत्ति ही सोसायटी कें जिम्मे रहे, और दोनों समाचार-पत्र उससे अलग कर लिये जाँय। यह सूचना अव्यवहार्य सिद्ध हुई, अतएव प्रेस और पत्र दोनों ही से सोसायटी को अलग कर लेने की बात तय पाई। सन १८८६ के जून के लगभग मैंने संस्था के अनुरोध से हिसाब की जांच कर सालभर का आँख निकाला। इसके बाद अक्टूबर में प्रेस पत्र और उनपर का ऋण इन सबका भार वासुदेवराव केलकर ने अपने ज़िम्मे लिया। आग कर केसरी के संपादक थे, अतएव जब उनसे पूछा गया कि क्या आप इन सब जिम्मा लेना चाहते हैं? तो उन्होंने यही उत्तर दिया कि न तो मुझे अ इस पत्र का संपादक ही रहना है और न इस ऋण-ग्रस्त प्रेस को ही सम्हालने की इच्छा है। यहांतक कि उन्होंने इस सारे कारोबार को ही बन्द कर देने की सलाह दी। पर मैं ने कहा कि, केसरी लोकप्रिय पत्र होनेके साथ ही अच्छी तरह चल रहा है, अतएव उसे बन्द न कीजिये, और यदि दूसरा कोई इन्कार करता हो तो मैं ही सारी जिम्मेदारी अपनेपर लेकर उसे चलाने को तैयार हूं। फिर भी केलकर ने ही उन सबका भार अपने उपर ले लिया। प्रेस की व्यवस्था के लिए बम्बई से हरि नारायण गोखले को बुलवाने का निश्चय हुआ। किंतु वे, मेरी ओरसे सहायता देनेका वचन मिलने पर ही आना स्वीकार करते थे, अतएव केलकर के साथ मेरा भी नाम लिखा जाकर यह तय किया गया कि समय पड़ने पर मैं अपने को पत्रका स्वामी प्रकट करूं, (Next hypothecated owner) किन्तु फिर भी गोखले और केलकर के बीच स्वतंत्ररूप से सब शर्तें निश्चित हुईं! मेरा उसमें कोई खास सम्बन्ध नहीं रखा गया।

प्रेस और पत्र सोसायटी से अलग कर दिये जाने पर, यही प्रतीत हुआ था कि अब झगड़े समाप्त हो जायँ गे। क्यों कि आरंभ में सबने इस व्यवस्था को मंजूर किया था, किंतु थोड़े ही दिनों बाद आगरकर को अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा, और तब उन्हें भान हुआ कि उन्होंने अपने सामाजिक

मत प्रकट करनेके साधन को व्यर्थ ही के लिए खो दिया। इसपर, उनसे कहा गया कि श्री. गोखले की तरह आप भी अपने नाम से लेखादि लिखते रहें, और केसरी को अपना ही समझें। किन्तु यह सलाह उन्हें न भाई। यदि उनसे यह कहा जाता कि केसरी को आप ही सम्हालिये तो वे रुपये पैसे की जवाबदारी लेनेसे इनकार करते थे। ऐसी दशा में यह कब हो सकता था कि मत प्रकट करनेवाला कोई दूसरा व्यक्ति हो और रुपये-पैसे का जवाबदार दूसरा? आगरकर कहते थे कि केसरी के पुरातन *सिद्धान्त हमारी संस्था के लिए अनिष्ट-कारक* हैं, क्यों कि उनसे हम सुधारकों की सहानुभूति को खो बैठेंगे। पर केलकर इस ढंग से लिखते थे कि जिसमें किसीको चित्त न दुखने पावे और सोसा-*टी का बहुमत भी उन्हीं की ओर रहे। आगरकर फिर भी झगड़ने से बाज़* नहीं आते थे। एक बार रानडे पर की हुई आलोचना के विषय में जब डॉक्टर भाण्डारकर ने 'गव्हर्निंग बॉडी' में आक्षेप किया तो आगरकर और गोखले ने अपने पुरातन सामूहिक भाव को त्याग कर पृथकता दिखलाई। और भाण्डारकर का साथ दिया। केलकर कहने लगे कि, समाचार-पत्र का मत सोसायटी का मत नहीं हो सकता, इसे मैं प्रकारयरूप से भी कह सकता हूं। आगरकर ने फिर भी यही कहा कि "सो नहीं हो सकता। आप यह प्रकट कीजिये कि केसरी और मराठा में प्रकाशित मत व्यक्तिशः मुझ अकेले के ही हैं।" सोचने की बात है कि कौनसा चतुर संपादक ऐसा करने को तैयार होगा? क्यों कि इससे समाचार पत्र की महत्ता में बट्टा ही लगता है। मतलब यह कि फिर से फूट उत्पन्न हुई और झगड़े बढ़ चले। आगरकर और गोखले समझते थे कि प्रभावशाली एवं सुधारक लोग हमारे पक्ष में हैं, अतएव वे दूसरों को दुर्धारक कहने लगे, अन्त में इन दोनों ने मिलकर सन् १८८८ के अक्टूबर में अपना स्वतंत्र पत्र "सुधारक" के नाम से निकाला, किंतु इस प्रकार दो पत्रों के कारण उत्पन्न होनेवाला झगड़ा टला तो नहीं, बरन् उसमें तीसरे पत्र ने और भी वृद्धि कर दी।

"उसी में आपटे की पुस्तकों ने रहीसही कमी भी पूरी कर दी। अब तक तो अकेले आपटे ही शालोपयोगी पुस्तकें छपाते थे, किंतु अब आर्यभूषण प्रेस के मैनेजर हरि कृष्ण गोखले भी नफ़ा कमाने की दृष्टि से 'संस्कृत-कोश' छापने का विचार करने लगे। इस विषय में उन्होंने आपटे से सलाह पूछी। किन्तु उन्होंने जब इनकार कर दिया तब गोखले ने बंबई के श्रीलचमणराव रूप से पत्रव्यवहार शुरू किया। उन्होंने आपटे की सम्मति से इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। उन दिनों आपटे भी एक संस्कृत-कोश तैयार कर रहे थे, किंतु वह गोखले की योजना से बहुत बड़ा था। अतएव इस छोटे कोश की स्पर्धा में

उन्होंने भी अपना एक संक्षिप्त कोश तैयार कर छपा दिया। प्रेस और सोसाय में जब फिर झगड़ा हुआ, तब मुझे मध्यस्थ बनना पड़ा था। किन्तु आगरकर मुझे आपटे का द्वेषी बतलाकर सारा दोष मुझ ही पर डाल दिया। सोचनेकी बात है कि यदि मुझे आपटे से द्वेषही करना होता, तो क्या मैं खुद अलग अपना कोष नहीं छपा सकता था? किन्तु मुझे तो उस कार्य से प्रयोजन ही न था। क्योंकि मैं प्रेस के लिए परामर्ष-दाता था, अतएव मैंने उसके लाभ की ही सलाह दी। इतने पर भी यदि वह आपटे के हित-विरुद्ध जान पड़े तो इसमें मेरा क्या दोष? सारांश यह कि, प्रेस अलग कर दिया जानेपर भी झगड़े मिटे नहीं। इसका कारण था सोसायटी के सभासदों का बाहरी काम हाथ में ले लेना और उससे पैदा होनेवाला हित-विरोध। होलकर महाराज के ७०० रुपयों की यही गति हुई। प्रथमतः यह रक़म सोसायटी को दी गई थी, किंतु पीछेसे इस के ४०० रुपये आगरकर को उनकी "वाक्य-मीमांसा" नामक पुस्तक के लिए पुरस्कार देने एवं शेष ३०० रुपये अन्य सदस्यों के लिए रखनेका हुक्म लाया गया। नामजोशी का ध्यान भी इसी तरह स्कूल से बाहर की बातों पर ही अधिक रहता था। किन्तु उन्हें बाहरका ही काम सौंपा गया था, अतएव उनसे आरंभ में झगड़ा नहीं हुआ। धीरे २ नामजोशी के भी निजी बाहरी कार्य बहुत बढ़ गये, अतएव मेरे परम प्रिय मित्र होते हुए भी मैं उन्हें खुल्लम् खुल्ली दोष देता रहा। अब वे कॉलेज में अध्यापक नहीं थे, अतएव उनके कार्य उपेक्षणीय हो सकते थे। किन्तु कॉलेज के शिक्षकों की दशा ऐसी नहीं थी। अतएव बिना इस बात का प्रतिबंध किये कि, या तो बाहर का काम ही छोड़ दो, या फिर उस काम से जो कुछ द्रव्य प्राप्त हो उसे सोसायटी के पास जमा कर दो, सोसायटी का काम चल सकना कठिन था। मिशनरी सोसायटियों में इसीलिए इस प्रकार के नियम बनाये जाते हैं।"

"इस बात का झगड़ा न रहने देने के लिए कि स्कूल के लिए पुस्तकें कौन तयार करे, सन १८८८ में यह नियम बना दिया गया कि विज्ञापन देकर पुस्तकें मँगवाई जाँय, और जो पुस्तक उत्तम सिद्ध हो उसीको ख़रीद लिया जाय। अगले ही वर्ष इस नियम को तोड़कर सोसायटी ने गोखले को गणित-विषयक पुस्तक के लिए मंजूरी दे दी।"

"आरंभ में इस बात का निश्चय हुआ था कि सोसायटी के सदस्य निर्वाह मात्र के लिए वेतन लें। यह रक़म आरंभ में ७५ रुपये रखी गई थी। किन्तु इसके बाद दक्षिणा फेलोशिप के वेतन पर ध्यान देते हुए रक़म १०० रु तक बढ़ा दी गई। यह नियम भी केवल दूसरों के ही लिए बनाया गया था

क्योंकि आगरकर और मैं–हम दोनों तो ४० रुपये मासिक वेतन पर ही आजीवन काम करने को तैयार थे। आगरकर ने अपना " आवश्यकतानुसार वेतन लिया जाय " यह मत को बदल कर थोड़े ही दिनों बाद यह सिद्धान्त उपस्थित किया कि ' संस्था की साम्पत्तिक स्थिति के अनुसार वेतन ' लिया जाय। उनकी इस शिथिलता पर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। और जब मैंने उनके सामने अपने पिछले स्वार्थ-त्याग का मसला पेश किया तो उन्होंने तत्काल उत्तर दिया कि " तुम्हें भी पिछले वर्षों का अवशिष्ट वेतन, यदि चाहोगे, तो दे दिया जायगा "। हमने उस समय इस इरादे से स्वार्थ-त्याग नहीं किया था कि इस समय का अधिक वेतन हम फिर ले लेंगे। इसके अलावा, सबके लिए समान वेतन का निश्चय हो जाने पर जिसे आवश्यकता अधिक हो उसके लिए बाहर का काम करने की स्वतंत्रता स्वयमेव ही मिल जाती है। सन १८८७ के फर्वरी मास की पांचवीं तारीखको खुद आगरकर को अधिक वेतन की आवश्यकता थी, और प्रेचुएटी लेना उन्हें पसंद न था, अतएव उन्होंने सबके वेतन समानरूप से बढ़ाये जाने की सूचना उपस्थित की। इसके मंजूर हो जाने में व्यक्तिशः मेरे लिए भी लाभ ही था, किंतु मैंने इस सूचना का विरोध किया। मेरा सिद्धांत ही यह था कि यदि निर्वाह-मात्र का वेतन मिलता रहे तो संस्था को थोड़ासा अर्थ लाभ होता देखकर तत्काल वेतन बढ़ाने के लिए बाध्य न किया जाय। हां, यदि संस्था सदैव के लिए धनसम्पन्न हो जाय तो बात दूसरी है। अतएव यदि खुद आगरकर को ही आवश्यकता अधिक हो तो वे इच्छा प्रकट करनेपर अपने लिए प्रेचुएटी प्राप्त कर सकते हैं। मेरी बात लोगों को पसंद आगई, अतएव आगरकर ने जो बहुमत अपने पक्ष में कर रक्खा था, वह बदल गया। इस पर वे बड़े क्रुद्ध हुए। उन्हों ने एवं गोखले ने अपना हेतु सिद्ध करनेके लिए नियम बदलनेका ही निश्चय कर लिया। ऐसी दशामें मुझे आगेके लिए संस्था में रहना निरर्थक प्रतीत होने लगा। सोसायटी के मूल उद्देश्य को बदल देनेके लिए कच्चा बहुमत काम दे सकता था, किन्तु सामान्य विषयों के लिए सर्वानुमत की ही आवश्यकता समझी गयी। ये दोनों बातें परस्पर विपरीत हैं। इसके अलावा प्रेस को ३०० रुपये ऋण देनेके लिए आगरकर की सम्मति न थी और नामजोशी की मांगी हुई प्रेचुएटी का भी वे विरोध कर चुके थे, ऐसी दशा में भी ३०० रुपये गोखले को ऋण दिलानेकी सूचना उन्हींके द्वारा पेश हुई। इसी प्रकार सोसायटी के सदस्यों के लिए स्कूल से बाहरके रखे जाने योग्य व्यवहार पर भी मत-भेद हो चला। भेंट प्राप्त करनेके लिए हिसाब रखनेके ढंग पर भी विवाद छिड़ गया। साथ ही स्कूल में दस्तकारी की शिक्षा का प्रबंध किया जाने एवं बोर्डिंग कायम

गया है, तो उचित यही होगा कि सोसायटी छोड़ दी जाय। सदस्यों ने शाब्दिक दृष्टि से पुराने सिद्धान्त न बदला हो, किंतु वे उसके विरुद्ध आचरण बराबर करते आ रहे हैं। मैंने समझाने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया, किंतु फल कुछ भी न निकला। जिस बात को न करनेके लिए मैं लोगों पर जोर दे रहा हूं, उसीके करनेका दोष मुझपर लगाया जाता है। मैंने कुछ दिनोंतक कांग्रेस का काम किया है सही, किन्तु उस समय मैं खुद छुट्टीपर था या छुट्टी का इरादा जाहिर कर चुका था। सन १८८६ से पहले मुझे कांग्रेस का काम दिया जाता था, किन्तु मैंने उसे लेनेसे इन्कार कर दिया। पिछले दो वर्षों में मैंने नाम को भी बाहर का काम नहीं किया; जब कि स्कूल का काम करते हुए भी मैं थोड़ी-बहुत वकालत कर सकता था। प्रेस का काम भी मैंने अपने लिए नहीं किया और कांग्रेस का काम भी बिलकुल अल्प समय के लिए था। इसी प्रकार बरख्वास्त किये गये तहसीलदारों का कार्य भी तात्कालिक ही था।"

'मैं खुद अपने को निर्दोष नहीं समझता। मैंने खरी खरी सुनाकर कई व्यक्तियों का जी दुखाया है। किन्तु कितनी ही बार मैंने यह भी केवल प्रतिक्रिया के ही रूप में किया है। ऐसी अवस्था मेरे सोसायटी में रहने और निरन्तर झगड़ा मचा रहने की अपेक्षा यही उचित होगा कि मैं सोसायटी से ही अलग हो जाऊं। यद्यपि इससे मूल सिद्धान्त अवश्य नष्ट हो जायगा किन्तु झगड़े से तो लोग बचेंगे! ख़ैर। *आज न्यू इंग्लिश स्कूल या इस शिक्षा-संस्था को छोड़ते हुए मुझे यही* प्रतीत होता है कि मैं अपने जन्मभर के ध्येय को छोड़ रहा हूं, किंतु लाचारी है।"

तिलक का यह त्याग-पत्र २२ कलमों में समाप्त हुआ है, और लगभग ४० पृष्ठों में लिखा गया है। इस बात को हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि इतना विस्तृत त्याग-पत्र देने का तिलक का निश्चय शुरू से ही था या नहीं। किन्तु यह त्याग-पत्र वस्तुतः सम्बन्ध-विच्छेद के कारणों की खुलासेवार कलमबन्द कैफियत ही कहा जा सकता है। ता. २१ नवम्बर सन १८६० के दिन यह त्याग-पत्र डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी की कौंसिल के सन्मुख उपस्थित किया गया, और उस समय सभा में निम्न लिखित आशय के प्रस्ताव स्वीकृत हुए:—

प्रो. वामन शिवराम आपटे ने प्रो. तिलक और प्रो पाटणकर के इस्तीफ़े पढ़कर सुनाये। इस पर कौंसिल के चेयरमैन ने सूचित किया कि, तिलक और पाटणकर आजीवन सदस्यता का त्याग-पत्र देकर सोसायटी को छोड़ रहे हैं यह जानकर कौंसिल खेद प्रकट करती है। इसपर रा. सा. विष्णु बालकृष्ण सोहनी और डॉ. विश्राम रामजी घोले ने यह उपसूचना उपस्थित की कि इस प्रकार का खेदप्रदर्शक प्रस्ताव पास करनेसे पूर्व उक्त दोनों सज्जनों से कहा जाय कि वे

त्याग-पत्र उपस्थित करनेके निजी कारणों को—यदि कोई हों तो—ता. ६ दिसम्बर सन १८६० तक प्रकट कर दें। यह सूचना मंजूर की गई और इसके वाद रावबहादुर माधवराव रानड़े ने तिलक और नामजोशी के बीच का कुछ पत्र-व्यवहार पढ़ सुनाया; जिसका मुख्य विषय यह था कि, तिलक और सोसायटी के अन्य सदस्यों के बीच वादविवाद के जो २ कारण हों उनका निर्णय अन्यान्य पंचों द्वारा किया जा सकता है या नहीं। यह प्रश्न स्थगित रखा जाकर ता. १९ दिसम्बर के दिन फिर उपस्थित किया गया। उस समय वामनराव आपटे ने कहा कि इस विवाद को अन्य पंचों के हाथ में देकर उनसे निर्णय करानेमें कोई लाभ नहीं जान पड़ता। इसके वाद चेअरमैन ने तिलक की कैफियत पढ़ सुनाने को कहा। किंतु इसके वाद अन्तमें यही निर्णय हुआ कि ये सब कागज-पत्र कौंसिल की मैनेजिंग कमेटी को सौंप दिये जाँय, और वह इनपर उचित निर्णय प्रकट करे।

डॉ० भाण्डारकर ने तिलक के त्याग-पत्र को पढ़कर उसके नीचे अपनी राय इस प्रकार लिख दी थी—" तिलक के त्याग-पत्र को मैंने पढ़ देखा, किंतु उस परसे यह नहीं जान पड़ता कि वे कुछ कहने-सुनने से उसे वापस ले लेंगे। यह स्पष्ट ही प्रकट है कि तिलक और सोसायटीवाले उनके सहकारी व्यक्तियों के बीच आज कई वर्षों से झगड़ा बढ़ रहा है। तिलक के कथनानुसार जिन सिद्धान्तों पर आजीवन सदस्य बनानेका आरंभ में निश्चय हुआ था, उनमें कोई अन्तर पड़ा है या नहीं सो नहीं कहा जा सकता, और कमसें कम उसकी चर्चा तो अनावश्यक ही प्रतीत होती है। हां, इस त्याग-पत्र के एक वात की ओर दुर्लक्ष्य करनेसे काम नहीं चल सकता। उन्होंने मैनेजिंग वोर्ड पर वेईमानी का सरल आक्षेप किया है। और उसका उत्तर देने के लिए विवश होकर बोर्ड से कौंसिल को अनुरोध करना पड़ता है। " इसके वाद ता. २ फर्वरी सन १८६१ को कौंन्सिल की बैठक हुई। उसमें तिलक के मूल दोषारोपण एवं वोर्ड के उत्तर पर विचार होकर सेल्वी साहव की सूचना पर से यह प्रस्ताव किया गया कि " तिलक के किये हुए आक्षेप को यह कौंसिल विलकुल निराधार समझती है "। इसके वाद गोखले और आपटे के कहने पर यह प्रस्ताव तिलक के पास भेजा गया, और ता. १६ फर्वरी को उन्होंने इसका उत्तर दिया। इस प्रत्युत्तर का विचार ता. २८ अप्रैल की बैठक में हुआ और तव भाण्डारकर एवं सेल्वी साहव की सूचना पर से यह प्रस्ताव किया गया कि ' सब वातों का विचार करनेपर भी कौंसिल का यही मत है कि, तिलक ने अन्य सदस्यों पर वेईमानी की हद्द तक पहुँचनेवाला का जो दोषारोपण किया है, वह निराधार हैं। इन प्रस्तावों पर अन्य किसी भी सदस्य की ओरसे विरोध प्रकट किया जाना नहीं पाया जाता। हाँ, इस अंतिम

प्रस्ताव पर प्रो. धारप के तटस्थ रहने अर्थात् किसी ओर को मत न देनेका उल्लेख अवश्य मिलता है।

तिलक का त्याग-पत्र इतना विस्तृत है कि उसके विषय में पृथक्-रूप से कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती और न उनके प्रति-पक्षियों की ओरसे ही उनकी बातों का कोई खंडनात्मक विवेचन-पत्र प्रकाशित होनेका पता लगता है। तिलक के सोसायटी से अलग होनेका उल्लेख पूना के विवादों में अंतसमयतक कब २ आया सो देखिये:—सन १६१६ में तिलक की ज्युबिली के समय अभिनन्दनात्मक रूप में पूना की 'बाल-शिक्षण-माला' नामक पत्रिका को गणेश महादजी धाटवल ने तिलक-अंक निकाला उसमें हरि रघुनाथ भागवत ने तिलक के डे. ए. सोसायटी से अलग होने के कारणों पर एक लेख छपवाया है, जिसकी कई बातों पर ज्ञान-प्रकाश आदि पत्रों में चर्चा हुई। इसी प्रकार १६१६ में तिलक के विलायत से लौटने पर जब उन्हें अभिनन्दन-पत्र दिया गया, तब भी उनके त्याग-पत्र की बातों पर थोड़ीसी बहस हुई थी। किंतु उनके त्याग-पत्र पर साधक-बाधक चर्चा होती कहीं नहीं देखी गई। तिलक के पक्षपाती तिलक को अच्छा कहते रहे और आगरकर के पक्षपाती आगरकर को। इस पक्षपात समर्थन से त्याग-पत्र के मुख्य मुद्दों का कोई सम्बन्ध नहीं लगाया जा सकता।

समाज-सुधार का जो विवाद तिलक और आगरकर के बीच केसरी के संपादकीय क्षेत्र में छिड़ रहा था, उसका निर्णय सन १८८७ में ही हो चुका था। अर्थात् जब निर्विवादरूप से केसरी का सम्पादकत्व तिलक के अधिकार में आ गया, तब आगरकर ने भी अपना निजी-पत्र प्रकाशित कर अपने मत-स्वातंत्र्य के लिए इतना विस्तृत मार्ग कर दिया कि जिस में उनकी चार पहियों की गाड़ी अच्छीतरह दौड़ायी जा सके। ऐसी दशा में प्रेस और समाचार-पत्र विषयक सोसायटी के संकीर्ण कलह का कारण कमसे कम तिलक-आगरकर की दृष्टिसे तो दूर हो ही गया था। इसी लिए तिलक ने अपने त्याग-पत्र में उनका कोई उल्लेख नहीं किया है। अवशिष्ट किन्तु सच्चा विवाद सोसायटी की मूल रचना-विषयक सिद्धान्त का था। इस में एक मूल सिद्धान्त यह था कि सोसायटी का प्रत्येक सदस्य अपना पूरा २ समय सोसायटी के ही काम में लगावे। इस विवाद में आगरकर तिलक के प्रतिपक्षी के नाते शामिल हुए थे, किन्तु सच्चे विरोधी आपटे, गोखले आदि ही थे। आपटे तो सोसायटी में शामिल होते समय ही इस बन्धन से मुक्तता प्राप्त कर चुके थे, किन्तु गोखले आदि सदस्य नये थे, अतएव इनकी इच्छा उक्त बन्धन से मुक्त होनेकी हुई। ले देकर अकेले आगरकर ही एक

ऐसे व्यक्ति थे जो तिलक के साथ मूल संकल्प में सम्मिलित थे, और इन्हीको उसका कठोरतायुक्त पालन करने के लिए तिलक वाध्य भी कर सकते थे। आगरकर हृदय के गंभीर और स्वार्थ-त्यागी थे, तथापि केवल परिस्थिति के कारण मूल वन्धन को ढीला करनेके लिए प्रवृत्त हो गये थे। साथ ही एक कारण यह भी था कि आपटे और गोखले आदि के कारण सोसायटी का बहुमत भी प्रायः इसी प्रकार का वन गया था। इस मूल सिद्धान्त के विषय में वहुमत अपने विरुद्ध होनेकी वात तिलक को स्वीकृत थी। वे तो यहांतक कहते थे कि ऐसे विषयों में वहुमत होते हुए भी अल्प संख्याक लोगों को यह अधिकार है कि वे मूल सिद्धान्त के पालनपर जोर दे सकें।

सख्ती की निगाह से देखा जाय तो तिलक का कथन यथार्थ कहा जा सकता है, किंतु यह नहीं हो सकता कि संस्था के बहुमत को बदला न जा सके। इस विषय में ले देकर यदि कोई बड़ेसे बड़ा उदाहरण दिया जा सकता है तो वह किसी कम्पनी के मेमोरेंडम ऑफ् एसोसिएशन का। आवश्यकतानुसार बहुमत हो जाने पर थोड़ेसे कागजी घोड़े दौड़ाकर कम्पनी की उद्देश्यपत्रिका भी बदली जा सकती है। ऐसी दशा में तिलक का अनुरोध यथार्थ हो या मिथ्या, किंतु बहुमत के आगे वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। इसी लिए उन्हें त्याग-पत्र देना पड़ा। यह तो जो कुछ होना था सो हो गया; किन्तु डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी को जेजुइट लोगों की धर्म संस्थाओं की तरह चलाने के मूल उत्पादकों के संकल्प की जो वात तिलक ने कही थी, उसका विरुद्ध प्रमाणों द्वारा किया गया खंडन कहीं भी देखने में न आया। इसी प्रकार आगरकर के विषय में अर्थात् होलकर सरकार की ओर से मिली हुई ७०० रुपये की सम्पत्ति के विषय में तिलक ने यह स्पष्टरूपसे कहा था कि "जब होल्कर महाराज की ओर से हम लोगों को बुलौआ आया, तब हम दोनोंने यही कल्पना की कि वे अवश्य ही कुछ आर्थिक सहायता देंगे। जो कुछ भी वहां से मिले उसे अपने लिए न रखकर संस्था को ही सौंप देनेका संकल्प हमने चलनेसे पहले ही कर लिया था। इसके वाद हम महाराजा साहब के पास गये, किन्तु वहांसे रुपया मिलते ही आगरकर ने अपना मत बदलकर आधे हिस्से की रकम ले ली।" तिलक ने उस में की एक पाई को भी हाथ न लगाया इस स्पष्ट आरोप को खुद आगरकर भी उत्तर न दे सके। तिलक ने अपने हिस्से की रकम सोसायटी में जमा की या नहीं, यह तो सप्रमाण सिद्ध किया जा सकता है, और यदि वह सिद्ध हो जाय तो महाराजा के पास जानेसे पहले किये हुए संकल्प के सम्बन्ध में तिलक का कहना अनायास ही सत्य सिद्ध होता है। इस वात को मानने के लिए भी कोई आधार नहीं है कि,

केवल आगरकर को ही नीचा दिखानेके लिए आधी रक़म सोसायटी को देकर तिलक ने यह कपटयुक्त चाल चली होगी।

स्कूल के लिए ग्रैंट ली जाय या नहीं, यह भी एक विवादास्पद प्रश्न हमारे सामने इसी सिलसिले में आ जाता है। सरकारी ग्रैंट लेनेसे शिक्षा-संस्था के संचालक का स्वातंत्र्य नष्ट हो जाता है, अतएव तिलक ने सरकारी सहायता लेनेसे रोका, किन्तु दूसरों ने ग्रैंट लेनेमें कोई हानि न बतलाई। यह मुद्दा त्याग-पत्र के लिए कारणीभूत हो सकता था या नहीं, इस प्रकार का प्रश्न सन १६१६ के कलह के समय उपस्थित किया गया था। किन्तु उस त्याग-पत्र में इस विषय को ज़रा भी महत्त्व नहीं दिया गया था। अतएव यह नहीं माना जा सकता कि तिलक ने स्कूल या कॉलेज के लिए सरकारी ग्रैंट लेनेसे इनकार किया हो। वह द्रव्य सरकारसे मिलनेपर भी होता तो प्रजा का ही है, इसी लिए सहायता के रूप में जो कुछ मिल सके उसे निःसंकोच ग्रहण करने योग्य है। ऐसी दशा में विवादास्पद प्रश्न केवल यही रह जाता है कि ग्रैंट के लेने से स्वतंत्रता कहांतक रहती या चली जाती है। यही सूक्ष्म प्रश्न तिलक एवं अन्य सदस्यों के बीच झगड़े का मूल कारण बन सकता था। किंतु इस विवाद में मतों की कसौटी कर देखने का समय हमारे मतानुसार तिलक के सोसायटी से अलग होनेतक भी नहीं आया। इस अवसर में स्कूल एवं कॉलेज की उन्नति बराबर हो रही थी। सरकार से सहायता ली जाती थी और अभीतक सोसायटी के सदस्यों के विषय में भी सरकार का मन शंकित न हो पाया था। इसी लिए कभी ऐसा मौक़ा न आया कि जिसमें सरकार को अपनी व्यवस्था की कँटीली लगाम खींचनी पड़ी हो, और उससे सोसायटी का मुँह छिल गया हो। इसकी सची कसौटी तो सन १८९७ एवं इसके बाद ही हुई। यदि उस समय तिलक सोसायटी में होते तो वह वाद जो कभी सामने न आ सका था, इस समय अवश्य आ जाता। और जब यह प्रश्न छिड़ता तो तिलक या दूसरे लोगों की सम्मति किस प्रकार की होती, इसकी कल्पना पाठक स्वयमेव ही कर सकते हैं। अस्तु। सन् १८८६ में ग्रैंट विषयक प्रश्न का महत्व न बढ़ने की बात निर्विवाद सिद्ध है।

यदि त्याग-पत्र के फुटकर बातोंको छोड़ भी दिया जाय तो मुख्य सिद्धान्त का केवल एक ही प्रश्न शेष रह जाता है, और वह यह कि सोसायटी के सदस्य लोग अपने बचे हुए समय में शिक्षा के सिवाय अन्य काम करें या नहीं और यदि करें भी तो उससे प्राप्त होनेवाली रक़म निज की मानी जाय या सोसायटी की? तिलकके इस्तीफे का सारा झुकाव ही इस प्रकार का है कि यहां सिद्धान्त-विषयक विवाद ही फूटका मूल कारण हुआ है। हमारे मतानुसार, यह सिद्धान्त-विषयक

यथार्थ होता, किंतु अन्य विषयों में यदि सोसायटी के सदस्यों का अन्तः-करण विरक्त न हुआ होता, या व्यक्तिगत द्वेष न बढ़ जाता तो यह सिद्धान्त का वाद कभी दुस्तर न हो सकता था। नामजोशी और तिलक में भी तो सब सिद्धान्तों में एकमत नहीं था। किंतु फिर भी, उन दोनोंके बीच बिना किसी प्रकार का झगड़ा हुए ही अंततक निभ गई। इसी प्रकार यदि आपटे, आगरकर और तिलक के बीच अन्य विषयों में एकमत होता तो इस सिद्धान्त-विषयक वाद में उनके झगड़े इतने अधिक न बढ़ सकते थे। पर इस सब लोगों के चित्त यहांतक बिगड़ चुके थे कि किसी निजी बैठक में भी इनका उठना-बैठना बंद हो चला था। जब स्कूलमें एकही स्थानपर बैठना अनिवार्य हो जाता, तब इनके झगड़े इस हद्दतक बढ़ जाते कि जिन्हें देखकर कभी २ विद्यार्थि-लोग भी आपसमें आलोचना करने लग जाते थे। जब एक-दूसरे को दोष देनेकी प्रवृत्ति शुरू हो जाती है, तो फिर निमित्त के कारणों की खोजमें विशेष दिमाग नहीं लड़ाना पड़ता। वेतन-वृद्धि या रुपये-पैसे की मांगके समय तिलक आड़े आते थे और अनियमितता एवं कम काम करने आदि के आरोप लगाकर आपटे-प्रभृति तिलक को नीचा दिखानेका प्रयत्न किया करते थे। ये बातें हमेशाही होती रहती थीं। युद्ध में वीर सैनिकों की अपेक्षा किराये के टट्टू ही अधिक हानि पहुँचाते हैं। सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्तिविषयक मत भेद ही सोसायटी की ऐक्यता के नाश का कारण हुआ और इसी लिए तिलक को त्याग-पत्र देना पड़ा।

तिलक बहुमत के सिद्धान्त को मानते अवश्य थे, किन्तु विरुद्ध मतवाले लोगों में चुप बैठ रहने या विवाद के समय मौन साध लेने की वृत्ति उनमें स्वभावतः ही न थी। अन्त में जब बहुमत के विरुद्ध रहनेसे विवाद और मानहानि का प्रमाण बढ़ चला, फिरभी जब मनोनुकूल ध्येय की सिद्धि न दिखाई दी, तब तिलकका त्याग-पत्र उपस्थित कर देना ही उचित हुआ। बिना इसके न तो उनका चित्तही शांत हो सकता था, और न स्कूलसे अलग हो जानेपर उनके हाथों ऊँचे दर्जे का राजनैतिक कार्य ही हो सकने की संभावना थी। तिलक के प्रति-पक्षियोंका यह एक स्थायी आक्षेप उनपर है कि, तिलक समानबल एवं समानकर्तृत्ववाले लोगों के साथ अधिक दिनोंतक रहकर काम नहीं कर सकते और उनका हमेशा यही आग्रह रहता था कि मैं जहां कहीं भी जाऊंगा वहां अपनी सत्ता चलाऊंगा, बस यही दुराग्रह परस्पर की फूटका कारण था। यदि इस आक्षेप को सत्य मान लिया जाय, तो कहना होगा कि तिलक के त्याग-पत्र देकर अलग हो जानेही श्रेयस्कर एवं बुद्धिमत्ता का सूचक था। जो हो तो भी यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिस ध्येय की सिद्धि के लिए तिलक ने वकालत करना छोड़कर शिक्षा-संस्था क़ायम की थी वह आठ वर्षोंतक प्रयत्न करनेपर भी जब सिद्ध न हुआ, तब उसे छोड़कर उन्हें अपने जीवन की दिशा बदल देनी पड़ी।

दशम-विभाग।

क्राफर्ड-प्रकरण।

डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी से अलग होनेका निश्चय तिलक के मनमें ज्यो २ दृढ़ होने लगा, त्यो २ वाहर के सार्वजनिक कार्यो में योग देनेकी योजनाएँ भी वे मन में करने लगे। राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) का कार्य भी उन्हीं योजनाओं में से एक मुख्य कार्य था। सन १८८१ की प्रथम कांग्रेस पूने में ही की जानेवाली थी, किंतु कुछ खास कारणों से वह पूने में न हो सकी। इसके बाद तीन वर्षतक कांग्रेस बाहर के प्रान्त अर्थात् कलकत्ता, मद्रास और इलाहाबाद आदि स्थानों में घूमकर जब पुनः बम्बई प्रान्त में उसका अधिवेशन किये जानेका अवसर आया, तब सन १८८९ की कांग्रेस पूना में ही किये जानेकी लोगों ने सलाह दी। इस बार भी थोड़ासा मतभेद हो जानेसे रंगढंग दिखाई देने लगे कि बंबई के नेता-गण पूने का अधिकार छीनकर कांग्रेस का अधिवेशन बम्बई में ही करेंगे, ऐसी दशामें पूनावालों को बुरा लगना स्वाभाविक ही था। फिर भी, वे अपना यह अधिकार प्रकट करते रहे कि इस नगर में, लोकमान्यता को प्राप्त करनेवाली पुरातन सार्वजनिक सभा मौजूद है, अतएव पहला नहीं तो कमसे कम दूसरी बार का कांग्रेस अधिवेशन का सम्मान तो पूनावालों को अवश्य ही दिया जाना चाहिये। इसके लिए पूना में जो खानगी सभा हुई उसमें राष्ट्रीय महासभा के खर्च के लिए चर्चा शुरू होते ही ढाई हज़ार का चंदा, वहीं लिखवा दिया गया! बम्बईवालों का चित्त न दुखाते पूना में कांग्रेस की जाने का प्रयत्न करनेके लिए बलवंत रावजी तिलक और माधवराव नामजोशी को पूना निवासियों ने अपने वकील बनाकर बम्बई भेजा। किंतु यह प्रयत्न भी व्यर्थ गया।

फिर भी, उपर्युक्त बातसे यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है कि, रा. ब. रानडे को छोड़कर राजनैतिक विषयों का नेतृत्व कमसे कम पूने के लिए तो तिलक को ही मिल चुका था। उन्हीं के साथ २ हमें श्री. नामजोशी का भी नामोल्लेख अवश्य करना होगा, क्योंकि इससे पहले दो तीन वर्षोंतक अर्थात् फर्ग्यूसन साहब के शासन के अंत और रे साहब के शासन से पूर्व की अवधि में अपनी उद्योगप्रियता के द्वारा नामजोशी ने नेतापद प्राप्त कर लिया था। पूना निवासियों का संकल्प था कि यदि हमारे यहां राष्ट्रीय महासभा की बैठक हुई तो उसका अध्यक्षस्थान रा. सा. मण्डलिक को दिया जायगा। किन्तु वह सभा बम्बई में ही हुई। इधर ता. ९ मई सन १८८९ को रा. सा. मण्डलिक का देहांत भी हो गया। अतएव पूना निवासियों के सारे संकल्प नष्ट हो गये। फिर

भी उस वर्ष की बम्बई प्रान्तीय सभा का द्वितीय अधिवेशन करने का सम्मान पूनावालों को अवश्य मिला। इस सभा का प्रबंध पुरानी प्रान्तिक कमेटी के जिम्मे था। इस सभा के कारोबार में शिथिलता होनेकी बड़ी शिकायत थी। बाहर के प्रतिनिधि भी यथेष्ट संख्या में आये। किंतु खास पूना शहर से प्रतिनिधियों का चुनावतक न हुआ। और न बम्बई के नेताओं को ही सभा में लाने का प्रयत्न किया गया। इन कारणों से पुरानी व्यवस्था दूषित ठहराई गई, और कार्य परिवर्तनार्थ अगली प्रान्तीय सभा के मंत्री तिलक, नामजोशी और गोपालराव गोखले चुने गये। रा. ब रानड़े का शिष्यत्व स्वीकार करनेके साथ ही आगरकर के मित्र एवं 'सुधारक' के संपादक के नाते गोपाल कृष्ण गोखले का सार्वजनिक जीवन में प्रवेश हुआ था। उनके फुर्तीलेपन को देखकर लोगों के चित्त में उनकी कर्तव्य-शीलता के लिए आशा भी बँध गई थी।

राष्ट्रीय सभा के सम्बन्ध में पूना प्रान्त में प्रयत्न करनेका भार सन १८८६ से तिलक पर आ गया, किंतु वह कार्य बहुत ही थोड़ा अर्थात् हर किसी समय जरासी देरमें किया जा सकता था। इसी अवधि में तिलक के लिए एक महत्वपूर्ण कार्य-क्षेत्र और भी तैयार हो रहा था। उसमें तिलक ने दूसरों के कहनेसे प्रवेश किया था, किंतु इस प्रकार थोड़ेही प्रयत्न से तिलक के अपूर्व गुणों का परिचय लोगों को हो गया। वह कार्य क्राफर्ड-प्रकरण के सम्बध में ही था। इस कार्य के दो भाग थे। उनमें एक यह था कि क्राफर्ड साहब की रिश्वत खोरी के मामले और ढंग प्रकाश में लाकर नीतिमत्ता की घमंड लगानेवाले यूरोपियन लोगों की दुर्नीति का लोगों को निदर्शन कराया जाय। इस कार्य में खुद बम्बई सरकार ही अगुआ बनी थी, अतएव तिलक जैसे गैरसरकारी लोगोंके करने योग्य काम थोड़ाही था। इस कार्य का दूसरा विभाग अधिक कठिन एवं भारतीयों के लिए हितकारक था। वह कार्य इस बातका प्रयत्न करना था कि जिन तहसीलदार आदि लोगों ने सरकार के कहनेसे क्राफर्ड साहब को रिश्वत देने या दिलवाने की बात स्वयमेव ही स्वीकार करके अपने को दोषी बना लिया था, उन्हें जब सरकार अपने कार्य से अलग करे तो उनपर फौजदारी के मामले न चल सकें। उन्हें मिली हुई माफी के अनुसार उनके अधिकार या कमसे कम उनके वेतन तो अवश्य ही क़ायम रहें। व्यक्तिगत रूप से तिलक का न तो क्राफर्ड साहब से कोई वैर ही था और न किसी प्रकार का विशेष सम्बन्ध ही। पूना के अगुआ लोगों में केवल एक ही व्यक्ति की क्राफर्ड साहब से मैत्री थी, किंतु यह मैत्री जीवश्च-कण्ठश्च थी। वे सज्जन सीतारामपंत चिपलूनकर थे। तिलक का क्राफर्ड साहब से, अपने पितावाले मामले में अर्थात् एक-प्रकार से खुद उन्हींके जो दो हज़ार रुपये "रत्नागिरी सॉ मिल" कम्पनी

के हिसाब में डुबा दिये गये थे,- उनके सम्बन्ध में एक बार सम्बन्ध आया था। किंतु इस बार उस बात को ध्यान में रखकर तिलक ने इस काम को हाथ में नहीं लिया था। क्राफर्ड-प्रकरण में तिलक ने जो कुछ काम किया, उसका बदला अवश्य. क्राफर्ड साहब ने तिलक से चुका लिया। अर्थात् सन १८९७ में जब तिलक को दुबारा जेल जाना पड़ा, तब इस संवाद को सुनते ही क्राफर्ड साहब ने विलायत में रहते हुए भी समस्त चित्पावन ब्राह्मणों और ख़ासकर पूना के चित्पावनों एवं यहांके देशी समाचारपत्रों पर मनमाना प्रलाप करके एवं उन्हें अच्छीतरह गालियां देकर अपनी आत्मा को संतुष्ट किया। यही नहीं, बल्कि एक निकम्मी पोथी अपने खर्च से छपाकर उसे वहां बिनामूल्य वितरण भी किया।

अस्तु। अब क्राफर्ड-प्रकरण-विषयक तिलक की कारगुजारी बतलानेसे पहले यही उचित होगा कि, क्राफर्ड-प्रकरण से हम अपने पाठकों को जानकारी करा दे। क्राफर्ड साहब एक अंग्रेज सिविलियन थे। ये बड़े बुद्धिमान् व्यक्ति थे। किंतु बुद्धिमानों में रहनेवाला आलस्य भी इनमें पूर्ण प्रमाण में मौजूद था। महीना महीना भर चैनबाज़ी में उड़ाकर जब काम बढ जाता तब रातभर टेबल-पर एक ओर चुने हुए मामलोंके कागजों का ढेर लगाकर तथा दूसरी ओर शराब की बोतलें और सिगारेट की डिब्बियां रखकर ये अपने कामके ही साथ २ इन दूसरी सामग्री का भी सफाया कर दिया करते थे। इस तरह रातभर काम करने के बाद ये दिन निकलनेसे पहले ही बिस्तरपर जा लौटते और भरी दो पहरमें ये आधी रातका अनुभव करते थे। ये लिखनेवाले भी गजब के थे। इनके भावुक भक्तों की तो यहांतक धारणा बढ़ी हुई थी वे इन साहब को एक ही समय में दोनों हाथों से रिपोर्ट या हुक्म आदि लिख सकनेमें समर्थ मानते थे। इनका स्वभाव अत्यंत खर्चीला था। अतएव जिस जिले में ये रहते थे वहांके प्रायः सभी अंग्रेज स्त्री पुरुषों का अड्डा इन्हींके बँगलेपर आजमता था। उन स्त्रियों को उनकी योग्यतानुसार छोटे इनामादि से लगाकर मोती के हारतक क्राफर्ड साहबकी ओरसे उपहार स्वरूप में भेट किये जाते थे। यह सब खर्चा उनके खुल्लम खुल्ला मिलनेवाले वेतन एवं अंधे भत्ते की रक़म से भी पूरा न हो पाता था, इसीलिए आरंभ से ही इन साहब बहादुर को रिश्वत की चाट लग गई थी। इस रिश्वतकी रक़म में से कुछ को वे ऋणस्वरूप लेते थे और कुछ उपहारस्वरूप हज़म कर जाते थे। इसके साथ ही यह अवश्य कह देना चाहिये कि वे दिलदार और ख़र्चीले सरदार थे। जिन २ से उन्होंने रिश्वत की, उनका काम तो उन्होंने किया ही पर दूसरोंके भी काम उन्होंने कर दिये। यदि उन्होंने किसी के सिरपर पत्थर मारा हो तो वह एक मात्र सरकार के ही। फुटकर नौकरियों की तो बात ही छोड़ दीजिये, किंतु

ज़मीन के इनामात और बन्धक भूमि को छुड़ाने के काम जितने इस साहब के जमाने में हुए, उतने दूसरे किसीके भी समय में न हुए होंगे । देहाती लोगों में मिलजुल कर काम करनेका उनका हतकंडा कुछ विचित्र ही था। कोंकण प्रान्त उन्हें विशेष प्रिय था। रत्नागिरि को वे अपनी जन्मभूमि की ही तरह मानते थे। ख़ास कोंकणी मराठी भाषा इतनी बढ़िया बोलते थे कि यदि पर्दे की आड़से सुना जाय तो कोई यह नही समझ सकता कि बोलने वाला अंग्रेज है या देहाती किसान। रत्नागिरि के प्रसिद्ध धनिक, काका फड़के को वे ख़ास चचा की ही तरह मानते थे। कहा जाता है कि जब उनका जी चाहता तब वे काका के घर में जाकर बैठते और तरह २ की गपशप लड़ा कर जो इच्छा होती वह पदार्थ मांग कर खा लिया करते थे। मतलब यह कि भारतीयों से इतना अधिक मिलजुल कर काम करनेवाला दूसरा सिविलियन हमारी समझ से तो भारत में शायद ही कोई हुआ होगा।

इन सब गुणों के होते हुए भी क्राफर्ड साहब के दोषों का पर्दा अधिक दिनों तक कायम न रह सकता था। जिस हिसाब से जनता में उनके मित्र थे उसी प्रकार सरकार दरबार में उनके शत्रुओं की संख्या भी कम न थी। कोई इन्हें सरकार का अहित-कर्ता बतलाया था तो कोई इनके द्वारा गोरे लोगों की नीतिमत्ता में बट्टा लगने की बात सोचकर रुष्ट रहता था। कोई यह देखकर कि इनके भारतीयों से अधिक मिलजुल कर रहनेमें सरकारी नौकरों की प्रतिष्ठा में फरक़ आता है, इनसे नाखुश रहता था, तो कोई अपनी मेम को इनसे इनामादि पाते देखकर मनही मन कुढ़ जाता था। उनके अपराधों का प्याला भर चुकनेमें कुछ समय लगा। जिस अपमान की भावना से उच्च अधिकारी युरोपियनों को क्राफर्ड साहब के आचरण पर हृदय से घृणा थी, उसीको प्रकट करनेमें बुराई समझकर वे हिचक जाते थे। किंतु अन्त में जाकर रे साहब के शासन में यह निश्चय हो गया कि क्राफर्ड साहब की ज़रा भी हिमायत न की जाय। बम्बई के सेक्रेटारियट में इस मामले की जांच गुप्तरूपसे कई दिनों से हो रही थी। अंत में तारीख २४ जून सन १८८८ से ओमॅनी साहब पुलिस इन्स्पेक्टर जनरल की इस काम पर नियुक्ति हुई। जांच के लिए अंतिम कारण यह था कि भड़गांव (खानदेश) के सरकारी खेतों को इन्होंने खेमजी जीवा नाम के व्यापारी को रिश्वत लेकर बहुत ही थोड़ी कीमत पर दे दिया था। यूरोपियनों में रिची, नेलर, म्यूर मेकेंजी और न्यूजंट आदि क्राफर्ड साहब के विरुद्ध सरकार को उभाड़नेवाले व्यक्ति थे, और भारतीय नौकरों में भीमभाई किरपाराम, बाबासाहब पंडसे आदि नेता थे। क्राफर्ड साहब कमिश्नर और पंडसे उनके नेटिव असिस्टंट एवं प्रधान मंत्री थे।

अतएव इन्हें सब बातों का पता रहता था। तहसीलदार आदि अधिकारी इनके अधीनस्थ अधिकारी थे, अतएव प्रमाण-संग्रह करनेकी प्रधान पुंजी भी इन्हींके हाथ में थी। सरकार की अंदरूनी मसलेहत में यह तय हुआ कि आरंभ में तहसीलदारों पर लोगों से जबरन् रिश्वत लेने के, स्पष्ट प्रमाण युक्त, दो तीन मामले खड़े किये जायँ, और एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा इस प्रकार सारे मामले धीरे २ प्रकाश में लायें जायँ। तहसीलदारों को बुलवा कर उनसे रिश्वत देने की बात मंजूर करवानेका काम पेंडसे के जिम्मे रक्खा गया था। यह कार्य अत्यंत कठिन था। क्यों कि तहसीलदारों को इस तरह बयान देने के लिए तैयार करना, मानों उन्हें अपने पैरों पर आप ही कुल्हाड़ी मारनेके लिए कहने जैसा था। सरकारी गवाह के नाते तहसीलदारों को रिश्वत देनेके अपराध पर क्षमा प्रदान करना तो हर हालत में सरकार का कर्तव्य ही था। अतएव योग्यायोग्यता देखकर क्षमा-प्रदान करने का अधिकार अंतिम जांच के हुक्म के साथ ही ता. २८ जून् को सरकार की ओरसे ओमॅनी साहब को दे दिया गया। यह माफ़ी का मुद्दा, महत्त्वपूर्ण है। तिलक की इस क्राफर्ड-प्रकरण-विषयक कारगुज़ारी का मुख्य संबन्ध भी इसीसे है, अतएव इसे हमारे पाठक अच्छी तरह याद रक्खें।

क्राफर्ड साहब के विरुद्ध प्रमाण संग्रह करनेका काम दूसरे एक अर्थ में विशेष कठिन नहीं था। आसामियों को पकड़ २ कर उनसे साहब बहादुर को रिश्वत दिलानेवाले और इस काम में खुद भी रुपये खाकर मालदार बन जानेवाले एजंट लोग कौन २ थे, और रिश्वत देने पर भी किन २ का काम नहीं हुआ, इत्यादि बातें उन दिनों सर्व-साधारण की ज़बान पर बस रही थीं। रिश्वत के अनेक कार्य सरे बाज़ार होने लगे थे। गोरे लोगों की बस्ती और उनका व्यवहार-संबन्ध जितना ही दूर रहता है, उतने ही प्रमाण में वे इन विषयों से अनभिज्ञ रहते थे। फिर भी लोभी चुगलखोरों से उन्हें बहुत कुछ बातें मालूम हो जाती थीं। उन बातों से जानकार हो जानेपर भी उन्हें अपने मन में रख लेने की ओर ही उनकी विशेष रुचि होती थी। ओमॅनी साहब अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं कि, " काले हिन्दुस्तानी मात्र को झूंठा और मुँह देखी बात करनेवाला मानने की हम युरोपियनों की आदतसा पड़ गई है, इसी लिए स्वयमेव ही अपने किसी भाई के विरुद्ध कोई मामला खड़ा करने या उसकी करतूत को प्रकाश में लाने की हम लोग हिम्मत नहीं कर सकते। " क्राफर्ड साहब का भंडा फोड़ करनेके लिए युरोपियनों को दो तीन बार मौका मिला, किंतु उन लोगों ने उसे टाल दिया। इस समय भी जांच में कठिनाई यह पड़ती थी कि, एक दूसरे के विरुद्ध बोलनेवाले व्यक्तियों की बड़ी संख्या के होते हुए भी अपनी ही पोल

खुल जानेके डरसे प्रायः सभी इस मामले के विरुद्ध हो रहे थे। लोगों का कहना था कि ये अंग्रेज अंग्रेज मिलकर सब एक हो जायँगे और अंत में हम सुबूत देनेवाले हिन्दुस्तानी मुफ्त में मारे जायँगे। और अंत में सचमुच ही ऐसा होनेका अवसर आ गया था।

इस मामले में दो पार्टियां बन गई थीं। एक का कहना था कि साहब बहादुर सिविलियन हैं, और अनायास ही ये रिश्वत के मामले में फँस चुके हैं। सरकार इनकी जांच करने को भी तैयार हो गई है, और ये गोरे लोग हमेशा हम हिन्दुस्तानियों को रिश्वतखोर बतलाते रहते हैं, ऐसी दशा में तहसीलदारों को चाहिए कि सब बातें स्वीकार करके अवश्य ही इस गोरे का सफाया करना चाहिये; जिससे कि हिन्दुस्तानियों की निंदा करनेवाले गोरों को लज्जित करनेके लिए एक प्रमाण मिल जाय। दूसरे दल का कहना था कि इसमें गोरे की गर्दन कुशी का मुद्दआ खास नहीं है, बल्कि हम काले-हिन्दुस्तानी-लोग ही रिश्वत देने की बात स्वीकार कर अपने को अपराधी सिद्ध कराते हैं, यह काम हमारे ही लिए हानिकर सिद्ध होगा। प्रथम तो रिश्वत देनी ही न चाहिये और यदि देदी हो तो फिर उसे प्रगट न करना चाहिये। इसमें नामर्दगी और चुगलखोरी का दोष लगता है। चोरी के सियार को बगल में छुपा लेनेपर यदि वह बगल का मांस भी काट खावे तो भी पर्वाह नहीं, किंतु प्राण जानेपर भी उसे बाहर न निकालनेमें ही सच्चा पुरुषार्थ कहा जा सकता है। सरकार दरबार के काम में रिश्वत का बखेड़ा तो रहता ही है। इसलिए रिश्वत देनेकी अपेक्षा उसे देकर प्रकट करनेका अपराध अधिक है।

पूने में 'केसरी' आदि अधिकांश जनता प्रथम पक्ष की थी और सीताराम पंत चिपलूनकर, श्रीधर विट्ठल दाते एवं ज्ञान-प्रकाश आदि दूसरे पक्ष के समर्थक थे। आरंभ में तो प्रथम पक्ष की ही विजय हुई। भीमभाई और पेंडसे आदि अधिकारियों को केसरी और लोकमत की सहायता मिल जानेसे तहसीलदारों ने जल्दी से रिश्वत दिलवानेकी बात स्वीकार कर लीं। ओमॅनी साहब ने अपनी रिपोर्ट में इस बात का खास तौर पर उल्लेख किया है कि पेंडसे इस कार्य में अपने अंतरात्मा की ही प्रेरणा से सम्मिलित हुए थे। किंबहुना यह कहना भी अनुचित न होगा कि पेंडसे की कठोर निस्पृहता के कारण ही इस मामले में प्रमाणों की भरमार हो गई थी। यही बात भीमभाई के विषय में भी कही जा सकती है। प्रमाण-संग्रह हो जानेपर जब यह जान पड़ा कि क्राफर्ड साहब किसी तरह बच नहीं सकते, तब कुछ लोगों ने इस बहती गंगा में हाथ धो लेनेके इरादे से भी सरकार का साथ दिया। उनमें से कई-एक तो खुद क्राफर्ड साहब के पिट्ठुओं में से

ही थे, किंतु उनके नाम प्रकट करना हम उचित नहीं समझते। इन्हीं पिट्ठुओं में से कुछ ने तथा पुलिस ने क्राफर्ड साहब पर गुप्त-चर छोड़े थे। एजंट लोग में हनुमंतराव जागीरदार, कृष्णराव ढोले, काज़ी अब्बास और स्पायर्स साहब ही नहीं, बल्कि कई भट्ट-भिक्षुक (ब्राह्मण) भी थे। बालाजी गंगाधर साठे जैसे 'दोगले' आचरणवाले भी कुछ लोग थे। इसी प्रकार क्राफर्ड प्रकरण का सिलसिला कोंकण और कर्नाटक प्रान्त तक फैला हुआ था।

ये सारी मंत्रणा पूना में होती थी, पर उस समय क्राफर्ड साहब को इसका पता तक न लगने पाया। अफवाह फैल रही थी कि छुट्टी लेकर वे सीलोन (लंका) जानेवाले हैं। किंतु हनुमंतराव आदि एजंटों को किसी अंश में इस मंत्रणा का पता लग गया, अतएव वे तत्सम्बन्धी कागज़-पत्रों को नष्ट कर अपने बचाव की चिन्ता में पड़ गये। बम्बई कौंसिल में थोड़ासा मतभेद रहनेके कारण इकट्ठा किये हुए थोड़ेसे ही सुबूत परसे वारंट निकाल कर आरंभ में हनुमंतराव जागीरदार पर ही मामला चलानेका निश्चय हुआ। तदनुसार ता. १६ जुलाई सन १८८८ को ये महाशय गिरफ्तार कर लिये गये। उस समय तक क्राफर्ड साहब पर मामला चलाया न जा सका था, अतएव उन्हें सिर्फ सस्पेंड कर दिया गया और इसीके साथ २ खुली जांच शुरू हो गई। क्राफर्ड साहब के पक्ष के जिन तहसीलदारों ने अपराध स्वीकार नहीं किया, वे भी सस्पेंड कर दिये गये। क्राफर्ड साहब की जमानत देनेके लिए बड़े २ पारसी जमानतदार खड़े हुए, किंतु अंत में यह निश्चय हुआ कि क्राफर्ड साहब पर मामला न चला जाय, वरन् एक कमीशन नियुक्त किया जाय, जिससे कि कई विषयों की जांच एक साथ हो सके। बस; यहीं से क्राफर्ड के मामला ढीला होता गया। यूरोपियन की इज्जत बिगड़ती देखकर कई गोरे अधिकारी भी गुप्त और प्रकटरूप में इस कारवाई का विरोध करने लगे। कई गोरे अधिकारियों ने इस जांचमें मिलती हुई स्पेशल ड्यूटीसे भी इन्कार कर दिया। गोरे पोष्ट मास्टर जनरल ने क्राफर्ड और उनके पिट्ठुओं के निजी पत्रों को पोष्ट-ऑफिस में रोकनेकी बात स्वीकार न की। लोग जानते हैं कि वर्तमान समय में डाक-विभाग पुलिस की कहांतक मदद करता है। ता. १८ अगस्ट से हनुमंतराव पर मुक़द्दमा चला, और उन्हें दो वर्ष की सादी कैद तथा दो हज़ार रुपये जुर्माने की सज़ा दी गई। इस तरह सजा हो जानेपर तीन महिने बाद, ता. २१ अक्टूबर को हनुमंतराव ने रिश्वत देनेकी बात स्वीकार कर ली। अर्थात् उसने यह देख कर कि अंत में क्राफर्ड ने मेरा ज़रा भी साथ न दिया, अपना अपराध स्वीकार कर लिया। हनुमंतराव की ही तरह और भी कई लोगों ने एजंट के रूप में हजारों लाखों रुपये कमा लिये थे। यह धन जैसे आया वैसे ही चला भी गया। अपनी

बढ़ती के दिनों में हनुमंतराव के रंग-ढंग किसी राजासे कम न थे। गर्मी की मौसम में उनके भवन की तीसरी मंजिल से बर्फ के पानी की धाराएँ निकल कर गटर में आकर मिलती थीं। गुलाब-शर्बत के सिवाय तो उन की अटारी पर दूसरी कोई वस्तु पी ही नहीं जाती थी। हमें याद पड़ता है कि एक सज्जन ने इनके विषय में कहा था कि, ख़ास रेविन्यू कमिश्नर तक को क़ाबू में रखनेवाला यह मांत्रिक जब गद्दों पर पड़ा हुआ आराम करता था, तब खुशामदखोर अथवा लोभी तहसीलदार इसके पैरों तले बैठकर मुँहपर कपड़ा ढाँप अदब के साथ बात चीत करते थे!

सस्पेंड हो जाने पर क्राफर्ड साहब को अपना बंगला छोड़कर होटल में डेरा जमाना पड़ा। इसी बीच ता. १७ को एकदम यह ख़बर फैल गई कि क्राफर्ड साहब फरार हो गये हैं। उनके हाथ की एक चिट्ठी इस प्रकार की लिखी हुई मिली कि "चिंता और अपमान की मात्रा असह्य हो जानेके कारण मैं मूला नदी में प्राण-त्यागने जा रहा हूं। मेरी लाश तुम्हें होलकर पुल के निकट मिल सकेगी।" इस पत्र पर विश्वास करके अथवा उनको भाग जाने को पूरा २ मौका देने के लिए, उनके भाई बम्बई के एक सॉलीसीटर लेस्ली क्राफर्ड ने अन्य अंगरेजों को इकट्ठा करके नदी में नावें छुड़वाई और सवेरे तक उनकी लाश का पता लगवाने का प्रपंच किया। किन्तु ओमॅनी साहबने इस पर विश्वास नहीं किया। उन्होंने आस पास के स्टेशनों की नाकेबन्दी कर दी। दूसरे दिन सबेरे पूना स्टेशन पर सफेद दाढ़ीवाला और सफेद किन्तु मैला एवं पैरोंतक नीचा कोट पहने हुए तथा टोपी को सामने की ओर आँखों पर अधिक झुकाकर गले में रूमाल लपेटे हुए एक यूरोपियन मेल ट्रेन से बम्बई जाने का संवाद पुलीस इन्स्पेक्टर जेफ़िस ने ओमॅनी साहब को सुनाया। साहब ने बम्बई की पुलिस को इसकी खबर दी। इधर क्राफर्ड साहब कल्याण स्टेशन पर उतर कर किश्ती से बम्बई जानेका निश्चय कर चुके थे। किन्तु अंत में वे रेल से ही भायखला स्टेशन पर उतर कर विक्टोरिया होटल में ठहर गये। और इसी दिन सीलोन जानेवाली 'तेहरान' नामक स्टीमर का टिकिट पानेकी कोशिश में लगे। किन्तु टिकिट मिलनेसे पूर्व ही बम्बई की पुलिस ने इन्हें पकड़ लिया। इसके बाद पूना लाये जाने पर ये सत्तर हजार रुपये की जमानत पर छोड़े गये। पूना के कलेक्टर मि. व्हायट्ल के सामने इन पर फौजदारी मुक़दमा ता. १ आगस्ट से शुरू होनेवाला था। किन्तु इसके बाद कमिशन नियुक्त होनेकी बात निश्चित हुई। क्राफर्ड साहब का कहना था कि मेरे मामले की जांच बम्बई में हो। मतलब यह कि वहां हाई कोर्ट में युरोपियन ज्यूरी मिल जानेसे अनायास छूटकारा हो जायगा और तब सरकार हाथ में भी कुछ उपाय न रहेगा।

इधर हनुमंतराव को सजा मिलते ही अन्य पांच-पचास व्यक्तियों पर भय का भूत सवार हो गया। वे सोचने लगे कि हम लोगों ने अपने मुँहसे रिश्वत देने की बात स्वीकार की है, और जिन्होंने ने इसे स्वीकार नहीं भी किया है उनके खिलाफ भी सुबूत पेश किया जायगा, और जो सज़ा एजंट को मिली है, वही रिश्वत देनेवाले को भी दी जायगी! परंतु ता. २ अक्टूबर सन १८८८ के केसरी में भी तिलक लिखते हैं कि "लोगों को अपनी जानकारी की समस्त बातें प्रकट करके न्यायकार्य में पूरी २ सहायता पहुँचानी चाहिये। सत्ता के सम्मुख सारी विद्वत्ता व्यर्थ हो जाती है, इसी न्यायानुसार विवश होकर लोगों को रिश्वत देनी पड़ी होगी, हमें विश्वास है कि इस बात को मानकर सरकार इस घृणास्पद अभियोग में प्रधान अपराधियों के सिवाय अन्य लोगों को व्यर्थ के लिए कष्ट न देगी"। इस आश्वासन से लोगों को इन्हे और भी विश्वास हो गया।

ता. २३ अक्टूबर सन १८८८ को पूना के कौंसिल हॉल में क्राफर्ड कमिशन के काम की शुरूआत हुई। कमिशन के अध्यक्ष विल्सन साहब थे और क्रास्वेट आदि उसके सदस्य थे। क्राफर्ड साहब के लिए डिफेंस के काम में यथेष्ट सहायता पहुँचाई गई। सरकार की ओरसे एडवोकेट जनरल लेथम् और बेरिस्टर जार्डिन थे। इधर क्राफर्ड साहब के बेरिस्टर इन्व्हेरारिटी थे, और इन के सहायक क्राफर्ड साहब के भाई, पुत्र एवं गंगाराम भाऊ म्हस्के वकील थे। अंत में जनवरी के दूसरे सप्ताह में कमिशन का काम समाप्त हुआ। और खुद बैरिस्टर लेथम् ने सुबूत की आलोचना करके अंत कहा कि "इस जांच से सभी को बुरा लगा है। हमने जहांतक हो सका क्राफर्ड साहब की रिआयत ही की,. किन्तु आख़िर हमें भी अपना पक्ष सम्हालना था। आपने यदि क्राफर्ड साहब को निर्दोष ठहराया तो उससे हमें संतोष ही होगा, और आपने यदि यह कहा कि क्राफर्ड साहब अपनी निर्दोषिता सिद्ध न कर सके तो इससे हमको बहुत दुःख होगा। इसमें अकेले क्राफर्ड की ही बदनामी नहीं हैं, बल्कि सारी अंग्रेज जाति को इससे कलंक का टीका लग जायगा!"

जब सरकारी वकील का ही भाषण इस मामलें में इस तरह का हो तो फिर अपराधी के वकील ने इससे अधिक क्या कहा होगा, इसको पाठकगण स्वयं ही सोच लें। ऍप्रल सन १८८९ के अंत में कमिशन की रिपोर्ट स्टेट सेक्रेटरी के सामने पेश होकर उसपर हुक्म भी हो गया। कमिशन ने रिश्वत का अपराध मूंठा ठहराया और स्टेट सेक्रेटरी ने भी इसी निर्णय को कायम रक्खा। क्राफर्ड को केवल इस बात के लिए दोषी ठहराया कि उन्होने अपने मातहत

लोगों से घूस लिया। इसी अपराध में स्टेट सेक्रेटरी ने उन्हे नौकरी से अलग कर दिया। इस प्रकार जो बात सिद्ध होनी चाहिये थी वह सिद्ध न हुई और जिसके प्रमाणित करने की जरूरत नहीं थी वह सिद्ध हो गयी। अर्थात् केवल गोरा चमड़ा ही सद्गुण का प्रमाण माना गया, और काली खालवाले अविश्वसनीय ठहराये गये। बम्बई सरकार ने कमिशन के प्रस्ताव की आलोचना करके क्राफर्ड साहब को दोषी बतलाया था। रिश्वत-खोर एजंट को दो वर्ष की सजा और दो हजार रुपये जुर्माना सहना पड़ा, किंतु रिश्वत को हज़म कर जानेवाले क्राफर्ड साहब निर्दोष कहकर छोड दिये गये। इसी प्रकार क्राफर्ड साहब को रिश्वत खोरीके दोषारोपण से बचा दिया गया और तहसीलदार लोग रिश्वत देने की बात स्वीकार कर जाल में फँस गये। इस तरह जिस धूर्त पक्ष न स्वीकृति देनेवालों को बुरा कहा था उसी की बात सच बुद्धिमानी की समझी गई। इसके बाद, क्राफर्ड साहब के विलायत चले जाने पर उनकी मेम साहेब के लिए पेन्शन मुकर्रर कर दी गई और बेचारे तहसीलदार लोग मुफ्त में ही चिमगादड़ की तरह लटकते रहे। एँग्लो-इण्डियन पत्रों ने ब्राह्मणो पर टीका करनेका अस्त्र खूब चलाया। हाई कोर्ट के कुछ जज तो कहने लगे कि ये निर्लज्ज स्वीकृतिवाले, रिश्वत-ख़ोरे तहसीलदार न्यायकार्य के लिए अयोग्य हैं। किस तहसीलदार को रखा जाय और किसे निकाला जाय, इसकी छँटनी होने लगी। उधर क्राफर्ड साहब के मित्रों ने लार्ड 'रे' के विरुद्ध पार्लमेन्ट में खूब हो हल्ला मचाया।

'केसरी' ने आरंभ से ही स्वीकृति देनेवाले तहसीलदारों का पक्ष लिया था; अतएव उनके भविष्य के लिए तिलक को चिन्ता होने लगी। सन १८८९ के मई मास के अंत से वे इस काम में जी-जान से लग गये। यहां पर एक बात और बतला देना हम उचित समझते हैं, वह यह कि तिलक ने उन लोगों का पक्ष समर्थन केसरी में तो किया ही था, किंतु इसीके साथ २ वे पेंडसे और भीमभाई कृपाराम के यहां भी इन दिनों अधिक आया जाया करते थे। यही नहीं बल्कि उनकी सलाह मशवरे में भी वे शामिल रहते थे। बाबा साहब पेंडसे से तिलक का सम्बन्ध पहले तो अधिक न था, किन्तु इस घटनासे वह बहुत दृढ़ हो गया। भीमभाई भी तिलक को खूब चाहते थे। मतलब यह कि तिलक और उनके पत्र की सहायता को प्रत्यक्ष लोकमत की सहायता मानकर पेंडसे और भीमभाई उसे न केवल ग्राह्य ही समझते थे, बल्कि उन्हें वह बहुमूल्य भी प्रतीत [illegible] थी। अकेले सीतारामपंत चिपलूनकर को छोडकर पूना के अधिकांश [illegible] अपराध स्वीकृति देनेके पक्षमें थे, और रानड़े, गोखले,

तिलक एवं डे. ए. सोसायटी के सब लोग इस विषय में एकमत थे। चिपलूनकर का आना-जाना क्राफर्ड साहब के यहां अधिक था, किन्तु फिर भी वे अत्यंत निस्पृह एवं रिश्वत आदि के मामले में न पड़नेवाले और एक पैसेतक के लिए किसीके दबे न थे। इसी लिए राजनीति के अभ्यास एवं सरकारी कामकाज के व्यासंग के कारण क्राफर्ड साहब को चिपलूनकर से बड़ी मदद पहुँचती थी। साहब लोगों से मिलकर सरकारी बातों का पता लगाने एवं उसे सार्वजनिक कार्यों में भरसक सहायता प्राप्त करनेका हथकंडा सीतारामपंत को खूब सिद्ध था। अंत में जब क्राफर्ड साहब पर आफत की बिजली टूटते देखी तब संकटकाल में मित्र को धोखा देना कृतघ्नता समझकर पूना की जनता की पर्वाह न करते हुए उन्होंने क्राफर्ड साहब के साथ प्रकट सहानुभूति दिखलाना जारी रक्खा। इसका प्रायश्चित्त भी उन्हें भोगना पड़ा। अन्य विषयों की ही तरह सार्वजनिक सभा को भी क्राफर्ड प्रकरण पर भी मत प्रकट करनेका आवश्यक था। सभा का बहुमत क्राफर्ड साहब के विरुद्ध था। इधर सभा के मंत्री थे चिपलूनकर! इन्होंने साफ़ कह दिया कि मैं क्राफर्ड साहब के विरुद्ध एक अक्षर भी न लिखूंगा। साहब के सभासद इसी बात पर जोर देते रहे कि तुम्हें मंत्री के नाते हमारा मत सूचित करना ही पड़ेगा। अंत में चिपलूनकर मत-भेद की कैंची में आ फँसे, और इधर गोपालराव गोखले के मित्रों ने गोपालराव को मंत्रीपद दिलवानेका प्रयत्न किया। अतएव विवश होकर सीतारामपंत को अपना पद त्याग देना पड़ा।

तिलक को किसीने भी इस तरह अपने दाव में नहीं फँसाया, पर फिर भी, तहसीलदारों के मुसीबत में पड़ जाने की बात उन्हें बे तरह खटकने लगी। ता. २१ मई सन १८८९ के केसरी में उन्होंने लिखा कि, सच्ची गवाही देनेकी शर्तपर तहसीलदारों को उनके अपराध क्षमा कर देनेका वचन दिया गया था, अतएव जब उन्होंने सच्ची बात कही है तब अवश्य ही उन्हें दोषमुक्त कर देना चाहिये। अब तहसीलदारों के बालतक को धक्का पहुँचानेका अधिकार सरकार को नहीं रहा है। इतने पर भी यदि सरकार कुछ करे तो विश्वासघाती सिद्ध होगी। जब क्राफर्ड साहब इस रिश्वतके मामले में साफ छोड़ दिये गये हैं, तब बेचारे तहसीलदारों पर क्यों व्यर्थ के लिए सख्ती की जाती है! इत्यादि-इसी प्रकार केसरी ने इस आक्षेप का भी यथोचित उत्तर दिया कि ' इन कलंकित तहसीलदारों का प्रभाव जनता पर कैसे पड़ सकेगा '। इसी अवधि में पूना में प्रान्तिक सभा का अधिवेशन हुआ, जिसमें क्राफर्ड प्रकरण में बंबई सरकार के स्वीकृत रवैया की यथेष्ट प्रशंसा की गई। किन्तु ' टाइम्स ' ने यह प्रकट करके कि यह सभा केवल ब्राह्मणों की ही थी, और इसमें अन्य जाति के लोग बहुत ही कम थे

जनता इतने अधिक प्रमाण में थी कि सारा मण्डप भर जानेके बाद सभागृह के बाहर भी सर्वत्र मनुष्य ही मनुष्य दिखाई देते थे, सभा में दस पांच मुसलमान, दो चार पारसी, करकहॅम् (एज्यूकेशनल् इन्स्पेक्टर) ग्रेटन् गिग्ररी (बॉम्बे गजट के संपादक) आदि भी उपस्थित थे। अध्यक्षस्थान रा. ब. नूलकर ने ग्रहण किया था। उन्होंने प्रारंभिक भाषण में कहा कि " भारतीयों पर दोष डालकर चोर को साहुकार सिद्ध करनेके ही लिये यह सारा प्रयत्न हो रहा है। सरकार का कहना है कि भारतीयों ने आजतक उसे इस बात की कोई सूचना नहीं दी। किन्तु सरकार की सर्वज्ञता की शान इसी मामले में कैसे नष्ट हो गयी ? सभा में सबसे पहली सूचना रा. ब. भिड़े और माधवराव नामजोशी ने उपस्थित की। इसमें सरकार के धैर्य की प्रशंसा की गई थी। नामजोशी ने कहा कि 'भारतीयों के आगे बढ़नेसे ही क्राफर्ड प्रकरण की गंदगी बाहर निकाली जा सकी है'। दूसरा प्रस्ताव डॉ. गाडगील ने उपस्थित किया, और तिलक ने उसका अनुमोदन किया। यही प्रस्ताव वस्तुतः मुख्य था, और इसमें तहसीलदारों को दिये हुए वचन के पूर्ण करनेका आग्रह किया गया था। तीसरा प्रस्ताव प्रो. गोखले और काशीनाथपंत नातू ने उपस्थित किया। इसमें एँग्लो-इडियन पत्रों के एक तर्फा लेखों का निषेध किया गया था।

यह सभा दो तरह से महत्वपूर्ण समझी गई। एक तो यह कि तिलक के आजतक के निजी प्रयत्न के फलस्वरूप उसकी योजना हुई थी। और दूसरे यह कि कितने ही लोगों के मतानुसार गत् नौ वर्षों में इस प्रकार की सार्वजनिक सभा में तिलक का यह पहिला ही व्याख्यान हुआ था। इससे पहले किसी कांग्रेस या प्राविन्शियल कान्फ्रेंस में भले ही तिलक को दस बीस वाक्य बोलने पड़े हो, किन्तु सार्वजनिक सभा में इस प्रकार उन्होंने विशेषरूप से कभी भाग ही नहीं लिया था। इन्ही दिनो पूना की प्रिय वसंत-व्याख्यान-माला भी जोरों पर थी। पूने का ऐसा कोई प्रधान वक्ता नहीं था जिस का मुँह उक्त व्याख्यानमाला में न खुला हो। किन्तु फिर भी तिलक का नाम व्याख्यानमाला की सूची या उपवक्ताओं की नामावली-तक में नहीं पाया जाता। अस्तु। इस सभा की मूल आरंभ तिलक के ही द्वारा हुआ। इससे पूर्व व्यक्तिशः तहसीलदारों की अर्ज़ियां लिख देनेका उद्योग वे करते रहे थे। बेचारे तहसीलदार लोग लाचार होकर अनाथ से बन गये थे। उन में यह शक्ति भी न थी कि संयुक्तरूप से किसी प्रकार का आन्दोलन खड़ा कर सकते। लोगों ने उन्हे 'पेकेंट' तहसीलदार का नाम दे रक्खा था। अतएव प्रतिदिन खानगी तौर पर किसी एक स्थान

में इकट्ठे होने और जो कोई सहानुभूति प्रकट करनेवाला मिले उसे अपनी राम-कहानी सुनाना मात्र ही उन्होंने अपना कर्तव्य बना लिया था। कानूनी-ज्ञान और विदेशों की जानकारी एवं तुलनात्मक विचार इत्यादि बातें उनके लिए दुर्लभ थीं। किन्तु तिलक के इस मामले में योग देते ही यह कमी पूरी हो गई। सरदार खासगीवाले के बाड़े में रावसाहब धारपुरे नामक एक पेन्शनर सज्जन रहते थे। ये तिलक के परम स्नेहियों में से थे, और इन दिनों तिलक ने सोसायटी से अलग हो जाने के बाद से संध्या समय बैठकर गप्पें मारने का अड्डा इन्हीं के यहां बना रक्खा था। ऐसी दशा में सुई के पीछे धागेकी तरह ये तहसीलदार लोग भी वहीं आकर इकट्ठे होने लगे। यहांतक कि कुछ ही दिनों में वह स्थान क्राफर्ड-प्रकरण का मंत्रणाभवन ही बन गया। इधर तिलक ने विलायत में विलियम् डिग्बी के द्वारा उन तहसील-दारों के विषय में एक-आध बिल खास पार्लमेंट में पेश करानेका प्रयत्न शुरू कर रक्खा था। इसका पता इन उभय सज्जनों के, आगे दिये हुए पत्र-व्यवहार पर से लग सकता है।

उक्त सभा में तिलक का जो व्याख्यान हुआ था वह अतिशय विस्तृत एवं प्रमाणयुक्त था। उस भाषण का सार इस प्रकार है "अभयदान देकर उसको न निभाना विश्वासघातकता है, और यह कार्य न केवल स्टेट सेक्रेटरी ही, बल्कि पार्लमेन्ट भी नहीं कर सकती। तहसीलदारों ने रुपया चटाकर अधिकार खरीदा होगा, किंतु इसी कारण उन्हें नौकरी के लिए अयोग्य ठहराने की बात पिनल कोड से भी सिद्ध नहीं होती। विलायत का सन १९९२ का क़ानून भारत में सन १८११ में लागू किया गया था, किंतु अभयदान से क़ानून-उल्लंघन का दोष नहीं रह सकता। सन १७२५ में विलायत मे लार्ड चान्सेलर के मातहत नाज़िर लोगों में से लॉर्ड मेक्‌लीस फील्ड ने ५०।५० हजार रुपये रिश्वत देकर कुछ बड़े अधिकार के स्थान खरीदे थे। हनमंतराव और अष्टेकर की तरह लाट साहब ने भी एजंट बनाये थे। बीच पार्लमेंट में यह काम हुए। इसके बाद जब मुकदमा चला तब सुबूत इकट्ठा करनेके लिए आज की ही तरह उस समय भी माफी का वचन दिया गया था; और उस वचन को पूरा करनेके लिए केवल दोही दिन में पार्लमेंट ने क़ानून पास कर दिया था। किंतु अब क्राफर्ड-प्रकरण के विषय में पार्लमेन्ट चक्कर में पड़ रही है। पार्लमेंट का यह उदाहरण बंबई सरकार को मानना चाहिये। क्योंकि विलायत में क्षमा-प्रदान का कानून बन जाने पर लोगों नें गवाहियां दी थीं। उसी प्रकार यहां भी तहसीलदारों ने सरकार के अभिवचन को क़ानून मानकर गवाहियां देदीं। इसमें ऐसा बहुत बड़ा

अंतर क्या पड़ा ? जब विलायत में वे लोग नौकरी के लायक समझे गये तो फिर बेचारे ये तहसीलदार नालायक क्यों माने जाते हैं ? इससे अलावा सरकार को यह भी तो अधिकार नहीं है, कि वह इन तहसीलदारों में अच्छे बुरे का भेद निकालती रहे। मतलब यह कि तहसीलदारों ने इस समय जो कुछ सहायता दी है, उसीको सबसे बड़ी समझकर भेदाभेद न करते हुए सब को अपनी नौकरी पर क़ायम रखना चाहिए।"

अंत में जाकर बम्बई सरकार ने आंठ तहसीलदारों की बलि चढ़ा ही दी। शेष व्यक्तियों की रक्षा के लिए भारत सरकार ने शिमले में अपनी कौन्सिल के सामने एक बिल पेश किया। उसमें केवल यही बात रक्खी गई कि 'उन बचे हुए तहसीलदारों में से किसी पर इस मामले में दीवानी या फौजदारी मामले नहीं चलाये जा सकेंगे'। ऐसी दशा में नौकरी से हटाने का प्रश्न फिर भी शेष रह ही गया, और इस हर्जाने की भरपाई के लिए भी कोई निश्चयात्मक उल्लेख नहीं किया गया। किंतु केसरी का धैर्य अब भी विचालित नहीं हुआ। कि उसे लार्ड रे की नीति-प्रियता पर विश्वास था। तिलक लिखते हैं कि 'जिस प्रकार कौंसिलर वॉटसन् ने लार्ड क्लाइव को, झूंठ इकरारनामें पर हस्ताक्षर करने न करने का सूखा उत्तर दे दिया था उसी प्रकार अब भी यह आशा की जा सकती है की लॉर्ड रे भी लार्ड लैन्सडाउन को साफ जवाब दे देंगे कि मुझे यह बिल मंजूर नहीं हैं। कहा जाता है कि कदाचित् यही उत्तर देने के लिए लार्ड रे शिमला गये भी हैं। इधर रा. ब. नूलकर बड़ी धारासभा के मेम्बर थे। अतएव इनकी प्रार्थना पर लोकमत को आजमाने के लिए बिल की दूसरी पेंशी कुछ दिन आगे बढ़ा दी गई। इसी अवसर पर अधिकांश सभी बड़े नगरों और गांवोंसे तार एवं अर्जियां भेजी जाकर लोगों ने सरकार को लाचार कर दिया कि वह अपने वचन को यथानियम पालने के लिए बाध्य हो। किंतु फिर भी यह सवाल बच ही रहता था कि यदि सरकार ने वचनभंग कर ही दिया तो फिर क्या होगा ? ता. १७ अक्टूबर को यह बिल फिर से कौंसिल में उपस्थित किया गया। उस समय इस पर जो भाषण हुए वे प्रायः भयप्रद ही थे। स्कोबल साहब ने आरंभ में ही कह दिया कि यह सारा प्रयत्न केवल उन तहसीलदारों के कुछ हितेच्छुओं की ही ओरसे किया जा रहा है। इसी प्रकार अन्यान्य कौंसिलरों के भी भाषण हुए और अंत में वह बिल ज्यों का त्यों पास कर दिया गया। आगे के प्रयत्न करनेके लिए अब पार्लेमेंट बच रही। केसरी लिखता है, "मामला खासा है और इसमें अभियुक्त लोग भी सभी विद्वान् है। उनके हाथों भी यदि यह काम पुरा न हुआ तो फिर दूसरों के लिए तो कहना ही क्या है।"

किन्तु यथार्थ में देखा जाय तो, इन तहसीलदारों में एक भी व्यक्ति ऐसा न था, जो कि इस मामले को ले जाकर विलायततक पहुँचाने को तैयार होता। विद्वान तहसीलदार बारह थे। उन सबका आधार इस कार्य में एक अन्य विद्वान पर ही था। और वे विद्वान खुद बलवंतरावजी तिलक थे। जब ता. २८ अक्टूबर को भारत सरकार का वह प्रस्ताव प्रकट किया गया, तब उसपर से इस बात का ठीक पता लगा कि इन तहसीलदारों का अंतिम फैसला किस प्रकार हो सकेगा। बंबई सरकार ने ऊपर यह लिख दिया था कि, नौकरी से हटाये हुए तहसीलदारों को वचन-भंग एवं उनकी क्षतिपूर्ति के बदले में उनका वही पूर्व-वेतन बराबर दिया जाय। अपने ग्रेड के अनुसार उनकी वेतनवृद्धि भी होती रहे और उचित समय पर उन्हें यथेष्ट पेन्शन भी दी जाय। वेतन वृद्धि को छोड़कर शेष सब बातें बड़ी सरकार ने मंजूर की। तदनुसार लक्ष्मण मोरेश्वर देशपांडे, लक्ष्मण चिंतामण फड़के, रामचंद्र यशवंत चौबल, बालकृष्ण गोविंद सिंदेकर, देवराव कचेश्वर, गणेश पाण्डुरंग ठकार, विष्णु रघुनाथ केलकर, मोरो रघुनाथ बिवलकर, वासुदेव रामचंद्र पटवर्धन, सखाराम चिमणाजी जोशी, रामराव हनुमंत राजगुरू और जनार्दन एकनाथ सहस्त्रबुद्धे, इन लोगों को अपनी नौकरी पर कायम रक्खा गया, और पहले नौकरी से अलग किये गये ८ तहसीलदारों को छोड़कर शेष वामन दाजी नागरकर, विठ्ठल टिकाजी, काशीनाथ विनायक भावे और भगवंत बलवंत प्रधान इन चारों को भी नौकरी से अलहदा कर दिया गया। यह चुनाव बिलकुल मनमाना था।

किन्तु इन सब का झगड़ा पार्लमेंट के सामने कौन पेश करे? तिलक को इस के लिए आशाप्रद स्थान केवल एक ही दिखाई दिया। वह इस प्रकार कि अगले दिसंबर में होनेवाली राष्ट्रीय महासभा के लिए चार्लस ब्राडला भारत में आनेवाले थे, अतएव उनके कान पर यह बात डालनेसे, तिलक को आशा बँध रही थी कि, वे अवश्य ही इस काम में कुछ सहायता करेंगे। अंत में डिग्बी साहब के द्वारा तिलक ने इस मामले में विलायत में जो कुछ प्रयत्न कराया था उसका उल्लेख कर यह प्रकरण पूरा कर देंगे।

मि० डिग्बी का पत्र (ता. १० जनवरी सन १८९०) " मेरी सूचनाएँ तुम्हें स्वीकार हुई यह जानकर संतोष होता है। कलकत्ता रीव्यू - में बेरिस्टर नाम से छपा हुआ लेख भी मिल गया। उस लेख में क़ानून की दृष्टि से खास विचार किया गया है। पार्लमेंट के शुरू होते ही कौन २ से कागज पत्र टेबल पर रखने के लिए मंगवाये जाने चाहिये, उनकी सूची तैयार कर

अपनी सूचना मैं सभा के सामने उपस्थित करूंगा। ब्रैडला साहब के पास एक प्रभावशाली डेपुटेशन भेजकर क्राफर्ड-प्रकरण-विषयक सब बातें उन्हे समझा देने की आपकी योजना अच्छी है। यदि उन्होंने हमारे काम में सहायता पहुँचाई तो बड़ा काम होगा। सन १८३२ से पहले ख़ास पार्लमेंट में जितनी मात्रा में रिश्वत का प्रचार था, उसपर से आपके निकाले हुए अनुमान सब सत्य सिद्ध होते है। इसे हरएक व्यक्ति स्वीकार करेगा कि ऐसी हालत में गरीब तहसीलदारों को ही दोप देनेसे काम नहीं चल सकता। पार्लमेंट के लोगों से कहने के लिए भी मुद्दा अच्छा है।"

दूसरा पत्र (ता० ३१ जनवरी सन १८९०)" आपने ब्रैडला साहब से अनेक वार मिलने के जो समाचार लिखे, उन्हे पढ़कर मुझे बड़ा संतोष हुआ। सरकारी प्रस्ताव और क्राफर्ड साहब के कर्ज़ की फेहरिस्त और 'अंग्रेजों की दृष्टि से क्राफर्ड-प्रकरण कैसा दिखाई देगा' इस नामका 'बी.जी.' लिखित पेम्फ्लेट, तीनों पहुँच गये। दुर्भाग्य से उस की एक ही प्रति हमें प्राप्त हुई है, ब्रैडला साहब का कहना है कि आगे से जो कुछ कागज पत्र भेजोगे वे सबका दो दो प्रतियो भेजियेगा। इस से हम दोनों अलग २ अपने स्थान पर उन कागजपत्रों को पढ़ सकेंगे। (इस पैम्फ्लेट के विषय में यह पता लगता है कि इस एक ही विषय पर दो अलग २ पैम्फ़्लेटस लिखे जाकर विलायत भेजे गये थे। उनमें से एक बी. जी. अर्थात् बलवन्त गंगाधर तिलक का, और दूसरा तत्कालीन डिस्ट्रिक्ट मेजिस्ट्रेट एवं भावी न्यायाध्यक्ष कॅन्डी साहब का लिखा हुआ था। जिस तरह उन तहसीलदारों के विषय में तिलक पार्लमेंट में प्रयत्न करवा रहे थे उसी प्रकार लार्ड रे पर भी यह मामला आता था। अतएव उनके पक्ष के एँग्लो इंडियन लोग भी अपनी ओरसे इस विषय में प्रयत्नवान हो रहे थे। केन्डी साहब द्वारा लिखित पैम्फ्लेट उसी उद्योग का एक छोटासा नमूना था। इसके बाद ब्रैडला और अन्य लोगों के हाथ में जब ये पैम्फ़्लेटस पहुँचे तब उन लोगों ने 'बी. जी.' के लिखे हुए पेम्फ्लेटस को ही अधिक पसंद किया। किन्तु यह बी. जी. कौन है, इसे वे लोग नहीं जानते थे)। " उभय पक्ष के कुछ लोगों से मिलकर उनके द्वारा ब्रैडला साहब को सहायता दिलवाने का प्रयत्न कर रहा हूं। तहसीलदारों के सपक्ष पर ब्रैडला साहब को पूर्ण विश्वास है और इस मामले को पार्लमेंट के सामने उपस्थित करने का भी वे निश्चय कर चुके है, यह बात में आपको निश्चयपूर्वक कहता हूं। अब आपके या अन्य किसी दक्षिणी मित्र के विलायत आनेकी आवश्यकता नहीं

रही। यदि आप खुद ही आते तब तो आपसे मिलकर इस काम को चलाने में मुझे बड़ी ही सहायता मिली होती, किन्तु अब उसकी भी आवश्यकता नहीं रही है। मैंडला और मैं, दोनों ने मिलकर विचार करने के बाद यह निश्चय किया है कि (१) महारानी के भाषण पर उपसूचना उपस्थित होते समय यह मामला पेश न किया जाय (२) इसी प्रकार शुरू के कुछ दिनों में भी इस विषय की कोई सूचना पार्लमेंट के सामने न लाई जाय। क्यों कि मामला शुरू होने पर फिर इसे बीच में छोड़ने से काम न चलेगा। (३) वाइसराय की कौंसिल से (तहसीलदारों के विषय में) मनमाना कानून पास होने पर भी यहां स्टेट सेक्रेटरी उसे अस्वीकार कर सकते हैं। इसी उद्देश से मैंडला साहब अंडर सेक्रेटरी से पूछताछ करेंगे। और यदि उनकी ओरसे इनकारी जवाब मिला तो फिर वे खुद स्पीकर से मिलकर उन्हें यह समझा देने का प्रयत्न करेंगे कि इस बिल के पास होने के बाद छह महिने के भीतर ही इस प्रश्न का निर्णय अवश्य हो जाना चाहिये। इसके लिए चर्चा के निमित्त शीघ्र ही अवसर दिये जाने की वे प्रार्थना भी करेंगे। इसी प्रकार फर्स्ट लॉर्ड ऑफ़ दि ट्रेझरी की भी सम्मति प्राप्त करनी पड़ेगी, और प्रयत्न करने पर और उसके भी प्राप्त हो जानेकी मैंडला साहब को आशा बँध गई है। मतलब यह कि पार्लमेंट खुलने के दो महीने बाद यह प्रश्न पेश किया जा सकेगा। इससे पूर्व आपके भेजे हुए कागज पत्रों पर से नोट्स और खुलासे तैयार करके सब सदस्यों के पहुँचानेका मैं प्रयत्न करता हूं।"

तीसरा पत्र (ता. ७ फर्वरी सन १८९०) "आपका पत्र मिला। किंतु उसका कलमवार जवाब आज ही नहीं दिया जा सकता। क्यों कि उसे मैंडला साहब ने खास तौर पर अपने पास रख लिया है। उनका कहना है कि तिलक के पत्र में लिखित सूचना यथार्थ में ही बड़े महत्व की है। मैंडला साहब ने अपने पार्लमेन्ट में पेश किये जानेवाले प्रस्ताव के शब्दों में कुछ फेरफार किया है, उसकी एक प्रति मैं आपके पास भेजता हूं।"

चौथा पत्र (ता. २१ अप्रैल सन १८९०) "बम्बई सरकार ने जिलाधिकारियों के जो मत प्राप्त किये, उनकी प्रतिलिपि गुप्त रूप से प्राप्त कर आपने हमारे पास भेजी, वह मिल गई। मैंने भी उसे गुप्त ही रक्खा है। ब्रॉमेनी साहब लन्दन आये हैं। उनसे मैंडला साहबकी बातचीत शुरू हो गई है। मैं भी शीघ्र ही उनसे मिलनेवाला हूं। ता. ६ मई से पूर्व ही तहसीलदारों का प्रश्न संभवतः पार्लमेंट में पेश होगा। मेरा तार आपको मिल ही गया होगा। सर जान गार्ट ने मैंडला साहबको वचन दे दिया है कि मैं तुम्हारे मार्ग में

जरा भी रुकावट नहीं डालूंगा। जान पड़ता है कि कमसेकम दो घंटे तो अवश्य ही इस मामले पर बहस होगी। रेडिकल पार्टी के चाबुक-सवार (व्हिप) से अपना चाबुक तैयार रखने के लिए मैं कह रहा हूं। आपके भेजे हुए गोपनीय कागजपत्र सरकारी तौर पर प्रकट होने से पहले ही मैं निजी तौर पर कई एक सभासदों के पास घर बैठे पहुंचा देनेका प्रयत्न करूंगा। ब्रेडला साहब के मांगे हुए कागजपत्र पार्लमेंट के सन्मुख आज ही पेश कर दिये गये हैं। उनमें जो कम दिखाई देते हैं, वे भी मँगवा लिये जायँगे।"

पाँचवां पत्र (ता. ३१ मई सन १८९०) "पिछला तार मैं ने रूटर एजंसी की मार्फत भेजना उचित समझा। वॉइसराय की कौन्सिल से पास होनेवाले बिल का केवल निषेध ही कर देनेसे काम नहीं चलेगा। वरन् पार्लमेंट में दूसरा संशोधित बिल भी पेश करने पड़ेगा। आपकी यह सूचना आपके हेतुओं सहित मैंने ब्रेडला साहब के सन्मुख उपस्थित की है। लार्ड रे से भी मैं मिलनेवाला हूं। ब्रेडला साहब ने अपने प्रस्ताव का समय को आगे क्यों बढ़ाया, इसका पता आपको पिछले पत्र पर से लग ही गया होगा।"

छठा पत्र (ता. १३ जून सन १८९०) "और जिन २ कागज पत्रों की आवश्यकता है, उनकी सूचना मैं ब्रेडला साहब के सामने पेश करता हूं। इन दिनों पार्लमेंट का पूरा २ समय प्रधान-मंडल ही ले लेता है। गैर सरकारी लोगों के लिए बिल पेश करना कठिन हो गया है।"

अंत में भी यही असुविधा दूर न होनेसे कोई बिल पेश न हो सका। फिर भी इससे अधिक प्रयत्न हो सकने की संभावना नहीं थी। केवल ब्रेडला साहब के प्रयत्न से ही यह मामला फैसल हो सकने जैसा था किंतु हाउस ऑफ् कामन्सवालों के आगे उनका क्या वश चल सकता था? फुरसत के न होने से प्रायः लोगों के काम पार्लमेंन्ट में अधूरे रह जाने की बात प्रसिद्ध ही है। बस उसी में की यह भी एक घटना समझ लीजिये। एक बार यह मामला पिछड़ा गया, फिर किसी तरह सामने न लाया जा सका। फिर भी हमें यह अवश्य कह देना होगा कि उन तहसीलदारों के विषय में यद्यपि यथेष्ट न्याय न मिल सका, किंतु फिर भी तिलक एवं अन्यान्य व्यक्तियों के प्रयत्न से बहुत कुछ काम हो गया। कमिशन का निर्णय हो जाने पर सरकार ने यह नीति निश्चित की कि रिश्वत का लेन-देन हुआ भले ही हो, किंतु रिश्वत की रक़मे क्राफर्ड साहब तक पहुँच सकने की कोई सबल प्रमाण नहीं पाया जाता, अतएव इस अभियोग से साहब बहादुर मुक्त किये जाने चाहिये। पर कर्ज़ लेने की बात खुद उन्होंने मंजूर कर ही ली थी, अतएव उन्हें इस के लिए दोषी ठहराकर नौकरी से अलग करने की सजा देनी

पड़ी। रिश्वत का पैसा क्राफर्ड साहब के पास जब नहीं पहुँचा तो उसका आखिर उपयोग किसने किया ? इस प्रश्न का उत्तर सरकार ने यह निश्चित किया कि "उन सब रकमों को साहब बहादुर के एजंट हनुमंतराव आदि ही उनके नाम पर हज़म कर गये। और वह रकम तो क्या, परंतु उसकी खबरतक इन लोगों ने क्राफर्ड साहब को नहीं दी! साहब बहादुर ने बिना रिश्वत लिये ही कई लोगों काम कर दिये, सो क्यों? इसके उत्तरमें सरकार ने कहा कि, वे सब काम उन्होंने अपनी भलमनसाहत के कारण ही कर दिये। तहसीलदार आदि रिश्वत देनेवाले लोगों के तीन दर्जे निश्चित किये गये। ज़ुलम से अथवा ज़बरन् या किसी संकट को टालनेके लिए विवश होकर जिन लोगों ने रिश्वत दी, उन्हें कृपापूर्वक नौकरी दे दी गई, और उनकी वेतनवृद्धि कुछ दिनों के लिए रोक दी गई, तथा इनमें से कुछ लोगों को नौकरीसे अलग भी कर दिया। किन्तु उनका वेतन जारी रहा। लेकिन बिना किसी प्रकार के जोर ज़ुलम के केवल इसी कारण कि साहब रिश्वतखोर है, अतएव उन्हें रिश्वत देकर अपना काम बना लेनेके इरादे से अथवा केवल अवकृपा से बचनेके लिए रिश्वत देनेवाले तीसरी श्रेणि में रखे गये। उनपर मुक़दमें न चलाने की कृपा दिखाई गई और उन्हें अपने काम पर से अलग कर दिया गया। नौकरी पर कायम रखे जानेवाले लोगों में देशपाण्डे, जोगलेकर आदि थे। नौकरीसे हटा दिये जानेपर भी वेतन पानेवाले लोगों में वापट, कुमठेकर, पटवर्धन आदि थे और नौकरी से अलग कर दिये जानेवाले व्यक्ति बिंझे, कलवड़े इत्यादि थे। तिलक का प्रयत्न मुख्यतः दूसरे और तीसरे दर्जे के ही लोगों के लिए था। उनका कहना यह था कि अपराध स्वीकृति के प्रमाण को छोड़कर रिश्वत के लिए अन्य प्रमाण मिल सकना असंभव था। जो बात स्वीकृत की गई वह भी केवल क्षमाप्रदान का वचन पाने पर ही विश्वास रखकर की गई। अतएव इस प्रकार के स्वीकृति से प्रकट होनेवाली बातों में व्यर्थ के लिए मीन-मेख निकाल ना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। एकबार क्षमा-प्रदान का वचन जब दे दिया तब उसका पालन होना ही चाहिए। किंतु सरकार ने इस विचार-शैली को स्वीकार नहीं किया। जो हो इतना हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कुछ निकम्मे, मूर्ख या लोभी तहसीलदारों के सिवाय शेष प्रायः सभी को इस मामले में थोड़ाबहुत इन्साफ मिल ही गया। पेन्शन के तौर पर घरबैठे वेतन पाने के सिवाय उनमें से कई-एक ने परीक्षा पास करके वकालत भी शुरू कर दी। और कई देशी रियासतों में नौकरी करने लगे। इसी प्रकार कई लोगों ने स्थानिक स्वराज्य (म्युनिसीपालिटी आदि) में नौकरी करके दोहरी रक़म कमाना शुरू कर दिया। आगे चलकर कुछ दिनों में तो इन तहसीलदारों का दोष यहांतक भुला दिया गया कि सरकार ने

उन्हें रावसाहब, और रावबहादुर जैसे सम्मानास्पद उपाधियां भी दे डालीं। यदि कोई एक दोही व्यक्ति इस तरह रिश्वत के मामले में फँसते तो उनके प्रति जरा भी दयाभाव न दिखलाकर सरकार उन्हें एकदम अलग कर देती। किंतु एकदम बाढ़ आने पर जिस प्रकार नदी का कुड़ा-कचरा सब बह जाता है, लगभग उसी प्रकार की यह घटना भी हुई। अनेक तहसीलदार एक ही अपराध में पकड़े जाकर जब क्राफर्ड साहब की जान बचाने के लिए सरकार को मामला टालना पड़ा, तब 'क्राफर्ड-तहसीलदार' शब्द से निकलनेवाली दोषध्वनि लुप्त होकर वह एक प्रेक्षणीय एवं ऐतिहासिक पुरुष बन बैठे। इस शब्द के उच्चारण करते ही प्रमुखतः किसी तहसीलदार की ओरसे रिश्वत देनेका विचार मन में उत्पन्न न होकर यही दृश्य नेत्रों के सन्मुख आ खड़ा होता था कि 'जिस क्राफर्ड ने रिश्वत लेकर दर्पवाली अंग्रेज जाति की नीतिमत्ता को कलंक लगाया, उसीकी फज़ीहत करानेवाला यह व्यक्ति है।'

उन तहसीलदारों के लिए तिलक ने कितना परिश्रम किया, इसका वर्णन आज भी उनमें के जो लोग मौजूद हैं, वे सन्मानपूर्वक करते हैं। उनमें भी कई व्यक्ति बी. ए. पास थे, किंतु किसी में इस मामले को चला सकने के लिए तिलक के समान कर्तृत्व-शक्ति नहीं थी। इस आन्दोलन के समाप्त हो जानेपर कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए उन तहसीलदारों ने तिलक को चांदी की घड़ी और एक वेश कीमत दुपट्टा भेट किया। तिलक के पास अंत समय तक मौजूद रहनेवाली और कई लोगों की देखी हुई चांदी की छोटीशी घड़ी यही उपहार में मिली हुई घड़ी थी।

कहकर महाराष्ट्र और कोंकण प्रान्त की मीठी २ प्रशंसा ही की। सन १८८८ में पूने में जब क्राफर्ड-कमिशन बैठा, तब इस पंक्तियों का लेखक विद्यार्थी-दशा में था और उस तमाशे को देखनेके लिए गया था। कौंसिल-हॉल में प्रवेश करते समय भीड़ में उसे चोपदार के धक्के भी खाना पड़े थे। इसके बाद क्राफर्ड साहब को देखने के लिए गर्दन उठा कर खड़ा रहने और अंत में गर्दन के दूख आने की बात भी उसे आजतक अच्छी तरह याद है। उन्हीं क्राफर्ड साहब को माथेरान में खास तौर पर अपने से मिलने के लिए आते देखकर, और विशेषतः उनकी वह गरीबी बतलानेवाली पोशाक एवं अदब के साथ की जानेवाली बातचीत देखकर इस लेखक को कितना आनंद हुआ होगा, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

एकादश-विभाग।

केसरी और मराठा-(२)

(सन १८८७ से १८९१ तक)

सन १८८९ से शिक्षा-कार्य के अतिरिक्त अन्य उद्योग करनेके लिए तिलक मुक्त हो गये थे। अतएव अपनी आजीविका के लिए उन्होंने दो उद्योगों की योजना की। एक कपास लोढ़नेकी जिनिंग फैक्टरी और दूसरा "लॉ क्लास" खोलना। जिनिंग फैक्टरी कायम करना पूंजी का काम था, और उस समय इतनी पूंजी तिलक के पास मौजूद भी न थी। किंतु फिर भी लगभग दस-पंद्रह हजार रुपये लोगों से उधार लेकर उन्होंने इस उद्योग में लगाये। जिनिंग फैक्टरी के लिए निजाम राज्यका लातूर नामक गाँव में जमीन पसंद की गई और दो हिस्सेदार और भी खड़े करके तीसरे हिस्से में तिलक ने यह कारखाना खुलवाया। वे दो हिस्सेदार पूना के आबासाहब परांजपे परिंचीकर और गणपतराव सहस्त्रबुद्धे नामक सज्जन थे। इनमें से परिंचीकर तो कभी कारखाने में काम देखने आदि के लिए भी नहीं गये। हाँ, सहस्त्रबुद्धे अवश्य खुद जाते और तिलक की ओरसे उनके भानजे श्री-धोंडोपंत विद्वांस जाते थे। लातूर गाँव बार्शी रोड़ (कुर्डूवाड़ी) स्टेशन से लगभग पचास मीलके अंतर पर है, और उधर का रास्ता भी निजामी ढंग का है। उस समयतक बार्शी लाइट रेल्वे खुली नहीं थी, अतएव ऐसी दशा में इतनी दूरी पर कारखाना खोलकर उसकी देखरेख करने की संभावना तिलक के नितान्त असंभव थी। किन्तु तिलक ने यह सोचा कि दूसरे हिस्सेदार खुद हाजिर होंगे ही, इधर अपनी ओर से मैं भानजे धोंडोपंत को भेज दिया करूंगा, और बहुत ही आवश्यकता हुई तो मौसम के वक्त मैं भी उधर दो एक चक्कर लगा दूंगा। आरंभ में कुछ दिनोंतक कारखाना अच्छीतरह चला। इधर धोंडोपंत ने उन्हीं दिनों मैट्रिक्युलेशन एवं यू. एस्. एफ्. की परीक्षाएँ दे डाली थीं, किन्तु उन्हें कोई सरकारी नौकरी नहीं करनी थी, और न तबतक ऐसा कोई दूसरा कारखाना ही खुला था कि जिसमें तिलक का या खुद उनका विशेष उपयोग हो सकता। धोंडोपंत की जो कुछ भूसम्पत्ति या पुरातन वृत्ति कोंकण में थी, उसका होना न होना बराबर ही था। उनके परिवार का पालन आरंभ से ही तिलक के द्वारा हो रहा था, और तिलक उनको देश में लाये भी इसी लिए थे कि जिस में उन्हें फिर कोंकण को वापस न जाना पड़े।

सन १८८२ में जेल से छूटकर आते ही तिलक ने धोंडोपंत को कोंकण से अपने पास बुलवा लिया। तभीसे ये स्कूल में पढ़कर मामा के घरू काम-काज

करते रहे। ऐसी दशा में कारखाना खोलनेकी कल्पना करते ही धोंडोपंत ही उसके लिए मैनेजर तजवीज किये गये, और इन्होंने बराबर सात वर्षतक बड़े काम किया भी। सन १८८७ में ये पूना चले आये। उसी समय तिलक पर प्रथम बार राजद्रोह का अभियोग चलाया गया, तबसे ये पूना छोड़ कर कहीं नहीं गये। सन १८६७ में तिलक के जेल में रहने की ही दशा में आर्यभूषण प्रेस के मैनेजर हरि नारायण गोखले ने अपने प्रेस में केसरी छापने से इन्कार कर दिया, अतएव उसे दूसरे प्रेस में छपवाने का प्रबंध करने एवं और केसरी के वितरण अथवा आय-व्यय का भार उक्त प्रेस से हटाकर अपना नया ऑफोस खोलने और उसे यथानियम चलाने आदि में इनका पैर इस तरह फँसा कि फिर ये उससे न निकल सके। इधर लातूर की कंपनी का काम भी आरंभ से ही इनके हाथों से हो रहा था। सहस्रबुद्धे विद्वान् एवं उदार व्यक्ति थे, किंतु उनकी लहरी एवं स्वाभिमानी चित्त-वृत्ति के कारण काम का अधिकारभार इन्ही धोंडोपंत पर पड़ता था, और अवस्था में छोटे होनेके कारण भी इन्हें ही वह सब भार ज्यों त्यों वहन करना ही पड़ता था। सन १८६७ में जब ये पूना आये, तब सहस्रबुद्धे भी परिचीकर को अपना हिस्सा बेंचकर वापस लौट आये थे। यह तथा इसी प्रकार के अन्यान्य कारणों से आरंभ के कुछ वर्षोंतक कारखाने के कार्य में लगातार मुनाफा न होकर कुछ वर्ष बिलकुल घाटे में और कुछ वर्ष थोड़ासा नफा देकर काम चलता रहा। मतलब यह कि इससे तिलक की आजीविका में कुछ भी सहायता न मिली। बल्कि कई वर्षोंतक तो यह हालत रही कि यदि कारखाने की आयसे कर्ज़ ली हुई रक़म का सूद भी चुक जाय तो बहुत समझा जाता था।

न्यू स्कूल छोड़ देनेपर सन १८६७ तक तिलक की आजीविका का सच्चा साधन लॉ-क्लास ही था। क्राफर्ड-प्रकरण से मुक्त हो जाने पर कुछ दिनों बाद तिलक के लॉ-क्लास का विज्ञापन केसरी में प्रकाशित हुआ। उन दिनों तिलक सदाशिव पेठ में विंचूरकर के बाड़े में रहते थे, अतएव वहीं यह लॉ-क्लास खोला गया था। आरंभ में प्रथम वर्ष का और इसके बाद दूसरे वर्ष का, इस प्रकार दोनों क्लास यथानियम चलने लगे। ये क्लास सन १८६६ तक चलते रहे। सन १८६६ के अंत से पूने में प्लेग का प्रादुर्भाव हो जानेके कारण तथा केसरी और मराठा का काम बढ़ जानेसे ये क्लास स्थायीरूप से बन्द कर दिये गये। इस कक्षा से तिलक को प्रतिमास लगभग डेढ़सौ रुपये मिल जाते थे, अतएव इससे उनका घरखर्च अच्छीतरह चल जाता था। इस क्लास के लिए उन्हें एक-आध सहायक अध्यापक भी बराबर रखना पड़ता था। और इस काम में विष्णुपंत गोखले

(गणेश सदाशिव मराठे ऍक्चुअरी के बहनोई और होशंगाबाद के प्रसिद्ध वकील) विष्णु अनन्त पटवर्धन (क्राफर्ड प्रकरण के एक तहसीलदार और इसके बाद पूना के एक वकील), दिनकर हरि वाकनीस, बी. ए., एल्‌एल्‌. बी. (पूना के एक वकील), लक्ष्मण रघुनाथ गोखले (पूना के एक वकील) और नरसिंह चिंतामण केलकर ये सज्जन बारी २ से तिलक के सहायक बनकर काम करते रहे। लॉ-क्लास में तिलक हिन्दू लॉ, एविडन्स ऍक्ट और इक्विटी के कठिन विषयों की शिक्षा देते थे। हिन्दुधर्मशास्त्र विषय उनका बहुत तैयार था। इस पर उनके व्याख्यान बहुत ही बढ़िया होते थे। यहांतक कि नगर के नये एवं युवा वकील भी कभी २ उन व्याख्यानों को सुनने के लिए आते थे। हिन्दू लॉ विषयक उनका पठन हरसमय ताजा और पर्याप्त रहता था। इसी प्रकार कई दिनों तक उनका यह इरादा भी रहा कि हिन्दू-लॉ का कलमबन्द डाइजेस्ट अथवा कोड तैयार किया जाय। यदि लॉ-क्लास शुरू रहने की ही हालत में उन्हें कुछ अवकाश मिलता तो अवश्य ही इस पुस्तक को लिखकर वे समाप्त कर सकते थे। तिलक का हिन्दू-लॉ-विषयक ज्ञान कितना उत्तम था, इसे जाननेवाले उस डाइजेस्ट की सफलता को अनुमान कर सकते हैं। छह सात वर्षतक लॉ-क्लास चलानेसे तिलक को जितनी आय हुई, उससे कहीं अधिक आय अकेली इसी एक पुस्तक से हो सकती थी। क्यों कि यह बात सब लोग जानते ही हैं कि क़ानून की कोई पुस्तक लोकप्रिय हो जाने पर वह ग्रंथ-कर्ता को सम्पन्न बना सकती है।

डे० ए० सोसायटी छोड देनेपर तिलक को अपनी आजीविका के लिए जिनिंग फॅक्टरी और लॉ-क्लास को इस लिये साधन बनाना पड़ा कि सन १८९१ तक केसरी पर उनका पूर्ण स्वामित्व कायम न हो सका था। आगरकर के केसरी से अलग हो जाने पर आर्यभूषण प्रेस, और केसरी एवं मराठा ये दोनों पत्र मिलाकर एक संयुक्त कारखाना माना जाता था। वासुदेवराव केलकर, हरि नारायण गोखले एवं तिलक ये तीन संयुक्त भागीदार उसके मालिक थे। सन १८८८ तक केसरी की ग्राहक संख्या लगभग पांच हजार तक बढ़ गई थी, अतएव अकेले इस पत्र से ही यथेष्ट आय होती थी। किन्तु अंग्रेजी पत्र "मराठा" शुरू से ही घाटे में चल रहा था। इसके अलावा प्रेस के लिए टाइप आदि भी बारम्बार दूसरी जगह से खरीद कर लाने का खर्च पड़ता था। ऐसी दशा में केसरी के लिए अलग मशीन और अपनी टाइप फाउन्ड्री की आवश्यकता प्रतीत हुई। अधिक पूंजी जुटाना उन्हीं हिस्सेदार को पड़ता था। इधर तिलक और वासुदेवराव केलकर पहले एक मत थे, किन्तु सन १८९१ में 'रमाबाई' वाले मामले एवं अन्यान्य दो एक

कारणों से यह एकमत सोलहों आने कायम न रह सका। इधर केसरी में प्रधानरूप से लिखनेवाले तिलक थे, और 'मराठा' के मुख्य लेखक वासुदेव-राव केलकर थे। एक ही विषय पर केसरी और 'मराठा' में परस्पर विरुद्ध लेख भी कभी २ निकल जाते थे। अतएव यह आवश्यकता अब अनिवार्य-रूप से प्रतीत होने लगी कि ये दोनों पत्र किसी एक ही व्यक्ति के अधिकार में सौंप दीये जायँ। श्री. हरिपंत गोखले केवल प्रेस की ही दृष्टि से काम चला सकते थे। अतएव मराठा के घाटे को वे देख न सके। दोनों पत्र किसी एक ही के अधिकार में सौंप देने के साथ २ प्रेस को भी किसी एक के या दोनों के हिस्से में कर देना आवश्यक प्रतीत होने लगा। इनमें से श्री. गोखले पत्रों का भार उठा ही नहीं सकते थे, क्योंकि उन्हें ये दोनों प्रेस के लिए भारवत् प्रतीत होते थे। अतएव उनके प्रेस लेने की बात निश्चित हुई। उनके जोड़ीदार बनने के लिए प्रो० केलकर खड़े हों या तिलक, यह अभी निश्चित् होता था। तिलक की ही तरह केलकर भी सव्यसाची अर्थात् अंग्रेजी और मराठी दोनों भाषाएँ लिख सकते थे। इसी प्रकार वे संपादन-कार्य में भी उत्साही एवं मर्मज्ञ थे। ऐसी दशा में इन दोनों पत्रों को खरीदनेके लिए अपनी २ ओर से दोनों ही तैयार थे। किन्तु इस समस्या के भी हल् हो सकने-के दो प्रधान कारण थे। एक तो यह कि केलकर अभी कॉलेज में प्रोफेसरी कर रहे थे, अतएव उधर से उन्हें अपने निर्वाह के योग्य वेतन मिल ही जाता था। इसके अलावा जब कारखाने की हिस्से-रसी हुई तब लाभकारक किन्तु बारबार थोड़ी २ नई पूंजी लगाकर चलाने योग्य प्रेस एक ओर रक्खा गया, और कुल जोड़ के अनुसर तीसरे हिस्से के कर्ज़, ७ हजार रुपये सहित दोनों समाचार पत्र दूसरी तरफ रखे गये। साथ ही यह भी एक निर्विवाद विषय था कि अपने मत का प्रचार करनेकी इच्छा प्रो० केलकर की अपेक्षा तिलक में ही अधिक थी। मतलब यह कि हिस्सा लेते समय कर्ज सहित दोनों पत्र लेने के लिए तिलक ही आगे बढ़े। और इस तरह सन १८८१ में उन्होंने इन्हें अपने स्वामित्व में कर लिया। इस समय तिलक को कॉलेज से कोई वेतन नहीं मिलता था, और इधर कर्ज की अदायगी एवं मराठा का खर्च चलाने के लिए केसरी के मुनाफे को लगा देना पड़ता था। ऐसी दशा में दोनों समाचारपत्रों की छपाई का ख़र्च, मराठा के संपादक का वेतन और केसरी के बँटवाने आदि का खर्च नफे में से चला कर, बचत से कर्ज़ की अदायगी करने की गरज़ से, यह सारा काम आर्यभूषण प्रेस अर्थात् गोखले के ज़िम्मे रखना पड़ा। ऋणमुक्त हुए बिना तिलक अपना अलग

प्रेस नहीं खोल सकते थे। प्रेस को गोखले और केलकर ने कर्ज़ के हिस्से सहित संयुक्त स्वामित्व के रूप में ले लिया। तिलक को ऋणमुक्त होने में पांच-छह वर्ष लग जाने की संभावना थी, अतएव अपनी आजीविका के लिए उन्हें केसरी के सिवाय अन्य कोई स्वतंत्र साधन तलाश करना पड़ा।

केसरी के विषय में तिलक-आगरकर के पश्चात् से और मराठा के लिए तिलक से भी अधिक सम्बन्ध सन १८९१ से पहले तक, वासुदेव बालकृष्ण केलकर का ही रहा। प्रो० केलकर असल में कल्याण के रहनेवाले थे। और आज भी उनका निजी मकान कल्याण में ही मौजूद है। इनकी बी. ए. तक की शिक्षा बम्बई में ही हुई। यूनीवर्सिटी की परीक्षा में इन्होंने अर्थशास्त्र और इतिहास इन दो विषयों को लेकर उच्च श्रेणि में उत्तीर्णता लाभकर स्वर्ण-पदक भी प्राप्त किया था। अंग्रेजी भाषा उनका प्रिय विषय था। पूने से इनका सम्बन्ध इनके मामा गोपालरावजी फाटक के कारण हुआ, जो सन १८८०-८१ में पूने में प्रिंसिपल सदर अमीन थे। फाटक महाशय के पास तिलक आदि न्यू इंग्लिश स्कूल के कार्य-कर्ता लोग आया-जाया करते थे। कोल्हापुर-प्रकरण से सम्बन्ध रखनेवाले बनावटी पत्रों को तिलक-आगरकर ने अन्यान्य सज्जनों की ही तरह इनको भी दिखाये थे, और ठीक मामला चलते रहने की दशा में इनकी गवाही भी होनेवाली थी, किन्तु कारणवश सभी बड़े २ लोगों की गवाहियां रद्द कर दी गई। इतने पर भी फाटक महाशय उस मामले में फँसे हुए सभी युवकों के साथ सहानुभूति रखते थे, और उन्हींके कहने पर तिलक-आगरकर को सजा हो जानेके पश्चात् वासुदेवराव केलकर न्यू इंग्लिश स्कूल में काम करने लगे थे। प्रथमतः इस स्कूल में शिक्षक के नाते उन्होंने इतनी ख्याति-लाभ कर ली, कि फर्ग्यूसन कॉलेज खुलते ही इन्हें अंग्रेजी के प्रोफेसर की जगह सबसे पहले दी गई। यद्यपि केलकर सभा, सोसायटी में कभी व्याख्यानादि नहीं देते थे, किन्तु फिर भी, अपनी कक्षा में अंग्रेजी पढ़ाते हुए वे धाराप्रवाह अंग्रेजी बोल सकते थे। अंग्रेजी उपन्यास अथवा नाटक दोनों की ही वे बड़े अच्छे ढंग से शिक्षा देते थे। पढ़ाने जितनी ही योग्यता उनमें लिखने की भी थी, अतएव वे शुरू से ही केसरी और मराठा के संपादकीय विभाग में बदल लिये गये थे। लगभग सन १८८३ से १८९१ तक मराठा-पत्र को अधिकांश में उन्हींने चलाया। उन्हें सहायता देनेवाले एकमात्र नामजोशी ही थे। केसरी के ही साथ २ मराठा अपने स्वामित्व में आनेसे पहले तक तिलक ने इस अंग्रेजी पत्र में गिन्ती के ही लेख लिखे होंगे। केलकर अकेले ही मराठा-पत्र

पूरे दो दिन में ही लिख डालते थे। उनकी भाषा सरल, शुद्ध और प्रभावशालिनी होती थी। मराठा के संपादन-काल में ये कुछ दिनोंतक, 'इंग्लिश ओपीनियन ऑन इण्डिया' नामक मासिक-पत्र भी चलाते रहे। विलायत में कुछ लोग समाचारपत्रों में आनेवाले भिन्न २ विषयों के उद्धरण (कटिंग्स) उन पत्रों से काट २ कर अपने ग्राहकों के बेचने का व्यवसाय करते हैं। इन्हीं लोगों से भारत-विषयक उद्धरण मंगवा कर वे सब उक्त मासिक पत्र में ज्यों के त्यों छापे जाते थे, और संपादक के नाते केलकर केवल एक छोटी सी भूमिका लिख दिया करते थे। इस कार्य में इनका बहुत ही थोड़ा समय खर्च होता था, इधर मराठा के लिये लेखादि सामग्री के लिए उत्तरदायी संपादक केलकर ही थे, अतएव फर्ग्यूसन कॉलेज से अंग्रेजी पढ़ाने के सिवाय उनके जिम्मे खासकर और कोई काम ही नहीं रहता था। वे मराठा का काम सरलतापूर्वक चलाते थे।

जब यह विवाद उपस्थित हुआ कि डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी से समाचार-पत्र (केसरी-मराठा) का संबन्ध रहे या नहीं, तब सबसे पहले सम्बन्ध-विच्छेद करनेके लिए आपटे ही तैयार हुए थे। इस सम्बन्ध के समर्थन-कर्ताओं में प्रधान व्यक्ति तिलक, केलकर और नामजोशी थे। आगरकर यद्यपि इन पत्रों में लिखनेके लिए हरसमय तैयार रहते थे, किंतु समय पड़नेपर सोसायटी से इन पत्रों को रुपया-पैसा दिलवानेके वे पक्के विरोधी थे। इसी प्रकार वे प्रेस और पत्र को चलाते रहने के पक्ष में अवश्य थे, किन्तु वे इन्हें ऋण-रहित चलाना चाहते थे, अतएव जब प्रेस में सब लोग बैठ कर ऋण-सम्बन्धी चर्चा करते, तब वे प्रायः गरम हो जाया करते थे। ऐसी दशा में हरसूरत से पत्र और प्रेस को बराबर चलाते रहनेके पक्षपाती केवल तिलक, केलकर और नामजोशी ही रहे। इधर सामाजिक मतों की दृष्टि से तिलक और आगरकर दोनों दो सिरोंपर रहते थे। आपटे समाज-सुधार के विशेष पक्षपाती न थे, और स्त्रीशिक्षा में नृत्य-गायनादि का समावेश करने एवं "रजसा शुध्यते नारी" जैसे विचार प्रकट करनेके वे प्रकट विरोधी थे, किन्तु इसीके साथ २ 'सम्मति-वय-बिल' जैसे क़ानून पास हो जाने में भी कोई बुराई नहीं समझते थे। यही कारण था कि वे कभी आगरकर की ओर रहते थे तो कभी तिलक की ओर। केलकर पुराणमत-वादी न थे, किन्तु फिर भी वे *समाचारपत्रों में पुरातन-सिद्धान्तों को* धिक्कारते हुए नया मत प्रकट करनेके विरोधी थे, और धार्मिक विषयों में सरकार हाथ डालना पसंद न करते थे। सोसायटी में सामाजिक मतभेद के समय तिलक का पक्ष ज़बरदस्त रहता था और आगरकर का अल्पसंख्याक अतएव निर्बल पक्ष

होता था। आगरकर के 'केसरी' से अलग हो जानेपर, कमसेकम समाचार-पत्रों के विषय में तो तिलक और केलकर का तीन चार वर्षोंतक एक-मत ही रहा। सोसायटी और प्रेस एवं पत्रों का सम्बन्ध जब तोड़ा गया तब प्रेसपर कर्ज था, और उस ऋण-भार को उठाते हुए ही पत्रों को बराबर चलानेकी बात तिलक एवं केलकर ने निश्चित कर ली थी। पीछे हम एक स्थानपर कह आये हैं कि इस सम्बन्ध-विच्छेद से पहले सोसायटी की ओरसे प्रेसपर देखरेख रखने का भार तिलक पर ही डाला गया था, अतएव अब प्रेस इन्हींके अधिकार में आ गया था। और उनका उत्तर-दायित्व और भी बढ़ गया था। इन दोनों सज्जनों ने अपना श्रम-विभाग इस प्रकार कर लिया था कि दोनों पत्र केलकर सम्हालें और प्रेस का प्रबंध तिलक देखते रहे, और इसी लिए तिलक को प्रेस का पुराना मैनेजर बदलकर उसकी जगह नये व्यक्ति की योजना भी करनी पड़ी। पुराने मैनेजर गणपतराव सोहनी का काम कुछ ढीला था। वे जमा और खर्च को बराबर रखने की पर्वाह नहीं करते उधार रकम वसूल करनेमें लापर्वाही दिखाते, खर्च को अनियमितरूप से बढ़ने देते और अंत में प्रेस का वेतन चुकाते समय तिलक के पास जाकर रुपयों का प्रबंध करनेके लिए तकाज़ा लगाते। ऐसी दशा में रातदिन की इस झंझट को कौन सिरपर लेता! इसी लिए तिलक हमेशा उन्हें साफ जना दिया करते थे कि " जब हम अवैतनिक-रूप से पत्रका काम करते हैं, और मुफ्त में चलते हुए पत्रों सहित इतना बड़ा प्रेस तुम्हें सौंप चुके हैं, तब वेतन के लिए ऋण लेनेकी चिंता हमें ही करनी पड़े, यह व्यवहार की नीति नहीं है।" आखिर, सोहनी को मैनेजरी छोड़कर अलग होना पड़ा, और उनके स्थानपर हरि नारायण गोखले की नियुक्ति हुई।

हरिपंत गोखले मूलतः गुरुगाँव के रहनेवाले थे। और बाल्यावस्था से ही बम्बई के गणपत कृष्णाजी, नेटिव ओपीनियन आदि प्रेसों में लेखक आदि का काम कर बहुत कुछ अनुभव प्राप्त कर चुके थे। इधर तिलक से भी उनका पुराना स्नेहसम्बन्ध था। अतएव इनसे भी उन्हें हमेशा सहायता मिलती रहती थी। न्यू इंग्लिश स्कूल में आने पर वामनराव आपटे ने अपनी जो संस्कृत-गाइड छपवाई उसे बम्बई में हरिपंत गोखले ने ही अपनी जिम्मेदारी पर छापा था। उस समय तिलक से ही उन्हें सात-आठ सौ रुपये ऋणस्वरूप मिले थे। और इस काम में उन्होंने लाभ भी उठाया था। इसी प्रकार गोखले ने और भी कई पुस्तकें छपवाई थीं। इन्हीं सब कारणों से यह सोचकर कि " आर्यभूषण प्रेस का प्रबंध गोखले के हाथ में देने से अच्छा हो जायगा " तिलक ने उन्हें पूना बुलवाया और सब बातें समझाकर प्रेस उनके अधीन कर दिया। यद्यपि गोखले

के पास कोई पूंजी नहीं थी, किन्तु जब वे ऋण के अंश को स्वीकार करनेपर राजी हो गये; तब उन्हें भी हिस्सेदार बना लिया गया। इस तरह तिलक, केलकर और गोखले तीनो मिलकर प्रेस एवं दोनों पत्रों के स्वामी तथा प्रेससम्बन्धी ऋण के लिए जवाबदार व्यक्ति ठहराये गये, अतएव प्रेस एवं पत्र निजी सम्पत्ति के रूप में हो गये। किन्तु न्यू इंग्लिश स्कूलसे उनका सम्बन्ध वासुदेवराव केलकर के द्वारा कायम रक्खा गया। वह इस प्रकार कि केलकर निस्वार्थभाव से दोनों पत्रों को चलाते रहें, और उन्हें कॉलेज के अन्य प्रोफेसरों भांती वेतन दिया जाय, किन्तु कॉलेज में उनपर शिक्षा का भार दूसरों से कम रहे। इस बात को सोसायटी के सदस्यों ने स्वीकार कर लिया। इस तरह सन १८९० तक तिलक और वासुदेव राव केलकर का सम्बन्ध बराबर कायम रहा। किंतु जब तिलक ने सोसायटी से त्याग-पत्र देकर सार्वजनिक कार्यों में ही विशेषरूप से ध्यान देना शुरू किया, तब से प्रेस की ही तरह समाचारपत्रों का अंतर्व्यवस्था में भी उन्हें विशेषरूप से ध्यान देना पड़ा। अतएव इन उभय महानुभावों के मत में जो सूक्ष्म भेदरेखा बनी हुई थी, वह अब प्रतिदिन बढ़ने लगी अथवा कमसेकम इन दोनों को वह विशेषरूप से दृष्टि-गोचर होने लगी।

जब एकबार मतभेद उत्पन्न हो जाता है फिर वह लगातार बढ़ता ही जाता है। यही बात तिलक और केलकर के विषय में भी हुई। कॉलेज में होनेवाली संयुक्त बैठकें टूट गईं। प्रेस और पत्र से सम्बन्ध दोनों का ही था, किन्तु ऑफिस में दोनों नहीं बैठते थे। संपादक लेखादि सामग्री घर से ही लिखकर भेज देते और प्रुफ भी प्रायः घर पर ही पढ़ते थे। प्रेसकी देखरेख के विषय में यदि कुछ पूछताछ करनी होती तो हरिभाऊ गोखले तिलक के घर जाकर उनसे सब हाल कह देते और उनसे राय ले लेते थे। फुर्सत के समय के दोनो के उद्योग एवं तदनुसार मित्र लोग जुदे २ हो गये। वासुदेवराव केलकर समाचारपत्र में लेखादि लिखनेके सिवाय अन्य किसी भी सार्वजनिक कार्य में कभी योग नहीं देते थे। पर तिलक ने कॉलेज छोड़कर पत्रों के हाथ में न लेनेसे पूर्व ही बीसियों सार्वजनिक कार्यों का भार अपने ऊपर ले रक्खा था। यद्यपि एक ही काम वे हाथ में लेते थे, किंतु उसी में वे यहांतक तन्मय हो जाते थे कि अन्य बातों का उन्हें ध्यानतक नहीं रहता था। ऐसी दशा में यदि यह कह दिया जाय कि कॉलेज से उनकी बैठक उठ जानेके बाद वह स्थायीरूपसे घर पर ही जम गई, तो अनुचित न होगा। जिन दिनों तहसीलदारों का मामला चलता रहा, उन दिनों तुलसीबाग के निकट श्रीमंत खासगीवाले के मकान में बाबासाहब घारपुरे नामक एक बैरिस्टर के यहां प्रायः तहसीलदार आदि इकट्ठे होकर बैठते थे, तिलक की

घर हो गयी थी। इसके बाद तिलक की सायंकाल की बैठक की जगह सार्वजनिक सभा का क्लब थी। घारपुरेजी के यहां किसी तरहके मत-भिन्नता के झगडे न थे, पर सार्वजनिक सभा के क्लब में नये पुराने और नर्म-गर्म दोनों दलके नेता एवं आनुयायी लोगों के एकत्र बैठनेसे विवाद और बखेड़ों की कमी नहीं रहती थी। ये झगड़े जब पराकाष्ठा तक पहुँच गये, तब विवश होकर तिलक को यह बैठक भी छोड़ देनी पड़ी। इस के बाद सन १८९१-९२ वाले आन्दोलन के समय से सब लोगों का आनाजाना इनके घर पर ही होने लगा और तबसे अंततक यह बराबर बढ़ता ही गया। पहाड़ी प्रान्त से निकलकर, अपने प्रवाह के लिए यथेष्ट मार्ग निर्माण करके एवं आस-पास के समस्त छोटे बड़े वालोंको अपने में मिलाकर विस्तीर्ण बन जानेवाली नदी का दृष्य अपनी आंखों से देखने का सौभाग्य किसी भी पीढ़ी के मनुष्यको प्राप्त नहीं होता, किन्तु तिलक लोकसंग्रह के विषय में पिछली पुश्त के लोगों को यह दृष्य अवश्य ही देखने को मिल सका है।

श्री. वासुदेवराव केलकर, किसी सार्वजनिक कार्य में योग न देते थे और अपना फुर्सते का बल निरे मनोरंजन के ही साधनों की ओर ध्यान देनेमें विताया करते थे। इस अवसर में उन्होंने शेक्सपियर के नाटक परसे "त्राटिका" और "वीरमणी शृंगारसुंदरी" नाम के दो नाटक मराठी में लिखकर तैयार किये, और इनमें से "त्राटिका" का अभिनय भी तत्कालीन उदयोन्मुख शाहूनगरवासी नाटक मंडली बड़ी सफलता के साथ करने लगी। वासुदेवराव केलकर खुद बड़े रसिक एवं अभिनयपटु व्यक्ति थे, अतएव उन्होंने बहुत कुछ श्रम उठाकर स्वनामधन्य नट गणपतराव जोशी को न केवल अपने ही नाटक के ही वरन् हेम्लेट जैसे गूढ़ाशयपूर्ण नाटक के भी दुर्गम रहस्यों को अच्छी तरह समझा दिया था। यह प्रिय व्यासंग जब आगे चलकर अनिवार्य हो गया, तब वासुदेवरावजी की बैठक केवल नाटक-मंडली में ही जमने लगी। इन सब बातों के कहने का आशय केवल यही है कि वासुदेवरावजी की यह दिनचर्या तिलक को पसंद हो सकने योग्य न थी, अतएव इन के पारस्परिक प्रेम भाव में वृद्धि होने के बदले वह घटता ही चला। परिणाम यह हुआ कि [illegible] मतभेद का प्रथम प्रसंग आते ही दोनों को यह प्रतीत होने लगा कि अब अपना पारस्परिक व्यवहार ही तोड़ देना अच्छा होगा। अस्तु। इधर हरिभाऊ [illegible] के [illegible] उत्पत्ति आरम्भ हुई, किन्तु फिर भी पत्र और प्रेम व्यवहार न हो सके। यह [illegible] भी किसी ग्रंथ में छपा था। हरिभाऊ इन पत्रों को [illegible]

करने थे। फलतः जब कुल हिसाब लगाकर देखा गया तो, इक्कीस हजार का ऋण निकला! अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि इसे कौन अपने सिर ले! प्रेस और केसरी दोनों ही नफा देनेवाले विभाग थे, अतएव यह ऋण इन दोनों के हिसाब में लगा देनेमें कोई बुराई नहीं थी। अतएव प्रेस पर चौदह हजार और केसरी पर सात हजार के हिसाब से यह ऋण फैला दिया गया। इस तरह हिस्सेरसी हो जाने पर यह स्वाभाविक ही था कि किसी एक के मन चाहा हिस्सा ले लेने पर बचा हुआ हिस्सा दूसरा लेता। फलतः ऋणसहित प्रेस लेने के लिए तिलक को तैयार होना पड़ा। अर्थात् वे कहने लगे कि, "यदि तुम नफे का सौदा सिर्फ पत्रोंको ही समझते हो तो सात हजार के ऋणसहित दोनों पत्रों को खुशीसे ले लो, मैं चौदह हजार के ऋण सहित प्रेस लेने को तैयार हूं।" किंतु केलकर और गोखले को इस बात का अच्छी तरह पता था कि तिलक को केवल प्रेसका ही चाव नहीं है, बल्कि उनकी सच्ची अभिरुचि समाचारपत्रों में है, अतएव पत्रों के लिए आवश्यक साधन समझकर वे प्रेस अपने जिम्मे ले रहे हैं। अतएव उन्होंने सोचा के प्रेस ले लेनेपर तिलक अपना अलग पत्र निकालेंगे, और निःसन्देह उसे लोकप्रिय बना सकेंगे। ऐसी दशा में केसरी और मराठा का प्रभाव घट कर उनकी आय कम हो जायगी। अतएव केलकर और गोखले ने यह नई शर्त सामने रक्खी कि जो व्यक्ति प्रेसको ले, वह अपना अलग पत्र न निकाले। इस नई शर्त से सारा मामला ही पलट गया और सात हजार के कर्ज-सहित दोनों पत्र लेकर तिलक को चौदह हजार ऋण एवं प्रेस अपने दूसरे हिस्से-दारों के लिए छोड़ देना पड़ा।

इस हिस्सेरसी में पंडिता रमाबाई का मामला निमित्तमात्र होने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। और इस विषय का विवेचन भी हम आगे चलकर स्वतंत्र परिच्छेद के रूप में करनेवाले हैं। अतएव यहां उसका हाल देनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। रमाबाईविषयक विवाद सन १८८१ के जून में प्रकटरूप से आरंभ हुआ। और इस मामले पर तिलक ने चार पांच जोरदार लेख भी लिखे। सुधारक, सुबोधपत्रिका आदि पत्र स्वभावतः रमाबाई के पक्ष में हो गये, और यदि विशेष सूक्ष्मरूप में कहा जाय तो उन्हें हम भाण्डारकर रानडे आदि के पक्षके समर्थक भी कह सकते हैं। इनमें मराठा और भी शामिल हो गया। केवल सरकार एवं समाज-सुधारविषयक बातों में ही केलकर तिलक से सहमत थे, किन्तु जब केवल भाण्डारकर-रानडे सम्बन्धी प्रश्न उत्पन्न हुआ, तब सहज ही में उनकी सहानुभूति का पलड़ा उधरको झुक चला और मराठा में केसरी के विरुद्ध लेख निकलने लगे। विपक्षियों ने इस से यथेष्ट लाभ उठाया।

वे कहने लगे, देखो मराठासंपादक भी केसरी के विरुद्ध हो गये ! इस का उत्तर तिलक ने केसरी के द्वारा इस प्रकार दिया " हमारे लिखने पर पहला आक्षेप यह किया जाता है कि हमारे बन्धु एवं मित्र ही हमसे सहमत नहीं हो सकते। मानो, वे इसे ईश्वरीय संकेत ही समझते हैं कि सब बन्धु एवं मित्र लोगों का एकमत होना अनिवार्य है ! किंतु इस बात का जिम्मा हमने कभी लिया ही नहीं कि हमारे साथियों में कभी मतभेद ही न हो ! अतएव जिन लोगों की यह कल्पना हो कि किसी मनुष्य का मत हमसे भिन्न हो तो उसे हम अपना बन्धु ही नहीं मान सकते, वे भले ही इस विषयको महत्त्व देते रहें। हमारा तो कुल-व्रत ही इस प्रकार का है कि हाइकोर्ट के जज्जसे लगाकर (सुबोध) पत्रिका के संपादक तक किसी की पर्वाह या मुरव्वत न करते हुए, अथवा अपने आप्तजनों के अभिप्राय तक को न पूछते हुए जो हमें सत्य दिखाई देगा, उसे कारणसहित लोगों के सन्मुख प्रकट कर देंगे। ईश्वरीय अनुग्रह से खुद केसरी-संपादक की यह दशा है कि, वह किसी रावबहादुर तक की पर्वाह न करते हुए, अपनी स्पष्टवादीता से किसी संस्था को हानि पहुँचने की भय न रखते हुए साफ साफ अपना मत प्रकट कर सकता है। ऐसी दशा में यदि हमने अपने सहयोगी की तरह इस पत्त का समर्थन नहीं किया तो यह स्वाभाविक ही था। "

असल में " मराठा " ने रमावाई का पत्त पूर्णतया स्वीकार नहीं कर लिया था। इस मामले की कई एक वार्तोंपर उसने सुबोधपत्रिका को भी फट्कारा था। पत्रिका-सम्पादक ने इस वाद की धुन में वहक कर जब केसरी को मनमाने अपशब्दोंसे संवोधित किया तो यह बात मराठा को सहन न हो सकी और उसने पत्रिका की सत्यप्रियताविषयक विरद की आलोचना की। खुद पंडिता तक को मराठा ने यह उपदेश दिया था कि " यदि शारदा-सदन को निर्दोष बनाना हो तो उसके लिये जिम्मेदार संचालक-मण्डल संगठित होना चाहिये। इसी प्रकार ये बातें भी स्पष्टतया प्रकट कर दी जानी चाहिये कि इस संस्था में हिन्दू बालिकाओं के लिए अपने आचारविचार पालन करनेकी कहां-तक स्वतंत्रता रहेगी; अथवा मिशनरी लोगों से आर्थिक सहायता लेनेपर, उसमें ईसाई लड़कियां ही भर्ती हो सकेंगी या हिन्दू बालिकाओं को ईसाई धर्म-प्रचार से अलग रखकर शिक्षा दी जा सकेगी ! " केसरी के लेखोंपर मराठा का आक्षेप केवल इतना ही रहता था कि, अबतक रमाबाई के सदन में की किसी भी लड़की को भ्रष्ट नहीं किया गया है और व्यर्थ ही में लोग ऐसा समझने लगे हैं; साथ ही सबसे अधिक हानि इसमें यह हो रही है कि, संस्था की आदरणीय शिक्षा से हिन्दू बालिकाएँ जो लाभ उठा सकती हैं, उससे इस प्रकार की

आलोचनाएँ उन्हें परावृत्त कर देंगी । पुराणमतवादी (सनातनी) लोगों अर्थात् केसरी को लक्ष्य करके मराठा ने यह लिखा था कि "शारदासदन को सब प्रकार सनातन धर्म की पद्धति के अनुसार चलाने की आशा व्यर्थ ही में हिन्दू-समाज क्यों करे? इससे तो अच्छा यही होगा कि पुराने ढंग की शिक्षा देनेके लिए अपने ही द्रव्य से स्वतंत्र शालाएँ खोल दी जायँ! सरकारी स्कूल में, जिस ढंग से धार्मिक दृष्टि से तटस्थ वृत्ति रह सकती है, उतनी ही यदि पंडिता रमाबाई की संस्था में रह सके तो पर्याप्त है।"

यदि गत्-घटनाओं पर ही ध्यान दिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि मराठा-संपादक की आलोचना अनुचित थी। किन्तु वासुदेवराव केलकर को यह जान पड़ता था कि रमाबाई की वृत्ति तटस्थ रहेगी, अतएव वे उसका समर्थन करते थे। इधर केसरी के चित्त में यह बात जमगई थी कि रमाबाई की वृत्ति विचलित हुए बिना रह नहीं सकती और ऐसी दशा में शारदा-सदन की बालिकाएँ धर्म-भ्रष्ट हुए बिना न रह सकेंगी, इसीलिए वह तीव्र आलोचनात्मक लेख प्रकाशित करता था; और अंत में जाकर तिलक (केसरी) का ही कथन सर्वथैव सत्य निकला! ता० १ सितम्बर के अंक में केसरी लिखता है कि, "शारदासदन के ईसाई मिशनरी संस्था समझते हुए भी जिन्हें अपनी लड़कियां वहां भेजनी हो उन के लिए यह मार्ग खुला रहनेकी बात हम पहले ही लिख चुके है।" इस वाक्यपर से स्पष्ट प्रकट होता है कि तिलक का मानसिक भविष्य भी यही था। इधर कुछ लोग यह भी कहते थे कि केसरी के विधानों पर अदालत में मानहानि का दावा दायर होगा; पर यह प्रसंग आने नहीं पाया। तिलक का भविष्य-कथन सत्य सिद्ध होकर भाण्डारकर और रानडे को कुछ ही दिनो में शारदासदन से प्रकटरूप में अपना सम्बन्ध त्याग देना पड़ा। इधर आर्य-भूषण प्रेस एवं केसरी और मराठा पत्र के सम्बन्ध-विच्छेद की कल्पना को भी कार्यरूप में परिणत करने के लिए कागज-पत्र तैयार हो गये। अंततः ता० १३ सितम्बर सन १८६१ के मराठा में वासुदेवराव केलकर ने मराठा का संपादन छोड़ने की सूचना प्रकाशित कर दी, और इस तरह केसरी एवं मराठा दोनों पत्र अकेले तिलक के ही अधिकार में आ गये। इन दोनों पत्रों को छापनेके लिए तिलक के पास न तो कोई प्रेस ही था, और न नया प्रेस खड़ा करनेके लिए पूंजी ही। अतएव स्वामित्व की दृष्टि से आर्यभूषण प्रेस से तिलक का सम्बन्ध विच्छेद हो गया था, किन्तु फिर भी दोनों पत्रों के छपाने का काम उन्हें इसी प्रेस से लेना था। इस काम में खुद तिलक की निश्चित

की हुई व्यवस्था में बिना किसी प्रकार को परिवर्तन किये ही काम चल सकता था। प्रेस के लिए भी इन दोनों पत्रों का काम यथेष्ट एवं स्थायी था अतएव उसे भी इनकी आवश्यकता ही था। गोखले और केलकर के क़र्जे की अदायगी मुख्यतः इन पत्रों के नफे से ही होने की थी, अतएव उन्होंने समझा कि इन पत्रों का सब काम और प्रबंध कर्ज़ की अदायगी के लिए अपने हाथ में एक प्रकार की ज़मानत के तौरपर रखना ठीक ही है। इधर तिलक के लिए केसरी-मराठा का नया ऑफिस कायम कर उसे चलाते रहने की कोई सुविधा न थी। ये घर के अकेले थे, और इनकी सहायता के लिए कोई विश्वासपात्र सहायक भी न था। इनके भानजे धोंडोपंत विद्वांस को अधूरी शिक्षा प्राप्त करके ही व्यवहार में पड़ जाना पड़ा। अतएव उन्हें ऋण लेकर खड़ी की हुई लातूर की कम्पनी में अपने विश्वासपात्र व्यक्ति के नाते रखना इन पत्रों के काम में फँसाने से कहीं अधिक आवश्यक था। मतलब यह कि इन सब कारणों के आ उपस्थित होनेसे मिलकियत के हिसाब से अलग हो जाने पर भी केसरी और मराठा की छपाई का काम आर्य-भूषण प्रेस में पहले की तरह ही होता रहा। दोनों पत्रों के नीचे प्रेस लाइन वही पूर्ववत् छपती रही। अर्थात् "यह पत्र पूना के आर्य-भूषण प्रेस में छापकर पत्र के स्वामी के लिए प्रकाशित किया गया।" इन शब्दों में एक अक्षर का भी परिवर्तन नहीं किया गया। हिसाब की वहियों में सम्बन्ध विच्छेद का अमल जमाखर्च के रूप में हो जानेके बाद नये सम्बन्ध के अनुसार कुछ खाते नये अवश्य कायम कर दिये गये थे। जिस प्रकार एक भाई दूसरे भाई को किराया देकर अपने मकान में रहता है उसी प्रकार अब आर्यभूषण प्रेस और इन पत्रों का सम्बन्ध हो गया। सन १८६७ में जाकर तो यह सम्बन्ध अर्धाधिक विच्छिन्न हो गया। इस घटना को मूल कारण एवं तत्संबन्धी विवेचन आगे यथाक्रम होने ही वाला है, अतएव यहां हम उसपर कुछ नहीं लिखना चाहते। सन १८८० में केसरी और मराठा की उत्पत्ति की जो कल्पना न्यू इँग्लिश स्कूल के युवा संचालकों के मनमें उत्पन्न हुई, उसे दृश्यरूप प्रदान कर कार्य-परिणत करनेमें किन २ बाधाओं का सामना करना पड़ा, और अन्य सभी आद्य सहायकों का सम्बन्ध क्रमशः टूटकर अंत में पत्रों का सारा भार किस प्रकार अकेले तिलक पर आ पड़ा इन सब बातों का संकलित रूप में हमने यहांतक विवेचन कर दिया है। इस परिवर्तन के साथ ही केसरी के संपादकीय-विभाग में भी नये व्यक्तियों की भर्ती होती रही। किन्तु आर्थिक दृष्टि से पत्रों का स्वामित्व, एवं नीति-निर्धारण करने की दृष्टि से पूर्ण

अधिकार सन १८६१ से अंतसमय तक तिलक का ही रहा। अतएव इन दो दृष्टियों से सम्बन्ध रखनेवाले केसरी और मराठा के इतिहास की समाप्ति यहीं हो जाती है, और इसी के साथ २ हम इस परिच्छेद को भी समाप्त करते हैं।

एकादश-विभाग, परिशिष्ट (१)
केसरी की छपाई का व्यवस्थापत्र.

आर्य-भूषण प्रेस, पूना, ता. १४-१०-६२.

राजमान्य राजश्री बाल गंगाधर तिलक, केसरी और मराठा पत्रके स्वामी मु. पूना की सेवा में:—

साष्टांग नमस्कार विनन्ति विशेष यह है कि हमने आपसे केसरी और मराठा इन दो समाचारपत्रों के छापने एवं इनका सब प्रबन्ध करनेका काम ता. १-१-६२ से दो वर्ष के लिए निम्न लिखित शर्तोंपर ठेकेसे लिया है।

(१) दोनों पत्र छापना, और इन्हें यथासमय शहर में बँटवाना, बाहर के गाँवों में भेजना, पते आदि छापना और उन्हें पत्रपर लगवाना, पत्र के लिए कागज़ देना, वार्षिक मूल्य एवं विज्ञापन के लिए पत्रव्यवहार करना, विज्ञापन दाताओं से शर्तें तय करना और उनके दर ठहराना, मूल्य और विज्ञापन के चार्ज वसूल करना, उसका हिसाब रखना, और विज्ञापन प्राप्त करना, आदि सब काम दोनों पत्रोंका हम करेंगे। हिसाब अलग रखेंगे, और इकरार पूरा हो जानेपर सारा काम हम आपके सिपुर्द कर देंगे। आवश्यकता पड़ने पर आप बीच में जब भी चाहें हिसाब-किताब की देख भाल कर सकते हैं।

(२) आपके ज़िम्मे दोनों पत्रों के लिए समय पर लेख-सामग्री देने एवं *तत्सम्बन्धी प्रबंध करनेकी जवाबदारी रहेगी*, और इसके लिए जो कुछ खर्च करना पड़ेगा वह भी आप अपनी इच्छानुसार करेंगे। शेष आजतक का चला आता हुआ सब काम और ख़र्च हम करेंगे।

(३) केसरी और मराठा इन दोनों पत्रोंपर सात हजार रुपये कर्ज़ है, उसका सूद छह हजार रुपयोंपर आठ आने सैंकड़ा की दरसे और एक हजारका दस आने सैंकड़ा की दरसे, मिलाकर कुल ४३६ रुपये और कर्ज़ की रकम (मुद्दल) में के एक हजार रुपये हम पहले साल (सन १८६२) के अंतमें देंगे, और दूसरे वर्ष अर्थात् सन १८६३ के अंत में शेष छह हजार रुपयों का सूद आठ आने सैंकड़ा की दरसे साल के तीन सौ साठ रुपये और मुद्दल में के एक

हजार रुपये भी हम देंगे। उसके अलावा आपको हमें जो सालीना ६६० रुपये देने हैं, वे भी ८० रुपये प्रतिमासे के हिसाब से देंगे।

(४) केसरी का आकार डबल-डिमाईतक बढ़ जाने या ग्राहकों में तीन सौ की कमी-बढ़ती होनेतक यही इकरार कायम रहेगा। किंतु साइज बढ़ने पर लेखसामग्री की व्यवस्था बदलनी पड़ेगी। इससे यदि अधिक परिवर्तन हुआ तो उक्त शर्तों में दोनों के विचारसे घटबढ होगी.

(५) दो वर्ष के बाद इसी इकरार के अनुसार काम चलाया जाय या नहीं, इस का विचार सन १८८३ के अक्टूबर में हो। जिससे कि सामान्यतः तीन महिने के नोटिस के बिना एक दूसरे से अपना वचन तोड़ न सके।

(६) यदि इकरार तोड़कर हिसाब हो, और लेनदेन होनेका मौका आ जाय तो केवल छपाई, डिस्पैच एवं गांव में पत्र बांटने का चार्ज १७५ रु. लिया जायगा।

(७) दोनों पत्रों के लिए लेखादि पूर्ण करने की जबाबदारी हमपर नहीं रहेगी, इस के लिए जो कुछ खर्च या हानि उठानी पड़े उसे आप ही बर्दाश्त करें। लेखों की मूल कापियां हम आपको वापस देते रहेंगे।

(८) यह इकरार पूरा होने पर अर्थात् सन १८८३ के दिसंबर अखीर तक इकरार के दोनों वर्ष में पत्र का जो मूल्य वसूल होना शेष रहेगा और वह अगली छ माही में आवेगा उसे आप वसूल करके हमें दें, और यदि इकरार पूरा होनेके बाद अगले साल का मूल्य आया तो वह हम आपको देंगे। विज्ञापन के लिए इनसरशन के अनुसार फुटकर हिसाब करके जो कुछ रुपया इकरार के बाद हमारे जिम्मे रहेगा वह हम वापस देंगे और यदि कुछ रुपया आपसे लेना हुआ तो वह इकरार पूरा होने पर आप वसूल करके दें। इसतरह की शर्तोंपर ठेका लिया है, तदनुसार प्रबंध करेंगे।

भवदीय,

(सही) हरि नारायण गोखले,

मैनेजर, आर्यभूषण छापखाना.

द्वादश-विभाग।

——:०:——

सम्मति-वयविषयक बिल का प्रश्न।

तिलक ने प्रकट रूपमें सार्वजनिक कार्यों में योग देकर जिन २ आन्दोलनों को खड़ा किया, उनका संक्षिप्त वर्णन कुछ तो हम पीछे कर ही आये हैं, और कुछ आगे यथाक्रम दिया जायगा। इस समय हम उन के विभिन्न विवादास्पद समस्याओं को हल करने के प्रयत्नों का वर्णन किया चाहते हैं। यह मानी हुई बात है कि बिना किसी विवाद या प्रश्न के कोई आन्दोलन खड़ा नहीं किया जा सकता, और आन्दोलन के बिना कोई समस्या ही हल हो सकती है। ऐसी दशा में हम इन दोनों के समानार्थक न सही, कमसेकम समव्याप्तिसूचक अवश्य कह सकते हैं। तिलक के द्वारा आरंभ किये हुए कुछ आन्दोलन खुद उन्हीं की कल्पनानुसार उपस्थित किये गये थे, किंतु फिर भी उनके अधिकांश आन्दोलनों का उद्गमस्थान तत्कालीन वाद-विवादों में ही पाया जाता है। इस दृष्टि से ये सब आन्दोलन पराधीन माने जा सकते हैं, किन्तु उन विवादों के अनुयोगी एवं प्रतियोगी, दोनों ही एतद्देशीय एवं समकालीन तथा एक ही उद्देश्य के लिए अपने २ विचारानुसार प्रयत्न करनेवाले व्यक्ति थे और इसलिए, हमें यही कहना पड़ेगा कि उन प्रश्नों को चाहे जिसने खड़ा किया हो, किन्तु उनकी उत्पत्ति देश की विद्यमान परिस्थिति के ही कारण हुई, और समाज की प्रगति के लिहाज़ से उनका उत्पन्न होना अनिवार्य था। तिलक की महत्ता इसी में है कि, वे हरएक मामले में योग देते, बाढ़ आई हुई नदी में पानी काटकर तैरनेवाले व्यक्ति की तरह उस में सफलता प्राप्त करते एवं अपने उद्दिष्ट ध्येय की प्रगति कर दिखाने में ही सारी बुद्धि ख़र्च करते। उन के स्वभाव को 'कलहप्रिय' इस दूषणास्पद नाम से याद करना चाहे ठीक हो या न हो, किन्तु यह हम निःसन्देह कह सकते हैं कि उनकी मानसिक शक्ति में ऐसी कुछ विशेषता थी कि, विपक्षी जितना अधिक जोरदार होता, अथवा विवाद का पक्ष जितना अधिक प्रबल होता उतना ही उनका तेज एवं धैर्य तथा चातुर्य अधिकाधिक दीप्त हो उठता था। उस समय के अनेकानेक प्रश्न इस समय नामशेष हो गये हैं, और उनके पुनर्जन्म की अब कुछ भी आशा नहीं है। अतएव उनकी आलोचना हम केवल इतिहास-कौतुक की ही दृष्टि से करना चाहते हैं। किन्तु फिर भी इस अवलोकन से हमें तिलक के स्वाभाविक गुणों का पता अवश्य लग जायगा। सन १८९० से १८९७ तक के सात वर्षों की प्रधान समस्याएँ (१) सम्मति-

वय का कानून (२) ग्रामण्यप्रकरण (३) रमाबाई का शारदासदन (४) हिन्दूमुसलमानों के झगड़े (५) पूना की ग्यारहवी कांग्रेस और मंडप-प्रकरण तथा (६) सार्वजनिक सभा की क्रान्ति आदि कही जा सकती हैं। इनमें से केवल हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ेवाले विवाद ही में थोड़ाबहुत सरकार का सम्बन्ध आता है, शेष सभी समस्याएँ आपस की थीं। इन सबका वर्णन हम आगे चलकर यथाक्रम देनेवाले हैं। यहां केवल प्रथम समस्या पर ही हम विचार करेंगे।

सन १८८७ के लगभग मलबारी सेठ का समाज-सुधार-विषयक कानून निर्माण करानेका प्रयत्न प्रायः ठंडा पड़ चुका था। किन्तु फिर भी उन्होंने वह उद्योग छोड नहीं दिया था। वे कानून न बनवा सके किन्तु उनकी इस विषय की सूचना मात्र ने ही सुशिक्षित समाज में खलबली मचा दी थी। दो-तीन विभिन्नमतसूचक दल भी निर्माण हो गये थे। उनमें एक दल का कहना था कि, सुधार-वादी लोग अल्पसंख्याक चाहे हों, किन्तु उनकी बुद्धिमत्ता के आधारपर सुधारविषयक कानून अवश्य बनाया जाना चाहिये। दूसरे पक्ष की राय यह थी कि, जिन्हें सुधार की आवश्यकता हो, वे स्वयं उसके अनुसार योजना करनेके लिए वचनबद्ध हों, और नियम तोड़ने पर उसके लिए दंड सहनेकी शपथ लें, तथा इस शपथ की पुष्टि के लिए व्यक्तिगत रूप से पर्याप्त कानून बनवानेका प्रयत्न करें। तीसरा दल यों कहता था कि, बहुजनसमाज को सुधारके अनुकूल मत देनेके लिए तैयार कर लेने पर सारे समाज की एक ही ढंगपर व्यवस्था लगाने के निमित्त केवल अल्पसंख्याक लोगोंपर बलात्कार करनेका कानून बनवाना बुरा नहीं कहा जा सकता। इन तीनों दल के विवाद समाचार-पत्रों में नियमित रूप से प्रकाशित हो रहे थे। इधर मलबारी सेठ ने भारत में अपना वश चलता न देखकर विलायत में गुप्त रूप से प्रयत्न शुरू कराया। इसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति यह कह सकता है कि विलायती गोरों के मत को आधार मानकर भारतीयों पर समाज-सुधार का कानून लादना सरासर अन्याय है। मलबारी सेठ तो इस मत के माननेवाले थे कि सरकार और भारत की जनता दो नहीं हो सकते और गोरे लोग तो हमारे सगे बड़े भाई ही हैं, अतएव उन्हें इस प्रयत्न में कुछ भी विपरीतता नहीं दिखाई दी। उन्हों ने विलायत में अपना जो कार्यक्रम प्रकट किया था, उस में निम्न लिखित धाराएँ थीः—

(१) बारह वर्ष की विवाहिता लड़की से भी यदि उसका पति संभोग करे तो वह कानून की दृष्टि से दंडनीय समझा जाय।

(२) स्त्री को अपने अधिकार में करने या उसे अपने पति के घर रहने के लिए बाध्य करने के मामले अदालत में न चलाये जायँ।

(३) बाल्यावस्था में जिनका विवाह हो चुका हो, वे लड़के-लड़की वयस्क हो जाने पर यदि एक दूसरे को पसंद न करें तो उन्हें सम्बन्ध विच्छेद करनेका अधिकार रहे।

(४) अपने लड़के-लड़कियों के विवाह स्वेच्छानुसार हरसमय करने की प्रत्येक मनुष्य के लिए स्वतंत्रता रहे। यदि जाति या समाज अथवा अन्य कोई व्यक्ति उसका विरोध करे तो वह दंडनीय समझा जाय।

(५) विधवा स्त्री को पुनर्विवाह कर लेने पर भी अपने पूर्व-पति की सम्पत्ति पाने का अधिकार रहे।

(६) पुनर्विवाह की विधि सुगम कर दी जाय, अर्थात् मैजिस्ट्रेट के सन्मुख दो-एक प्रकार की शपथ लेने पर ही विवाहविधि पूर्ण हो जाय।

(७) मंदिरों में दासियाँ चढ़ानेकी प्रथा बन्द की जाय।

(८) पुनर्विवाहादि सुधार के लिए यदि किसी मण्डलकी स्थापना हो तो उसके नियमों का पालन करानेके लिए कानून से मजबूर किया जाय।

(९) लड़कियों और विधवाओं के लिए स्कूलों में भेजनेकी विशेष उत्तम सुविधाएँ की जायँ, और शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उन्हें योग्यतानुसार नौकरियां दी जायँ।

इस कार्यक्रम की पहिली धारा पर जो विवाद खड़ा हुआ उसीका नाम 'सम्मति-वय बिल का आन्दोलन' था। इसी आन्दोलन में तिलक वाद-मतंगज अथवा कुशल लड़ाके के नाते प्रसिद्ध हुए। डे. ऐ. सोसायटी के झगड़े चरमसीमातक पहुँच गये थे भी वे खानगी स्वरूप के थे, अतएव पूना से बाहर प्रायः किसी को भी उनका पता न था। तिलक के त्यागपत्र को यद्यपि अन्य दृष्टियों से विशेष महत्व प्राप्त हुआ है, तथापि उससे मत-भेद का स्वरूप स्पष्टतया प्रगट न हुआ। सम्मति-वय बिल के विवाद के समय उन्होंने डॉ. भाण्डारकर जैसे बड़े २ दिग्गजों से टक्कर ली, अतएव न केवल अपने ही प्रान्त में वरन् देशभर में उनकी एकदम ख्याति हो गई।

मलबारी सेठ की गुप्त कार्य वाहियों का उल्लेख ता. १२ आगस्त सन १८८९ के केसरी में पाया जाता है। ता. ३० सितम्बरतक यह आन्दोलन यहांतक बढ़ गया कि केसरी में 'कायदा मागण्याची चळवळ' (कानून बनवाने का आन्दोलन) शीर्षक अग्रलेख लिखा गया था और इस बात के लिए जनता को सावधान करना पड़ा कि, कानून बनवाने के आवेदनपत्र पर हस्ताक्षर कराने के लिए कुछ

भूत लोग प्रयत्न करेंगे, उनसे बचा जाय। उस भावी कानून व
छपवाकर सुधारक दल ने बाहर के गाँवों में भेज दिये थे। इध
की ओरसे भारत सरकार के नाम इस विषय का हुक्म भी
उपर्युक्त आवेदनपत्र के आधार पर वह पिनल कोड की ३७५ व
धन करने का बिल पेश करे। किंतु उस बिल के पेश होनेसे
मास में सुधारकों में तीन प्रकार के मतभेद उत्पन्न होकर अलग
हो चुके थे।

इस कार्य में सबसे पहले पुराणमतवादी (सनातनध
आगे बढ़े। वेदशास्त्रसम्पन्न राम दीक्षित आपटे, बालासाहब
वैद्य, तात्यासाहब खासगीवाले, सरदार पुरन्दरे, रास्ते, कृष्ण
नारायण भिकाजी जोगलेकर आदि व्यक्तियों के हस्ताक्षर
बाँट जाकर ता. २६ अक्टूबर सन १८९० के दिन तुलसीबा
सभा की गयी।

इन विज्ञप्तियों के विरोध में लक्ष्मण कृष्ण नूलकर, रामचंद्र
वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े, रामचंद्र मोरेश्वर साने, गोविन्द वा
हरि नारायण आपटे, वासुदेव गणेश जोशी आदि कुछ सज्जन
भेजी। उसमें ये लोग लिखते हैं कि " हम इस मत के माननेव
कि सरकार सामाजिक विषयों में हस्तक्षेप न करे, किन्तु फिर भी व
अनुरूप कन्याविक्रय, बाल-वृद्ध-विवाह, एवं विधवापन आदि वि
करना हम आवश्यक समझते हैं। यदि हिन्दू समाज ने स्वयमे
प्रयत्न न किया तो कानून का विरोध कभी युक्तिसंगत न कहा जा
इस बातपर ध्यान न दिया गया तो हमलोग आजकी सभा में य
पेश करेंगे:—

" हमारे समाज के बाल-विवाह, कन्याविक्रय " वृद्धाविवाह एव
वपन आदि प्रत्येक विषयों का सुधार अपने ही प्रयत्नो द्वारा किया
आजसे छहमास के भीतर सभा करके, राजपूताना के लोगों की र
अपनी परिस्थिति के अनुसार नियम बनाने और उनका पालन व
जोरदार प्रयत्न करना चाहिये। "

इसीतरह तिलक, गोपाल विनायक जोशी, वासुदेव ग
सीताराम गणेश देवधर, रामचंद्र भिकाजी जोशी, विष्णु अनं
विनायक त्रिंबक चिपलूनकर और गोपाल रघुनाथ नंदरगीकर ने अ
उपसूचना भेजी, जो के इस प्रकार थीं:—" आप लोगों के सरकार

पत्र भेजने के निश्चय पर हमारा केवल यही निवेदन है कि, कानून को अनावश्यक बतलानेवाले लोगों का कथन तो आप सरकार को सूचित करेंगे, किन्तु यदि किसी व्यक्ति का किसी एक विषय में सुधार करनेका निश्चय हो और उसे कई अनुयायी भी मिल जायँ तो उनमें से जो वचनभंग करे उसे सरकार से सज़ा दिलवाने का प्रस्ताव हमारी ओरसे सभा में उपस्थित करके उसपर किसी जाति के दो-चार सौ व्यक्तियों के हस्ताक्षरसहित एक आवेदन-पत्र भिजवाना और भी अच्छा होगा। वर्तमान अवस्था में जिन २ बातों का सुधार होना अत्यावश्यक है, वे ये हैं:—

(१) लड़की का विवाह सोलह वर्ष से पहले न किया जाय।
(२) लड़के का विवाह बीस वर्ष से पहले न किया जाय।
(३) पुरुषों के विवाह चालीस वर्ष के बाद न होने पावें।
(४) यदि चालीस वर्ष के बाद विवाह करना ही हो तो विधवा से करे।
(५) मद्यपान की प्रथा एकदम बन्द कर दी जाय।
(६) वरविक्रय या कन्याविक्रय की प्रथा एकदम बंद होनी चाहिये।
(७) अपनी आय का दसवां भाग सार्वजनिक (इस मंडल के) कार्य में दिया जाय।
(८) विधवा का वपन (मुंडन) न किया जाय।

ये बातें जिन्हें स्वीकार हों, उन के हस्ताक्षर करवाकर उपर्युक्त कार्यवाहीकरनेकी कृपा करें।"

इन सब के सिवाय अकेले तिलक ने इस आवेदनपत्र पर अपनी ओर से एक लिखित निवेदन और भी भेजा था। उस में वे लिखते हैं कि "निमंत्रणपत्रिका की प्रतिसूचना के विषय में मेरी अपनी राय यह है कि कानून की सहायता से समाज पर किसी सुधार का एकदम बोझ डालने से किसी प्रकार का लाभ होनेके बदले हानि होनेकी ही विशेष संभावना है। अतएव जिन्हें सुधार-विषयक उत्कृष्ट अभिलाषा हो, उन्हें इसके लिए अपने को वचन-बद्ध कर लेना चाहिये। तथा नियम-भंग होनेपर उचित दंड देनेके लिए सरकार से प्रार्थना करनी चाहिये। किन्तु यह दंड उन्हीं को मिले जो इस मार्ग के अनुयायी हुए हों। इस तरह जो लोग प्रतिज्ञा-बद्ध होना चाहें वे सभा में अपने २ नाम सूचित करें। मेरे मतानुसार जिन २ बातों का सुधार होना आवश्यक प्रतीत हुआ, उनका उल्लेख उक्त सूचना में कर दिया है। इन सुधारों का पालन करने में जाति-च्युत किये जानेका भय नाम को भी न करना चाहिये। २०० व्यक्तियों के हस्ताक्षर हो जाने पर उतने ही के लिए

कानून बनाने की प्रार्थना सरकार से की जा सकेगी। हस्ताक्षर पढ़े लिखे एवं मुख्यतः ब्राह्मण जाति के ही लोगों से कराने की आवश्यकता है। समाज-सुधार के लिए कानून की अनिवार्य आवश्यकता बतलानेवाले व्यक्तियों में अपने का कानून से बद्ध करनेवाले व्यक्ति कितने हैं, इन का पता इस तरह सुगमता से लग सकेगा।

तुलसीबाग की सभा से पहले का वर्णन देते हुए केसरी अपने अ लेख में लिखता है कि " कानून को अनावश्यक बतलानेवालों में स ही कु लोगों अपने कथन का प्रतिपादन करते हुए बाल गंगाधर तिलक (उस सभा के प्रधान वक्ता) से इस बात का अनुरोध किया कि वे समाज में जिन २ बातो के सुधार की आवश्यकता है उनके लिए प्रस्ताव उपस्थित करें। इस प तिलक ने कहा कि 'मैं भी सुधार से सहमत हूं, किन्तु जिन के विचारों में अभी सुधार नहीं हुआ है, उनके माथे कानून की सहायता से सुधारों के मत देना मैं कभी उचित नहीं समझता, यही नहीं वरन् मैं उसे अन्याय-पूर्ण कार्य कहूंगा। अतएव उस आवेदनपत्र में कानून को अनावश्यक बतलाने के सिवाय और कुछ न लिखकर मैं अपने भाषण में यहतक कहने के लिए तैयार हूं कि पुनर्विवाह जैसे दो एक विषयों को छोड़कर बाल-विवाह-निषेध आदि बातों का ही यदि किसी ने पालन किया हो तो समाज की ओर से उसके सुवाया जाय।' यदि तिलक के कथनानुसार विपक्षीयों इसे बातको स्वीकार कर लेते तो उसी सभा में यह बात भी सर्वमान्य हो सकती थी कि, 'बड़ी कन्या का विवाह, वर-कन्या-विक्रय निषेध एवं बालवृद्ध-विवाह की रोक इत्यादि बातों को जो मनुष्य स्वयं सुधार करनेके लिए तैयार हो उसके लिए समाज की ओरसे कोई रुकावट न डाली जाय। इसतरह उस सुधार को देखकर धीरे २ रूढियाँ भी बदल जायँगीं।'

किन्तु सुधारकों को यह बात पसंद न आई, अतएव उन्होंने अठारह व्यक्तियों के हस्ताक्षरसहित पत्र लिखकर तुलसीबाग की सभा के उत्पादकों को सूचित किया कि हम प्रतिसूचना उपस्थित करनेवाले हैं। उस सूचना से पता लगता हैं कि इन लोगों को यद्यपि कानून की आवश्यकता प्रतीत होती थी तथापि समाज को इन लोगों ने छह मासका अवकाश दिया था अतएव यदि इस अवधि में समाज के हाथों किसी प्रकार का सुधार न हो सका तो उस दशा में कानून की आवश्यकता स्वभावतः सिद्ध हो जायगी। किंतु इन अठारह सज्जनों से इस बात को स्वीकार किया कि हमारा यह उद्देश्य कदापि न था। जब तिलक को उस पत्र के सभा में उपस्थित किये जाने का पता लगा तो उन्होंने इन अठारह व्यक्तियोंमें से दो एक को स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि " यह ढंग कभी उपयोगी

नहीं हो सकता। समाज को नोटिस देनेवाले तुम कौन होते हो? यदि तुम्हें कोई सुधार आवश्यक जान पड़ता है तो पहले तुम खुद उसका अमल कर दिखाओ, और लोगों के सामने अपना आदर्श खड़ा कर दो। इतने पर भी यदि उसका अमल करने के लिए तुम कानून बनवाना चाहते हो तो अपने ही लिए बनवा लो! यदि तुम लोगोंने मेरे इस कथन को स्वीकार न किया तो मैं भी तुम्हारी सूचना पर उप प्रति सूचना उपस्थित करूंगा।" तिलक की उस सूचना का आशय यह था 'सुधार की पुकार मचाना व्यर्थ होगा। अतएव यदि तुम्हें सुधार करना ही है तो पहले खुद उसका आरंभ कर दिखाओ, और अपनी थैली का मुँह कुछ ढीला करके मिशनरियों की तरह समाज के लिए जिस बात की आवश्यकता समझो उसके लिए जनता को उपदेश देकर उसका मन अपनी ओरको आकर्षित करो। जिस समाज में हमें रहना है, उसकी समझ के विरुद्ध जो बात हम खुद नहीं कर सकते उसे कानून का डर दिखाकर पूरी करवाना सरासर कायरता है'। किंतु तिलक की यह सूचना सुधारकों को पसन्द नहीं आई, और उन अठारहसे केवल तीन व्यक्तियों ने इसपर हस्ताक्षर किये। कानून वादियों के नेता रा. ब रानडेतक को धारा नं. १ और ४ पसंद न आई। और प्रोफेसर गोपाल गणेश आगरकर ने तो साफ कह दिया कि यदि सर्वसाधारण के लिए कानून न बनाया, तब ही हम ऐसे पत्रों पर विचार करेंगे। तिलक की उपप्रतिसूचना पर विचार होते समय सभापति के पास और भी दो-तीन सूचनाएँ आईं, अतएव उन सब पर ऐसी विराट् सभा में विचार किया जाना असंभव समझकर सभा के उत्पादक ने प्रस्ताव किया कि "जब ये सूचनाएँ और उपसूचनाएँ उपस्थित करनेवाले लोग इस मुख्य बात को मानते हैं कि लोगों की अनुमति के बिना उनपर सुधार का कानून लादना अन्याय है, तब उनपर सभा में विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती! अतएव मलबारी सेठ की सूचना सभा को समझाने के बाद कानून की अनावश्यकताविषयक आवेदन पत्र का मसविदा पढ़ सुनाया जाय, और तदनन्तर सभा की कार्यवाही समाप्त कर दी जाय! इस के बाद यदि किसी को कुछ कहना होगा तो वह अपनी बात कहेही गा इसी प्रकार उस सभा में यह भी निर्णय कर दिया गया कि, वह आवेदनपत्र न केवल सभा में पढ़ कर ही वरन् चार पांच हजार व्यक्तियों के हस्ताक्षर सहित भेजा जाना चाहियें, जिस में कि सुधारकों के लिए यह कहने का मौका न रहे कि "अर्ज़ी मसविदा तो किसी को सुनाई ही न पढ़ा इत्यादि।"

निश्चयानुसार तुलसीबाग में सभा हुई और उसमें लगभग पांच हजार मनुष्य उपस्थित हुए। सुधारक लोग लुक-छुपकर बैठे थे। वेदशास्त्रसम्पन्न

कानून बनाने की प्रार्थना सरकार से की जा सकेगी। हस्ताक्षर परिश्रम वाले एवं मुख्यतः ब्राह्मण जाति के ही लोगों से कराने की आवश्यकता है। समाज-सुधार के लिए कानून की अनिवार्य आवश्यकता बतलानेवाले व्यक्तियों में अपने को कानून से बद्ध करनेवाले व्यक्ति कितने हैं, उन का पता इस तरह सुगमता से लगा सकेगा।"

तुलसीबाग की सभा से पहले का वर्णन देते हुए केसरी अपने अग्र लेख में लिखता है कि " कानून को अनावश्यक बतलानेवालों में स ही कुछ लोगों अपने कथन का प्रतिपादन करते हुए बाल गंगाधर तिलक (उस सभा के प्रधान वक्ता) से इस बात का अनुरोध किया कि वे समाज में जिन २ बातों के सुधार की आवश्यकता है उनके लिए प्रस्ताव उपस्थित करें। इस पर तिलक ने कहा कि 'मैं भी सुधार से सहमत हूं, किन्तु जिन के विचारों में अभी सुधार नहीं हुआ है, उनके माथे कानून की सहायता से सुधारों को मत देना मैं कभी उचित नहीं समझता, यही नहीं वरन् मैं उसे अन्याय-पूर्ण कार्य कहूंगा। अतएव उस आवेदनपत्र में कानून को अनावश्यक बतलाने के सिवाय और कुछ न लिखकर मैं अपने भाषण में यहतक कहने के लिए तैयार हूं कि पुनर्विवाह जैसे दो एक विषयों को छोड़कर बाल-विवाह-निषेध आदि बातों का ही यदि किसी ने पालन किया हो तो समाज की ओर से उसके सुवाया जाय।' यदि तिलक के कथनानुसार विपक्षीयों इसे बातको स्वीकार कर लेते तो उसी सभा में यह बात भी सर्वमान्य हो सकती थी कि, 'बड़ी कन्या का विवाह, वर-कन्या-विक्रय निषेध एवं बालवृद्ध-विवाह की रोक इत्यादि बातों को जो मनुष्य स्वयं सुधार करनेके लिए तैयार हो उसके लिए समाज की ओरसे कोई रुकावट न डाली जाय। इसतरह उस सुधार को देखकर धीरे २ रूढियाँ भी बदल जायँगीं।'

किन्तु सुधारकों को यह बात पसंद न आई, अतएव उन्होंने अठारह व्यक्तियों के हस्ताक्षरसहित पत्र लिखकर तुलसीबाग की सभा के उत्पादकों को सूचित किया कि हम प्रतिसूचना उपस्थित करनेवाले हैं। उस सूचना से पता लगता है कि इन लोगों को यद्यपि कानून की आवश्यकता प्रतीत होती थी तथापि समाज को इन लोगों ने छह मासका अवकाश दिया था अतएव यदि इस अवधि में समाज के हाथों किसी प्रकार का सुधार न हो सका तो उस दशा में कानून की आवश्यकता स्वभावतः सिद्ध हो जायगी। किंतु इन अठारह सज्जनों से इस बात को स्वीकार किया कि हमारा यह उद्देश्य कदापि न था। जब तिलक को उस पत्र के सभा में उपस्थित किये जाने का पता लगा तो उन्होंने इन अठारह व्यक्तियोंमें से दो एक को स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि " यह ढंग कभी उपयोगी

जाय? इस प्रश्न पर विचार करते हुए हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमारे जनसमाज का सुधार होना ही प्रधान कर्तव्य है। ऐसी दशा में सुधार के लिए जनसमूह से सम्बन्ध-विच्छिन्न कर हम कुछ नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए विधवा-विवाह का ही प्रश्न ले लीजिये। इस निर्विवाद एवं आवश्यक सुधार का महत्त्व समझते हुए भी अधिकांश सुधारक अपने परिवार में ही इस का अमल नहीं करा सकते। अतएव उचित यही होगा कि हरएक व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार किसी सुधार को अपने घर से आरंभ कर के उस उदाहरण के द्वारा लोगों का चित्त अपनी ओर खींचनेका प्रयत्न करे। व्यर्थ का शब्दपांडित्य दिखानेसे कोई काम नहीं चल सकता। ऐसी दशा में सुधारकों की ओर से इस बात का विचार किया जाना चाहिये कि सर्वसाधारण के लिए कौन २ से सुधार हो सकते हैं और वे किन साधनों से अमल में लाये जा सकते हैं। मेरा मत भी सुधार के अनुकूल ही है। किन्तु वह इसी सिद्धान्त के अनुसार है। और इसीलिए मैं समझता हूं कि हम उन पर अमल कर सकते है। मेरे उस सिद्धान्त का स्वरूप इस प्रकार है कि हम इन बातों का गंभीरतापूर्वक विचार समाज मे सुगमतापूर्वक हो सकनेवाले सुधार कोनसे हैं, कुछ कष्ट उठा कर या विघ्नो को टाल कर सिद्ध हो सकनेवाली बातें को नसी हैं, और एकदम असंभव कार्य कोनसा है। इससे हम अपने धर्मशास्त्र के अनुसार कार्याकार्य विषयों के लिए विधि, विकल्प और निषेध रूपी तीन बन्धन निर्माण कर सकेंगे। इनमें जो बातें निषिद्ध मानी गई हैं, उन्हें एकदम ही छोड़ दिया जाय। किन्तु जिनके विषय में विकल्प अथवा प्रायश्चित्त बतलाया गया है उनके करनेमें जातिभ्रंश की अड़चन उपस्थित नहीं हो सकती; और न वे धर्मविरुद्ध ही कही जा सकती हैं। इस प्रकार विचार कर के शास्त्राज्ञा का उल्लंघन न करते हुए जो काम हम कर सकते हैं, उसे आपके सन्मुख रख कर गंभीर विवेचन के बाद जो कुछ निर्णय हो सके उसे प्रकट करना ही आज की सभा का उद्देश्य है। जिस कानून के लिए आज विवाद खड़ा हो रहा है; उस की हमें आवश्यकता ही न रहेगी यदि लड़कियों के विवाह हम सोलह वर्ष में करने लगें। यदि ऋतुप्राप्त हो जाय तो विवाह-काल में 'शांति' करा देने से धार्मिक रुकावट दूर हो जाती है। इस तरह प्राचीन शास्त्रविषयक एवं अर्वाचीन समाजसम्बन्धी विचारों का एकी-करण करनेसे प्रगट होता है कि, जिन्हें प्रवर्तक होना है उनके लिए १६ वर्ष की मर्यादा बांध देनेसे कोई रुकावट पेश नहीं आती। मद्यपाननिषेध-विषयक सुधार तो मुझे अत्यावश्यक जान पड़ता है।

महामहोपाध्याय राम दीक्षित आपटे ने अध्यक्षस्थान ग्रहण किया। इसके बाद बाल गंगाधर तिलक ने मलबारी सेठ की नौ सूचनाएँ पढ़ सुनाई और साथ ही संक्षेप में यह बतला दिया कि उनके अमल में लाये जानेसे समाज की क्या दशा हो जायगी। इसी प्रकार उन्होंने यह भी बतलाया कि सेठजी के पिछले प्रयत्न किस प्रकारके थे, और सन १८८६ में सरकार की ओरसे सामाजिक रीति-रिवाजों में बहुजनसमाज के विरुद्ध हस्तक्षेप न करने का किस प्रकार का प्रस्ताव हुआ था। इसी प्रकार संभोगानुमति की आयुमर्यादा बढ़ाने के उद्योगका मूल कारण और इतिहास क्या है, और तत्सम्बन्धी आवेदनपत्र किस प्रकार निर्बल एवं निस्सार था, तथा सोशल कानफ्रेंसमें क्या २ घटनाएँ हुई, ये बातें भी उन्होंने संक्षेप में कह सुनाई। इस के बाद अंत में उन्होंने कहा कि इस सभा का उद्देश्य केवल यही है कि, लोकमत के विरुद्ध कानून न बनाने के आवेदनपत्र सरकारके पास भेजा जाय। अतएव जो इससे सहमत हों वे आवेदनपत्र पर हस्ताक्षर कर दें, और जो इससे भिन्न मत रखते हों वे कानून चाहनेवालों की अर्जी पर दस्तखत करें। यदि किसी ने हमारे पास अलग अर्ज़ी भेजा तो उसे हम सरकार के पास भेज देंगे। रा. ब. जोगलेकर ने अर्जी का मस्विदा पढ़ सुनाया, और उनके बाद ही प्रतिसूचना उपस्थित करनेवाले एक महाशय बोलने के लिए खड़े हुए। उसी समय जोगलेकरजी ने सभापति की आज्ञा से यह घोषणा प्रकट कर दी कि " हमारा काम ख़त्म हो चुका है। हस्ताक्षर लेने का काम रहा है, सो वह घर, २ जाकर हम पूरा कर सकेंगे। अब जिन लोगों को सुधारकों की बातें सुनना हों, वे शांतिपूर्वक सुनतें रहे। किंतु एक अपरिचित व्यक्ति खड़े होने एवं उन अठारहों में से किसीके सामने न आनेके कारण जनता सभा में से उठकर अपने २ घर चली गई!

यह विवाद यहीं समाप्त नहीं हुआ। इसके बाद फिर ता० १ नवम्बर सन १८९० ई० शनिवार के दिन 'जोशी हॉल' में एक सभा हुई। इस सभा का निर्दिष्ट उद्देश्य मुख्यतः तिलक की उपर्युक्त उपसूचना के विषय में वाद-विवाद करना ही था। इसी प्रकार कुछ सुधारक नेताओं के लिये जो कि तुलसीबाग की सभा में अपने मत प्रदर्शित न कर सके थे, दिल खोलकर निर्भीकता के साथ अपने विचार प्रकट करनेका अवसर देना भी इस सभावालों को इष्ट था। उभय पक्ष के कथन पर पूर्ण विचार होकर समझौते का कोई मार्ग निकल आवे, इस लिए भी यह प्रयत्न था। इस सभा का अध्यक्षस्थान रा० ब० नूलकर ने ग्रहण किया था। तिलक ने कहा कि "हम लोगों में समाज-सुधार-विषयक वाक्पांडित्य बहुत बढ़ गया है। किन्तु सुधार किया

माना जाता है। उसीमें की एक स्थिति यह भी समझी जाय कि संयोग के समय स्त्री की सम्मति मिले चाहे न मिले उसकी अवस्था दश वर्ष से कम न होना चाहिए। विवाहित या अविवाहित स्त्रियों की सम्मति-सूचक आयु-मर्यादा इसके बदले बारह वर्ष कर देना ही इस बिलका प्रधान अंश था। इस बिल को उपस्थित करते हुए मि. स्कोबलने साधारणतः यही कहा कि, इस बिल से कोई नया अप-राध खड़ा नहीं किया जाता है, पहले जो अपराध था, वही आगे भी रहेगा, और जो न था वह नहीं रहेगा। किन्तु अवस्था की दृष्टि से पहले जो कृत्य दशवर्ष से ऊपर की अवस्था होने से अपराध नहीं माना जाता था, वह अब बारह वर्ष की अवस्था होनेतक अपराध समझा जायगा। यही इस बिल में परिवर्तन किया जा रहा है। इसके मूल उद्देश्य केवल दोही हैं, एक तो असमय होनेवाला व्यभिचार बन्द करके बालिकाओं की रक्षा करना, और दूसरा यह कि उन्हीं की रक्षा के लिए अल्पावस्था की संभोगप्रथा बंद करना। इस बिल के द्वारा सरकार का यह विचार कभी नहीं है कि वह हिन्दुओं की विवाह-पद्धति में कोई हस्तक्षेप करे। बाल-विवाह का इस बिल से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतएव हिन्दू धर्माभिमानियों के लिए इस बिल का विरोध करनेका भी कोई कारण नहीं रह जाता। भारत में सृष्टिक्रमानुसार साधारणतः बारह वर्ष से पूर्व लड़कियां ऋतुमती नहीं होतीं, इसी लिए इस बिल में बारह वर्ष की आयु-मर्यादा रखी गई है।" इस बिल के अनुसार पुलिसवालों को लोगों की निजी बातों में हस्तक्षेप करनेका अवसर न मिले, इस हेतु से जो मनुष्य अपनी स्त्री के विरुद्ध यह अपराध करे, उसे बिना वारंट निकाले केवल समन्स के ही द्वारा पुलिस गिरफ्तार करे, इस प्रकार का संशोधन भी सूचित किया गया था। किंतु सर रमेशचंद्र मित्र ने इस बिल का विरोध किया, उन्होंने कहा कि इस बिल से देश में चारों ओर अशांति फैल जायगी। यदि इंग्लंण्ड में मुर्दे जलानेका कानून पास कर दिया जाय, और वायुशुद्धि के विहाज़से दहन-विधि आवश्यक बतलाया जाय, तो सोचिये कि वहां क्या दशा हो जायगी? सारांश यह कि, विद्या के प्रभाव से लोकमत का सुधार किये बिना इस प्रकार के धार्मिक विषयों के लिये कानून बनाना एकदम अनु-चित कार्य होगा। मुझे तो यहांतक भय प्रतीत होता है कि इस कानून के कारण हिन्दुओं की विवाह-पद्धति में जो धीरे २ एवं चुपचाप सुधार हो रहा है, वह भी रुक जायगा। रा. ब. कृष्णाजी लक्ष्मण नूलकर ने कानून का समर्थन किया। उन्होंने दिखलाया कि, हिन्दुधर्म के प्रमाण परस्पर विरुद्ध एवं भिन्न हैं, अतएव धार्मिक प्रतिबन्ध को उतना अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। इधर उन्होंने सुधारकों के भी कान खोल दिये, उन्होंने कहा कि " जिन विषयों में

'टेम्परेन्स एसोसीएशयनों' की स्थापना अर्थात् उचित प्रमाण में मद्यपान करने-वाली समितियां बनानेसे कुछ लाभ नहीं होगा। मेरा तो प्रधान मत यही है कि जो कुछ भी सुधार करना हो उसे तत्व-प्रवर्तक सब से पहले कर दिखावें। इसी प्रकार इस सिद्धान्त का प्रचार करने के लिए मिशनरी लोगों की संस्था के समान एक संस्था स्थापित करनेके लिए अपनी आयका कुछ न कुछ अंश अवश्य देते रहना चाहिये। इसी संस्था के द्वारा देश में स्थान २ पर सुधार के लिए लोकमत को अनुकूल बनानेका प्रयत्न किया जाय। और अपने आदर्श या तज्जन्य लाभ के निदर्शनद्वारा सुधार की प्रगति की जाय। इसतरह के विचारों से सहमत होकर काम करने वाले दो तीन सौ व्यक्ति भी तैयार होवें तो अपने हस्ताक्षर कर के उक्त सुधारों के परिपालनार्थ अपनेको प्रतिज्ञाबद्ध करलें, और इस के बाद अपने बनाये हुए नियमों का अपने ही लोगों से पालन कराने के लिए सरकार से उन नियमों को रजिस्टर करा लिया जाय। इसतरह से लोकप्रवर्तन का कार्य आज हजारों वर्ष से ब्राह्मण जाति करती आ रही है। अतएव यदि अंग्रेजी शिक्षा से यह काम हम विशेष अच्छे ढंगपर कर सकें तो मैं समझूं गा कि इस शिक्षा ने यथार्थ ही में हमारा मानसिक विकास किया है।" इसके बाद रानड़े बोलनेके लिए खड़े हुए। उनके कथन का सार यह था कि, तिलक के कथनानुसार हमने समिति की स्थापना कर लोगों से हस्ताक्षर लेना भी आरंभ कर दिया था, किंतु इन दोनों से कुछ भी लाभ न हुआ। यही कारण है कि तिलक की सूचनाएँ पसंद करनेवाले बहुत ही थोड़े मनुष्य पाये जाते हैं। तिलक ने जो सुधार-सोपान निर्माण किया है, वह हमारे मत के विरुद्ध नहीं है; यही नहीं वरन् हमें तो अब यहांतक विश्वास हो गया है कि वे हमारे ही मत के पोषक हैं।

भाण्डारकर ने पूछा कि तिलक और रानड़े के मत में भेद क्या है, तब तिलक ने यह उत्तर दिया कि "रा. ब. रानड़े का कथन केवल रूढ़ बननेवाले आचार-विचारों को बन्धनयुक्त कर देना ही है, उससे किसी अंश में कार्यसिद्धी होगी किंतु रूढी को आगे बढ़ानेके लिए उसमें कोई योजना नहीं की गई है। मेरी सूचना में वह मौजूद है। ऐसी बातों का स्थायी निर्णय कभी हो नहीं सकता।" अतएव यह विवाद आगे भी कायम ही रहा।

अंतमें सम्मति-अवस्था का बिल ता. ६ जनवरी सन १८६१ के दिन कलकत्ते की बड़ी धारासभामें सर एन्ड्रयू स्कोबल ने पेश किया। सन १८८२ के फौजदारी कानून की ३७५ की धारा के अनुसार पुरुष का स्त्रीसे विशेष स्थिति में होनेवाला शरीरसंबंध 'बलात्-संयोग' (ज़िनाबिलजब) नामक अपराध

ाना जाता है। उसीमें की एक स्थिति यह भी समझी जाय कि संयोग के समय ी की सम्मति मिले चाहे न मिले उसकी अवस्था दश वर्ष से कम न होना ाहिए। विवाहित या अविवाहित स्त्रियों की सम्मति-सूचक आयु-मर्यादा इसके दले बारह वर्ष कर देना ही इस बिलका प्रधान अंश था। इस बिल को उपस्थित करते हुए मि. स्कोवलने साधारणतः यही कहा कि, इस बिल से कोई नया अप-ाध खड़ा नहीं किया जाता है, पहले जो अपराध था, वही आगे भी रहेगा, और जो न था वह नहीं रहेगा। किन्तु अवस्था की दृष्टि से पहले जो कृत्य दशवर्ष से ऊपर की अवस्था होने से अपराध नहीं माना जाता था, वह अब बारह वर्ष की अवस्था होनेतक अपराध समझा जायगा। यही इस बिल में परिवर्तन किया जा रहा है। इसके मूल उद्देश्य केवल दोही हैं, एक तो असमय होनेवाला व्यभिचार बन्द करके बालिकाओं की रक्षा करना, और दूसरा यह कि उन्हीं की रक्षा के लिए अल्पावस्था की संभोगप्रथा बंद करना। इस बिल के द्वारा सरकार का यह विचार कभी नहीं है कि वह हिन्दुओं की विवाह-पद्धति में कोई हस्तक्षेप करे। बाल-विवाह का इस बिल से कोई सम्बन्ध नहीं है, अतएव हिन्दू धर्माभिमानियों के लिए इस बिल का विरोध करनेका भी कोई कारण नहीं रह जाता। भारत में सृष्टिक्रमानुसार साधारणतः बारह वर्ष से पूर्व लड़कियां ऋतुमती नहीं होतीं, इसी लिए इस बिल में बारह वर्ष की आयु-मर्यादा रखी गई है।" इस बिल के अनुसार पुलिसवालों को लोगों की निजी बातों में हस्तक्षेप करनेका अवसर न मिले, इस हेतु से जो मनुष्य अपनी स्त्री के विरुद्ध यह अपराध करे, उसे बिना वारंट निकाले केवल समन्स के ही द्वारा पुलिस गिरफ्तार करे, इस प्रकार का संशोधन भी सूचित किया गया था। किंतु सर रमेशचंद्र मित्र ने इस बिल का विरोध किया, उन्होंने कहा कि इस बिल से देश में चारों ओर अशांति फैल जायगी। यदि इंग्लंयड में मुर्दे जलानेका कानून पास कर दिया जाय, और वायुशुद्धि के विद्वानसे दहन-विधि आवश्यक बतलाया जाय, तो सोचिये कि वहां क्या दशा हो जायगी? सारांश यह कि, विद्या के प्रभाव से लोकमत का सुधार किये बिना इस प्रकार के धार्मिक विषयों के लिये कानून बनाना एकदम अनु-चित कार्य होगा। मुझे तो यहांतक भय प्रतीत होता है कि इस कानून के कारण हिन्दुओं की विवाह-पद्धति में जो धीरे २ एवं चुपचाप सुधार हो रहा है, वह भी रुक जायगा। रा. ब. कृष्णाजी लक्ष्मण नूलकर ने कानून का समर्थन किया। उन्होंने दिखलाया कि, हिन्दुधर्म के प्रमाण परस्पर विरुद्ध एवं भिन्न हैं, अतएव धार्मिक प्रतिबन्ध को उतना अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। इधर उन्होंने सुधारकों के भी कान खोल दिये, उन्होंने कहा कि " जिन विषयों में

इस के बाद लगभग देड़-दो महीने तक इस विवाद का ज़ोर बढ़ जानेसे ही कदाचित् इसके अनुकूल पत्र-व्यवहार एवं भिन्न २ सभाओं के विवरण आदि से केसरी के कालम भरे हुए दिखाई देते हैं। ता० २७ जनवरी के केसरी में इसी विषयपर फिर अग्रलेख निकला है। स्कोबल साहबने बतलाया था कि १२७ लड़कियों में से केवल ६ को १२ वर्ष से पहले ऋतु-प्राप्ति होता है। अतएव इसी कथन को प्रमाण दिखलाते हुए केसरी ने लिखा कि "सैंकड़ा ५ व्यक्तियों को इस बिल के कारण व्यर्थ ही में काले पानी की सैर करनी पड़ेगी।" रा. ब. नूलकर ने भूतदया की दृष्टि से इस बिल का समर्थन किया था। किन्तु केसरी ने यह दिखलाकर कि, 'बारह वर्ष की काल्पनिक मर्यादा से तो हमारी शास्त्रोक्त ऋतुप्राप्ति की नैसर्गिक मर्यादा ही भूतदया की दृष्टि से विशेष अनुकूल है'—आश्चर्य के साथ प्रकट किया कि "रायबहादुर को यह भूत-दया की कल्पना कहांसे सूझी, कुछ समझ में नहीं आता। क्योंकि इन महानुभाव ने यह प्रतिपादन किया था कि इस देश में मद्यपान का प्रचार बढ़ाकर सरकार ने हमारे लाखों देशभाइयों को यद्यपि सब प्रकार दीन हीन बना दिया है तथापि उस की रोक का प्रबंध खुद हमें ही करना चाहिये। उन्हीं की भूतदया इस विषय में न जाने क्यों इतनी बढ़ गई? यदि इस अपराध को नॉन-कॉग्निजिबल भी कर दीया जाय तो भी लोगों की शंका दूर नहीं हो सकती। ऐसी दशा में पुराणमताभिमानियों को अपना मत इस समय निर्भीकता के साथ सरकार के सन्मुख भली-भाँति प्रतिपादित करना चाहिये।" इस अनुरोध के साथ केसरी ने अपने उस अग्रलेख को समाप्त किया है।

बिल को पेश करनेवाले स्कोबल एवं वाइसराय दोनों को यह समझाने पर कि-यह बिल हिन्दुओं के धार्मिक-विश्वास में बाधा पहुँचानेवाला है। नूलकर या तेलंग जैसे सुधारक लोग यह कहने लगे कि इस विषय में हिन्दू शास्त्र एवं रूढ़ियों को महत्व न देकर उन्हें एक ओर रख देना चाहिये। इसके विरुद्ध भाण्डारकर की तरह कुछ शास्त्रज्ञ सुधारक इस बिल के लिए शास्त्र-प्रमाण तक दिखानेको तैयार हो गये। किन्तु तिलक ने इन दोनों ही पक्ष का खण्डन किया। हिन्दूधर्मशास्त्र की आज्ञा को तुच्छ समझनेवाले नूलकर एवं तेलंग जैसे लोगों को उत्तर देना तो विशेष कठिन नहीं था। किन्तु भाण्डारकरसदृश विद्वानों के उपस्थित किये हुए शास्त्रार्थ का सप्रमाण खंडन कर पुष्ट प्रमाणों से उन्हें परास्त करनेका ज़रा काम कठिण था। फलतः इस दूसरे काम को कर दिखानेमें ही लोकमान्य की सूक्ष्म बुद्धिमत्ता एवं शास्त्रीय विवाद-कौशल्य का बड़ी उत्तमता से लोगों को परिचय मिला।

इस बिल के धर्मशास्त्र की दृष्टि से बाधक होनेके विषय में तैलंग ने सम्मति प्रकट की थी कि "राजाज्ञा का उल्लंघन न करते हुए धर्माज्ञा के प्रतिकूल जानेसे जो पाप लगता हो उसका प्रायश्चित्त किसी ब्राह्मण को दो आने दक्षिणा देकर या दो तीन मिनिट तक नाक-कान दबानेसे हो सकता है।" हिन्दूधर्मविषयक इस लापर्वाही का केसरी ने निम्न लिखित कठोर शब्दों में खंडन किया है:-"हिन्दू प्रथाओं के विषय में इस प्रकार मखौल उडाने का साहस हमारी समझ से तो मिशनरियों के सिवाय दूसरा कोई भी नहीं कर सकता। यह मान लेने पर भी कि-अंग्रेजी विद्या से हमारी धर्मश्रद्धा उठ चली है-यदि हम अपनी पुरातन प्रथाओं अथवा उनके समर्थनो का तिरस्कार करें तो वह हमारी सभ्यता एवं नीतिमत्ता को कभी शोभा नहीं देगा।"

किन्तु तैलंगपर आक्षेप करते हुए तिलक ने जो तुच्छता दिखाई, वह कम-सेकम आरंभ में तो डॉ. भाण्डारकर की आलोचना करते समय नहीं प्रकट की। इसके कारण दो तीन हो सकते हैं। यद्यपि तैलंग, अवस्था में तिलक से कुछ बड़े थे तो भी हम उन दोनो को समवयस्क ही कह सकते है। डॉ. भाण्डारकर उनसे कहीं अधिक वयोवृद्ध एवं उनके पिता की बराबरी के और उन (पिता) के मित्रों में से ही थे। अतः तिलक उन्हें अपने पिता के ही समान आदर की दृष्टि से देखते थे। तैलंग संस्कृत विद्या में निपुण थे, किन्तु फिर भी उनकी विद्वत्ता वकालतके ढंग की थी और डॉक्टर भाण्डारकर का पाण्डित्य नये युग के अनुकूल एवं पुराने शास्त्रियों के अनुरूप था। इन सब बातों की अपेक्षा भाण्डारकर के विषय में आदरभाव रहनेका प्रधान कारण यह था कि उनके प्रार्थनासमाजी होनेपर भी तिलक उनकी धर्मबुद्धि एवं आस्तिकता को तैलंग से कहीं अधिक समझते थे। इन सब बातों के परिणाम स्वरूप भाण्डारकर के विरुद्ध खड़े होते समय तिलककी वही दशा हुई होगी, जो कि भीष्म पितामह पर प्रथम बारबाण चलाते समय अर्जुन की हुई थी। इस विवाद में भाण्डारकर के रहते हुए भी उनका पराभव करना आवश्यक समझ कर ही तिलक की लेखनी से यह मनुवचन निकल पड़ाः—

> गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्।
> आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्॥

भाण्डारकर से प्रथमबार क्षमा मांग कर उन्होंने झुकना आरंभ किया।

भाण्डारकर का पहिला मुद्दा विवाहकाल के विषय में था। इसका उत्तर देते हुए तिलक ने यह युक्ति उपस्थित की कि, मूलकाल में विवाह प्रौढ़ावस्था में होते रहे होंगे, किन्तु उसके बाद से यह धर्ममर्यादा लगातार संकुचित ही होती

आ रही है। ऋतुकाल के अनन्तर तीन वर्षतक विवाह कर देनेके लिये कन्या अपने पिताकी प्रतिक्षा करे, और इस के बाद अपने लिए आप ही पति खोज ले' इस वचन का आशय यह कदापि नहीं हो सकता कि ऋतुकाल से पूर्व विवाह किया ही न जाय, अथवा और कभी ऐसा विवाह नहीं हुआ है। जब मनुस्मृति में बारह या आठ वर्ष की कन्या का विवाह करनेके लिए वर की आयु-मर्यादा का उल्लेख पाया जाता है, तो इससे स्पष्टही सिद्ध है कि इतनी बाल्यावस्थामें पहले विवाह होते रहते थे। योग्य वर के न मिलनेपर कन्या के लिए आजन्म अविवाहिता रहनेकी आज्ञा शास्त्र ने दे रक्खी है, किन्तु इससे स्मृति में उल्लेख किये अनुसार योग्य वरके प्राप्त हो जानेपर आठवें वर्ष ही विवाह हो जानेके नियम में कोई बाधा नहीं पड़ सकती!

दूसरा मुद्दा गर्भाधान-कालविषयक था। इस पर तिलक ने, कहा कि "इस विषय में हमें विज्ञानेश्वरादि निबंधकारों को भाण्डारकर की अपेक्षा अवश्य ही अधिक महत्व देना चाहिये। भाण्डारकर का सम्पूर्ण आधार आश्वलायन गृह्य परिशिष्टपर था, किन्तु उनके परिशिष्ट वाक्य का अर्थ ठीक न था। संस्कार एवं तत्सम्बधी हवन दोनों ही एक साथ किये जाते हैं, किन्तु भाण्डारकर का कहना था कि, प्राजापत्य होम तथा गर्भाधान संस्कार ये दोनों विधियां अलग २ मानी जा सकती हैं। ऐसी दशा में जब गर्भाधान का विधान प्रथम ऋतुकाल में ही लिखा है, और जब ऋतुप्राप्ति बारह वर्ष से पूर्व हो सकनेकी बात इस बिल को पेश करनेवालों ने मंजूर की है, तो फिर गर्भाधान भी बारह वर्ष के भीतर ही होगा और नये बिल के अनुसार वह गुनाह माना जायगा! विशेष धर्मविधि को अपराध बतलाने पर यही सिद्ध होगा कि सरकार अपने कानून की सहायता से हमारे धर्म में हस्तक्षेप करती है"। तिलक अपने अपूर्व युक्तिवाद के अनुसार लिखते हैं कि "रेल्वे टाइम टेबल में यदि 'आज मंगलवार को सुबह एक गाड़ी पूना से छूटेगी और वह मंगलवार की संध्या को बम्बई पहुँच जायगी' इस प्रकार दो वाक्य अलग २ लिखे हैं। हम समझ लेते हैं कि दोनों मंगलवार का अर्थ एक ही दिन है, अगला मंगलवार का नहीं। उसी प्रकार यदि बारह वर्षसे पहले ऋतु प्राप्त होना आकस्मिक मान लिया जावे तो भी उस प्रथम ऋतुकाल में ही गर्भाधान करनेकी शास्त्राज्ञा होने के कारण यह समस्या खड़ी होगी कि अब शास्त्राज्ञा का उल्लंघन किया जाय या' पिनलकोड का? ऐसी दशा में शास्त्राज्ञा को ही विशेष महत्व देना अनिवार्य हो जाता है, और इसी लिए एतद्विषयक कानून बनाना अन्यायसिद्ध होता है।"

भाण्डारकर के इस भ्रमयुक्त युक्तिवाद की तुलना तिलक ने धुंधली ऐनक से की, और तैलंग की भी इस प्रकार फब्ती उड़ाई कि, इन महाशय को वकालत करके, शास्त्रार्थ की जांच करनेके लिए भी कहांसे समय मिल सकता है ? इनका शास्त्रार्थ जैसे तैसे समय निकाल कर तैयार किया हुआ प्रतीत होता हैं, अतएव उसका भ्रमयुक्त होना स्वाभाविक ही है। तैलंग की दलील यह है कि "इस कानून से महारानी की घोषणा में कोई हस्तक्षेप नहीं होता। घोषणा के शब्द केवल यही हैं कि 'जो प्राचीन अधिकार एवं रीतिरिवाज़ चले आते हैं; उनपर उचित ध्यान देनेकी हमारी इच्छा है'। श्री. तैलंग ने प्राचीन और उचित इन दो शब्दोंपर ही अधिक जोर देकर सम्मति बिल एवं घोषणा के विरोध का परिहार सूचित किया था। इसपर तिलक कहते हैं कि "ठीक है! शब्दों की ही यदि खींचतान करनी हो तो सनद या दान-पत्रों में लिखित 'यावचंद्रदिवाकरौ' इन शब्दों के अनुसार यदि कोई कहे कि अमावास्या की रातमें जब कि सूर्य और चंद्र दोनों नहीं होते, दान को हज़म किया जा सकता है, तो उस की बुद्धिमत्ता की बड़ी तारीफ ही करनी पडेगी। तैलंग का एक मुद्दा यह भी था कि गर्भाधान एक काम्य विधि है, अतएव इसमें कानून की सहायता से हस्तक्षेप करनेसे धर्म की हानि नहीं पहुँच सकती। इस दलील पर तिलक ने उत्तर दिया कि "प्रार्थना-समाज के दृश्य मन्दिर में अदृश्य देवता की नेत्रनिमीलनपूर्वक आराधना करना या निर्गुण परमेश्वर के विषय में अगाध अज्ञान-सागर में ग़ोते खाते रहना ही यदि धर्म का मुख्य लक्षण माना जाता हो, तो इस नये बिल से धर्म में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होने की बात हमें स्वीकार करनी पड़ेगी। किंतु जबतक समस्त हिन्दुओं का इस प्रकार दृढ़ विश्वास नहीं हो जाता, और जबतक आहार, विवाह, मूर्तिपूजा आदि काम्य विषयों को भी हम धर्म में अन्तर्गत समझते रहेंगे, तबतक हम इस बात को कभी स्वीकार नहीं करेंगे कि हमारे काम्य धर्म में सरकार हस्तक्षेप करे।

केसरी का मत प्रकट होते ही उस बिल के विरुद्ध आम सभाएँ होने लगी। बम्बई के एक नेता तैलंग यद्यपि बिल में अनुकूल थे, तथापि वहां भी प्रतिकूल मतवालों की कमी न थी। बाल-विवाह की दृष्टि से बम्बई के समस्त गुजराती भाटिया आदि समाज दाक्षिणात्यों से भी पहले इस आन्दोलन में योग देनेको तैयार थे। उनके तथा उनके धर्मगुरु के साथ राजाराम शास्त्री बोड़स और भीमाचार्य झलकीकर आदि दाक्षिणात्य विद्वान् एवं महादेव चिमणाजी आपटे, लक्ष्मण रामचंद्र वैद्य, प्रो० जिनसीवाले, जनिदन-

ाम नानाभाई, चिमनलाल सेटलवाड आदि कानूनदां लोग भी तैयार हो गये। धर बंगाल प्रान्त में भी यह आन्दोलन जोर पकड़ गया। सर रमेशचंद्र मेत्र, उमेशचंद्र बानर्जी, सुरेन्द्रनाथ बानर्जी, जमीनदार, महामहोपाध्याय आदि सभी इस बिल के विरुद्ध खड़े हो गये। उमरावती (बरार) में इस विषयपर जो सभा हुई उसमें मुधोलकर वकील ने बिल का मण्डन और दादा-साहब खापर्डे ने खंडन किया था। उस सभा में मुधोलकर ने यह भी एक विधान किया था कि, पंडित एवं विद्वान् उसीको कहा जा सकता है, जिसने पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य का अध्ययन किया हो। इस सिद्धान्त में अति-शयोक्ति थी। अतएव सभा में मुधोलकर पर खूब फट्कार पड़ी। इसके बाद वहां फिर एक विराट् सभा हुई। उसमें सम्मति बिल का घोर विरोध किया गया। बम्बई के माधव-बाग में भी बड़ी २ सभाएँ होने लगीं। एक सभा में क़ानून के ज्ञाता महादेव चिमणाजी आपटे ने बहुत ही विस्तार के साथ भाषण किया, और उसमें मुख्यतः उन्होंने यही कहा कि बिल में बारह वर्षसे प्रथम ऋतुकालीन समागम की बात को छोड़ देने पर यह माना जा सकता है कि बिल बनानेवाले भूतदया से प्रेरित होकर ऐसा कर रहे हैं, और अपवाद उसमें रहने देनेसे सरकार पर धर्म में हस्तक्षेप करनेका कलंक न रह जायगा। इसके बाद उन्होंने वकीली दृष्टसे इस बात को अच्छी तरह रँग कर दिखाया कि इस बिल के पास हो जानेसे लोगोंपर किस प्रकार का अन्याय होगा। उन्होंने कहा, प्रथम तो हरएक व्यक्ति को इस कार्य में अभियोग चलानेकी स्वतंत्रता मिल जायगी। मुकद्दमा दायर होते ही मजिस्ट्रेट साहब वारंट जारी कर देंगे। मजिस्ट्रेट कोई खास नहीं रहेगा बल्कि छोटेसे छोटा भी इसके लिए स्वतंत्र रहेगा। नाममात्र के प्रमाण पर मामला सेशन सुपुर्द कर दिया जायगा। सेशन का काम जिलें में होगा। ऐसी दशा में गवाह-सुबूत में कितनी कठिनाई होगी और वकील का ख़र्च कितना अधिक लगेगा इसका अनुमान किया जा सकता है। जूरीका अधिकार प्रायः कहीं भी नहीं है। जजसाहब के भय से असेसर लोग आरोपी को दोषयुक्त करें, और जज साहब उसको अपराध को अमानुषी बतलाया कर भारी दंडाज्ञा सुना दें। सजा चाहे न दी जाय किन्तु कानून की धारा में उसकी मर्यादा कालेपानी तक की लिखी गई है। यदि यह कहा जाय कि अपराधी छूट जायगा, तो खुद आपटे ने अपना अनुभव सुनाया कि सैंकड़ा चारपांच ही अपराधी दोष-मुक्त किये जाते हैं। छोटे गांवों में तो आरोपी बनकर खड़े होनेका प्रसंग दुश्मन पर भी न आवे। इसके बाद आपटे ने जो दलील पेश की वह बड़े ही मार्के की थी। फौजदारी मामलों में गवाही के लिए खुद औरतों तकको आना पड़ता है। अतः पहिली

ही जांच के समय से उन्हें पुलिस के सामने खड़े होकर बयान देना पड़ेगा। मुक़द्दमा शुरु होनेपर सबसे पहिली गवाही उस अपराधी की स्त्री की ही होगी। केवल बारह वर्ष से कम की लड़की गवाही के कठघरे में खड़ी की जायगी। उसे अपने पति के विषय में बयान देना पड़ेगा। बयान के विषय के संबंध में तो कुछ कहिये ही नहीं! मतलब यह कि किसी लड़की की अपने पतिद्वारा होने- वाली दुर्दशा को यदि एक ओर रख दिया जाय और उपर्युक्त सारे अनर्थों दूसरी ओर, तो हरएक मनुष्य समझ सकेगा कि, अनिष्टता का पलड़ा यथार्थ किस ओर को झुकता है। आपटे ने कहा कि सब बातों का लोगों को भल भांति अनुभव कराने के लिए यदि कोई नाटक लिखा जाय तो बड़ा अच्छा हो इसके बाद तो उन्हों ने यह भी कह दिया कि मैं खुद ही इस प्रकार की एक पुस्तक लिखने के प्रयत्न में हूं, जो कि शीघ्र ही तैयार हो जायगी।" इस विषय का एक नाटक रंगमंच पर अभिनीत हुआ, किन्तु उसके लेखक तत्कालीन नाटककार नारायण बापूजी कानिटकर थे। बारह वर्ष से कम की लड़की के साथ बलात् संभोग करनेके सम्बन्ध में यदि आनन्दाश्रम के संस्थापक (श्री. आपटे) का लिखा हुआ नाटक लोगों को पढ़ने के लिए मिलता तो अच्छा होता। आपटे के भाषण में वकीली दाँव-पेंच के ही साथ २ गंभी- रतायुक्त दलीलें भी थीं। उन्होंने कहा कि ऐसे बिल की अपेक्षा एकदम यही निश्चय क्यों नहीं किया जाता कि सोलह वर्ष की अवस्था तक लड़की का विवाह करना अपराध है! सबसे बुरी बात तो यह हो रही है कि इस बिल की आद्य कल्पना अंग्रेजों की भूत-दया से उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि हमारे ही कुछ उपद्रवी सुधारको ने ही उसे जन्म दिया है। इस स्थान पर तिलक का उल्लेख कर के आपटे ने कहा कि, कुछ दिन पूर्व तिलक ने यह प्रयत्न किया था कि लड़कि- यों के विवाह की आयुमर्यादा बढ़ानेके प्रतिज्ञापत्र लिखकर लोग अपने को वचनबद्ध कर ले, और उसके विरुद्ध आचरण होने पर दंड के भागी बनें। किन्तु सुधारकों को यह सलाह पसंद न आई, यह सुधारकों का आरंभिक दाँव है। लोगों को इसी समय इसके विरुद्ध आन्दोलन शुरू कर कर देना चाहिये। इस बिल के जन्म होने की किम्वदन्ती आज पांच वर्षों से उड़ रही थी। इस विचार की उत्पत्ति इंग्लैण्ड में रहनेवाले पांच-पचास भारतीय एवं भारत के कार्य में कुछ न कुछ ध्यान देनेके इरादे से सामने आनेवाले सौ-पचास अंग्रे- जों के संभाषण से ही हुई!

सन १८८६ में जब मलबारी सेठ ने प्रौढ़-विवाह का बिल बनानेके विषय में जो प्रयत्न किया था उसपर लार्ड डफरिन ने लोगों की सम्मति लेकर अंत में

यही निश्चय प्रकट किया था कि ऐसा बिल निर्माण नहीं होना चाहिये। इस विषय में भारत-सरकार ने एक पुरानी अर्ज़ी पर जो उत्तर दिया था, वह जानने योग्य होनेसे नीचे दिया जाता है:—

" जाति की प्रथा के अनुसार सदाचार के जो नियम बने हुए हैं, उनमें अलग और कुछ महत्त्व के विषयों में भारत सरकार ने अपने कानूनद्वारा कुछ नियमों की योजना अवश्य कर दी है। उन नियमों से भारतीयों के रीतिरिवाज एवं आचार-विचार में भी परिवर्तन होता रहा है। किंतु फिर भी क़ानून से यद्यपि लोगों को नैतिक शिक्षा मिलती है, तो भी केवल इस शिक्षा के लिये ही क़ानून का बनाया जाना ठीक नहीं। लोगों पर प्रभाव डालनेके लिए एक ओरसे क़ानून और दूसरी ओरसे जाति एवं पूर्वापर प्रथाओं का जब प्रभाव पड़ता है, तब कानून की विजय के लिए उसका स्वाभाविक मर्यादामें होना ही आवश्यक है। अर्थात् उस मर्यादा से बाहर जाकर उसे लोकमत के विरुद्ध न होना चाहिये......इन सूचनाओं में से प्रत्येक के लिए अनुकूल कारण यथेष्ट संख्या में दिखलाये जा सकते हैं; फिर भी जबतक यह न प्रगट हो कि लोगों को जिस महद्दुःख का नित्य अनुभव होता है, उसे दूर करनेके लिए कानून की आवश्यकता है और हिन्दू जाति के प्रभुत्वपूर्ण एवं किसी बड़ी संख्यावाले भाग ने उसकी आवश्यक समझ कर उसे चाहा भी है, तब तक इस कानून बना कर (रीति-रिवाज में) जिस नियमित रूप में हस्तक्षेप करनेकी बात कही जा रही है; उतनी भी, हालमें आई हुई सम्मतियों पर से गवर्नर साहब को आवश्यकता दिखाई नहीं देती।"

ता० ७ फरवरी सन १८९१ को खासगीवाले के बाड़े में पूना के शास्त्रियों की सभा होकर उसमें इस बिल को धर्म-विरुद्ध ठहरानेका प्रस्ताव पास हुआ और वह प्रधान २ शास्त्रियों के हस्ताक्षरसहित प्रकट भी कर दिया गया। नागपुर और बनारस के पंडितों ने भी इसी प्रकार की सम्मति प्रकट की। ता. १ फरवरी के दिन माधवबाग में हिन्दुजाति के प्रधान २ डेढ़सो व्यक्तियों की एक सभा हुई। जिसमें प्रमुख गुजराती व्यापारी, राजारामशास्त्री बोड़स, भीमाचार्य शास्त्री, महादेव चिमणाजी आपटे तथा प्रो. जिनसीवाले आदि मुख्य २ सभी व्यक्ति उपस्थित थे। इस सभा में अगले इतवार ता. ८ के दिन माधवबाग में ही विराट् सभा किये जाने का निश्चय हुआ। इस पहिली सभा का वर्णन देते हुए केसरी लिखता है:—"पूना, सितारा में पहिले ही सभाएँ हो चुकी है, किन्तु अन्य प्रान्तो और खासकर बंगाल एवं वायव्य प्रदेश में तो सभाओं की भरमार सी हो रही है। ऐसी दशा में लोगों का अब भी उद्योग में लग जाना हितकर ही होगा।

समय थोड़ा रह जानेसे पुनर्वार सूचना देनी पड़ती है। एक २ स्थान पर दो दो सभाएँ होनेमें कोई हानि नहीं है। हमारी ओरसे उद्योग किया जाने पर सरकार को भी कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा।"

यथानियम ता. ८ फरवरी को माधवबाग में दूसरी सभा हुई। अध्यक्षपद पर रा. ब. नाना मोरोजी बिराजे। उपस्थिति ८। ९ हजार के लगभग होने के समाचार केसरी के संवाददाता ने दिये हैं, और उसके कथन में बहुत कुछ सत्यांश भी दिखाई देता है। बिल के विरुद्ध तैयार की हुई अर्ज़ी पर सभा में ही ५ हज़ार लोगों ने हस्ताक्षर कर दिये थे। इस सभा में बलवंतरावजी तिलक भी उपस्थित थें, और उन्होंने पूनावालों की ओर से सभा को बधाई दी थी। नगर के अन्य विभागों में एवं सभाभवन से बाहर हैंडबिल बाँटनेके सिवाय सुधारक लोग इस सभा के विरोध में कुछ भी उद्योग न कर सके।

इसके एक सप्ताह बाद ता. १५ को पूना में फिर एक विराट् सभा हुई। म्युनिसीपैलिटी की आज्ञा लेकर शनिवार वाड़े के सामने के मैदान में मंडप खड़ा किया गया था। मंडप के बाहर तथा भीतर उपस्थिति लगभग सात हजार के रही। सरदार तात्यासाहब खासगीवाले ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। केलकर शास्त्री, डॉ. गर्दे, और बालशास्त्री लागवणकर के व्याख्यान हुए। तिलक ने अर्जी पढ़कर सुनाई; और वहीं सभा में उसपर २५०० व्यक्तियों के हस्ताक्षर हो गये। प्रो० जिनसीवाले के व्याख्यान का उल्लेख केसरी में निम्न लिखित शब्दों में पाया जाता है:—

"प्रो० जिनसीवाले की वक्तृत्व-कुशलता से प्रायः सभी व्यक्ति परिचित हैं। चित्तको उत्साहित करनेवाला विशाल जनसमूह उत्सुकतापूर्वक और व्यवस्था के साथ उनका व्याख्यान सुननेके लिए सभा में तैयार था। साथ ही व्याकरण एवं न्यायशास्त्र के सरल पाश में बंधी हुई सुधारको की भूलें मुख्य विषय था। ऐसी दशा में लोगों को वह भाषण पसंद आया, यह कहना वस्तुस्थिति का चतुर्थांश भी बतलाना नहीं है।" प्रोफेसर साहब के विद्वत्तापूर्ण किन्तु अति विस्तृत व्याख्यान का वर्णन तिलक कभी २ अपनी विनोदमयी भाषा में किया करते थे। उसपर से कहा जा सकता होता है कि उपर्युक्त वर्णन तिलक का ही लिखा हुआ है।

इसी अवसर में फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रिंसिपाल वामन शिवराम आपटे ने इस बिल के समर्थन में अपने लिखे दो पत्र बम्बई के 'टाइम्स ऑफ् इण्डिया' में छपवाये। यद्यपि आपटे अपने अध्यापनकार्य एवं ग्रंथनिर्माण के व्यवसाय को छोड़कर सार्वजनिक कार्यों से प्रायः योग नहीं देते थे, किन्तु

इसी समय उन्हें इस विषय पर कुछ लिखने की स्फूर्ति कारण विशेषसे ही हुई थी। बात यह थी कि फर्ग्युसन कॉलेज की शिक्षा के उद्देश्य के विषय में टाइम्स पत्र के सम्पादकने, तिलक की सम्मति परसे यह लिखा था कि "इस कॉलेज के विद्यार्थियों को स्वदेशाभिमानी बनाकर पाश्चात्य विचारों की दूषित वायु से उन्हें बचाना ही इसका प्रधान उद्देश्य है।" अतएव इस विचार का खण्डन करते एवं इसके कारण फर्ग्युसन के सम्बन्ध में लोकमत के विरुद्ध हो जाने की आशंका को मिटाने के ही लिए आपटेने ये दोनों पत्र टाइम्स में छपवाये थे। इन पत्रों में स्पष्टतया बतला दिया गया था कि तिलक के इन विचारों से कॉलेज के अधिकांश शिक्षक सहमत नहीं हैं। इसपर 'केसरी' सम्पादक लिखते हैं:—"यह अच्छा ही हुआ कि गत वर्ष त्याग-पत्र देकर तिलक इस संस्था से अलग हो गये। यदि इस समय वे कॉलेज में होते तो ऐसे मौके पर वामनरावजी की क्या दशा होती! इसकी हम कल्पनातक नहीं कर सकते। इन शब्दों को लिखते हुए उन्हें अवश्य ही संतोष हुआ होगा कि 'अब तिलक कॉलेज में अध्यापक नहीं रहे हैं।' किन्तु 'अधिकांश' शब्द लिखने से फिर भी यही सूचित होता है कि–तिलक के मतानुयायी शिक्षक इस समय भी कॉलेज में मौजूद थे अतएव केसरी ने अन्त में जाकर सूचित किया है कि, उन बचे हुए लोगों को भी कॉलेज से अलग करके वामनरावजी को अपना मार्ग निष्कंटक बना लेना चाहिये।

जब उक्त बिल के विरोध में सैकड़ों सभाएँ हो गईं, तब सुधारकों के मन में यह इच्छा उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि वे भी बिल के समर्थन में दो चार सभाएँ करें। किंतु इसके साथ २ उन के चित्त में यह शंका भी हुई कि हमारी सभा में लोग आवेंगे भी या नहीं! अतएव वे इस बात का भी निर्णय न कर सके हों तो आश्चर्य नहीं कि ऐसी सभा भी की जाय या नहीं! सभा न करनेसे तो कोई विशेष हानि नहीं थी, किंतु यदि सभा करते और लोग उसमें न आते तो सुधारकों का सारा रहस्य खुल जाता। इसी अवसर पर सितारा में बिल के समर्थन पर एक सभा हुई थी। उसका वर्णन जैसा कि हमारे सुननेमें आया, इस प्रकार है:—"नेटिव जनरल लाइब्रेरी के प्रधान कमरेमें जहां कि मुश्किल स पचास कुर्सियां आ सकती हैं सरकारी वकीलों ने अग्रसर होकर 'आम सभा' की वहां पर रखी हुई कुर्सियों में भी अधिकांश खाली ही पड़ी रहीं। उन्हें खाली देखकर एक विनोदी सज्जन ने अगली पंक्ति में की कुर्सियों पर वेबस्टर की डिक्शनरी के सदृश बड़ी २ पोथियाँ रख दीं।" पूने में कदाचित् श्रोताओं की इतनी कमी न रहेगी। यही सोचकर सुधारको की खानगी सभा में आम सभा का निश्चय किया

गया और सभा के लिए स्थान और तिथिका भी निश्चय किया गया। इसी के साथ २ यह भी मन ही मन तय किया गया कि उस आम सभा में जिसको न आने देने की इच्छा होगी उसे न आने दिया जायगा । इस बहिष्कार का लक्ष्य विद्यार्थियों पर था। ज्यों २ सभा का समय निकट आने लगा, त्यों २ लोगों का यही अनुमान दृढ़ होता चला कि यह सभा केवल चुने हुए और ख़ास २ सुधारकों की ही होगी । सभा के विज्ञापन-पत्रों में भी स्पष्ट सूचना दे दी गई थी कि 'बिल के चाहनेवाले लोग ही सभा में आवें'। सभा के समय उस भवन के द्वार पर कुछ संचालक लोग पुलिस की सहायता लेकर खड़े हो गये, और बिल के समर्थक प्रस्ताव एवं अर्जीके फार्म पर हस्ताक्षर करनेवाले लोग ही भीतर छोड़े जाने लगे।

बाहर खड़े हुए लोग पूछने लगे, "क्यों साहब जब प्रस्ताव पर हस्ताक्षर आप बाहर ही करवा लेते है, तो फिर अंदर जाकर क्या होगा ? क्या यह भी कोई दक्षिणा-दान का मामला है कि लोगों के हस्ताक्षर लेकर अन्दर जाने दे रहो हो। यदि लोगों से हस्ताक्षर ही कराना थे तो घर २ कागज भेजकर यह काम हो सकता था, फिर व्यर्थ को यह सभा का प्रहसन क्यों रचा गया ?" किसी ने कहा कि हमें बिल का सिद्धान्त तो स्वीकार है, किन्तु उसकी धाराओं में हम कुछ सुधार कराना चाहते हैं ! कोई कहने लगा कि 'हमारी आँखों के ही सामने जब यह फार्स कर रहे हो तो फिर अन्दर का वाद-विवाद क्यों नहीं सुनने देते ? इतने पर भी कुछ परिचित व्यक्ति चुपचाप घुस गये, तब उन्हें चेतावनी देनी पड़ी कि 'तुम लोग अन्याय का झगडा कर रहे हो'। विद्यार्थीयों के लिए प्रतिरोध की सूचना के रहते हुए भी अनुकूल मतवाले विद्यार्थियों का अन्दर प्रवेश हो ही गया। यह देखकर बहार खड़े हुए अन्य विद्यार्थी बिगड़ उठे और तूतु–मैंमैं होने लगी। लोग सभा में आ ही रहे थे, अतएव झगड़ा खड़ा हो जानेपर और भी अधिक भीड़ हो गई । उसी समय पुलिस इन्स्पेक्टर मि. स्मिथ वहां आये, और भीड को हटाने लगे। तब लोगों ने कहा कि विज्ञापन में लिखे अनुसार अर्जी के फार्म पर दस्तख़त करके अन्दर जाने के लिए तैयार रहने पर भी हमें रोकनेका किसे अधिकार है ? इस पर स्मिथ साहब अन्दर जाकर डॉ. भाण्डारकर से मिले। उन्होंने कहा कि हमारी सभा ख़ानगी है, इसके लिए विज्ञापन किसने लगा दिये, हमें पता नहीं ! इसी को लक्ष्य करके केसरी लिखता है कि "धर्मछद्म अथवा पुण्यकपट या वंचकता की पोल खोलनेवाले नीतिमीमांसक ही......इस उत्तर पर विचार करे !" स्मिथ साहब ने इस पर विचार करनेके बाद अंत में यही निश्चय किया कि, भाण्डारकर की धारणा उन्हीं

के सिद्धांत से ठीक भले ही हो, किंतु वस्तुस्थिति से मेल नहीं खाती।' अतएव उन्होंने वचन दिया कि आप लोगों को अन्दर आने दीजिये, मैं यहां खड़ा रहकर सब प्रबंध कर दूंगा। यह बात प्रौढ़ संचालकों को मंजूर न हुई, किन्तु विशेष उत्साही युवक गर्वपूर्वक कहने लगे कि, "कुछ पर्वाह नहीं, हम बाहर के लोगों के यहां (भीतर) रहते हुए ही यहाँ सभा करेंगे"। इन शब्दों को सुनते ही बाहर खड़े हुए लोग एकदम ईंट-पत्थर और धूल-मिट्टी बरसाने लगे। शुद्ध सुधारक और कुछ नकली सुधारक कुल मिला कर दो तीन सौ व्यक्ति सभास्थल में पहुँच सके थे। इस प्रकार गड़बड़ मची रहनेकी ही हालत में रा. ब. भिडे को अध्यक्ष बनाकर अंग्रेज़ी-मराठी अर्जियां पढ़सुनाई गईं। इस पर सदाशिवराव परांजपे (ये आजकल शिक्षाविभाग के एक पेन्शनर अधिकारी हैं पूने में रहते हैं।) ने यह संशोधन उपस्थित किया कि 'बिल में निश्चित आयु के बदले रजोदर्शन की मर्यादा कर दी जाय'। किंतु बाहर की गड़बड़ के कारण सभा का काम चलसकना कठिन था। अतएव सभा भंग हो गई। कुछ लोग चुपचाप बचकर अपने घर चले गये। कई लोगों को दूसरों ने घर पहुँचा दिया। कुछ यहांसे उठकर उसी सभाभवन के कंपाउण्ड में बने हुए अध्यापक केलकर के घर में घुस गये। इतने में क्रीडाभवन (सभास्थल) के दरवाजे खोल दिये गये। लोग अंदर घुस पड़े और कुर्सियों के बेंत तोड़ने लगे। फर्शों के टांके तोड़ने, बेंच गिराने, खिड़कियों के काँच फोड़ने और दर्वाज़े के किंवाड़ तोड़ने तथा धूल मिट्टी बरसाने की लीला आरंभ हो गई। इसी बीच जल्दी ख़बर पाकर पुलिस सुप्रिंटेन्डन्ट मैकफर्सन भी वहां आ पहुँचे। धीरे २ भीड़ कम हो जाने पर उन्होंने डॉ. भाण्डारकर के साथ आदमी देकर उन्हें घर पहुँचाया। सारांश यह कि चोट तो किसीको लगी नहीं, किंतु धींगाधींगी खूब हुई।

ऊपर हमने अध्यापक केलकर के मकान में कुछ लोगों के घुस जानेका उल्लेख किया है। उनमें प्रायः सभी प्रधान व्यक्ति थे। तिलक और नामजोशी आदि बिल के विरुद्ध थे पर फिर भी उपसूचनाएँ उपस्थित करनेके आशय से हस्ताक्षर करके अन्दर चले गये थे। ये लोग भी भाण्डारकर आदि के ही साथ २ उसी मकान में थे। अतः जब इन्हें बहार निकालनेका प्रयत्न किया जाने लगा, तब कई लोगों ने यह समझ कर कि तिलक के कहने से लोग शांत हो कर घर चले जायँगे-उन्हें बाहर जाकर लोगों को समझाने के लिए कहा। कहा जाता है कि इसके लिए तिलक बाहर जाने को तैयार भी हुए, किन्तु नामजोशी ने उनका हाथ पकड़ कर बिठा लिया। इस का आशय स्पष्टही था। तिलक अकारण ही

इस प्रकार की जबाबदारी और ऊस पर से उत्पन्न होनेवाले लोगों के मनमाने अपवाद को क्यों अपने सिर लेवें ? जो लोग तिलक के कहने पर वहां से चले जाते उनके विषय में यह अनुमान किया जाता कि ये लोग तिलक के ही कहने-से वहां आये थे। आखिर तिलक ने जाकर किसी से कुछ नहीं कहा, और स्वय-मेव ही भीड़ हट गई। फिर भी लोगों ने उपद्रवकारियों का सम्बन्ध तिलक से जोड़ ही दिया ! असल में तिलक के बाहर न जानेका एक कारण यह भी था कि, 'उनके सभा मे जानेपर भलाबुरा कहनेवाले लोग भी बाहर खड़े हुए थे !' वे कहने लगते कि "हम उपसूचना आदि कुछ नहीं जानते। हमारा तो प्रश्न केवल यही है कि तिलक ने बिल के सिद्धान्त के ही लिए लिखित सम्मति क्यों दी ?" जब हम उनसे सहमत हैं, तो उन्हें भी हमारे साथ बाहर ही खड़े रहना चाहिये था। सभा के विरुद्ध एकमत रहनेपर भी उसे (सभा को) भंग करनेके मार्ग सब लोगों के एक से नहीं होते। वे लोग (भीडवाले) इस मर्म को नहीं जानते थे कि कुछ लोग जहां केवल डंडेबाजी करके ही काम करते हैं तहाँ कितने ही चतुराई से भी उसे पूरा कर लेते हैं। इस प्रकट मत-भेद का उपयोग करके नामजोशी की सूचना मान लेने पर तिलक कहने लगे कि आप लोग मुझे बाहर भेजकर लोगों को समझाने के लिए कहते हैं, किंतु मुझपर भी तो लोग नाराजही हैं। यदि कहीं उन्हों ने मुझे ही पकड़ कर पीट दिया तो इसकी जवाबदारी कौन अपने सिर लेने को तैयार होगा।

दूसरे ही दिन से मुख्य सम्मति-बिल का प्रश्न तो एक ओर को ही रह गया, और लोगों की जबानपर क्रीड़ाभुवन के इस दंगे की चर्चा ही दिनरात रहने लगी। इसका विस्तृत वर्णन करनेसे पहले क्रीड़ाभुवन के सम्बन्ध मे थोड़ीसी जानकारी करा देना उचित होगा। "क्रीड़ाभुवन" नाम चाहे बड़ा हो पर वास्तव यह स्थान खेलनेका एक छोटासा मैदान था। यह स्थान विश्राम-बागवाले सरकारी हाईस्कूल के एक पुराने शिक्षक कृष्णाजी रघुनाथ उर्फ तात्या-साहब केलकर के मकान के सामने था। इस की लम्बाई चोड़ाई सौ-सौ फुट से अधिक नहीं थी। किंतु उस समय समग्र पूना नगर में सुशिक्षितों के लिए एकत्र होकर खेलने या सभा आदि करने के लिए इसके सिवाय और कोई स्थान ही न था। नाम-मात्र के लिए सार्वजनिक सभा का जोशी हॉल था सही, किंतु विराट् सभा के लिए वह कभी पर्याप्त नहीं हो सकता था। इसी प्रकार दस-पांच सुशिक्षितों के लिए संध्यासमय खुली हवा में बैठकर वार्तालाप करने या किसी प्रकार के खेल के द्वारा हाथ-पैर हलके करने की भी इस में सुविधा न थी। आज की तरह खेलने के लिए क्लब या जिमखाने आदि भी उस समय

पूना में न थे। ऐसे समय में ये सुशिक्षित लोग क्रीड़ाभुवन के मैदान में एकआध जाजम बिछाकर शाम के वक्त बैठा करते थे। इसी स्थान में कुछ दिन बाद एक लॉन-टेनिस खेलने का 'कोर्ट' भी बना गया, और दस-पांच उत्साही व्यक्ति परस्पर चंदा करके इसे चलाने लगे। आराम के लिए बैठनेका प्रसंग आनेपर ये लोग तात्या केलकर के घर का आश्रय लेते थे। कृष्णाजी पंत केलकर विद्यार्थियों के प्रिय अध्यापकों में से थे, और ये प्रायः प्रत्येक सार्वजनिक कार्य में योग देते रहते थे। लोग प्रिय गृहपति एवं सुमीते का सा स्थान देखकर जिस प्रकार दस-पांच आदमीयों का उसके यहां अड्डा जम ही जाता है, उसी प्रकार वह यहां भी कायम हो गया था। कालान्तर में डेक्कन वर्नाक्यूलर ट्रान्सलेशन सोसायटी का दफ्तर भी यहां आ गया, और वह केलकर की मृत्यु होने तक यहीं रहा भी। इधर क्रीड़ाभुवन में सभादि की जानेका क्रम सार्वजनिक सभा का नया दीवानखाना बन जानेके बाद से बंद हो गया, किंतु वसंतव्याख्यान-माला तो सन १९१६-१७ तक इसी स्थानपर होती रही है। क्यों कि गर्मी की मोसम में खुली हवावाले स्थान में बैठकर लोग आराम के साथ इसी स्थान में व्याख्यान सुन सकते थे। इस तरह क्रीड़ाभुवन का नाम पूना के सभी सुशिक्षितों की ज़बान पर आरंभ से ही बस गया था, और यह खुली जगह ही पूना की एक संस्था समझी जाती थी। केसरी के आरंभिक दो-एक वर्षों में इस विषय पर कुछ लेख भी प्रकाशित हुए थे। इसके बाद जब वसंतव्याख्यान-माला में भीड़ अधिक होने लगी तब यह स्थान तंग मालूम हुआ। वर्तमान समय में श्री शिवाजी-मंदिर का विस्तीर्ण स्थान वसंतव्याख्यान-माला के लिए मिल जानसे लोग क्रीड़ाभुवन को भूलते चले हैं। इसी प्रकार क्रीड़ाभुवन की खुली जगह में इमारतें बन जानेसे अब वह लोगों के उपयोग में भी नहीं आ सकती। इस तरह यह क्रीड़ाभुवन पूना के लोकपक्ष की पहिली लड़ाई का रण-क्षेत्र बना, और आज भी क्रीड़ाभुवन का नाम सुनते ही, वहां के लॉन टेनिस क्लब, वर्नाक्यूलर ट्रान्सलेशन सोसायटी का दफ्तर, तात्या केलकर की बैठक का अड्डा अथवा वसंत-व्याख्यान-माला का मैदान और सबसे बढ़कर सम्मति आयु-बिल के झगड़े के स्थान के ही रूप में उसकी स्मृति वयोवृद्ध पूनानिवासियों को हो जाती है।

क्रीड़ाभुवन का दंगा होनेके बाद दूसरे ही दिन समाचारपत्रों में महम या दंगल शुरू हो गया। पहली टक्कर टाइम्स ऑफ् इंडिया और ज्ञानप्रकाश में छपे हुए लेखों से हुई। दंगा होनेवाली रात को ही पूना से एक तार बम्बई के समाचारपत्रों को भेजा गया। उसमें झगड़ालुओं के साथ तिलक और नाम-

जोशी का संबन्ध बतलाया जाकर सारा दोष इन्हीं पर पढ़नेका प्रयत्न किया गया था। जान पडता है कि उस तार के भाण्डारकर की ओरसे भेजे जानेका केसरी को पता लगा था, इसी लिए उसने किसी व्यक्ति नाम न देते हुए भी, उस की पहचान हो जाय, इस ढंग से लिखा था कि:-" लोगों के आक्रमण से केलकर के घर में घुसकर जान बचाने और क्षणभर के लिए अपनी मनोवृत्ति का दमन कर " नारायण नारायण " के रूप में निराकार ईश्वर का नामघोष करनेवाले लोगों में से ही एक ने तार भेजा है!" सुधारक ने तो स्पष्ट शब्दो में लिख दिया था कि ' यदि तिलक सभा में आते तो कभी दंगा न होने पाता।' इस पर केसरी ने उत्तर दिया कि ' दंगेके समय ठेठतक तिलक उन सुधारकों के सामने मौजूद थे ऐसी दशा में उनपर यह आरोप लगाया जाता है। यदि कहीं वे उठ कर बाहर चले जाते या उन के समझाने से लोग दंगा रोक देते तब तो और न जाने उन के विषय में क्या २ कहा जा सकता। मद्रास के ' हिन्दू' पत्र के पास भी इसी आशय का तार भेजा गया था। ' केसरी' के अगले कुछ अंकों से पता लगता है कि यह विवाद ठंडासा पड़ गया था, किन्तु इसका कारण यह नहीं था कि दंगा रुक गया था, वल्कि उस का मामला फौजदारी अदालत में चला जानेसे इस भय के कारण कि कहीं जिमेदारी अपने घर न आ पड़े- केसरी में तद्विषयक कोई लेख नहीं लिखा गया। पुलिस ने तत्काल मामला हाथ में लेकर पुलिस ॲक्ट के अनुसार पांच व्यक्तियों पर सिटी मजिस्ट्रेट की अदालत में मामला चला दिया। वे पांच व्यक्ति (१) गणेश वासुदेव घोटवड़ेकर (२) विष्णु व्यंकटेश उर्फ दत्तोपन्त वेहेरे (३) वासुदेव गणेश जोशी (चित्रशाला प्रेस) (४) पुरुषोत्तम नरहर दामले (५) केशव रामचंद्र रानड़े (किवलेकर) थे। इन पर पुलिस की आज्ञा उल्लंघन करनेका आरोप लगाया गया। ऐसे दंगे में विद्यार्थियों का प्रवेश न हो, यह एक असंभव वात है। उस समय के विद्यार्थी न्यू इंग्लिश स्कूल एवं फर्ग्यूसन कॉलेज के ही थे। इस वात को 'केसरी' ने भी स्वीकार किया है कि उस समय विद्यार्थियों का आचरण ठीक न था। किंतु फिर भी, उसने उनकी वात का समर्थन भी किया था। ऐसी सभा में विद्यार्थी लोग प्रायः आनंद या मौज के ही लिए जाते हैं। 'केसरी' के कथनानुसार उन्हें उद्दंड होनेकी शिक्षा पुराने नेताओ से ही मिली! इसी प्रकार घर में माता-पिता के मुँहसे रातदिन विद्यार्थियों के कानपर सुधारको की निंदा के जो शब्द पड़ते थे उनका भी प्रभाव उनपर था। पूना की वक्तृत्वोत्तेजक सभा के समारंभ में विद्यार्थियों ने कितनी ही वार परीक्षकों की घंटी का काम अपनी तालियों की कड़कड़ाहटद्वारा पूरा कर देने का नियम वना रक्खा था। और यह अर्थात् लड़कों

की परीक्षा के समय था। आम सभा तो दूसरीहि वस्तु है। एक स्थान पर जो आदत लग जाती है, वह दूसरी जगह प्रकट हुए बिना रह नहीं सकती। ता. ३ मार्च (१८६१) के केसरी में फर्ग्यूसन कॉलेज का एक पुराना विद्यार्थी लिखता है कि-"पूना के विद्यार्थी अकारण ही बड़प्पन दिखलाकर हरएक मामले में पड़ जाते हैं। वे शीघ्रतायुक्त आलोचना कर अनधिकार चर्चा में हाथ डाल बैठते हैं। हीराबाग में माधवराव कुंटे के व्याख्यान में भी ये लोग विघ्न डालने नहीं चूकते। भाण्डारकरसदृश विद्वानों को गालियां देकर उन्होंने अभी उस दिन वाली सभा में अपना मुख भ्रष्ट किया। यह आक्षेप केवल पूना के ही विद्यार्थियों पर नहीं लगाया जा सकता! विद्यार्थी सभी एकसे होते हैं! क्रीडाभुवन की सभा से पहले दस-बीस वर्षों में इसी प्रकार के दंगे करनेवाले तीसरी पीढ़ी के, श्वेत-केश वयोवृद्ध विद्यार्थियों को हम आज भी जानते हैं! जब विद्यार्थियों पर से ऐसे आक्षेप हटा लेने का प्रसंग आवेगा तबतक कदाचित् आधी से अधिक सृष्टि इधरसे उधरको हो जायगी!

ता. १८ मार्च के दिन दंगे के आरोपियों का मामला शुरू हुआ। पुलिस की ओरसे इन्स्पेक्टर स्मिथ मामला चला रहे थे। और आरोपियों की ओरसे पैरवी के लिए महादेव शिवराम आपटे विशेषरूप से बम्बई से बुलवाये गये थे। आपटे प्रसिद्ध वकील थे और इस मामलेमें सुधारकों के विरुद्ध भी थे। सबसे पहली गवाही तुकाराम फौजदार की हुई। उसने दंगेका सविस्तार वर्णन सुनाया। उसके कथनानुसार नूलकर सभाभवन के द्वारपर खड़े होकर बतलाते जाते थे कि किसे अन्दर आने दिया जाय और किसे नहीं। बाहर लगभग दो हजार मनुष्य इकट्ठे हो रहे थे। छोटे बड़े सभी दंगा करनेमें लगे हुए थे। तिलक और नामजोशी बाहर नहीं थे, किंतु दूसरे नेता लोगोंको भड़का रहे थे। पुलीस के जवान कुछ आठ दस ही थे। इस कारण पकड़ा-धकड़ी नहीं की जा सकी। इसके बाद राजन्ना लिंगू वकील की गवाही हुई। इससे जिरह करते समय पूछा गया कि "सभा में किन २ लोगों के लिए आने की इजाज़त थी और किन्हें नहीं"। दूसरे दिन श्रीयुक्त आत्मारामपंत नूलकर का बयान लिया गया। यही महाशय द्वारपर खड़े थे, इन्हे भी जिरह में आपटेजी ने खूब छेड़ा। टाइम्स में छपा हुआ तार रवाना करनेवाले खुद यही थे। किन्तु उसके लिखनेवाले का नाम उन्होंने नहीं बतलाया। इसके बाद खुद डॉ. भाण्डारकर का बयान हुआ। आपने स्वीकार किया कि सभा में आते और जाते समय उन्हें पुलिस की सहायता लेनी पड़ी। इसी प्रकार आपने यह भी बतलाया कि अध्यापक केलकर के मकान में दर्वाज़ा बन्द करके बैठने पर 'ब्लैकहोल' का स्मरण हो आया था। जिरह में आपने कहा कि

विज्ञापना किसने लगाये और हैन्डबिल किसने बाँटे इसका पता नहीं। सभा के विषय में पूछा जाने पर डॉ. भाण्डारकर ने कहा कि वह सार्वजनिक भी थी और खानगी भी'। इस पर यदि कोर्ट के लोग हँस पड़े हों तो आश्चर्य नहीं! इसके बाद उन्होंने कहा, "होहल्ला सुनते ही मैं भयभीत होकर अन्दर चला गया।" जब तार के विषय में पूछताछ हुई तब आपने अदालतसे प्रश्न किया कि क्या मुझे तार भेजनेवाले का नाम बतलाना ही होगा? इसपर आपटे ने कहा कि "मैं आपको लाचार नहीं करता, इच्छा न हो तो आप न बतलाइये"! मुक़द्दमा चलाने की चलाये जाने के विषय में डॉ. साहब ने कहा कीं हमनें मुकदमा न चलानेकी इच्छा पुलीस के सामने प्रकट कर दी थी। रा. ब. भिड़े ने अपनी गवाही में कहा कि 'बेहरे एक तेज़-तर्रार और बहुत बोलनेवाला आदमी था, इसलिए उसीके आसपास लोग ज्यादा इकट्ठे हुए थे। इसके बाद और भी कई लोगों के बयान लिये जाकर अंतमें आरोपियों से पूछताछ आरंभ हुई। घोटवड़ेकर ने अपने बयान में कहा कि 'मैं अंदर जाकर भी फिर वापस चला आया था, क्योंकि वहां मुझे जाने न दिया गया, मैं उस बिल के विरुद्ध नहीं हूं, इसलिए केवल दो-एक बातों की सूचना करने ही के लिए वहां जाना चाहता था। फलतः सभा आरंभ हो जावे पर मैं पर्वती की ओर चला गया। इसी प्रकार बेहरेने भी कहा कि:-'मैं प्रवेश पाने की आशासे कुछ देर दर्वाजे पर खड़ा रहा, और अंत में निराश होकर चल दिया, वासुदेवराव जोशी बाहर खड़े ही न थे, बल्कि वे तो सभा में जाने का अधिकार बतलाकर केलकर के घर में जा बैठे थे। दामले भी अन्दर ही थे, और रानड़े १५।२० मिनिट प्रतीक्षा करके उकता गये थे। आरोपियों की ओर से रामभाऊ साने ज्ञानप्रकाश के संपादक एवं अन्य दो-एक सज्जनों की गवाहियां हुई। इन्होंने घोटवड़ेकर और बेहरे को सभा की समाप्ति से पहल वापस लौटते हुए देखा था।

सफाई के लिए आपटे ने देरतक भाषण नहीं किया। उनकी मुख्य दलीलें इस प्रकार थीं; दंगा हुआ अवश्य, किंतु वह बहुत ही मामूली था। सभा के खानगी होने के संबंध में डॉ. भाण्डारकर का कथन यथार्थ नहीं हो सकता। जिस अर्जी पर लोगों से हस्ताक्षर कराये गये थे उसमें भी जब कई संशोधन सूचित किये गये थे तो फिर ऐसी दशामें दूसरों की ओरसे संशोधन सूचित किये जाने के लिए कोई रुकावट न होनी चाहिये थी। विज्ञापन देकर की जानेवाली सभा को ऐन वक्त पर खानगी कौन कह सकता है? इसी प्रकार आरोपियों के हाथ से ईंट-पत्थर या मिट्टी आदि फेंके जाने का भी कोई प्रमाण नहीं मिला। बल्कि भिड़े के लड़के ने बेत से कुछ लड़कों को पीटा और इसीसे वे

बिगड़ कर धूल-मिट्टी फेंकने लगे। वारीपियों का सभामें प्रवेश करने लिए अधिकार मांगना दंगा नहीं कहा जा सकता। इसके बाद आपटे ने अंत में कहा कि "इस मामले के चलाने का मूल कारण सुधारक दल की ओरसे सभा के स्थानपर यथेष्ट प्रबंध न किया जाने का 'सुधारक' पत्र का आक्षेप ही था; यदि यह न किया जाता तो कभी यह मामला भी नहीं चल सकता था। अंत में ता. २३ के दिन सिटी मजिस्ट्रेट मि. प्रुंकेट ने मुकदमें का फैसला सुनाया। उसमें उन्हों ने लगभग आपटे की ही दलीलों का अनुकरण करते हुए अदम सुबूत में मुक़द्दमा खारिज कर पांचों व्यक्तियों को छोड़ दिया! इस निर्णय पर कुछ लिखने योग्य बात ही 'केसरी' के लिए न थी। किंतु इस प्रसंग से उत्तेजित होकर लोगोंको 'उसने' इसतरह सावधान किया, कि जिन सुधारकों ने सम्मति आयु जैसे बिल का चंचुप्रवेश कराया है, उन्हें घर का भेदी मानकर उनसे नाता तोड़ लेना चाहिये। क्योंकि यदि आज इन्हें ज़रा भी आश्रय दिया गया तो किसी दिन हमें इनके कार्यों के लिए पछताना पड़ेगा। इस तरह क्रीडा-भुवन-प्रकरण की समाप्ति हुई।

इस अवधि में भी दोनों ओरसे आन्दोलन शुरू ही था। बम्बई में माधवबाग की सभा के परिणाम स्वरूप यह लोकमत प्रचलित होने लगा कि बिल में कुछ परिवर्तन हो जाना चाहिये। पूना की तरह बम्बई में भी बिल के पक्षमें एक सभा फर्वरी के अंत में हुई, किंतु वह सोलहों आने उसके समर्थकों की न थी। लोग कहने लगे कि दिल सम्बन्धी अपराध पर सज़ा कम दी जाय और दावा चलानेका अधिकार केवल उस लड़की (स्त्री) या उसके पालक को ही रहे। प्रधान संशोधन अवस्थाविषयक था। जव्हेरबागवाली सभा में डॉ. अन्ना कुंटे ने यह संशोधन उपस्थित किया था कि बारह वर्ष की अवस्थावाले शब्द हटाकर उनके स्थानपर रजोदर्शन की मर्यादा कर दी जाय। इस सभा के अध्यक्ष जव्हेरलाल याज्ञिक थे। सभा में बेतरह गड़बड़ मची और ज्यों त्यों करके लोगों को सभा का काम निपटाना लेना पड़ा। इस सभा मे चंदावरकर, भालचन्द्र आदि भी उपस्थित थे, किंतु श्री. तैलंग लगभग दस मिनिट बैठकर बिना कुछ किये ही चुपचाप सभा से लौट गये। डॉ. अन्ना कुंटे की जो सूचना सभा में उपस्थित होने न दी गई उसपर कुंटे के सिवाय गणपतराव सदाशिवराव हाई कोर्ट प्लीडर, इच्छाराम सूर्यराम देसाई ('गुजराती' पत्र के संपादक), और वीरचंद गांधी आदि के भी हस्ताक्षर थे। बम्बई और पूना के वैद्यों ने भी अपनी २ सभाएँ करके यह निर्णय प्रकट किया कि वैद्यक शास्त्र के प्रधान आचार्य भी जब ऋतु-प्राप्ति की वयोमर्यादा निश्चित न कर सके हैं, तो ऐसी दशा में बिल में अवस्था का उल्लेख न कर ऋतु-प्राप्ति की ही मर्यादा रखी जानी चाहिये।

पुरुषों की ही तरह स्त्रियोंकी भी इस बिल के लिए सम्मति आवश्यक थी, क्योंकि इस बिल में उन्ही के हितपर विशेष दृष्टि रखी गई थी, अतएव बम्बई में स्त्रियों की एक सभा बिल के अनुकूल पक्ष में हुई। किन्तु पूने में इस प्रकार की सभा का हो सकना असम्भव था। बम्बई की सभा की संचालिका पंडिता रमाबाई बनी और अध्यक्ष-स्थान पर मिस सोराबजी को बिठाया गया। इसलिए दुर्भाग्यवश सभा का कुछ भी उपयोग न हो सका। सौ. काशीबाई कानिटकर ने बिल का समर्थन किया। किंतु इनके बाद ही दूसरी एक महिला ने उठकर कहा कि सरकार से कानून बनाने के लिए कहने की अपेक्षा पंच चुनकर उनसे दंड दिलवाना अधिक अच्छा होगा। इस महिला ने काशीबाई से सभा में ही प्रश्न किया कि "इस बिल के अनुसार यदि तुम्हारे ही दायाद पर कल मुकद्दमा चले तो क्या तुम अच्छा समझोगी"। काशीबाई हिन्दू महिला थी; इस लिए वे संकोच में पड गयी और इसका कुछ भी उत्तर न दे सकी। श्री. रमाबाई भी मूलतः हिन्दू ही थी, किंतु धर्मान्तर हो जाने के कारण उसके विचार बदल गये थे। काशीबाई को निरुत्तर होते देखकर रमाबाई से न रहा गया और तत्काल ही उन्होंने उत्तर दिया कि "दायाद की पर्वाह नहीं, क्योंकि लड़की से दायाद अधिक नहीं हो सकता!" इस पर केसरी लिखता है, "ठीक तो है। क्योंकि प्रथम तो ईसाइयों में इस प्रकार का मोका आता ही नहीं, और यदि इतनेपर भी दायाद को ऐसे अपराध के लिए जेल जाना पड़े तो उनके लिए तलाक का मार्ग खुला ही हुआ है"। अंत में उस अर्जी के फार्म पर सभा में कुछ स्त्रियों ने हस्ताक्षर किये और कुछ ने नहीं किये। कइयोंने यह कारण वतलाया कि हम घरवालों से पूछे बिना हस्ताक्षर नहीं कर सकतीं।

बम्बई और पूना को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी इस बिल के अनुकूल सभाएँ नहीं हुई। कितने ही स्थानों में प्रतिकूल सभाएँ करनेका ढोंग रचकर यह प्रयत्न किया गया कि उनसे भी कुछ अनुकूल परिणाम निकल सके, किंतु ऐसा करनेवालों की पोल खुल गई। सोलापुर में इसी प्रकार की एक घटना हुई। एक दिन संध्यासमय सरकारी हाई स्कूल में नये बिल को समझानेके लिए लोग इकठ्ठे किये गये, और डिस्ट्रिक्ट-जज टागोर साहब एवं कुछ वकील भी वहां आये। उपस्थित जनता को आम सभा का स्वरूप दिये जाने की शंका उत्पन्न होते ही सोलापुर के प्रसिद्ध व्यापारी रावसाहब वारद ने चुपचाप ही एक छोटा सा हैंडबिल सभा में बँटवा दिया, जिस में केवल इतना ही लिखा था कि "दोनों पक्ष की बातें सुन लेनेके बाद विचारपूर्वक जिधर इच्छा हो उधर के आवेदनपत्र पर हस्ताक्षर कीजिये"। अन्त में हां-हां और नहीं-नहीं की खींचतान में ही सभा

समाप्त हो गई । इसके तीन ही दिन बाद एक विराट् सभा रावसाहब पारद की ही अध्यक्षता में हुई । उपस्थिति लगभग पांचहज़ार के थी और तार देकर पूना से तिलक एवं नामजोशी भी बुलवा लिये गये थे । विरुद्ध सभाओं में नूलकर प्रभृति धारासभा के सदस्यों को कौंसिल मे लोक-मत प्रकट करने विषयक आज्ञा समस्त सुधारकों का निषेध, लोक-मत के बिगड़ उठने की सरकार को सूचना देने एवं पार्लमेंट-सभा से प्रार्थना करनेके लिए सम्मति एवं उसके लिए आवश्यक ख़र्च इकट्ठा करने की तैयारी आदि बातें हो रही थी । पूना प्रतिकूल आन्दोलन का केन्द्र था, अतएव ता. २१ मार्च को पुनः शनिवारवाड़े के सामनेवाले मैदान में एक पहले से भी बड़ी सभा हुई । सभा में लगभग दस हज़ार मनुष्य उपस्थित थे। नगर की दूकानें भी प्रायः उस समय बंद थी । सभापति के पद पर पूना के प्रसिद्ध नागरिक बंडूनाना रानड़े विराजे थे। नामजोशी ने यह सूचना उपस्थित की कि बिल के विरोध के लिए विलायत में आन्दोलन किया जाय। बलवंत रावजी तिलक ने ता. १६ के वाइसराय के भाषण की आलोचना करते हुए कहा कि राज्ञी के घोषणापत्र के शब्दों की खींचतान हो रही है, अतएव ख़ास महारानी की ही सेवा में आवेदनपत्र भेजकर घोषणापत्र का अर्थ निश्चित करा लिया जाय । अंतमें प्रो. जिनसीवाले का भाषण हुआ और सभा में ही लगभग १५०० रुपये का चन्दा इकट्ठा हो गया । श्री. बाला साहब नातू को अध्यक्ष बनाये जाकर इस काम के लिए सब कमेटी भी बन गई ।

बम्बई में ता. १६ अप्रैल को सभा हो कर यह प्रस्ताव पास किया गया कि इस बिल के विरुद्ध पार्लमेंट से प्रार्थना की जाय और महारानी के घोषणापत्र का सच्चा अर्थ निश्चित् करा लिया जाय । जुन्नर में ता. १३ को सभा हुई और पार्लमेंट के पास अर्ज़ी भेजनेके प्रस्ताव का समर्थन किया जाकर देहात से चंदा इकट्ठा करने की भी शुरूआत हो गयी ।

किन्तु इस अनुकूल-प्रतिकूल सभाओं का दंगल छिड़ा रहनेकी ही दशा मे ता. १६ मार्च को बड़ी धारा-सभा मे लोकमत की नाम को भी परवाह न करते हुए यह बिल पास हो गया । इसके बाद आन्दोलन का ठंडा पड़ जाना स्वाभाविक ही था, मई मास में पूना की प्रान्तिक सभा में तिलक ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि:—" सम्मति-बिल के विषय में जो कुछ लोकमत प्रकट हुआ है उसपर भारत सरकार ने विचार करनेकी आवश्यकता नहीं समझी, इसके लिए यह कान्फ्रन्स खेद प्रकट करती है । " इस प्रस्ताव पर भाषण करते हुए तिलक ने लोकमत पर ज़ोर दिया था । उनकी ख़ास दलील यह थी कि सरकार की ओर से लोकमत का अनादर किया जाना राजनैतिक दृष्टी से कभी अच्छा नहीं कहा

जा सकता। श्री. वामनराव लेले ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया, और सर्व-सम्मति से वह पास हुआ।

ता. ३१ मई को भायखला (बम्बई) की ओर फिर एक विराट् सभा हुई। इस सभा की विशेषता यह थी कि हिन्दुओं की तरह मुसलमान भी सरकार का निषेध करनेके लिए सभा में उपस्थित हुए थे। यथार्थ में, यह बिल केवल हिन्दुओं से ही सम्बन्ध नहीं रखता था, बल्कि थोड़े बहुत अंश में प्रायः सभी समाजो पर इसका प्रभाव पड़ सकता था। किंतु मुसलमान समाज उस समय पिछड़ा हुआ था, अतएव, ऐसे प्रश्नों की ओर उसने कभी ध्यान ही नहीं दिया। हिन्दुओं को ज़ोर-शोर से आन्दोलन करते देख कर उनमें के कई जानकार लोगों ने इस बिल के मर्म को समझा। परिणाम यह हुआ कि इस सभा का सभापतित्व भी एक मुसलमान सज्जन ने ही गृहण किया था। उन महानुभाव का नाम था मौलवी हिदायत उल्ला। आप अंगरेज सरकार के दरबार में तुर्किस्तान के प्रतिनिधि की हैसियतसे रहते थे। इस सभा में उर्दू (हिंदी) में भी भाषण हुए। हिन्दू मुसलमान को आम सभा में इस प्रकार उत्साह पूर्वक एकत्र होकर काम करते देख कितने ही लोगों के दृष्टि पथमें हिन्दू-मुस्लिम एकता का महत्व प्रत्यक्षरूप में आ उपस्थित हुआ। उस एकताके स्थायी होनेके विषय में मौलाना साहब ने आशा भी प्रकट की। आशा प्रकट करना ही बतला देता है कि यह एकता स्वाभाविक नहीं थी। इस सभा में हिन्दू-मुसलमानों के एकत्र होनेसे ऐक्यता का ज़रा देर के लिए भास हुआ, और वह आल्हादकारक भी जान पड़ा, तथापि दुर्भाग्य से वह अधिक दिनोंतक टिक न सका। भवितव्यता के चित्त में भविष्यत् की घड़ियों पर दूसरी ओरसे डंका मारनेकी इच्छा उत्पन्न होते देर न लगी, और बम्बई शहर के इस बिल-विरोधक आन्दोलन में समाविष्ट हिन्दू-मुसलमानों की ऐक्यता का जय-घोष पूरी तरह विलीन भी न हो पाया था, कि हिन्दू-मुसलमानों के दंगे की खेदकारक चीत्कार लोगों के कानोंतक पहुंचने लगी।

इधर इस बिल के आन्दोलन को भुला देनेवाली बातें भी धीरे २ होने लगीं, अतएव इस विषय का जोश इन छोटे २ प्रवाहों के द्वारा ठंडा पड़ गया। उन नये आन्दोलनों में शारदा-सदन-विषयक हल-चल मुख्य थी। इसके विषय में आगे चलकर एक स्वतंत्र परिच्छेद में विस्तार के साथ लिखा जायगा। बम्बई में सुधारकों के नेता भाण्डारकर और तेलंग के विषय में एक दूसरा ही वाद उपस्थित हो गया, जिसमें [illegible] सुधारकों की [illegible] उनकी [illegible] का भी लोगों को परिचय मिल गया। इस तरह [illegible] बिल तो रद नहीं हुआ था, किंतु उसके मुख्य आधार, [illegible]

विरुद्ध जो लोकमत पहले से ही कलुषित हो रहा था, वह और भी अधिक कलुषित हो गया। इसी बीच डॉ. भाण्डारकर ने ग्यारह मई को अपनी गत-भर्तृका (विधवा) कन्या का रा. सा. गोपालराव पानन्दीकर नामक सज्जन के साथ पुनर्विवाह कर दिया। इस बालिका का विवाह बारह वर्ष की अवस्था में हुआ था किंतु कुछ ही दिनों में उस पर वैधव्य का वज्रपात हो गया था। डॉक्टर भाण्डारकर के इस मनोधैर्य को देखकर 'केसरी' ने उनका अभिनन्दन करते हुए लिखा था कि 'सुशिक्षित एवं प्रभावशाली परिवारों से जब कृतिरूप में प्रत्यक्ष सुधार का आरंभ होगा, तभी क्रमशः लोग उस पर विश्वास करने लगेंगे। समाज-सुधार का भी सच्चा मार्ग यही है।" किन्तु भाण्डारकर के समाज को अर्थात् बम्बई के सारस्वतों को यह कार्य पसन्द न आया। उनपर आलोचना की भरमार होने लगी। यहांतक कि सारस्वत समाज से उनका बहिष्कार तक कर दिये जानेका प्रसंग आ गया।

इसी विषय में ता. ७ जून को बम्बई में सारस्वत-ब्राह्मणों की ठाकुरद्वार में एक सभा भी हुई। लगभग दो-तीन सौ व्यक्ति सभा में उपस्थित थे। सारस्वत ब्राह्मणों की इन में भी पुरातन मतवादियों का प्राबल्य था, किंतु फिर भी सभा में बाधा पहुँचानेवाले कुछ नरम-गरम सुधारक भी पहुँच गये थे। सभापति के पद पर एक कुलीन एवं वृद्ध सारस्वत सज्जन की नियुक्ति हुई। प्रथम जो प्रस्ताव उपस्थित किया गया, उसमें केवल इतना ही कहा गया था कि 'जो कुछ घटना हुई है, उसकी सूचना स्मार्त-वैष्णवादि धर्मगुरुओं के पास भेजी जाय, और वे जिस प्रकार की आज्ञा दें तदनुसार बर्ताव किया जाय। इस प्रस्ताव का विरोध करनेके लिए सदानंद भाण्डारे खड़े हुए। किंतु इन्होंने अंग्रेजी में अपना भाषण शुरू किया। इसपर लोगों ने हल्ला मचाना शुरू कर दिया। जब इन्होंने कहा कि मुझे मराठी में बोलना नहीं आता, तब तो यह हल्ला और भी बढ़ गया। आक्षेपकों ने यहांतक की क्षुद्र दलीलें पेश कीं कि डॉ. भाण्डारकर स्मार्त हैं और यह सभा वैष्णवोंने की है। इसपर एक संयोजक ने सभा का उद्देश्य बतलाया कि 'हम खुद ही बहिष्कार करनेको नहीं कहते, किंतु धर्मगुरु जैसी कुछ आज्ञा देंगे उसका पालन किया जायगा'। इसपर सुधारक लोक कल्ला उठे और कहने लगे कि हमारे काम में दख़ल देने का स्वामी या धर्म-गुरू को क्या अधिकार हो सकता है? इसके बाद भांडारे ने अपने तथा अपने अन्य साथियों के धर्म-निषिद्ध कार्यों को यथाक्रम वर्णन कर इस बात के लिए धर्मगुरुको चुनौती भी दी देखें वे हमारा क्या कर सकते हैं! इसी बीच एक नौ उम्र तेज़ स्वभाव के सुधारक ने अपने पैर का जूता निकाल कर वृद्ध सभापति पर फेंक मारा! इस

त्रयोदश-विभाग।

———:०:———

तिलक और ग्रामण्य प्रकरण.

समाजसुधार के विषयमें चार-पांच सिद्धांतों पर तिलक विशेष जोर दिया करत थे। (१) परराज्य के रहतेहुए भारतीयोंके लिए समाज-सुधार की अपेक्षा राजनैतिक-सुधार का ही महत्त्व अधिक हो सकता है। (२) इसी लिए सुशिक्षितों को सबसे पहले राजनैतिक सुधारों की ही प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिये। (३) श्रमविभाग के सिद्धान्त पर यदि विभिन्न व्यक्तियोंने राजनैतिक और सामाजिक सुधार को अपने २ हाथ में ले लिया तो यह अधिक उत्तम होगा। (४) जिन लोगों को नेता बनकर समाज-सुधार करना है, उनका चरित्र विशिष्ट-सुधारों को छोड़कर अन्य किसी दृष्टि से आक्षेपार्ह न होना चाहिये, और उन्हें धैर्य एवं प्रत्यक्ष कार्य करके साथ अपना काम आगे बढ़ाना चाहिये। केवल जबानी-जमाखर्च का कुछ उपयोग न होगा। (५) सामाजिक या धार्मिक, प्रत्येक सुधार के लिये ज्ञानप्रसार ही एक प्रधान साधन हो सकता है। अकेले ही बहुत आगे बढ़कर दूसरों को ही अपने साथ ले जाने का ध्येय विशेष रूपसे रखना चाहिये। ये सिद्धांत आरंभिक दो-एक पीढि के सुधारकों को अधिकांश पसन्द न आये, इसीलिये उनसे हमेशा तिलक का झगड़ा होता रहा। सन १८८२ से १८९२ तक के दश वर्ष इन्हीं झगड़ों में बीते। बाल-विवाह, असंमत-वैधव्य, रमाबाई-दादाजी प्रकरण आदि विषयों में तिलक ने अर्थात् तिलक-पक्ष ने विजय प्राप्त कर सामाजिक विषयों में कानून बनवाने का आन्दोलन ठंडा कर दिया था। किंतु सुधारकोंने सम्मति-वय-नामक बिल के समय अपनी उस हार का बदला चुकाकर ही छोड़ा और पिनल कोड की दुरुस्ती के रूपमें उन्होंने अपने मतकी सफलता समझकर संतोष मान लिया!

केवल इस आन्दोलन का इतिहास पढ़नेवाले को यही प्रतीत होगा कि तिलक मूर्तिमान धर्माभिमानी थे। और एक प्रकार से यह ठीक भी था। क्योंकि पुरातन धर्म एवं प्रथाओंकी यथोचित अभिमान रखने में तिलक ने कभी त्रुटि न पड़ने दी और केसरी सदृश सन्मान्य एवं प्रभावशाली पत्र ने यदि सुधारकों के स्वेच्छाचार का इस तरह विरोध न किया होता तो लोकमत के नाम पर सामाजिक विषयों के मनमाने कानून बना लेना कोई कठिन कार्य नहीं था। किंतु पुरातन धर्म एवं प्रथाओं के विषयमें गर्व रखनेके एक अधिकारी [illegible] थे [illegible] वे यहांतक अपनी धुन के पक्के एवं कट्टर मतवादी थे कि, उनमें और सुधारकों में तो उचित अनबन का कारण था ही, किंतु इसी के साथ २ वे [illegible]

को सुधारकों की ही श्रेणीमें समझते थे! अन्तर केवल यही था कि रानडे, मोडक आदि व्यक्ति प्रकट सुधारक थे, और डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी के तिलक आदि अन्य सभी सदस्य प्रच्छन्न सुधारक! इसी लिए शुद्ध सनातनी पुण्य-पत्तनस्थ ब्राह्मणोंका कहना था कि, प्रकट शत्रु की अपेक्षा ये प्रच्छन्न शत्रु समाज के लिए विशेष अहितकर्ता हैं। क्योंकि केसरी के आरंभिक वर्षों में आगरकर ने स्वैर-सुधार पर यथेष्ट प्रमाण में लेख लिख डाले थे; और किसी ने भी उनका विरोध नहीं किया। इसके कुछ ही दिन बाद आगरकर का विरोध किया जाकर मलबारी आदि स्वैर सुधारकों के प्रतिकूल जो लेख छपे थे अलग ही थे। किन्तु फिर भी जब २ सामाजिक विषयों पर लेख निकलते तब २ बिना सरकारी सहायता के केवल ज्ञान-प्रसार के ही द्वारा क्यों न हो, किंतु केसरी इस बात को स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता रहा है कि पुरानी प्रथाओं में धीरे २ सुधार होना चाहिये!

किन्तु शुद्ध सनातनधर्मी इसको भी न सह सकते थे। क्योंकि उन की इच्छा थी कि पुराना जो कुछ भी है, वह उसी रूप में रहना चाहिये। अतएव वे उसे न केवल शास्त्रशुद्ध ही समझते, वरन् युक्ति-सिद्ध भी मानते थे! सामोपचार से भी पुरानी प्रथाओं में सुधार करनेतक को वे यही समझते थे कि इस कथनसे पुरानी प्रथाओं की निंदा ही ध्वनित होती और इसी लिए वे इसे सहन न कर सकते थे। प्रमाण के लिए यदि हम बाल-विवाह को ही लें, तो इसी पर पूने में तीन प्रकार के मत थे। असली सुधारकों का कथन यह था कि बाल-विवाह एक अनिष्ट प्रथा होनेके कारण सरकार से क़ानून बनवाकर इसे बन्द करवाना चाहिये। मध्यम पक्ष केसरी का था। वह कहता था कि बाल-विवाह अनिष्ट है और कितनी ही जातियों में इस आचार की जो अतिशयोक्ति हो जाती है वह तो एकदम अनिष्टकारक ही है। किन्तु धीरे २ यही बातें यदि नई दृष्टि से लोगों को सिखाई गई तो आवश्यक सुधार अपनेआप हो जायगा। लेकिन इसके लिए क़ानून की सहायता लेना उतना ही अनिष्ट होगा, जितना कि यह खुद बाल-विवाह की प्रथा है। क्योंकि यदि एक बार कहीं बाल-विवाह हो भी जाय तो उससे उतनी अधिक हानि न पहुँचेगी, जितनी कि इसके लिए क़ानून बनवा देनेसे होगी, इसी लिए बहु जन-समाज को इसका घोर विरोध करना चाहिये। तीसरा पक्ष असल सनातनधर्मियों का था। ये लोग कहते थे कि बाल-विवाह को एकदम बुरा बतलाना न तो शास्त्र-संमत है और न युक्तिसिद्ध ही। और बाल-विवाह के दुष्परिणाम की ही तरह प्रौढ़-विवाह भी समाज के लिए घातक हो सकता है, इस लिए यदि एक को छोड़कर दूसरा ग्रहण कर लिया तो भी वही रोना रहेगा।

ऐसी दशा में जो कुछ भी मौजूद है उसीको अच्छा समझकर सावधानी रखी जाय तो क्या बुराई है ? हमारे वैभव-सम्पन्न ऐतिहासिक युग में भी तो बाल-विवाह प्रचलित था। और यदि यह एकदम ही अनिष्टकारक होता तो हमें यह वैभव कैसे प्राप्त हो गया ?

इन तीनों मत में से प्रत्येक की प्रबलता और स्पष्टता के साथ प्रतिपादन करनेवाले एक २ पत्र भी उस समय पूने में निकल रहे थे। शुद्ध-सुधारक लेखों को छापनेवाला "सुधारक" नाम का पत्र यद्यपि सन १८८८ में जाकर निकला, किन्तु ज्ञान-प्रकाश बेपेंदे की लुटिया के समान किसी भी ख़ास सामाजिक-सुधार के पक्ष में न था। क्योंकि उसके लिए जैसा संपादक मिलता वैसा ही उसका मत हो जाता था। यद्यपि यह पत्र रानडे की एक प्रियवस्तु माना जाता था, किन्तु फिर भी इसे कोई सच्चा-सुधारक नहीं कह सकता था। केसरी में उपर लिखे अनुसार यथाप्रसंग दोनों ही प्रकार के लेख निकलते रहे। रेशमी कपड़ों में एक किस्म 'ताफ्ता' की होती है, उसी प्रकार का ध्येय सामाजिक विषयों में केसरी का भी था। इस कपड़े की बनावट ही इस प्रकार होती है कि उसे हम यदि एक ओर से देखें तो वह हमें लाल दिखाई देगा और दूसरी ओर से नीला। उसी तरह सुधारकों से केसरी को झगड़ते देखने पर तो हरएक उसे पूर्ण धर्माभिमानी समझने लगता था, किन्तु शांति के समय जब उसके सामाजिक विषयों पर लिखे हुए लेख पढ़ते तो प्रायः लोग उसे 'सुधारक' भी समझ सकते थे। यद्यपि केसरी ने पुराणमताभिमानियों का जी दुखानेवाली बातें प्रायः नहीं लिखीं, किन्तु फिर भी इतना वह अवश्य कहता रहा कि अमुक प्रथा में अमुक सुधार कर देना आवश्यक जान पड़ता है, और धर्मशास्त्र के साथ यथेष्ट परिचय न रहके कारण धर्मसम्मति या धर्मनिषेध के विषय साधारण जनता की कल्पना अधिकांश भ्रमपूर्ण रहती हैं, इसी प्रकार पुरानी बातों में जो भी अधिक श्रेष्ठता हो, किन्तु फिर भी नया एकदम त्याग देने योग्य नहीं होता, उससे भी हम कुछ अच्छा और ग्राह्यांश निकाल सकते हैं इत्यादि। उस समय का शुद्ध सनातनी पत्र था 'पूना वैभव'। इसके सम्पादक शंकर विश्वनाथ केलकर नामक सज्जन थे। क्योंकि ये अधिक पढ़े-लिखे व्यक्ति न थे, अतएव इनके लिखनेमें विद्वत्ता की झलक नहीं दीखती थी। किन्तु अशिक्षितों में जो एक प्रकार की मार्मिकता, विनोद और समयसूचकता होती है, वह सब इनमें अवश्य थी। सिवाय इसके जिन लोगों को ग्राम्य शब्द या कुत्सित कल्पनाओं का उल्लेख करने में किसी प्रकार की भी मर्यादा न रखनेका वर प्राप्त हो जाता है, उनकी भाषा और लेखन-पद्धति विपक्षीयों पर आक्रमण करते समय किस प्रकार अकुंठित रहती है, यह

प्रसिद्ध ही है। इसी दृष्टि से पूना-वैभव की लिखाई भी अकुंठित थी। साथ ही सिरपर आफ़त आते ही उसके लिए क्षमा मांगने का गुण इस पत्र में सबसे अधिक था। इस लिए स्वच्छन्द होकर लिखनेकी जवाबदारी का नाम तक इन सम्पादकजी को ज्ञात न था। अदालत में आनेसे पूर्व या अदालत में आजाने पर क्षमा प्रार्थना कर लेनेसे ही उनपर के कई अभियोगों का उद्धार हो चुका था। कुछ भी हो, किंतु इतना हम निःसंकोच कह सकते हैं कि, केसरी जिस प्रकार सुशिक्षितों के लिए प्रिय पत्र था, उसी प्रकार पूना-वैभव भी सामान्य जनता का कृपापात्र समझा जाता था। जिस प्रकार सभी भाँति के पदार्थों को मिलाकर जो सुस्वादु दाल बनाई जाती है, उसी प्रकार ग्राम्य विनोद, एवं आक्षेप-कटाक्ष, कथा-कहानी आदि के योग से पूना-वैभव भी साधारण जनता को सरस प्रतीत होता था। ख्यातनामा उपन्यासकार हरि नारायण आपटे का प्रथम उपन्यास "आजकल के विषयों में मध्यम स्थिति" (आजकालच्या गोष्टींतील मधली स्थिति) पूना-वैभव में ही सबसे पहले क्रमशः प्रकाशित हुआ था। राज-नैतिक विषयों में पूना-वैभव की ज्ञान-मर्यादा सकुंचित ही थी। किन्तु यह भाव अवश्य उसके हृदय में घर कर गया था कि, अंग्रेज सरकार भली नहीं है, और ख़ासकर सामाजिक दृष्टि से तो अंग्रेज ही नहीं बरन् सभी युरोपियन बुरे कहे जा सकते हैं। क्योंकि संपादक राज-नैतिक विषयों के मर्मज्ञ न थे, अतएव इस प्रकार के लेख उस पत्र में बहुत ही थोड़े निकलते थे। फलतः उसकी क्षतिपूर्ति के लिए सुधारकों की स्वैर कल्पना और उनमेंसे कुछेक व्यक्तियों के निरर्गल-प्रलाप पर की हुई आलोचनाएँ ही काम देती थीं। साथ ही वह सुख-शांति के समय केसरी की ओर भी दृष्टि-पात् करता रहता था।

नहीं २ करते भी केसरी में आरंभ में बहुत ही अधिक लेख सामाजिक विषयों पर निकल चुके थे। आगरकर वैसे तो विनोदी एवं विद्वान लेखक थे ही। किन्तु ग्राम्य शब्द-प्रयोग की दृष्टि से देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि 'पूना वैभव' के संपादक उनसे कभी बाज़ी नहीं ले जा सकते थे' उत्तम नाट्न की आवश्यकता' और 'साधुओंको नोटीस' आदि उनके मार्मिक लेखों में ऐसे कई एक वाक्य दिखाये जा सकते हैं, जहां कि उनकी विद्वन्मन्य सदभिरुचि, एकदम उनसे कोसों दूर चली गई है। कई एक व्यक्ति खुल्लमखुल्ला कहते थे कि "जब तुम्हारा एम. ए. संपादक ही स्पष्टोक्ति से ज़रा भी नहीं चूकता, तो विचारे 'पूना-वैभव' के सम्पादक को क्यों दोष दिया जाय, वह तो हर हालत अपेक्षित है।" आगरकर और पूना-वैभव के सम्पादक के बीच जब क्रिया-प्रतिक्रियारूप साम्मुख्य होता था, तब स्पष्टे क्तियों की रंगपंचमी ही नहीं, बल्कि कभी २ तो धुलैंडी

तक हो जाती थी। किन्तु इतने ही से काम नहीं चल जाता था। सामाजिक विषयों पर तिलक और गोले आदि भी अनेकों वार लेख लिखते, और हम कह सकते हैं कि वे लेख सचमुच ही निर्दोष होते थे। क्योंकि उनमें न तो भाषा की उच्छृंखलता पाई जाती थी न किसीका अनादर और न किसीके लिए तुच्छता के शब्द ही लिखे दिखाई देते थे; वाल्कि वे केवल युक्तिवाद से पूर्ण रहते थे, और उन्हें पढकर विचारशील व्यक्तियों के चित्तपर किन्हीं पुरातन किंतु अनिष्टकारक प्रथाओं के दोषाविष्करण का परिणाम समुचितरूप में होता था। उदाहरणार्थ, दत्तक-पुत्र की एक बहुत पुरानी प्रथा है, किन्तु हमें तिलक की निवन्धावली में इसी वात का प्रतिपादन दिखाई देता कि 'दत्तक-प्रथा के परम्परा पुनीत होने पर भी यदि कोई दत्तक न ले तो उसका यह आचरण धर्मविरुद्ध नहीं कहा जा सकता; और यदि नई दृष्टि से देखा जाय तो व्यर्थ ही में न जाने कहां के किसी लड़के को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का मालिक वना देने की अपेक्षा उसी सम्पत्ति को यदि परोपकार में लगा दिया जाय तो राष्ट्रीय दृष्टि से वह अधिक लाभकारक होगा। पूना में उन दिनों 'ऋतुस्नाता' का जुलूस निकालनेकी एक अनिष्ट प्रथा ज़ोरोंपर थी। किन्तु केसरी में इस विषय पर आपको यही प्रतिपादन किया हुआ मिलेगा कि 'ऋतुस्नाता' का जुलूस शास्त्रयुक्त गर्भाधानान्तर्गत विधि नहीं कहा जा सकता; किम्बहुना गर्भाधान संस्कार ही असल में वैकल्पिक है। जिस प्रकार केसरी ने पुनर्विवाह का विरोध किया उसी प्रकार पुरुषों के एकाधिक विवाह की भी निंदा की है। यहीं नहीं वरन् कभी २ तो केसरी ने यहां तक लिख दिया है कि यथासंभव अविवाहित रहकर देश-सेवा में ही अपना जीवन लगा देनेका मार्ग श्रेष्ठ कहा जा सकता है। यदि स्त्रियां भी अविवाहित रहकर जीवन विताने का निश्चय कर लें तो इसमें कोई बुराई नहीं। स्त्री-शिक्षा विषयक अनुचित वातों या अयुक्त शिक्षा-पद्धति की केसरी ने भद्द अवश्य उड़ाई, किन्तु उस शिक्षा की आवश्यकता से कभी तिलक ने इन्कार नहीं किया है। डॉ. आनन्दीवाई जोशी एवं काशीवाई कानिटकर सदृश सुशिक्षिता स्त्रियों के लिए तिलक ने केसरी में हर समय आदर भाव ही व्यक्त किया है। अधिक तो क्या, किंतु पंडिता रमावाई के हेतु के विषय में संदेह उत्पन्न होने तक भी इन्हों ने उनपर वार नहीं किया। मतलब यह की समाजसुधार के लिए उपयुक्त राजमार्ग को छोड़कर आगरकर के सम्पादन काल में या उसके वाद भी तिलक के लेख कभी अपने ध्येय या सभ्यता से गिरे नहीं।

किन्तु इस प्रकार के मध्यम मार्ग के सौम्य एवं सयुक्तिक उपदेश के लिए भी केसरी अर्थात् तिलक और आगरकर को पूना-वैभव की गालियां सुननी

पड़ती थी। दूसर लोग केसरी को भले ही धर्माभिमानी समझते रहें, किन्तु पूना-वैभव ने तो कभी इस विश्वास को अपने हृदय में प्रविष्ट तक न होने दिया। किम्बहुना इन दोनों में भी तिलक पर ही पूना-वैभव का आरंभ में ही अधिक रोष थां। क्योंकि आगरकर तो अपनी स्पष्टोक्ति के द्वारा स्वयमेव ही शत्रु निर्माण करते थे, और यदि उनकी स्पष्टोक्ति के लिए पूना-वैभव ने दो-चार अपशब्द भी कह दिये होते तो अन्य व्यक्ति उसे उत्तर का प्रत्युत्तर ही समझते थे। किन्तु तिलक के लेखों से सामना करनेके लिए गाली गलोज एक ओर रह कर लोगों की सहानुभूति तो उनके पक्ष में हो ही जाती थी, किन्तु इसी के साथ २ दूसरी बात यह भी थी कि उनसे टक्कर लेनेके लिए युक्तिवाद का बल भी आवश्यक होता था। क्योंकि यदि यह भी मान लिया जाय कि तिलक ने व्यर्थ ही में किसी स्मृतिवाक्य की खींचतान करके अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है तो भी उस खींचतान के लिए धर्मशास्त्र के जितने ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह बिचारे पूना-वैभव के पास कहां से हो सकता था ? और तिलक की विषय-प्रतिपादन-शैली ऐसी विचित्र होती थी कि, जब वे किसी सामाजिक विषय पर लिखने लगते तो बात २ में शास्त्र-वचन का सहारा लेते थे ! ऐसी दशा में उन पर सनातन धर्म से अविश्वास रखनेका आक्षेप करना एकदम ही मूर्खतापूर्ण सिद्ध होता था। यही कारण था कि पूना के अनेक धर्माभिमानियों को तिलक के इस गुणागुण मिश्रण ने चौकन्ना कर दिया था। आगरकर ने जहां भड़कीले रंग में किसी भावी सुशिक्षिता का चित्र अंकित किया कि उसके नीचे चुपके से वेश्या या विधवोषिता का शब्द लिखकर अपना अपमानविषयक दुष्ट कार्य पूरा कर लेना पूना-वैभव को सुविधाजनक प्रतीत होता था। किन्तु जब तिलक यह लिखते हि स्त्रियों को शिक्षा अवश्य देनी चाहिये-किन्तु वह शिक्षा ऐसी ही हो कि जिस में स्त्रियां स्त्रीधर्म के अयोग्य सिद्ध न हो और उनके हाथों गृहस्थी का चक्र सुचारुरूप से चल सकनेके साथ ही उनकी धर्म-बुद्धि नष्ट न हो सके— तो इस प्रकार के फ़ीके रंग में बने हुए स्त्रीशिक्षा-विषयक चित्र की किस शब्दद्वारा अपमानता हो सकती है, इसका ज्ञान पूना-वैभव के सम्पादक में नाम को भी न था। किन्तु इसीके साथ २ स्त्रीशिक्षा-विषयक कल्पना ही मूलतः उनकी रुचि के विरुद्ध होनेसे इस विषय के सौम्य चित्र तक को देखकर उनका चित्त विकल हो जाता था।

अस्तु। पूना के सामाजिक लोकमतविषयक पक्षभेद पर से इस बात का पता अवश्य लग जायगा कि तिलक नये या पुराने किसी भी पक्ष में सम्मिलित नहीं किये जा सकते थे ! यही कारण था कि उन्हें नये और पुराने दोनों

ही दल शत्रुवत् मानते थे ! कभी २ वे दोनों पर आक्रमण करते और कभी उन्हें दोनों को प्रत्याक्रमण का सामना करना पड़ता था । दूधारी तलवार को हाथ में लेकर वे उसे अपने शरीर के चारों ओर घुमा सकते थे । सामाजिक क़ानून का विरोध करनेके कारण वामनराव मोड़क को तो यही प्रतीत हुआ कि 'तिलक की इतनी उदार शिक्षा एकदम ही व्यर्थ सिद्ध हुई'। इसके बाद कानून का पचड़ समाप्त हो जानेपर जब उन्होंने शत्रु की छावनी में घुसकर आक्रमण शुरू किये, तब वे रानड़े आदि पर टूट पड़े और सुधारकों की दृष्टि से उन्होंने सामाजिक पारिषद में भी बखेड़ा शुरू कर दिया। नागपुर में राष्ट्रीय महासभा के समय खापर्डे की अध्यक्षता में जो सामाजिक परिषद हुई वोही तिलक जिस सभा में उपस्थित हुए थे ऐसी दूसरी किंबहुना अंतिम सामाजिक परिषद थी । इस सभा में जाकर उन्हें यह दिखाना था कि 'जो लोग सामाजिक परिषद को राष्ट्रीय बतलाते है, उनके कथन में कुछभी तथ्यांश नहीं है। क्योंकि इस परिषद में जो लोग प्रतिनिधि बनकर आते हैं उनका स्वरूप यथार्थ में ही प्रतिनिधिक नहीं होता। इसी प्रकार सामाजिक परिषद के प्रस्तावों को भी कोई बन्धनकारक नहीं मानता, अतएव वे प्रायः निरुपयोगी ही कहे जा सकते हैं । इत्यादि २'। किंतु इसी के साथ २ इस परिषद में तिलक के उपस्थित रहने का आशय यह भी हो सकता है कि सामाजिक विषयों के क़ानून बनवाने विषयक सिद्धान्त को यह राष्ट्रीय नामधारी सामाजिक-परिषद स्वीकार न कर सके, या कम से कम उसके लिए प्रकट रूप में विरोध भाव ही इसके द्वारा दर्साया जाय । क्योंकि कई लोगों को विश्वास हो चला था कि "राष्ट्रीय महा सभा की पंक्ति उठ जाने पर इस महेमानी मजलिस का काम भी उसी मण्डप में हो जाता है इसी लिए आज तक किसी को उसके लिए विशेष-रूप से चिंता न करनी पड़ी । किंतु विगत दो वर्षों से जैसी घटनाएँ हो रही हैं, उनके कारण इन महेमानों का सच्चा-स्वरूप जनता और सरकार के लिए समझा देना अनिवार्य हो गया है"। फलतः इसी स्वरूप को समझा देनेके लिए तिलक ने उस वर्ष विशेषरूप से प्रयत्न किया । हमेशा की तरह परिषद के आरंभ में जब रा. ब. रानड़े ने अपने मित्रों को चुनकर विषयनिर्धारिणी समिति बना ली, तब तिलक ने उनके पास जाकर कुछ प्रश्न किये । किन्तु प्रथमतः उनका सरल उत्तर नहीं दिया गया । अंत में रानड़े ने लिखित प्रश्नों के उत्तर जबानी ही दिये । किन्तु उसी में मुद्दे की बात उन्होंने स्वीकार कर ली कि यह समिति यथानियम नहीं चुनी जा सकी है । इस प्रकार की घटनाओं से सुधारक लोग तिलक को अपने लिए व्याधिस्वरूप समझने लगे । इसी सभा में तिलक के मुँह से किसी एक बात के मिथ्या होने विषयक शब्द निकल जाने पर यह झगड़ा खड़ा हुआ कि

' ये शब्द वापस लेनेको उन्हें बाध्य किया जाय या नहीं ! इसपर जब तिलक ने यह कहा कि " मैं अपने शब्दों की सत्यता सिद्ध कर दिखा सकता हूं " तो उस सभा के अध्यक्ष खापर्डे ने उन्हें धमकी दी कि ' यदि आप ज़िद करेंगे तो मुझे लाचार होकर आपको यहां से चले जानेके लिए कहना पड़ेगा ! ' इसी वर्ष की राष्ट्रीय सभा के मौके पर कांग्रेस केम्प में झगड़ा खड़ा हुआ, तब लोग कहते है कि रा. ब. विष्णु मोरेश्वर भिडे के मुँहसे ये शब्दतक सुने गये कि " तिलक के स्वर्गवासी होने पर ही हमारा यह झगड़ा दूर हो सकता है "। मतलब यह कि तिलक और सुधारकों के बीच का मनमुटाव इस हदतक जा पहुँचा था। पूना के शुद्ध सनातन-धर्मी भी तिलक को अपने लिए व्याधिस्वरूप समझते थे। किन्तु तिलक को अपने पंजे में फँसाकर घर पछाड़ने या उनके मुँह पर से सनातनीपन का पर्दा हटाकर उन्हें भी सुधारकों की श्रेणि में बिठाते हुए अपनी धारणा के अनुसार उनका सच्चा स्वरूप दिखला देने के लिए आज तक उन्हें कोई सुअवसर प्राप्त न हो सका था। किन्तु दैवयोग से वह सुअवसर इस समय जब कि तिलक सनातन-धर्म का पक्ष लेकर सुधारकों का घोर विरोध कर रहे थे, अनायास ही प्राप्त हो गया। वह घटना थी पंच हौद मिशन की चाय और उससे उत्पन्न होनेवाली ग्रामण्य-प्रकरण। किन्तु इसी समय हमें इस बात का भी पता लग जाता है कि तिलक के हाथ की दुधारी तल्वार के वार कितने सफाईदार होते थे। सन १८९२ में जब कि तिलक एक ओर को मुड़कर रानडे पर शब्दप्रहार कर रहे थे, ठीक उसी समय दूसरी ओरसे बालासाहब को भी वे अंगारों पर खींच रहे थे, वह दृश्य फिर कभी देखने को न मिलेगा। अस्तु. अब इतनी प्रस्तावना के पश्चात् हम इस प्रसिद्ध ग्रामण्य प्रकरण का संक्षिप्त वर्णन देना उचित समझते है।

ग्रामण्य-प्रकरण का मूल-कारण पंच हौद मिशन में किया हुआ चायपान था। किंतु इसके लिए भी कारणीभूत व्यक्ति गोपालराव जोशी थे ! ये महाशय हिकमत के पुतले और पक्के नारदजी कहे जा सकते थे। यद्यपि ये पढ़े लिखे तो मामूली ही थे, किंतु सामाजिक प्रगति के विषय में सबसे आगे रहते थे। फिर भी किसी अंश में कुत्सित चित्तवृत्ति रहनेके कारण सोपपत्तिक चर्चा, विधायक सूचना आदि का यथानियम पालन न करते हुए इन्हें हरएक विषय में अपने समाज को बदनाम कर उसकी कुचेष्टा करते रहना बहुत पसंद था। इनका स्वभाव बड़ा ही विनोद प्रिय एवं संभाषण में जिव्हा-अस्थि-विहीन होनेके कारण, किसके विषय में ये कब और क्या कह डालेंगे, अथवा किस प्रकार लोगों की हँसी करा देंगे, इसका कोई नियम ही न था। कहने भरके लिए उन्होंने एक

ही दल शत्रुवत् मानते थे ! कभी २ वे दोनों पर आक्रमण करते और कभी उन्हें दोनों को प्रत्याक्रमण का सामना करना पड़ता था। दूधारी तलवार को हाथ में लेकर वे उसे अपने शरीर के चारों ओर घुमा सकते थे। सामाजिक क़ानून का विरोध करनेके कारण वामनराव मोदक को तो यही प्रतीत हुआ कि 'तिलक की इतनी उदार शिक्षा एकदम ही व्यर्थ सिद्ध हुई'। इसके बाद कानून का पचड़ समाप्त हो जानेपर जब उन्होंने शत्रु की छावनी में घुसकर आक्रमण शुरू किये, तब वे रानड़े आदि पर टूट पड़े और सुधारकों की दृष्टि से उन्होंने सामाजिक पारिषद में भी बखेड़ा शुरू कर दिया। नागपुर में राष्ट्रीय महासभा के समय खापर्डे की अध्यक्षता में जो सामाजिक परिषद हुई वोही तिलक जिस सभा में उपस्थित हुए थे ऐसी दूसरी किंबहुना अंतिम सामाजिक परिषद थी। इस सभा में जाकर उन्हें यह दिखाना था कि 'जो लोग सामाजिक परिषद को राष्ट्रीय बतलाते है, उनके कथन में कुछभी तथ्यांश नहीं है। क्योंकि इस परिषद में जो लोग प्रतिनिधि बनकर आते हैं उनका स्वरूप यथार्थ में ही प्रतिनिधिक नहीं होता। इसी प्रकार सामाजिक परिषद के प्रस्तावों को भी कोई बन्धनकारक नहीं मानता, अतएव वे प्राय: निरुपयोगी ही कहे जा सकते हैं। इत्यादि २'। किंतु इसी के साथ २ इस परिषद में तिलक के उपस्थित रहने का आशय यह भी हो सकता है कि सामाजिक विषयों के क़ानून बनवाने विषयक सिद्धान्त को यह राष्ट्रीय नामधारी सामाजिक-परिषद स्वीकार न कर सके, या कम से कम उसके लिए प्रकट रूप में विरोध भाव ही इसके द्वारा दर्सादिया जाय। क्योंकि कई लोगों को विश्वास हो चला था कि "राष्ट्रिय महा सभा की पंक्ति उठ जाने पर इस महेमानी मजलिस का काम भी उसी मण्डप में हो जाता है इसी लिए आज तक किसी को उसके लिए विशेष-रूप से चिंता न करनी पड़ी। किंतु विगत दो वर्षों से जैसी घटनाएँ हो रही हैं, उनके कारण इन महेमानों का सच्चा-स्वरूप जनता और सरकार के लिए समझा देना अनिवार्य हो गया है"। फलतः इसी स्वरूप को समझा देनेके लिए तिलक ने उस वर्ष विशेषरूप से प्रयत्न किया। हमेशा की तरह परिषद के आरंभ में जब रा. ब. रानड़े ने अपने मित्रों को चुनकर विषयनिर्धारिणी समिति बना ली, तब तिलक ने उनके पास जाकर कुछ प्रश्न किये। किन्तु प्रथमतः उनका सरल उत्तर नहीं दिया गया। अंत में रानड़े ने लिखित प्रश्नों के उत्तर जबानी ही दिये। किन्तु उसी में मुद्दे की बात उन्होंने स्वीकार कर ली कि यह समिति यथानियम नहीं चुनी जा सकी है। इस प्रकार की घटनाओं से सुधारक लोग तिलक को अपने लिए व्याधिस्वरूप समझने लगे। इसी सभा में तिलक के मुँह से किसी एक बात के मिथ्या होने विषयक शब्द निकल जाने पर यह झगड़ा खड़ा हुआ कि

' ये शब्द वापस लेनेको उन्हें बाध्य किया जाय या नहीं ! इसपर जब तिलक ने यह कहा कि " मैं अपने शब्दों की सत्यता सिद्ध कर दिखा सकता हूं " तो उस सभा के अध्यक्ष लापर्डे ने उन्हें धमकी दी कि ' यदि आप ज़िद करेंगे तो मुझे लाचार होकर आपको यहां से चले जानेके लिए कहना पड़ेगा ! ' इसी वर्ष की राष्ट्रीय सभा के मौके पर कांग्रेस केम्प में झगड़ा खड़ा हुआ, तब लोग कहते है कि रा. ब. विष्णु मोरेश्वर भिड़े के मुँहसे ये शब्दतक सुने गये कि " तिलक के स्वर्गवासी होने पर ही हमारा यह झगड़ा दूर हो सकता है " । मतलब यह कि तिलक और सुधारकों के बीच का मनमुटाव इस हदतक जा पहुँचा था। पूना के शुद्ध सनातन-धर्मी भी तिलक को अपने लिए व्याधिस्वरूप समझते थे। किन्तु तिलक को अपने पंजे में फँसाकर घर पछाड़ने या उनके मुँह पर से सनातनीपन का पर्दा हटाकर उन्हें भी सुधारकों की श्रेणि में बिठाते हुए अपनी धारणा के अनुसार उनका सच्चा स्वरूप दिखला देने के लिए आज तक उन्हें कोई सुअवसर प्राप्त न हो सका था। किन्तु दैवयोग से यह सुअवसर इस समय जब कि तिलक सनातन-धर्म का पक्ष लेकर सुधारकों का घोर विरोध कर रहे थे, अनायास ही प्राप्त हो गया । वह घटना थी पंच हौद मिशन की चाय और उससे उत्पन्न होनेवाली ग्रामण्य-प्रकरण। किन्तु इसी समय हमें इस बात का भी पता लग जाता है कि तिलक के हाथ की दुधारी तलवार के वार कितने सफाईदार होते थे। सन १८९२ में जब कि तिलक एक ओर को मुड़कर रानडे पर शब्दप्रहार कर रहे थे, ठीक उसी समय दूसरी ओरसे बालासाहब को भी वे अंगारों पर खींच रहे थे, यह दृश्य फिर कभी देखने को न मिलेगा। अस्तु. अब इतनी प्रस्तावना के पश्चात् हम इस प्रसिद्ध ग्रामण्य प्रकरण का संक्षिप्त वर्णन देना उचित समझते हैं।

ग्रामण्य-प्रकरण का मूल-कारण पंच हौद मिशन में किया हुआ चायपान था। किंतु इसके लिए भी कारणीभूत व्यक्ति गोपालराव जोशी थे। ये महाशय हिकमत के पुतले और पक्के नारदजी कहे जा सकते थे। यद्यपि ये पढ़े लिखे तो मामूली ही थे, किंतु सामाजिक प्रगति के विषय में सबसे आगे रहते थे। फिर भी किसी अंश में कुत्सित चित्तवृत्ति रहनेके कारण सोपपत्तिक चर्चा, विधायक सूचना आदि का यथानियम पालन न करते हुए इन्हें हरएक विषय में अपने समाज को बदनाम कर उसकी कुचेष्टा करते रहना बहुत पसंद था। इनका स्वभाव यदा ही विनोद प्रिय एवं संभाषण में जिव्हा-अवधि-विहीन होनेके कारण, किसके विषय में ये कब और क्या कह डालेंगे, अथवा किस प्रकार लोगों की हँसी करा देंगे, इसका कोई नियम ही न था। कहने भरके लिए उन्होंने एक

ऐसा विधायक कार्य अवश्य कर दिखाया था, जिसमें कि उनके साहस की प्रशंसा किये विना नहीं रहा जा सकता, और उसी एक बात के कारण कई लोगों को प्रतीत होता था कि इनके सब अपराध क्षमा किये जा सकते हैं। वह कार्य था अपनी स्त्री को बहुत ही छोटी अवस्था कों और असहाय स्थिति में केवल समाज को अपने धैर्य्य का आदर्श दिखानेके लिए डॉक्टरी की शिक्षा पानेके लिए अमेरिका भेज देना। सौभाग्य से उन्हें इस कार्य के लिए स्त्री भी उतनी ही साहसी मिली थी, और उसने ऐसी दशा में ही अमेरिका जाकर तथा वहा कई तरह के कष्ट उठाते हुए भी अच्छी दशा में रहकर डाक्टरी की एम. डी. पदवी प्राप्त की। दुःख केवल इसी बात का रहा कि जनता के लिए उस विद्या का उपयोग कर दिखानेको वह अधिक दिन जीवित न रह सकी। इस तरह जो भी उसकी विद्या का उपयोग भले ही न हुआ हो, किन्तु फिर भी उसने जो साहसपूर्ण आदर्श खड़ा कर दिया है; वह सदैव अनुकरणीय रहेगा। इसी एक काम की वजह से गोपालराव जोशी का नाम विख्यात हो गया, और ऐसा होना उचित ही था। किन्तु हरएक विषय में बहक जानेकी वृत्ति रहनेके कारण जोशीजी ने हिन्दु-धर्म का उपहास करनेके विषय में कृतिरूप जो साहस दिखलाया, उसमें उन्हींको धोखा उठाना पड़ा। वे समझते थे कि धर्म एक मज़ाक का विषय है, हरकए व्यक्ति जब जी चाहे और जिसके लिए जी चाहे उसी धर्म को ग्रहण कर सकती है। धर्मान्तर का विधान भी केवल विनोद की ही सामग्री कहा जा सकता है। क्योंकि धर्म्मान्तरित एवं धर्मस्थिर मनुष्य में कुछ भी अन्तर नहीं हैं, ये तथा इसी प्रकार के कुछ सिद्धान्तों को सिद्ध कर दिखाने के झगड़े में पड़कर उन्होंने पूना के (मुला-मुठा नदियों के) संगमपर दस-बीस मनुष्यों के सामने बप्तिस्मा लिया, और इसके बाद उसे निःसार बतलाते हुए कपालपर चन्दन लगाकर वे पादरियों की धूल उड़ाने का भी प्रयत्न करने लगे। इस घटना से वे न तो ईसाई ही कहे जा सकते थे और न हिन्दू ही। कुचेष्टावृत्ति में जिस मनुष्य का साहस यहांतक बढ़ा हुआ हो वह दूसरों की पर्वाह क्यों करने लगा? सनातन धर्माभिमानी पुरातन पक्ष का मज़ाक तो गोपालराव बराबर करते ही रहते थे, किन्तु सुशिक्षितोंपर भीरुता का आरोप करके वे इन शब्दों में कि ऐसे लोगों में सच्चा सुधारक का ढंग ही नहीं है, और इनकी सारी उदार शिक्षा व्यर्थ चली गई उनकी हँसी भी करते थे!

इन्ही लहरी महाशय के दिमाग में सन १८९१ के अक्टूबर में यह कल्पना उत्पन्न हुई कि इन भोंदू और डरपोक सुशिक्षितों को छकाकर अच्छीतरह इनकी पुजीहत की जाय। इस कल्पना को उन्होंने बड़ी ही बुद्धिमत्तासे सिद्ध कर

दिखाया। क्योंकि मिशनरी लोगों के यहां जोशीजी प्रायः आतेजाते रहते थे अतएव उसी सिलसिले में इन्होंने पूना के वेताल पेठवाले पांच-हौद-मिशनस्कूल में वहांके हेड मास्तर रे० रोबिंगटन तथा वहीं की एक सिस्टरकी ओरसे पूना के सौ पचास सुशिक्षित व्यक्तियों को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया। तदनुसार लगभग पचास व्यक्ति वहां उपस्थित भी हुए। क्योंकि शहर के प्रधान व्यक्तियों में से किसीका भी नामनिमंत्रण से छूट न पाया था। इसी प्रकार विशेष असुविधा के कारण जो लोग न जा सके, उनमें भी ख्यातनामा व्यक्ति इनेगिने ही थे। समाज-सुधार का विवाद पूनामें जोरोंपर रहते हुए भी एक ओरसे रा. ब. रानडे तथा दूसरी ओरसे तिलक जैसे व्यक्ति उस निमंत्रण को पाकर वहां चले गये। तबतक किसीको शंका न हुई कि वहां कुछ गड़बड़ होनेकी है। जान पड़ता है कि गोपालराव की गुप्त कल्पना का किसीको पता न लग सका। किन्तु फिर भी इस षड्यंत्र के दो एक गवाहों का पता पीछे जाकर लग ही गया। अस्तु। इस प्रसंगपर पुरातन मताभिमानियों को जानबूझकर ही निमंत्रण नहीं दिया गया था, क्योंकि उनके आनेकी ही आशा न थी! फलतः इस अनुभव-जन्य विश्वासपर कि पूनाके सुशिक्षित लोग व्याख्यान के बड़े रसिक हैं। अतएव यदि मिशन हाउस में भी उन्हें बुलाया गया तो वे आनेमें संकोच न करेंगे-गोपालरावने जो वार किया, उससे बहुत ही कम लोग बच सके।

पांच-हौद-मिशन में व्याख्यान तो जो कुछ कि हुए मामूली ही थे, किन्तु कदाचित् इस कमी को पूरा करनेके लिए ही बाद में टेबल पर चाय और बिस्कुट लाकर रख दिये गये। इस प्रबंध में भी गोपालराव का हाथ था ही, यह हम नहीं कह सकते कि उन्होंने इस षड्यंत्र में मिशनरी साहबों को भी शामिल किया था या नहीं, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि चाय पिलाने की कल्पना तात्कालिक न थी, बल्कि यह संकल्प भलमनसाहत से ही क्यों न किया गया हो किंतु निश्चित पहले से ही हो चुका होगा। अस्तु। प्रत्येक व्यक्ति के सामने चाय और बिस्कुट रख दिये गये। यद्यपि उनका उपयोग करनेको सभी लोग तैयार न थे, किन्तु इसीके साथ २ यह कहनेका साहस भी किसीको न हुआ कि ये वस्तुएँ हमारे सामने रखी ही न जावें। क्योंकि यदि इसाइयों के हाथ की बनी हुई चाय पी लेते हैं तो लोकापवाद का भय सामने आता है, और यदि चाय के प्याले अपने सामने रखनेसे भी मना करते हैं तो इसमें ईसाइयों द्वारा हँसी होनेकी संभावना रहती है। इस तरह वे सब चक्कर में पड़े हुए थे! साथ ही क्योंकि अंग्रेजों में खाद्य पदार्थ सामने रख देनेके सिवाय हमारी तरह किसी प्रकार का आग्रह करनेकी प्रथा नहीं है, अतएव कई लोगों ने सोचा कि इस तरह भी

हम हाँ-हूं करके बच सकेंगे, इत्यादि। हो, तो जबतक इधर उधर की बातें हो ही रही थी कि कुछ लोगों ने चाय की प्यालियों को पेट में पहुँचा दिया, कितने घूंटभर पिकर ही इसके लिए सम्मान प्रकट कर दिखाया और कितने ही केवल उस प्याले को स्पर्श मात्र करके अलग रख दिया, साथ ही इसके कई लोग यह भी सोचने लगे कि यदि इन्हे कोई हमारे सामने से उठा ले तो अच्छा हो। किन्तु इस बातका किसीको पता भी न था कि हमारे सामने रखे हुए इन (चाय के) प्यालोंमे से ही ज़रा देर में संकट के बादल उत्पन्न हो जायँगे। पर आश्चर्य की बात यह हुई कि चाय का पानी अंततक भरा रहनेपर भी इन चषक-समुद्रों में बादल उत्पन्न न हुए और जो प्याले खाली हो गये थे उन्ही में से बादल उठने लगे! जिस प्रकार (ग्रीक पुराण के लेखानुसार) ऑलिम्पस पर्वत पर बैठकर देवता बादल उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार गोपालराव जोशी भी संभवतः चुपचाप उन चाय पीनेवालों की ओर देखकर मनही मन कह रहे हों थे कि "सम्हालो लोगो, बादल उठ रहा है!"

किन्तु इतने मनुष्यों को मिशन हाउस में लेजाकर चाय पिला देनेमें ही उतनी खूबी न थी, जितनी कि चाय के प्यालेका हो-हल्ला मचा देनेमें; इसी लिये जोशीजी ने तत्काल पूना-वैभव के सम्पादक को मिशन हॉउस में जाने और न जानेवाले सबके नाम बतलाकर उन्हें पत्रमें छपवा दिया। गोपालराव का काम पूरा हो गया। अब तो नारद-मूर्ती गरीब गाय की तरह मुँह बनाकर इस प्रतीक्षा में एक ओर को खड़ी हो गई कि देखे ये बालासाहब नातू, रा. ब. रानड़े और बाल गंगाधर तिलक जैसे बड़े २ दिग्गज किस तरह अपनी बाजू सम्हालते हैं!

भरे हुए पेट में जिस प्रकार एक-आध विषयुक्त कण पहुँच जानेपर तत्काल ही सब खायापिया निकल जाता है, लगभग उसी प्रकार की दशा 'पूना-वैभव के इस अंक ने सारे पूना शहर की कर दी। यदि गोपालराव के इस षड्यंत्र का जरा भी पता लगता तो तिलक कभी मिशन-हाउस को न जाते! यही नहीं बरन् प्रत्येक प्रयत्न से वे अपने मित्रोंतक को वहां जानेसे रोकते। किन्तु दैव-गति इस समय गोपालराव के साथ थी। क्योंकि यदि तिलक की सावधानता इस समय चाय के प्याले में न डूब जाती तो इस प्रसंग पर इतनी रंगत ही कहांसे आती? किंतु इस बात का अनुमान कर सकना कुछ कठिनसा है कि यदि केवल रानड़े आदि सुधारक ही वहां जाते तो तिलक ने इस विषय में किस पक्ष का समर्थन किया होता। संभव था कि इस तरह वे रानड़े का तमाशा अच्छी तरह देख सकते। किन्तु वे तो खुद ही इस चाय की बाढ़ में बह चले थे, अतएव अपने लिए तो उन्हें तैरकर किनारे लगना ही था, साथ ही अब

रानडे को भी अपनी पीठपर बिठलाकर उनके लिए दो-चार हाथ अधिक जोर के साथ फेरना आवश्यक हो गया। अंग्रेजी में एक कहावत है कि "यात्रा में कौन किसकी पंक्ति में आजायगा, इसका कोई नियम नहीं रहता।" (का जाने के ही कालमें नदी-नाव संयोग। तुलसी) फलतः सुधार विषयक विवाद में पक्के शत्रु की तरह तू-मैंमैं करके झगड़नेवाले तिलक और रानडे संयुक्त प्रतिवादी बनकर जिसके प्रयत्न से एक साथ हो गये, उस गोपालराव जोशी की जितनी भी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी ही होगी।

मिशन-हाउस में चाय पीनेवालों के नाम प्रकाशित हो जानेका परिणाम यह हुआ कि सनातन धर्माभिमानी पक्ष के लिए इन उपद्रवकारियों की उपेक्षा करना अशक्य हो गया। अब तो नातू आदि के सन्मुख यह समस्या आ खड़ी हुई कि "यदि कुछ दम रखते हो तो (उसे) दिखाओ, यह देखो धर्म-विरुद्ध होनेवाले उपद्रव का विज्ञापन "पूना-वैभव" की चावड़ी पर लगा दिया गया है!" संभव है कि उन्हें यह अनिवार्य आपत्ति जान पड़ती हो। किन्तु गोपालराव जोशी की दोनों तरफ से जीत थी। यदि बालासाहब चुप बैठते हैं तो गोपालराव कहेंगे कि "अब धर्म-शास्त्र के पुथंगों को चूल्हे में झोंक कर उससे जो घड़ीभर पानी गर्म हो, उसीसे कमसे कम स्नान तो कर लो!" और यदि शंकराचार्य इस मामले में बीच में पड़े तो गोपालराव को यह कहने का मौका मिल जायगा कि "इनके अधिकारों में कितना सार है, यह प्रकट ही रहा है"। किन्तु यदि चाय पीनेवालों ने ही हठ करके बाज़ी जीत ली तो, गोपालराव यों कहने लग जायँगे कि "अजी ऐसा तो एक बार होना ही चाहिये था"। और जो कहीं चाय पीनेवाले साहस छोड़कर शंकराचार्य की शरणागत हो गये तो जोशीजी के लिए यह उत्तर तैयार ही था कि "इन नादान लोगों का पाखंड एक बार मुझे सर्वसाधारण लोगों के सामने प्रकट करना ही था कि, ये देखिये ऐसे हमारे समाज के सुशिक्षित सुधारक हैं।

धर्माभिमान एवं सरदारी के ही साथ २ स्वभाव में कट्टरता होनेके कारण धर्माभिमानी पक्ष का नेतृत्व बालासाहब नातू को प्राप्त हो रहा था। अतएव उन्होंने शंकराचार्य के पास जाकर न्याय-याचना करनेका निश्चय किया। इधर वैभव के संपादक पर पूना की अदालत में चाय न पीनेवालों के झूंठे नाम छाप देनेके कारण मान-हानि का अभियोग चला और उसपर दोसौ रुपये जुर्माना हो गया। किन्तु जिन लोगोंने सचमुच ही चाय पी थी, उनका उद्धार तो बिना शंकराचार्य के हो ही कैसे सकता था? इसी लिए जगद्गुरू की ओर से प्रतिवादियों को नोटिस दिये जाकर मामला शुरू किया गया। क्योंकि ऐसे

सकने जैसी भी, किंतु इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण देने ही में उन्होंने बहुत सा समय नष्ट कर दिया । यहां तक कि अंत में रे. रोबिंगटन की साक्षी कराने तक का मौका आ गया ।

क्यों कि जब यह कमिशन न्यायकार्य में लगा हुआ था, तो ऐसी दशा में उसपर आलोचना या आक्षेप करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता । किन्तु यह अदालत तो ऐसी थी कि इसका अदब कोई भी नहीं रखता, और बेअदबी हरएक कर सकता था । इसी कारण कमिशन का काम शुरू रहते हुए भी वादी-प्रतिवादी के झगड़े और उनपर लोगों की आलोचना पूना के समाचार पत्रों में ज़ोर-शोर के साथ निकल रही थी ।

मूल फरियादी बारह थे । और उन में कुछ भट्ट भिक्षुक भी थे । अतः इनमे से सात व्यक्तियों ने अर्ज़ी देनेके बाद यह कह कर पीछा छुड़ा लिया कि हमें अभियोग को यथानियम चलवाने की इच्छा नहीं है, क्योंकि हमने केवल सुनी हुई बातें श्रीमान की सेवा में निवेदन कर दी हैं । अतएव श्रीमान अपने साम्प्रदाय के नियमानुसार इस बात की चौकसी करके उचित निर्णय प्रकट कर दें । इस विज्ञप्ति से उन सातों वादियों पर जवाबदारी नहीं रहती । अस्तु । उन सातों वादियों के नाम गोविंदराव गद्रे वकील, नरसोपंत और गणपतराव साठे हुंडीवाले, नारायण भीकाजी जोगलेकर, वामन नाइक केलकर, लक्ष्मणराव ओक, और नानासाहब फड़तरे थे । किन्तु दूसर पांच वादी अधिक लढवय्ये थे । क्योंकि पहले सात व्यक्तियों को धर्मशास्त्र का ज्ञान न था, अतएव किसी प्रकार की हुज्जत करने को भी वे तैयार न थे । किन्तु अन्य पांच अर्थात् बालासाहब नातू, सरदार दमेढेरे, विष्णुपंत और वामनराव रानडे, तथा नारायणराव पटवर्धन ने अभियोगपद्धति से ही काम चलाने की ज़िद पकड़ ली । अर्थात् प्रमाण देने एवं शास्त्रार्थ करनेकी जवाबदारी उन्होंने अपने सिरपर लेली । इससे अकारण ही कमिशन का दाम बढ़ गया । क्यों कि इन लोगों का मूल उद्देशही यह था कि प्रतिवादियोंने जानबूझकर जातिबन्धन तोड़नेही के इरादे चाय पी थी, अतएव उनके लिए प्रायश्चित्त नहीं हो सकता अतएव वे बहिष्कार (जाति-च्युत) की अग्नि में अपने परिवारसहित आजन्म पचते रहें ! पाठक, देखा आपने, कैसी जबरदस्त महत्वाकांक्षा है ! सारासार विचार की दृष्टि से जो आरोपी कमिशन के सामने ही नहीं आये, वे क्यों कि ब्राह्मण जाति को झिड़कनेवाले ही थे, अतएव उनका ये वादी कुछ भी नहीं कर सकते थे । किन्तु अनेक अपराधी कमिशन के सामने हाजिर हो गये थे, अतएव इतनेपर हि संतुष्ट हो कर कि उन्होंने जाति का अधिकार स्वीकार किया है, उन्हें सामान्य प्रायश्चित्त बतला-

विषयों का निर्णय जगद्गुरू प्रायः उसी स्थान के किसी सच्छिष्य को पंच बनाकर करा देते थे। किन्तु यहां तो आधा नगर वादी और आधा प्रतिवादी था, अतएव जगद्गुरू ने यह सोचा कि दो-चार बाहर के लोगों को भेजकर ही इसका निर्णय कराना उचित होगा। फलतः व्यंकटशास्त्री निपानीकर और न्यायगुरु बिन्दु माधवशास्त्री धर्माधिकारी मुहर सिके का पर्वाना देकर पूना भेजे गये। इस तरह इस धार्मिक-अभियोग का माघ कृ० २ से कार्यारंभ हुआ।

जनवरी सन १८९२ के अंत में ग्रामरण्य कमिशन का काम पूने में ज़ोर-शोर से शुरू हो गया। पुनर्विवाह की समस्या के बाद इस प्रकार की सभा का दुबारा आयोजन इसी समय हुआ था। किन्तु ब्राह्मणेतर लोग भला क्यों कर ऐसे विषयों की ओर ध्यान देने लगे? फिर भी जातिविषयक कार्य होने से कमिशन के लिए ब्राह्मणों के सिवाय अन्य किसीको आने देने की स्वतंत्रता नहीं रक्खी गई थी। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की ओर से नाना प्रकार का वाद-विवाद होने लगा। कभी २ मामले में बिगाड़ भी उत्पन्न हो जाता था। असल में जिन लोगोंको कमिशनका न्याय स्वीकार था, वे यदि सरलता से सब बातें प्रकट कर देते तो सारा काम दो दिन में ही समाप्त हो सकता था। किन्तु जब हम देखते हैं कि सख़्ती का अधिकार रखनेवाली सरकारी अदालतों के मुकद्दमें भी बर्सोंतक फैसल नहीं हो पाते, तो फिर इसके विषय में अधिक कहा ही क्या जा सकता है! अस्तु। उन बयालीस अभियुक्तों में से कितने ही ने तो यह कहकर कमिशन को दुत्कार दिया कि हम इसे जानते ही नहीं! कितने ही लोग जो मौजूद थे उन्होनें इस बात का निर्णय अपने हाथ में रक्खा कि कामिशन का फैसला माना जाय या नहीं। इसी प्रकार कितने ही अभियुक्त केवल कामिशन का तमाशा देखने के लिए और कई-एक उस की हँसी उड़ाने के लिए ही वहां गये हुए थे। किन्तु कामिशन के विषय में श्रद्धा या अपने पर लगे हुए आरोप के विषय में सच्चा पश्चात्ताप किसी को भी नहीं हुआ। क्यों कि जिसे इस प्रकार पश्चात्ताप हो सकता था, वह धर्मात्मा मिशनारियों के बँगले पर चाय पीने ही क्यों लगा? हम तो यहां तक कह सकते है कि ऐसी जगह वह जाता भी नहीं।

ग्रामण्य प्रकरण के वादियों ने इसी बात मे महत्ता समझी कि जगद्गुरू ने कमिशन भेजा और आरोपियों ने उसका अधिकार मान्य कर लिया। इसी लिए उन्होंने इस प्रकरण को अच्छी तरह बढ़ाया और खूब रंगत पर चढ़ाया। मिशन-हाउस में चायपार्टी होने और प्रतिवादियों में से कई एक के उस में उपस्थित रहने की बात उन (प्रतिवादी) लोगों के उत्तर पर से ही सिद्ध हो

का ही उत्तर दिया। किन्तु इन्हीं लोगोंने इससे पूर्व धर्मशास्त्र की पारंगतता का पाखंड रचकर उन ४२ में से जो भीरु या गरीब व्यक्ति इनके चंगुल में फँस गये, उनसे या उनके साथ संसर्ग रखनेवालों से प्रायश्चित्त के लिए मूँछें मुंडवाने, दान दिलवाने और किसी से दो तो किसीसे चार कृच्छ्र करवाने-का काम जोर-शोर से शुरू कर रक्खा था। इस तरह यह कार्य गड़बड़ में पड़ गया। इधर जब तिलक दंड ठोक कर धर्मग्रंथों की पुटरी सिरपर रखे कमिशन के सामने शास्त्र-आधार का विवाद करनेको खड़े हुए, तब भी वे वादी चुप ही रहे। नगर में प्रमाण-विषयक गड़बड़ मचानेके लिए चतुःशास्त्रीय महा-वृंदों की सभा हुई। किन्तु उसमे भी समय अधिक हो जानेसे चार शाखा के तो, नहीं, पर एकही शाखा की २९-३० मूर्तियां अवश्य इकट्ठी हो सकीं। क्यों कि इस सभा का उद्देश्य कमिशन के सामने पहुँचा हुआ सुबूत पढ़ सुनाना मात्र ही था, किंतु ग्रहण कर सकते योग्य प्रमाण कुछ भी निश्चित न हो सका। अतएव यह विचार भी रहित कर दिया गया। क्यों कि किसी तिसरे व्यक्ति का यह कहना कि अमुक प्रमाण ग्राह्य है और अमुक अग्राह्य-एकमात्र उद्दटता ही माना जा सकता है। किंतु उन लोगों ने शिष्टाचार की इस मर्यादा से भी आगे बढ़कर कमिशन के विषय में अविश्वास प्रकट करते हुए यह चर्चा शुरू की कि कमिश्नर शास्त्री भले ही कुछ निर्णय करें, पर अंतमें नगर की जातिगंगा जिसे पुनीत माने भी वही शुद्ध समझा जायगा! इसी तरह उन्होंने यह निर्णय भी किया कि जगद्गुरू के पास एक देपु-टेशन भेजकर यह प्रार्थना की जाय कि वे 'हमारे कथनानुसार व्यवस्था दे'। वादी का प्रधान वक्तव्य चाय पीनेपर प्रायश्चित्त कुछ न हो सकनेके विषयमें यह था कि जब हमारे पूर्वज दूसरों के हाथ की चाय कभी पीते ही न थे तो फिर, धर्मग्रंथों में इस प्रकारके अपूर्व अपराध के लिए प्रायश्चित्त कहांसे मिल सकता है? इसपर प्रतिवादी यह उत्तर देते थे कि, शास्त्र में जिसके लिए प्रायश्चित्त नहीं बतलाया गया, यह अपराध भी नहीं माना जा सकता। और यदि यह कहा जाय कि पूर्वजोंसे अज्ञात पदार्थों का सेवन करना ही अपराध माना जाता है तो आलू खाना भी अपराध गिना जायगा। क्यों कि हमारे पूर्वजों को आलू का नाम तक ज्ञान न था। यह वस्तु अमेरिका से यहां आई है। इसी प्रकार विरुद्ध पक्ष में यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक एक पदार्थ से हमारे पूर्वज अपरिचित थे, अतएव वह कितनाही बुरा हो तो भी उनके खानेमें कोई बुराई नहीं हो सकती। और न उसके लिए कोई प्रायश्चित्त ही बतलाया जा सकता है। क्या हिन्दू शास्त्रकारों को जिन पशुपक्षियों के नाम ज्ञात नहीं थे उनका हम उपयोग कर सकते हैं? मतलब यह के अज्ञान पदार्थ का भी सादृश्यता के अनुसार

कर (उनपर से) वादियों ने यदि अभियोग उठा लिया होता तो उनका भी मतलब सिद्ध हो कर थोड़ेही में सारा काम बन जाता। किन्तु कमिशन को विचार में डाल देनेवाले प्रतिवादियों में तिलक और रानड़े जैसे व्यक्ति होनेके कारण उनके सामने ब्राह्मणों का वश ही क्या चल सकता था! किन्तु बाला-साहब नातू प्रधान वादी होनेके साथ ही हठ धर्मियों जब मूर्धाभिषिक्त राजा बन बैठे थे! वे खुद जोभि धर्मशास्त्र का ज्ञान नहीं रखते थे, किन्तु फिर भी खास पूना बाहर के दो चार शास्त्रियों को खीसे में उतारने की उनकी हैसियत और महत्वाकांक्षा थी। और क्योंकि कई दिनों से इस धर्माचरण विषयक समस्या का गलगण्ड सूज रहा था, अतएव उन्होंने स्वभावतः यह हठ धारण कर लिया कि, यह जितना भी अधिक फूल सके और फूटनेपर वह सके उतना ही अच्छा है।

इसी बात को लक्ष्य करके तिलक लिखते हैं कि सरदार नातू को ये दो क़िले सर करनेकी इच्छा है कि प्रतिवादी लोग जातिबंधन तोड़ने ही के लिए वहां गये थे, और चाय पीनेवाले के लिये धर्मग्रंथों में कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। किन्तु कलि-कालके-प्रभाव से पूर्वकालीन राज्यों में उन्हें जहांतक सफलता मिल सकती थी, वह अब उन्हें न मिल सकी। क्यों कि इन किलोंको फतह करनेके लिए उन्होंने जिन थैलों को बारूद का समझ कर रख छोड़ा था, वे सब बाजरे के निकल गये, अतएव वादियों को एकदम चुप हो जाना पड़ा! क्यों कि उन्हें इस बात के सिद्ध कर सकने का कोई प्रमाण ही नहीं मिला कि ४२ व्यक्ति केवल जातिबन्धन को तोड़ने ही के लिए मिशन हाउस में चाय पीने गये थे, वे लोग इधरउधर के पत्रों में छपे हुए उद्धरण दिखाने लगे। इधर रेविंहगटन साहब ने भी बयान देने से इनकार कर दिया। इससे पहले वे इन्हीं लोगों में से किसी एक के मानहानिविषयक मामले में जब तलब किये गये, तब भी उन्होंने साफ कह दिया था कि ये लोग हमारे यहां जाति-बन्धन तोड़नेके लिए चाय पीने नहीं आये थे। गोपालराव जोशी भी इसी विषय के एक ख़ास गवाह थे, किन्तु उन्हें बयान देनेके लिए बुलवाने का साहस वादियों में न था। इसी प्रकार जब उनसे पूछा जाता कि समाचारपत्र प्रतिवादी के विरुद्ध प्रमाण देनेके लिए कैसे ग्राह्य माने जा सकते है? तब वे अपनी अर्ज़ी की ओर इशारा करके कहने लगते कि 'जो कुछ है सो उसमें साफ तौर से लिख दिया गया है'। रहा दूसरा मुद्दा प्रायश्चित्त न दिया जा सकने का, सो इस विषय में कमिशन ने जब वादियों को शास्त्र का आधार दिखानेको कहा, तब भी इन लोगों ने अर्ज़ी देखने

का ही उत्तर दिया। किन्तु इन्हीं लोगोंने इससे पूर्व धर्मशास्त्र की पारंगतता का पाखंड रचकर उन ४२ में से जो भीरु या गरीब व्यक्ति इनके चंगुल में फँस गये, उनसे या उनके साथ संसर्ग रखनेवालों से प्रायश्चित्त के लिए मूँछे मुंड़वाने, दान दिलवाने और किसी से दो तो किसीसे चार कृच्छ्र करवाने-का काम जोर-शोर से शुरू कर रक्खा था। इस तरह यह कार्य गड़बड़ में पड़ गया। इधर जब तिलक दंड ठोक कर धर्मग्रंथों की पुठरी सिरपर रखे कमिशन के सामने शास्त्र-श्राधार का विवाद करनेको खड़े हुए, तब भी ये वादी चुप ही रहे। नगर में प्रमाण-विषयक गड़बड़ मचानेके लिए चतुःशास्त्रीय ब्रह्म-वृंदों की सभा हुई। किन्तु उसमें भी समय अधिक हो जानेसे चार शाखा के तो नहीं, पर एकही शाखा की २५-३० मूर्तियां अवश्य इकट्ठी हो सकीं। क्यों कि इस सभा का उद्देश्य कमिशन के सामने पहुँचा हुआ सुवृत पद सुनाना मात्र ही था, किंतु ग्रहण कर सकते योग्य प्रमाण कुछ भी निश्चित न हो सका। अतएव यह विचार भी रहित कर दिया गया। क्यों कि किसी तिसरे व्यक्ति का यह कहना कि अमुक प्रमाण ग्राह्य है और अमुक अग्राह्य-एकमात्र उद्दंडता ही माना जा सकता है। किंतु उन लोगों ने शिष्टाचार की इस मर्यादा से भी आगे बढ़कर कमिशन के विषय में अविश्वास प्रकट करते हुए यह चर्चा शुरू की कि कमिश्नर शास्त्री भले ही कुछ निर्णय करें, पर अंतमें नगर की जातिगंगा जिसे पुनीत माने भी वही शुद्ध समझा जायगा! इसी तरह उन्होंने यह निर्णय भी किया कि जगद्गुरू के पास एक डेपु-टेशन भेजकर यह प्रार्थना की जाय कि वे 'हमारे कथनानुसार व्यवस्था दें'। वादी का प्रधान वक्तव्य चाय पीनेपर प्रायश्चित्त कुछ न हो सकनेके विषयमें यह था कि जब हमारे पूर्वज दूसरों के हाथ की चाय कभी पीते ही न थे तो फिर धर्मग्रंथों में इस प्रकारके अपूर्व अपराध के लिए प्रायश्चित्त कहांसे मिल सकता है? इसपर प्रतिवादी यह उत्तर देते थे कि, शास्त्र में जिसके लिए प्रायश्चित्त नहीं बतलाया गया, वह अपराध भी नहीं माना जा सकता। और यदि यह कहा जाय कि पूर्वजोंसे अज्ञात पदार्थों का सेवन करना ही अपराध माना जाता है तो आलू खाना भी अपराध गिना जायगा। क्यों कि हमारे पूर्वजों को आलू का नाम तक ज्ञान न था। यह वस्तु अमेरिका से यहां आई है। इसी प्रकार विरुद्ध पक्ष में यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक एक पदार्थ से हमारे पूर्वज अपरिचित थे, अतएव वह कितनाही बुरा हो तो भी उनके खानेमें कोई बुराई नहीं हो सकती। और न उसके लिए कोई प्रायश्चित्त ही बतलाया जा सकता है। क्या हिन्दू शास्त्रकारों को जिन पशुपक्षियों के नाम ज्ञात नहीं थे उनका हम उपयोग कर सकते हैं? मतलब यह के अज्ञात पदार्थ का भी सादृश्यता के अनुसार

विचार करना पड़ता है। अतएव यदि ब्राह्मणेतर के हाथ की बनी हुई चाय पी लेनेसे जातिच्युत किया जानेकी बात मान ली जाय तो बरफ खाने और सोड़ा-वाटर पीनेवाले एवं प्याज़के खानेवाले भी इस दंड के पात्र होने चाहिये। तिलक कहते थे कि ब्राह्मणेतर के हाथ की चाय जिसने खास तौरपर पी हो उसके लिए भी प्रायश्चित्त होगा अवश्य, किंतु वह ब्राह्मणों के पलाण्डुभक्षण अथवा उंच्छवृत्ति ग्रहण करनेके प्रायश्चित्त से हरहालत में कमही होगा !

इसी अवसर पर भीमाचार्य झलकीकर ने ब्राह्मणेतर के हाथ का अन्न-जल ग्रहण कर लेनेवालों के लिए उपर्युक्त कुछ प्रायश्चित्तसूचक शास्त्रप्रमाण केसरीमें प्रकाशित करवा दिये थे, अतएव तिलक पक्षने इन्हीं वचनों को कमिशन के सन्मुख उपस्थित कर दिया। भीमाचार्य ने एक प्रमाण में यहांतक बतला दिया था कि पेज, दूध तथा चने, चुरमुरे, आदि भट्टीमें भुने हुए पदार्थ शूद्रतक के हाथ के काममें लिए जा सकते हैं, किंतु यह वचन वादी पक्षको मान्य नहीं हो सकता था ! क्यों कि इसमें चौर-कर्म का उल्लेख कहीं भी न था ! इधर तिलक आदि की मूँछोंपर ही बालासाहब का मुख्य कटाक्ष था, और इसी प्रतिज्ञा के साथ वे मूँछोंपर ताव दे रहे थे कि, प्रतिवादियों की मूँछे मुँड़वा देनेपर ही हम सच्चे सनातनधर्मी कहे जा सकेंगे !

हां, तो इस तरह विपक्षी को निरुत्तर करके सर्व साधारणको यह प्रायश्चित्त-प्रकरण भलीभांति समझा देने के लिए ही तिलक ने केसरी के दो अंकोंमें सम्पूर्ण शास्त्रप्रमाणों को मूलवचन सहित विस्तृत कर के छाप दिया। इधर कमिशन ने भी पूने में ही ज्येष्ठ कृ. १ शके १८१४ (वि. सं. १८४९) के दिन अपना निर्णय प्रकट कर दिया। उसका सारांश यह है कि "आरंभ में वादियों ने ४६ व्यक्तियों पर आरोप लगाया था, किन्तु इसके बाद विभिन्न कारणों से उन्होंने नौ अभियुक्तों के नाम निकलवा दिये। अतएव बचे हुए ३७ के विषय में ही विचार किया गया। ज़ांच करने पर पांच मुद्दे जाहिर हुए जो इस प्रकार हैं (१) कितने प्रतिवादी पंच हौद-मिशन में गये ? (२) उनमें से कोई जाति-बन्धन तोड़नेके उद्देश्य से भी गया था या नहीं ? (३) वहां गये हुए लोगों में से किस किसने क्या २ पदार्थ सेवन किये ? (४) उन में से शास्त्र-निषिद्ध बातें कौन कौन सी सिद्ध हुई ? (५) और उन के लिए किसी प्रकार का प्रायश्चित्त भी है या नहीं, यदि है तो किस प्रकार का ? । इनपर निर्णय करते हुए कमिश्नर-शास्त्रीजी ने वादियों के समाचार-पत्र विषयक प्रमाणों को अग्राह्य मानकर लोगों की कुछ जबानी बातों को भी अविश्वसनीय समझा, (क्यों कि प्रत्यक्ष एक गवाह रामचंद्र बालकृष्ण लेले हिन्दूधर्म छोड़कर ईसाई बन गये थे) इसी

प्रकार गोपालराव जोशी का बयान भी 'खुदरा फज़ीहत दीगरां नसीहत' की तरह बेसूद और बुरा बात से भरा हुआ बतला कर, रोडिंगटन साहब को भी इन्हीं का साथी मानते हुए अंतमें कमिशन ने यह सिद्धान्त प्रकट किया कि, वादी इस बात को सिद्ध न कर सके कि अमुक मनुष्य ने अमुक पदार्थ ही सेवन किया है। क्यों कि कितने ही लोगों के चाय पीने विषयक पूना वैभव द्वारा किये गये अपने पर के दोषारोप को अदालत में नालिश करके मिथ्या सिद्ध करा देने पर भी वादियों ने उनके विषय में दुबारा फरियाद की है। अतएव यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि वादी का अभियोग केवल आग्रहपूर्ण ही है। कई लोगों ने चाय पीने की बात स्वयं स्वीकार कर लिया उनके विषय में वह सिद्ध हो चुकी है, किंतु ब्राह्मणों में से बिस्कुट खानेका दोष किसी पर प्रमाणित न हो सका। चाय पीनेवालों ने यद्यपि यह कार्य ब्राह्मणधर्म के प्रतिकूल किया है, किन्तु फिर भी उनका उद्देश्य जाति-बन्धन को तोड़नेका नहीं था। और न मूल निमंत्रणपत्रिका पर से ही इस प्रकार का कोई उद्देश्य प्रकट होता है। अंततः यह लिख कर कि मिशन हाउस में ऐन वक्त पर केवल गोपालराव जोशी की कोशिश से चाय सामने लाई गई, अतएव कमिशन ने व्यक्तिशः निर्णय इस प्रकार किया कि " हरि नारायण आपटे, बलवन्तराव मराठे, नारायणराव देवस्थले, रामचंद्र भिकाजी जोशी, रामकृष्ण भिकाजी कुलकर्णी, विष्णुदास नानाभाई, रामचंद्र बालकृष्ण लेले ये व्यक्ति मूलतः मिशन हाउस में गये ही न थे, और वादियों ने भी इनके नाम कम कर दिये हैं। अतएव ये प्रायश्चित्त से मुक्त किये जाते हैं। हरिभाऊ आठवले, विष्णु अनंत पटवर्धन, गोपालराव पानसे इन तीन व्यक्तियों का निर्णय ब्राह्मणों द्वारा पहले ही हो चुका है। अतएव इनके लिए भी प्रायश्चित्त बतलाने की आवश्यकता नहीं रही। मिशन हाउस में जाकर भी चाय न पीनेवाले आठ व्यक्ति अर्थात् पी. एन्. पाटनकर, विनायकराव आपटे, रघुनाथराव पण्डित, सखारामपंत फड़के, गोविंदराव देवल, डोंगरे मास्टर, खण्डेराव बेद्रेकर और बालकृष्णपंत मोमण ये। किन्तु इन्हें चाय न पीने पर भी ब्रह्मकूर्चोपवासपूर्वक यथाशक्ति दक्षिणा दान करनेका दंड केवल मिशन-हाउस में जाने के कारण ही प्रायश्चित्तरूप दिया गया। मिशनहाउस में जाकर चाय पीनेवाले व्यक्ति कुल चार ही थे, (१) बलवन्तराव तिलक, वासुदेवराव जोशी, रामभाऊ साने, और सदाशिवराव परांजपे। इनमें से तिलक ने चाय पीनेके बाद काशी जा कर समस्त-प्रायश्चित्त कर लेने विषयक प्रमाणपत्र दिखलाया, साथ ही पूना में भी दो कृच्छ्र प्रायश्चित्त के रूप में किये थे। अतएव कमिशन ने उनके लिए तो पृथक्-रूप में कोई प्रायश्चित्त नहीं बतलाया,

किन्तु शेष तीन के लिए एक चांद्रायण और सांतपन व्रत द्वारा प्रायश्चित्त करने विषयक आज्ञा दी। क्यों कि आठ व्यक्तियों ने ज्ञाताज्ञातदोषनिवारणार्थ प्रायश्चित्त की व्यवस्था के लिए प्रार्थना ही की थी, अतएव उन के निवेदन पर ध्यान देकर समस्तप्रायश्चित्त करनेको कहा गया। ये आठ व्यक्ति रा. ब. रानडे, रा. ब. विष्णु मोरेश्वर भिड़े, रा. ब. चिंतामण नारायण भट्ट, रा. सा. गोविंदराव कानिटकर, सीतारामपंत देवधर, वामनराव रानडे और वामनराव पांजपे थे। अंत में प्रतिवादियों में के अनुपस्थित व्यक्ति सोलह निकले। इन्हों ने कमिशन को दाद दी नहीं। और क्योंकि उनके चाय पीने का कोई भिन्न प्रमाण भी नहीं मिला था, अतएव उन्हें एक सांतपन और एक चांद्रायण का प्रायश्चित्त दंड दिया गया। वे सोलह व्यक्ति ये थेः--प्रो. वासुदेवराव केलकर, अण्णा चांगोकर, रामभाऊ मोडक, गंगाधरपंत जोशी, व्ही. के. राजवाड़े, गोपाल कृष्ण गोखले, जगन्नाथपंत कुलकर्णी, विठ्ठलराव सासवडकर, केशवराव गोडबोले, विनायकराव चिपलूनकर, शंकरराव जोशी, प्रो० पानसे, धामणे, शंकर और काजवेकर।

होने के बाद ग्रामण्य कमिशन के द्वारा शुद्ध किये हुए लोगोंको पंक्तिमें भी बिठा लिया गया।

ब्राह्मणोंको एकदम झिड़क देनेवाले या एकदम पहले ही धक्के में उन्हें साष्टांग प्रणाम करनेवाले जो लोग निकले, उनके लिए चर्चा करनेको विशेष स्थान ही न था। किन्तु जिन्होंने हाथों से प्रायश्चित्त करके मुँहसे उसे व्यर्थ बतला दिया, और जिन लोगों ने पूना से बाहर जाकर अपनी प्रायश्चित्त विधि को देखने से बालासाहब नातू को वंचित रखा, उन्हींके विषय में अधिक विवाद मचा। जो लोग प्रकटरूप में बहिष्कृत सिद्ध हुए उनके घर तो खाने पीने के लिए कोई जाता ही न था, किन्तु दूसरों के यहां उनके मित्र एवं आश्रितों का आवागमन और खान-पान पूर्ववत् शुरू हो गया। किन्तु विरुद्ध पक्ष को यह बात भी सहन न हुई, अतएव उसने उन लोगोंपर संसर्ग दोष लगाया। सारांश, कमिशन के आनेका कुछ भी फल न हुआ और नगर में बखेडा ज्योंका त्यों बना रहा। कमिशन के निर्णय से वादी और प्रतिवादी के नाम भले ही न रह सके हों, किंतु उसकी अमलदारी में शुक्र और कृष्ण नाम के दो नये पक्ष अवश्य निर्माण हो गये। नामानुसार इन पक्षों के गुणों का परिचय आरोपित गुणों के ही रूप में मिलता है। शुक्र का आशय सफेद, स्वच्छ, धुले हुए चाँवल की तरह, सदाचारी, और धर्माभिमानी लोग समझा गया और कृष्ण का आशय केवल धर्म-भ्रष्ट लोगों से लिया जाने लगा। कोई कहने लगा "अजी! ये कमिशन के शास्त्री ही तिलक के लिए उपाधिरूप बन गये"। तो किसीने कहा "वह, शास्त्री लोग धर्म-भ्रष्टों का पक्ष-पात कैसे करते? किंतु निर्णय-पत्रों के शास्त्रार्थ ही में भूल हो गई"। इसपर किसीने यह कहा कि, अजी, जो कुछ भूल हुई वही ठीक थी,। "प्रायश्चित्त यथाशास्त्र किये जायँ। इस वाक्य में का 'यथाशास्त्र' शब्द ही कई खूबियों से भरा हुआ है। निर्णय का शास्त्र भले ही कमिशन के हाथमें हों, किंतु उसको अमल में लाना तो हमारा काम है न?" बस हो गया। इस आग की चिनगारियों ने बांस की दूसरी गंजियों पर गिरकर उन्हें भी सुलगा दिया। सारस्वत ब्राह्मण कहने लगे कि "चित्पावन ब्राह्मण हैं ही ऐसे डरपोक!" वे धैर्य के मूर्तिमान आदर्श एकमात्र डॉ० भाण्डारकर (सारस्वत) को ही मानते थे। क्योंकि उन्होंने अपनी पुत्री का पुनर्विवाह अपने ही हाथोंसे कर दिया था। सुधार-कार्य में प्रायः ऐसे ही नेता की आवश्यकता रहा करती है। रानडे के नादानी भरे आचरण के कारण "सुधारणारूपी बहुमूल्य वस्त्राभूपित हाथी झंडे सहित की चहमें डूब मरा।"

इसी मौके को साधकर तिलक ने आलोचना की कि रानडे आदि सुधारक केवल सुधार का ढोल पीटना चाहते हैं, उनमें सच्चा मानसिक धैर्य नहीं है।

क्योंकि न तो समय आनेपर वे कृति के रूप में तने हुए खड़े रहनेकी शक्ति रखते हैं और न दूसरी ओर समाज को अपने साथ लेकर धीरे २ सुधारपथ में उसे अग्रसर ही कर सकते हैं ! ये लोग सुधार तो एकदम ही करना चाहते हैं, किन्तु जब उसके लिए समय आता तब अपनी मां बहनों के पीछे जा छुपते हैं ! ता. ७ जून सन १८९२ का केसरी लिखता है कि " हमारे भाई जादू की लकड़ी से सूधार करना चाहते हैं, और हमारे मतानुसार देश काल और समाज की स्थिति को ध्यान में रखकर ही समुचित सुधार किया जा सकता है । क्यों कि हम सब लोग गृहस्थी को साथ लिए हुए हैं, और हममें से प्रत्येक की यह इच्छा है कि वह अपने आत्मीय-स्वजनों के साथ आनंद-पूर्वक रहे । ऐसी दशा में जो कुछ सुधार करना हो, वह सब ही मनोनुकूल नहीं हो सकता । कितनी ही बार हमें समाज की बात सुननी पड़ेगी और कईएक बार समाज हमारी बात को मानेगा । इस तरह का विनिमय होता रहने पर ही जो सुधार होगा, वही स्थायी समझा जा सकेगा । जिसे केवल अपने मस्तिष्क की ही कल्पना को कार्य-परिणत करना हो, वह सहारा के मैदान में कुटी बनाकर आनंदपूर्वक मनःपूत आचरण कर सकता है । किंतु जिसे समाज में रहना है, उसे तो उपर्युक्त तोड़ जोड़ का ही इख़्तियार करना चाहिये । " खुद रानड़े भी इस सिद्धांत को मानते थे, और सामाजिक विषयों में तैलंग के इस ध्येय से सहमत होनेकी बात तो विख्यात ही है अर्थात् वे पुनर्विवाह का तो जी ज़ानसे प्रयत्न करते थे, किंतु प्रयत्नपूर्वक तत्संबंधी पंक्तिभोजन से बच जाते थे । इसी प्रकार बाल-विवाह का भी वे निषेध करते थे किन्तु पिता की आज्ञा का पालन करनेके लिए उन्होंने अपनी छोटी सी लड़की का ही विवाह कर दिया । किम्बहुना इस घटना को लक्ष्य करके ही उपर्युक्त कथनानुसार सारस्वतों में जब २ सच्चे सुधारकों के नाम लेने का प्रसंग आता तब तैलंग को कोई न पूछकर लोग भाण्डारकर का ही नाम लेते थे ।

हां तो इस प्रसंग पर तिलक ने केसरी के द्वारा रानड़े को अपने विपक्षियों के आक्रमणसे बचा तो दिया, किंतु जाते २ अंत में उनकी टीका करनेसे भी वे न चूके । इधर रानड़े ने भी तो क्या किया ? खुद प्रायश्चित्त का समर्थन करते हुए अन्त में हिन्दू-समाज पर पत्थर बर्साने से वे भी न चूके । तिलक कहते हैं कि " बीस वर्ष पूर्व किसी अंग्रेज़ के हाथ का बनाहुआ केवल आँवले का मुरब्बा उपयोग में लाने ही के कारण कृष्णशास्त्री चिपलूनकर को चौरसहित प्रायश्चित्त एवं पांच सौ रूपये दंड भोगना पड़ा था । और आज ईसाइयों के हाथ की चाय पी लेनेपर केवल दो कृच्छ्रव्रत से शुद्धि हो जाती है, यह प्रगति क्या कुछ कम कही जा

सकती है ? प्रायश्चित्त का आशय केवल पश्चात्ताप नहीं वरन् यह एक पापनाशक कर्म है। किन्तु इससे यह भी नहीं कहा जा सकता कि पश्चात्ताप से पापों का नाश न होता हो। इसी प्रकार किसी बात के लिए यदि प्रायश्चित्त बतलाया गया है, तो केवल इसीसे वह महान् अपराध नहीं समझा जा सकता। कुछ रूढ़ आचार-विधियों का पालन न करने पर उसके लिए प्रायश्चित्त की भले ही आवश्यकता हो जाय, किन्तु जान बूझकर ही किसी स्त्री को छोड़ देने के लिए जब कोई प्रायश्चित्त करनेको तैयार हो जाय, तो उसे नये और पुराने दोनों ही पक्षों की ओरसे गालिप्रदान किया जाना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। जब श्रौताचार तक के लिए यही नियम है तो फिर स्मार्ताचारों की तो कथा ही क्या ? देश-कालानुरूप कुछ आचार छोड़ ही देना पड़ते हैं। क्यों कि कुमारिल भट्ट या शंकराचार्य के द्वारा सभी पुरातन श्रौताचारोंके लिए आग्रह न रखने ही से हिन्दूधर्म जीवित रह सका, अन्यथा अबतक हम सभी बौद्ध हो जाते! जब अग्निहोत्र जैसे आचार को जान बूझकर छोड़ देने पर वर्ष भर में केवल एक बार श्रावणी के समय प्रायश्चित्त कर लेने ही से काम चल जाता है; तो फिर स्पर्शास्पर्श दोष के लिए प्रत्याम्नाय द्वारा प्रायश्चित्त करते रहनेसे सामाजिक प्रगति होती रहने के साथ ही समुचित धर्माभिमान भी अवश्य रह सकता है"।

कुछ ही दिनों बाद रानडे को अपना हीराबागवाला लेखबद्ध व्याख्यान प्रकाशित कर देना पड़ा। इस बार उन्होंने भी तिलक की ही तरह युक्तिवाद से काम लिया था। उसका समर्थन करते हुए तिलक लिखते हैं कि "रा. ब. रानडे के पिछले अंग्रेज़ी पत्र का विपर्यास करके अकारण ही उन्हें दोष-भागी बनाने में जिन वेदशास्त्रशून्य धर्माभिमानियों ने ज़रा भी आगा पीछा न देखा, वे इस लेखको भी बुरा बतलाने से न चूकेंगे। धर्म कहते किसे हैं, इसका ज्ञान नहीं, और दूसरों के बतलाने पर उसे समझने की बुद्धि नहीं, शास्त्रवचनों को जो नाम के लिए भी नहीं जानते, और शंकराचार्यजी के अधिकारियों का दिया हुआ निर्णय जिन्हें मान्य नहीं होता, उन लोगों का धार्मिक-विषयों में लोकाग्रणी बन जाना सचमुच देश के लिए दुर्भाग्य का विषय है। यदि किसी के इष्ट मित्र मद्यपेयी हों, अथवा किसीके यहां शूद्रा स्त्री को विश्रान्तिस्थान प्राप्त हो गया हो, या किसीके हाथों ऐसे भयंकर पाप हुए हों कि जिनसे उसका उद्धार तक नहीं हो सकता, वे लोग भी जब समाज में प्रतिष्ठापूर्वक विचर सकते हैं, और शास्त्रशून्यता को ही अपनी महत्ता मानकर जो अपने को पूर्वापर धर्म का संरक्षक समझ बैठनेका पाखंड रचते हैं, क्या वे समाज में निंदनीय नहीं कहे जा सकते ?"

यद्यपि बालासाहब नातू खुद तो शास्त्र की बातें नहीं जानते थे, किन्तु भाऊ शास्त्री लेले सरीखे कुछ समालोचक 'पूना–वैभव' में लगातार तिलक के शास्त्रार्थ पर टीका–टिप्पणी करते जा रहे थे। इधर 'सुबोधपत्रिका' और 'जगद्धितेच्छु' आदि पत्र भी अब इसी मैदान में आ उठे थे। इनमें से सुबोधपत्रिका की ओर से धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप करना ऐसा ही था, जैसा कि किसी विधवाका कुंकुमादि की उठारखी करना और छोटे से छोटे पत्र का इन विषयों में शामिल होना अनिवार्य था, क्योंकि उस समय हवा ही ऐसी बह रही थी कि जो शास्त्रार्थ न करता वही पापी सिद्ध होता था। ऐरेगैरे लोगोंने भी इधरउधर का जोड़–बटोर कर अपना शास्त्र–ज्ञानरूपी पाखण्ड फैला रक्खा था। केवल रानड़े के प्रायश्चित्त कर लेने ही से कई लोग गोपालराव गोखले, और वासुदेवराव जोशी आदिको ही उनके प्रायश्चित्त न करनेके कारण सुधारकों के नेतापन की माला पहनानेको तैयार हो गये! इधर रा० ब० चिंतामणराव भट्ट सरीखे सुधारक यह कहने लगे कि प्रो० गोखले सदृश दस पांच ही व्यक्ति यदि समाज से अलग हो जायँ तो भी इससे समाज की प्रगति होने विषयक आशा नहीं की जा सकती। प्रायश्चित्त के विषय में घरपर दम्पत्तियों में जो संवाद हुए वे तक दूसरे लोगों की ओर से समाचारपत्रों में छपने लगे। शहर में शुक्ल--कृष्ण का झगड़ा भी बढ़ चला। कितने ही के घर की ज़्योनारें बंद हो गईं और कई-एक के यहां घर के किवाँड़ बन्द कर गुप्तरूप में अंदर ही अंदर यह काम होने लगा। नये विवाह-सम्बन्ध निश्चित करते समय शुक्लपक्षवाले आँखोंमें तेल डालकर इस बात की सावधानी रखते थे कि कहीं निषिद्ध–गोत्र की तरह कृष्णपक्षवालों का संसर्ग न हो जाय। कितने ही शुक्लपक्षवालों ने संसर्ग भीति के कारण बहू–बेटियों तक को सुसराल या नैहर भेजने से बचनेका प्रयत्न किया। इस तरह पूना शहर की एक लाख की बस्ती में केवल इन ४२ व्यक्तियों ने ही इतिहास–प्रसिद्ध महत्त्व पाया। और बहिष्कृत होनेके कारण अधिकांश व्यक्ति लज्जित होनेके बदले कृष्णपक्षवालों के नाते अपनेको भूषणास्पद ही समझने लगे।

सब से अधिक दुर्गति बिचारे पूना के भिक्षुकों की हुई। क्योंकि जहां पहले उनका एक अड्डा था, वहीं अब वे दो हो गये। अर्थात् भिक्षुक राज्य में धार्मिक राज्य कारोबार का आरंभ होकर कुशधारी कोतवाल और पंचपात्रीय गुप्त चर बनाये गये। फलतः लोग अब समझने लगे कि सच्ची अराजकता किसका नाम है। बालासाहब नातू आदि यह समझ बैठे कि, किसी विषय की व्यवस्था देनेका अधिकार शंकराचार्य को है सही, किन्तु उसकी सशास्त्रता सिद्ध करनेवाले

पूना के ब्राह्मण-वृंद ही हो सकते हैं, और वह शास्त्र भी जो कुछ कि हमारा कहा हुआ हो वही सत्य माना जायगा। केसरी लिखता है कि 'मोरशास्त्री साठे और त्रिंबकशास्त्री शालिग्राम जैसे विद्वद्रत्नों को मूर्ख ठहराकर आजकल के पंचांग-पाठी और समासचक्री आदि सर्वज्ञता का पाखंड रचनेवाले पद्शास्त्री, वकील ही जहां वेदशास्त्रज्ञ और महापण्डित माने जाते हैं, वहां 'ज्ञानलवदुर्विदग्धों' का महत्व ही क्या ? पूना के प्रकरण की शंकराचार्य ने जो कुछ व्यवस्था दी, वह बाहरवालों ने तो स्वीकार कर ली और ख़ास पूना के वादियों ने उसे नहीं माना। रानडे जैसे सुधारक ने तो शंकराचार्य के सामने सिर झुका दिया। और बालासाहब नातू जैसे धर्माभिमानी कहलानेवाले कृतियों द्वारा आचार्यपीठ का नाश करने लगे। यहांतक कि शंकराचार्य को भी बहिष्कृत ठहराने का प्रसंग आ गया। इधर इस झगडे के कारण पूना के अन्य सार्वजनिक कार्य भी ठण्डे पड़ गये। इसी अवसर में ए. ओ. ह्यूम का पूने में आगमन हुआ। इन के स्वागत में भी अनैक्यभाव दिखाई दिया। अंत में मस्त होकर गाँव के लोगों ने इस गडबड को शान्त करनेके लिए शंकराचार्य से निवेदन किया। तब उनकी ओरसे यह उत्तर मिला कि " आप लोगों को जो कुछ कहना हो वह प्रत्यक्ष में यहां आकर कहिये, व्यर्थ के लिए नगर में बखेडा मचानेकी आवश्यकता नहीं है।

इसी बीच तिलक और आगरकर से एक व्यक्तिगत विवाद उत्पन्न हो गया। ता. १४ नवम्बर सन १८६२ के सुधारक में तिलक पर यह आक्षेप किया गया कि, ये चिमगादर की तरह हैं। क्यों कि धर्माभिमानी लोग तो इन्हें अपने में शामिल करते नहीं, और एक प्रकार से सच्चे सुधारक होते हुए भी उन लोगों की पंक्ति में प्रकटरूप में सम्मिलित होनेका इनमें साहस नहीं है। इत्यादि। इस आक्षेप का उत्तर सरलता से दिया जा सकता था, और वह यह कि प्रत्येक विषय के लिए केवल दो ही पक्ष होना क्यों अनिवार्य है ? विचारों की सूक्ष्मता के अनुसार क्या तीन या चार अथवा अधिक पक्ष नहीं हो सकते ? (अवश्य हो सकते हैं।) और जब ऐसा है तो जिसमें अपने स्वतंत्र विचारों का समर्थन युक्तिवाद के द्वारा कर सकने की शक्ति हो उसके लिए यह कभी आवश्यक नहीं हो सकता कि वह इन दो में से किसी भी एक पक्ष में अवश्य रहे। क्योंकि उसका पक्ष भी अलग हो सकता है। किन्तु उपर्युक्त आलोचना करते समय आगरकर ने बीच में ही एक वाक्य यह भी लिख दिया था कि धर्माभिमानी कहलानेवाले तिलक ईसाईयों के हाथ की बनी हुई चाय ही नहीं पी लेते हैं, बल्कि स्टेशन पर के मुसलमान या पोर्तुगीज़ मेंमूरेन

राक के हाथ का पका हुआ चावल खा लेनेमें भी वे आगापीछा नहीं देखते। ऐसी दशा में ग्रामण्य-प्रकरण भी उन्होंने व्यर्थ ही के लिए प्रतिवादियों की ओर खटपट शुरू कर रखी है। इस आक्षेप का ता. २२ नवम्बर सन १८९२ के केसरी में तिलक ने स्पष्ट नकारार्थी उत्तर दिया, किन्तु फिर भी आगरकर ने अपनी ज़िद न छोड़ी। क्योंकि आगरकर को पीछली बातों का अनुभव था कि-"सुनी हुई बातपर ही पूरी तरह अवलम्बित रहकर किसी के लिए अपमानकारक वार्ता समाचारपत्रों में प्रसिद्ध न कर देनी चाहिये, क्योंकि समय आने पर बड़े लोग भी सामने आकर प्रमाण देनेमें संकोच कर जाते हैं। अथवा वह प्रमाण ही मिथ्या सिद्ध हो जाता है"-और उन्होंने बड़ी ठसक से अपने सहयोगियों को इसके लिए उपदेश भी किया था। किंतु पक्षान्धता के कारण इस समय खुद वे ही इस उपदेश को भूल गये। और जिसके कहने पर से इन्होंने मुसलमान के हाथ का बना हुआ भात खाने विषयक आक्षेप किया था, , उसने ऐन वक्त पर धोखा दिया, किन्तु फिर भी इन्होंने अपना विधान वापस नहीं लिया।

अन्त में अदालत से इन्साफ करानेका प्रसंग आया, और दावा लिख कर तैयार भी कर लिया गया। इसके बाद दो पहर में वह अदालत में पेश होने ही को था कि इसी बीच माधवराव रानड़े खुद ही तिलक के घर पहुँचे और उनसे मामला न चलानेका अनुरोध करने लगे। तिलक ने कहा कि "मैं इसके लिए तैयार हूं, किन्तु आगरकर को आपना आक्षेप वापस लेना चाहिये"। रानड़े ने इसका जिम्मा अपने सिर ले लिया, क्योंकि जांच करने पर उन्हे पता लग चुका था कि यह आरोप मिथ्या है। अंततः ता. ४ दिसम्बर के 'सुधारक' में आगरकर ने तिलक से क्षमा-प्रार्थना की। इस तरह मान-हानि के अभियोग में आगरकर को दूसरी बार क्षमा-प्रार्थना करनी पड़ी। प्रथम बार तो माफी मांग लेने पर भी उन्हें सजा भुगतनी पड़ी, किन्तु इस बार क्षमा-प्रार्थना कर लेनेसे वे बच गये। यही एक मात्र इन दोनों में अंतर था। किन्तु इतने पर भी आगरकर अपनी लेखनशैली को बदल थोड़े ही सकते थे! तभी तो उन्होंने क्षमा-प्रार्थना करते हुए भी उस लेख का शीर्षक रक्खा कि "कथन निःसार सिद्ध हुआ"! यद्यपि रानड़ेद्वारा स्वीकृत की हुई क्षमा में इस तरह का शीर्षक रखनेकी शर्त बिलकुल ही न थी। किन्तु लेखक तो उत्साही उपजवाला आदमी था। इधर तिलक भी इसीकी जोड़तोड़ का शीर्षक रखना जानते थे। अतएव उन्होंने लिखा कि न केवल "कथन निःसार सिद्ध हुआ, बल्कि सारा प्रयन्त बेकार हुआ"। तिलक लिखते हैं कि "केसरी के भूतपूर्व सम्पादक की बेसिर पैर की बातें लिख मारने विषयक आदत कमसे कम इस नये

आश्रम में तो अवश्य सुधर ही जायगी, इस प्रकार हमें आशा थी, किन्तु इस पुरातन लोकोक्ति का कि "पलास के हमेशा तीन ही पत्ते रहते हैं"—इस घटना पर से हमें भली भांति अनुभव हो गया।"

किन्तु आगरकर ने भी जाते २ अंत में फिर एक बार अपना कटाक्ष बाण तिलक पर छोड़ ही तो दिया। उन्होंने लिखा कि "तिलक के स्टेशन पर मेसमेन् के हाथ का भात खाने की बात सिद्ध न हो सकनेके कारण वापस लेनी पड़ती है, किन्तु ईसाई के हाथ की चाय पीने और मुसलमान के हाथ का भात खाने में अन्तर होने विषयक जो बहाना वे पेश करते हैं यह विशेष अर्थ नहीं रखता। क्यों कि हम तो इन दोनों बातों को धार्मिक दृष्टि से समान ही समझते हैं।" इसपर तिलक ने भी बहुत ही बढ़िया उत्तर दिया। वे लिखते हैं कि "वैज्ञानिक रीति से कोयला और हीरा एक ही वस्तु माना जाता है। अतएव यदि कोई हीरे को कोयला समझकर चुरावे या यह कहकर कि मुझे स्वपर स्त्री का भेद समझ नहीं पड़ता, अतएव पर स्त्री की कोई अभिलाषा करने लगे तो वह लोक समाज और क़ानून दोनों ही दृष्टियों से समान अपराधी समझा जायगा। हम गो-मूत्र, गोमय और गाय का दूध तो खाते ही हैं, फिर गो-मांस खाने में क्या हानि है? यह पुरातन युक्ति-वाद भी इसी प्रकार का है।" युक्ति का उत्तर युक्ति के ही द्वारा दे सकने में तिलक के समान हाज़िर जवाब मनुष्य शायद ही कोई मिल सकेगा।

पूना के बखेड़े को दूर करनेके लिए शंकराचार्य जी की ओरसे लोगों को सामने आकर अपना वक्तव्य सुनाने विषयक आज्ञा होनेका उल्लेख उपर एक स्थान पर किया जा चुका है। इस अनुरोध के अनुसार ता. १६ दिसबर सन १८६२ के दिन ये सब लोग कुरुंदवाड़ में उनके पास पहुँचे। इसके बाद दूसरे ही दिन रा. ब. रानडे की ओरसे राघोपंत नगरकर वकील भी वहां जा पहुँचे। और ता. १८ दिसम्बर को तिलक भी वहां पहुँच गये! किंतु तिलक अकेले नहीं गये, बल्कि कमिशन के निर्णय को माननेवाले सौ-पचास व्यक्तियों को साथ लेकर वहां पहुँचे थे। उस समय जगद्गुरू के मंत्री भड़कमकर थे। अतएव जिस प्रकार वादियों ने पहले सन्देह किया था कि प्रतिवादियों ने कमिशन के शास्त्रियों को अपने में मिला लिया है, उसी प्रकार अब प्रतिवादियों के चित्त में यह बात जम गई कि वादियों ने जगद्गुरू के मंत्री को वश में कर लिया है। क्यों कि जगद्गुरू के दरबार में विद्वान् और महान् नेता की हैसियत से यदि तिलक का सम्मान किया जाता था तो फिर बाळासाहब नातू आदि का भी सोलहों आने धर्माभिमानी होने की हैसियत से उतना ही

सम्मान क्यों न होता ? व्यंकट शास्त्री निपाणीकर न्यायगुरु और विन्दुमाधव शास्त्री धर्माधिकारी थे, इनको यदि तिलक ने वश में कर लिया, तो हम क्यों न जगद्गुरु के मंत्री को अपनी ओर मिला लें, इस प्रकार संभवतः वादी पक्ष ने सोचा हो। हां तो ता. १८ दिसम्बर को संध्यासमय सभा का आरंभ हुआ, इस समय भी जगद्गुरु स्वयं उपस्थित न थे। उन्होंने अपना प्रतिनिधित्व अर्थात् शास्त्रार्थ की व्यवस्था देनेका कार्य कुरुंदवाड़ के अधिपति बापूसाहब और बालासाहब को सौंपकर सम्पूर्ण विवरण के साथ २ अपनी भी सम्मति भेजनेको कह दिया था।

आरंभ में जगद्गुरु के मंत्री के विरुद्ध रावोजीपंत वकील ने प्राथमिक स्वरूप में वकालत के ढंग पर बहस की, इसके बाद तिलक ने प्रतिवादियों का कथन सविस्तर कह सुनाया। उसका सारांश यह था कि "यदि जगद्गुरु चाहें तो अब भी त्रयस्थ विद्वानों को पंच बनाकर निर्णय किया जा सकता है। और पंचों के सन्मुख केवल काग़ज पत्रोंद्वारा ही, बरन् मुखाग्र प्रमाण दिये जाने एवं चर्चा होने की भी आवश्यकता है"। इसके बाद लेखबद्ध चर्चा आरंभ हुई। जातिबन्धन तोड़ने के उद्देश्य से चाय पीने विषयक मुद्दा तो प्रधान था ही, किन्तु इसीके साथ २ कमिशन की दी हुई व्यवस्था पक्षपातयुक्त एवं अन्यायपूर्ण है या नहीं यह भी विचारणीय विषय हो रहा था। बालासाहब नातू ने यह एक बात और भी निकाली कि बिस्कुट खानेका प्रमाण किसीके लिए न मिल सकने पर भी केवल इसी कारण कि वे टेबल पर रखे हुए थे, [अतएव] उनके खानेका अनुमान क्यों न किया जाय ? इसका उत्तर तिलक ने इन शब्दों में दिया कि "खुद बालासाहब नातू जब गणेश खिंड [गवर्नमेंट हाउस पूना] की गार्डन पार्टियों में शामिल होते हैं, तो फिर वहां तो न केवल बिस्कुट ही बल्कि मदिरा भी टेबल पर रखी जाती है; तब क्यों न इस पर से यह अनुमान निकाला जाय कि बालासाहब ने मदिरा का सेवन किया ? और इस अनुमान को मिथ्या सिद्ध करनेके लिए बालासाहब को प्रमाण देना चाहिये। किन्तु ऐसा करना जिस प्रकार शिष्ट जनोचित नहीं हो सकता वही बात उक्त अनुमान के विषय में भी कही जा सकती है। रा. सा. कानिटकर को पूर्व निर्णयानुसार यदि वादी पक्ष ने प्रायश्चित्त बतलाया तो उस निर्णय को ये अमान्य नहीं कर सकते। क्योंकि वे एस्टापेल हो गये। इस दलील को पेश करते हुए तिलक ने जब अपने साथ के वासुदेव भट्ट काले —वादी पक्ष के एक भिक्षुक ब्राह्मण—को सामने खड़ा करके उसका प्रतिज्ञावद्ध बयान किया और उसके द्वारा अपने उपरोक्त सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित की, तब कहीं जाकर उभय श्रीमानों को वादी-पक्ष के दुराग्रही होने पर विश्वास

हुआ। अंततः उन्होंने उभय पक्ष से प्रार्थना की कि दोनों ही सामोपचार से थोड़े २ पीछे हटकर आज के इस विवाद को मिटाने की कृपा करें और उभय पक्ष के लोग हमारी पंक्ति में एकत्र बैठकर भात-शर्करा का भोजन कर लें। किन्तु बालासाहब नातू धनाढ्य होने पर भी भात-शर्करा खाने या दूसरों को खाने देने का आनन्द नामतक को न जानते थे। इसीसे वादी-पक्ष ने इस प्रार्थना को स्वीकार न किया। अर्थात् वे न तो प्रायश्चित्तों में भूल बतलाने लगे और न उस निर्णय को स्वीकार करने लगे। इसी पर से कदाचित् केसरी ने यह लिखा था कि "वादी-पक्ष अपना मस्तिष्क तो पूने में ही छोड़ गया था, वह उत्तर कहांसे देता"। इस उक्ति का आशय फिर भले ही कुछ हो। मतलब यह कि पूना की सामाजिक अराजकता को नष्ट करनेके लिए यह प्रयत्न भी व्यर्थ सिद्ध हुआ। श्री. कुरुन्दवाड़कर ने प्रतिवादियों को सूचित किया कि हम अपनी सम्मति जगद्-गुरू की सेवा में उपस्थित कर देते हैं, यदि वादीपक्ष ने इस बात पर जोर दिया कि प्रायश्चित्तों का निर्णय शास्त्रसिद्ध नहीं है तो उनके आक्षेप की प्रतिलिपि हम तुम्हें दे देंगे। इस तरह दोनों पक्ष गये न गये एक से होकर पूना लौट आये।

इसके बाद दोनों कुरुन्दवाड़कर सरदारों ने अपनी २ सम्मतियां शंकराचार्य की सेवा में प्रकट कीं। इनमें से बापूसाहब का कथन यह था कि "कमिशन ने प्रतिवादियों में से जिन लोगों को कम कर दिया, और जिनके प्रायश्चित्त भी ब्राह्मणोंद्वारा हो गये, उनके विषय में हमें कुछ भी कहना नहीं है। किन्तु तिलकप्रभृति ग्यारह व्यक्तियों पर चाय पीनेका अपराध सिद्ध होता है। इनमें से चार बात को स्वीकार करते हैं और शेष पन्द्रह पर चाय एवं बिस्कुट सेवन करनेका संभवनीय अपवाद दोषारोप लागू होता है। संशय से लाभ उठानेकी स्वतंत्रता वादी के लिए अन्य विषयों में भले ही हो सकती हो, किन्तु धर्म के विषय में यह नियम प्रयुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि केवल संशय के लिए भी धर्म-शास्त्र में प्रायश्चित्त बतलाया गया है। अत-एव संशय के नये और कमिशन के बतलाये हुए पुराने प्रायश्चित्तों का विचार श्रीमान ही शास्त्रियों की सभा द्वारा करायें। इसी प्रकार प्रस्तुत प्रकरण का अंतिम निर्णय होनेसे पूर्व ही श्रीमान ने संसर्गियों के लिए कोई प्रायश्चित्त होना नहीं बतलाया यह कुछ अनुचितसा जान पड़ता है"। श्री. बालासाहब कुरुंदवाड़कर की सम्मति इससे कुछ भिन्न थी। उन्होंने लिखा कि "बड़े २ विद्वानों की ओर से धर्मविरुद्ध कार्य होना उनकी हीनता सिद्ध करता है। किन्तु फिर भी पहले जिन लोगों के प्रायश्चित्त हो चुके हैं, उनकी उचितता पर यदि श्रीमान को विश्वास हो गया हो तो फिर उनके लिए नया प्रायश्चित्त बत-

लाने की आवश्यकता नहीं। सिवाय इसके कालमानानुसार जो उचित दिखाई दे वह कीजिये "। इस सम्मति से जगद्गुरू फिर चक्कर में पड़ गयेसे जान पड़ते हैं। तीसरे पंच माधवराव भड़कमकर जगद्गुरू के मंत्री थे। किन्तु इनकी सम्मति पूर्णतया वादीपक्ष के ही अनुकूल थी। अतएव जगद्गुरू कुछ भी निर्णय न कर सके। जिन अनेक शास्त्रीयों की ओर से सम्मति मांगी गई थी, उनका निष्कर्ष बालासाहब ने इस प्रकार प्रकट किया कि चाय पीनेवाले को प्रत्यक्ष क्षौर-पूर्वक नये रूप में प्रायश्चित्त करना चाहिये। और विकल्प होने पर यदि मस्तक-वपन न हो तो हानि नहीं, पर मुख (मुछ) स्मश्रु तो अवश्य ही होना चाहिये। इत्यादि। किन्तु जान पड़ता है कि जगद्गुरू के दरबार में तिलक ने भी कुछ कुंजी सी घुमा दी थी। वादी-पक्ष की ओर से जगद्गुरू की सेवा में बारम्बार तकाज़ा होने लगा कि त्रिवर्ग अधिकारियों की सम्मति सहित श्रीमान का निर्णय शीघ्र प्रकट कर दिया जाय। जगद्गुरू सोच रहे थे कि जिस किस प्रकार से भी हो यह विवाद बन्द अवश्य हो जाना चाहिये। किंतु मंत्री भड़कमकर ने "श्रीमान का योजना किया हुआ निर्णय समुचित नहीं है, प्रतिवादी पश्चात्ताप करने पर ही प्रायश्चित्तार्ह हो सकते हैं, और इसके बाद जब प्रायश्चित्त बतलाया जाय तो वह क्षौरसहित होना चाहिये। क्षेत्र काशी में जाकर किया हुआ प्रायश्चित्त पूने में उन्हे दोषमुक्त नहीं कर सकता इत्यादि सम्मति निश्चित करके ही जगद्गुरू को सूचित की; और अन्त में यह भी लिख दिया कि 'श्रीमान के अनुमान भ्रमयुक्त हैं। अतएव उनसे दूषित हुआ निर्णय भी भयंकर कहा जा सकता है। इतने पर भी अपने निर्णय को-जो की श्रीमान के पूर्वप्रस्ताव से एकदम विसंगत है-प्रकट करनेकी आज्ञा मुझे दी गई, तो जिसके कारण मुझे या श्रीमान को अथवा श्रीमान की इस सत्ता को कलंक लगने की संभावना है, उसका दायित्व अपने सिर लेनेकी अपेक्षा मैं अपनी सेवा-वृत्ति से ही मुक्त होना ठीक समझूंगा।

मतलब यह कि वादी, प्रतिवादी, पंच और जगद्गुरु के मंत्री ये सब तो शास्त्र के ज्ञाता सिद्ध हुए और सब तरह कोरे एक मात्र जगद्गुरु ही समझे गये। यह उन पूज्य महापुरुप की प्रतिष्ठा हुई! मंत्रीजी श्रीमान को लिखते है कि "बार अंक पंचावन के आज्ञापत्र के विरुद्ध बार अंक इक्यासीवाला आज्ञापत्र है। इसी लिए मैं उसे प्रकट करना नहीं चाहता।" इसपर प्रतिवादियों ने यह कहकर जगद्गुरू का पक्ष समर्थन किया कि "जिस पचपनवाले आज्ञापत्र को श्रीमान ने निकाला है, वही इक्यासीवाले के प्रकाशक भी हैं! इधर वादी पक्षने शंकराचार्य के मंत्री को काबूमें किया। और इस तरह स्वामी-सेवक विवाद में

यह झगड़ा अनन्त-कालतक ज्यों का त्यों बना रहा। इस सारे प्रकरण में बाला-साहब की क्रूर दृष्टि तिलक की मूँछोपर कहांतक थी, इसे दूसरे लोग क्या जान सकते है ! किंतु इसके विरुद्ध उन्हें जो कुछ दिखाई दिया होगा, यह यह कि तिलक की मूँछें अंततक साबित ही रहीं और खुद उन्हींकी मुख-श्मश्रु प्रति पन्द्रहवें दिन होने लगी ! इस तरह लगातार दो वर्षों तक यह प्रकरण जोरों पर रहा; और अन्त में अराजकता के रसायन में न जाने कहां लुप्त हो गया। वादी पक्ष के साथ शास्त्रियों की सहायता का बल अवश्य था, किन्तु अन्त में शंकराचार्य के अधिकार की पर्वाह न करते हुए जिन्हों ने धर्म-भ्रष्टता स्वीकार न की, वे बिना प्रायश्चित्त के ही ज्यों के त्यों बने रहे। और कमिशन के निर्णया-नुसार जिन २ लोगोंने एकबार जो प्रायश्चित्त कर लिया वही कायम रहा। उन्हें दुबारा कुछ न करना पड़ा। धीरे २ लोक-समाज भी इस प्रकरण को भूल गया, और इस प्रकरण की प्रचलितावस्था में जो बाधाएँ उपस्थित हुई थी वे भी स्वयमेव ही शिथिल हो गईं। इष्टमित्र एकत्र बैठकर खान-पान करने और धर्मभ्रष्टतावाले प्रकरण की बातें मनोरंजन के रूप में याद करने लगे। बिचारी बहू-बेटियों को मुक्तता प्राप्त हुई। और अन्त में यहांतक कि खुद तिलक और बालासाहब नातू भी हरएक सार्वजनिक विषयों में बिना किसी पूर्वविरोध के सहयोग करने लगे।

सन १८९५ में राष्ट्रीय महासभा और सामाजिक परिषद् के विवाद में ये दोनों एक साथ रहकर सुधारकों से झगड़े। किन्तु झगड़ते समय प्यास लगने पर भी इसके बाद उन्होंने कभी एक दूसरे के घर का पानी तक न पिया। ता. १३ अप्रेल सन १९०० के दिन तिलक के यहां वसंत-पूजा कार्य उत्सव हुआ। उस समय यथा नियम बालासाहब नातू के यहां भी निमंत्रण भेजा गया। क्योंकि ये दोनो ही जेलसे छुटकर आये थे और राजनैतिक कार्यों में पहले से भी अधिक तत्परता के साथ योग दे रहे थे। किन्तु फिर भी मुद्दे का सवाल पेश आते ही नातू ने पत्र भेजकर तिलक से नक़द जवाब माग ही तो लिया। उन्होंने लिखा कि "'मिशन-हाउस में चाय पीने और हम दोनों पर हाल ही में जो २ आफतें आई एवं उनमें हमें भोजनादि का संसर्ग-दोष भी लगा, इन दोनों दोषों के लिए चौरसहित शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त की आवश्यकता को क्या आप मानने के लिए तैयार हैं'? यदि मानते हों- तो उसके लिए यहां कुछ न कर के आपने तीर्थक्षेत्र में जो प्रायश्चित्त किया, उसमें क्या इन दोनों दोषों से निवृत्ति प्राप्त कर ली थी ? इन प्रश्नों का उत्तर शीघ्र देनेकी कृपा करें, '" तिलक ने भी इनका वैसा ही मुँहतोड़ उत्तर दिया " आप का पत्र पाया। जो घटना

हो चुकी है, उसे आप स्वयं जानते ही हैं। मेरे पास भीतर और बाहर के लिए दो तरह के ढंग नहीं हैं। इतने पर भी आपकी जो कुछ इच्छा हो वह आप कर सकते हैं"। संसार में प्रत्येक मनुष्य को अपनी २ रुचि के अनुसार कोई न कोई बात प्रिय होती ही है और आजन्म वह उससे छूट नहीं सकती। फलतः तिलक और नातू का प्रेमभाव आजन्म बना रहा, किंतु नातू ने एक बात के लिए तिलक का पीछा कभी न छोड़ा। वह बात उनकी मुखस्मश्रु करवानेकी इच्छा मात्र थी।

पंच हौद मिशन में पुरुषों की तरह दस बारह स्त्रियां भी गई थीं। उनमें श्रीमती रमाबाई रानड़े, काशीबाई कानिटकर और रा. ब. भिड़े की पुत्रवधू आदि मुख्य थीं। इनके सामने भी जनाना मिशनकी ईसाई महिलाओं ने चाय के प्याले लाकर रख दिये, किन्तु इन सबने उन्हें लौटा दिया। श्री. रमाबाई रानड़े ने 'हमारे जीवन की कुछ स्मरणीय घटनाएँ' नामक पुस्तक में इस विषयक पर एक स्वतंत्र परिच्छेद लिखा है। जिससे कि प्रस्तुत विषय के कुछ असली और सच्चे प्रमाण मिलते हैं। मिशन-हाउस की चाय पार्टी के कुछ ही दिन बाद रा. ब. रानड़े के घर एक मित्र-भोज हुआ। इस में चालीस-पचास व्यक्ति इकठ्ठे हुए थे, और उनमें डॉ. विश्राम, रा. ब. नारायण भाई दांडेकर, रा. ब. मानकर आदि चार-छह व्यक्ति ब्राह्मणेतरों में से भी थे। कालिमूर्ति गोपालराव जोशी भी इस भोज में शामिल थे। रानड़े के घर की पंक्ति, उसमें भला ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर का भेद कैसे रखा जाता! मतलब यह कि सब लोग हिलमिलकर एकसाथ बैठे। बस फिर क्या था, गोपालराव के लिए आगमें तैल डालनेको यह साधन अनायास ही मिल गया। उन्होंने इस पंक्ति का ठीक तरह से नक्शा बनाकर कौन कहां और किससे पास बैठा था और ब्राह्मणेतरों के साथ भोजन करनेसे अन्य सब ब्राह्मण किस प्रकार भ्रष्ट हो गये, इसका सविस्तार वर्णन अगले ही दिन पूना-वैभव में छपवा दिया। इस विषय में रानड़े और तिलक के विचार परस्पर भिन्न थे। क्यों कि रानड़े तो हरतरह सुधारक थे ही; यदि उनके विषय में मिशन हाउस में चाय पीने की बात छप भी गई तो उनका कोई क्या कर सकता था? धर्माभिमानियों ने उन्हें पहले ही से भ्रष्ट बतला दिया था। जब कि उन्हों ने चाय प्यालेतक को मुँहसे नहीं लगाया था। यदि यह बात भी वे पत्रों में छपवा देते तो लोग उनके वचनों पर विश्वास करके फिर कभी उन्हें न सताते। इसी प्रकार यदि वे प्रायश्चित्त के जवाब में कुछ युक्ति निकालते तो वह भी उनके लिए कठिन नहीं थी, क्यों कि वासुदेवशास्त्री अभ्यंकर और श्रीपति बाबा भिंगारकर ये दो बड़े २ भिक्षुक-पंडित उनके कृतज्ञ, एवं वंशपरम्परागत पुरोहित,

अयच श्राश्रितों में से थे। इसी प्रकार उन्होंने और भी दो वैदिक ब्राह्मणों को वार्षिक वृत्ति १०० रुपये देकर स्थायी रूप से अपने यहां रख छोड़ा था। मतलब यह कि धर्म-भ्रष्टता जैसे प्रसंग उपस्थित होने पर न केवल अपनेहि लिए वरन् अपने पक्षपाती मित्रोंतक के लिए समय-असमय कोई काम पड़ने पर ब्राह्मणों की असुविधा न पड़ सके। क्यों कि ऐसे लोगों में से किसीके यहां होमहवनादि संस्कार अथवा व्रत-वैकल्यादि किंवा विवाह-उपवीतादि संस्कार के समय ये ब्राह्मण लोक चुपचाप जाकर सब काम करा आते थे। ऐसी दशा में रानडे के लिए प्रायश्चित्त करना भी कोई कठिन नहीं था। घर पर उनकी बड़ी बहन एक महान कर्मनिष्ठ स्त्री अवश्य थीं। किन्तु घर के धार्मिक व्यवहार यथानियम चलानेके लिए हमारे उपर्युक्त कथनानुसार ब्राह्मणमण्डली की सेना मौजूद ही थी, अतएव उन (जीजी) के लिए कहने-सुनने को कोई जगह ही न रही। किन्तु यह प्रश्न न केवल अकेले सुधारक दल के नेता रानडे ही से सम्बन्ध रखता था और धर्माभिमानी तिलक से ही, बल्कि उनके साथ इस विपत्ति में फँसनेवालों पर भी इसका असर पड़ता था, किंतु वे सब समान हैसियत के लोग न थे। उन बिचारों के घर की स्त्रियां बड़ी कठिनाई में पड़ गई थीं। क्यों कि छोटे बड़े व्रतादि, पूजा-पाठ रुक जानेसे जो कष्ट स्त्रियोंको पड़ने लगा इससे पुरुषवर्ग एकदम ही मुक्त था। किन्तु विवाह कार्यादिमें स्त्रियोंसे अधिक कठिनाई पुरुषों के मार्ग में आ खड़ी होती थी।

किन्तु जिसे कोई धर्मकृत्य ही करनेकी इच्छा नहीं है, या जो अपने यहां किसी बहाने से भी दस-बीस मनुष्यों को बुलाना नहीं चाहता, उसे बहिष्कृतसे कोई हानि नहीं पहुँच सकती। इस तरह आजन्म स्वयं बहिष्कार होकर रहनेवाले कई व्यक्तियों के नाम हमें भी मालूम हैं। किन्तु जिनका ढंग इस प्रकार का नहीं है, उन्हें भी बहिष्कार का अनुभव कभी कभी होही जाता है। सम्पन्न और सुशिक्षित व्यक्ति प्रसंगविशेष पर प्रयत्न-पूर्वक निस्तार पा जाते हैं, अथवा ऐसे प्रसंगों को कौतुक समझ कर सहन भी कर सकते हैं, किन्तु गरीबों की इसमें बेतरह दुर्गति होती है क्योंकि संघ में रहना ही मनुष्य की प्रधान शक्ति और उसका सच्चा सुख है। 'Man is a gregarious animal' यदि यह सिद्धान्त सत्य है, तो मनुष्य के लिए बहिष्कृतता से बढ़कर संकट एवं दुःख और क्या हो सकता है? किसी २ जाति में हुक्का-पानी बन्द कर देने का दंड लगभग फाँसी के ही समान कठोर समझा जाता है। इसी प्रकार सुशिक्षितों को भी बहिष्कार केवल मनोरंजन का साधन नहीं जान पड़ता। स्वयं तिलक ने इस बात का भलीभांति अनुभव किया है। किन्तु वे धार्मिक कृत्यों को नहीं छोड़ बैठे

थे, और यह बात उनके स्वभाव में आ पड़ी थी कि चार आदमी उनके यहां आते जाते रहें। किन्तु जबतक यह प्रायश्चित्त-प्रकरण चलता रहा, तबतक विवश हो कर उन्हें कुछ मित्रों के संसर्ग एवं पंक्तिभोजसे वंचित रहना पड़ा। पर विशेष कठिनाई सन १८९२ और १८९३ में पड़ीं, जबकि उनके यहां दो कार्य -अर्थात् सन १८९२ में बड़े पुत्र विश्वनाथ का उपवीत संस्कार और सन १८९३ में बड़ी पुत्री का विवाह-हुए! अर्थात् इन दोनों कार्यों के लिए कोई ब्राह्मणतक मिलना कठिन हो गया! यदि इस दूसरे प्रसंग पर उन्हें समधी कहीं पुराने विचार का मिलता तब तो अवश्य ही बड़ी मुश्किल हो जाती। किन्तु उनके समधी बापूसाहब केतकर खुद ही सुधारक एवं प्रार्थना-समाजी थे, अतएव तिलक सहज ही में कार्यमुक्त हो गये। पूने में बहिष्कृत लोंगो के लिए जो एक उपाध्याय निश्चित कर दिया था, उसीसे तिलक ने अपने यहां का सब कार्य करवाया। यह उपाध्याय रानड़े के घर के आश्रितों में से ही था। कृष्णपक्षवाले लोगों के सभी काम इसके द्वारा होते थे। किन्तु यज्ञ-कार्यादि के लिए जो ब्राह्मण होता है, उससे कहीं अधिक अवश्यकता उस समय रसोइये की थी क्योंकि तिलक यदि चाहते तो खुद भी हाथ में पुस्तक लेकर प्रत्येक धर्मकृ को करा सकते थे, और उपरोक्त प्रायश्चित्त प्रकरण चलता रहने की दशामें उन्हों अपनी घरकी श्रावणी भी खुद ही पुस्तक पर से कर ली थी। किन्तु यह का केवल आदर्शवत् ही था। क्योंकि स्वयं यजमान के लिए एक हाथ में पुस्तक लेक दूसरे से विवाह या व्रतबंध जैसे बड़े २ संस्कारों के वैदिक कृत्य कर सकना अशक होता है। प्रसंग आनेपर एक आध बार यह भी हो सकता था, किन्तु समारा धन के लिए रसोई की कैसे व्यवस्था होती? क्योंकि तिलक अधिक से अधि हवनकार्य के लिये अथवा अपने भोजन के लिए पर्याप्त भात बना लेते, किन्तु विवाह उपवीतादि के निमित्त सैंकड़ों मनुष्यों के भोजन का वे क्या प्रबंध करते? और आश्चर्यजनक बात यह हुई कि इन्हें उपाध्याय तो जैसे तैसे मिल गया, किन्तु रसोईये की कुछ भी व्यवस्था न हो सकी! कितनी ही बार तिलक की धर्मपत्नी का अपनी पड़ौसिन स्त्रियों से अन्नादि ठीक करवा लेना पड़ा; अंततः उन (तिलक) के एक राजवंशी मित्र ने अपने रसोइयों को भेजकर जैसे तैसे इनका कार्य निपटवाया।

उसी समय एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हुआ था कि, इस मंगल कार्य के प्रसंग कसबा पेठ के गणपति के मंदिर में बहिष्कृत तिलक को ले जाने दिया जाय या नहीं। किन्तु इसके लिए तिलक प्रत्यक्ष प्रतिकार करनेको तैयार हो गये थे। क्योंकि वे इस ढंगसे अपशकुनारंभ कभी करते ही न थे, बल्कि उनके घर के

तो यह रीति थी कि इक्के या गाड़ी में एक स्त्री, एक पुरुष और तीसरा उपाध्याय ये तीन व्यक्ति आकर चुपचाप ग्रक्षत दे जाते। किन्तु तिलक के घर के अक्षत देनेवाले तीन व्यक्ति होनेपर भी बिना गाजे-बाजे के ही उसकी खबर लोगों को हो सकती थी! उसमें भी फिर उनके बहिष्कृत होनेके कारण मंदिर के पुजारी की दृष्टि भी उनके अक्षतोंपर रहना स्वाभाविक था। प्रथम कार्य के समय जब यह प्रश्न निकला तो उपाध्याय से तिलक ने यही कहा कि संध्यासमय तुम चुपचाप अक्षत लेकर देवालय में जाना। और वहां जाने पर यदि तुम्हें कोई रोके तो पास ही आनंदोद्भव थियेटर की सभा में से मुझे बुलवा लेना, फिर मैं देख लूंगा कि कौन सामने आता है। किन्तु सौभाग्यवश देवालय में किसीने चूंतक नहीं किया, और वह कार्य यथानियम हो गया। विवाहकार्य की ही तरह श्राद्धपक्ष में भी उन्हें कठिनाई पड़ने लगी। फिर भी तिलक ने देवस्थान एवं पितृस्थान में बिठाने के लिए प्रायश्च ब्राह्मणों को न बुलाकर कई दिनोंतक घटश्राद्ध ही से काम चलाया। क्योंकि घट के समान पवित्र, शुचिर्भूत, मौनमुख एवं भोजनादि की निंदा, स्तुति न करते एवं दक्षिया के लिए हठ न करनेवाला ब्राह्मण कहां से मिलता? किन्तु जब घटों के गुण चलता-बोलता ब्राह्मण भय लेने के लिए न मिलने लगे तो किसे कठिनाई का सामना न करना पड़ेगा।

पुरुषों की इन नैमित्तिक विपत्तियों एवं सुसराल-नैहर आनेजानेवाली छोकरियोंके लिये घर की स्त्रियों की कठिनाइयों के ही कारण अन्त में लोगों को प्रायश्चित्त के लिए बाध्य होना पड़ा। स्वयं तिलक की असुविधाओं का वर्णन तो हम ऊपर कर ही चुके हैं, इसी प्रकार रानडे-पक्षवालों की कठिनाइयों का भी पार न था। अतएव वे लोग रानडे के पास आकर धीरे २ अपनी राम-कहानी सुनाते और डरते २ प्रायश्चित्त की चर्चा उठाने लगे। उनका कहना था कि "हमारे स्त्री-वर्ग को बड़ी कठिनाई पड़ रही है। वे कहती हैं कि चाय पीनेवालों का तो कुछ न बिगड़ा, और उसका दंड हमारी बेटियों को भोगना पड़ रहा है, प्रत्येक त्यौहार पर वे असन्तुष्ट रहती हैं, और उनकी आँखों में पानी आये बिना नहीं रहता। इसी नगर में ब्याही हुई हमारी पुत्रियां आज दो वर्षों से नैहर न आ सकीं। वे बारम्बार खबर भिजवाती हैं और उसे सुन २ कर हमें मनमसोस् कर रह जाना पड़ता है।" रानडे की भगिनी ने एकदिन उनसे पूछा कि जब तुमने खुद चाय नहीं पी, तो फिर इसे प्रकट करके दोषमुक्त क्यों नहीं हो जाते? व्यर्थ ही में लोकापवाद के भागी क्यों बन रहे हो?" इसपर रानडे ने यह उत्तर दिया कि "ऐसा हो कैसे सकता है? मैं जब समाज में रहता हूं, और उन्हीमें से एक कहलाता हूं, तो फिर उन लोगों ने जो कुछ किया है, उससे यदि मैं

थे, और यह बात उनके स्वभाव में आ पड़ी थी कि चार आदमी उनके यहां आते जाते रहें। किन्तु जबतक यह प्रायश्चित्त–प्रकरण चलता रहा, तबतक विवश हो कर उन्हें कुछ मित्रों के संसर्ग एवं पंक्तिभोजसे वंचित रहना पड़ा। पर विशेष कठिनाई सन १८९२ और १८९३ में पड़ीं, जबकि उनके यहां दो कार्य –अर्थात् सन १८९२ में बड़े पुत्र विश्वनाथ का उपवीत संस्कार और सन १८९३ में बड़ी पुत्री का विवाह–हुए! अर्थात् इन दोनों कार्यों के लिए कोई ब्राह्मणतक मिलना कठिन हो गया! यदि इस दूसरे प्रसंग पर उन्हें समंधी कहीं पुराने विचार का मिलता तब तो अवश्य ही बड़ी मुश्किल हो जाती। किन्तु उनके समधी बापूसाहब केतकर खुद ही सुधारक एवं प्रार्थना–समाजी थे, अतएव तिलक सहज ही में कार्यमुक्त हो गये। पूने में बहिष्कृत लोंगो के लिए जो एक उपाध्याय निश्चित कर दिया था, उसीसे तिलक ने अपने यहां का सब कार्य करवाया। यह उपाध्याय रानडे के घर के आश्रितों में से ही था। कृष्णपक्षवाले लोगों के सभी काम इसके द्वारा होते थे। किन्तु यज्ञ–कार्यादि के लिए जो ब्राह्मण होता है, उससे कहीं अधिक अवश्यकता उस समय रसोइये की थी। क्योंकि तिलक यदि चाहते तो खुद भी हाथ में पुस्तक लेकर प्रत्येक धर्मकृत्य को करा सकते थे, और उपरोक्त प्रायश्चित्त प्रकरण चलता रहने की दशामें उन्होंने अपनी घरकी श्रावणी भी खुद ही पुस्तक पर से कर ली थी। किन्तु यह कार्य केवल आदर्शवत् ही था। क्योंकि स्वयं यजमान के लिए एक हाथ में पुस्तक लेकर दूसरे से विवाह या व्रतबंध जैसे बड़े २ संस्कारों के वैदिक कृत्य कर सकना अशक्य होता है। प्रसंग आनेपर एक आध बार यह भी हो सकता था, किन्तु समाराधन के लिए रसोई की कैसे व्यवस्था होती? क्योंकि तिलक अधिक से अधिक हवनकार्य के लिये अथवा अपने भोजन के लिए पर्याप्त भात बना लेते, किन्तु विवाह उपवीतादि के निमित्त सैंकड़ों मनुष्यों के भोजन का वे क्या प्रबंध करते? और आश्चर्यजनक बात यह हुई कि इन्हें उपाध्याय तो जैसे तैसे मिल गया, किन्तु रसोईये की कुछ भी व्यवस्था न हो सकी! कितनी ही बार तिलक की धर्मपत्नी का अपनी पड़ोसिन स्त्रियों से अन्नादि ठीक करवा लेना पड़ा; अंततः उन (तिलक) के एक राजवंशी मित्र ने अपने रसोइयों को भेजकर जैसे तैसे इनका कार्य निपटवाया।

उसी समय एक प्रश्न यह भी उत्पन्न हुआ था कि, इस मंगल कार्य के अक्षत कसबा पेठ के गणपति के मंदिर में बहिष्कृत तिलक को दे जाने दिया जाय या नहीं। किन्तु इसके लिए तिलक प्रत्यक्ष प्रतिकार करनेको तैयार हो गये थे। क्योंकि वे इस ढंगसे अक्षतसमारंभ कभी करते ही न थे, बल्कि उनके घर की

बस फिर देर का काम ही क्या था! तत्काल ही प्रायश्चित्त के लिए दिन नियत किया जाकर नगरकर वकील ने सारी तैयारी कर ली, और रानडे एक दिन के लिए पूना आकर प्रायश्चित्त से निपट फिर लोनावला चले गये । इस कार्य के कई-एक परिणाम हुए । जीजी ने भय्या को धन्यवाद दिया, और रमाबाई साहबा ने मन ही मन अपने भोले एवं भीरु पति को खूब कोसा । इसी प्रकार यह सोचकर कि मेरे पति की मानहानि हो रही है,-और यह भी दूसरों के लिए-उन्हें रोना आगया । सुधारक दल में असंतोष फैल गया और कुछ लोगोंने तो बम्बई के अंग्रेजी पत्रों में माधरावजी पर खुल्लम् खुल्ला टीका-टिप्पणी भी की । इसके बाद एकबार जब रमाबाई ने ही प्रकट रूपमें दोष देकर रानडे से पूछा कि प्रायश्चित्त क्यों किया ? तब रानडे ने सरल शब्दों में यों उत्तर दिया कि "तुम्हें यह बात मुझसे न पूछते हुए खुद ही सोचनी चाहिये थी। क्योंकि हमारे किसी पुत्रादि का कोई कार्य रुका नहीं है, और घर की सब धर्म-विधियां भी यथानियम हो रही हैं। ऐसी दशामें मैंने केवल दूसरों के ही लिए प्रायश्चित्त किया है । यह बात बिना मेरे कहेही तुम्हें समझ लेनी चाहिये थी । जिस प्रकार भलीभांति विचार करनेके बाद मैंने यह बात कही, उसी प्रकार बिना किसी विकार के वश होते हुए यदि तुमने भी थोड़ी ही देर विचार किया होता तो यह बात तुम्हारे भी समझ में आसकती थी।" दूसरों के लिए स्वीकार किये हुए इस दोष का पुरस्कार केवल यही हो सकता है कि वह हमारी कृतियों द्वारा सुख का अनुभव करे। फलतः यह पुरस्कार गोविंदराव कानिटकर के प्रायश्चित्त द्वारा दोषमुक्त होकर अपने पिता को सुखी करते हुए प्रसन्नचित्त से लोनावला लौट आने पर रानडे को भी मिल गया।

इस घटना का वर्णन रमाबाई साहबा ने अपनी मृदु भाषा में इस प्रकार लिखा है;-" वे प्रायश्चित्त से निवृत्त हो कर जब लोनावला को आये, उस समय सब लोग मकान के बरामदे में आरामकुर्सी पर बैठे हुए समाचारपत्र सुन रहे थे। कानिटकर के आते ही उन्होंने (रानडे ने) हँसकर पूछा "कहो, कैसी गुजरी ?" इस के उत्तर में कानिटकर ने तत्काल ही उत्तर दिया कि "आपके कथन की सत्यता का मुझे पूर्ण अनुभव हो गया। पिता के सच्चे प्रेम एवं तत्सम्बन्धी सच्चे सुख का अनुभव मुझे उसी समय हुआ। जब मैं प्रायश्चित्त करके उठा तब ब्राह्मणोंने मुझे 'पिता को प्रणाम' करनेके लिए कहा । अतएव मैं पिताके पास जाकर प्रणाम करनेके लिए जैसे ही नीचेको झुका कि तत्काल उन्होंने मुझे छाती से लगाकर गद्गद् कंठ से कहा कि "इतने मनुष्यों में आज तूने मेरा मुख उज्वल किया है। " इन शब्दों के साथ ही उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु टपकने

बचा भी होऊं तो भी कहा यही जायगा कि मैं भी उसमें शामिल था। क्योंकि चाय पीने या न पीने में कोई विशेष पाप पुण्य नहीं समझता। किन्तु जिन लोगों के साथ मुझे रातदिन उठना–बैठना पड़ता है, उन्हे छोड़कर अलग हो जाना मैं कभी पसंद न करूंगा। ले–देकर भट्ट–भिक्षुकों की ही तुम्हें कठिनाई पड़ती है, सो यह हमारे हाथ की बात है, जितने कहोगी उतनोंका प्रबंध कर दिया जायगा। बात यही होगी कि खर्च कुछ बढ़ जायगा, किन्तु इसके लिए लाचारी है।"

किन्तु इस युक्तिवाद से उनका समाधान न हुआ। अतएव दूसरों की कठिनाईपर दृष्टि डालते हुए रानडे इस विचार में पड़ गये कि प्रायश्चित्त किया भी जाय तो कैसा किया जाय! सन १८६२ में रावसाहब गोविन्दराव कानिटकर मुन्सिफ मई मास की छुट्टीमें घर (पूना) आये, इसी वर्ष उनके यहां भी दो मंगल कार्य होनेको थे। अतएव उनके पिता वासुदेव बापूजी उर्फ दादासाहब कानिटकर इस बात के लिए अनुरोध करने लगे कि शंकराचार्य के निर्णय की प्रतीक्षा न करते हुए प्रायश्चित्तद्वारा सारी गड़बड़ से मुक्त हो जाओ। किन्तु खुद गोविन्दराव और उनकी भार्या काशीबाई जोरशोरसे जुबानीमें धुंद थे, अतएव सिद्धान्त के विषय में उनका हृदय उतना ही दृढ़ बना हुआ था। जब उन्होंने रानड़े के पास आकर इसके लिए सम्मति मांगी, तो रानड़े ने तात्कालिक उपाय यह बतलाया कि, छुट्टी में आप सब लोग लोनावले में हमारे यहां आकर रहिये! कानिटकर ने इस बातको स्वीकार करके लोनावला चले गये। किंतु दादासाहब को इससे बहुत बुरा लगा। वे बारम्बार पत्र भेजकर अनुरोध करने लगे कि "तुम प्रायश्चित्त करके घर चले आओ; और इस बुढ़ापे में किसी तरह मुझे सुखी करो।" अंततः जब ये पत्र ले जाकर गोविन्दराव ने रानडे को दिखाये, तब उन्होंने यही सलाह दी कि "सब प्रकार की मानहानि एवं हीनता को सहन करके भी तुम्हें अपने पिता को संतुष्ट करना चाहिये, क्योंकि इस समय यही तुम्हारा प्रधान कर्तव्य है।" इसपर गोविन्दराव ने यह अड़ंगा लगाया कि, तुम्हारे साथ हम भी है, यदि तुम प्रायश्चित्त नहीं करते तो हम क्यों करें? और यदि तुम सचमुच ही प्रायश्चित्त के लिए सलाह देते हो तो तुम्हें भी हमारे साथ ही प्रायश्चित्त करना चाहिये। इसी अवसर में रावोपंत नगरकर को अगुवा बनाकर पूना के रानडे-पक्ष के और भी दस–पांच व्यक्ति लोनावला आकर और इस बातका आग्रह करने लगे कि, कमसेकम हम सब लोगोंके उद्धार के लिए ही आपको प्रायश्चित्त कर डालना चाहिये। इसपर रानडे ने यह उत्तर दिया कि यदि मेरे प्रायश्चित्त कर लेनेसे तुम्हारी कठिनाइयां दूर हो सकती हैं तो मैं खुशीसे वैसा करनेको तैयार हूं, जिद न करूंगा।"

बस फिर देर का काम ही क्या था! तत्काल ही प्रायश्चित्त के लिए दिन नियत किया जाकर नगरकर वकील ने सारी तैयारी कर ली, और रानडे एक दिन के लिए पूना आकर प्रायश्चित्त से निपट फिर लोनावला चले गये। इस कार्य के कई-एक परिणाम हुए। जीजी ने भय्या को धन्यवाद दिया, और रमाबाई साहबा ने मन ही मन अपने भोले एवं भीरु पति को खूब कोसा। इसी प्रकार यह सोचकर कि मेरे पति की मानहानि हो रही है,-और वह भी दूसरों के लिए-उन्हें रोना आगया। सुधारक दल में असंतोष फैल गया और कुछ लोगोंने तो बम्बई के अंग्रेजी पत्रों में माधरावजी पर खुल्लम् खुल्ला टीका-टिप्पणी भी की। इसके बाद एकबार जब रमाबाई ने ही प्रकट रूपमें दोष देकर रानडे से पूछा कि प्रायश्चित्त क्यों किया? तब रानडे ने सरल शब्दों में यों उत्तर दिया कि "तुम्हें यह बात मुझसे न पूछते हुए खुद ही सोचनी चाहिये थी। क्योंकि हमारे किसी पुत्रादि का कोई कार्य रुका नहीं है, और घर की सब धर्म-विधियां भी यथानियम हो रही है। ऐसी दशामें मैंने केवल दूसरों के ही लिए प्रायश्चित्त किया है। यह बात बिना मेरे कहेही तुम्हें समझ लेनी चाहिये थी। जिस प्रकार भलीभांति विचार करनेके बाद मैंने यह बात कही, उसी प्रकार बिना किसी विकार के वश होते हुए यदि तुमने भी थोड़ी ही देर विचार किया होता तो यह बात तुम्हारे भी समझ में आसकती थी।" दूसरों के लिए स्वीकार किये हुए इस दोष का पुरस्कार केवल यही हो सकता है कि वह हमारी कृतियों द्वारा सुख का अनुभव करे। फलतः यह पुरस्कार गोविंदराव कानिटकर के प्रायश्चित्त द्वारा दोषमुक्त होकर अपने पिता को सुखी करते हुए प्रसन्नचित्त से लोनावला लौट आने पर रानडे को भी मिल गया।

इस घटना का वर्णन रमाबाई साहबा ने अपनी मृदु भाषा में इस प्रकार लिखा है;-" वे प्रायश्चित्त से निवृत्त हो कर जब लोनावला को आये, उस समय सब लोग मकान के बरामदे में आरामकुर्सी पर बैठे हुए समाचारपत्र सुन रहे थे। कानिटकर के आते ही उन्होंने (रानडे ने) हँसकर पूछा "कहो, कैसी गुजरी?" इस के उत्तर में कानिटकर ने तत्काल ही उत्तर दिया कि "आपके कथन की सत्यता का मुझे पूर्ण अनुभव हो गया। पिता के सच्चे प्रेम एवं तत्सम्बन्धी सच्चे सुख का अनुभव मुझे उसी समय हुआ। जब मैं प्रायश्चित्त करके उठा तब ब्राह्मणोंने मुझे 'पिता को प्रणाम' करनेके लिए कहा। अतएव मैं पिताके पास जाकर प्रणाम करनेके लिए जैसे ही नीचेको झुका कि तत्काल उन्होंने मुझे छाती से लगाकर गद्गद् कंठ से कहा कि "इतने मनुष्यों में आज तूने मेरा मुख उज्वल किया है।" इन शब्दों के साथ ही उनके नेत्रों से अश्रुबिन्दु टपकने

लगे। उन्हें देखकर मैं भी अपने हृदय को न सम्हाल सका और मेरे नेत्रों से भी आँसू टपक पड़े। इससे पहले मैंने पिता को इस तरह प्रेमभाव व्यक्त करते और आँसू बहाते कभी नहीं देखा था। और प्रायश्चित्त के लिए संकल्प हाथ में लेते समयतक मुझे यही प्रतीत होता था कि मैं यह अनुचित कार्य कर रहा हूं।

किन्तु तिलक की दशा रानडे से एकदम विरुद्ध थी। यह हम ऊपर बतला ही चुके हैं कि बहिष्कार का अनुभव उन्हें किस प्रकार हो रहा था। किंतु उन्होंने घर या बाहर के किसी मनुष्य के दबाव में आकर प्रायश्चित्त नहीं किया था। क्योंकि रानडे की तरह तिलक के प्रायश्चित्त पर उनके मित्रों में से किसी का काम रुक न रहा था। और यदि कोई रुकता भी तो ऐसे वैकल्पिक कारण के लिए तिलक कभी व्यक्तिगत मानहानि सहन करने को तैयार न होते। घर में उनसे अधिक आग्रह करनेवाला व्यक्ति कोई भी न था। क्योंकि उनकी भार्या एकदम पुराने विचार की थीं, और साथ ही वे अशिक्षिता एवं भीरु स्वभाव की भी थीं। क्योंकि वे तिलक के हठीले स्वभाव को जानती थीं, अतएव किसी काम के लिए अड़कर बैठने या उसके लिए लाचार करनेकी आदत उन्हें नहीं थी। रहे घरके बड़े-बूढ़े काका साहब, सो उनके हिसाब से तिलक का मान इतना बढ़गया था कि, वे तक इन्हें किसी कार्य में सलाह देनेके लिए अपने को अयोग्य समझते थे। किन्तु इन सबसे बढ़कर एक खास बात तिलक में यह थी कि वे घर या बाहर के रिश्तेदारों की अपेक्षा जनसमाज का ही प्रभाव अधिक मानते थे।

जहां रानड़े समाज को साथ रखने की बात ध्येय के रूपमें मानते थे, वहीं तिलक ने इसे अपनी सामाजिक आचारनीति का एक आदि सिद्धान्त बना रक्खा था। उनका वाद समग्र समाज से न था। अर्थात् वे इस बात को मानने- के लिए हरदम तैयार रहते थे कि यदि ईसाइयों के हाथ चाय पीना धार्मिक दृष्टि से अपराध माना जाय तो इसके लिए दंडस्वरूप प्रायश्चित्त करानेविषयक समाज को पूर्ण अधिकार हैं। किंतु समष्टिरूप समाज का अधिकार मानने पर भी अपने से झगड़नेवाले प्रतिपक्षीयों की मनमानी अन्धा-धुन्दी को वे कभी बर्दाश्त न कर सकते थे। "प्रायश्चित्त करने या न करने का विचार मैं अपने लिए भलीभांति कर सकता हूं, अतएव इस विषय में मैं किसी की न सुनूंगा। यदि प्रायश्चित्त लेना ही पड़ा तो उसे मैं हर किसी रूपमें, जहां इच्छा होगी वहीं अपने आप कर लूंगा" तिलक के मतानुसार प्रायश्चित्त करना कारावास के दंड के समान मान लेने पर भी वह कारागार एक ही स्थानपर नहीं, जहां भी वह हो वहां उस की बन्दिश नहीं और जहां बन्दिश हो वहा भी उसके अधिकारी निश्चित नहीं। अर्थात् किसी एक जेल में रह आने का प्रमाणपत्र दिखलाने से काम

चल सकता है। इसी लिए उन्होंने काशीयात्रा का मौका साधकर वहां सब प्रकार का प्रायश्चित्त स्वेच्छापूर्वक करके प्रमाणपत्र को अपने पास रख छोड़ा था।

धार्मिक विवाद की ही तरह तिलक की दृष्टि से इस प्रकरण में स्थानिक वाद भी शामिल था। क्यों कि रानडे को किसी से झगड़ना नहीं था, अतएव उन्होंने सरलतापूर्वक पूना आकर लगभग प्रकारयरूप में ही प्रायश्चित्त करलिया, और ऐसहाद मिशनवाले चायपान के निमित्त ही उसके करनेकी बात प्रकट की। किन्तु तिलक ने इस वाद के प्रत्येक अंग और उपांग तकके लिए पूरा २ जोर लगाकर सब बातोंकी समीक्षा की। यदी उनके सामने कोई यह कहता कि चाय-पीने के कारण ही यह प्रायश्चित्त किया गया, तो वे स्मृतिग्रंथों परसे इस बात सकके सिद्ध करनेको तैयार रहते थे कि चायका मतलब केवल-दूध-पानी, शकर और चायकी पत्तियोंसे है! ये वस्तुएँ यदि ईसाई के हाथसे भी ली जाएँ तो इसमें कोई बुराई नहीं है! इसी प्रकार यदि कोई उनसे यह कहता कि आपने प्रायश्चित्त नहीं किया, तो इसके उत्तर में यह बतलाने को भी वे प्रस्तुत थे कि मैंने यह सब विधि काशीमें गंगास्नान के द्वारा और पूने में सर्वप्रायश्चित्त के रूप में पूर्ण कर ही दी है। यदि कोई चाय के लिए प्रायश्चित्त करनेकी बात कहता तो इस बातकी शपथ लेने को भी स्वतंत्र थे कि मैंने चायपान के पातक का संकल्प या उच्चारणतक नहीं किया। यदि स्थानिक लोगोंसे मिलकर कोई आपत्ति दूर होने की संभावना दिखाई देती तो वे यहांतक का व्यावहारिक मन्त्र भाषण कर दिखाते थे कि "शंकराचार्य दूर हैं, वे अच्छे हैं, किन्तु यदि हम सब ही एकमत हो जायँ तो वे विचारे क्या कर सकते हैं?" फलतः यदि जगद्गुरु का आज्ञापत्र लाकर नगर के विपक्षियों का मानमर्दन किया जा सकता हो तो फिर शंकराचार्य के अधिकार के लिए तिलक से बढ़कर पुष्ट आधारस्तंभ और कौन हो सकता था? जगद्गुरू के भेजे हुए न्यायाधीश शास्त्री को अनुकूल देखकर तिलक ने नातूप्रभृति वादी पक्षवालों की अपात्रता सिद्ध कर फजीहत उड़वादी; किन्तु यदि कोई अधिकारी शास्त्री प्रतिकूल हो जाता तो अपनी विद्वत्ता के बलपर उसके मस्तिष्क में स्मृतिग्रंथों के आधाररूपी शस्त्र का प्रहार कर उसे पराजित करनेको भी तिलक दंड ठोक कर तैयार थे। मतलब यह कि तिलक ने अपने दृष्टिपथ में केवल यही मुख्य ध्येय रख छोड़ा था कि 'स्वधर्म का अपमान' न होने देकर समाज का यथाशक्य साथ देते हुए व्यवहार किया जाय। इस ध्येय के सिद्ध हो जाने पर तो वे 'श्री' से लगाकर 'श्रीमान' तक यथा प्रसंग हरएक के साथ झगड़कर व्यक्तिवर्चस्व स्थापित करके ही रहते थे। और इस सारे ग्रामण्य-प्रकरण को वे खेलसाही समझकर सब काम कर रहे थे।

यही कारण है कि रानडे के आचरण में सरलता और तिलक की बातों में वक्रता दिखाई दी। किन्तु इसका मूल हेतु यही था कि रानडे किसी भी प्रतिपक्षी से लड़ना नहीं चाहते थे, और तिलक के प्रतिपक्षी यदि रानडे से अधिक होते तोभी वे उन सबसे झगड़कर अवश्यमेव विजयी होने की महत्वाकांक्षा रखते थे।

'पूना-वैभव' में चायपार्टीवाले लोगों के नाम छप जाने पर यह प्र उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था कि तिलक अब किन लोगों का साथ देंगे। क्योंि यदि सदैव के अनुसार वे सुधारकों के प्रतिस्पर्धी बनकर पूना वैभव का पक्ष लेन चाहते तोभी असफल होते, क्यों कि वे खुद ही चायपार्टी में मौजूद थे। यदि सुधारकों का पक्ष लेते हैं तो उनकी पूर्ण सहानुभूति पुराणमतवादियों की ओर थी। उस समय की जानकारी रखनेवाले एक सज्जन बतलाते हैं कि "नातूपक्ष ने यदि आरंभमें ही तिलकको किंचित सुविधा देकर सहानुभूति का व्यवहार किया होता तो अपने पक्ष की ओरसे सुधारकों के साथ झगड़ने के लिए उन्हें एक अच्छा शास्त्री मिल सकता था। किन्तु उनलोगों के पास सूक्ष्म विवेक तो नाम को भी न था। अर्थात् वे हमेशा इसी ध्येयको सामने रखकर काम करते थे कि किसी एक बात को लेकर उसे किसी एक सिरेतक खींच ले जाना, और वही रस्सी की तरह खूटीसे उसे लपेटकर रस्सीके टूटने तक खींचते हुए बैठ रहना। यही कारण था कि इस समय तिलक नातूपक्ष के प्रतिनिधि न बनकर प्रति- वादी ही बने। किन्तु इस परसे यह नहीं कहा जा सकता कि तिलक ने सुधारकों का पक्ष ही सोलहो आने स्वीकार कर लिया था। नातूपक्ष ने तिलक के प्रायश्चित्त के विषय में दुराग्रहरूपी जो भूल की, वही पूनावैभव पर इससे पहले मानहानि का अभियोग चलाने में सुधारकों के हाथसे भी हुई। क्योंकि पूनावैभव ने चायपार्टी में जिन २ लोगों के नाम छापे थे वे सब ठीक थे। हाँ; यह प्रश्न अवश्य हो सकता था कि उनमें से किन २ ने चाय पी और किन्होंने नहीं। किन्तु सुधारकपक्ष के कुछ लोगों ने वकीली ढंग से यह विवाद खड़ा किया कि इस मानहानि के अभि- योग में सच झूँठ का प्रश्न नहीं है, बल्कि जातिधर्म के कार्य करनेकी खबर समाचारपत्र द्वारा फैलाई जाने से विजातियों में भी इस चर्चा चल पड़ी है। यदि इस विषय में एक-आध हैंडबिल छपवा कर केवल स्वजाति के ही लोगों में बाँट दिया जाता तो इसमें आक्षेप के लिए कोई जगह न रहती। किन्तु इस समय यह आवश्यकता से अधिक प्रकाशन "एक्सेसिव्ह पब्लिकेशन का" अपराध हो गया है। बस; इसी मुद्दे पर दावा दायर किया गया। यद्यपि उन लोगोंमें खुद तिलक का भी नाम छपा था कि फिर भी यह इच्छा उन्हों की कि में पूना- चलाया जाय। इस भि-

योग शुरू हो गया, तब तिलक की सहानुभूति पूर्णप्रकार से पत्रसंपादक की ओर हो गई और उन्होंने इसके बचाव के काम में भी सहायता की। इस पर से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यदि वह मामला न चलता तो तिलक अव-रय ही सुधारकों के साथ रहते। किन्तु दैवयोग से वैसा न हो सका। बल्कि नातू ने भी इस प्रकरण से लाभ उठाकर प्रकटरूप में तिलक पर यह दोषारोप किया कि "तिलक पाखंडी हैं, उनका धर्माभिमान मुँहदेखा है, और समय आने पर वे जाति-धर्म के विरुद्ध आचरण करने को भी तैयार हो सकते हैं। ये बातें चाय प्रकरण परसे स्पष्ट प्रकट होती हैं। इसी आक्षेप के कारण नातूपक्ष उनकी सहायता पानेसे वंचित रहा। यही नहीं वरन् अंततक जो झगड़ा हो रहा वह मुख्यतः तिलक और नातूपक्ष में ही रहा!

त्रयोदश-विभाग परिशिष्ट (१)

एक अंतरंग का प्रश्न

पूना ता. १३ अप्रैल सन १६००

राजमान्य राजेश्री माननीय बलवंत रावजी तिलक स्वामी की सेवा में पोष्य बलवन्त रामचंद्र नातू का सविनय निवेदन इस प्रकार है कि, आपकी ओरसे वसंतपूजा में सम्मिलित होने का निमंत्रणपत्र आनेके कारण अपनी जानकारी के लिए निम्नलिखित बातों का उत्तर पाना आवश्यक समझ सेवा में यह पत्र भेज रहा हूं। कृपा कर मेरा शंकासमाधान कर दीजिये

(१) मिशन हाउस में चाय पीने और हम दोनों पर अभी जो आपत्तियां आयी, और उनमें हमें भोजनादि का जो संसर्गदोष लगा, इन दोनोंके लिए क्षौरसहित प्रायश्चित्त की आवश्यकता पर क्या आप विश्वास करते हैं?

(२) यदि आप विश्वास रखते हैं, तो इसके लिए आपने यहां कुछ न कर तीर्थ-क्षेत्रमें जो प्रायश्चित्त किया, उसे क्या उक्त दोनोंसे मुक्त होनेका संकल्प किया था?

इन बातों का उत्तर जितना भी शीघ्र हो सके, देनेकी कृपा कीजिये। विशेष विनय।

भवदीय—

बलवंत रामचंद्र नातू

Dear sir,

If you really desire to have my company this night I hope you will kindly answer the questions put by Shreemant Balasaheb with sincerity & oblige.

Yours obediently

13-4-1900 B. R. Vaidya

यही कारण है कि रानडे के आचरण में सरलता और तिलक की बातों में [illegible] दिखाई दी। किन्तु इसका मूल हेतु यही था कि रानडे किसी भी प्रतिपक्षी से लड़ना नहीं चाहते थे, और तिलक के प्रतिपक्षी यदि रानडे से अधिक होते [illegible] वे उन सबसे झगड़कर अवश्यमेव विजयी होने की महत्वाकांक्षा रखते थे।

योग शुरू हो गया, तब तिलक की सहानुभूति पूर्णप्रकार से पत्रसंपादक की ओर हो गई और उन्होंने इसके बचाव के काम में भी सहायता की। इस पर से यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यदि वह मामला न चलता तो तिलक अवश्य ही सुधारकों के साथ रहते। किन्तु दैवयोग से वैसा न हो सका। बल्कि नातू ने भी इस प्रकरण से लाभ उठाकर प्रकटरूप में तिलक पर यह दोषारोप किया कि "तिलक पाखंडी हैं, उनका धर्माभिमान मुँहदेखा है, और समय आने पर वे जाति-धर्म के विरुद्ध आचरण करने को भी तैयार हो सकते हैं। ये बातें चाय प्रकरण परसे स्पष्ट प्रकट होती हैं। इसी आक्षेप के कारण नातूपक्ष उनकी सहायता पानेसे वंचित रहा। यही नहीं वरन् अंततक जो झगड़ा हो रहा वह मुख्यतः तिलक और नातूपक्ष में ही रहा!

त्रयोदश-विभाग परिशिष्ट (१)

एक अंतरंग का प्रश्न

पूना ता. १३ अप्रैल सन १९००

राजमान्य राजेश्री माननीय बलवंत रावजी तिलक स्वामी की सेवा में पोष्य बलवन्त रामचंद्र नातू का सविनय निवेदन इस प्रकार है कि, आपकी ओरसे वसंतपूजा में सम्मिलित होने का निमंत्रणपत्र आनेके कारण अपनी जानकारी के लिए निम्नलिखित बातों का उत्तर पाना आवश्यक समझ सेवा में यह पत्र भेज रहा हूं। कृपा कर मेरा शंकासमाधान कर दीजिये

(१) मिशन हाउस में चाय पीने और हम दोनों पर अभी जो आपत्तियां आयी, और उनमें हमें भोजनादि का जो संसर्गदोष लगा, इन दोनोंके लिए चौरसहित प्रायश्चित्त की आवश्यकता पर क्या आप विश्वास करते हैं?

(२) यदि आप विश्वास रखते हैं, तो इसके लिए आपने यहां कुछ न कर तीर्थ-क्षेत्रमें जो प्रायश्चित्त किया, उसे क्या उक्त दोनोंसे मुक्त होनेका संकल्प किया था?

इन बातों का उत्तर जितना भी शीघ्र हो सके, देनेकी कृपा कीजिये। विशेष विनय।

भवदीय—

बलवंत रामचंद्र नातू

Dear sir,

If you really desire to have my company this night I hope you will kindly answer the questions put by Shreemant Balasaheb with sincerity & oblige.

Yours obediently

13-4-1900 B. R. Vaidya

यही कारण है कि रानडे के आचरण में सरलता और तिलक की बातों में बांका दिखाई दी। किन्तु इसका मूल हेतु यही था कि रानडे किसी भी प्रतिपक्षी से लड़ना नहीं चाहते थे, और तिलक के प्रतिपक्षी यदि रानडे से अधिक होते तो भी वे उन सबसे झगड़कर अवश्यमेव विजयी होने की महत्वाकांक्षा रखते थे।

चतुर्दश-विभाग.

—:0:—

पंडिता रमाबाईका शारदासदन।

पंडिता रमाबाई के शारदा सदन का प्रकरण समाचार पत्रोंकी मर्यादा से आगे न बढ़ सका; और न इसमें कोई पक्षभेद ही हुआ। किन्तु इस विषय का विवेचन करनेसे पूर्व हम पंडिता रमाबाई का परिचय करा देना आवश्यक समझते हैं। पंडिता रमाबाई कुछ विषयों में एक अद्वितीय स्त्री-रत्न सिद्ध हुई हैं। हिन्दू समाज की दृष्टि से उनके चरित्र का अन्त जिस प्रकार खेदकारक रहा; उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था एकदम अद्भुतता से लिये बीती।

इनके पिता अनन्तशास्त्री डोंगरे, मंगलोर अर्थात् दक्षिण कर्नाटक जिले में पश्चिम घाट की तलहटी में बसे हुए मालहेरबी नामक गाँवके रहनेवाले थे। शास्त्रीजी ने बाल्यावस्था में घरसे भागकर छह वर्षतक गुरु की सेवा में वेदाध्ययन किया। शृंगेरी मठ के तत्कालीन अधीश्वर शंकराचार्य उनके गुरुबन्धु थे। वेद पढ़ने के बाद ये पूना आकर बाजीराव पेशवा के गुरू रामचंद्र शास्त्री साठे के पास शास्त्राध्ययन करने लगे। क्यों कि बाजीराव पेशवा की धर्मपत्नी वाराणसी बाई संस्कृत का यथेष्ट अध्ययन कर शुद्ध और मधुर वाणीमें संस्कृत के श्लोक कहा करती थीं, अतएव उन्हें देखकरही अनन्तशास्त्रीके मनमें भी अपने घर की स्त्रियों को संस्कृत पढ़ानेकी इच्छा उत्पन्न हुई, कही जाती है। जब साठे शास्त्री बाजीराव के साथ ब्रह्मावर्त को चले गये, तब अनन्तशास्त्री ने भी घर लौट कर पिता के ऋण को चुकानेके लिए मैसूर महाराज वोडियरके सभापण्डित रामशेषशास्त्री द्राविड के यहां रहना शुरू किया।

दशवर्ष मैसूर में रहकर बहुतसा धन और चवँर पालकी का सम्मान प्राप्त करनेके बाद अनन्तशास्त्री घर लौट गये। इसके बाद उन्होंने लोगों का देना चुकाकर पिता को साथ ले काशी-यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। मार्ग में ही उनकी भार्या का शरीरान्त हो गया। उसे उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संस्कृत पढ़ाया था। यात्रा समाप्त हो जानेपर पिता को घर बिदा करके शास्त्रीजी काशी में ही रहे और वहां उन्होंने और भी शास्त्राध्ययन किया। इसके बाद नपाल जाकर वहांसे यथेष्ट सम्मान प्राप्त करते हुए ये गुजरात और दक्षिण प्रान्त में घूमने लगे। पैठणनामक स्थान में चेत्र बाई के किन्ही माधवराव अभ्यंकर से इनकी भेट होगई। ये महाशय विरक्त होकर सपरिवार काशी जा रहे थे, और यह यात्रा पृथ्वीपर साष्टांग नमस्कार करते हुए हो रही थी! इनके साथ एक नौ वर्षकी कन्या अम्बाबाई नाम की भी थी। अनन्तशास्त्री की अवस्था इस

समय जो भी ४४ वर्ष की हो चुकी थी, किन्तु फिर भी ये निरोग एवं सशक्त दिखाई पड़ते थे। अतएव माधवराव ने इनसे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया, और इसके बाद वे पुनः कार्शायात्रा में संलग्न हो गये।

अनन्तशास्त्री ने घर आकर अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रथम भार्या की ही तरह इसे भी संस्कृत पढ़ाया। इसके बाद घरके झगड़ोंसे बचनेके लिए ये बहुत दूर जाकर निर्जन वनमें रहने लगे। यहांतक कि जहां बाघ-भेड़ियों के सिवाय मनुष्य फटक् भी न सकता था। वहीं एक कुटी बनाकर इन्होंने अपना आश्रम खोला, और इनकी यशोदुन्दुभी सर्वत्र फैल जानेसे दूर २ के विद्यार्थी आकर इनके पास पढ़ने भी लगे। इस तरह थोड़े ही दिनों में यह आश्रम गुरुकुल बन गया। अनंतशास्त्री यद्यपि थे तो पठित शास्त्री ही, किन्तु फिर भी ये बड़े चिकित्सक बुद्धि के विद्वान थे। अतएव ये रूढ़ियों के विरुद्ध अपने स्वतंत्र मत को स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित कर देते थे। फलतः जब इस विषय में अन्य शास्त्रि-योंसे इनका विवाद होकर शंकराचार्य तक इनकी शिकायत जा पहुँची, तब शास्त्रीजी ने उसके उत्तर में शास्त्राधार निर्णयपर एक ग्रंथ भी लिख कर तैयार कर दिया था।

अपने आश्रम के क्षेत्र को ये 'गंगामूल पर्वत' कहते थे। क्योंकि वहींसे तुंगा और भद्रा आदि नदियां निकली हैं। अनन्त शास्त्री और उनकी अल्पवयस्क भार्या दोनों ही उद्योगप्रिय एवं साहसी प्राणी थे, अतएव उस भयानक जंगलमें झाड़ी आदि काटकर वहां उन्होंने सात-आठ व्यक्तियों के परिवार एवं बीस-पचीस विद्यार्थी और सौ दो सौ पशुओंके निर्वाहयोग्य कृषिक्षेत्र तैयार कर लिया था। विविध प्रकारके पुष्पवृक्षोंकी वाटिका भी उन्होंने बना ली थी। इस आश्रम में रहकर शास्त्रीजी की स्त्रीने अपना संस्कृत ज्ञान बहुत कुछ बढ़ा लिया यहां तक कि जब शास्त्रीजी घर नहीं रहते तब लक्ष्मीबाई ही विद्यार्थियोंको पढ़ा देती थीं! उस भूमिमें शास्त्रीजी साढ़े बारह वर्ष रहे। इस बीच इनके छह सन्ततियां हुईं। किन्तु उनमें रमाबाई, कृष्णाबाई और श्रीनिवास नामक पुत्र ये तीन ही जीवित रहे। रमाबाई का जन्म सन १८५८ के अप्रेल में अर्थात् वैशाख शुद्ध दशमी को हुआ था।

अनन्त शास्त्री ने कृष्णाबाई का विवाह अपनी माता के अनुरोधसे बाल्यावस्था में ही करके दामाद को अपने पास रखा। किन्तु ये घर-जवाँई दुरा-चारी निकले और इन्होंने अपने श्वशुरकी सम्पत्ति को लूट लिया। यहां तक कि बिचारे अनन्त शास्त्री एकदम दारिद्र्य कष्ट को भोगने और बिना अन्न के भूखों मरने लगे। ऐसी दशा में शास्त्रीजी ने जल-समाधि लेनेका निश्चय

चतुर्दश-विभाग.

—:0:—

पंडिता रमाबाईका शारदासदन ।

पंडिता रमाबाई के शारदा सदन का प्रकरण समाचार पत्रोंकी मर्यादा से आगे न बढ़ सका; और न इसमें कोई मतभेद ही हुआ। किन्तु इस विषय का विवेचन करनेसे पूर्व हम पंडिता रमाबाई का परिचय करा देना आवश्यक समझते हैं। पंडिता रमाबाई कुछ विषयों में एक अद्वितीय स्त्री-रत्न सिद्ध हुई हैं। हिन्दू समाज की दृष्टि से उनके चरित्र का अन्त जिस प्रकार खेदकारक रहा; उसी प्रकार उनकी बाल्यावस्था एकदम अद्भुतता से लिये बीती।

इनके पिता अनन्तशास्त्री डोंगरे, मंगलोर अर्थात् दक्षिण कर्नाटक जिले में पश्चिम घाट की तलहटी में बसे हुए मालहेरवी नामक गाँवके रहनेवाले थे। शास्त्रीजी ने बाल्यावस्था में घरसे भागकर छह वर्षतक गुरु की सेवा में वेदाध्ययन किया। शृंगेरी मठ के तत्कालीन अधीश्वर शंकराचार्य उनके गुरुबन्धु थे। वेद पढ़ने के बाद ये पूना आकर बाजीराव पेशवा के गुरू रामचंद्र शास्त्री साठे के पास शास्त्राध्ययन करने लगे। क्यों कि बाजीराव पेशवा की धर्मपत्नी वाराणसी बाई संस्कृत का यथेष्ट अध्ययन कर शुद्ध और मधुर वाणीमें संस्कृत के श्लोक कहा करती थीं, अतएव उन्हें देखकरही अनन्तशास्त्रीके मनमें भी अपने घर की स्त्रियों को संस्कृत पढ़ानेकी इच्छा उत्पन्न हुई, कही जाती है। जब साठे शास्त्री बाजीराव के साथ ब्रह्मावर्त को चले गये, तब अनन्तशास्त्री ने भी घर लौट कर पिता के ऋण को चुकानेके लिए मैसूर महाराज वोडियरके सभापण्डित रामशेषशास्त्री द्रविड के यहां रहना शुरू किया।

दशवर्ष मैसूर में रहकर बहुतसा धन और चवँर पालकी का सम्मान प्राप्त करनेके बाद अनन्तशास्त्री घर लौट गये। इसके बाद उन्होंने लोगों का देना चुकाकर पिता को साथ ले काशी-यात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया। मार्ग में ही उनकी भार्या का शरीरान्त हो गया। उसे उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार संस्कृत पढ़ाया था। यात्रा समाप्त हो जानेपर पिता को घर बिदा करके शास्त्रीजी काशी में ही रहे और वहां उन्होंने और भी शास्त्राध्ययन किया। इसके बाद नपाल जाकर वहांसे यथेष्ट सम्मान प्राप्त करते हुए ये गुजरात और दक्षिण प्रान्त में घूमने लगे। पैठणनामक स्थान में चैत्र वाई के किन्हीं माधवराव अभ्यंकर से इनकी भेट होगई। ये महाशय विरक्त होकर सपरिवार काशी जा रहे थे, और यह यात्रा पृथ्वीपर साष्टांग नमस्कार करते हुए हो रही थी! इनके साथ एक नौ वर्षकी कन्या अम्बाबाई नाम की भी थी। अनन्तशास्त्री की अवस्था इस

समय जो भी ४४ वर्ष की हो चुकी थी, किन्तु फिर भी वे निरोग एवं सशक्त दिखाई पड़ते थे। अतएव माधवराव ने इनसे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया, और इसके बाद वे पुनः काशीयात्रा में संलग्न हो गये।

अनन्तशास्त्री ने घर आकर अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रथम भार्या की ही तरह इसे भी संस्कृत पढ़ाया। इसके बाद घरके झगड़ोंसे बचनेके लिए ये बहुत दूर जाकर निर्जन वनमें रहने लगे। यहांतक कि जहां बाघ-भेड़ियों के सिवाय मनुष्य फटक भी न सकता था। वहीं एक कुटी बनाकर इन्होंने अपना आश्रम खोला, और इनकी यशोदुन्दुभी सर्वत्र फैल जानेसे दूर २ के विद्यार्थी आकर इनके पास पढ़ने भी लगे। इस तरह थोड़े ही दिनों में यह आश्रम गुरुकुल बन गया। अनंतशास्त्री यद्यपि थे तो पठित शास्त्री ही, किन्तु फिर भी ये बड़े चिकित्सक बुद्धि के विद्वान थे। अतएव ये रूढ़ियों के विरुद्ध अपने स्वतंत्र मत को स्पष्ट शब्दों में प्रकाशित कर देते थे। फलतः जब इस विषय में अन्य शास्त्रियोंसे इनका विवाद होकर शंकराचार्य तक इनकी शिकायत जा पहुँची, तब शास्त्रीजी ने उसके उत्तर में शास्त्राधार निर्णयपर एक ग्रंथ भी लिख कर तैयार कर दिया था।

अपने आश्रम के क्षेत्र को ये 'गंगामूल पर्वत' कहते थे। क्योंकि वहींसे तुगा और भद्रा आदि नदियां निकली हैं। अनन्त शास्त्री और उनकी अल्पवयस्क भार्या दोनों ही उद्योगप्रिय एवं साहसी प्राणी थे, अतएव उस भयानक जंगलमें झाड़ी आदि काटकर वहां उन्होंने सात-आठ व्यक्तियों के परिवार एवं बीस-पचीस विद्यार्थी और सौ दो सौ पशुओंके निर्वाहयोग्य कृषिक्षेत्र तैयार कर लिया था। विविध प्रकारके पुष्पवृक्षोंकी वाटिका भी उन्होंने बना ली थी। इस आश्रम में रहकर शास्त्रीजी की स्त्रीने अपना संस्कृत ज्ञान बहुत कुछ बढ़ा लिया यहां तक कि जब शास्त्रीजी घर नहीं रहते तब लक्ष्मीबाई ही विद्यार्थियोंको पढ़ा देती थीं! उस भूमिमें शास्त्रीजी साढ़े बारह वर्ष रहे। इस बीच इनके छह सन्ततियां हुईं। किन्तु उनमें रमाबाई, कृष्णाबाई और श्रीनिवास नामक पुत्र ये तीन ही जीवित रहे। रमाबाई का जन्म सन १८५८ के अप्रेल में अर्थात् वैशाख शुद्ध दशमी को हुआ था।

अनन्त शास्त्री ने कृष्णाबाई का विवाह अपनी माता के अनुरोधसे बाल्यावस्था में ही करके दामाद को अपने पास रखा। किन्तु ये घर-जवाँई दुराचारी निकले और इन्होंने अपने श्वशुरकी सम्पत्ति को लूट लिया। यहां तक कि बिचारे अनन्त शास्त्री एकदम दारिद्य कष्ट को भोगने और बिना अन्न के भूखों मरने लगे। ऐसी दशा में शास्त्रीजी ने जल-समाधि लेनेका निश्चय

किया, किन्तु इस संकल्प के पूर्ण होनेसे पहले ही ये स्वर्गवासी हो गये। इन्हीं के बाद लक्ष्मीबाई का भी अपनी संतानों के दुर्भाग्य से शरीरान्त हो गया। कहा जाता है कि उस दशा में रमाबाई को द्वार-द्वार पर जाकर भिख मांगनी पडती थी। रमाबाई और श्रीनिवास नामक अल्पवयस्क बालक को जैसे तैसे अपने माता-पिता का उत्तर कार्य निपटाना पड़ा। इसके बाद देशत्याग करके ये दोनों भाई-बहन यात्रा के लिए निकल पड़े। और केवल निर्वाह करते हुए दोनों कलकत्ते जा पहुँचे। दोनों की संस्कृत विद्या ने ही इस समय उनका साथ दिया। क्योंकि श्रीनिवास भी शास्त्र पढ़ चुका था और रमाबाई को भी हजारों संस्कृत श्लोक कण्ठस्थ थे। किन्तु अन्त में ईश्वर ने दुःखकी पराकाष्ठा करने ही के लिए मानों श्रीनिवास को भी इस संसार से उठा लिया।

सन १८७८ में बम्बई में यह ख़बर फैल गई कि रमाबाई नामक एक बीस-बाईस वर्षकी अविवाहिता महाराष्ट्रीय स्त्री कलकत्ते में आई है, और उसने वहां के विद्वानों को अपनी योग्यता से चकित कर दिया है। यह महिला पंडिता होनेके साथ ही आशुकवयित्री भी है। प्रो. टॉने, पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि ने भी उसका समुचित आदर किया है। महाराज ज्योतीन्द्रमोहन ठाकुर और आनन्दमोहन बसु ने इस कवयित्री को कलकत्ते की स्त्रियों से मानपत्र भी दिलवाया है। पंडिताजी संस्कृत में ही वार्तालाप करती हैं। किसी स्त्री के लिए सम्मान प्रकट करनेविषयक सन १८७८ की यह सभा कलकत्ते के हिसाबसे पहली ही सभा कही जा सकती है। अपने भाषण में पंडिता रमाबाई ने पुरातनकालीन स्त्रियों की योग्यता और उनके विद्याविषयक प्रेम, तथा समाज के प्रत्येक कार्य में योग देनेविषयक उनके व्यवहार, एवं तत्कालीन प्रौढ-विवाह की उत्तमता और इस युगमें उसकी आवश्यकता आदि का समुचित विवेचन किया था। सन १८७९ के ११ अगस्त के इन्दुप्रकाश में रमाबाई ने यह संवाद पढ़ा कि, सौ. अनुसूयाबाई नामक एक ब्राह्मण महिला उत्तम प्रकार का संस्कृत अध्ययन करके भागवत पर कथा कर सकती है। इस संवाद से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और एक अभिनन्दनपत्र लिखकर भी रमाबाई ने उसके पास भेजा। सन १८८० के मई महिने में रमाबाई के भ्राता का कलकत्तेमें शरीरान्त हो जाने पर इनकी इच्छा बम्बई जाकर रहनेकी हुई, और इसी अवसर में बम्बई के लिए इसके पास एक आमंत्रण भी पहुँचा। क्योंकि स्थानिक सुधारकों को विश्वास हो गया था कि उनके बम्बई आजाने से यहां के स्त्रीशिक्षाविषयक कार्य में बड़ी सहायता मिलेगी। किन्तु इसके बाद रमाबाई आसाम गई और वहां सिलाहट के वकील विपिन विहारीदास मेधावी, एम्. ए.,

बी. एल्. के साथ ब्राह्मो-समाज की विधि से उनका विवाह हो गया। इसके बाद सन १८७२ के तृतीय एक्टके अनुसार उसकी रजिस्ट्री भी हो गई।

किन्तु दुर्दैव ने इनका पीछा अभी छोड़ा नहीं था, अतएव केवल १६ मास के पश्चात् मेधावी का भी देहान्त हो गया, क्योंकि उस समय रमाबाई सगर्भा थीं। अतएव कुछ दिन पश्चात् उनके मनोरमानामक पुत्री उत्पन्न हुई। यह पुत्री ही अंत समय तक उनके साथ रह सकी (इसने ईसाई धर्म की दीक्षा लेली है और बी. ए. पास होने के बाद से यह अविवाहित रहकर केडगाँव के मुक्तिसदन में आपने माता के कार्यों में सहायता दे रही रही है।) यद्यपि अपने भाग्यमें सांसारिक सुख न समझ कर इन्होंने आजन्म अविवाहित रहने का ही संकल्प कर लिया था, किन्तु इस संकल्प को तोड़ देने मात्र ही के लिए उन्हें सांसारिक सुख प्राप्त हो सका।

इसके बाद रमाबाई बंगाल प्रान्त में नहीं रहीं। वहांसे वे बम्बई लौट आई, किन्तु बम्बई में भी मुकाम न करके सन १८८२ में ये एकदम पूना आ पहुँची। यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसी के बुलाने पर पूना आई, या उन के मन में ही किसी पूर्व संस्कार के जागृत होनेसे ऐसा हुआ, अथवा महाराष्ट्र के अभिमान से ही बम्बई ऐसी राजधानी छोड़कर वे पूना चली आई। कुछ भी समझ लीजिये, किन्तु चार वर्ष पूर्व पूनावालोंने जिनका केवल नाम सुना था, उन्हें आज पूने में प्रत्यक्ष देखकर सब लोग आश्चर्यचकित अवश्य हुए होंगे। फिर भी उन के तेज एवं यौवन अथ च उनकी योग्यता और वैधव्य का लोगोंके चित्तपर दो प्रकार से प्रभाव पड़ा। अर्थात् रानडे आदि सुधारक लोग तो इन्हें स्त्रीशिक्षाकी दृष्टि से एक अमूल्य वस्तु समझने लगे, किन्तु पुराने विचारवालोंने यदि इन्हें समाज के लिए आपत्तिरूप समझा हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि सुधारकों की दृष्टि रमाबाई के कर्तृत्व एवं समाज-सेवा पर थी, और पुराने विचारवाले यह देखते थे कि यह स्त्री वैसे तो भली जान पड़ती है, किन्तु आगे चलकर इसके ढंग कैसे रहेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। रमाबाई को देखकर रानडे को उपनिषद्कालीन स्त्रियोंकासा भ्रम हुआ होगा, और पुराणवादियोंके मुखसे उन्हें देख कर " अनृतं साहसं माया० " इत्यादि श्लोक अनायास निकल पड़ा होगा। अस्तु। पूने में रमाबाई की कथाएं और व्याख्यान शुरू होते ही दोनों प्रकार की भावनावाले लोग श्रोता बनकर वहां पहुँचने लगे। यद्यपि रमाबाई का स्वभाव ढीठतायुक्त था, किन्तु उनकी वाणी प्रभावशालिनी थी। साथ ही उनकी हाज़िर-जवाबीने किसीको उनके सामने आकर वादविवाद करनेकी हिम्मत न पड़ने दी। फिरभी पूना के बेकारी महलमें

किया, किन्तु इस संकल्प के पूर्ण होनेसे पहले ही ये स्वर्गवासी हो गये। इन्हीं के बाद लक्ष्मीबाई का भी अपनी संतानों के दुर्भाग्य से शरीरान्त हो गया। कहा जाता है कि उस दशा में रमाबाई को द्वार-द्वार पर जाकर भीख मांगनी पडती थी। रमाबाई और श्रीनिवास नामक अल्पवयस्क बालक को जैसे तैसे अपने माता-पिता का उत्तर कार्य निपटाना पड़ा। इसके बाद देशत्याग करके ये दोनों भाई-बहन यात्रा के लिए निकल पड़े। और केवल निर्वाह करते हुए दोनों कलकत्ते जा पहुँचे। दोनों की संस्कृत विद्या ने ही इस समय उनका साथ दिया। क्योंकि श्रीनिवास भी शास्त्र पढ़ चुका था और रमाबाई को भी हजारों संस्कृत श्लोक कण्ठस्थ थे। किन्तु अन्त में ईश्वर ने दुःखकी पराकाष्ठा करने ही के लिए मानों श्रीनिवास को भी इस संसार से उठा लिया।

सन १८७८ में बम्बई में यह ख़बर फैल गई कि रमाबाई नामक एक बीस-बाईस वर्षकी अविवाहिता महाराष्ट्रीय स्त्री कलकत्ते में आई है, और उसने वहां के विद्वानों को अपनी योग्यता से चकित कर दिया है। यह महिला पंडिता होनेके साथ ही आशुकवयित्री भी है। प्रो. टॉने, पं. महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि ने भी उसका समुचित आदर किया है। महाराज ज़्योतीन्द्रमोहन ठाकुर और आनन्दमोहन वसु ने इस कवयित्री को कलकत्ते की स्त्रियों से मान-पत्र भी दिलवाया है। पंडिताजी संस्कृत में ही वार्तालाप करती हैं। किसी स्त्री के लिए सम्मान प्रकट करनेविषयक सन १८७८ की यह सभा कलकत्ते के हिसाबसे पहली ही सभा कही जा सकती है। अपने भाषण में पंडिता रमाबाई ने पुरातनकालीन स्त्रियों की योग्यता और उनके विद्याविषयक प्रेम, तथा समाज के प्रत्येक कार्य में योग देनेविषयक उनके व्यवहार, एवं तत्कालीन प्रौढ-विवाह की उत्तमता और इस युगमें उसकी आवश्यकता आदि का समुचित विवेचन किया था। सन १८७९ के ११ अगस्त के इन्दुप्रकाश में रमाबाई ने यह संवाद पढ़ा कि, सौ. अनुसूयाबाई नामक एक ब्राह्मण महिला उत्तम प्रकार का संस्कृत अध्ययन करके भागवत पर कथा कर सकती है। इस संवाद से उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और एक अभिनन्दनपत्र लिखकर भी रमाबाई ने उसके पास भेजा। सन १८८० के मई महिने में रमाबाई के भ्राता का कलकत्तेमें शरीरान्त हो जाने पर इनकी इच्छा बम्बई जाकर रहनेकी हुई, और इसी अवसर में बम्बई के लिए इसके पास एक आमंत्रण भी पहुँचा। क्योंकि स्थानिक सुधारकों को विश्वास हो गया था कि उनके बम्बई आजाने से यहां के स्त्रीशिक्षाविषयक कार्य में बड़ी सहायता मिलेगी। किन्तु इसके बाद रमाबाई आसाम गई और वहां सिलाहट के वकील विपिन बिहारीदास मेधावी, एम्. ए.,

बी. एल्. के साथ ब्राह्मो-समाज की विधि से उनका विवाह हो गया। इसके बाद सन १८७२ के तृतीय एक्टके अनुसार उसकी रजिस्ट्री भी हो गई।

किन्तु दुर्दैव ने इनका पीछा अभी छोड़ा नहीं था, अतएव केवल १९ मास के पश्चात् मेधावी का भी देहान्त हो गया, क्योंकि उस समय रमाबाई सगर्भा थीं। अतएव कुछ दिन पश्चात् उनके मनोरमानामक पुत्री उत्पन्न हुई। यह पुत्री ही अंत समय तक उनके साथ रह सकी (इसने ईसाई धर्म की दीक्षा लेली है और बी. ए. पास होने के बाद से यह अविवाहित रहकर केडगाँव के मुक्तिसदन में आपने माता के कार्यों में सहायता दे ली रही है।) यद्यपि अपने भाग्यमें सांसारिक सुख न समझ कर इन्होंने आजन्म अविवाहित रहने का ही संकल्प कर लिया था, किन्तु इस संकल्प को तोड़ देने मात्र ही केलिए उन्हे सांसारिक सुख प्राप्त हो सका।

इसके बाद रमाबाई बंगाल प्रान्त में नहीं रहीं। वहांसे वे बम्बई लौट आईं, किन्तु बम्बई में भी मुकाम न करके सन १८८२ में ये एकदम पूना आ पहुँची। यह नहीं कहा जा सकता कि वे किसी के बुलाने पर पूना आईं, या उन के मन में ही किसी पूर्व संस्कार के जागृत होनेसे ऐसा हुआ, अथवा महाराष्ट्र के अभिमान से ही बम्बई ऐसी राजधानी छोड़कर वे पूना चली आईं। कुछ भी समझ लीजिये, किन्तु चार वर्ष पूर्व पूनावालोंने जिनका केवल नाम सुना था, उन्हें आज पूने में प्रत्यक्ष देखकर सब लोग आश्चर्यचकित अवश्य हुए होंगे। फिर भी उन के तेज एवं यौवन अप च उनकी योग्यता और वैधव्य का लोगोंके चित्तपर दो प्रकार से प्रभाव पड़ा। अर्थात् रानडे आदि सुधारक लोग तो इन्हें स्त्रीशिक्षाकी दृष्टि से एक अमूल्य वस्तु समझने लगे, किन्तु पुराने विचारवालोंने यदि इन्हें समाज के लिए आपत्तिरूप समझा हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि सुधारकों की दृष्टि रमाबाई के कर्तृत्व एवं समाज-सेवा पर थी, और पुराने विचारवाले यह देखते थे कि यह स्त्री वैसे तो भली जान पड़ती है, किन्तु आगे चलकर इसके ढंग कैसे रहेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। रमाबाई को देखकर रानडे को उपनिषद्कालीन स्त्रियोंकासा भ्रम हुआ होगा, और पुराणवादियोंके मुखसे उन्हें देख कर " अनृतं साहसं माया० " इत्यादि श्लोक अनायास निकल पड़ा होगा। अस्तु। पूने में रमाबाई की कथाएं और व्याख्यान शुरू होते ही दोनों प्रकार की भावनावाले लोग श्रोता बनकर वहां पहुँचने लगे। यद्यपि रमाबाई का स्वभाव ढीठतायुक्त था, किन्तु उनकी वाणी प्रभावशालिनी थी। साथ ही उनकी हाज़िर-जवाबीने किसीको उनके सामने आकर वादविवाद करनेकी हिम्मत न पड़ने दी। फिरभी पूना के बेकारी महवमें

के ऑफिस में पेश होनेवाली मिसलों में रमाबाई के अकल्पित आचरण ने बहुत कुछ वृद्धि कर दी।

१८८२ में ही रमाबाई ने "आर्यमहिला समाज" (पूना) की स्थापना की; और अगले वर्ष ही बम्बई में भी इसकी एक शाखा खोल दी। इस समाज के उद्देश्यों को तपसीलवार बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि संक्षेपमें स्त्रीसमाज की सर्वाङ्गी उन्नति ही उसका मुख्य ध्येय था, किन्तु उसके दो तीन नियम अवश्य ही ध्यानमें रखने योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) समाज के द्वारा होनेवाले कार्य व्यक्तिविशेपक न होकर सार्वजनिक हैं, अतएव सभासदों को किसी बात का विशेष आग्रह या पक्षपात न करना चाहिये। (२) समाज में सबका अधिकार समान है, अतएव कोई किसी के वंश, जाति, सम्पदा और पद पर कटाक्ष न करे। (३) समाज स्त्री सभासदों को पक्षपात एवं दुराग्रह छोड़कर इस बात की प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि "इस कार्य में हम प्राणपण से सहायता देती रहेंगी।"

आगे जाकर इस समाज के हितचिन्तकों में बम्बई के अनेकानेक प्रधान सुधारक सम्मिलित होगये। किन्तु रानडे, भाण्डारकर, वामन आबाजी मोड़क और सदाशिव पाण्डुरंग केलकर आदि लोगों के नाम से समाज को जैसी सहायता पहुँची, उसी प्रकार यदि उनसे समाज के विरुद्ध लोकमत तैयार करनेमें भी मदद मिली हो तो आश्चर्य नहीं। इसी वर्ष सर विलियम हण्टर का एज्यूकेशन कमिशन पूने में आया। इसके सामने रमाबाई के जो बयान हुए, उन्हें सुनकर साहब बहादुर के चित्तपर इतना उत्तम प्रभाव पड़ा कि, विलायत जानेपर उन्होंने रमाबाई के कथन का अंग्रेजी में अनुवाद कराया, (इस समयतक रमाबाई ने अंग्रेजी की साधारणसी शिक्षा प्राप्त करली थी) और उसे प्रथक् छपवाकर एडिनबरो में इसी विषय पर एक व्याख्यान भी दिया। इस व्याख्यान द्वारा अपूर्व जानकारी की बातें सुनकर श्रोतृगण चकित हो गये। कारण इसका एकमात्र यही था कि उनदिनों भारत में इस प्रकार की सुशिक्षिता एवं साहसी अथच पुष्टविचारवाली स्त्रियाँ होनेकी विलायतवालों को स्वप्न में भी कल्पना न थी!

जब हण्टर साहब ने रमाबाई से पूछा कि तुम कमिशन के सामने किस आधारसे साक्षी देना चाहती हो? इसपर उन्होंने जो उत्तर दिया वह ध्यान में रखने योग्य है। उन्होंने कहा कि मैं उस व्यक्ति की संतान हूं जिसको कि, स्त्रीशिक्षाकी वृद्धि करते हुए भांति २ के कष्ट उठाने पड़े, और लोगों ने जिसके मार्गमें अनेक विघ्न खड़े कर दिये, यहांतक कि उनका बहिष्कार भी कर दिया गया। इसी

लिये मैंने निश्चय किया है कि, स्त्रियों का दर्जा बढ़ाने के कार्य में ही मैं आजन्म लगी रहकर प्रयत्न करूंगी। इसी साक्षी में स्त्रीशिक्षा-विषयक विधायक सूचनाएं देनेके साथही स्त्रियों की चिकित्सादि के विषय में भी कुछ योजनाएं उन्होंने बतलाई थीं। रमाबाई के एक चरित्रलेखक का कथन है कि उनकी इस विषय की सूचनाएं जब महारानी विक्टोरिया के पढ़ने में आईं, तब उन्हीं की सम्मति से आगे चलकर लेडी डफरिनफंड, लेडी डाक्टर एवं फीमेल हास्पिटल आदि की शुरूआत हुई।

पूना आने के बाद ही से रमाबाई ने अंग्रेजी पढ़ना आरंभ कर दिया था, किन्तु उनकी महत्वाकांक्षा केवल भारत में प्राप्त होनेवाली अंग्रेजी शिक्षा का ज्ञान सम्पादन करलेने ही से शांत नहीं हो सकती थी। इसी लिए उन्होंने विलायत जानेका निश्चय किया। किन्तु उन के पूर्व-चरित्र की अद्भुत बातों का विचार करने एवं उनकी स्वावलंबनयुक्त वृत्ति पर ध्यान देनेसे किसीके लिए इस बातकी शंका तक करने को स्थान नहीं रहता कि रमाबाई ने विलायत जाने के कारण या उपाय के विषय में कभी चिन्ता की होगी। साथही और दो एक बातें ऐसी होगई जो कि परस्परविरोधी रहते हुए भी इनके विलायत जाने-विषयक इच्छित कार्य के अनुकूल थीं। यद्यपि रमाबाई ने महिला-समाज की स्थापना अवश्य कर दी, किन्तु उसमें योग देनेके लिए जितनी बालिकाओं की आवश्यकता थी, और जितने स्त्रीपुरुषों की सहायता अपेक्षित थी, वह पूर्ण न हो सकी। अतएव इस विचारपर उन्हें यह दुःख हुआ कि, महाराष्ट्रीय समाज मुझे नहीं चाहता है, और न मेरी योग्यता को ही पहचान सकता है।

दूसरा कारण यह था कि रमाबाई ने संस्कृत का जो कुछ अध्ययन किया था, वह व्युत्पत्तिकी ही दृष्टि से पर्याप्त था। क्यों कि उन्हें धर्मशास्त्र विषयक ज्ञान होनेका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यद्यपि उन्होंने संस्कृत के अनेक काव्य कण्ठस्थ कर लिये थे, किन्तु उपनिषदादि ग्रंथ एक भी नहीं देखा था। जब श्री. केशवचन्द्रसेन ने इनसे प्रश्न किया कि " क्या तुमने वेदाध्ययन किया है ? " तो इसपर इन्होंने जो नकारार्थी उत्तर दिया वह ठीक ही था। क्यों कि उन्होंने इसके समर्थन में कारण यह बतलाया था कि " स्त्रियों को वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है, और धर्मशास्त्रके विरुद्ध आचरण करना पाप है "। किन्तु हमें विश्वास नहीं होता कि उनका यह कारण यथार्थ था। क्यों कि उनके पिता ने उन्हें काव्य व्याकरणादि सब पढाकर भी वेदाध्ययन नहीं कराया अतएव कदाचित् उक्त शब्दों में उन्होंने एक प्रकारसे पुराणमतवादियों पर आक्षेपहीसा किया होगा किन्तु वेद की छपी हुई पुस्तकें मिलती रहने परभी यह नहीं कहा जा सकता कि उनके पढनेही में पाप समझकर इन्होंने अपनी वृत्ति

के ऑफिस में पेश होनेवाली मिसलों में रमाबाई के अकल्पित आचरण ने बहुत कुछ वृद्धि कर दी।

१८८२ में ही रमाबाई ने "आर्यमहिला समाज" (पूना) की स्थापना की; और अगले वर्ष ही बम्बई में भी इसकी एक शाखा खोल दी। इस समाज के उद्देश्यों को तपसीलवार बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि संक्षेपमें स्त्रीसमाज की सर्वाङ्गी उन्नति ही उसका मुख्य ध्येय था, किन्तु उसके दो तीन नियम अवश्य ही ध्यानमें रखने योग्य हैं। वे इस प्रकार हैं—

(१) समाज के द्वारा होनेवाले कार्य व्यक्तिविशेपक न होकर सार्वजनिक हैं, अतएव सभासदों को किसी बात का विशेष आग्रह या पक्षपात न करना चाहिये। (२) समाज में सबका अधिकार समान है, अतएव कोई किसी के वंश, जाति, सम्पदा और पद पर कटाक्ष न करे। (३) समाज स्त्री सभासदों को पक्षपात एवं दुराग्रह छोड़कर इस बात की प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि "इस कार्य में हम प्राणपण से सहायता देती रहेगी।"

आगे जाकर इस समाज के हितचिन्तकों में बम्बई के अनेकानेक प्रधान सुधारक सम्मिलित होगये। किन्तु रानडे, भाण्डारकर, वामन आबाजी मोडक और सदाशिव पाण्डुरंग केलकर आदि लोगों के नाम से समाज को जैसी सहायता पहुँची, उसी प्रकार यदि उनसे समाज के विरुद्ध लोकमत तैयार करनेमें भी मदद मिली हो तो आश्चर्य नहीं। इसी वर्ष सर विलियम हण्टर का एज्यूकेशन कमिशन पूने में आया। इसके सामने रमाबाई के जो बयान हुए, उन्हें सुनकर साहब बहादुर के चित्तपर इतना उत्तम प्रभाव पड़ा कि, विलायत जानेपर उन्होंने रमाबाई के कथन का अंग्रेजी में अनुवाद कराया, (इस समयतक रमाबाई ने अंग्रेजी की साधारणसी शिक्षा प्राप्त करली थी) और उसे प्रथक् छपवाकर एडिनबरो में इसी विषय पर एक व्याख्यान भी दिया। इस व्याख्यान द्वारा अपूर्व जानकारी की बातें सुनकर श्रोतृगण चकित हो गये। कारण इसका एकमात्र यही था कि उनदिनों भारत में इस प्रकार की सुशिक्षिता एवं साहसी अथच पुष्टविचारवाली स्त्रियाँ होनेकी विलायतवालों को स्वप्न में भी कल्पना न थी!

जब हण्टर साहब ने रमाबाई से पूछा कि तुम कमिशन के सामने किस आधारसे साक्षी देना चाहती हो? इसपर उन्होंने जो उत्तर दिया वह ध्यान में रखने योग्य है। उन्होंने कहा कि मैं उस व्यक्ति की संतान हूं जिसको कि, स्त्रीशिक्षाकी वृद्धि करते हुए भांति २ के कष्ट उठाने पड़े, और लोगों ने जिसके मार्गमें अनेक विघ्न खड़े कर दिये, यहांतक कि उनका बहिष्कार भी कर दिया गया। इसी

ही इन्होंने " उच्च जाति की हिन्दू स्त्रियां " नामक पुस्तक लिखी । इसके बाद इन्होंने भारत में आनेका निश्चय किया और अपने कार्य के लिये सहायता भी प्राप्त करली । अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द ने परिचित वर्ग में भारत-विषयक लोकमत किस प्रकार अनुकूल बना लिया इस बात के जाननेवाले समझ सकते हैं कि, रमाबाई जैसी तेजस्विनी तरुण महिला ने अमेरिकन् लोगों पर किस प्रकारका प्रभाव डाला होगा।

क्योंकि रमाबाई ईसाइन बन चुकी थीं। अतएव अमेरिकन् मिशनरियों से उन्हें यथेष्ट सहायता मिली। अर्थात् भारतवर्ष लौट आनेपर रमाबाई के हाथों दश वर्ष तक होनेवाले कार्य का व्ययभार उन लोगों ने अपने शिर ले लिया। फलतः इन सुविधा और शर्तों को मंजूर करवाकर कि स्त्रियों को सामान्य शिक्षा दी जाय, किन्तु स्कूल में धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध न रहे, और यदि धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक जान पड़े तो वह एक मात्र ईसाई धर्म की ही दी जाय, किन्तु संस्थाका नाम ईसाई ढंग का रखना अनिवार्य न हो। रमाबाई ने ता. ११ मार्च सन् १८८९ के दिन बम्बई में " शारदा-सदन " नाम की एक संस्था खोली। इसकी उद्देश्यपत्रिका में लिखा गया था कि ' स्कूल में प्रथमतः निराश्रित किन्तु उच्च जाति की विधवाओं अथच अन्य स्त्रियों के लिये प्रबन्ध किया जायगा। इसके बाद यदि सुविधा हुई तो अन्य स्त्रियों को भी इसमें भर्ती किया जायगा '। स्कूल में साधारण शिक्षा के अलावा नीति, मर्यादा, व्यवहार, गृहप्रबंध आदि की भी शिक्षा दी जानेको कहा गया था। साथही हरएक प्रकार की औद्योगिक शिक्षा देनेका भी प्रबन्ध हुआ था। फीसका कोई नियम नहीं था। यदि कोई देता तो ले ली जाती, वर्ना कोई किसीसे मांगता नहीं था। आरंभ में निराश्रित विधवाएँ एवं इसके बाद अब निराश्रित स्त्रियों के लिए बोर्डिंग में बिना किसी खर्च के रखने की व्यवस्था होनेवाली थी। और स्कूल चौपाटी के पास विल्सन कालेज के पीछे खोला गया था। क्योंकि आरंभ में इसके लिये एक परामर्शदाता सहायक समिति की आवश्यकता थी ही। अतएव रानडे, भाण्डारकर, गोपालराव हरी, लालशंकर उमियाशंकर, शंकर पांडुरंग, पण्डित, महिपतराम रूपराम, तैलंग, मोडक, आत्माराम पांडुरंग, डॉ. काणे आदि इसके लिये सहजही में तैयार होगये।

अब लोगों की दृष्टि इस बातपर लगी हुई थी कि सदन किस ढंगसे चलता है। क्योंकि रमाबाई परधर्मी थी, अतएव उसके उद्देश्य के विषय में लोगों का सशंकित रहना स्वाभाविक ही था। दैवयोग से उन्हें

का दमन कर लिया होगा । उपनिषदों को पढकर इनकी चित्तवृत्ति शंकायुक्त हो गई । इसके बाद सिलहट में जब इन्होंने अपने पति के ग्रंथसंग्रहालय में बायबलका बँगाली अनुवाद पढा तभी से इनकी प्रवृत्ति ईसाई धर्म की ओर ही चली थी । मेधावी यद्यपि ब्रह्मसमाजी थे, किन्तु ईसाई होना उन्हें भी नहीं सुहाता था । ऐसी दशा में हमारा तो यही विश्वास है कि यदि वे (मेधावी) औरभी जीवित रहते तो कभी संभव न था कि रमाबाई उनसे संम्बधविच्छेद करके ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेतीं । किन्तु पति के स्वर्गवासी होजाने पर उनके लिये कोई बन्धन नहीं रहा । अतएव सदाशयसे ही क्यों न हो किन्तु ' मनःपूतं समाचरेत् ' का अनुकरण करनेकी इच्छा उन्हें होही गई ।

पूना आजानेपर हुजूर पागावाले गर्ल स्कूल की सुप्रेन्टेन्डेन्ट मिस हरफर्ड से रमाबाई का परिचय होगया । कहा जाता है कि मिस हरफर्ड स्कूल की प्रधानाधिकारिणी होते हुए भी लोगों के घर जाकर बायबल का प्रचार करती रहती थीं । इसी परसे केसरी के इस स्कूल पर किये हुए आक्षेप में तथ्य जान पडता है । जब मिस हरफर्ड ने देखा कि रमाबाई को अपने धर्म में शामिल कर सकना कुछ कठिनसा है, तब उन्होंने रे. निमाया गोटे नामक भारतीय ईसाई से इनका परिचय करा दिया । इस संगति एवं ऐसी परिस्थिति के कारण यदि रमाबाई की विलायत जातेविषयक इच्छा का यथेष्ट पुष्टीकरण हुआ हो तो कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं । अंततः मिस हरफर्ड और पूना के अन्य मिशनरियों की सहायता से रमाबाई विलायत पहुँचही गई । वहां जानेके कुछ दिन बाद इन्होंने अपनी पुत्रीसहित बाप्तिस्मा लेलिया । अर्थात् विलायती स्त्रीशिक्षाविषयक संस्थाओंका सुप्रबन्ध एवं उनकी ऊर्जितावस्था तथा पतित स्त्रियों के विषय में समाज की अनुकम्पा अथच इंग्लेंएड की सुधारणा के वैभवादि को देखकर रमाबाई ने अपना देश भलेही न छोडा हो, किन्तु धर्मसे तो वे अवश्य हाथ धो बैठीं । किन्हीं लोगों का यह कहना है कि पूनावालों से अपने विषय में अश्रद्धा दिखानेका बदला चुकानेको ही वे धर्मभ्रष्ट हुई । किन्तु इस दलील में हमें अधिक तथ्यांश नहीं दिखाई देता ।

हां, तो विलायत में जाकर रमाबाई का अंग्रेजी अध्ययन एवं संगठित संस्थाओं का निरीक्षण बहुत कुछ बढाया । और कुछही दिनों बाद वे चेल्टनहॅम कालेज में संस्कृताध्यापिका बना दी गई । इंग्लैएड के बाद अमेरिका का नम्बर यथाक्रम आही जाता है । कहते हैं कि जिस दिन रमाबाई अमेरिका पहुँची । दैवयोग से ठीक उसी दिन सौभाग्यवती डॉ. आनन्दीबाई जोशी ने अमेरिकन् युनीवार्सिटी से एम्. डी. की पदवी प्राप्त की थी । अमेरिका में

ही इन्होंने "उच्च जाति की हिन्दू स्त्रियां" नामक पुस्तक लिखी। इसके बाद इन्होंने भारत में आनेका निश्चय किया और अपने कार्य के लिये सहायता भी प्राप्त करली। अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द ने परिचित वर्ग में भारत-विषयक लोकमत किस प्रकार अनुकूल बना लिया इस बात के जाननेवाले समझ सकते हैं कि, रमाबाई जैसी तेजस्विनी तरुण महिला ने अमेरिकन् लोगों पर किस प्रकारका प्रभाव डाला होगा।

क्योंकि रमाबाई ईसाइन बन चुकी थीं। अतएव अमेरिकन् मिशनरियों से उन्हें यथेष्ट सहायता मिली। अर्थात् भारतवर्ष लौट आनेपर रमाबाई के हाथों दश वर्ष तक होनेवाले कार्य का व्ययभार उन लोगों ने अपने सिर ले लिया। फलतः इन सुविधा और शर्तों को मंजूर करवाकर कि स्त्रियों को सामान्य शिक्षा दी जाय, किन्तु स्कूल में धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध न रहे, और यदि धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक जान पड़े तो वह एक मात्र ईसाई धर्म की ही दी जाय, किन्तु संस्थाका नाम ईसाई ढंग का रखना अनिवार्य न हो। रमाबाई ने ता. ११ मार्च सन् १८८६ के दिन बम्बई में "शारदा-सदन" नाम की एक संस्था खोली। इसकी उद्देश्यपत्रिका में लिखा गया था कि 'स्कूल में प्रथमतः निराश्रित किन्तु उच्च जाति की विधवाओं अथच अन्य स्त्रियों के लिये प्रबन्ध किया जायगा। इसके बाद यदि सुविधा हुई तो अन्य स्त्रियों को भी इसमें भर्ती किया जायगा'। स्कूल में साधारण शिक्षा के अलावा नीति, मर्यादा, व्यवहार, गृहप्रबंध आदि की भी शिक्षा दी जानेको कहा गया था। साथही हरएक प्रकार की औद्योगिक शिक्षा देनेका भी प्रबन्ध हुआ था। फीसका कोई नियम नहीं था। यदि कोई देता तो ले ली जाती, वर्ना कोई किसीसे मांगता नहीं था। प्रारंभ में निराश्रित विधवाएँ एवं इसके बाद अब निराश्रित स्त्रियों के लिए बोर्डिंग में बिना किसी खर्च के रखने की व्यवस्था होनेवाली थी। और स्कूल चौपाटी के पास विल्सन कालेज के पीछे खोला गया था। क्योंकि प्रारंभ में इसके लिये एक परामर्शदाता सहायक समिति की आवश्यकता थी ही। अतएव रानडे, भाण्डारकर, गोपालराव हरी, लालशंकर उमियाशंकर, शंकर पांडुरंग, पण्डित, महिपतराम रूपराम, तैलंग, मोडक, आत्माराम पांडुरंग, डॉ. काशे आदि इसके लिये सहजही में तैयार होगये।

अब लोगों की दृष्टि इस बातपर लगी हुई थी कि सदन ढंगसे चलता है। क्योंकि रमाबाई परधर्मी थीं, अतएव विषय में लोगों का सशंकित रहना स्वाभाविक ही था।

का दमन कर लिया होगा । उपनिषदों को पढकर इनकी चित्तवृत्ति शंकायुक्त हो गई । इसके बाद सिलहट में जब इन्होंने अपने पति के ग्रंथसंग्रहालय में बायबलका बँगाली अनुवाद पढा तभी से इनकी प्रवृत्ति ईसाई धर्म की ओर ही चली थी । मेधावी यद्यपि ब्रह्मसमाजी थे, किन्तु ईसाई होना उन्हें भी नहीं सुहाता था । ऐसी दशा में हमारा तो यही विश्वास है कि यदि वे (मेधावी) औरभी जीवित रहते तो कभी संभव न था कि रमावाई उनसे सम्बधविच्छेद करके ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेतीं । किन्तु पति के स्वर्गवासी होजाने पर उनके लिये कोई बन्धन नहीं रहा । अतएव सदाशयसे ही क्यों न हो किन्तु 'मनःपूतं समाचरेत्' का अनुकरण करनेकी इच्छा उन्हें होही गई ।

पूना आजानेपर हुजूर पागावाले गर्ल स्कूल की सुप्रेन्टेन्डेन्ट मिस हरफर्ड से रमावाई का परिचय होगया । कहा जाता है कि मिस हरफर्ड स्कूल की प्रधानाधिकारिणी होते हुए भी लोगों के घर जाकर बायबल का प्रचार करती रहती थीं । इसी परसे केसरी के इस स्कूल पर किये हुए आक्षेप में तथ्य जान पडता है । जब मिस हरफर्ड ने देखा कि रमाबाई को अपने धर्म में शामिल कर सकना कुछ कठिनसा है, तब उन्होंने रे. निमाया गोटे नामक भारतीय ईसाई से इनका परिचय करा दिया । इस संगति एवं ऐसी परिस्थिति के कारण यदि रमावाई की विलायत जातेविषयक इच्छा का यथेष्ट पुष्टीकरण हुआ हो तो कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं । अंततः मिस हरफर्ड और पूना के अन्य मिशनरियों की सहायता से रमावाई विलायत पहुँचही गई । वहां जानेके कुछ दिन बाद इन्होंने अपनी पुत्रीसहित बाप्तिस्मा लेलिया । अर्थात् विलायती स्त्रीशिक्षाविषयक संस्थाओंका सुप्रबन्ध एवं उनकी ऊर्जितावस्था तथा पतित स्त्रियों के विषय में समाज की अनुकम्पा अथच इंग्लेंण्डकी सुधारणा के वैभवादि को देखकर रमावाई ने अपना देश भलेही न छोडा हो, किन्तु धर्मसे तो वे अवश्य हाथ धो बैठीं । किन्हीं लोगों का यह कहना है कि पूनावालों से अपने विषय में अश्रद्धा दिखानेका बदला चुकानेको ही वे धर्मभ्रष्ट हुईं । किन्तु इस दलील में हमें अधिक तथ्यांश नहीं दिखाई देता ।

हां, तो विलायत में जाकर रमावाई का अंग्रेजी अध्ययन एवं संगठित संस्थाओं का निरीक्षण बहुत कुछ बढाया । और कुछही दिनों बाद वे चेल्टनहॅम कालेज में संस्कृताध्यापिका बना दी गई । इंग्लैण्ड के बाद अमेरिका का नम्बर यथाक्रम आही जाता है । कहते हैं कि जिस दिन रमावाई अमेरिका पहुँची । दैवयोग से ठीक उसी दिन सौभाग्यवती डॉ. आनन्दीवाई जोशी ने अमेरिकन् युनीवार्सिटी से एम्. डी. की पदवी प्राप्त की थी । अमेरिका में

ही इन्होंने " उच्च जाति की हिन्दू स्त्रियां " नामक पुस्तक लिखी । इसके बाद इन्होंने भारत में आनेका निश्चय किया और अपने कार्य के लिये सहायता भी प्राप्त करली । अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द ने परिचित वर्ग में भारत-विषयक लोकमत किस प्रकार अनुकूल बना लिया इस बात के जाननेवाले समझ सकते हैं कि, रमाबाई जैसी तेजस्विनी तरुण महिला ने अमेरिकन् लोगों पर किस प्रकारका प्रभाव डाला होगा।

क्योंकि रमाबाई ईसाइन बन चुकी थीं। अतएव अमेरिकन् मिशनरियों से उन्हें यथेष्ट सहायता मिली। अर्थात् भारतवर्ष लौट आनेपर रमाबाई के हाथों दश वर्ष तक होनेवाले कार्य का व्ययभार उन लोगों ने अपने शिर ले लिया। फलतः इन सुविधा और शर्तों को मंजूर करवाकर कि स्त्रियों को सामान्य शिक्षा दी जाय, किन्तु स्कूल में धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध न रहे, और यदि धार्मिक शिक्षा देना आवश्यक जान पड़े तो वह एक मात्र ईसाई धर्म की ही दी जाय, किन्तु संस्थाका नाम ईसाई ढंग का रखना अनिवार्य न हो। रमाबाई ने ता. ११ मार्च सन् १८८९ के दिन बम्बई में " शारदा-सदन " नाम की एक संस्था खोली। इसकी उद्देश्यपत्रिका में लिखा गया था कि ' स्कूल में प्रथमतः निराश्रित किन्तु उच्च जाति की विधवाओं अथच अन्य स्त्रियों के लिये प्रबन्ध किया जायगा। इसके बाद यदि सुविधा हुई तो अन्य स्त्रियों को भी इसमें भर्ती किया जायगा '। स्कूल में साधारण शिक्षा के अलावा नीति, मर्यादा, व्यवहार, गृहप्रबंध आदि की भी शिक्षा दी जानेको कहा गया था । साथही हरएक प्रकार की औद्योगिक शिक्षा देनेका भी प्रबन्ध हुआ था । फीसका कोई नियम नहीं था। यदि कोई देता तो ले ली जाती, वर्ना कोई किसीसे मांगता नहीं था। आरंभ में निराश्रित विधवाएँ एवं इसके बाद अथ निराश्रित स्त्रियों के लिए बोर्डिंग में विना किसी खर्च के रखने की व्यवस्था होनेवाली थी । और स्कूल चौपाटी के पास विलसन कालेज के पीछे खोला गया था । क्योंकि आरंभ में इसके लिये एक परामर्शदाता सहायक समिति की आवश्यकता थी ही। अतएव रानडे, भाण्डारकर, गोपालराव हरी, लालशंकर उमियाशंकर, शंकर पांडुरंग, पण्डित, महिपतराम रूपराम, तैलंग, मोडक, आत्माराम पांडुरंग, डॉ. कार्वे आदि इसके लिये सहजही में तैयार होगये।

अब लोगों की दृष्टि इस बातपर लगी हुई थी कि सदन किस ढंगसे चलता है । क्योंकि रमाबाई परधर्मी थी, अतएव उसके उद्देश्य के विषय में लोगों का सशंकित रहना स्वाभाविक ही था। दैवयोग से उन्हें

कुछ ही दिन बाद जाकर अपनी शंकाके सत्यसिद्ध होने के चिह्न भी दिखा देने लगे। केसरी भी उन्हीं शंकावालों में ही से एक था। इसलिये उ कुछ खबर मिली उसकी छापनेमें उसने क्षणमात्र की भी देर न की ता. २१ दिसंबर १८८९ के " क्रीश्चियन वीकली " नामक न्यूयार्क के प में निम्नलिखित विधान प्रकाशित हुआ था कि " शारदासदन में इस समय सात बालविधवा विद्यार्थियां हैं, इनमें से दोने ईसाई धर्म के साथ अपना प्रेमभाव व्यक्त किया है। और प्रतिदिन वे रमाबाई के साथ प्रार्थना के समय उपस्थित रहती हैं। अलावा इसके एक विद्यार्थिनी स्वेच्छापूर्वक मिशनरी अध्यापक से शिक्षा प्राप्त कर रही है। इस परसे प्रकट हो सकता है कि सदन की विद्यार्थिनियोंमें जो मतस्वातंत्र्य है, यह हानिकारक नहीं हो सकता, और इस तरह यह संस्था मिशनरी (ईसाई) कही जा सकती है।" इन शब्दों को पढतेही शंकाशील व्यक्तियों को विश्वास होगया कि अब इसका भंडाफोड होनेमें कोई कसर नहीं रहती है। फलतः लोगों का यह भ्रम बना रह सकना असंभव होगया कि 'संस्था का नाम भारतीय रखते हुए हिन्दू स्त्रियों को उसमें प्रविष्ट करके उनके मतस्वातंत्र्य की रक्षा करनेविषयक उद्देश्य प्रकट करते हुए यहांके लोगों की सहानुभूति प्राप्त करना, और वहां जो प्रत्यक्ष घटनाएँ हो रही हैं उन्हें लक्ष्य करके किसी ईसाई पत्रद्वारा अमेरिकनों के लिये यह प्रति[illegible] करवाना कि यह संस्था क्रिश्चि[illegible] की ही है, अतएव इसे यथेष्ट [illegible] दीजाय।

यद्यपि [illegible] " इस संस्था के विषय [illegible]
ही था, किन्तु [illegible] तत्कालीन सम्पादक वा[illegible]
बाई के उद्यो[illegible] [illegible]ती थीं। अतएव
के केसरी में [illegible] हुए स्पष्ट [illegible]
' क्योंकि सं[illegible] [illegible] उसके [illegible]
छपनेसे जो [illegible] है, किन्तु [illegible]
कारी प्राप्त [illegible] को [illegible]
समझा गया [illegible] मोका
धोका होनेकी [illegible] क्यों
क्योंकि यह [illegible] है
संबंध नहीं है,
का समावेश
सकता। अतएव

बात न सह सकते हों, तो इसके लिए उन्हीं स्कूलवालों से प्रारंभ में ही खुलासा कर लेना अच्छा होगा।'

इस लेख के उत्तर स्वरूप मिस हेमिल्टनने केसरी के पास ऊपरि निर्दिष्ट महान् व्यक्तियों के हस्ताक्षरसहित एक खुली चिट्ठी भेजी। उसमें स्पष्टतया लिखा गया था कि " यहां शिक्षक और प्रबंधक की ओरसे जाति, रीति अथवा धर्म-मतादि के लिए अविरोध व्यवहार किया जायगा।" इस उत्तर को पढ़ते ही केसरी ने फिर पूछा कि " जब उक्त उद्देश्यपत्रिका सच्ची बतलाई जाती है, तो फिर लड़कियों की प्रवृत्ति ईसाई धर्म की ओर क्यों हो रही है ?" क्योंकि उस समय रमाबाई सहायता प्राप्त करनेके लिए बाहर घूम रहीं थीं। अतएव उन्होंने केसरी का लेख देखते ही ता २ फरवरी सन १८९० को अपने हस्ताक्षर सहित पत्र भेजकर यह लिखा कि " हम शिक्षा या निजी संभाषण में अपने धर्ममतों का बलपूर्वक मण्डन नहीं करते हैं। यही नहीं वरन् एक अज्ञान बालिका के मातापिता ने जब उसे ईसाई धर्म की दीक्षा देनेके लिए मेरे सिपुर्द किया तब मैंने यह बतला कर इनकार कर दिया कि अज्ञान होनेके कारण मैं इसे दीक्षा नहीं दे सकती। अलावा इसके स्कूल में कोई २ विद्यार्थिनी माला पहनती या उपवास रखती अथवा तुलसीपूजा आदि करती है, तो उसे भी हम नहीं रोकते। इतनेपर भी आप जो कुछ और उपाय बतलावेंगे उनके अनुसार योजना करनेको हम तैयार हैं "।

किन्तु 'शारदासदन' के ईसाई संस्था होनेविषयक आक्षेप का भी रमाबाई ने स्पष्ट शब्दोंमें मुँहतोड़ उत्तर दिया कि " यदि हमारे देशभाइयों ने संस्था की यथेष्ट सहायता की होती, तो शारदा-सदनके लिए ईसाई संस्था बनने की कभी आवश्यकता ही न पड़ती। उसे मिशनरी संस्था न होने देनेके लिए पहले बहुत कुछ प्रयत्न किया गया, और अब भी वह जारी है। जब हिन्दू लोग इस तरह की संस्था के लिए सहायता न देने लगे, तब मैंने ईसाइयों के पास जाकर भिक्षा मांगी। यदि आज भी आप इस संस्थाको चलानेके लिए तैयार हो जाँय तो हमारे ईसाई सहायक खुशीसे आपको यह संस्था सौंप देंगे। आप व्ययभार उठाइये, मनचाहे अध्यापक नियुक्त कीजिये और किसी हिन्दू महिला को संस्था की प्रधान संचालिका बना दीजिये, इतने परभी हम ईसाई लोग मूल हेतु का अनुसरण कर आपकी सहायता ही करते रहेंगे। क्योंकि किसी काम को खुद कर दिखाने की अपेक्षा उसमें दोष निकालना आसान होता है, इसे हमारी ही तरह आप भी भलीभांति जानते हैं "।

कुछ ही दिन बाद जाकर अपनी शंकाके सत्यसिद्ध होने के चिह्न भी दिखा देने लगे। केसरी भी उन्हीं शंकावालों में ही से एक था। इसलिये उ कुछ खबर मिली उसकी छापनेमें उसने क्षणमात्र की भी देर न की ता. २१ दिसंबर १८८९ के " क्रीश्चियन वीकली " नामक न्यूयार्क के प में निम्नलिखित विधान प्रकाशित हुआ था कि " शारदासदन में इ समय सात बालविधवा विद्यार्थियां हैं, इनमें से दोने ईसाई धर्म के सा अपना प्रेमभाव व्यक्त किया है। और प्रतिदिन वे रमाबाई के साथ प्रार्थन के समय उपस्थित रहती हैं। अलावा इसके एक विद्यार्थिनी स्वेच्छापूर्वक मिशनरी अध्यापक से शिक्षा प्राप्त कर रही है। इस परसे प्रकट हो सकता है कि सदन की विद्यार्थिनियोंमें जो मतस्वातंत्र्य है, यह हानिकारक नहीं हो सकता, और इस तरह यह संस्था मिशनरी (ईसाई) कही जा सकती है। " इन शब्दों को पढतेही शंकाशील व्यक्तियों को विश्वास होगया कि अब इसका भंडाफोड होनेमें कोई कसर नहीं रहती है। फलतः लोगों का यह भ्रम बना रह सकना असंभव होगया कि ' संस्था का नाम भारतीय रखते हुए हिन्दू स्त्रियों को उसमें प्रविष्ट करके उनके मतस्वातंत्र्य की रक्षा करनेविषयक उद्देश्य प्रकट करते हुए यहांके लोगों की सहानुभूति प्राप्त करना, और वहां जो प्रत्यक्ष घटनाएँ हो रही हैं उन्हें लक्ष्य करके किसी ईसाई पत्रद्वारा अमेरिकनों के लिये यह प्रतिपादन करवाना कि यह संस्था क्रिश्चियन मत की ही है, अतएव इसे यथेष्ट सहायता दीजाय।

यद्यपि केसरी उन दिनों इस संस्था के विषय में शंका रखनेवालों मे से ही था, किन्तु फिर भी उसके तत्कालीन सम्पादक वासुदेवराव केलकर की रमाबाई के उद्योग के साथ हार्दिक सहानुभूति थी। अतएव ता. २८ जनवरी १८९० के केसरी में उक्त लेखांश प्रकाशित करते हुए स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि ' क्योंकि संस्था की उपयुक्तता के कारण उसके सम्बन्ध में इस प्रकार की बातें छपनेसे जो भी लोगों में अविश्वास फैल सकता है, किन्तु फिर भी जो कुछ जानकारी प्राप्त हुई है, उसे छुपाकर इस आरोप को अपने सिर लेना उचित न समझा गया कि जिसमें किसीको यह कहनेका मोका मिल जाय कि " हमें धोका होनेकी संभावना देखकर भी आपने समयपर क्यों सावधान नहीं किया ? " क्योंकि यह स्कूल जो भी व्यावहारिक शिक्षा के लिए है और धर्म से इसका कोई संबंध नहीं है, किन्तु फिर भी यदि प्रत्येक विषय में इधर उधर से धार्मिक विचारों का समावेश किया जाने लगा तो इसका अनिष्ट परिणाम हुए बिना नहीं रह सकता। अतएव इस स्कूल में स्त्रियोंको भेजनेवाले यदि उनके ईसाई न हो जानेका

बात न सह सकते हों, तो इसके लिए उन्हीं स्कूलवालों से आरंभ में ही खुलासा कर लेना अच्छा होगा।'

इस लेख के उत्तर स्वरूप मिस हेमिल्टनने केसरी के पास उपरि निर्दिष्ट महान् व्यक्तियों के हस्ताक्षरसहित एक खुली चिट्ठी भेजी। उसमें स्पष्टतया लिखा गया था कि "यहां शिक्षक और प्रबंधक की ओरसे जाति, रीति अथवा धर्म-मतादि के लिए अविरोध व्यवहार किया जायगा।" इस उत्तर को पढ़ते ही केसरी ने फिर पूछा कि "जब उक्त उद्देश्यपत्रिका सच्ची बतलाई जाती है, तो फिर लड़कियों की प्रवृत्ति ईसाई धर्म की ओर क्यों हो रही है?" क्योंकि उस समय रमाबाई सहायता प्राप्त करनेके लिए बाहर घूम रहीं थीं। अतएव उन्होंने केसरी का लेख देखते ही ता २ फरवरी सन १८९० को अपने हस्ताक्षर सहित पत्र भेजकर यह लिखा कि "हम शिक्षा या निजी संभाषण में अपने धर्ममतों का बलपूर्वक मण्डन नहीं करते हैं। यही नहीं वरन् एक अज्ञान बालिका के मातापिता ने जब उसे ईसाई धर्म की दीक्षा देनेके लिए मेरे सिपुर्द किया तब मैंने यह बतला कर इनकार कर दिया कि अज्ञान होनेके कारण मैं इसे दीक्षा नहीं दे सकती। अलावा इसके स्कूल में कोई २ विद्यार्थिनी माला पहनती या उपवास रखती अथवा तुलसीपूजा आदि करती है, तो उसे भी हम नहीं रोकते। इतनेपर भी आप जो कुछ और उपाय बतलावेंगे उनके अनुसार योजना करनेको हम तैयार हैं"।

किन्तु 'शारदासदन' के ईसाई संस्था होनेविषयक आक्षेप का भी रमाबाई ने स्पष्ट शब्दोंमें मुँहतोड़ उत्तर दिया कि "यदि हमारे देशभाइयों ने संस्था की यथेष्ट सहायता की होती, तो शारदा-सदनके लिए ईसाई संस्था बननें की कभी आवश्यकता ही न पड़ती। उसे मिशनरी संस्था न होने देनेके लिए पहले बहुत कुछ प्रयत्न किया गया, और अब भी वह जारी है। जब हिन्दू लोग इस तरह की संस्था के लिए सहायता न देने लगे, तब मैंने ईसाइयों के पास जाकर भिक्षा मांगी। यदि आज भी आप इस संस्थाको चलानेके लिए तैयार हो जाँय तो हमारे ईसाई सहायक खुशीसे आपको यह संस्था सौंप देंगे। आप व्ययभार उठाइये, मनचाहे अध्यापक नियुक्त कीजिये और किसी हिन्दू महिला को संस्था की प्रधान संचालिका बना दीजिये, इतने परभी हम ईसाई लोग मूल हेतु का अनुसरण कर आपकी सहायता ही करते रहेंगे। क्योंकि किसी काम को खुद कर दिखाने की अपेक्षा उसमें दोष निकालना आसान होता है, इसे हमारी ही तरह आप भी भलीभांति जानते हैं"।

यह एक मानी हुई बात है कि विधायक कार्य करनेवाला मनुष्य विध्वंसक टीकाकार का मुख इसी तरह बंद कर दिया करता है। क्योंकि इन प्रश्नों ने कई लोगों की मति कुंठित कर दी है कि "कोई भी कार्य अमुक प्रकार से होना चाहिये, इस बात को हम और आप जानते है, और हमारी कार्य-पद्धति आप को सदोष जान पड़ती है इसे भी हम स्वीकार करते हैं। किन्तु उसी काम को निर्दोष ढंग से करनेके लिए आप क्यों तैयार नहीं होते?" बम्बई के एक सुधारक सदाशिव पाण्डुरंग केलकर ने भी इस विषय में केसरी के पास एक पत्र भेजकर संस्था के सहायक मंत्री की हैसियत से लिखा था कि "सहायक-समिति का मत सोलहों आना रमाबाई के मत से मिल नहीं सकता।" अब तो सुधारक दल भी विचार में पड़ गया। क्योंकि "इच्छा होनेपर सारा खर्च देकर संस्था हिन्दू बनाई जा सकती थीं। किन्तु इसमें रमाबाई की यह धमकी भी गर्भित थी कि "यदि ऐसा न हो सका तो फिर सोच लीजिये कि मैं संस्था को मिशनरी बनाने में जरा भी देर न करूंगी" क्योंकि जिसका रुपया था उसी की फर्माइश भी पूरी हो सकती थी। और असल में सहायक मण्डलको भी यह आव्हान उसी समय स्वीकार करके यथेष्ट द्रव्य संग्रह कर संस्था हाथ में ले लेना चाहिये थी। क्योंकि बम्बई जैसे शहर में महाराष्ट्रीय एवं गुजराती नेताओं के प्रयत्न से उतना द्रव्य इकट्ठा हो सकना कोई कठिन कार्य नहीं था। किन्तु विध्वंसक आलोचना करनेवाले का काम जिस प्रकार केवल कागज काले कर देना ही था, उसी प्रकार सहायक मण्डल की सहायता भी नाममात्र की ही थी। फलतः रमाबाई ने दोनों के ही सामने नक्द सवाल रक्खा; और वह भी नक्द रुपयेविषयक ही था। किन्तु समालोचकों के चित्तमें स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में न तो सच्ची सहानुभूति थी, और न किसी प्रकार का उत्साह इधर सुधारक के दिल में अगर काम करनेकी लगन थी, तो वे स्वार्थत्यागपूर्वक अन्य उद्योगों को छोड़कर अपनी पसंद के किसी एक ही काम को हाथ में ले जन्मभर उसी में लगे रहनेको तैयार न थे। इसी कारण दोनों ओर से रमाबाई के आव्हान का सक्रिय एवं समर्पक उत्तर न दिया जा सका। किन्तु इसके बाद प्रो. कर्वे सरीखे कर्मनिष्ठ व्यक्ति के कार्यक्षेत्र में आजानेसे इन दोनों ही बातों का मेल बैठ गया। और हिन्दू धर्म के अनुकूल स्त्रीशिक्षा एवं स्त्रीसमाज की सहायतादि उद्देश्योंको सिद्ध करनेवाली एक आदर्श संस्था कायम हो ही गई। और यह संस्था इस ढंग की होनेसे ही जो सहायता रमाबाई को न मिल सकी थी, वह हिन्दूसमाज ने इसके लिए जी खोलकर दी।

क्योंकि समालोचक और सहायक दोनों की ही ओर से आर्थिक सहा-
ता मिल सकनेकी आशा न थी । किन्तु फिर भी सहायक मण्डल के
तिष्ठित व्यक्तियों की नामावली से ही रमाबाई का काम चल सकने जैसा था।
अतएव उन्होंने केसरी में छपाये हुए पत्र पर से सहायकों के दिये हुए उलहने
एवं उनके बतलाये हुए नये नियमन को रमाबाई ने चुपचाप स्वीकार कर लिया।
फलतः केलकर ने भी अपने पत्रद्वारा रमाबाई को दोषमुक्त कर दिया, किन्तु
फेर भी मण्डल की ओरसे उन्हें यह बात स्वीकार करना ही पड़ी कि "इस
कार्य में वे अपनी दृष्टि को दूरतक न ले जा सके। क्योंकि उनसे सम्बन्ध रखने-
वाली शंकाएँ निराधार होते हुए भी स्वाभाविक ही थीं"

ता. १८ फर्वरी का केसरी लिखता है कि "रमाबाई की हिन्दू लोगों से
सम्बन्ध रखनेवाली अपेक्षाको हम समझ गये हैं। किन्तु इस प्रकार की संस्था
के लिए हिन्दु समाज की ओर से सहायता न मिल सकनेका कारण केवल
यही है कि "युवा विधवाओं एवं निराश्रित स्त्रियों के इस प्रकार के स्कूलों में
स्वतंत्रतापूर्वक रहनेविषयक कल्पना अभी हिन्दूसमाज को मान्य नहीं हुई है।
ऐसी दशामें व्यर्थ के लिए जल्दी मचाकर अपने ही साथ २ लोगों का चित्त
दुखाने में क्या लाभ है ? यदि यह संस्था रमाबाई की निजी संस्था होती तो
हम दोषोद्घाटन भी करने को तैयार न होते। क्यों कि रमाबाई ने "शारदासदन"
के चारों ओर यदि कोई दुर्भेद्य दीवार खड़ी करके सार्वजनिक दृष्टिको उसमें
प्रविष्ट न होना दिया होता, तो हमारे लिए भी इस प्रकार हस्ताक्षेप करनेकी
आवश्यकता न रहती ! फिर भी दोष दिखाने में हमारा उद्देश्य केवल यही था
कि संस्था का सुधार होनेके साथ ही उसकी यथेष्ट वृद्धि हो।

इस तरह आलोचना करते हुए भी किसी न किसी अंश में केसरी की
सहानुभूति रमाबाई के साथ अवश्य थी। किन्तु केसरी के द्वारा प्रकाशित
विशेष-ज्ञातव्य विवरण से लाभ उठाकर पूनावैभव आदि पत्रों ने जब मन माने
लेख लिखना शुरू किया तब केसरी को यह बात भी असह्य हो गई। इन
पत्रों ने रमाबाई पर यहांतक गज़ब ढाया कि, यदि क्षणभर के लिए यह भी
मान लिया जाय कि वे जबरन् ही ईसाई धर्म की शिक्षा देती थी तो भी उनकी
आलोचना कभी समुचित नहीं कही जा सकती। रमाबाई के विषय में केसरी
का 'पूर्वमत' अभीतक कायम ही था । और इसी लिए वह प्रायः लिखा
करता था कि "यदि रमाबाई से भूल हुई है तो यह भी कोई महान् अप-
राध नहीं कहा जा सकता क्यों कि भूल किससे नहीं होती ? उन्हें भूल करनेसे
रोकने का यदि संकेत किया जाय तो यह किसी अंश में ठीक कहा जा सकता

यह एक मानी हुई बात है कि विधायक कार्य करनेवाला मनुष्य विध्वंसक टीकाकार का मुंह इसी तरह बंद कर दिया करता है। क्योंकि इन प्रश्नों ने कई लोगों की मति कुंठित कर दी है कि "कोई भी कार्य अमुक प्रकार से होना चाहिये, इस बात को हम और आप जानते है, और हमारी कार्य-पद्धति आप को सदोष जान पड़ती है इसे भी हम स्वीकार करते हैं। किन्तु उसी काम को निर्दोष ढंग से करनेके लिए आप क्यों तैयार नहीं होते?" बम्बई के एक सुधारक सदाशिव पाण्डुरंग केलकर ने भी इस विषय में केसरी के पास एक पत्र भेजकर संस्था के सहायक मंत्री की हैसियत से लिखा था कि "सहायक-समिति का मत सोलहों आना रमाबाई के मत से मिल नहीं सकता।" अब तो सुधारक दल भी विचार में पड़ गया। क्योंकि "इच्छा होनेपर सारा खर्च देकर संस्था हिन्दू बनाई जा सकती थी। किन्तु इसमें रमाबाई की यह धमकी भी गर्भित थी कि "यदि ऐसा न हो सका तो फिर सोच लीजिये कि मैं संस्था को मिशनरी बनाने में जरा भी देर न करूंगी"। क्योंकि जिसका रुपया था उसी की फर्माइश भी पूरी हो सकती थी। और असल में सहायक मण्ड़लको भी यह आव्हान उसी समय स्वीकार करके यथेष्ट द्रव्य संग्रह कर संस्था हाथ में ले लेना चाहिये थी। क्योंकि बम्बई जैसे शहर में महाराष्ट्रीय एवं गुजराती नेताओं के प्रयत्न से उतना द्रव्य इकठ्ठा हो सकना कोई कठिन कार्य नहीं था। किन्तु विध्वंसक आलोचना करनेवाले का काम जिस प्रकार केवल कागज काले कर देना ही था, उसी प्रकार सहायक मण्ड़ल की सहायता भी नाममात्र की ही थी। फलतः रमाबाई ने दोनों के ही सामने नक्द सवाल रक्खा; और वह भी नक्द रुपयेविषयक ही था। किन्तु समालोचकों के चित्तमें स्त्रीशिक्षा के सम्बन्ध में न तो सच्ची सहानुभूति थी, और न किसी प्रकार का उत्साह इधर सुधारक के दिल में अगर काम करनेकी लगन थी, तो वे स्वार्थत्यागपूर्वक अन्य उद्योगों को छोड़कर अपनी पसंद के किसी एक ही काम को हाथ में ले जन्मभर उसी में लगे रहनेको तैयार न थे। इसी कारण दोनों ओर से रमाबाई के आव्हान का सक्रिय एवं समर्पक उत्तर न दिया जा सका। किन्तु इसके बाद प्रो. कर्वे सरीखे कर्मनिष्ठ व्यक्ति के कार्यक्षेत्र में आजानेसे इन दोनों ही बातों का मेल बैठ गया। और हिन्दू धर्म के अनुकूल स्त्रीशिक्षा एवं स्त्रीसमाज की सहायतादि उद्देश्योंको सिद्ध करनेवाली एक आदर्श संस्था कायम हो ही गई। और यह संस्था इस ढंग की होनेसे ही जो सहायता रमाबाई को न मिल सकी थी, वह हिन्दूसमाज ने इसके लिए जी खोलकर दी।

-सहसा धर्मान्तर करनेके लिये तैयार होजाय, इसमें हमें सन्देह है"। अकेले एक गोपालराव के ईसाई होजाने से इतने बड़े हिन्दू समाज की क्या हानि हो सकती थी? किन्तु उनका उपस्थित किया हुआ प्रश्न अवश्य विचारणीय था। क्योंकि हिन्दुओं के तैंतिस करोड़ देवी देवताओं में से यदि कोई ईशू को भी उन्हीं में का एक बतलाकर अपना देवता मान ले तो उसे कौन रोक सकता है? हिन्दू धर्म को अन्य समस्त रीति-रिवाज को बराबर पालते हुए यदि तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं में एक ईश्वर को और बढ़ा दिया जाय तो इसमें क्या बुराई है; जब कि दशावतारों में वेदविरोधी बुद्धकी गणना करने से हिन्दू लोग बौद्ध नहीं हो सकते, मुहर्रम में फकीरी पहनने या गंडा बांधकर ताजिये के सामने नाचने से कोई हिन्दू मुहम्मद का भक्त या मुसलमान नहीं कहा जा सकता, प्रार्थनासमाजी, वेद, कुरान, बायबल आदि सभी धर्मग्रंथों को समान-भाव से देखनेके कारण हिन्दुत्व से गिर नहीं जाते, तो फिर केवल ईशू ख्रीस्त को अपना देवता बतलानेसे ही कोई हिन्दू समाज से बहिष्कृत कैसे और क्यों किया जा सकता है?

किन्तु गोपालराव को यह काँटेदार कुण्डल जितने अंश में हिन्दुओंके पेट में घुस सकता था, उससे कहीं अधिक यह मिशनरियों की आतें निकल देनेमें समर्थ था। क्यों कि उन्हें यह दिखाना था कि ईसाई धर्म की दीक्षा ले लेनेवाला मनुष्य यदि फिरसे हिन्दू बना लिया जाय और समाज उसे स्वीकार करले तो यह एक महान् कार्य ही कहा जा सकेगा, क्यों कि जिस प्रकार एक व्यक्ति को पुनः हिन्दूधर्म में मिलाया जा सकता है, उसी प्रकार दूसरों को भी हम मिला सकेंगे। इस तरह पहले खुद ही अथवा अपने बापदादों की भूलसे जो हजारों हिन्दू ईसाइयों के जाल में फँस गये हैं, उनके लिए इस तरह बन्धमुक्त होकर पुनः हिन्दूधर्म में चले आने के लिए यह योजना मार्गदर्शक हो सकती थी। [...]साई धर्मदीक्षा का मज़ाक उड़ानेके ही लिए गोपालराव उसे ग्रहण करने [...] हुए थे। किंतु केसरी का अनुमान यह था कि गोपालराव के इस [...] विरोध करनेवाले हिन्दुओं की अपेक्षा ईसाई ही अधिक होंगे। [...] हिन्दू देवताओं की अपेक्षा ईशूदेव ही अधिक असहिष्णु है। [...] नहीं सुहाता।

[...] आन्दोलन का प्रभाव शारदासदन के आन्दोलन पर ही अधिक [...] बराबर अगस्त महिने तक चलता रहा, और असली बातें [...]मिस हेमिल्टन को पूना आना पड़ा। ता. २० जुलाई को इस [...] हॉल में एक व्याख्यान हुआ। उस समय रानडे, नूलकर,

है, किन्तु एकदम उन्हें रौंद डालने से कभी कम नहीं हो सकता, इसी लिए उन से हमें जो कुछ लाभ पहुँच सकता है, उसे इस प्रकार व्यर्थ न जाने देना चाहिये ”।

संयोगवश उसी समय लोगों के सामने हिन्दुओं के ईसाई धर्म की दीक्षा लेनेका प्रश्न दूसरे भी एक रूप में उपस्थित हो रहा था। गोपाल विनायक जोशी अर्थात् डॉ. आनन्दीबाई के पति की विनोदमिश्रित कुटिल-बुद्धिका वर्णन हम पिछले प्रकरण में कर ही चुके हैं, किन्तु अलावा उसके इस धर्मान्तर के विषय से सम्बन्ध रखनेवाली अर्थात् पूना के भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण की तरह ईसाई धर्म की दुर्गति पर उन्होंने जो मनोरंजक लीला की उसका वर्णन कर देना (भी) यहां आवश्यक जान पड़ता है। क्यों कि शारदा-सदन पर किये जानेवाले आक्षेप का मूल कारण हिन्दूओंके धर्मान्तरित किये जानेविषयक भय ही था। किन्तु इसी अवधी में मिशनरी लोगों का मज़ाक उड़ाने या धर्मान्तर की क्षुद्रता अथच निःसारता सिद्ध करनेके लिए ही मानों गोपालराव जोशी ने एक भोले-भाले अथच आधाशी मिशनरी को यह चकमा दिया कि “मैं एक ऐसे सुशिक्षित हिन्दू को तुम्हारे साथ करदेना चाहता हूं जो कि ईसाई बनने के लिए तैयार है ”। इधर उन्होंने समाचारपत्रों में सूचना निकलवा दी कि अमुक दिन अमुक समय पूना के संगम पर जाकर हम बाप्तिस्मा लेनेवाले हैं।

इस सूचना को पढ़ते ही लोंको की शारदासदनविषयक भ्रांति और भी अधिक बढ़ गई। क्यों कि गोपालराव धर्मान्तर करके स्वयं तो बहिष्कृत होने ही वाले थे, किन्तु इसी के साथ २ उन्होंने इस नये एवं मनोरंजक मुद्दे को लोगों के सामने पेश करनेका निश्चय कर लिया था कि “ धर्मान्तरित होजाने पर भी मनुष्य व्यवहार के लिये बहिष्कृत नहीं हो सकता ”। फलतः उनके धर्मा-न्तरित होनेसे पहलेही लोगों में यह विवाद छिड़ गया कि आगे के लिए जोशीजी से किस प्रकार का व्यवहार किया जाय। किन्तु विचारशील लोगों को यह कल्पना हो सकती थी कि गोपालराव जोशी का धर्मान्तरित होना रमाबाई की तरह न होकर उसमें कोई गूढ रहस्य अवश्य हो सकता है। इसी लिए केसरी ने भी इस विषय को निम्न शब्दों में प्रकट किया था कि “ जिन महानुभाव ने बिना धर्मान्तरित हुये ही भूमण्डल की प्रदक्षिणा करली, यही नहीं, बल्कि स्व. डॉ. आनन्दीबाई जोशी के भी बिना धर्मान्तरित हुए ही इतने दिन अमेरिका रहकर लौट आने का श्रेय जिन्हें दिया जा सकता है, और अमेरिका में जिन्होंने ‘ आर्य धर्मतत्त्व ’ का व्याख्यान के रूपमें समर्थन किया है, वही आज

-सहसा धर्मान्तर करनेके लिये तैयार होजाय, इसमें हमें सन्देह है"। अकेले एक गोपालराव के ईसाई होजाने से इतने बड़े हिन्दू समाज की क्या हानि हो सकती थी? किन्तु उनका उपस्थित किया हुआ प्रश्न अवश्य विचारणीय था। क्योंकि हिन्दुओं के तैंतिस करोड़ देवी देवताओं में से यदि कोई ईशू को भी उन्हीं में का एक बतलाकर अपना देवता मान ले तो उसे कौन रोक सकता है? हिन्दू धर्म की अन्य समस्त रीति-रिवाज को बराबर पालते हुए यदि तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं में एक ईश्वर को और बढ़ा दिया जाय तो इसमें क्या बुराई है; जब कि दशावतारों में वेदविरोधी बुद्धकी गणना करने से हिन्दू लोग बौद्ध नहीं हो सकते, मुहर्रम में फकीरी पहनने या गंडा बांधकर ताजिये के सामने नाचने से कोई हिन्दू मुहम्मद का भक्त या मुसलमान नहीं कहा जा सकता, प्रार्थनासमाजी, वेद, कुरान, बायबल आदि सभी धर्मग्रंथों को समान-भाव से देखनेके कारण हिन्दुत्व से गिर नहीं जाते, तो फिर केवल ईशू ख्रीस्त को अपना देवता बतलानेसे ही कोई हिन्दू समाज से बहिष्कृत कैसे और क्यों किया जा सकता है?

किन्तु गोपालराव को यह काँटेदार कुण्डल जितने अंश में हिन्दुओंके पेट में घुस सकता था, उससे कहीं अधिक यह मिशनरियों की आँतें निकाल देनेमें समर्थ था। क्यों कि उन्हें यह दिखाना था कि ईसाई धर्म की दीक्षा ले लेनेवाला मनुष्य यदि फिरसे हिन्दू बना लिया जाय और समाज उसे स्वीकार करले तो यह एक महान् कार्य ही कहा जा सकेगा, क्यों कि जिस प्रकार एक व्यक्ति को पुनः हिन्दूधर्म में मिलाया जा सकता है, उसी प्रकार दूसरों को भी हम मिला सकेंगे। इस तरह पहले खुद ही अथवा अपने बापदादों की भूलसे जो हजारों हिन्दू ईसाइयों के जाल में फँस गये हैं, उनके लिए इस तरह बन्धमुक्त होकर पुनः हिन्दूधर्म में चले आने के लिए यह योजना मार्गदर्शक हो सकती थी। ईसाई धर्मदीक्षा का मज़ाक उड़ानेके ही लिए गोपालराव उसे ग्रहण करने को तैयार हुए थे। किंतु केसरी का अनुमान यह था कि गोपालराव के इस समझौते का विरोध करनेवाले हिन्दुओं की अपेक्षा ईसाई ही अधिक होंगे। क्योंकि हमारे हिन्दू देवताओं की अपेक्षा ईशूदेव ही अधिक असहिष्णु है। उसे कोई साथी नहीं सुहाता।

इस नये आन्दोलन का प्रभाव शारदासदन के आन्दोलन पर ही अधिक पड़ा। यह झगड़ा बराबर अगस्त महिने तक चलता रहा, और असली बातें समझाने के लिए मिस हेमिल्टन को पूना आना पड़ा। ता. १० जुलाई को इस विषय पर उनका जोशी हॉल में एक व्याख्यान हुआ। उस समय रानडे, मूलकर,

है, किन्तु एकदम उन्हें रोंद डालने से कभी कम नहीं हो सकता, इसी लिए उन से हमें जो कुछ लाभ पहुँच सकता है, उसे इस प्रकार व्यर्थ न जाने देना चाहिये "।

संयोगवश उसी समय लोगों के सामने हिन्दुओं के ईसाई धर्म की दीक्षा लेनेका प्रश्न दूसरे भी एक रूप में उपस्थित हो रहा था। गोपाल विनायक जोशी अर्थात् डॉ. आनन्दीबाई के पति की विनोदमिश्रित कुटिल-बुद्धिका वर्णन हम पिछले प्रकरण में कर ही चुके हैं, किन्तु अलावा उसके इस धर्मान्तर के विषय से सम्बन्ध रखनेवाली अर्थात् पूना के भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण की तरह ईसाई धर्म की दुर्गति पर उन्होंने जो मनोरंजक लीला की उसका वर्णन कर देना (भी) यहां आवश्यक जान पड़ता है। क्यों कि शारदा-सदन पर किये जानेवाले आक्षेप का मूल कारण हिन्दूओंके धर्मान्तरित किये जानेविषयक भय ही था। किन्तु इसी अवधी में मिशनरी लोगों का मज़ाक उड़ाने या धर्मान्तर की क्षुद्रता अथच निःसारता सिद्ध करनेके लिए ही मानों गोपालराव जोशी ने एक भोले-भाले अथच आधाशी मिशनरी को यह चकमा दिया कि "मैं एक ऐसे सुशिक्षित हिन्दू को तुम्हारे साथ करदेना चाहता हूं जो कि ईसाई बनने के लिए तैयार है "। इधर उन्होंने समाचारपत्रों में सूचना निकलवा दी कि अमुक दिन अमुक समय पूना के संगम पर जाकर हम बाप्तिस्मा लेनेवाले हैं।

इस सूचना को पढ़ते ही लोंको की शारदासदनविषयक भ्रांति और भी अधिक बढ़ गई। क्यों कि गोपालराव धर्मान्तर करके स्वयं तो बहिष्कृत होने ही वाले थे, किन्तु इसी के साथ २ उन्होंने इस नये एवं मनोरंजक मुद्दे को लोगों के सामने पेश करनेका निश्चय कर लिया था कि " धर्मान्तारित होजाने पर भी मनुष्य व्यवहार के लिये बहिष्कृत नहीं हो सकता "। फलतः उनके धर्मान्तारित होनेसे पहलेही लोगों में यह विवाद छिड़ गया कि आगे के लिए जोशीजी से किस प्रकार का व्यवहार किया जाय। किन्तु विचारशील लोगों को यह कल्पना हो सकती थी कि गोपालराव जोशी का धर्मान्तरित होना रमाबाई की तरह न होकर उसमें कोई गूढ रहस्य अवश्य हो सकता है। इसी लिए केसरी ने भी इस विषय को निम्न शब्दों में प्रकट किया था कि " जिन महानुभाव ने बिना धर्मान्तारित हुये ही भूमण्डल की प्रदक्षिणा करली, यही नहीं, बल्कि स्व. डॉ. आनन्दीबाई जोशी के भी बिना धर्मान्तारित हुए ही इतने दिन अमेरिका रहकर लौट आने का श्रेय जिन्हें दिया जा सकता है, और अमेरिका में जिन्होंने ' आर्य धर्मतत्व ' का व्याख्यान के रूपमें समर्थन किया है, वही आज

-सहसा धर्मान्तर करनेके लिये तैयार होजाय, इसमें हमें सन्देह है"। अकेले एक गोपालराव के ईसाई होजाने से इतने बड़े हिन्दू समाज की क्या हानि हो सकती थी? किन्तु उनका उपस्थित किया हुआ प्रश्न अवश्य विचारणीय था। क्योंकि हिन्दुओं के तैंतिस करोड़ देवी देवताओं में से यदि कोई ईशू को भी उन्हीं में का एक बतलाकर अपना देवता मान ले तो उसे कौन रोक सकता है? हिन्दू धर्म को अन्य समस्त रीति-रिवाज को बराबर पालते हुए यदि तैंतीस करोड़ देवी-देवताओं में एक ईश्वर को और बढ़ा दिया जाय तो इसमें क्या बुराई है; जब कि दशावतारों में वेदविरोधी बुद्धकी गणना करने से हिन्दू लोग बौद्ध नहीं हो सकते, मुहर्रम में फकीरी पहनने या गंडा बांधकर ताजिये के सामने नाचने से कोई हिन्दू मुहम्मद का भक्त या मुसलमान नहीं कहा जा सकता, प्रार्थनासमाजी, वेद, कुरान, बायबल आदि सभी धर्मग्रंथों को समान-भाव से देखनेके कारण हिन्दुत्व से गिर नहीं जाते, तो फिर केवल ईशू ख्रीस्त को अपना देवता बतलानेसे ही कोई हिन्दू समाज से बहिष्कृत कैसे और क्यों किया जा सकता है?

किन्तु गोपालराव को यह काँटेदार कुण्डल जितने अंश में हिन्दुओंके पेट में घुस सकता था, उससे कहीं अधिक यह मिशनरियों की आँतें निकाल देनेमें समर्थ था। क्यों कि उन्हें यह दिखाना था कि ईसाई धर्म की दीक्षा ले लेनेवाला मनुष्य यदि फिरसे हिन्दू बना लिया जाय और समाज उसे स्वीकार करले तो यह एक महान् कार्य ही कहा जा सकेगा, क्यों कि जिस प्रकार एक व्यक्ति को पुनः हिन्दूधर्म में मिलाया जा सकता है, उसी प्रकार दूसरों को भी हम मिला सकेंगे। इस तरह पहले खुद ही अथवा अपने बापदादों की भूलसे जो हजारों हिन्दू ईसाइयों के जाल में फँस गये हैं, उनके लिए इस तरह बन्धमुक्त होकर पुनः हिन्दूधर्म में चले आने के लिए यह योजना मार्गदर्शक हो सकती थी। ईसाई धर्मदीक्षा का मज़ाक उड़ानेके ही लिए गोपालराव उसे ग्रहण करने को तैयार हुए थे। किंतु केसरी का अनुमान यह था कि गोपालराव के इस समझौते का विरोध करनेवाले हिन्दुओं की अपेक्षा ईसाई ही अधिक होंगे। क्योंकि हमारे हिन्दू देवताओं की अपेक्षा ईशूदेव ही अधिक असहिष्णु है। उसे कोई साथी नहीं सुहाता।

इस नये आन्दोलन का प्रभाव शारदासदन के आन्दोलन पर ही अधिक पड़ा। यह झगड़ा बराबर अगस्त महिने तक चलता रहा, और असली बातें समझाने के लिए मिस हेमिल्टन को पूना आना पड़ा। ता. ३० जुलई को इस विषय पर उनका जोशी हॉल में एक व्याख्यान हुआ। उस समय रानडे, नूलकर,

देशमुख, भिडे, गोपालराव गोखले, लक्ष्मण मोरेश्वर देशपाण्डे, शिवराम नारायण आपटे आदिने शारदासदन को यथेष्ट सहायता देनेकी पुनः प्रतिज्ञा की। इस संवाद को केसरी ने ज्योंका त्यों प्रकाशित कर दिया, किन्तु इस पर कोई आलोचनात्मक सम्मति प्रकट नहीं की। केसरी में इस समय तक के इस विषय पर के लेख अपनी भाषाशैली के कारण केलकर के लिखे हुए जान पड़ते हैं। इसी अवसर में सम्मति-वय-नामक बिल का विवाद उत्पन्न हो गया! फलतः सन १८९० की कलकत्ता कॉंग्रेस से लौटते ही इस बिल के विषय में वाद करनेके लिए तिलक ने केसरी को अपने हाथमें ले लिया। बस; यहीं से उनके और केलकर के बीच मनमुटाव शुरू हुआ क्यों कि इससे पहले कई दिनों तक इस बात की चर्चा हो चुकी थी कि समाचारपत्र तिलक को सौंप दिये जाँय और प्रेस को दूसरे हिस्सेदार ले लें। इधर सम्मति-वय-बिल के समय सम्पादकीय दृष्टि से केसरी की यह दशा हो गई थी कि वह न तो तिलक का ही मत व्यक्त करता है और न केलकर का।

के शीर्षक के नीचे "खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति" का अवतरण और डेढ़ कालम के लेख में चार पांच अपर हेडिंग (अन्तःशीर्षक) बड़े २ टाइप में दिये हुए हैं। साथ ही उसमें दूसरी खास बात यह भी है कि महिनों बाद रमाबाई के प्रकरण पर फिर से शुरू की हुई चरपरी सम्पादकीय टिप्पणीयां भी निकली हैं। मिस हेमिल्टन के पूना में किये हुए प्रयत्न से शारदासदन की एक शाखा भी वहां खुल गई थी। किन्तु गड़बड़ हो जाने से वह भी न बच सकी। इस विषय पर लिखते हुए संपादकीय पूर्वपरम्परा के कायम रखने के ही लिए केसरी ने इस ढंग से प्रस्तावना की है कि "रमाबाई के जितना प्रर्थसंग्रह आज हमारे हाथों न हो सकनेसे ही अबतक हमने सदन के विरुद्ध अधिकतर कुछ नहीं लिखा, किन्तु सत्य बातों तो कभी न कभी ससार के सामने प्रकट होनी ही चाहिये थी, और यह जितनी शीघ्र प्रकट होती उतना ही अच्छा समझा जाता"।

क्यों कि अब मिस हेमिल्टन पूने में नहीं रही थी और शारदासदन में भी उनके दिये हुए वचन के विरुद्ध ईसाई धर्म की शिक्षा शुरू हो चली थी। इसी लिए लोगोंने समझ लिया कि इस संस्था का उद्देश्य स्त्री-शिक्षा का प्रचार नहीं, वल्कि 'शुभ-समाचार' (ईसाईयों की एक धर्मपुस्तक) का प्रसार ही प्रधान रूपसे है। यद्यपि रा. बा. रानडे सदन के परामर्शदाताओं में से ही थे, किन्तु उनकी विचारसरणी इस प्रकार की थी कि 'यदि विधवाशाली मिशनरियोंद्वारा चलाई जाती तो भी क्या बुराई है; उससे हमारा कुछ न कुछ फायदा तो होगा ही। इसी प्रकार यदि पण्डिता रमाबाई ने अन्य धर्म की भलेही शिक्षा लेली हो किन्तु उनसे शिक्षा दिलवाने में क्या बुराई है? हमे तो जो कुछ अच्छा हो उसी को ग्रहण करना चाहिये, और बुराइयों को छोड़ देना चाहिये। इसपर आलोचना करते हुए केसरी लिखता है कि "ऐसे सलाहकारों ही के सिरपर लोगों को धोखा देनेका सारा पाप रहेगा। क्यों कि स्त्री-शिक्षा का छद्मवेश धारण कर हम लोगों में घुसने का प्रयत्न करनेवाली मिशनरी स्त्रियों और उनको सहायता देनेवाले व्यवस्थापकों को फिर वे चाहे कैसेही विद्वान् या राजपदविभूषित हो हम अपने समाज के, हिन्दुत्व के और स्त्रीशिक्षा तक के शत्रुही समझ सकते हैं।"

इस आलोचना के उत्तर में रानडे ने ता० १७ जून के ज्ञानप्रकाश में अपना एक पत्र छपवाया, जिसमें इस बात के लिए प्रमाण दिये गये थे कि, रमाबाई से प्राप्त किये हुए पत्रही बहुधा यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं; और उनमें जो कुछ कि लिखा गया है, उसकी सत्यता का निर्णय हमने डॉ.

भाण्डारकर को साथमें रखकर किया है। किन्तु रमाबाई के पत्र पर से इस बात का पता लगता है कि शारदा-सदन की व्यवस्था के विषय में अमेरिका के मिशनरी-संरक्षको से समुचित स्पष्टीकरण के साथ सम्मति मांगी गई थी, और उनकी ओर से उत्तर आनेतक रानड़े एवं भाण्डारकर आदि ने त्यागपत्र देना स्थगित कर दिया था। इसी बीच रमाबाई ने मराठा, केसरी, शिवाजी, पूना-वैभव, ज्ञानप्रकाशादि पत्रों में निकले हुए आक्षेपों से भी स्पष्ट इनकार कर दिया। ता० २३ जून के केसरी ने " शारदा सदन और रानड़े की मध्यस्थी " का शीर्षक देकर 'जनोऽविद्वान् एकः सकलमभिसंधाय कपटैः' इस अवतरण के साथ उन आक्षेपों को पुनः एक बार प्रकाशित किया है। क्यों कि उन आक्षेपों के लिए ठीक २ उत्तर कुछ भी नहीं दिया जा सकता था, अतएव केसरी ने आगे चलकर यह लिखा कि 'रानड़े आदि का सदन के कारोबार में हस्तक्षेप कर सकने विषयक अधिकार अमेरिकन मिशनरियों ने छीन लिया है; किन्तु इस बात को वे प्रकट करना नहीं चाहते। इतने पर भी यदि इन लोगों को शारदा-सदन में जाकर चाय पीने या शुष्क सम्मति प्रकट करने का अधिकार हो भी तो वे इस बात की हामी भरने के लिए तैयार नहीं हो सकते कि वहां ईसाई धर्म की शिक्षा नहीं दी जायगी। पंडितासदृश उच्छृंखल एवं आधुनिक कामन्दकियों की वृत्ति में रुकावट डाल सकना कठिन कार्य है, क्यों कि वे मनमानी व्यवस्था रखकर इच्छा होने पर तुलसी वृंदावन ही उडा देंगी, और ऐसा करते हुए रोकने का अधिकार रानड़े को नहीं है। मतलब यह कि रानड़े खुद धोखा खाकर दूसरों को भी उसमें फंसाने के लिए कारणीभूत बन रहे हैं।'

ता० ७ जुलाई के अंक में 'सदनवाली बाई और कोठीवाली बाई' शीर्षक किसी कृष्णाबाईनामक महिला का एक प्राप्तपत्र प्रकाशित हुआ है। किन्तु खोज करने पर पता लगा कि यह कृष्णाबाई पण्डिता की सगी फुफेरी बहन थी, और उसकी सिपुर्दगी में कोठी का काम दिया गया था। अतएव उस पत्र में उसने बतलाया था कि शारदा-सदन में कैसी २ घटनाएँ होती रहती हैं। जब पंडिता से इस की पट न सकी तब यह वहांसे अलग होगई। और इसने पंडिता पर यह आक्षेप किया कि " मेरे विषय में झूठ-सच लिखकर पंडिता ने अपनी संस्था की लज्जा रखने के लिए मुझे कलंक लगाने का प्रयत्न किया है "। साथही इसने यह भी बतलाया कि " बालकों की ओर से अनुरोध करने पर भी विद्यार्थियों को तुलसीपूजा नहीं करने दी जाती। क्यों कि इसके लिए समय व्यर्थ नष्ट होने, देर होजाने अथवा दूसरी लडकियां को बातचीत में लगाने आदि के बहाने बतला दिये जाते हैं "। केसरी के लिये यह भी एक सच्चे भेदिये के

रूपमें मिल गई। क्यों कि जब केवल लमारो के लिए लड़कियां गिर्जाघरों में भेजाई जाती हैं, तो फिर इसी तरह उन्हें हिन्दू मन्दिरों में क्यों नहीं भेजा जाता? यह प्रश्न उपस्न होना स्वाभाविकही था। किन्तु रानडे की इच्छा यह थी कि त्यागपत्र दे देने पर भी हमारी ओर से सदन को किसी प्रकार की हानि न पहुँचाई जाय। इसी तरह कुछ परामर्शदाता ऐसे भी थे जो कि यह कहकर अपना सम्बन्ध बनाये हुए थे कि यदि यह एक बात में हमारे साथ ठगाई करेगी तो हम सात बातोंमें इसे चकमा दे सकते हैं। किन्तु उनकी यह सारी शेखी एकदम बेकार थी। इधर केसरीने यह प्रश्न खड़ा किया कि जब सहायक-मंडल टूट चुका है तो फिर उसे कागजपत्रों में प्रकट क्यों नहीं करते? किन्तु इसका भी कोई उत्तर न मिलने सका।

ता० १४ जुलाई के केसरी में तो प्रतिपक्षियों के लिये प्रमाणों की भरमार करदेने के कुछ चिह्न भी प्रकट कर दिये गये। उनमें प्रथम पंडिता रमाबाई के सन १८८६ वाले कॉसेल में दिये हुए व्याख्यान का उद्धरण भी दिया गया है। इस उद्धरण के वाक्य इस प्रकार हैं कि इस महाशया की इच्छा यह है कि "हिन्दू विधवाओं को शिक्षा देकर इस काम के लिये तैयार किया जाय कि वे ईसाई-धर्म में रहकर अनुभव किये जानेवाले सुख की प्राप्ति के लिए हिन्दुओं को इस धर्मका उपदेश दे सकें। इसी प्रकार प्रमाणोत्पादक सामग्री में नं० २ का उद्धरण रमाबाई की एक पुस्तक से लिया गया है। जिसमें कि पंडिताने अमेरिकन मिशनारियों से सदन की सहायता के लिये प्रार्थना की है। पंडिता ने उसमें एक वाक्य इस प्रकार लिखा है कि "शुभसमाचार के प्रसार का मार्ग सरल बनाने के लिए हिन्दू लोगों के अंतर्गृहों के ताले तोड़कर प्रथमतः उनके द्वार खुले कर देना ही सबसे अधिक महत्व का कार्य है। अतएव इसी लिए आप लोगों की सेवा में मैंने आर्थिक सहायता देने की प्रार्थना की है"। इसी प्रकार प्रमाणसंग्रह करनेके और भी कई साधन बतलाये गये हैं, जिनमें कि लड़कियों को बायबल की पुस्तकें देना एवं ईसाई धर्म के प्रसार के लिये प्रार्थना करना आदि मुख्य हैं।

इन सारी बातों का वर्णन तिलक ने निम्नलिखित शब्दों में किया है। "पण्डिता रमाबाई की यह इच्छा कभी नहीं है कि वह हिन्दू धर्म में आग लगादे। क्यों कि वह तो केवल इतनाही काम करेगी कि, घरमें जब बाल-बच्चों को मौजूद देखेंगी, तभी जलते हुए अंगारे लाकर उस मकान की छतपर बिखेर देगी। और इसके बाद करुणामय वाणी में यह प्रार्थना करने लगेगी कि 'प्रभो मेरे मनुष्यों के हाथसे जो कुछ अल्पस्वरूप कार्य हो सकता था, वह हो चुके

है। आगे के लिए मार्ग दिखानेवाला एकमात्र तुही है। इस भक्तिभावना के समय हमारे रावबहादुर शंख बजाने के लिए तैयार खड़ेही हैं। " अर्थात् रमाबाई उन लोगों में से हैं जो कि घृत और अग्नि को एक स्थान में रखकर यह प्रार्थना करते हैं कि 'भगवन्! इस घृत को जरा पतला कर दीजिये' और इसके बाद यह कहने लग जाते हैं कि मैं तो केवल प्रार्थना करता हूं। घृत को पतला करने के लिये मैं कभी जवाबदार नहीं हो सकता। " इस तरह सारी पोल खोल देने के बाद केसरी ने रानडे को चेतावनी दी है कि उन सब लड़कियों के धर्मभ्रष्ट होनेकी जवाबदारी भी रानडे के ही शिरपर है। क्यों कि रमाबाई के विरुद्ध सिद्ध की जानेवाली एकही बात का मूल्य उनकी दस बातों की अस्वीकृती से कहीं अधिक हो सकती है। इसके बाद आगे चलकर यह फिर लिखता है कि " रमाबाई के साधु समान मृदु किन्तु प्रवचकताभरे शब्दों को सुनते रहने की धुनमें अथवा उसके कस्तूरीपरिमलरूपी गुण को ग्रहण करते-समय *सुधारक सम्पादक के ध्यान से यह बात एकदम ही दूर हट गईसी जान* पड़ती हैं। " अन्त में जाकर केसरी इस निर्णय पर पहुँचा है कि रमाबाई का विधवा-मिशनगृह सरकारी या मिशनरी स्कूलों से भी बुरा है। क्यों कि सरकार तो धार्मिक शिक्षा के विषय में तटस्थ रहती है, किंतु मिशनरी लोग हरतरह धर्म-भ्रष्ट करनेको ही ऐसे कार्योंमें प्रवृत्त होते है! अर्थात् इस स्कूल में शिक्षा का क्रम लेकर धर्मभ्रष्ट करने की योजना की गई है! इससे अधिक और लिखाभी क्या जा सकता था? इस तरह लोगोंको विश्वास हो गया कि केसरी ने ही सच लोकमत को प्रगट किया है, और रानडे के लिए उत्तर देनेको कोई जगह नहीं रह गई है!

अन्त में ता. १३ अगष्ट सन १८९३ को शारदासदन के बोस्टन नगर (अमेरिका) वाले अधिकारी के पास पत्र लिखकर भाण्डारकर और रानडे तथा चिंतामणराव भट्ट ने सदैव के लिए इस संस्था से अपना संबन्धविच्छेद कर लिया। वे लिखते हैं कि:—

" We have strong reasons to believe, that many of the girls are induced to attend her (Ramabai's) private prayers regularly and read the Bible, and the Christian doctrines are taught to them. Pandita Ramabai has also shown her active missionary tendencies by asking the parents and guardians of girls to allow them to attend her prayers and in one case at least, to become Christians themselves; and we are assured that two of

the girls have declared to their elders that they have accepted Christ Such a departure from the original understanding cannot fail, in our opinion, to shake the stability of the institution and alienate public sympathy from this work. We are sorry, our individual remonstrances with the Pandita Bai have proved of no avail. If the Sadan is to be conducted as an avowed proselytising institution we must disavow all connection with it."

इसी अवसर में हिन्दू मुसलमानों के दंगे शुरू हो जानेसे शारदा-सदन की सभी बालिकाएँ अपने २ घर भेज दी गईं, और इस तरह यह विवाद बिना श्रम के ही शांत हो गया। इधर भाण्डारकर एवं रानडे के त्यागपत्रों को पढ़कर कई पालकों ने तो फिर अपनी पुत्रियों को घर से कहीं जाने ही न दिया। रानडे और भाण्डारकर आदि के पत्र का उत्तर पंडिता रमाबाईने सुधारक में छपवाया। इधर प्रिंसिपॉल आगरकर से पंडिताका जो संवाद हुआ, वह भी प्रकाशित कर दिया गया। रानडे आदि के विषय में रमाबाई ने कहा कि पिछले दोचार वर्षों से ये लोग व्यवस्था-मण्डल में रहते आये हैं, किन्तु आज की बातों की चर्चा उन्होंने हम से पहले कभी नहीं की। इसका आशय केवल यही है कि आक्षेपार्ह बातें पहले से ही होती रहीं और रानडे ने उनकी ओर ध्यानतक नहीं दिया, अथवा उनकी रोक न करते हुए यथावत् उन्हें चलने दिया। किन्तु यह आक्षेप हमें यथार्थ नहीं जान पड़ता। कमसे कम केसरी की ओर से तो उनपर इस प्रकार का आरोप कभी नहीं लगाया गया। वह केवल इतना ही बतलाता रहा कि इस विषय में रानडे अज्ञान थे, किन्तु यही अज्ञान उन के हीनता सिद्ध कर लोकमत को बिगाड़ देनेमें सहायक हुआ। परन्तु रमाबाई ने इससे एक कदम आगे बढ़कर अपना बचाव करनेके लिए रानडेपर आक्रमण करते हुए आक्षेपित विषयों का सारा दोष ही उनपर डाल दिया। आगरकर के सामने तो पंडिता ने स्पष्ट शब्दोंमें कह दिया था कि " सदन में प्रविष्ट होते समय बालिकाओं का हिन्दू-धर्म भले ही हो, किन्तु यहांसे निकलने पर उनके हिन्दू बनी रहने की जवाबदारी मैं अपने सिर पर नहीं ले सकती "। क्योंकि जब लगभग बीस लड़कियां ईसाई धर्मोपदेश के समय वहां उपस्थित रहती हैं, और उनके धर्मान्तरित होने की जवाबदारी से पंडिता इन्कार करती हैं, तो इसका आशय जो कुछ है, उसे सब जान सकते है।

मतलब यह कि सुधारकों को भी अपनी भूल स्वीकार करनी पड़ी, क्योंकि पंडिता भी किसी प्रकार के बन्धन में फंसना नहीं चाहती थी, कारण, वह ऐसा करनेमें असमर्थ थी। फलतः जब सुधारकोंने सदन की व्याख्या इन शब्दों में की कि "शारदासदन केवल हीन जाति की लड़कियों के लिए ईसाई धर्म को स्वीकार करनेवाली एक असाधारण महिला द्वारा संचालित मिशन स्कूल है" तो भी पंडिताने उसे चुपचाप स्वीकार कर लिया। इस तरह रमाबाई के सहवास से रानडे आदि सुधारकों में जो भी कमजोरी आगई हो किन्तु इतना लाभ अवश्य हुआ कि, वे खुल्लमखुल्ला इस बात को कहना सके कि, कुछ भी हो जाय पर हम हिन्दू लोग हिन्दूही बने रहेंगे, क्यों कि ईसाई-धर्म पराया है, अतएव हमें उसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं। हमारी धर्मसहिष्णुता अथवा स्त्रीशिक्षाविषयक आकांक्षा की मर्यादा ईसाई-धर्म तक नहीं बढ़ सकती। धर्मों की धार्मिक विवादों में इस प्रकारका विरोध कभी न कभी होकर ही रहता है। और विश्व-बन्धुत्व के कल्पनामय साम्राज्य में भी लोगों के लिए अपने २ प्रदेश की मर्यादा निश्चित रहना अनिवार्य होता है। यह कार्य रानडे सदृश निर्विकार शांति-ब्रह्म-रूप व्यक्ति के हाथों ऐसे ढंगसे पूर्ण होजाना इस विवाद से प्रादुर्भूत एक महान् लाभही कहा जा सकता है।

अब यह प्रश्न सामने आया कि शारदासदन में से लड़कियों को हटा तो लिया जाय, किन्तु आगेके लिये उसकी क्या व्यवस्था हो? अर्थात् यह जबाबदारी भी शारदासदन की कड़ी आलोचना करनेवालों के सिर आपड़ी। क्यों कि विध्वंसक समालोचकों की खरी कसौटी तभी हो सकती है, जब कि विधायक कार्य सामने आ खड़ा होता है। अंततः शारदासदन से हटाई हुई लड़कियोंकी शिक्षा व प्रबंध होना आवश्यक समझा जाकर बड़े प्रयत्न के बाद फीमेल हाईस्कूल में दस लड़कियोंको भर्ती कराया गया!

इससे आगे की बातें विशेष महत्त्व की न होने यहां उनका उल्लेख करना अनावश्यक होगा। हाँ, तो जब रानड़े आदि को अन्त में जाकर रमाबाई के आन्तरिक उद्देश्यों के विषय में विश्वास हो गया तब उन्होंने उनके परामर्शदाताओं में से भी अपना नाम हटा लिया। इधर क्यों कि रमाबाई को भी इनसे किसी प्रकार की आर्थिक या बालिकाओं की संख्या बढाने विषयक सहायता मिलने की आशा न थी, अतएव उन्होने भी चुपचाप इस व्याधि से अपना पीछा छुड़ाकर इस बात के लिए आनन्द प्रकट किया कि अब मेरा मार्ग स्वतंत्र हो गया। इस तरह रानड़े आदि के अलग होजाने पर भी रमाबाई के सदन का कार्य कुछ वर्षोंतक उसी पुराने मिश्रित ध्येय के ही अनुसार चलता रहा, किन्तु उन्हें अपनी इस

आकांक्षा के पूर्ण हो सकनेकी कोई संभावना नही दिखाई दी कि, कुलीन हिन्दू विधवाओं अथवा अविवाहिता युवतियों को सिखा पढ़ाकर हिन्दूसमाज की स्त्रियों को दासत्व से मुक्त करनेके लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाय।

सन १८९९ के नवम्बर मास में एकदम ही यह खबर फैल गई कि रमाबाई ने शारदासदन की दस-बारह लड़कियों को धर्मान्तरित कर लिया है। क्यों कि इस से पहले भी व्यक्तिशः धर्मान्तर अवश्य होता था, किन्तु अब यह व्यापार थोकबन्द होने लगा। अर्थात् कट्टर धर्माभिमानिनी स्त्रियों की दर्जनों की संख्या में भ्रष्ट होती देखकर यदि शारदासदन के विषय में लोगों को चिढ़ उत्पन्न हो गई हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?, अब तो सभी लोग यह कहनेको तैयार हो गये कि ईसाईयों के धन पर चलाये जानेवाले सदन मे लड़कियां भ्रष्ट हुए विना नहीं रह सकतीं, इसे समझाने के लिए किसी महापुरुष के अवतार लेनेकी आवश्यकता नहीं थी। किंतु बेचारे भोले-भाले सुधारक धोका खा ही गये। और स्त्रीशिक्षा के मोहक स्वरूप पर लुब्ध होकर या अनाथ विधवाओं की दुखभरी दशा पर द्रवित होकर उन भोले भावुकों ने अपनी बहन, भौजाई और बहू-बेटियों को सदन में प्रविष्ट करवाते हुए सदैव के लिए उन्हे हिन्दू धर्म से बहिष्कृत कर दिया।

क्योंकि रमाबाई को इस बात का पता न था कि किसी समाज की उदर-शुद्धि के लिए बाह्य-रूपसे उसका पेट नहीं चिर दिया जाता है। बल्कि उस के पेट में ही घुसनेकी प्रथम आवश्यकता होती है। क्यों कि पेट में घुस जानेवाला उसे फोड़कर बाहर निकल सकता है, और उसे सदैव के लिए अन्दर नहीं पड़ा रहना पड़ता। कच को संजीवनी विद्या सीखते समय ऐसा ही करना पड़ा था। अपना प्राण देकर दूसरों की रक्षा करनेपर ही वह शुक्राचार्य के पेट में पहुंच सका। और पेट में पहुँचनेपर ही संजीवनी विद्या सीखकर वह जीवित हो सका। अर्थात् गुरू का पेट चीरकर वह बाहर निकल आया, किन्तु बाहर आते ही उसने गुरू को पुनर्जीवित कर दिया। इस तरह शिष्य ने विद्या प्राप्त की और गुरू का गर्व हरण हो गया, किंतु फिर भी जीवित दोनों ही रहे। यदि रमाबाई ने इसी सिद्धान्त का अवलम्बन किया होता और अपने पिता की परम्परा कायम रखकर हिन्दू धर्माभिमानी के नाते वे समाज से झगड़तीं, तो स्त्रीशिक्षा और स्त्रीदास्य-विमोचन दोनों ही कार्य न्यूनाधिक प्रमाण में उनके हाथों सिद्ध हो सकते थे। यद्यपि आरंभ में हिन्दू समाज की ओर से एकदम हजारों-लाखों की संख्या में रुपया न मिलता, किंतु थोड़ा बहुत मिलनेसे जो काम होता, वह

पायेबन्द होता। किन्तु इसके लिए तो सुसंस्कृत चित्त एवं स्वार्थत्याग की आवश्यकता थी। और रमाबाई ने भी लगभग आजन्म अविवाहिता रहकर एक प्रकारसे स्वार्थत्याग ही किया। किन्तु ईसाईयों की सहायता से संगठित प्रयत्नों का अद्भुत चमत्कार दिखाकर उन्होंने महान् पराक्रम कर सकनेकी जो महत्त्वाकांक्षा धारण की उसीने उनको सफल न होने दिया।

अन्ततः अमेरिकन मिशनरियों से की हुई दश वर्ष की प्रतिज्ञा समाप्त हो जानेपर यह संस्था प्रकटरूप में- ईसाई मिशन बनगई। रमाबाई को पूना से हटकर केड़गाँव चले जाना पड़ा और वहां संस्था का नाम बदल कर 'मुक्ति-सदन' रख देना पड़ा। मुक्ति का आशय खिस्तोदय मुक्ति था। इस तरह रमाबाई के पूना छोड़कर दूर चले जाने पर लोगों ने भी उनके विषय में चर्चा करना छोड़ दिया। फलतः इससे पूर्व वासुदेवराव केलकर ने केसरी में जो भविष्य प्रकट किया था, वह अब प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगा। अर्थात् रमाबाई ने अपने सदन के चतुर्दिक् किसी दुर्गकी भांति दीवारें खड़ी कर ली अतएव उसकी आन्तरिक अवस्था न जान सकनेके कारण किसी के लिए आक्षेप करनेको स्थान न रह गया। सन १८९७ में जो अकाल पड़ा, उस समय मध्य प्रदेशादि प्रान्तों से बहुत सी लड़कियां लाकर रमाबाई ने अपने मुक्तिसदन को गुलजार बना दिया। इसी तरह अकालनिवारणार्थ मिशनरियों से जो सहायता मिली, इसके द्वारा मुक्तिसदन की हलत एकदम बदल गई। इसके बाद भी मुक्तिसदन की लड़कियों के साथ असद्व्यवहार करने एवं उनकी स्वतंत्रता नष्ट करदी जानेके विषय में झगडे होते रहे। इसी प्रकार दो एक बार लड़कियों को बहकाकर ले आने की शिकायतें भी सुनी गईं। और अन्तमें डिस्ट्रिक्ट मजिष्ट्रेट तक यह मामला पहुँचा। किन्तु प्रायः अन्य मिशनरियों के साथ जैसा व्यवहार किया जाता है, वैसा ही इसबार भी हुआ। अंततः समाज ने इससे अधिक इस ओर ध्यान नहीं दिया।

किन्तु इतनी कार्यवाही लिख देने के पश्चात् अन्तमें रमाबाई के प्रशंसनीय गुणों का उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है। क्योंकि पंडिता रमाबाई एक तेजस्विनी स्त्री थी, अतएव उन्होंने अपने समाज की ही तरह युरोपियन अधिकारियों की भी कभी विशेष पर्वाह नहीं की। प्लेग की गड़बड़ के जमाने में जब सरकारी अधिकारियों एवं उनके सहायकों की ओर से कई प्रकार के अत्याचार हुए, एक ओर गोपाल कृष्ण गोखले जहां आपने कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण विधानों के लिए क्षमाप्रार्थना करनेको तैयार हो गये, वहीं रमाबाई ने खुल्लमखुल्ला उन अधिकरियों के कई दुष्कृत्यों का भंडाफोड़ भी करादिया। इसी कारण उनका

नारि असुनि सत्यपणा तूंचि राखिला ' (अर्थात्, स्त्री होकर भी सत्यता की रक्षा तूने ही की) यह संगीत गुणवर्णन पूनावालों की जबान पर कई दिनों तक बना रहा।

हमारे प्रारम्भिक कथनानुसार रमाबाई की सारी बातें अद्भुत ही हुई। किन्तु जिस प्रकार डॉ. आनंदीबाई जोशी या सौ. काशीबाई कानिटकर के विषय में केसरी हमेशा सम्मानभाव-और कभी २ स्वयं तिलक की लेखनी से निकले हुए स्तुतिवाक्य-प्रकट करता रहा, उसी प्रकार यदि रमाबाई का ध्येय भी किंचित् दूसरे प्रकार का होता तो हम समझते हैं कि तिलक ने उनका भी अभिनन्दन किया होता। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि तिलक स्त्री शिक्षा के विरोधी न थे, किन्तु यदि किसी सुशिक्षिता महिला की गति उन्हें समाज की रक्षा के लिए सुधार की ओर प्रवृत्त होती दिखाई देती, अथवा वे यदि उसे किसी अंश में राजनैतिक कार्योंकी ओर रुचि रखते देखते तो प्रमाणपत्रद्वारा अथवा लेख लिखकर या सभा-समितियों में उसका सम्मान करके उत्तेजन देनेमें भी वे कभी पीछे पैर न रखते थे। किन्तु सुशिक्षिता स्त्री के विनयहीन हो जाने अथवा उसके बोलचाल या वाहवाही के सीमा से अधिक बढ़ जाने-को वे सहन न कर सकते थे। तिलक के स्वभाव को देखते हुए हमें यह भी प्रतीत होता है कि, पंडिता रमाबाई के प्रथम दर्शन के समय ही कदाचित् उन्हों ने घृणाभाव भी प्रकट किया होगा और उन के चारों ओर सुधारकों का घेरा पड़ा देखकर तो अवश्य ही उनको विश्वास हो गया होता कि इस स्त्री के हाथों किसी समाजोपयोगी कार्य के हो सकनेकी आशा नहीं की जा सकती। तिलक की यह उर्वर बुद्धि या भावी कल्पना ही अन्त में सत्य सिद्ध हुई। और इसी लिए वे आजन्म इन्हें समाज-शत्रु के ही रूप में समझते रहे। मतलब यह कि ये तो ये दोनो ही व्यक्ति अपने २ ढंग के अपूर्व कर्तृत्ववान् एवं तेजस्वी, किन्तु इन दोनों की प्रहस्थिति में इस प्रकार एकदम विरोध भाव था। अतएव परस्पर गुणों का परिचय रखते हुए भी आजन्म इन दोनों के मुँह से एक-दूसरे के लिए प्रशंसात्मक शब्द एक भी न निकल सका।

स्कूल-मास्तर की नजर चुकाकर या उनकी अनुपस्थिति में कभीनकभी मौका पाही जाते है, और उस समय वे यथाशक्ति अपने दिल के अर्मान पूरे करने से भी प्रायः नहीं चूकते। इसी लिए स्कूल-मास्टर के पास इस तरह के झगड़े पेश न किया जाकर आपुस में ही जहांतक इसका फैसला हो जाय वह अच्छाही है और यही मास्तर साहब चाहते भी हैं। किन्तु स्कूल के झगड़ों का परिणाम इतना चुद्र होता हैं कि यदि अध्यापक उस ओर ध्यान न भी दे तो कोई विशेष हानि नहीं होती। किन्तु जातिविषयक झगड़े केवळ हाथापाई सेही समाप्त नहीं हो जाते क्योंकि उनमें ईंट-पत्थर और लाठियोंकी ही तरह शस्त्रास्त्र एवं अग्निप्रयोग सरीखे घातक साधनों तक का उपयोग हो सकता है, अत एव बेशुमार ठोकपीट के ही साथ २ प्राणहानितक मामला बढ़ जाता है। ऐसी दशा में कमजोर पार्टी को सरकारी सहायता लेनी पड़ती है, और चूँकि समाज में शान्ति बनाये रखना ही सरकार का प्रधान कर्तव्य होता है, अतएव किसी की ओरसे न बुलाया जाने पर भी उसे उन झगड़ों में योग देना पड़ता है। किन्तु ऐसा करते समय सरकारी हुक्म या उसकी अमलबजावरी में फिरसे व्यक्ति-दोष का समावेश होकर कितनी ही जगह झगड़े शांत होने के बदले और भी बढ़ जाते है। लग भग इसी तरह की घटना होरिसशाही के समय हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े में भी हुई।

क्यों कि यह किसी भी दशा में नहीं कहा जा सकता कि पूना के हिन्दू-मुसलमानों का पूर्वापरसंबन्ध विशेष द्वेषयुक्त था। गो-वध और मसजिदों के आसपास बाजा बजाने की बातें कोई आज कल की नहीं, सैंकड़ों वर्षों से चली आती है, और मन में यदि सुलूक का भाव हो तो ये दोनों बातें विना किसी गड़बड़ के ही पार पड़ सकती हैं। झगड़े तो पहले भी कहीं २ होते थे, किन्तु उनमें कुछ तो प्रचलित व्यवस्था के द्वारा और शेष न्यायालय के निर्णय से मिटा दिये जाते थे। केवल दण्डेबाजी तक बहुत ही थोड़े मामले पहुँचते थे। बल्कि कुछ बातों में तो हिन्दू-मुसलमान परस्पर स्नेह-बद्ध भी रहते थे। क्योंकि मुहर्रम में ताजियेदारी करने तथा फ़क़ीरी पहनने एवं स्वांग बनाकर नाचने में हिन्दू लोग भी अक़सर शामिल रहते थे, और मुसलमान गवैये की ख़िदमत में हिन्दू शागिर्द का तालीम पाना तथा अखाड़ों के हिन्दू उस्तादों द्वारा मुसलमान लड़को कुश्ती सिखाया जाना उस समय एक स्वाभाविक सी बात थी। (और कहीं २ तो ये दृश्य आज भी देखनेमें आते हैं।) भाऊ महाराज के बगीचे की तरह हिन्दू के देवता और मुसलमान फ़कीर दोनों ही पास २ रहते थे। पूना के कितने ही सरदारी बाड़ों में ड्योढ़ी के किसी एक कोने में हिन्दू

सिपाही का बैठाया हुआ गणपति और दूसरे कोने में मुसलमान सिपाही के रखाहुआ औलिया नामक पत्थर या पीर साहब का पंजा अक्सर देखने में आते थे। और आज भी यदि कोई चाहे तो किबे वाड़े (पूना) में ज्ञानप्रकाश प्रेस के मैनेजर की छोटी सी बैठक के एक कोने में बनी हुई मुसलमानी क़ब्रपर जुमे-रात (गुरुवार) के दिन प्रेस के ख़र्च से फूलों की माला, लोबान, और रेवड़ी चढ़ती हुई नियमपूर्वक देख सकता है। ऐसी दशा में अगले वर्णन पर से स्पष्ट ही प्रकट हो जायगा कि पूना में हिन्दू-मुसलमानों का जो दंगा हुआ उसका मूल-कारण बाहर की अफवाह और सरकारी अधिकारियों का पक्षपात-युक्त धैर्य स्वीकार करलेना ही था। यद्यपि तिलक का सम्बन्ध कहीं के भी दंगे में किसी भी रूप में न रहा, यहां तक कि ख़ास पूना के दंगेविषयक मुक़द्दमों के गवाहों में भी कहीं उनका नाम नहीं पाया जाता। किन्तु इन दंगों के कारण उत्पन्न होनेवाले राजनैतिक आन्दोलन में उनका नाम प्रधानरूप से लिया जाकर मुसलमान लोग वर्सों तक तिलक को अपना शत्रु समझते रहे। और चिरोल साहब की धारणा तो यहां तक दृढ़ होचुकी थी कि दो जातियों में परस्पर झगड़ा उत्पन्न कर अशान्ति फैला देनेवाले कलि-मूर्ति नारद भी उन्होंने तिलक को ही समझा। नर्मदलवाले भी तिलक को मुसलमानों से शत्रुता बढ़ानेके लिए व्यर्थ दोष देते थे। फलतः किन २ कारणों से उनपर यह दोषारोपण किया जाता था, उनका विवेचन करनेसे पूर्व बम्बई-पूना के दंगों का वर्णन करदेना आवश्यक जान पड़ता है।

बम्बई शहर के पुराने लोगों की याद्दाश्त के अनुसार पहला दंगा सन् १८५० वाला बतलाया जाता है, जो कि पारसी और मुसलमानों के बीच हुआ था। इसी वर्ष बेहरामजी गांधी नामक एक पारसी पत्र-सम्पादक ने मुहम्मद पैगम्बर का चित्र अपने पत्र में प्रकाशित किया। वह चित्र-काल्पनिक हो सकता ही था। क्योंकि मुसलमान लोग अपने देवता के चित्र नहीं बनाया करते, अतएव इस बात पर किसी ने ध्यान तक नहीं दिया कि चित्र ठीक बना है या इसमें किसी तरह की भूल है। बल्कि झगड़ा इसी बात पर खड़ा हुआ कि चित्र ही क्यों प्रकाशित किया गया? बस; इसी एक बात पर केवल एक ही व्यक्ति अपराध के कारण मुसलमानों ने सारी पारसी जाति के विरुद्ध शस्त्र उठाया। फलतः कई दिनों तक यह हालत रही कि जो पारसी इन्हें दिखाई देता उसे पकड़कर ये पीट डालते। किन्तु बम्बई तक में मुसलमानों के हिसाब से पारसियों की बस्ती बहुत कम थी। और दंगेख़ोर लोगों में मुसलमानों का ही प्राबल्य था। अतएव बिचारे पारसी लोग बेतरह पिटे और

झगड़ा शांत करनेमें सरकार को भी बहुत श्रम उठाना पड़ा। इसके बाद दूसरा दंगा सन १८७४ में हुआ। इसका कारण यह बतलाया जाता है कि रस्तमजी ग्वालभाई नामक एक पारसी ग्रंथकारने 'वाशिंग्टन श्रायर्विग' नामक अमेरिकन लेखक के कुछ लेखों का अनुवाद किया, जिसमें कि मुहम्मद साहब से सम्बन्ध रखनेवाली भी कुछ बातें थीं। फलतः एक पारसी के द्वारा ऐसा होना मुसलमान लोग बर्दाश्त न कर सके। और इस बार भी वे दीन-दीन पुकारते हुए जुम्मा मसजिद से निकलकर सारे शहर में फैल गये। उस समय मार्ग में उन्हे जो कोई पारसी मिला, उसीको पकडकर उन लोगोंने अच्छी तरह ठोका। यह दंगा बराबर चार दिन चलता रहा, और जब मुसलमान लोग पोलिस के काबू से बाहर हो गये तब सरकार को पलटन की सहायता लेनी पड़ी। इन दोनों घटनाओं पर से ज्ञान हो सकता है कि दंगे के मुसलमानों को लिए कितने स्वल्प कारण की आवश्यकता रहती है।

सन १८६३ के दंगे में मुसलमानों का मोर्चा हिन्दुओं की ओर फिरा। इसकी मूलोत्पत्ति प्रभासपट्टन में हुई। यह स्थान जूनागढ़ राज्य में है। जूनागढ़ के नवाब मुसलमान हैं। किन्तु राजा की जाति से दंगे का कोई खास सम्बन्ध नहीं होता। दंगे की शुरुआत ताजिये के जुलूस से हुई। दंगे में जो कुछ कि होता है वे सब बातें इसमें भी हुई। इसके बाद गिरफ़्तारियां और मुकदमों का आरंभ हुआ। इस दंगे में न केवल मनुष्यों की ही हत्या हुई, बल्कि देवालय भी भ्रष्ट किये गये। देवताओं की मूर्तियां तोड फोड़ कर फेंक दी गई। देवालय और धर्मशालाओं में रहनेवाले पुजारी एवं साधु-संतों अथच यात्रियों को अकारणही पकड़ लिया और उनपर तेल छिड़क कर जला दिया गया। क्योंकि पिछले दो वर्षों से यह विद्रोह की आग अन्दर ही अन्दर सुलग रही थी, इसी लिए इन वर्षों में ताजिये भी नहीं निकलने दिये गये। किन्तु इस वर्ष जैसे ही उनके लिए आज्ञा मिली की उन लोगों ने यह हत्याकाण्ड कर दिखाया। कारण-वश उन दिनों राज्य का कारोबार अंग्रेज सरकार के ही हाथ में था, किन्तु उस सर्कार पर हिन्दु मुसलमान दोनों ही अविश्वास करते थे। इसी हिंदुओं को इस बात की चटपटी लगी की दंगे की जांच की जाकर ठीक २ फैसला कराया जाय। इधर मुसलमान लोग इस बातके लिए प्रयत्न कर रहे थे कि मुसलमानों का जितना भी बचाव हो सकता हो वह किया जाय। फलतः दोनों पक्ष की ओरसे मुकद्दमें की पैरवी के लिए बॅरिष्टरों की तजवीज होने लगी। किन्तु इसके लिए सबसे प्रथम रुपये-पैसेकी आवश्यकता थी, और यह काम बिना सभाएँ किये, हो सकना कठिन था। क्योंकि सभाओं द्वारा ही

[illegible] में जागृति की जा सकती थी। और जहाँ यह सब होने का [illegible] कि फिर प्रत्येक एक ही विषय की चर्चा, आवेशयुक्त व्याख्यान, भावनाओं का उद्दी-पन, सहानुभूति की अभिव्यक्ति अथवा उसका विपरीत होना स्वाभाविक ही था। और इन सब बातों से बचने का विचार किया जाय तो जो कुछ कि हो चुका है, उसका प्रतिकार कैसे हो सकता था?

इस विषय में गुजराती लोग ही हृदय से दुःखी थे। क्योंकि प्रभास-पट्टन उन लोगों का एक महान् पवित्र तीर्थ ठहरा। फलतः वहां ऐसी दुर्घटना होती देखकर बम्बई के गुजरातियों ने परस्पर प्रयत्न करके माधवबाग में एक विराट् सभा का आयोजन किया। इस सभा के मुख्य संचालक लक्ष्मीदास खीमजी नामक एक व्यापारी थे। ये महानुभाव बड़े ही दानशूर एवं धर्माभिमानी तथा स्वभाव से जोशीले और तेज मिजाज़ के आदमी थे। इस सभा में जितने भी व्याख्यान हुए उन में मुख्यतः इस मामले की अच्छी तरह जांच करनेके बाद ही फैसला किया जाने पर जोर दिया गया, और निराश्रित हिन्दुओं की सहायता के लिए धनसंग्रह करनेका भी प्रस्ताव हुआ था। क्योंकि जव्हेरीलाल याज्ञिक एक बड़े ही शान्तप्रकृति एवं विचार-शील व्यक्ति थे, और इस जाति-विषयक सभा में प्रधानरूप से उन्हों ने भाग लिया था। इसी पर से कल्पना की जा सकती है कि सभा का स्वरूप कैसा रहा होता। अस्तु। इस सभा के होजाने पर मुसलमानों की इच्छा भी अपने लिए इसी तरह की सभा करनेकी हुई। फलतः उन लोगों ने भी एक विराट् सभा की, और उसके अध्यक्ष अमीरुद्दीन तैयबजीसदृश शान्तप्रकृति के मुसलमान नेता चुने गये। इस पर से अनुमान किया जा सकता है कि, इस सभा का उद्देश्य भी अपनी जाति के संकटापन्न व्यक्तियों को सहायता देने एवं यथार्थ न्याय कराना ही था। किंतु जोश की दृष्टिसे इन दोनों सभाओं के व्याख्यान में अन्तर था। मुसलमान वक्ताओं के भाषण हमेशा ही भावो-द्दीपक हुआ करते हैं, और उन में विवेक का अंश बहुत ही थोडा रहता है। किन्तु अंगरेजों को ये दोनों ही सभाएँ निरर्थक एवं अनिष्टकारक जान पड़ती थीं। अन्ततः आगे चलकर बम्बई में जो दंगा हुआ उसकी सम्पूर्ण जवाबदारी अंगरेज़ी समाचारपत्रों नें इन सभाओं पर ही रख दी!

किन्तु यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि इन सभा की आड़ में जो कुछ कार्रवाई हो रही थी, वही असल में इन दंगों के लिए कारणीभूत हुई। प्रभासपट्टन के दंगे से मुसलमान समाज में अनायास ही एक प्रकार के अनावश्यक जोश की लहर आगई। पट्टन से धर्म–गुरुओं के दूत बम्बई आये,

और वहां से वे अन्यान्य स्थानों को भेज दिये गये। क्यों कि उस समय इस बात का भी पता लगा था कि अहमदनगर जाकर एक मुसलमान विद्रोह करनेके लिए मुसलमानों को भड़का रहा है। भली सोचिये तो, कहां प्रभास-पट्टन और कहां अहमदनगर! बम्बई की बात को हम अलग भी मान सकते हैं। क्योंकि वह गुजराती और मुसलमान व्यापारियों का प्रधान केन्द्र कहा जा सकता है। हर एक हिन्दू या मुसलमान धर्मसम्बन्धी कार्य में आर्थिक सहायता पहुँचाने का आरंभ प्रायः बम्बई से ही होता है। किन्तु अहमदनगरके मुसलमान तो दरिद्री थे, उनसे आर्थिक सहायता कहांसे मिलती? पर मुसलमान दूत वहां भी पहुँच गये थे। अतएव इस पर से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि वे अवश्य ही दंगे का विस्तार करनेको वहां पहुँचे थे, क्योंकि दंगा खड़ा करनेमें दरिद्री एवं हीन जाति के लोग ही अधिक उपयोगी होते हैं। बम्बई के दंगों का आरंभ प्रायः इसी तरह के प्रयत्नों से हुआ।

ता. ११ अगस्ट सन १८९३ के दिन बम्बई में एक बहुत ही बड़ा दंगा हुआ। क्योंकि इससे पहले लोगों को कुछभी पता न था, अचानक ही तीसरे पहरके लगभग क्राफर्ड-मार्केट के निकटवाली जुम्मा मसजिद में से मुसलमान लोग झुंडके झुंड निकल पड़े और ठेट हनुमान लेनके शिवालयतक बढ़ गये इसका कारण आगे चलकर यह बतलाया गया कि इसी ग्यारह तारीख को गुजराथी हिन्दुओं का 'दिवसर' नामक त्योहार था। अतएव मसजिद के निकट देवालय में अनेक प्रकारके बाजे बजा २ कर मुसलमान लोग हिन्दुओं को भड़का रहे थे। क्योंकि पुलिस-अधिकारियों को पहले ही से इस दंगे का पता लग चुका था, अतएव उन्होंने आस-पास पुलिसपार्टी खड़ी करदी थी। फलतः इस पार्टीने मसजिद से निकलती हुई पहली भीड़ को फिर वापस लौटाकर मसजिद में ही भेजदिया। किन्तु मसजिद में नमाज़ पढ़ने के लिए इकट्ठित होनेवाले मुसलमान ही दंगे के इरादे से उस समय नहीं निकले थे, बल्कि इस टोली का दहाड़ी शहरभर में दंगे की शुरूआत कर देनेका एक निश्चित संकेत हो रहा था। क्योंकि मसजिद में घुसते समय इस टोली के हाथ में लाठी आदि कुछ भी न था, किन्तु बाहर निकलते समय हर एक के हाथ में लाठी दिखाई पड़ती थी। पीछे से यह बात सिद्ध भी हो गई कि मसजिद में लाठियों का संग्रह पहले ही से कर लिया गया था। इस पूर्व संकेत का मतलब यही था कि मसजिद के पास दंगा शुरू होने के पूर्व ही भिंडीबजार, कामाठीपुरा, ग्रांटरोड की ओर उपद्रव का ज़ोर बढ़कर कई देवालय भी भ्रष्ट हो चुके थे। बायखाला की ओर के रास्ते मुसल-

अनिवार्य हो गया है । यदि कोई अज्ञानी मुसलमान यह कहने लगे कि, हिन्दुओं के अमुक कार्य से हमे चिढ़ उत्पन्न हुई तो उसे ये शब्द भले ही शोभा दे सके, किन्तु सुशिक्षित सरकार के लिए ऐसा होने देना कभी शोभा नहीं दे सकता, क्योंकि इन दिनों देशभर में यह बात फैलाकर हिन्दुओं के विषय में लोगों के चित्त कलुषित करनेका प्रयत्न हो रहा था कि ये लोग जितना कि उतना सम्मत हीं करते; अतएव सरकार भी यह चाहती थी कि इन दोनों जातियों के पंच नियुक्त कर दंगे न होने देनेकी सारी जवाबदारी उन पर डाल दी जाय । फलतः सरकार के इस भुलावे में पड़कर कई लोग यह जवाबदारी लेनेको तैयार होने लगे । किन्तु तिलक ने उन सब को स्पष्ट शब्दों में सुना दिया कि यह तुम्हारे हाथों एक जबरदस्त भूल हो रही है । क्योंकि इस काम के लिए कोईसाभी सुशिक्षित नेता सफलयत्न नहीं हो सकता । हिन्दू मुसलमान नेता खुद ही इस काम से एकदम अलग हैं । अर्थात् दंगे के मूल उत्पादक अज्ञानी लोग होते हैं और उन्हें समझा सकना प्रायः अशक्यसा है । उन्हे तो केवल एक ही बात पट सकती है, और वह यह कि सरकार सचमुच ही एक निष्पक्षपातयुक्त संस्था है, अतएव वह तरफदारी या भय अथवा किसी स्वार्थतक की पर्वाह न करके एकमात्र न्याययुक्त कानून को ही अमल में ला सकती है । ब्रह्मदेश में मुसलमानों का दगा होनेके लिए सरकार की यह आज्ञा कारणीभूत हुई कि हिन्दु मंदिरों के पास गौवध न किया जाय । किन्तु इसके विरुद्ध वायव्य प्रान्त (सीमान्त प्रदेश ?) के अजीमगढ़ में इस बातपर दंगा हुआ कि हिन्दुओं की बस्ती में जहां तहां गौवध होता रहनेपर भी सरकार ने उसका कोई प्रतिबन्ध नहीं किया । अतएव केसरी का यह कहना रहा कि इस मामले में हिंदु मुसलमानों की तरह सरकार भी एक प्रतिस्पर्धी की तरह मानी जा सकती है । अतएव लोगों को इस तिहेरी टक्कर का भलीभांति ध्यान रखना चाहिये । दोनों समाज के जातीय उत्सवों को निर्विघ्न पूरा होने देनेके काम में सरकार को सहायता देनी चाहिये । यदि कोई हिन्दु अनावश्यक धर्माभिमान दिखलाते हुए मुसलमानों के मुहल्लेमे घुसकर यदि कसाई के घरसे बँधी हुई गाय को खोलने लगे तो उसे सज़ा दी जाय । इसी प्रकार यदि हिन्दू त्यौहारोंपर बाजा बजने से कोई दुराग्रही मनुष्य चिढ़ने लगे तो उसे भी सजा दी जाय । किन्तु लॉर्ड हेरिस ने मुसलमान नेताओं को केवल शांति रखने का ही उपदेश किया । पर इसी के साथ २ उन्हें अपने सहायक अधिकारियों को निष्पक्ष रहने के लिए जो ताकीद देनी चाहिये थी, वह न देनेके कारण ही तिलक ने लॉर्ड हेरिस को दोष दिया ।

लगभग एक महीने बाद बम्बई का वातावरण शान्त हुआ और दंगे की चर्चा भी ठंडी पड़ गई। किन्तु बम्बई की यह हवा पूने में जा पहुंची। ता. १९ अगस्त को अर्थात् बम्बई के दंगे से केवल पांच ही दिन बाद नागपंचमी का त्यौहार आगया। इस दिन पूने में नाग (सर्प) की सवारी निकला करती थी। फलतः इस तरह की सवारी या जुलूस में बाजा आदि होना अनिवार्य होता है। और इन बाजों की वजहसे मुसलमानों के द्वारा झगड़ा खड़ा करनेकी आशंका समझ पूने के अधिकारियों ने शान्तिरक्षा का पूरा २ प्रबंध कर रक्खा था। जुलूस के रास्तेपर डेढ़सौ हथियारबन्द पुलिस, नंगी तलवारवाले घुड़सवार और पास ही में बम्बई रायफल्स की चौथी पलटन आदि रखकर कलेक्टर मि. चार्लस, पुलिस सुप्रेन्टेन्डेन्ट मि. मेकफर्सन् प्रभृति अधिकारी कमरबन्द में पिस्तौल चढ़ा २ कर घूम रहे थे। इन सारी तय्यारियों को देखकर मुसलमानों को दंगा करने की हिम्मत न हुई। किंतु अशान्ति का बीजारोपण पूने में हो ही गया, और उसका अंकुर भी एक वर्ष पश्चात् लोगों के देखने में आगया।

बम्बई-पूना के सुधारकों को भी इस बात का विश्वास था कि मुसलमानों के दंगे होने में सरकारी अधिकारीयों की पक्षपात-बुद्धि ही कारणीभूत होती है। इसी लिए केसरी की ही तरह ज्ञानप्रकाश आदि पत्रों ने भी अपना स्पष्ट मत प्रकट कर दिया था। ता. २८ अगस्त सन १८९३ का ज्ञानप्रकाश लिखता है:—

"Some of the government officials may think it to be an agreeable pastime to put one race against another and to make political capital out of the whole affair. But how dangerous this procedure is can now very well be realised when we have experienced this year a frightful succession of disturbances. From the times of the great Salem Riots in Madras up to the present moment, the outcry of undue encouragement of one class against another and dealing leniently with the one and harshly with the other has been often raised; and had our govern. ment taken note of this ere long we would have been undoubtedly spared much troubles and recriminations."

किन्तु इसके बाद जब सार्वजनिक सभाओं के द्वारा इन विचारों को सरकार के सन्मुख उपस्थित करनेका प्रसंग आया तब ये पत्र और इनके

परामर्शदाता पीछे हटने लगे। इधर तिलक ने ऐसी सभाएँ करने का हठ धारण किया, अतएव पुराणमतवादियों के ही साथ २ उनपर मुसलमानों से द्वेष करनेका आरोप भी लगाया जाने लगा।

शुक्रवार ता. २५ अगस्त को किबेतकर रानडे के वाडे में पूना के लगभग ७५ हिन्दू नेताओं की सभा हुई, जिसके सभापति श्री. बालासाहब नातू बनाये गये थे। इस सभा में यह निश्चय हुआ कि हिन्दू-मुसलमानों के दंगों के मूल-कारण क्या हैं और उनको दूर करने के लिए किन २ उपायों की योजना की जानी चाहिये, इस विषय में हिन्दुओंका मत सरकार के सन्मुख प्रकट करनेके लिए एक विराट् सभा की जाय। इसी सभा में कुछ लोगोंने यह संशोधन भी उपस्थित किया कि, सरकार से जो कुछ कहना हो वह तो कहा ही जाय किन्तु सभा दोनों ही जातियों की सम्मिलित सभा होनी चाहिये। यद्यपि समझदार मुसलमान अपनी ओरसे हिन्दुओं की दिलजमाई करनेका भरसक प्रयत्न अवश्य कर रहे थे। किन्तु यदि सरकार को स्पष्ट शब्दों में यह कहना हो कि मुसलमानों के साथ पक्षपात करनेसे ही दंगे होते हैं, तो फिर संयुक्त सभा करनेसे क्या लाभ ? फलतः उक्त संशोधनपर विशेष रूपसे विचार नहीं किया गया। इतनेपर भी यदि कोई यह कहने लगे कि इस प्रकार का मत प्रकट करना ही सिद्धान्ततः भूल है—तो यह बात अलग है। अस्तु। टाइम्स आदि का कहना यह था कि हिन्दुओं की सभा प्रथक न की जाय, किन्तु इस पर किसी ने भी ध्यान न दिया। इधर अपने ही लोगों में से कुछ के इस प्रकार की सभाओं से विरुद्ध रहनेके कारण यह एक विचारणीय प्रश्न बनगया। उदाहरणार्थ, रानडे, मेहता आदि इन सभाओं के विरोधी थे। इधर बम्बई से महादेव चिमणाजी आपटे, वाच्छा, याज्ञिक, भालचंद्र कृष्ण, माधवराव भट्ट, बंडोपंत भाजेकर, नानासाहब देशमुख आदि महानुभावों की ओरसे सार्वजनिक सभा के पास यह अनुरोधपत्र भेजा गया कि केवल हिन्दुओं की ही सभा न की जाय। सभा में इसपर विचार भी हुआ। और रानडे पक्ष के जिन २ लोगोंने निमंत्रणपत्रपर हस्ताक्षर किये थे, उन्होंने अपने नाम वापस लेलिये। किन्तु यह सब होते हुए भी पूर्व संकल्पानुसार, इतवार ता. १० सितम्बर को शनिवारवाड़े के सन्मुख खड़े किये हुए भव्य-मण्डप में सभा की गई। इस बार भी सभापति के पदपर बालासाहब नातू ही विराजे। सभा का कार्य बहुत कुछ कठिन होजाने के कारण वक्ताओं ने अपने २ लिखित भाषण ही पढ़ सुनाये। इसपरसे स्पष्ट प्रकट है कि सभा के संयोजकों को ऐसा करते हुए यही प्रतीत होता होगा कि हम एक बड़ा ही नाजुक एवं जवाब-

दारी का काम पूरा कर रहे हैं। किन्तु इसीके साथ २ उस जबाबदारी को अपने सिर लेनेविषयक उनका निश्चय भी स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार की सभाओं का विरोध करनेवालोंपर अनेक पत्रों ने भरी सभा में कठोर आलोचना की। श्री. तिलक ने इसापनीति की कुएके किनारेपर सोये हुए मनुष्य की कहानी सुनाकर इस आशय का मज़ाक किया कि, यदि इस प्रकार की सभा से कोई अनिष्ट परिणाम ही हुआ तो उसका दोष सभा करनेवालोंपर है और यदि ऐसा न हुआ तो उसे हमने दूर कर दिया। श्री. नामजोशी ने यह युक्तिवाद उपस्थित किया कि, हिन्दू मुसलमान नेताओं को उपदेश करनेविषयक गवर्नर साहब की आज्ञा पालने के ही लिए हम लोग यह सभा कर रहे हैं। सभा में मुख्य और मार्मिक प्रस्ताव उपस्थित करनेवाले तिलक थे। और इन्हों ने गौरक्षाविषयक आन्दोलनपर किये गये आक्षेपों का खंडन किया था। उनके भाषण की खास दलीलें यह थीं कि, किसी एक भी मुसलमान का जी न दुखने देने के लिए दस हज़ार हिन्दुओं का जी दुखाया जाता है। इसी प्रकार एक अदालतने तो अपने फैसले में यहांतक लिख दिया है कि धार्मिक दृष्टि से पूज्य समझी जानेवाली वस्तुओं में गौ का समावेश नहीं होता। और किसी भी निमित्त से पुरानी प्रथाओं को तोड़नेपर सर्व अशान्ति हो जाती है। सभावालों का कहना यह था कि जब सभा की सब जबाबदारी हम अपने सिर ले रहे हैं तो फिर अकारण ही हमारे उद्देश्यों का विपर्यास तुम क्यों करते हो? श्री. तिलक लिखते हैं कि "रा. ब. रानडे की कही हुई बात यदि हमारे मतानुसार ग्राह्य सिद्ध हुई तो उसे हम मानलेंगे, अन्यथा नहीं। हमारा यह पूर्वापर क्रम इस विषय में भी यथावत् बना रहेगा"। इस प्रकार के स्पष्ट शब्दों में अपना मत प्रकट करनेकी केसरी के लिए इसी कारण आवश्यकता हुई होगी कि अबतक किसी भी राजनैतिक सभा में पढ़ सुनाने के लिए रानडे ने अपने हस्ताक्षरसहित वक्तव्य नहीं भेजा था, उसकी शुरूआत इस सभा से हुई थी। इसी बात को लक्ष्य करके केसरी फिर लिखता है कि "नेता लोग जनता के सेवक हैं स्वामी नहीं, इस सिद्धान्त को रानडे ने एकदम भुला दिया है। इसी प्रकार किसी रावबहादुर का मत ही लोकमत कभी नहीं हो सकता। इसी अवसर में रानडे की ही तरह फिरोजशाह मेहता की ओरसे भी तिलक के पास तार भेजा गया था, और उसी समय एक मुद्दा यह भी सामने लाया गया था कि इस तार के भेजे जाने में गोखले का दिया हुआ भेद ही कारणीभूत हुआ है। मतलब यह कि बम्बई और पूना के अधिकांश नेता एवं सार्वजनिक

सभा एक ओर थे और तिलक एवं उनके पूना-निवासी अनुयायी दूसरी ओर. इस प्रकार सोलहों आने दो दल बन गये।

यद्यपि रा. ब. रानडे आरंभ से ही इस सभा के विरुद्ध न थे, क्योंकि उन्हें लॉर्ड हेरिस का ध्येय स्वीकार न था। और इसी लिए प्रथमतः वे चाहते थे कि प्रकटरूप में गवर्नर साहब अपने ध्येय का किस प्रकार प्रकट करते हैं; इस बात को देख लेनेतक सभा न की जाय। किंतु इसके बाद हेरिस साहब का वक्तव्य प्रकट हो जानेपर भी रानडे अपना मंतव्य स्थिर न कर सके। उन्हें फिरसे आठ दिन की अवधी दी गई, किन्तु उसके समाप्त हो जानेपर भी वे सभा के लिए स्पष्ट शब्दों में अनुमति न देने लगे। ऐसी दशा में सभा के संयोजकों को उनकी यह अनिश्चितता असह्यकारक प्रतीत होने लगी। फलतः उन्होंने रावबहादुर की इस मौनवृत्ति के कारणों को समझने का प्रयत्न किया और उन के न पटनेपर ही सभा करनेकी बात ठहराई। इतना हो जानेपर रानडे और उनके अनुयाइयों को यह सोच कर कि सभा के संयोजक अपने कार्य के लिए स्वयं जबाबदार हैं उनका पीछा छोड़ देना चाहिये था। किंतु रानडे ने तो उस सभा में ही पढ़नेके लिए प्रतिकूल मत-प्रदर्शक पत्र भेजा, और उनके अनुयाइयों ने यह भेद उत्पन्न करनेकी खुल्लमखुल्ला शुरूआत कर दी कि रानडे का मत ही सर्वमान्य हो सकता है, दूसरों का नहीं। इसी प्रकार रानडे जातिगत विरोधों को मिटाना चाहते हैं और तिलक आदि उसको बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। इस भेदोत्पादक बुद्धि से असंतुष्ट होकर ही तिलक ने ता. २६ सितम्बर सन १८९५ के केसरी में 'रा. ब. रानडे और उनके अनुयायी' शीर्षक एक अतिशय स्पष्टोक्तियुक्त लेख लिखा, और उसमें अपने इस प्रसिद्ध वाक्य का पूरी तरह समर्थन किया कि 'रावबहादुर ने ही समझदारी का ठेका नहीं

ही द्वारा हो सका है, अन्य साधनों से नहीं-केसरी में उस हड़ताल का समर्थन किया। इसी अवसर में बम्बई में यहां के दंगे-विषयक मामले शुरू हो गये। उनके विषय में भी तिलक मुल्लमखुल्ला यह प्रतिपादन करने लगे कि, एक ही धारा के अनुसार यदि मार-पीट का आरोप अनेक व्यक्तियोंपर लग सकता हो तो भी सब को एकहीसी सजा देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। जिसकी दोष-बुद्धिया सुराकात जितनी ही अधिक हो उसे उतने ही अधिक प्रमाण में सजा होनी चाहिये। मौजूदा दंगे में शुरूआत मुसलमानों की ही ओर से हुई और घाटी लोगों ने दूसरे दिन से जो लाठियां रखना शुरू किया यह केवल आत्म-रक्षा के ही लिये था; अतएव यदि घाटी लोगों को सजा दी ही जाय तो वह नाममात्र की होनी चाहिये। इस उद्गारों से मनचाहा आशय निकाला जा सकता है। तिलक का कहना यह था कि मैं जो कुछ कह रहा हूं वही ठीक और न्याय्य है। क्यों कि रानडे और उनके अनुयायी मुसलमानों की ज़ुरूरत से ज़ादा मुरव्वत करते हैं अतएव वे स्पष्ट शब्दों में यह बात नहीं कह सकते और उस मुरव्वत को तोड़ देना चाहता हूं। अतएव मेरी बात खुल्लमखुल्ला होता है। यही एकमात्र हम दोनों की बात में अन्तर है।

इसी अवसरपर हीराबाग में दीवान काजी सहाबुद्दीन के सभापतित्व में सभा हुई जिसमें एक मौलवी सा. का भाषण हुआ। उन्होंने हिन्दुओं की कई तरह से बुराइयां करते हुए कहा कि 'ये लोग अपने समाचारपत्रों में हमें गालियां देते हैं और नीचतापूर्वक हमारा उल्लेख करते हैं। हमारे अकबर सरीखे बादशाह के उपकारों को ये भूल जाते हैं। ये लोग निरन्तर पराधीन रहने के ही योग्य हैं। हां, यदि ये मुसलमानों में मिलकर उनकी प्रखरता का अनुकरण करें तो अलबत्ता इनका काम चल सकता है' इत्यादि। इन बातोंपर कितने ही लोगों को बहुत बुरा लगा। केसरी में अपना एक पत्र छपवाकर किसी ऐक्येच्छु मुसलमान सज्जन ने काजीसाहब के उस भाषणपर इन शब्दों में आलोचना की कि "काजी साहब ने जो कुछ कहा, वह निष्पक्ष होकर कहा है। हिन्दु-मुसलमानों में ऐक्यता उत्पन्न करनेके लिए, वर्तमान में इस बातकी आवश्यकता है कि दोनों पक्ष के लोग पारस्परिक दुःख एवं द्वेषभाव उत्पन्न करनेवाले कार्यों को स्पष्टतायुक्त अथच निष्पक्ष होकर प्रकट करदें। क्योंकि ऐसा करनेसे समझौते का रास्ता भी निकल सकेगा और स्थायी ऐक्यता भी उत्पन्न की जा सकेगी। केवल उपदेश के मीठे २ शब्दों से ही द्वैतभाव उत्पन्न करनेवाले कार्योंपर पर्दा डालकर यदि ऐक्यता के लिए प्रयत्न किया गया तो कार्यसिद्धि की आशा करना भ्रान्तिमूलक होगा!"

काज़ी शहाबुद्दीन का भाषण सुननेके लिए तिलक खुद वहां मौजूद थे और यद्यपि उनके भाषणान्तर्गत विचार तिलक को पसंत न थे, किन्तु फि भी उन्होंने वक्ता के इस गुण की कदर किया कि उन्हों ने निष्पक्ष होक अपना मन्तव्य प्रकट कर दिया। क्योंकि उस समय तिलक भी निष्पक्षपा होकर भाषण किया करते थे। जब भरी सभा में काजी साहब को यह कहने क अधिकार हो कि हिन्दू-मुसलमानों के दंगे का मूल कारण हिन्दू समाचारपत्र के लेख एवं हिन्दुओं का वर्ताव ही है, तब इस बात के प्रतिपादन करनेक अधिकार तिलक को क्यों नहीं हो सकता कि मुसलमानो की छेड़-छाड़ से ही इस प्रकार के दंगे खड़े होते है।

अक्टूबर के प्रथम सप्ताह में दंगे के मुकद्दमे का फैसला हुआ। सब मिलाकर १४५४ व्यक्ति पकड़े गये, इनमें ६६६ हिन्दू और ७८९ मुसलमान थे। किन्तु २५ हिन्दू और २६ मुसलमान निरपराध होने से छोड़ दिये। शेष अपराधियों को समानरूप से दंड दिया गया, किन्तु यह कार्य न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता था। क्योंकि प्रभासपट्टन से भड़काने के लिए मुसलमान लोग बंबई आये और जुम्मा मसजिद में से लाठियां हात में लेकर वे बाजारों में निकल पड़े थे। इसी प्रकार अबतक तीन बार मुसलमानों ने बम्बई में दंगा किया और तीनों ही बार उसका आरंभ जुम्मामसजिद ही से हुआ, इन सब बातों का विचार करते हुए रास्ता चलते जिन हिन्दुओं को केवल सन्देहावस्था में पकड़ लिया था, उन्हें आत्म-रक्षा के लिए उद्यत् समझकर छोड़ देना चाहिये था। फलतः केसरी निष्पक्ष होकर ज़ोरशोर से इस बात का प्रतिपादन करने लगा कि यदि प्युनिटिव (अतिरिक्त) पुलिस रखी जाती हो, तो उसकी नियुक्ति जुम्मामसजिदपर ही की जानी चाहिये और उसका व्यय भी मसजिद की आयमें से ही लिया जाना चाहिये। इसका परिणाम यह होगा कि उपद्रवकारियों का जमाव मसजिद में न हो सकेगा और उस दशा में स्वतंत्र कमिशन नियुक्त कर दंगा उत्पन्न होनेके सच्चे कारण भी दूर किये जा सकेंगे। इसके विरुद्ध टाइम्स आदि पत्रों ने मुसलमानों को किसी बात का दोष न देते एवं सरकार को एकदम दोषमुक्त करते हुए यह मत प्रकट किया कि मुसलमानों के लिए एक-आध सरकारी काज़ी नियुक्त किया जाना चाहिये, जिससे दंगे बन्द हो जाँय। इन दोनों उपायों के आन्तरिक भेद का मर्म प्रथक् रूप से समझाने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। क्योंकि पूना-निवासी हिन्दू लोग इसी ढंग का वर्ताव करते थे, जिस में कि मुसलमानों को चिढ़ उत्पन्न न होकर अपने साधारण अधिकार एवं रीति-रिवाज अथवा

आन्दोलन यथानियम चलाये जा सकें, और उनके चिढ़ाने का भय भी न रहे। इधर बम्बई में पुलिस कमिश्नर एवं म्युनिसिपल कमिश्नर ने गोरक्षा-विषयक आन्दोलन के विरुद्ध प्रकाशदतायदत शुरू कर दिया था। ठीक उसी अवसरपर पूने में गोरक्षक-सभा की ओरसे एक विराट् सभा का आयोजन किया जाकर फार्म कमिशन (शिमला) के पास गोवध की रोक, एवं गोरक्षाविषयक अनेक प्रस्ताव पास किये जाकर पूनावालों की ओर से भेजे गये।

इस सब से अधिक रचनात्मक कार्य तिलक ने यह किया कि बम्बई के दंगे से डेढ़ मास पश्चात् ही जो गणेशोत्सव हुआ उसमें उन्हों ने हिन्दुओं में परस्पर ऐक्यता का भाव बहुत कुछ बढ़ा दिया। नये गणपति उत्सव का आरंभ यहीं से हुआ। अर्थात् "प्रतिवर्ष की अपेक्षा इस बार गणपति विसर्जन का कार्य कुछ भिन्नता लिये हुए और विशेष प्रकार से सार्वजनिक स्वरूप में हुआ है। क्यों कि गणपती को प्रायः सभी प्रकारके हिन्दू लोग पूजते हैं अतएव गणेशविसर्जन का कार्य यदि सार्वजनिक हो जाय तो इससे अनायास ही सर्व-साधारण का मनोरंजन होकर लोकसमाज में एकमत होकर काम करनेकी प्रवृत्ति भी किसी अंशमें पुष्ट हो सकती हैं।" (केसरी ता. २६ सितम्बर सन १८९३)

हिन्दू-मुसलमान के दंगे का जो निदान तिलक ने किया, उसकी सत्यता सिद्ध होनेका प्रसंग दो-तीन ही सप्ताह के बाद आ उपस्थित हुआ। येवला-नामक स्थान में इस बात के लिए झगडा मच रहा था कि बालाजी की सवारी यथानियम पटेल की मसजिद के सामने से गाजे-बाजे के साथ निकाली जाय या नहीं। इस विषय में डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने यह आज्ञा दे रक्खी थी कि इस दिन उक्त मसजिद में मुसलमान लोग इकट्ठे न हो, और हिन्दू लोग मसजिद के इधर उधर पंद्रह २ कदम तक बाजे न बजावे किन्तु मुसलमानों ने इस हुक्मको न मानकर कोर्ट में इसके विरुद्ध अपील की। इतनेपर भी उस उत्सव से एक दिन पूर्व यह खबर फैल गई कि हाई कोर्ट ने भी उस हुक्म को कायम रक्खा है। अस्तु। हिन्दुओं ने सरकारी आज्ञा के अनुसार मसजिद के आसपास बाजा बन्द रक्खा, किन्तु मुसलमानों ने मसजिद में से पालकीपर पत्थर फेंककर झगड़ा खड़ा कर ही तो दिया। इससे पूर्व बेलगांव, मालेगांव और राजापुर में भी इसी प्रकार के झगडे हो चुके थे। असल में डि. मजिस्ट्रेट का हुक्म दोनों पक्ष को असन्तोषकारक प्रतीत हुआ था। क्यों कि मुसलमान लोग कह रहे थे कि पुराने नियम को तोड़कर हिन्दुओं को किसी भी प्रकार के बाजे न

बजाने दिये जाँय ! इसपर हिंदू लोग यह कह रहे थे कि सब प्रकार के बाजे बजाते हुए सवारी निकालने की प्रथा जब बहुत पहले से चली आई है, तो फिर नया बन्धन डालने का मजिस्ट्रेट को क्या अधिकार हो सकता है ? किन्तु केसरी निष्पक्ष होकर यह कहा रहा था कि "जैसा कुछ नियम हो उसकी भलीभांति चौकसी करके समयोचित आज्ञा देनेका मजिस्ट्रेट को पूर्ण अधिकार हो सकता है। इसी प्रकार नियम बन जानेपर उसे तोड़नेके लिए जो अग्रसर हों उसे बेमुरव्वत होकर जब सरकार की ओरसे सजा दी जायगी, तभी स्थायी प्रबंध हो सकेगा"। नवम्बर मास में लार्ड लेन्सडाउन ने आगरे में व्याख्यान देते हुए गौरक्षाविषयक आन्दोलन एवं हिन्दू मुसलमानों के दंगे का उल्लेख किया था। उस भाषण में लार्ड महोदय ने गौरक्षा के निठल्ले प्रचारक एवं अविचारी समाचारपत्र के लेखकों के तो बुरी तरह फटकारा ही था, किन्तु इसी के साथ २ उन्होंने अस्पष्ट शब्दों में यह बात भी कह दी थी कि "इस भय से कि कोई दंगा करेगा हम कानून को अमल में लानेसे पीछे न हटेंगे" इस वाक्य से किसी अंश में उनके पक्ष की रक्षा भलेही हो गई हो किन्तु स्थानिक अधिकारियो के वर्ताव में लाटसाहब की यह निर्भयता दृष्टिगोचर नहीं हो पाती थी। प्रमाण के लिए येवला के ही मजिस्ट्रेट का घोषणापत्र लेलीजिये, जिसे कि वहांके असिस्टंट कलेक्टरतक ने ताबू में रख दिया। फलतः हिन्दूओं ने यह देखकर कि मुसलमान लोग ज़रा भी पीछे नहीं हटते और सरकार से हमें पूरी २ सहायता मिलने की आशा नहीं है—उस वर्ष ने बालाजी की सवारी निकालना ही बंद कर दिया। इसके बाद वहांके हिन्दुओं से मुसलमानों ने अपना सब व्यवहार ही बन्द कर दिया। अंततः नाशिक के कलेक्टर विंटर साहब ने हिन्दू नेताओं को बुलाकर चितावनी देनेके बाद इस झगड़े को तोड़ दिया। मतलब यह कि, न तो हिन्दुओं को किसी प्रकार की सहायता दी जाय और न उनका स्वावलंबन ही कायम रहने दिया जाय।

सन १८९४ के जनवरी मास में बम्बई के दंगे के विषय में सरकारी प्रस्ताव प्रकट हुआ, जिसमें कि पुलिस कमिश्नर विंसेन्ट के गौरक्षा-विषयक आन्दोलन पर किये हुए आक्षेप का किसी अंश में खंडन किया गया था। इधर उसी अवसर में यह बात भी प्रकट हो गई कि रावेर आदि स्थानों में जहां कि गौरक्षा-विषयक आन्दोलन की हवातक न पहुँची थी, (वहां) मुसलमानों के दुराग्रह एवं अधिकारियों की ओर से भड़काया जानेपर किस प्रकार मुसलमानों ने दंगे हुए है। इसी प्रकार यह बात भी सरकारी प्रस्तावपरसे ही प्रकट हुई कि, बम्बई में तीन दिन पहले से दंगे की अफ़वाह फैली

हुई है, इसे जानते हुए भी उन्हों ने कोई प्रबंध नहीं किया। किन्तु येवले में तो सरकार की पक्षपात वृत्ति की हद होगई। अर्थात् तीन बार अपनी पुरातन प्रथा को बन्द करके हिन्दुओं के हार मानेपर भी मुसलमानों की उपद्रव-वृत्ति शान्त नहीं हुई। मध्यभाग के कमिश्नर मि. ग्रँट जब येवले गये, तो उन्हें भी वहां के मुसलमानों की ढिठाई और उद्दंडता का पता लग गया। किन्तु अधिकारी लोग तो इसी बात का निश्चय कर चुके थे कि, मुसलमान लोग चिढ़ते और मार पीट करने को तैयार हो जाते हैं, अतएव हिन्दुओं को अपने सब प्रकार के अधिकार नियमानुकूल होनेपर भी छोड़ देने चाहिये। इधर लार्ड हेरिस साहब लगातार यह उपदेश कर रहे थे कि हिन्दू-मुसलमान नेता परस्पर समझौता करके झगड़े-फिसाद मिटा दें। किन्तु इसके आशयपर भी गंभीरतापूर्वक विचार करनेसे उपर्युक्त कथन की ही पुष्टि होती है। सारांश, हिन्दुओं को नम्र करने के लिए न केवल सरकारी अधिकारी ही, बल्कि सरकार के ढंग को देखकर सुधारक लोग भी उपदेश करने लगे थे।

धार्मिक झगड़ों में मुसलमानों को पीछे हटनेकी सलाह देनेवाला कोई भी मुसलमान सामने नहीं आया। और न कहीं इस बातका ही उल्लेख पाया जाता है कि, पुराने नियम एवं अधिकारों की रक्षा करनेमें सहायता देना जिन लोगों का प्रधान कर्तव्य है, उन्हों ने भी मुसलमानों को इसके लिए कुछ उपदेश किया हो। "डरपोक तहसीलदार एवं मिशनरी लोगों की तरह निम्नश्रेणि के हिन्दू तथा गवाँर मुसलमान पर दया दिखानेवाले कलेक्टर, मुसलमान पुलिस इन्स्पेक्टर एवं पुरातत्व की खोज में लगे रहनेवाले कमिश्नर और क्रिकेट के खेल में ही निरन्तर मग्न रहनेवाले गवर्नर ये सब अरिष्ट ग्रह इस समय अकेले येवले की राशिपर आगये थे"। बिचारे हिन्दुओं की प्रार्थनापर कोई ध्यान न देने लगा। यहांतक टाइम्स जैसे पत्रको भी येवले के अधिकारियों का व्यवहार निंदनीय बतलाना पड़ा। येवला के लोगों ने सरकार के पास कई तार भी भेजे। किन्तु नाशिक के कलेक्टर ने उन सबको एकदम बेकार समझा। यही नहीं बल्कि तिलक को तो यह तक देखने का मोका मिला कि विंटर साहब ने उन तार के फार्मों की पुश्तपर विचित्र की तरह 'तारपर अर्ज़ी का टिकिट न लगाया जाने से वापस' किया जाने रिमार्क लिख दिया है। इसी को लक्ष्य करके तिलक लिखते हैं कि "तारपर कोर्ट फी का टिकिट कैसे लगाया जाय यह हमारी समझ में नहीं आता। यदि विंटर साहब तारद्वारा कोर्ट फ़ी के टिकिट भेजने की युक्ति जानते हों तो कृपा कर उसे सर्व-

साधारण के लिए प्रकट कर दें, जिससे कि शीघ्र ही हम उन्हें फोनोग्राफ के आविष्कर्ता मि. एडीसन की पंक्ति में बिठा सकें ! "

इधर चार महिनेतक येवले गड़बड़ मची रहने पर भी सरकार की ओरसे ध्यान न दिया जाते देख कर अंत में हिन्दू लोग भी संतप्त हो उठे। सन १८९४ के फर्वरी में अर्थात् पिछले दंगे से पांच महिने बाद एक दिन मुसलमानों ने नागपुरी कोष्टियों के हनुमानमंदिर के सामने लगी हुई टट्टी को जलादिया और मूर्ति को फोड़कर आग में तेल डालने की तरह यह अफ़वाह उड़ादी कि हिन्दुओं ने सूअर मार कर मसजिद में फैंक दिया है। बस, फिर क्या देर थी! बात की बात में ज़ोर-शोरका दंगा मच गया। दोनों ही समाज के देवालयों की दुर्दशा हुई। हिन्दू देवालयों में गौएँ मारी गईं, और आग लगा कर मंदीर जला दिये गये। अन्त में सरकारी पलटन ने आकर जब गोलियां बरसाईं तब कहीं जाकर मामला ठंडा पड़ा। किन्तु आश्चर्य जैसी बात यह थी कि दंगे के बाद जो गिरफ्तारियां हुईं प्रायः सभी हिन्दू ही पकड़े गये। किन्तु अन्तमें सरकार को इस बात का विश्वास हो गया कि, येवले के अधिकारियों का बरताव प्रजा के प्रति असंतोष-जनक है, अतएव उसने मुसलमान पुलिस इन्स्पेक्टर का वहां से तबादिला करके असिस्टंट कलेक्टर मि. हेवर्ड को भी वहां से हटाकर हुजूर सेक्रेटारिएट में बदल दिया ! इसके बाद येवले में हिन्दू-मुसलमान पंचों की सभा की गई, किन्तु उसका भी कोई परिणाम न हुआ। कलेक्टर का कहना था कि बाजार में व्यवहारविषयक रोकटोक हटा दीजाय, इस पर हिन्दू लोग यह कह रहे थे कि आपकी ओरसे हमारे पुरातन नियमों की रक्षा का वचन दिया जाने पर हम लोग इस बन्दी को हटा सकते हैं। क्योंकि हिन्दू लोग सरकारी आज्ञा के अनुसार चलनेको तैयार थे, किन्तु वे यह चाहते थे कि पुराने रिवाजसम्बन्धी व्यवस्था के नियमों की पूरी तरह जांच कर लेनेके बाद ही परवाने दिये जावें। अर्थात् वे लोग इस बात के लिए भी तैयार थे कि हिन्दू—मुसलमानों के पंच चुने जाकर वे लोग नये सिरसे जो फैसला दें उसे हम मानने के लिए तैयार हैं, किन्तु सरकार की ओरसे उसमें भी इस बात का वचन दिया जाना चाहिये कि, उस निर्णय की अमल-बजावरी सख्ती से कराई जायगी, और मुसलमानों की ओर से बाधा डाली जानेपर भी सरकार अपने कर्तव्य से पीछे न हटेगी। अन्ततः येवले में प्युनिटिव (अतिरिक्त) पुलिस नियुक्त कर दी गई।

किन्तु यह तो " साँप निकल जानेपर उसकी लीक पीटने जैसी ही मसल हुई। इसके बाद येवले के दंगेपर सरकार की ओरसे जो प्रेसनोट निकाला गया, उसमें भी मुसलमान एवं सरकारी अधिकारियों का पक्षपात ही

दिखाई देता था। किंतु इस सरकारी मतव्य को सबसे पहले केसरी ने छापा था, अतएव उसके विषय में भी लोग कानाफूसी और तरह २ की चर्चा करने लगे। इधर तिलक ने खुद ही येवले जाकर मामले की भरपूर चौकसी करनेके बाद केसरी में इस विषयपर जोरदार लेख लिखे और लार्ड हेरिस की लगातार आलोचना शुरू करदी। ऐसी दशा में उनपर मुक़दमा चलाया जाने विषयक अफ़वाह फैली, किन्तु वह निराधार सिद्ध हुई। यही नहीं बल्कि येवले के दंगे में शामिल होनेके सन्देह में जिन बड़े आदमियोंपर (इनमें म्युनिसिपालिटी के वाइस प्रेसिडेंट, चेयरमेन, सेठ साहूकार एवं कितने ही वकील भी थे) मुक़द्दमे चलाये जाकर सेशन कमिट कर दिये गये थे, वे सब छूट गये। इससे भी तिलक के लिखने और येवले के हिन्दुओं का पक्ष समर्थन ही हुआ। एक मामले में तो नाशिक के सेशन्स जज मि. आन्विन ने यह रिमार्क लिखा कि 'इस मामले सरकारकी ओरसे दिये गये प्रमाणों के आधार पर किसी कुत्तेतक को फाँसी नहीं दी जा सकती'। क्योंकि मामले दायर करानेका अधिकार पुलिसवालों को था, उनके मिथ्यासिद्ध होनेपर भी पुलिस को कोई दंड नहीं दिया जा सकता था, अतएव येवले में मुक़द्दमों की गड़बड़ मची ही रही, लोगों ने बाज़ी मार ली। किन्तु फ़िर भी उन्हें कष्ट और द्रव्यहानि बहुत कुछ सहनी पड़ी।

हां, तो इसके बाद से बाहरी दंगों का रुख पूना की ही ओर आकर्षित होनेके रागढंग दिखाई देने लगे। शुक्रवार ता० २० अप्रैल सन १८६४ के दिन पूने में हिन्दू-मुसलमानों का दंगा होनेका प्रसंग आया, किन्तु वह टल गया। उस दिन हनुमज्जयन्ती के निमित्त गणेशपेठ के दुल्या मारुति की सवारी निकलती थी, और उसके साथ पुरानी प्रथा के अनुसार नगाड़े, ताशे-बाजंत्री एवं भजन-मण्डलियां भी रहा करती थीं। किंतु इस बार यह हुक्म हो जानेसे कि मसजिद की ही तरह चद्भाई के अखाड़े पाससे ही बाजे बन्द कर दिये जाँय, नागरिक हिन्दुओं ने सवारी न निकालने का निश्चय कर लिया था। किंतु कई हिन्दुओं को यह बात अच्छी न लगी। रातको दस बजे पुलिसवाले मजिस्ट्रेट के साथ मंदिरके बाहर आ खड़े हुए। हज़ारों हिन्दू वहां मौजूद थे ही, इधर मुसलमानों की भी टोलियां जगह २ पर हुई थीं। जुलूस के बन्द न होने देनेके आशय से एक उत्साही सज्जन ने नई पालकी और चालीस-पचास भजनीक व्यक्तियों को बुलवाकर सवारी निकाली। लोगों का आवेश यहांतक बढ़गया कि जब ऐन वक्तपर मशालें और पलीते न मिलने लगे, तब उसके दिखाने के लिए अपने दुपट्टे तक देनेको वे तैयार हो गये। ताशे और ढोल-नगाड़े की कमी को

जयघोष ने पूरा कर दिया। इस तरह गान–वाद्य के साथ अखाड़े तक सवारी घुमाई गई। उस समय प्रतिक्षण इस बात की आशंका हो रही थी कि अभी झगड़ा होता है या ठोक-पीट होकर मामला बढ़ जाता है। किन्तु भाग्यवश् कोई दुर्घटना न होपाई। कुछ ही दिन बाद यह अफवाह उड़ी कि हिन्दुओं की ओर से क़ानून तोड़ा जाने के कारण मुसलमान लोग उनपर मामला चलाना चाहते हैं। किन्तु यह अफ़वाह भी निःसार सिद्ध हुई।

इसी वर्ष के मई महिने में एक घटना और भी ऐसी हुई, जिससे कि हिन्दू-मुसलमान में फिर झगड़ा बढ़ सकता था। बात यह थी कि मिर्जा आब्बास बेग नामक एक मुसलमान सज्जन उन दिनों सरकारी ओरियंटल ट्रान्सलेटर थे। ये महाशय ता. ९ मई को महाबलेश्वर में भ्रमण करते हुए क्षेत्र–मंदिर तक जा पहुँचे। वहां जाने पर इनकी इच्छा श्रीकृष्णाबाई के देवालय में प्रवेश करने की हुई। किन्तु इनपर पुजारी को सन्देह हुआ, अतएव उसने इन्हें मन्दिर में घुसने से रोका। तब इन्होंने यह कहकर इसे धोका देनेका प्रयत्न किया कि "मैं तो कनौजा (कान्यकुब्ज) ब्राह्मण हूं। अगर मुसलमान होता तो मेरे डाढ़ी न होती?" किन्तु वहीं कुण्डमें पूना के दो ब्राह्मण भी स्नान कर रहे थे, उन्होंने बेग साहब को पहचान लिया। अब तो वे बुरी तरह झेपगये। किन्तु जब महाबलेश्वर के मजिस्ट्रेट के सामने मामला चलाया गया, तब कुछ बड़े आदमियों की मध्यस्थी से बेग साहब ने क्षमा प्रार्थना कर मन्दिर की शुद्धी के लिए पचास रूपये दंड दिया। इस घटना की चर्चा समाचार--पत्रों में जोरशोरसे शुरू हुई। बेग साहब के कुछ मित्र लोग कहने लगे कि ये पुजारी लोग ही जब पैसे के लोभ से मुसलमानों को मंदिर में ले जाते है, तो फिर बेग साहब का इसमें क्या दोष? इधर बम्बई के पत्रोंने इस बात पर ज़ोर दिया कि ऐसा करना मुसलमानों से द्वेष करने का चिन्ह है। इन सारी बातों का आशय यह था कि सरकार की ओरसे बेगसाहब को किसी प्रकार का दोष न दिया जा सके। किन्तु सौभाग्यवश् सरकार ने इस कार्य में कुछ सरलता दिखला कर बेगसाहब देवालय में घुसने पर फटकार ही तो दिया। इसी प्रकार शिवजी के नंदी को अपनी सवारी के घोड़े की तरह बतलाने के लिए तो अलग से पत्र लिखकर उनके कान भी उमेठे गये थे।

ज्येष्ठ मास में आलंदी की पालकी के समय भी थोड़ीसी गड़बड़ मची। अर्थात् गणेशपेठ के गेट के पास एक क़ब्रस्थान के सामने नगाड़ा बजानेसे मुसलमानों ने बाधा डाली। इसके बाद जब दर्गाह से ईंटे फेंक जाने लगी, तब बाहरसे हिन्दुओं ने भी ईंटे फेंकी। इसके बाद पालकी के बहुत आगे बढ़ जाने

पर मुसलमानों ने एक ब्राह्मणको अकेला पाकर बे तरह पीटा, किन्तु पुलिस की ओरसे उस विषय में कोई पूछताछ नहीं की गई। फलतः जब सरकार को उपेक्षा करते देखा, तब जनता के लिए कुछ कर दिखाना अनिवार्य हो गया। पूनाके हिन्दू नेता भी लोगों को समझाने लगे तुम्हारा मुसलमानी उत्सवों में योग देना अनुचित है। जब आलंदी की पालकी के लिए दर्गाह के सामने से बाजा बजानेकी मनाई की जाती है, तो फिर 'हसन-हुसेन' की क़ब्र की प्रतिमा के सामने अलविदा करते हुए हिन्दू लोग क्यों नाचें या रोवें ? पूना के ताज़ियों प्रति सैंकड़ा जो नब्बे ताज़िये हिन्दुओं के होते हैं, इसकी क्या ज़रूरत है ! मुसलमानों से प्रेमभाव बढ़ाने के लिए यदि ऐसा किया जाता हो तो देखना चाहिये कि वे इस प्रेमभाव का कहांतक दुरुपयोग करते हैं । और यदि मिन्नत के भाव से ताज़िये बनाये जाते हों तो हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि हिन्दुओं के देवता भी अपने भक्तों की उतने ही अंश में इच्छा पूरी कर सकते हैं। इसी प्रकार यदि केवल उत्सव मनाने की इच्छा से ही ऐसा किया जाता तो हिन्दू लोग ताज़िये के बदले गणपति-उत्सव मना सकते हैं । यही एकमात्र प्रतिकार का उपाय है। "याद रखना चाहिये कि हम ज्यों २ गरीबी या आजिजी दिखलाते हैं, त्यों २ सरकार और मुसलमान लोग हम सदाचारभंग करते आरोप लगाते जाते हैं।" भगवान श्रीकृष्णचंद्र ने गीता में कहा है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"।

इस उपदेश के अनुसार कई स्थानों से ताज़िये बनानेकी प्रथा उठगई। पूना-छावनी के कामाठीपुरे का ताज़िया बन्द होगया। उसका मलंग मुसलमान लोग हनुमानजी के मन्दिर में घुसकर उठा लेगये। पेरू के गेट के पास बाघ का ताज़िया बन्द करनेवाले मालीको पुलिस की ओरसे धमकी दी गई। इधर पूना के नाइयों ने ताज़िये के सामने नगाड़े बजानेसे इन्कार कर दिया। इस वर्ष पूने में मुसलमानों के ताज़ियों की संख्या चालीस से लगाकर साठ तक बढ़गई, किन्तु हिन्दुओं के ताज़िये केवल पचीस ही बने । हिंदू लेजिमवाले जुलूस में नहीं गये। रेवड़ियों और गंडे-लोबानादि की अन्य वर्षों की अपेक्षा दशांश भी बिक्री न हुई। "रामेश्वर के देवालय से लगाकर पुरानी मंडीतक सारे बुधवार पेठ की जो अटारियां 'कटाक्षैर्नारीणां कुवलयितवातायनमिव' होजाती थीं, वे भी सब बन्द थीं।" सड़कोंपर ताज़ियों की अपेक्षा मजिस्ट्रेट की ही भीड़ अधिक दिखाई पड़ती थी। इस तरह उदासीनता लिये हुए मुहर्रम निकलने का मौक़ा पूने में पहला ही कहा जा सकता है। इस दृश्य का प्रायः सभी लोगों के चित्त पर कुछ न कुछ असर हुआ।

यद्यपि हिन्दुओं को मुसलमानों से प्रेम-भाव बढ़ाने इच्छा अवश्य थी, किंतु वे सरकार की ही तरह मुसलमानों को भी यह बतला देना चाहते थे कि वह प्रेम स्वाभिमान को छोड़कर बढ़ानेकी उन्हें नामको भी इच्छा नहीं है। क्योंकि हिन्दू लोगों की दृष्टि में प्रायः सभी धर्म समान हैं, किंतु फिर भी उन्हें यह बात अच्छी तरह याद रखना चाहिये कि " यो यथा वर्तते यस्मिन् तथा तस्मिन् प्रवर्तयन् । माऽधर्म समवप्नोति, नच श्रेयश्च-विन्दति " । समान पुरुषों के साथ ही प्रेमभाव और मैत्री निभ सकती है। इस अनुभवपूर्ण सिद्धान्त की सत्यता का ज्ञान कराना ही उस समय केसरी का प्रधान लक्ष्य हो रहा था। इधर बम्बई में तो खुद पुलिस कमिश्नर ने ही हुक्म जारी कर दिया था कि हिन्दुओं को ताजिये के लिए आज्ञा नहीं मिल सकती। यह हुक्म यद्यपि एकदम ही नय न था। किंतु मुसलमानों के नाम की आड़में जो हिन्दू लोग ताज़िये निकालते थे उनके विचारों को केसरी के उपदेशों ने एकदम बदलदिया । फलतः इस बा ताज़ियों के सामने न तो केवल-स्त्रियों का नाच ही हुआ, और न मारवाड़ी बेरा गियों के स्वांग ही सज गये। पेन नामक स्थान में इस बहिष्कार से बड़ा ही लाभ पहुचा और वहां का द्वेषभाव एकदम दूर हो गया । क्योंकि विना इस बात क अनुभव हुए कि परस्पर विना सहयोग के काम नहीं चल सकता साम्यभाव नहीं हो पाता ? महाकवि भारवी की यह उक्ति को कि " अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः " इसवार लोगों को पूर्णतया अनुभव हो गया।

नागपंचमी के दिन पूने में नागोबा (नाग, सर्प) का जो जुलूस निकलता है, उसके विषय में सरकार की ओर से किये गये सख़्ती के प्रबंध का उल्लेख पहले एक स्थानपर किया जा चुका है। इस बार फिर वही प्रसंग आ उपस्थित हुआ। और जब मजिस्ट्रट ने दोनों पार्टियों से इसके लिए जवाब मांगा तो उन्होंने यह लिखकर देदिया कि, प्रतिवर्ष के नियमानुसार ही सब काम होने चाहिये। किंतु फिर भी मजिस्ट्रेट ने उपद्रव खड़ा न होने देनेके लिए लोगों से मुचलके लिखवा कर सब प्रकार का प्रबंध कर दिया। इसी बीच पुलिस सुप्रेन्टेन्डेन्ट मेक-फर्सन ने अचानक ही यह हुक्म जारी कर दिया कि मसजिद के इधर-उधर चालीस २ क़दम तक बाजे न बजाये जायँ । यह बात हिन्दु ओं ने स्वीकार नहीं की। और वे इस बात पर बिगड़ कर कि-मुसलमानों की ओरसे बाजे के लिए स्वीकृति मिल जाने पर भी पुलिस इस कार्य में जो हस्ताक्षेप कर रही है, यह एकदम अनुचित्त है। तथा नियमानुसार- मसजिद के सामने से जुलूस का रोकना भी बेकायदा है-वे मसजिद के पास ही नागोबा को छोड़कर चले गये। तब पुलिस ने बैल जुतवा कर उसे मुक़ाम पर पहुँचवाया । पर यहां वहीं

लोकोक्ति चरितार्थ हुई कि 'दुबल-दुबहिये राजी पर दूसरा आक्रमण का जो'। इधर लोग गये तो वे पुलिस की ओर से दफादार के जानेपर नागोबा को छोड़कर, किंतु पुलिस ने उन्हीं पर रास्ता रोकने का जुर्म लगाकर मामला चलाया । और सात आरोपियों पर पचीस २ रुपये जुर्माना कर दिया गया। हिन्दुओं के इस नादरपना का बर्ताव का विपर्यास करने के लिए कुछ लोग तैयार थे ही। अतः उन्होंने सरकार की सेवामें यह अर्जी पेश की कि मुसलमानों के कांग्रेस में योग न देने से असन्तुष्ट होकर ही पूना के ब्राह्मणलोग उन्हें इस प्रकार तंग करते हैं, और साथ ही उन्होंने सरकार के राज्य को धक्का पहुंचाने के लिए राजनैतिक आन्दोलन शुरू कर रक्खा है। इसी अवसर में पुलिस एक्ट के अनुसार बाजे और जुलूस के लिए अधिकारियों ने स्थायी नियम प्रकट कर दिये, किन्तु उनमें भी पूर्णतयः पक्षपात से काम लिया गया था। मसजिद के आसपास तो आठों पहर बाजा बजाने की मुमा नियत की गई और हिन्दू देवालयों में केवल कथा वार्ता होते समय ही बाजा बन्द रखने को कहा गया। इसी प्रकार एक नियम यह भी था कि मार्ग में गाड़ी घोड़े आते-जाते, अथवा किसी स्थानपर पुराण या कुरान की कथा होते समय या पुलिस अधिकारी की ओरसे आज्ञा होते ही बाजा बंद करदिया जाना चाहिये। इस नियम की अव्यवहारिकता स्पष्ट ही प्रकट है। क्योंकि इन नियमों के अनुसार बाजा बजानेकी अपेक्षा प्रत्येक समझदार मनुष्य यही उचित समझेगा कि बाजा बजाना ही छोड़दिया जाय। अस्तु । थोड़े ही दिनों बाद गणपति-उत्सव का समय आ पहुंचा। किन्तु जब इस बार ६०० मुसलमानों ने कलेक्टर के पास अर्जी दी, तब हिन्दुओं ने अपनी एक कमेटी बनाकर मि० ओम्मानी (कलेक्टर) के सन्मुख सची हालत पेश कर दी। फलतः उन्होंने यह आज्ञा दी कि वाद्य के ये नियम खानगी जुलूस के लिये लागू नहीं किये जा सकते। बल्कि इनका सम्बन्ध केवल सार्वजनिक समारोह से ही होगा। इस तरह अदालत का मामला तो ख़तम हो ही गया, किन्तु गणपति-उत्सव को इस बार जो नवीन स्वरूप प्राप्त होनेवाला था, वह सुशिक्षित हिन्दुओं में से ही कई-एक व्यक्तियों को न सुहाया।

यह एक मानी हुई बात है कि इतने दिन धुंधवाती हुई द्वेषाग्नि एक न एक दिन भभके बिना नहीं रह सकती थी। क्योंकि पूना के सुधारक लोग इस परिवर्धित अथच संशोधित गणेशोत्सव की तो निंदा कर इसका भविष्य बतला रहे थे। किन्तु मुसलमानों के द्वेष दुराग्रह का निषेध जितना कि उनके द्वारा होना चाहिये था, उतनी प्रबलता से वे कर नहीं सकते थे; और यदि उन्ही की बात मान कर चला जाता तो यह निश्चित सा था कि धीरे २ मुसलमान लोग

हिन्दुओं को किसी भी रास्ते में बाजा न बजाने देते, और हिन्दुओं को चुप बैठ जाना पड़ता ! किन्तु तिलक ऐसा होने देनेके लिए तैयार न थे। क्योंकि अल्प-संख्याक व्यक्तियों का बहुजनसमाजपर जो दबाव पड़ता है, अथवा बहुजन समाज मुरव्वत की वजह से या भय के कारण यदि उसे सहन भी करता रहे, तो कब तक ? क्योंकि सहनशीलता की भी तो कोई मर्यादा होती है ! इसी लिए आरंभ से ही तिलक का यह निश्चयात्मक मत था कि यदि अपने उचित अधिकारों की रक्षा करते हुए किसी प्रकार का धोखा भी हो जाय तो उसे सहन करना चाहिये और इसी ध्येय के अनुसार आज दो वर्षों से वे केसरी में लेख लिख रहे थे । बाजे के विषय में पूना के अधिकारियों ने जो नियम बनाये थे, उनके अन्याय्य होनेकी बातों सुधारकों को भी मान्य थीं। यह बात सार्वजनिक सभा की ओरसे उस समय सरकार के साथ किये हुए पत्रव्यवहार पर से सिद्ध होती है। अब रहगई स्वयं प्रतिकार की युक्ति; सो इसके विषय में तिलक और सुधारकों का मतैक्य हो सकना कभी संभव न था। किंतु फिर भी इस तरह के प्रतिकार का सिद्धान्त अकारण ही निन्दनीय नहीं बतलाया जा सकता, इसी लिए धर्मसुधार के नाम की आड़ में वे गणपति-उत्सव की बुराई करने लगे।

अंततः जब इस उत्सव के लिए स्थायी व्यवस्था निश्चित करनेके लिए सभा की गई, उसमें वाद-विवाद की मात्रा बेहद बढ़ गई और प्रतिपक्ष के समाचारपत्रों में तिलक पर खुल्लम् खुल्ला आक्रमण किये जाने लगे। उनके ध्येय की निंदा करनेके लिए उन्हीं दिनों छप्पन व्यक्तियों के हस्ताक्षरसहित एक सरक्यूलर भी निकाला गया था। किन्तु उसका निषेध करते हुए तिलक लिखते है कि-" जहां गांव वहां ढेड़वाडा होना ही चाहिये, लगभग उसी प्रकार की अवस्था पूने में भी उत्पन्न होनेवाली है। गणपति उत्सव मनाते समय लोग जितना उत्साह प्रकट करते है, उसकी पर्वाह न कर अपनी ही विद्वत्ता का डंका पीटने वाले पंडितंमन्य इस पुण्यनगरी में विराजमान हो रहे हैं। इन महानुभाव की धारणा है कि पुण्यपत्तन की संपूर्ण विद्वत्ता का ठेकेदार ईश्वर ने हम्हीं को बनादिया है। अस्तु। क्योंकि यह वर्ष उत्सव के लिए आरंभिक ही था, अतएव सुधारक दल के कुछ लोग गणपति देखनेके लिए यत्रतत्र आयाजाया करते थे। गोपाल कृष्ण गोखले के विषय में कहा जाता है कि इस वर्ष वेभी गणपति का मेला देखनेके लिए विंचूरकर के वाडे में गये थे। इसी पक्ष के दूसरे एक नेता राघोपंत नगरकर ने भी केसरी में एक पत्र छपवाकर इस बात का खुलासा कर दिया था कि ' गणपति-उत्सव के विषय में

द्धान्तिक मतभेद नहीं है, बल्कि व्यवस्थापक मण्डल में कुछ व्यक्तियों को शामिल कर लेनेके विषय में ही विवाद उठाया जाता है। इसी लिए तिलक ने तो पिछले स्नेहभाव की दृष्टि से केसरी के द्वारा नगरकर को इस बात के लिए मानपत्र सा दे रक्खा था कि यदि अकारण ही लोकमत को बिगाड़ने के लिए कोई नगरकर की निंदा करता हो तो वह अक्षम्य है और उसकी उपेक्षा करना ही एकमात्र उपयुक्त शासन कहा जा सकता है।

किंतु उत्सव में सुधारक लोग सम्मिलित हों या न हों, उनके लिए उत्सव रोका नहीं जा सकता था। और यद्यपि यह मुसलमानों को चिढ़ानेके लिए शुरू नहीं किया गया था, किंतु फिर भी हिन्दु बनाम मुसलमान के मौजूदा विवाद के समय तिलक की इच्छा यही थी की हिन्दूसमाज में ऐक्यता का भाव दृढ़ करके मुसलमानों से भय न खाते हुए जनता को अपने स्वाभाविक अधिकारों की रक्षा के लिए तैयार कर दिया जाए। वे लिखते हैं कि " आज कितने ही वर्षों से अविद्या के कारण अपवित्र बनी हुई जिव्हा श्रीमंगलमूर्ति के नामोच्चार से पुनः पवित्र होती चली है। और लोगों के चित्तपर 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' इस भगवद्वाक्य का लौकिक अर्थ भलीभांति अंकित हो गया है " इन हार्दिक उद्गारों का मर्म तत्काल ही लोग न समझ सके। अस्तु। अनन्तचतुर्दशी के दिन एकबार इस बात की शंका उत्पन्न हो चली थी कि जुलूस के लिए कलेक्टर साहब इजाजत देते हैं या नहीं। किंतु मि. ओम्मानी ने इस शंका को सहज ही में निवारण कर दिया। इतनेपर भी अन्दर की धुकधुकी एकदम ही दूर नहीं हो पाई थी। ता. ११ सितम्बर का केसरी लिखता है कि " यद्यपि समारंभ के अपूर्व एवं दर्शनीय होनेकी आशा की जाती है, किन्तु वर्तमान काल में भविष्यत् की बातें कहनेकी अपेक्षा भूत कालीन बातों का उल्लेख करना ही अधिक उत्तम होगा "। तिलक की इस दूर-दर्शिता का प्रत्यय दूसरे ही दिन दिखाई दे गया।

उत्सव के आरंभिक आठ दिन तो सकुशल बीत गये, किंतु इसके बाद शहर के मुसलमानों में कुछ हलचल सी दिखाई देने लगी। हरएक हिन्दू अपने २ गणपति एवं उत्सवसम्बन्धी सजावट और आरायश की विशेष सावधानी से रक्षा करने लगा। हिन्दू पहलवानों ने चौकों की गुप्तरूपसे नाकेबन्दी करके उपद्रवकारियों से बचानेका ज़िम्मा अपने ऊपर लेलिया। कहीं जरासा भी खटका हुआ कि तत्काल मुसलमानों के आनेकी शंका उत्पन्न हो जाती थी। क्योंकि बढ़ईपुरे के गणपति पर मुसलमानों के दांत अधिक थे, अतएव वहां दिनरात का पहरा रखा गया था। यद्यपि पुलिस का प्रबंध अपटूडेट

था, किन्तु इस तरह जागरण करनेका काम उन्हे पहिली बार करना पड़ रहा था। सारा शहर भजनमंडलियों के गान-वाद्य से गूंज उठा था, और नियमों की रक्षा करते हुए बाजे भी बजते रहते थे।

किन्तु अन्तमें शुद्ध त्रयोदशी की रात को मामले के बिगाड का श्रीगणेश हो ही गया! उस दिन बुधवार रहते हुए भी मुसलमानों ने कुरान पढ़नेके लिए बड़े सबेरे ही से मसजिदों के दरवाजे खोल दिये थे। इनमें से दारूवाले पुल के पास की मसजिद के सामने से तो कुछ भजनमंडलियां गाते-बजाते रास्तापेठ में हो कर निकल भी गई। किंतु दस बजने के लगभग तात्यासाहब नातू की भजनमंडली जब मसजिद के सामने होकर जाने लगी, तब पुलिस के हुक्म के अनुसार गाड़ी पर रखा हुआ तबला बंद कर के केवल हारमोनियम ही बज रहाथा, किंतु फिर भी मुसलमान लोग लाठियां लिये हुए मसजिद से निकल पडे। और उन्होने हारमोनियम तोड़कर सारा जुलूस बिखेर दिया और नातू साहब को बेतरह लाठियों से मारा। यहांतक कि उन्हे उठा कर निकट के गुजराती देवालय में पहुँचाना पड़ा। बात की बात में यह खबर गांवभर में फैलगई। फलतः कुछ उत्साही लोग दौड़ कर मौक़े पर जा पहुँचे, और उन्होंने मसजिद मे घुसकर मुसलमानों को खूब पीटा; साथही उनके हंडी ग्लास आदि सब फोड़ डाले। इस खबर के पहुँचते ही पुलिस के चालीस—पचास सिपाहियों ने आकर मसजिद के सामने अड्डा जमा दिया। किन्तु इससे पूर्वही वे हिन्दू जिन्होंने मसजिद में घुसकर मुसलमानों को पीटा था,--वहां से फरार हो चुके थे। किन्तु फिर भी तमाशबीन लोगों की भीड़ यहांतक बढ़गई कि मोतीचौक और पुलके बीच पांच सात हजार मनुष्यों का हुजूम खड़ा होगया। पुलिस सुप्रेन्टेन्डेन्ट मेजर मेकफर्सन ने आते ही अपना घोडा उस भीड़ में बढा दिया, इस बिचारे कई व्यक्तियों को चोट लगी। और इसी लिए कुछ लोगों ने साहब बहादुर पर भी हाथ चलाया। इसी बीच कलेक्टर और सिटी मजिस्ट्रेट आदि भी वहां आ पहुँचे किन्तु दंगा इससे पूर्व ही ठंडा पड़ चुकाथा।

इस दंगे से कुछ ही समय पूर्व तिलक, नामजोशी और बाबामहाराज ये तीनों गाड़ी में बैठकर उसी रास्ते से निकले थे। और तिलक की गाड़ी मसजिद के निकट पहुँचते ही लोगों ने उनका जयघोष किया। उस समय थोड़ीसी अशांति होनेके साथ ही दंगे की शंका उत्पन्न हो चली थी। और यदि सचमुच ही दंगा हो जाता तो सरकार के लिए तिलक को उस दंगे में फँसाने का मौका मिल जाता और वह उनके निर्भीक एवं चुभनेवाले लेखों का बदला भी चुका सकती

थी। किन्तु क्रीड़ाभुवनवाली सभा की तरह इस बार भी नामजोशी का चातुर्य और समयसूचक ज्ञान तिलक के उपयोगी सिद्ध हुआ। अर्थात् उन्होंने तत्काल ही गाड़ी को आगे बढ़ा दिया और क्षणमात्रमें लोग इस बातका पता न लगा-सके कि गाडी कहां चली गई? रातभर तिलक को लेकर नामजोशी अपने कार-खाने में बैठे रहे और सुबहतक लोगों को पता न लगा कि वे दोनों कहां हैं।

क्योंकि दंगे के लिए किसी न किसी को पकड़ना ही चाहिये था, अतएव पन्द्रह व्यक्ति पकड़े गये। दस बारह मनुष्यों को मामूली चोट लगी थी, और इनमें से कइ एक को तो पुलिस का ही कृपाप्रसाद प्राप्त हुआ था। एक मुस-लमान तो अस्पताल में ले जाते ही मरगया। हिन्दुओं में से कोई मरा नहीं। बृहस्पतिवार को सुबह तक यह गड़बड़ मची हुई थी। दोपहर का जुलूस रोकनेके लिए पुनः प्रयत्न किया गया। किन्तु मि. ओम्मानी ने पहले हुक्म को ही क़ायम रक्खा था, अतएव जुलूस मार्केट में होकर निकला गया।

इतनेपर भी अंतमें उत्सवभंग करनेके विचार से दिनदहाड़े बढ़इयों के गणपति को फोड़ ही तो दिया। चंदूभाई के आखाड़े के पास और भी एक गणपति की इसी प्रकार दुर्दशा की गई। उसी दिन संध्यासमय मुसलमान लोग अस्पताल में से उस मृतक का शव लेकर बीच बुधवार में से निकालने को थे, किन्तु मि ओम्मानी ने बड़ी ही खूबी के साथ उन्हें आपुस में समझा दिया। शुक्रवार के दिन एकदम एकांत में दोचार जगह मारपीट हुई। किन्तु दिनभर पुलिस और पलटन का खड़ा पहरा रहनेसे विशेष गड़बड़ न होसकी। क्योंकि मसजिद में बहुतसे मुसलमान जमा हो रहे थे, अतएव सोमेश्वर के देवालय पर उनकी ओरसे हमला होनेकी शंका उत्पन्न हुई। किन्तु अंत में यह शंका भी निर्मूल ही ठहरी। किन्तु हिन्दुओं के हाथ में लाठियां दिखाई देते ही उन्हें छीन लेनेकी शुरूआत हो जानेसे लोगों का विश्वास पुलिसपर न रह सका। सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह हुई कि मसजिद में जमा होनेवाले मुजाविरों या गणपति की प्रतिमा फोड़ देनेवाले मुसलमानों में से एक भी व्यक्ति नहीं पकड़ा गया और बिचारे तात्यासाहब नातूको मुसलमानों के हाथ से पिट जानेपर दूसरे दिन पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिये गये।

इस बात को अच्छी तरह जानते, हुए भी कि मसजिद पर आक्रमण करनेवाले लोग भाग गये, और उनके बदले हमने निरपराधियों को पकड़ लिया है-पुलिस ने उनपर मामला चला ही तो दिया। सरकार की ओरसे बेरिस्टर लौयडस और आरोपियों की ओरसे पिमनलाल सेटलवाड पैरवी कर रहे थे। शहर में और भी कुछ लोगों के मुक़द्दमें चल रहे थे। गणपतराव घोटवडेकर,

भाऊसाहव रंगारी, कृष्णराव ढोले, म्युनिसिपल कमिश्नर आदि व्यक्ति भी आरोपी बना दिये गये थे। किंतु अंत में ये छोड़ दिये गये। अलबत्ता एक बढ़ई को फ्रास साहव ने हम्ला करनेके इरादे से लाठी उठानेके अपराधपर डेढ़वर्ष की सजा अवश्य दे डाली! सब मिलाकर कुल पांच मुकदमें सेशन कमिट हुए। उनमें तेरह अपराधियों का जो मुख्य अभियोग था वही विशेष रूपसे प्रसिद्ध हुआ। इसमें सरकारी वकील, बेरिस्टर लॉण्डस थे और प्रतिवादी की ओरसे बेरिस्टर गाडगील तथा नारायणराव चंदावरकर एवं ब्रान्सन आदि पैरवी करते थे। असेसरों में दो ईसाई, दो पारसी और एक हिन्दू चुना गया था। ख्यातनामा न्यायाधीश मि. जेकब की अदालत में मामला चल रहा था। अंततः सोमवार ता. २१ अक्टूबर को मुकदमे का फ़ैसला सुनाया गया और असेसर एवं जज दोनों ने सभी आरोपियों को निर्दोष सिद्ध कर छोड दिया। पूना के एँग्लो इंडियन पत्रों ने जज और असेसरों मे मतभेद होनेकी झूंठी अफवाह उड़ादी थी, अतएव न्यायाध्यक्ष को अपने न्यायासनपर से ही उसका निषेध करना पडा।

दूसरा सेशन-अभियोग अकेले तात्या साहब नातू पर चलाया जा रहा था। इसमें भी वे निर्दोष सिद्ध हुए। इस पूना की जनता पर जो आफत की काली घटा घिर आई थी वह जेकब साहब की न्यायप्रियतारूपी वायु के द्वारा सहज ही में छिन्न-भिन्न हो गई। जेकब साहब न केवल इन्ही अभियोगों में बल्कि प्राय: सभी दीवानी और फौजदारी मामलों में अत्यंत शांतिपूर्वक एवं चुपचाप काम चलाते थे। लोगों की दृष्टि में ये दंगे के अभियोग मि. जेकब के लिए एक प्रकार से कसौटी के ही समान थे, और इसमे वे सौ टच के सोने ही सिद्ध हुए। तिलक के मुँहसे जिन थोड़े से गोरे अधिकारियों ने इस विषय के उद्गार निकलवाये कि अंगरेजी राज्य में कहीं २ और कभी २ इन्साफ भी होता है, उनमें मि. जेकब की गणना प्रधानरूपसे कि जा सकती है! उपर्युक्त मामले चलते रहनेकी दशा में वे किसीसे भी नहीं मिले, यही नहीं बल्कि यहांतक कहा जाता है कि उन्होंने अपनी निजी डाक के आये हुए किसी पत्र को भी खोलकर नहीं पढा। इन डेढ़ दो महिनों में पांच-पचीस अपराधियों के निर्दोष कहकर छोड़ दिये जानेसे वे लोग पुलिस की चालबाज़ियों से तो बच ही गये, किन्तु मामले चलते रहने की दशा में ज़िरह होते समय बेरिष्टरों के भाषणों द्वारा स्थानिक पुलिस की कार्यवाही पर जो प्रकाश डाला गया वह विशेष महत्व का था। इन सब बातों का नैतिक परिणाम यह हुआ कि, पूना के ब्राह्मणों पर आजतक जो आक्षेपों की आग वरसाई गई थी, उसके लिए तिलक ने केसरीद्वारा गवर्नर साहब को क्षमा प्रार्थना करने को बाध्य किया।

किन्तु लार्ड हेरिस में इस आह्वान के स्वीकार कर लेने जितनी उदारता होती ही कहांसे ! किन्तु फिर भी इसके बाद से उन के भाषण एवं सरकारी इरादों के ध्येयपर रुकावट पड़ने में निःसन्देह सहायता मिली। सिवाय इसके उनका यह अनुमान भी सत्य सिद्ध हो गया कि यदि हिन्दू लोग अपने अधिकारों के लिए झगड़ने लगे तो प्रथमतः मुसलमान ही बहुत करके अनुचित रूप में चिढ़ेंगे, किन्तु चिढ़ने परभी एक-दो बार की टक्कर के बाद उनके होश ठिकाने आ जायँगे। क्योंकि सन १८६४ से अबतक पूनें में फिर कोई हिन्दू-मुसलमान का दंगा नहीं हुआ। और क्योंकि यह समय तो इन दोनों समाज में ऐक्यता का भाव सर्वतोपरि दृढ़ करने का है, अतएव सभी लोग यह चाहते हैं कि आगे कभी ऐसे दंगे-फसाद न होने पावें।

क्योंकि जेकब साहब के प्रति पूने के लोग कृतज्ञता का भाव रखते थे, किन्तु इसे प्रकट करनेके विषय में उनके सामने एक समस्या सी खड़ी हो गई। कारण यह था कि प्रथम तो वे युरोपियन ठहरे, दूसरे वे प्रधान न्यायाध्यक्ष और उसमें भी फिर वे एकदम स्पष्टवादी और स्वतंत्र वृत्ति के मनुष्य थे। किन्तु फिरभी एक मौका मिलही गया। अर्थात् ता. १ दिसंबर को पूना के म्युनिसिपल स्कूलों का उपहार-वितरण होनेवाला था, इसके लिए जेकब साहब को भी निमंत्रित किया गया। उन्होंने इस कार्य को स्वीकार कर लिया। क्योंकि ऐसे कार्य प्रायः न्यायाध्यक्ष लोग अपने सिर लेलिया करते हैं, किन्तु इस प्रसंग पर म्युनिसीपल कमेटी ने और भी जिन चालीस युरोपियनों को आमंत्रित किया था, उनमें से एकने भी आकर दर्शन नहीं दिये ! यही नहीं बल्कि उन सबने एकमत होकर जेकब साहब का बहिष्कार कर दिया। इधर साहब बहादुर को देखनेके लिए नगर की आधे से भी अधिक जनता मार्केट के नजदीक इकट्ठी हुई, और वहांसे बिदा होते समय लोगों ने उनपर फूल भी बर्साये। यदि मि. जेकब को पहले से इन बातोंका पता होता तो वे कभी वहां न आते। किंतु उनके सन्देहरहित होनेसे लोगों की इच्छा पूर्ण हो गई। इस भीड़-भाड़ के समय पुलिस प्रायः अनुपस्थित सी ही थी। और उसकी वहां आवश्यकता भी न थी। फलतः लोगों को इस बात का अनुभव हो गया कि एक सच्चा न्यायाध्यक्ष पूरी रिजमेंट का काम अकेला ही कर सकता है। अंततः इस दंगा-प्रकरण की समाप्ति ता. १ दिसंबर के दिन रे-मार्केट में सभा भरी जाकर की गई। अध्यक्षस्थान पर काशीनाथपंत नातू वकील बिराजे थे। सभा की निमंत्रण पत्रिका में यह उद्देश्य प्रकट किया गया था कि "-सरकारी अंधाधुन्दी और पुलिस की दुर्व्यवस्था के कारण पूना के लोगों पर जो आफत आई उससे

जानकार व्यक्ति की बतलाई हुई बात हमें याद आती है कि आगे चलकर केनेडी साहब एक श्रेष्ठ न्यायाध्यक्ष के नाते प्रसिद्ध हुए, और अंततक 'वाई' का नाम सुनते ही लज्जा के मारे उसका सिर झुका जाता था। वाई के इन ब्राह्मण नेताओं को अदालतने जमानत पर भी नहीं छोड़ा। यहांतक कि उनका जेल से छूटने पर सितारानिवासियों की ओर से उनका सम्मान किया जाने की संभावना समझ पहले ही से उनके विरुद्ध हुक्मनामे जारी कर दिये।

वाई के जिन लोगों को इस मामले में जेल भुगतनी पड़ी, उनके नाम इस प्रकार हैं:— [१] तात्यासाहब गाडगील [२] तात्यासाहेब पंत [३] बाबाजीराव पुरोहित, म्यु. चेअरमेन [४] अंताजीपंत जोशी, वाई न्यू इँग्लिश स्कूल के संचालक [५] वासुदेव बापूराव पंडित [६] रामकृष्ण माधवराव वैद्य, कन्सलीएटर और लोकल बोर्ड के चेअरमेन [७] विश्वनाथ हरी कोठावले, साहूकार [८] गोपाल तात्या डवलेकर [९] खंडेराव वाकडे [१०] जनार्दन पंत एरंडे, इनामदार] ११] बालकृष्ण पंत डवलेकर। इन सब को इक्कीस दिनसे लग कर एकमास की कैद की सजा दी गई थी। कइयों को इसके सिवाय जुर्माना भी देना पड़ा और जुर्माना न देनेवाले को उतने ही दिन की और भी सजा दीगई। कई लोगों पर दो दो मुकदमे चलाये गये और उन्हें अलग २ सजाएभी दी गई।

इसके बाद भी हिन्दू-मुसलमान के दंगे के विषय में सार्वजनिक चर्चा कइ दिनोंतक जारी रही। ख़ास पूने में ही इस विषय में तिलक ने जो ख्याति प्राप्त की, वह कितने ही लोगों को खुटक रही थी। इसी लिए सुधारक, केसरी, मराठा और ज्ञानप्रकाश के वाक्-युद्ध जोरों पर थे। विलायत के प्रधान मासिक पत्र 'नाइन्टीन्थ सेंचरी' आदि में अज्ञ अथवा स्वार्थी अंग्रेज लोग मन-माने लेख लिखते और भारतीय पत्र उन्हें उत्तर देते रहते थे। लन्दन टाइम्स में सर विलियम हंटर सरीखे विद्वान् लेखक ने भी एकबार यह लिख दिया था कि 'महाराष्ट्र में हिन्दू-मुसलमान के बीच जो झगड़े हुए उनको इस समय का ही कारण नहीं मान सकते। क्योंकि यह तो महाराष्ट्र की सरदार मण्डली की ओरसे ख़ास तौरपर निश्चित की हुई एक योजना ही थी'। क्योंकि लन्दन टाइम्स में छपनेवाले लेख प्रायः सरकारी पत्रव्यवहार के प्रतिबिम्ब ही होते हैं, इस बात का विचार करनेपर अच्छी तरह जाना जा सकता है कि यह आरोप कितना भयंकर था। इसमें सरदारों का नाम दिया जानेका कारण केवल यही था कि वाई के अभियोग में कुछ ब्राह्मण आरोपी भी थे। यह वाक्युद्ध लार्ड हेरिस की विदाई तक जारी रहा। इधर मुसलमानों ने भी पहले ही से

हिन्दुओं पर घृणित आरोप लगाकर सरकार के पास अर्जी भेज दी थी। किन्तु रे-मार्केट में सभा हो जानेके बाद मुसलमानों ने भी जुम्मा मसजिद में दो हजार मनुष्यों की एक सभा की। नवाब अब्दुल मजीद खां नामक कोई महाशय उसमें अध्यक्ष थे। कहा जाता है कि "इस सभा में लगभग उसी प्रकार के भाषण हुए, जैसे कि प्रायः मराठों पर आक्रमण करनेसे पूर्व बिजापुर दर्बार में वीरश्री के व्याख्यान हुआ करते थे।" सभा में पुलिस अधिकारियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट किया जाना आवश्यक ही था। इसीको लक्ष करके केसरी लिखता है कि "आज पुलिस को थेंक्स देनेके लिए मुसलमानों की सभा हुई है, किन्तु कुछ दिनों में उन्हें पुलिस को गालियां देनेके लिए भी सभा करनी पड़ेगी।" यदि इस वाक्य में दिनके बदले वर्ष का शब्द लिखा जाता तो तिलक की भविष्यवाणी सोलहों आने सत्यसिद्ध हो सकती थी। सार्वजनिक सभा अपनी मंदगति से पुलिस एक्ट का निषेध कर रही थी। इधर मार्केट की सभा में तिलकप्रभृति नेताओं की जो कमेटी बनाई गई, उसका भी काम शुरू हो गया था। किन्तु इसके बाद अगले ही वर्ष पूना म्युनिसिपालिटी और धारासभा का चुनाव एवं राष्ट्रीय-महासभा की तैयारी आदि के कई महत्वपूर्ण कार्य सामने आगये। फलतः वाद-विवाद का बीजारोपण नये रणक्षेत्र में कर दिया गया, और हिन्दू-मुसलमान के दंगे की स्मृति जैसे ही एकबार पीछे पड़ी कि फिर उसे किसी ने भी याद न किया।

दंगे की शुरूआत प्रायः मुसलमानों की ओरसे ही होती है, इसका अनुभव अन्त में जाकर एक जिलाधिकारी को भी अनायास हो गया। और वह भी ऐसी दशा में जहां कि हिन्दुओं को बदनाम करनेके लिए किसी को भी मौका नहीं मिल सकता था। सन १८९५ के गणपति-उत्सव के समय यह घटना घटित हुई। खानदेश के धूलिया शहर में अनंत चतुर्दशी के दिन गणपति का विमान निकाला गया। यद्यपि हिन्दुओं ने इसके लिए सब तरहके हुक्मनामे प्राप्त कर लिये थे, किन्तु फिर भी उस जुलूस में गड़बड़ मचाने की इच्छा मुसलमानों में जोर पकड़ रही थी। फलतः जब कलेक्टर को यह खबर मिली कि मुल्ला की मसजिद के सामने हो कर जुलूस निकला तो अवश्य दंगा मच जायगा, तब वे खुद ही पुलिस पार्टी लेकर मसजिद के पास जा खड़े हुए। इधर मसजिद में लगभग ४०० मुसलमान पहले से जमा हो चुके थे। अतएव जुलूस के मसजिद तक पहुँचते ही वे लोग 'दीन-दीन' करते हुए निकल पड़े। क्युमिन साहब ने उन लोगों को समझाने का भरसक प्रयत्न किया, लोगों ने उन की एक भी न सुनते हुए खुद उन्हीं पर ईट-पत्थर बर्साना शुरू किया।

अंततः उसी भीड़ में से एक मुसलमान उन्हें खींचकर मसजिद में लेजाने का प्रयत्न करने लगा और दूसरे ने जैसे ही उनपर लाठी उठाई, बिना क्युमिन साहब की आज्ञा के ही पुलिस अधिकारी ने अपनी जिम्मेदारी पर गोलीबार शुरू करवा दिया। चार मुसलमान तत्काल मारे गये और २८ घायल हुए। इस तरह यह सारी घटना एक अंग्रेज के आँखों देखते हुई, अतएव सरकार को भ्रम में डालने के लिए किसी को मौक़ा न मिल सका। और जब यह प्रश्न किया गया कि पुलिस ने कलेक्टर के हुक्म की प्रतीक्षा क्यों न की? तब उत्तर में यह युक्तिवाद उपस्थित किया गया कि 'यदि मालिक पर शेर को आता देखकर भी सिपाही इस कारण गोली न चलावे कि खुद मालिक ने मुझे आज्ञा नहीं दी है-तो वह मूर्ख समझा जायगा।' जांच करनेपर यह बात सिद्ध हो गई कि उपद्रव मचानेका इरादा मुसलमानों का पहले ही से था। क्योंकि मसजिद में संग्रह किये हुए ईंट-पत्थर के ढेर एवं लाठियों के गट्ठर तथा मस्तनशाह नामक मुसलमान द्वारा धूलिया के मुस्लिम-समाज से शपथ लिवाना एवं चंदा इकट्ठा किया जाना आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण थे। मसजिद के पास जाकर हिंदू लोगोंने कुछ भी नहीं किया, किंतु मुसलमानों की तो यही आकांक्षा थी कि इस मामले में किसी न किसी हिन्दू को अवश्य फसा जायँ, अत एव उन्हों ने यह बहाना किया कि क्युमिन साहब अपने सहकारियों की बात सुनकर ही ज़िद पकड़ गये। किन्तु रावेरवाले मामले में खुद उन्होंने जो सरक्यूलर निकाला, उस पर से यही सिद्ध हुआ था कि सामान्यतः वे हिन्दुओं के विरुद्ध हैं। मतलब यह कि धूलिया के बखेड़े ने तिलक के दो वर्षों के प्रयत्नों को पारस्परिक विरोध का उत्पादक सिद्ध कर दिया। इधर सरकार को भी इस बात का विश्वास हो गया कि मुसलमानों की मन-भरोसी करनेपर वे भस्मासुर की तरह हमींपर उसका प्रयोग करने को तैयार हो जाते हैं। हिंदुओं को इस बातका अनुभव पहिले ही से हो चुका था कि हमारी दशा भयग्रस्त के पीछे हुए मम्हराक्षस की तरह हो रही है। अस्तु। धूलिया के दंगे को लक्ष्य करके ता १० सितम्बर सन १८६४ के केसरी में तिलक ने जो अग्रलेख लिखा, वह इस विषय से सम्बन्ध रखने वाला उनका अंतिम लेख था। क्योंकि इसके बाद हिन्दू-मुसलमान का अध्याय समाप्त होकर अकाल के नये अध्याय का श्रीगणेश हो गया। फिर तो प्लेगशाही, रैंडशाही और अंत में राजद्रोहप्रकरण का आरंभ हुआ। इस अंतिम लेख में तिलक ने जो कुछ लिखा वह उपसंहारात्मक ही था। वे लिखते हैं कि "मुसलमानों का पक्ष यथार्थ नहीं है। क्योंकि सभी मसजिदों के सामने, हर समय और हर एक प्रकार के बाजे बंद रखने के

लिए आग्रह करना एकदम अनुचित है, और कोई भी समझदार व्यक्ति इसका समर्थन करने के लिए तैयार न होगा। मसजिद के सामने बाजे बन्द रखनेका अधिकार न्यूनाधिक प्रमाण में पुरानी व्यवस्था पर से ही सिद्ध होता है। किन्तु यह व्यवस्था कहां किस प्रकार की है, इसे वहां के मुसलमान न जानते हों सो बात भी नहीं है। इसी लिए मुसलमान भाइयों से हमारी अनुरोध है कि वे मसजिद के सामने से मृदंग, ताल आदि सौम्य वाद्य तक को न बजने देनेविषयक हठ छोड़ दें। क्योंकि यदि प्रार्थना के समय मुसलमान लोग गड़बड़ को न सह सकते हों तो फिर वे यात्रा में, रेल या जहाज़ की सवारी या अथवा दुकान या अन्य किसी स्थान में अपने इस नियम का पालन क्यों और कैसे करते है? यही नहीं बल्कि उनके धर्मशास्त्र के अनुसार तो मुसलमान जहां कहीं भी हो वहीं वह प्रार्थना कर सकता है। ऐसी दशा में बाजे से गड़बड़ होना अथवा मसजिद के सामने से बाजे बजाते हुए जाना धर्म-विरुद्ध बतलाना ये दोनो ही कारण एकदम अनुचित कहे जा सकते हैं, और इसी लिए मुसलमान भाइयोंको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि ये बातें किसी खुद ग़रज मुसलमान ने ही उनके दिमाग़ में भरदी है। ऐसा करने पर वाद्य-विषयक झगड़ों का फैसला होने में कुछ भी कठिनाई न पड़ेगी। क्योंकि यह समझकर किसी पर धावा करदेने में लाभ नहीं है कि सरकार हमारा पक्ष समर्थन करती है। मोका आनेपर उसके लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों ही एक से हो सकते हैं।"

भावार्थ यह कि दोनों ही समाज की पंच कमेटियां बनादी जाँय जो कि हर एक प्रकार के झगड़े की चौकसी कर व्यवस्था के लिए नियम बनादिया करें। दोनों पक्ष उस निर्णय को मानें और सरकार को उसकी सूचना दें, तत्पश्चात् सरकार उसीके अनुसार हुक्म जारी करे; और जो लोग उसकी अमल बजावरी के लिए तैयार हो उनके अधिकारों की रक्षा भी वह भरसक शक्ति लगाकर करे। इस प्रकार की विवेचक बुद्धि से तिलक उन दिनों लोगों को समझा रहे थे, और इन गत् दो तीन वर्षों के उनके लेखों से भी यही प्रकट होता है कि वे लोगों से अपने उपर्युक्त उपायों को आग्रहपूर्वक काम में लाने की सलाह दे रहे थे, जिस में कि सरकार उन्हें स्वीकार करले। इसी प्रकार कमसेकम हिन्दू समाज तो इस योजना को भी न छोड़े, और मुसलमानों के क्रुद्ध होनेकी अनुचित आशंका से भयभीत न होकर अपने योग्य अधिकारों हर-एक प्रयत्न से रक्षा करें। यही एक शिक्षा उस समय के तिलक के लेख एवं व्याख्यानादि से लोगों को मिल रही थी। वाद्यों का प्रश्न यद्यपि वादग्रस्त भले ही

दिखाई देता हो, किन्तु रचनात्मक योजना से इसमें भी कुछ न कुछ मार्ग निकल ही सकता है। प्रमाण के लिए हम बौध राव के पुराने वृद्ध पंत प्रतिनिधि द्वारा हिन्दू-मुसलमानों की सम्मति से निर्धारित नियमों को देख सकते हैं। और इसी लिए इस भागके परिशिष्ट में हमने उन नियमों को दे दिया है। पूना के पुलिस सुपेरिन्टेन्डेंट मेकफर्सन ने बाघादि के जो नियम बनाये और जिनपर पूना के प्रायः सभी पत्रवालों ने समान रूपसे टीकाटिप्पणियां की थी वे भी साथ के दूसरे परिशिष्ट में दिये जाने से पाठक उन दोनों की तुलना सहज ही में कर सकेंगे।

हिन्दुओं की स्वतंत्र सभा की आनेके विषय में यद्यपि तिलक और सुधारक पक्ष के बीच मत-भेद था, किन्तु फिरभी सरकारी अधिकारियों का पक्षपात और मुसलमानों की छेड़छाड़ के विषय में इनका मतैक्य ही था। अन्तर केवल यही था कि ज्ञानप्रकाशादि पत्र इन दोनों ही बातों का मुसलमानों की मुरव्वत करके सौम्य शब्दों में निषेध करते थे, और तिलक इस अधिकाररक्षा के विषय में अपनी वृत्ति को अनुसार सरकार अथवा मुसलमान किसी की भी पर्वाह न करते थे। बम्बई के दंगे के विषय में सरकार की ओरसे लल्लो-चप्पो का जो खुलासा प्रस्ताव प्रकट किया गया, वह तिलक की ही तरह सुधारक पक्ष को भी पसंद न आया, और दोनों ही ने उसका निषेध किया। ता० १४ जनवरी सन १८६४ के अंक में ज्ञानप्रकाश के सम्पादक इस खुलासा प्रस्ताव से सम्बन्ध रखनेवाले अग्रलेख में लिखते हैं कि "सरकार के इस खुलासा प्रस्ताव की यदि संक्षेप में व्याख्या की जाय तो हम कह सकते हैं कि उसमें सरकारी अधिकारियों की, अर्थात् एक साधारण सिपाही से लगाकर पुलिस कमिश्नर तक की प्रशंसा फौजी लोग-जिनसे कि काम लिया गया था-उनके अधिकारियों की स्तुति और समयानुकूल द्वियर्थक वाक्ययोजना के सिवाय कुछ भी नहीं है। हिन्दुओं की ओरसे इस बातपर ज़ोर दिया जा रहा था कि सरकार मुसलमानों से भयभीत होकर ही उनके साथ पक्षपात करती है, किन्तु सरकारी प्रस्ताव में एकदम ही इसके विरुद्ध उल्लेख किया गया था। वह इस शब्दों कि "कोई कारण हो या न हो, किन्तु सरकार के व्यवहार में हिन्दुओं के साथ पक्षपात और हम मुसलमानों के विषय में अविश्वास दिखाई देता है, अतएव अपनी जाति की रक्षा के लिए हमहीं को कुछ न कुछ उपाय करना चाहिये। इस प्रकार मुसलमानों को विश्वास हो गया है।" इसी विरुद्ध वाक्य को उद्धृत करके ज्ञानप्रकाश के संपादक लिखते हैं कि "सरकार के इस विधान के

सम्बन्ध में क्या कहा जाय सो हमारी समझ में नहीं आता। कहीं हम हिन्दुओं की पुकार को बन्द करनेके लिए ही तो सरकार ने यह प्रस्तुति नहीं लिख मारी है ?"

यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई देते हुए थी कि, हरएक स्थान के दंगों में आरंभिक छेड़छाड़ मुसलमानों की ही ओरसे होती हैं, और हिन्दू लोग पीछे से केवल प्रतिकार के ही लिए उस में योग देते हैं—ऐंग्लो-इंडियन पत्र एवं सरकारी अधिकारी उस ओरसे बेपर्वाह हो जाते थे, यह बात भी ज्ञानप्रकाश से सहन न हो सकी। येवला के दंगेके विषय में वे लिखते हैं कि " इसी प्रकार दंगे का मूल कारण देवालय और हनुमान की मूर्ति का नष्ट-भ्रष्ट कर दिया जाना ही था। किंतु अब यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रही है कि मंदिर को किसने उध्वस्त किया। इसी प्रकार यह बतलानेकी भी आवश्यकता नहीं रही है कि जिन्होंने मंदिर को उध्वस्त किया, वही लोग दंगा खड़ा करनेवाले थे। अंग्रेजी पत्र उनके विषय में भले ही कुछ कहते रहें ! "

मतलब यह कि वाद्यादि के नियमों एवं हिन्दू-मुसलमान के झगड़ों के समय अधिकारियों का जो बर्ताव रहा है उसके विषय में तिलक और सुधारक दल का ध्येय सिद्धान्ततः एक ही था। किन्तु फिर भी इस विषय में सुधारक पत्र के पत्र अथवा उनकी अधिकृत सार्वजनिक सभा ने जो कुछ आन्दोलन किया, उसकी अपेक्षा तिलक का प्रयत्न सौगुना अधिक शाक्ति-शाली कहा जा सकता है। क्यों कि उन्होंने सरकार के विषय में कड़े से कड़े शब्दों का प्रयोग करके फौजदारी मुकदमें की संभावना सिरपर लेकी, और स्पष्ट शब्दों में मुसलमानों के [illegible] स्वभाव का निषेध कर हिन्दुओं को एकमत होनेका उपदेश देते हुए भी वे ही मुसलमान समाज से द्वेष करनेको तैयार हुए थे। किंतु मुख्य कार्य की दृष्टि से विचार करते हुए यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि [illegible] प्रश्न को सच्चे स्वरूप में उपस्थित कर लोकमत बनानेका कार्य तिलक ने ही सफलतापूर्वक कर दिखाया है। सार्वजनिक सभा के [illegible] एवं [illegible] सुधारक—ज्ञानप्रकाशादि पत्रों के उस समय के लेखों का निरीक्षण करनेसे हमारे इस कथन की पुष्टि हो सकती है। ता० २४ सितंबर सन १८९४ के दिन [illegible] पूने में दंगा हो जानेके बाद सार्वजनिक सभा के सभ्यों की [illegible] ने जो आवेदनपत्र भेजा, उसमें यद्यपि स्पष्ट शब्दों में यह नहीं कहा गया था कि सरकार का ध्येय पक्षपातपूर्ण था, किंतु [illegible] [illegible] समाज में [illegible]

गया, सितारा, वाई, येवला, रत्नागिरी, पिंपलून, पेण, कल्याण, आदि अनेकानेक स्थानों के दंगों का विचार करते हुए ही यह अर्ज़ी लिखी गई थी। और इस कार्य में सभा के द्वारा केवल मध्यस्थी या दिल-जमाई करा देनेके प्रयत्न के सिवाय और कुछ भी न हो सकनेका उसमें उल्लेख किया गया था। तिलक के एकतर्फ़ा लेखन एवं आन्दोलन का एक प्रकार से यह निषेध ही किया गया सा जान पड़ा। सभा ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया था कि धार्मिक उत्सवों में संगीत कार्यों में बाजे बजाने विषयक मार्मिक भेद ज़िले के अधिकारियों की समझ में नहीं आता है। क्योंकि मेकफर्सन साहब ने पूना में जो नियम बनाये उनपर से सामाजिक आचार-विचार विषयक उनका अगाध अज्ञान ही प्रकट होता है। साथ ही इस बात का भी पता लग जाता है कि जबाबदार अधिकारियों के कर्तव्य से वे कहांतक अपरिचित हैं। पुलीस की रिपोर्ट पर ही सब प्रकार आधार रखनेसे एवं नेताओं के साथ अधिकारियों का बुरा बर्ताव होनें तथा विवादास्पद व्यवस्था के विषय में इसमें पहले योग्य न्यायाधिकारियों के पास जांच न करवाने से ही अबतक यह सब गड़बड़ हो रही थी। क्योंकि मसजिद के सामने मनोरम वाद्य बजाने देने और कर्कश बाजों को बंद कर देने ही से काम चल सकता था। मतलब यह कि सभा ने वाद्यादि के विषय में सब अधिकार पुलिस से छीन लेने की सम्मति दी थी।

किन्तु सरकार के सामने तो तिलक या गोखले की सार्वजनिक सभा दोनों की प्रतिष्ठा कार्य की दृष्टि से लगभग एक ही सी थी। गोखले की अर्ज़ी में पुलिस को दोषी बतलानेके सिवाय सरकार के चुभनेवाले शब्द नाम को भी न थे। किन्तु उसके आरंभ में गोखले ने यह अवश्य लिख दिया था कि इस विषय में सभा जो कुछ कह रही है, वह हिन्दू, मुसलमान और पारसी आदि सभी समाजों का मत है। इसी एक बात पर सरकार का क्रोध बढ़ गया। क्योंकि सरकार के तत्कालीन अंडर सेक्रेटरी ब्लाडहिल साहब थे। अतएव उन्होंने तत्काल ही इसका उत्तर लिख भेजा कि, इस अर्ज़ी में वैसे तो कई बातें निराधार हैं, और उनका उत्तर भी पृथक रूप में दिया जायगा। किन्तु पहले यह बतलाइये कि सभी समाजों की ओरसे मत प्रकट करनेका अधिकार तुम्हें किसने दे रक्खा है, और अर्ज़ी का मसौदा तैयार करते समय वहां कौन २ व्यक्ति उपस्थित थे ? ऐसी दशा में लाचार होकर गोखले को यह बात स्वीकार करनी पड़ी कि, सभा में कुल १२२ हिन्दू, ४ पारसी और केवल दो ही मुसलमान सदस्य हैं! मसौदा मंजूर होते समय इनमें से केवल १६ सदस्य ही उपस्थित थे! इस पर सरकार की ओरसे फिर यह प्रश्न किया गया कि इन सोलह

सदस्यों में किस २ जातिके लोगों ने अनुकूल और प्रतिकूल मत दिये सो बतलाइये ? तब गोखले ने यह उत्तर दिया कि कमेटी में मतभेद बिलकुल न था। सरकार को इस अर्जी के प्रश्न पर शिकायत योग्यायोग्यता के अनुसार ही विचार करना चाहिये। आजतक इस प्रकार तफसीलवार खुलासा सरकार की ओरसे कभी नहीं मांगा गया, और न कभी सभा ने ही ऐसा किया है, अतएव इस बारभी वह इतनी बारीकी से सब बातों का उत्तर देना नहीं चाहती। मतलब यह कि बाजे आदि के नियमविषयक मूल प्रश्न एक ओरको रखकर सरकारकी ओरसे इस तरह दूसरे ही प्रकार के बाजे बजने लगे। कारण इसका यह था कि, सरकार को सार्वजनिक सभा के उन दो मुसलमान सदस्यों ने समझा दिया था कि यह सभा केवल हिन्दुओं की ही है और हमारा उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि सभासद होते हुए भी हम कभी उसके कार्यों के लिए सम्मति नहीं देते हैं। इसी दशा में सर्वसंग्रह करके यथाशक्य निष्पक्षपात बुद्धि से विचार करनेके लिए रानडे और गोखले सदृश व्यक्तियों के तैयार रहते हुए, और मुसलमानों से कुछ लेनेकी अपेक्षा उन्हें बहुत कुछ देनेका भाव दिखाते हुए भी, उन्हें ऐसा कोई शान्त प्रकृति का मुसलमान नहीं मिला जो उनकी पद्धति के अनुसार इस समस्यापर भलीभांति विचार प्रकट करता। इसी बात को पहचान कर तिलक ने अपना ध्येय इस प्रकार निश्चित किया था कि मेलमिलाप के लिए भरसक प्रयत्न करने पर भी जब मुसलमान लोग इसके लिए तैयार नहीं होते हैं, तो फिर हम्हीं क्यों उनकी इच्छारूपी लहर के साथ बहते हुए कहांतक चले जायँ ! हमारे सच्चे अधिकार क्या हैं और उन्हें हमें कहांतक बतलाना चाहिये ? इसका विचार करके उन्हें प्रकट करें और उन्हींके अनुसार अपना आन्दोलन जारी रक्खें, फिर भले ही उसका परिणाम कुछ भी हो। यद्यपि यह ध्येय तेज तो दलभेद को बढ़ानेवाला ही दिखाई देता है। किन्तु इस समय जब कि हिन्दू मुसलमान के बीच ऐक्यता बढ़ाने का जोरशोर से प्रयत्न किया जावेगा तो भी दरार का मनमुटाव भलीभांति दूर नहीं हो सकता, और दंगे फसाद भी जहां तहां हो जाते हैं, इसी प्रकार यदि कदाचित् हिन्दू समाज को भी यह प्रतीत हो रहा है कि दूसरों की सुविधा का विचार करके उनके [illegible] बोझ [illegible] लिए आखिर हमें कहांतक उनके पीछे जाना चाहिये, इसके [illegible] काम नहीं चल सकता, तो फिर आज तो ऐसा क्यों [illegible] यदि इस [illegible] के बीच की आवश्यकता हिन्दुओं को प्रतीत हुई हो, और इसी [illegible] उत्सुक [illegible] के अनुकूल दिखाई दिया हो तो इसमें आश्चर्य कोई बात नहीं हो सकती।

क्योंकि तिलक स्वेच्छापूर्वक कभी मुसलमानों के साथ छेड़छाड़ नहीं करते बल्कि समझौते की ही हरएक बात के लिए विचार करने को वे तैयार रहते थे। पुरातन ऐतिहासिक चर्चा करते समय भी उनका रुख मुसलमानों को दोष देनेकी अपेक्षा हिन्दुओं पर किये जानेवाले आक्षेपों के खण्डन की ही ओर विशेषरूप से रहता था। एक हिन्दू के नाते उनकी स्वाभिमान-बुद्धि अतिशय तीव्र होनेके साथ ही दूसरे के चिढ़ने का भय उनके हृदय में नाम को भी न रहनेसे अन्य लोगों की ही तरह मुसलमानों के साथ बरताव करते हुए वे जैसे को तैसा उत्तर देने में भी कभी पीछे पैर न रखते थे। किम्बहुना दूसरे की ओरसे छेड़छाड़ की जाने पर तेजस्विता के साथ उसका प्रतिकार करने एवं अनावश्यक बन्धुभाव दिखला कर अपमान करवाने की अपेक्षा उसे मुँहतोड़ उत्तर देना ही तिलक के स्वभाव की ख़ास बात थी। इन दंगे-फसाद के दो वर्षों में उन्होंने जो आन्दोलन किया, वह इसी वृत्ति के अनुरूप था। यद्यपि यह आन्दोलन विशेष निर्बलचित्त एवं भीरुस्वभाववाले व्यक्तियों को पसंद न आया, किन्तु फिरभी इन लोगों ने सरकार के पास एक-आध अर्ज़ी भेजने या शान्ति अथवा प्रेमभाव का अस्पष्ट उपदेश करने के सिवाय और कुछ भी नहीं किया, और हिन्दू-समाज के अधिकारों पर धीरे २ जो आघात हो रहा था, उसके निवारण का प्रयत्न तो इनके हाथों नाम को भी न हुआ। फलतः मुसलमानों की ओर सब प्रकारके आक्रमण होते समय केवल शांतिपाठ करते रहनेकी अपेक्षा कम से कम वाग्दंड ही हाथ में लेकर उत्तेजनपूर्वक जो हिन्दुओं की सहायता करता हो उसकी महत्ता यदि सर्वसाधारण हिन्दूसमाज को अधिक जान पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

सन १८९४ में तिलक ने केसरी में दंगे के सम्बन्ध में जितने लेख लिखे, उनके योग से बम्बई के गुजराती समाज का प्रेम उनपर बहुत कुछ बढ़ गया। और पूनानिवासी उनके सुधारपक्षीय प्रतिस्पर्धी भी अपने मतानुसार समझी हुई तिलक की धर्म-भ्रष्टता एवं पारस्परिक गाली-गलौज तक को भुला देनेके लिए तैयार हो गये। बम्बई के लक्ष्मीदास खीमजी नामक व्यापारी ने बम्बई के दंगे से पूर्व प्रभासपट्टन के दंगे में ज़ख़्मी होनेवालों की सहायतार्थ बहुत कुछ प्रयत्न किया था। इसके बाद जब ख़ास बम्बई में ही दंगा हुआ उस समय पुलीस ने उनके विरुद्ध यह रिपोर्ट की थी कि यहां के ज़ख़्मियों को सेठजी ने जो कुछ सहायता पहुँचाई वह ठीक ही थी, किन्तु दंगे के दूसरे दिन हिन्दुओं ने जो लाठियां उठाईं उन्हें भी इन्हीने उत्तेजित किया और घाटी लोगों में हजारों रुपये बाँटकर इन्हीने उन्हें दंगे के लिए तैयार किया था। इस रिपोर्ट का परिणाम

यह हुआ कि कुछ ही दिनों बाद किसी कार्यवश जब सेठजी के लिए गवर्नर से मिलनेकी आवश्यकता हुई, तब जानबूझ कर उन्होंने इसके लिए इन्कार कर दिया। इस तरह के प्रतिष्ठित व्यक्ति को तिलक की ओर देखकर उस समय यदि यह प्रतीत हुआ हो कि 'अस्ति कोऽपि मम समानधर्मा' तो इसमें आश्चर्य नहीं। बम्बई के सुशिक्षित लोगों में इससे पूर्व तिलक के विषय में किंचित् अनादरभाव था। किन्तु ख़ास बम्बई एवं बाहर के दंगों के कारण, तथा विशेषरूप से येवले एवं रावेर आदि स्थानों के दंगे के विषय में सरकारी गुप्त आज्ञाएँ तिलकद्वारा प्रकट हो जाने और पूनेमें ढिठाई के साथ हिन्दुओं का समर्थन करनेसे बम्बईवालों का भी उनपर बेहद प्रेम बढ़ गया।

अंत में हमें केवल एक ही बातका उल्लेख करना है, और वह यह कि लोगों के सामने जो भी बाजे-बजाने सम्बन्धी प्रश्न ही उपस्थित किया गया हो, किन्तु इसकी आड़ और भी कई महत्त्वपूर्ण प्रश्न मौजूद ही थे। सरकार की ओर से मुसलमानों का पक्षपात किया जाने विषयक प्रवाद भी यथार्थ ही था, किन्तु इसका कारण यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दू देवालयों की अपेक्षा मुसलमानों की मसजिदपर सरकार का प्रेम अधिक हो, बल्कि राजनैतिक दाँव-पेंच में हिन्दुओं को खदेड़ने के लिए मुसलमान लोग सरकार के लिए विशेषरूपसे काम दे सकते थे, और उनका इस काम में उपयोग किया भी जा रहा था बस इसीसे सरकार उन्हें काबू में किये हुई थी। पिछले इतिहास को यदि देखा जाय तो सन १८५७ के विद्रोह के बाद कई वर्षों तक मुसलमानों पर ही सरकार की कोपदृष्टि विशेष रूप से जान पड़ेगी। बहाई लोग सरकार को भयंकर प्रतीत होने लगेथे। इसी प्रकार लार्ड मेयो की हत्या भी एक मुसलमान के ही हाथ से हुई थी। लिटनशाही में अफ़गानिस्तानवाला मामला हो जाने से मुसलमान लोग अंग्रेजों पर दांत पीस रहे थे। किन्तु परिवर्तन तो संसार की प्रत्येक वस्तु में होता रहता है। फलतः सन १८८५ में राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हो जाने पर राजकीय पक्ष का भारत में एक नये ही प्रकार से मंडन होने लगा। क्योंकि इस सभा में प्रायः सभी सुशिक्षित हिन्दू योग दे रहे थे। अतएव उन्हों ने राज्यकारोबार की आलोचना करने एवं अपनी आकांक्षा की गठरी खोल कर उसमें की वस्तुएँ सरकार के सामने पेश करने की शुरूआत कर दी। यह देखकर सरकार को जान पड़ा कि हमारे लिए तो यह एक स्थायी संकट आ खड़ा हुआ है। अतएव इसके प्रतिकारार्थ उसे मुसलमानों को हथियाने की युक्ति सूझ पड़ी। फलतः सर सय्यद अहमद खां को आगे खड़ा करके उसने प्रायः सभी सुशिक्षित मुसलमानों से राष्ट्रीय सभा का बहिष्कार करवा दिया। रहा

अशिक्षित मुसलिम समाज, सो वह तो ज़रासी उत्तेजना मिलते ही धर्म के नाम पर उन्मत्त हो जाने के लिए हमेशाही तैयार रहता था। अस्तु। क्योंकि राष्ट्रीय सभा की स्थापना के समय से ही धारासभा की सदस्यता के लिये प्रयत्न किया जाने लगा था, और सन १८६२ में तो धारासभा की वृद्धि होकर निर्वाचन का सिद्धान्त भी अपनी झलक दिखाने लगा था। किन्तु कौंसिलपर प्रभाव डाल सकना एक मात्र शिक्षापर ही अवलंबित था! अतएव मुस्लिम समाज के चित्त पर अनायास ही इस प्रकार का प्रभाव पड़ा कि, कौंसिल में घुसकर हिन्दू लोग अपना मतलब बना लेंगे और हमें बहुत कुछ हानी उठानी पड़ेगी। इधर यदि कौंसिल में मुसलमानों को भेजने का विचार किया जाय तो कहीं बात की बात में उनकी शिक्षा थोडेही बढ़ सकती है? ऐसी दशा में उन्हे अन्य किसी उपाय से हिन्दू समाज को बंन्धनयुक्त करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः अलीगढ कॉलेज के युरोपियन प्रिंसिपाल थियोडोर बेक ने 'एँग्लो मुहॅमेडन ओरियंटल एसोसियेशन' नामक संस्था भी स्थापित करनेकी युक्ति सुझाई। किन्तु सर सय्यद अहमद को यह कल्पना हीनकोटि की प्रतीत हुई। क्योंकि वे एक दूरदर्शी एवं स्वाभिमानी व्यक्ति थे। और हिन्दू-मुसलमान को वे एक ही शरीर के दो नेत्र मानते थे। किन्तु इसी के साथ २ उनकी यह भी धारणा थी कि दोनों नेत्रों की दृष्टि एकसी होनेके लिए दोनों ही समाज में शिक्षा की भी समानरूप से प्रचार होना चाहिये। इसी लिए उन्हों ने राजनैतिक मामलों को एक ओर रखकर सारी शक्ति शिक्षापर ही लगा दी थी। और मुसलमानों के लिए हिन्दुओं का राजनैतिक अधिकार आगे को टलवा देने के आशय से ही खुलम् खुल्ला राष्ट्रीय महासभा का विरोध शुरू किया था। इधर पेन-इस्लामिजम का उपदेश भी शुरू हो चुका था। और इस पेन-इस्लामिज़म की विजय के लिए जिस प्रकार आज मुसलमानों को अंग्रेज़ों के शत्रु बन जाने में कोई बुराई नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार उन दिनों अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्हें अंग्रेज़ों से प्रेमभाव बढ़ाने की भी इच्छा हो रही थी। मतलब यह कि बंग-विच्छेद के समय जनता में जो द्वैतभाव पराकाष्ठा को पहुँच गया था, उसकी नींव सन १८६२।६३ के लगभग पड़ रही थी। सरकार और मुसलमान दोनों एकमत होकर राष्ट्रीय सभा का बहिष्कार कर रहे थे, और बाजे एवं जुलूस आदि के झगड़े उस मुख्य वृक्ष की फुटकर शाखाओं के समान थे। मुसलमानी आकांक्षा की यह पतंग किस दिशा में उड़ रही थी, इसे तिलक ने उसी समय जान लिया था। और इसी के अनुसार उन्होंने इन झगड़ों के विषय में अपना ध्येय निश्चित किया था।

किंतु उनपर जातिद्वेष का आरोप लगानेवालों को देखना चाहिये था कि इसका मूल उत्पत्तिस्थान कहां है। क्योंकि विश्वबंधुत्व और राष्ट्रीयता की भावना ही अधिकांश परस्परविरोधी हैं। इसी लिए पहिली से दूसरी में उतरने की अपेक्षा दूसरी से पहिली में प्रवेश करना ही सरल और नैसर्गिक मार्ग कहा जा सकता है। इस प्रकार आरंभ से ही तिलक का विश्वास था। इसी प्रकार अपने पैर को दृढ़तापूर्वक जमीन पर टिका लेने के बाद ही स्नेहवृद्धि के लिए अपना हाथ दूसरों को सम्हालने के लिए बढाना ठीक होता है। अन्यथा हाथ के साथ ही अपने भी खिंच जाने या स्थानभ्रष्ट होनेकी संभावना रहती है। इस बात पर तिलक को दृढ़ विश्वास था और सुधारक लोग इसपर श्रद्धा न रखते थे, यही एकमात्र उनके परस्पर के ध्येय में अन्तर भी था। यद्यपि उस समय यह अन्तर लोगों की समझ में नहीं आसकता था, किन्तु आगे चल कर तो इसमें गणपति और शिवाजी-उत्सव के कारण और भी वृद्धि हो गई। क्योंकि इसमें से एक के द्वारा धार्मिक विवाद बढाने और दूसरे से जातिविषयक झगडे उत्पन्न करने की भावना सामान्य लोगों में सहज ही में उत्पन्न हो सकती थी, इसी लिए तिलक के झगडालूपन की दुष्कीर्ति में इनके योग से और भी वृद्धि हो गई। फलतः अफजलखान के वधसरीखे वादग्रस्त विषय की चर्चा समाचारपत्रों में होने लगी, और तिलक शिवाजीमहाराज का समर्थन भी निर्भीकतापूर्वक करने लगे। अंततः सन १८९७ के राजद्रोहविषयक अभियोग में भी इस अपराध की सिद्धी के लिए सरकार और न्यायाध्यक्ष ने भी इस ऐतिहासिक चर्चा को ही आधारभूत माना, और इसी लिए मुसलमानों को दृढ विश्वास हो गया कि तिलक एक बड़ा ही शैतान व्यक्ति है। किन्तु सुदैव से उनकी यह धारणा तिलक के अंतसमयतक कायम न रह सकी। और तिलक ने अपने पुराने सिद्धान्त को न छोडते हुए भी मुसलमान नेताओं से स्वीकार करवा लिया कि आपका ही ध्येय अचूक और उपयुक्त है तथा हम लोगों से भयंकर भूल हुई है। इसके बाद तो अली-बन्धु जैसे महान् नेताओं ने भी संसार के सन्मुख प्रकट कर दिया कि ' राजनीति में तिलक ही हमारे सच्चे गुरू है ! ' यहांतक का परिवर्तन स्वयं तिलक के देखते देखते हो गया !

भाग १५ परिशिष्ट (१)

औंध के पंतप्रतिनिधि का घोषणापत्र !

औंध में बाजे बजानेके सम्बन्ध में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही जातियों के नेताओं की सम्मति से निर्धारित नियमः—

"औंध राज्य के हिन्दू देवालय और मुसलमानों की मसजिदके सामने बाजे और ढोलक बजाने के विषय में मु. थाना किन्हई में दोनों ही जाति के नेताओं ने एकमत होकर आगे की व्यवस्था के लिए निम्नलिखित नियम निर्धारित किये हैं।

1. जहां केवल क़ब्र हो उसे मसजिद या निमाजगाह अथवा पूजा का स्थान न समझा जाय, अतएव उसके सामने से आते जाते हर समय हर एक प्रकार के बाजे बजाये जा सकते हैं।

२. असुरख़ाना अर्थात् इमामबाड़ा या जहां कि ताज़िये बनते हों, वह भी भजन या प्रार्थना का स्थान नहीं हो सकता, अतएव उसके सामने से भी उपर्युक्त नियम की ही तरह बाजे ढोल आदि बजाने में कोई रुकावट नहीं डाली जा सकती।

३. निमाज़गाह हमेशा शहर या गांव से बाहर होती है और वहां रमज़ान मास के रोज़े (उपवास) समाप्त हो जाने पर इदुलफ़ितर के दिन और ज़िल्हेज महीने में बकरीद के दिन इस प्रकार वर्ष भर में केवल दो ही दिन उस स्थान के काज़ी साहब सब मुसलमानों को ख़ुतबा पढ़ सुनाते हैं। इस लिए वर्ष के इन दो दिनों में ख़ुतबा सुनाई दे सके इस तरह पचास फुट के अंतर कोई किसी प्रकार के बाजे न बजाये जायँ।

४. केवल निमाज़ के लिये बाजा रोकनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि निमाज़ हमेशा मसजिद में नहीं पढ़ा जाता बल्कि निमाज़ का समय होने पर कुए के किनारे, नदी के तट पर, अथवा इसी प्रकार के अन्यान्य स्थानों में भी हर एक व्यक्ति अपनी निमाज़ आप ही पढ़ लेता है, और कुरान में भी निमाज़ के समय बाजे न बजाने कहीं उल्लेख नहीं है। ऐसी दशा में मसजिद के सामने निमाज़ के समय भी बाजे बजाने में कोई हानि नहीं, किन्तु प्रति शुक्रवार (जुमा) के दिन मसजिद में भी काज़ी सब मुसलमानों को ख़ुतबा सुनाते हैं, इस लिए शुक्रवार के दिन सिर्फ ख़ुतबा सुनाते समय मसजिद के इधर और उधर बीस-बीस कदम तक अर्थात् पचास फुट के अन्दर किसी प्रकार के बाजे न बजाये जायँ।

५. बाजा इस शब्द में ताशा, ढोल, नगाड़ा, और बाजंत्री (शहनाई) आदि का समावेश होता है। किंतु इसमें बीना, सितार, हार्मोनियम आदि मधुर बाद्योंका समावेश न समझा जाय.

६. ये नियम केवल उन्हीं मसजिदों के लिए लागू समझे जायँ जो कि

बहुत पुराने समय की बनी हुई हों और रास्ता या सड़क से लगी हों। उन रास्तों को छोड़कर अगर कोई ख़ास तौरपर नई मसजिद रास्ते से लगी हुई बनावे तो उसके लिए ये नियम लागू न समझे जायँ।

७. शुक्रवार के दिन मसजिद के खुतबे के समय और ईद के दिन निमाज़गाह के खुतबे के समय बाजों के समय जो नियम कलम ३,४ में बतलाये गये हैं, उन्हीं के अनुसार गणपति, नागोबा, गोकुल बली आदि प्रत्येक हिन्दू पर्व या मेले आदि के समारोह बाजे बजाते हुए प्रसन्नतापूर्वक सभी मसजिद एवं निमाज़गाहों के सामने होकर जा सकते हैं।

८. हिन्दू देवालयों में यदि कथा-कीर्तन या अन्य कोई धार्मिक कार्य हो रहा हो तो उस समय भी मुसलमानों को बाजे, ताशे, ढोल आदि पचास फुट इधर-उधर तक बन्द रखने चाहिये।

९. दोनों ही समाज के प्रधान २ व्यक्तियों की सम्मति से ये नियम बनाये गये हैं, अतएव दोनों ही जाति के लोगों को इनका पालन करना चाहिये। यदि कोई इन नियमों को तोड़े तो, जिस समाज का वह व्यक्ति हो उसे बिना किसी प्रकार की ज़ब्र—जियादती के चुपचाप सरकार में उसकी इत्तिला दे देनी चाहिये. जिसमें कि वह बाकायदा सब इन्तजाम कर सके।

ता. ८ सितम्बर सन १८९४.

हस्ताक्षर हिन्दू मुखियाओं के—

हस्ताक्षर मुसलमान अगुवाओं के

हमारी साक्षी में—

रामचंद्र शिवराम देशपाण्डे,

मजिस्ट्रेट दर्जा ३, औंध राज्य.

ऊपर लिखे हुए नियम जो कि दोनों ही समाज के मुखियाओं ने मिलकर निश्चित किये और हमारे पास मंजूरी के लिए भेजे हैं—वे मंजूर किये जाते हैं।

ता. ९ सितम्बर सन १८९४.

श्रीनिवास परशुराम पंतप्रतिनिधि,

जागीरदार, सं. औंध.

भाग १५ परिशिष्ट (२).

पूना के पुलिस सुप्रेन्टेन्डेन्ट मेकफर्सन का घोषणापत्र।

तमाम लोगों को इत्तिला दी जाती है कि, अबसे आगे के लिए दि. पु. सुप्रेन्टेन्डेन्ट साहब की ओरसे सड़क पर या रास्ते के नजदीक ढोल, नगाड़े,

शहनाई या तारो आदि सब प्रकार के कर्कश बाजे बजाने के लिए पर्वाने देकर नियम बनावेंगे और उनपर देखरेख रक्खेंगे।

जिस दिन बाजे बजाना हो उससे तीन दिन पेशतर सिटी पुलिस ऑफिस में बाजे बजानेका पर्वाना लेनेके लिए अर्जी देनी चाहिये। बिना इस प्रकार का पर्वाना हासिल किये रास्ते में या रास्ते के नजदीक किसी भी प्रकारका बाजा न बजाने दिया जायगा।

पर्वाने के लिए अर्जी पेश करनेके बाद छपे हुए फार्म पर ही बहुत करके पर्वाना दिया जायगा। और उसमें नीचे लिखी हुई शर्तें दाखिल की जायँगी:—

१ गाड़ी या घोड़े के नजदीक आजाने पर उसके निकल जानेतक बाजे बजाना या पताका फहराना (आगे पीछे करना) या किसी प्रकारका हो-हल्ला मचाना बन्द रखना चाहिये।

२. जुलूस की मण्डलियां जब किसी सार्वजनिक उपासना के स्थान के नजदीक ऐसे वक्त पहुँचें जब कि उपासना हो रही हो, तो उन्हे एकदम अपने बाजे बन्द कर देने चाहिये, और उस उपासनामन्दिर के पास से चुपचाप निकल जाना चाहिये।

३. ड्यूटी पर रहने वाला कोई भी पुलिस अधिकारी जब तक के लिए बाजे बन्द रखने का हुक्म दे, तब तक वे बन्द रहें।

४. किसी भी सार्वजनिक रास्ते या सड़क पर रात के ग्यारह बजे से लगाकर सबेरे सूर्योदय तक बाजे बजाने की इजाजत नहीं है।

५. अगर कोई आदमी जानबूझकर इन नियमों को न मानेगा या इनको तोड़ने में सहायता देगा उसे सन १८६० के चौथे एक्ट की ६८ वी धाराके अनुसार २०० रुपये जुर्माने की सजा दी जायगी।

ता. २ अक्टूबर सन १८६४.

T. Macpherson मेजर,
डिस्ट्रिक्ट पुलिस सुप्रेन्टेन्डेन्ट पूना.

षोड़श—विभाग।

——:0:——

बापट—कमिशन।

तिलक के जीवन में ऐसी भी कई घटनाएँ हुई हैं, जिन्हें उनसे सामान्य परिचय रखनेवाले व्यक्ति नहीं जानते हैं। बापट-कमिशन भी उसीमें एक प्रधान घटना है। आज से छब्बीस वर्ष पूर्व यह घटना पूने से बड़ी दूरपर ठेठ बडोदा में हुई थी। समाचारपत्रों में भी इसका वर्णन बहुत ही संक्षेप में निकला, और जो कुछ भी उन पत्रों में छपा उसमें तिलक का कहीं नाम-निर्देश भी नहीं हुआ है। इन्हीं सब कारणों से तिलक के जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना के नाते यह प्रसंग लगभग अज्ञातसा ही रहा। किन्तु इस बापट-कमिशन सम्बन्धी प्रकरण में तिलक को ८-१० महिनेतक काम करना पड़ा था। यही नहीं बल्कि इसके योग से उनके दो महान् गुणों का भी लोगों को परिचय होगया। इनमें पहला गुण मित्र के लिए सब प्रकार की हानि सहन करना ये था और दूसरा उनकी विवाद-सम्बन्धी कुशाग्रबुद्धि। यदि बापट-कमिशन में हम तिलक को नायक न भी मानें तो भी उपनायक माननेमें हमें कोई संकोच नहीं हो सकता। इसी लिए तत्संबन्धी वर्णन देनेकी इस प्रकरण में योजना की गई है।

बापट मायना वासुदेव सदाशिव बापट है। मित्र लोग हमेशा इन्हें रावसाहब बापट के नाम से सम्बोधित किया करते थे। किन्तु यह उपाधि उन्हें अंगरेज सरकार की ओर से नहीं मिली थी, बल्कि बड़ौदे में उनके उच्च पदासीन होने से यह स्वयमेव ही प्राप्त होगई थी। कमिशन के बाद लोग इन्हें 'बड़ोदा-बापट' के सांकेतिक नाम से पहचानने लगे थे। ये महाशय रत्नागिरी जिले के एक गरीब ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे। यद्यपि ये बाल्यावस्था से ही बड़े तीव्रबुद्धि थे, किन्तु कॉलेज का सारा खर्च उठा सकनेमें असमर्थ थे। इस लिए अपने कॉलेज के अध्ययन-काल में ही इन्हें बड़ोदा में सरकारी नौकरी मिल गई। इस तरह इन्हें बी. ए की पढ़ाई बीचमें ही छोड़ देनी पड़ी। उन दिनों बड़ौदे में रेविन्यु सर्वे सेटिलमेंट विभाग के प्रधानाधिकारी मि. इलियट नामक एक गोरे सिविलियन थे। ये महाशय बापट की योग्यतापर संतुष्ट हुए, और आरंभ में ही इन्हों ने उन्हें चालीस रुपये पर नौकर रख लिया। इसके बाद का मार्ग तो बापट ने बड़ी ही स्फुर्ती से तय किया। और लगभग पांच वर्ष के बाद ही अर्थात् सन १८८२ में ये सवासौ रुपये मासिक पर हेडक्लार्क की जगह काम

करने लगे। सन १८८६ में इनकी रसाई एलियट इलियट साहब के दफ्तर में हुई और इसके तीन ही वर्ष बाद ये उनके मुख्य सहायक (असिस्टंट कमिश्नर) बना दिये गये। इसके बाद सन १८६४ तक तो उनका वेतन पौने सातसौ रुपये तक बढ़ गया था। यदि उनपर अभियोग चलाया जाकर बीच में ही इतिश्री न हो जाती तो बहुत संभव था कि वे नायब दीवान के पदतक पहुँचते। इन सब बातों के लिए उनकी होशियारी तो कारणीभूत थी ही, किन्तु इसीके साथ २ इलियट साहब की कृपा से भी उनके लिए बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। यह कृपा-दृष्टि आगे चलकर यहांतक बढ़ गई कि बापट की हरएक बात को इलियट साहब की ओरसे मंजूरी मिलजानेविषयक लोगों का विश्वास होगया। सचमुच ही बापट ने बड़ोदा में अपनी कारगुजारी दिखलाई। उनकी वे पीली २ धोती और सफेद पोशाक तथा उम्दा काठियावाडी घोड़ा लोगों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता था। उनकी बढ़िया कारकीर्दगी के लिए दाक्षिणात्य लोगों मे उनकी कर्तव्यतत्परता, और गुजराती लोगों के लिए उनका स्वभाव ही कारणीभूत हुआ था, क्योंकि स्वभाव से वे कुछ तीव्र थे, अतएव बिना किसी की मुरव्वत किये साफ और सची बात कह देने में वे कभी आगा-पीछा न देखते थे। इसी प्रकार गुजराती लोगों की इस भावना के कारण कि वे दाक्षिणात्यों को हीन समझते हैं—बापट महाराज हरसमय उनकी हवा बिखेर दिया करते थे। किंतु साहब की कृपा-दृष्टि और अपने निष्पक्ष स्वभाव इन दो दोषों में तीसरी एक बात और मिल जाने से बापट की कारकीर्दगी को त्रिदोष सन्निपात होगया। वह था उनके हाथ में का सर्वे सेटिलमेंट विभाग का अप्रिय कार्य।

इस त्रिदोष के कारण बापट की कारकीर्दगी के असमय ही नामशेष हो जानेका वर्णन करनेसे पूर्व हमें संक्षेप में यह बतला देना आवश्यक जान पड़ता है कि तिलक और बापट का संबन्ध क्या था, और बापट कमिशन में तिलक को क्यों योग देना पड़ा ? हाँ, तो तिलक और बापट जो भी सहपाठी न रहे हों, तथापि इन दोनों का परिचय कॉलेज-जीवन से ही हो गया था। सीवाय इसके थे भी ये दोनों रत्नागिरी के रहनेवाले। इन दोनों के तीसरे एक मित्र दाजी आबाजी खरे नामक सज्जन और भी थे यद्यपि बापट अपनी कॉलेज की पढ़ाई बीच में ही छोड़कर चले गये किन्तु फिर भी इन त्रिमूर्तियों का प्रेमभाव पूर्ववत् ही बना रहा। यही नहीं बल्कि कई-एक कारणों से वह दिनोंदिन बढ़ता ही गया। क्योंकि बड़ोदा दरबार में दोचार दाक्षिणात्यों के उच्च पदाधिकारी रहनेकी परम्परा बहुत पहले से चली आई थी, अतएव तिलक को विश्वास था कि ज. स. गाडगीळ अथवा बापू सा. आठल्ये की तरह बापट भी उस परम्परा को

बनाये रक्खेंगे। इधर तिलक की विद्वत्ता और त्यागबुद्धि पर बापट पूरी तरह मुग्ध थे। बड़ौदा की राजनीति के विषय में केसरी और मराठा में जितने भी लेख निकले उनकी सामग्री तथा लेखनपद्धति में रावसाहब बापट से ही पूरी २ सहायता मिलती थी। सर टी. माधवराव के कार्यकाल के विषय में बड़ौदा पर जो आलोचनाएँ केसरी में निकली, उनका आधार प्रायः बापट की दी हुई सामग्री ही था। इसी प्रकार मराठा पत्र में तो खुद बापट के ही लिखे हुए कई लेख बिना नाम से बीच २ में निकलते रहे। इस प्रेमसम्बन्ध को व्यवहार की ओर से भी पुष्टि मिल रही थी। तिलक के एक पुराने मित्र वासुदेवराव जोशी अर्थात् चित्रशाला प्रेस के मालिक को बापट की मित्रता के कारण बड़ौदा दरबार से छपाई का काम बहुतसा मिलता था। इसी बीच (सन १८९१) तिलक ने फर्ग्यूसन कॉलेज की नौकरी छोडकर निजाम राज्य के लातूर नामक स्थान में जिनिंग कम्पनी खोलने का प्रयत्न किया। इस कार्य में भी बापट ने बड़ौदा के एक साहूकार गिरधरलाल नानाभाई की दुकान से पांच हजार रुपये कर्ज दिलाये थे।

इस तरह बापट और तिलक के बीच जीवश्च-कंठश्च मैत्री हो जानेसे तिलक के स्वभाव को जाननेवाला सहज ही में कल्पना कर सकता है कि बापट पर आफ़त आते ही तिलक उनकी सहायता के लिए दौड़कर क्यों पहुँचे होंगे! किन्तु इस कार्य में योग देनेके लिए तिलक दूसरे एक आशय से भी तैयार हुए थे। अर्थात् अपने मित्र की रक्षा के ही साथ २ बड़ौदा महाराज श्री सयाजी-राव गायकवाड़ की कारकीर्दगी पर दोषारोपण करनेके लिए ब्रिटिश रेसिडेन्सी का जो गुप्त प्रयत्न इन दिनों जोरों पर हो रहा था, उसका प्रतिकार करनेकी तिलक की प्रबल इच्छा थी। इससे पहले कोल्हापुर प्रकरण में तिलक को जो सजा भुगतनी पड़ी वह भी एकमात्र उनके देशी-राज्यविषयक अभि-मान के ही कारण थी। और उसके ठीक बारह वर्ष पश्चात् उन्हें फिर देशी राज्य के विषय में प्रेमभाव प्रकट करनेका जो अवसर मिला उसका भी तिलक ने उतनी ही तत्परता से सदुपयोग कर दिखाया। यद्यपि बापट कमिशन में तिलक [illegible] अपराधी न थे, किन्तु फिर भी लगभग अपने ही को अपराधी मानकर उन्होंने बापट की ओर से मुकद्दमा का कार्य शुरू से लगाकर अंततक बड़ी ही तत्परता के साथ चलाया। नाममात्र के लिये बापट की ओरसे काम करनेवाले वकील बेरिस्टर अलग थे, और तिलक के नाम का तो मुख्तारनामा भी इस मुकद्दमे में नहीं दिया गया था। किन्तु फिर भी बापट की ओर से हाज़िर रह कर काम चलानेवाले बेरिस्टर और वकील के मस्तिष्क का ही नहीं, बल्कि यदि हम यह

भी कह दें तो अतिशयोक्ति न होगी कि वकील के क्लार्क तक का काम तिलक ने अपनी महत्ता का विचार न करते हुए कर दिखाया।

हां, तो बापट की कारकीर्दगी को शिकंजे में फसने और तिलक को कमिशन के काम में पड़नेका मूल कारण 'बारखली' अर्थात् सेटलमेंट विभाग के द्वारा श्री सयाजीराव महाराज की कारकीर्दगी से लगाया जानेवाला सम्बन्ध ही था। इस लिये उस विषय की थोड़ी सी जानकारी करादेना आवश्यक जान पड़ता है। यह विभाग सन् १८८३ के अगस्तमें इलियट साहब के अधिकार में आया। किन्तु पूरी सर्वे न हो सकने से इस विभाग का प्रत्यक्ष कार्य सन १८८६ तक शुरू न हो सका। साथ ही महाराजा से मंजूरी लेनेके नियम तयार करनेमें तीन वर्ष और भी लग जाने के कारण बारखली अंतर्विभाग का कार्य सन १८८९के मार्च में जाकर आरंभ हुआ। इस विभाग में जेंकिंस, ओजिन, मेकॉनकी आदि गोरे सिविलियनों ने भी पहले सुपेरन्टेन्डेन्ट का कार्य किया था। इनके ज़मानेमें किसी प्रकार की गड़बड़ नहीं हुई। किन्तु इलियट साहब के कार्यकाल में वैसा होनेका कारण यह था कि, उनके कार्य को प्रत्यक्ष इनामी (माफी) जमीन की जांच का स्वरूप प्राप्त होजाने के साथ ही किसी पर माफी अथवा टेक्स लगा दिया गया और सनद न होनेसे किसी २ की माफ़ी जप्त कर लिया जाना भी हुआ। क्योंकि वैसे ही यह कार्य लोगों के जी में चुभनेवाला था। प्रमाण के लिए खुद ब्रिटिश सरकार के शासन में, इससे पूर्व तीस चालीस वर्ष तक माफी कमिशन के कारो-बार से जो भयंकर अन्याय या उसकी आशंका लोगों में फैलगई, उससे अधिक बुराई इलियट साहब के कारोबार में नहीं हुई थी किन्तु इस कहावत के अनुसार कि मालिक का मालिक कोई नहीं हो सकता-बम्बई सरकार के माफ़ी कमिशन के विरुद्ध झगड़े मचाकर उन्हें एक हद तक पहुंचा देनेके लिए कोई स्थान न रहने-से उसपर किसी का पात-पात नहीं होसका। किन्तु वही बातें बड़ोदा में घटित हो जाने से उसका स्वरूप एकदम ही प्रचंड बनाकर दिखलाया जा सका। किन्तु ऐसा करनेवालों का उद्देश माफ़ीदारों को दाद दिलानेकी अपेक्षा महाराज के कारोबार में बुराई दिखलानेकी ओर ही अधिक था। क्योंकि सयाजीराव महाराज अपनी स्वतंत्र वृत्ति के कारण अथवा अपनी उद्योगप्रियता के योग से ब्रिटिश सरकार अर्थात् एजंट गवर्नर जनरल की दृष्टि में बहुत ही अप्रिय हो रहे थे। इसी प्रकार इलियट साहब पर भी व्यक्तिशः रेसिडेंसी का कुछ क्रोध था। क्योंकि वे महाराजा के ट्यूटर रह चुके थे, अतएव उन्हें महाराजा सयाजीराव के विषय में अभिमान था। इसी प्रकार जाति से खुद अंग्रेज होते हुए भी वे महाराजाकी स्वतंत्र एवं स्वाभिमानी वृत्ति का अभिनन्दन करते थे, रेसिडेंसी की अब २ महा-

राजा को सताने की इच्छा होती, तब २ इलियट साहब ही महाराजा को निजी तौर पर सलाह दिया करते थे। और प्रकट रूप में उनकी तरफदारी करते हुए भी वे आगा पीछा न देखते थे। इसमें बापट साहब की अप्रियता ने और भी वृद्धि करदी। क्योंकि बापट एक चतुर एवं तीव्रबुद्धि अथच ईमानदारी के साथ काम करनेवाले ऑफिसर थे, अतएव महाराजा और इलियट साहब की उनपर कृपा दृष्टि रहती थी। किन्तु अन्य कई कारणों से लोगों के ही साथ २ रेसिडेन्सी की भी बापट पर नाराज़गी थी। इतने पर भी महाराजा, इलियट और बापट तीनों के बडौदा में मौजूद रहनेसे जबतक एक को दूसरे का ज़ोर रहा, तब तक कोई भी उनका बाल बांका न कर सका। किन्तु सन १८९४ के लगभग ऐसा कुछ योगायोग आ उपस्थित हुआ कि, महाराजा और इलिएट दोनों ही विलायत चले गये, और बापट अकेले ही बड़ौदे में रह गये। फलतः रेसिडेन्सी एवं माफीदार और बापट साहब के निजी शत्रु इन सबने एकमत होकर इन पर आक्रमण कर दिया, और उसमें उन्हे सफलता प्राप्त होकर इस प्रकरण का अंत बापट कमिशन के रूप में हुआ।

इनामी जमीन की जांच करने एवं उसकी सनदें तथा उनपर मुनासिब लगाने या टॅक्स कायम करने की शुरूआत बड़ौदा राज्य में–बम्बई सरकार की कारंवाई देखकर–लगभग साठ सत्तर वर्ष पूर्व से हो चुकी थी। किन्तु सारी जमीन की नपती और सेटलमेन्ट की कारंवाई महाराज सयाजीराव के जमाने में किसी ने नहीं की। कारण इसका केवल यही था कि खण्डेराव मल्हारराव आदि राज्याधिपति शासन की ओर नियमपूर्वक ध्यान नहीं देते थे। राजा सर टी. माधवराव जैसे सुशिक्षित व्यक्ति को भी इस कार्य की ओर ध्यान देनेका अवसर न मिला। सन १८८९ में नये इनामी (माफी) विभाग का काम शुरू हो जानेसे माफ़ीदार लोग अनायास ही जाग कर उठ खड़े हुए। यहांतक की खुद इलिएट साहब के ही पास उन्हीं के कार्य–विरुद्ध सन १८८९ से १८९२ तक में लगभग ९००० अर्जियां पहुँची और उनकी व्यवस्था भी कर दी गई। इसी अवसर में महाराजा साहब और उनके दीवान के पास भी इस प्रकार की अर्जियां पहुँचती थी, किन्तु उनकी संख्या इन चार वर्षों में मिलाकर डेढ या पौने दो सौ से ऊपर न जा सकी थी। इतने पर भी बड़ौदा के तत्कालीन रेसिडेंट कर्नल बिडलफ ने अव्यापारेषु व्यापार करके अर्जियां पेश करनेवाले को झगड़नेके लिए उत्तेजित किया। असल में ब्रिटिश सरकार को दरबार की अंतर्व्यवस्था में हस्तक्षेप करनेका कोई अधिकार न था, किन्तु देशी राज्यों की गर्दन से रेसिडेंटरूपी तांत हमेशा ही लिपटी हुई रहती है। और इसका भी

कोई निश्चय नहीं कि यह कब उनका गला घोट दे। 'ब्रिटिश सरकार की देख-रेख' का शब्दार्थ अंग्रेज सरकार की सुविधा के अनुसार चाहे जितना संकुचित या विस्तृत हो सकता है। क्योंकि इससे पहले जब कोल्हापुर दरबार में वृत्तियां और माफी जमीन सरकार की ओरसे जप्त की जा रही थी, तब ब्रिटिश सरकार की ओरसे किसी प्रकार का कमिशन नियुक्त किया जाने का उल्लेख कहीं नहीं पाया जाता। किंतु सयाजीराव महाराज, इलियट साहब और रावसाहब बापट इन त्रिमूर्तियों के ऊपर कमिशन नियुक्त करनेका मौका आदी गया। महाराज केवल राज्य के शासक होनेसे बच गये। इलियट साहब को थोड़ीसी आँच लगी, किन्तु वे भी बचा गये। गोरे सिविलियनों का प्रत्यक्ष में कोई करही क्या सकता है।

अब रह गये बिचारे बापट, सो 'अजापुत्रं बलिं दद्यात्' के न्यायानुसार इन्हें पशुपशु बनाया गया। सन १८९२-१८९३ में सब मिलाकर दो-तीन ओरसे सेटलमेंट विभाग पर आक्रमण हुए। पहिली बार में ही रेसिडेंसी पक्ष का फैसला होगया। और फिर्यादी को अपने शब्द वापस लेने पड़े। ये फिर्यादी' महाशय तत्कालीन गुजराती दीवान मणिभाई जसभाई थे। दूसरा धावा सन १८९३ में महाराज के विलायत जानेका मौका साधकर किया गया। उस समय यह झगड़ा पेश किया कि, इनामी-विभाग के बापट आदि अधिकारी एकदम स्वतंत्र और असावधान होकर सब काम करते हैं। इस पर जब इलियट साहब ने प्रमाण देकर सिद्ध करने पर जोर दिया, तब यह मामला ढीला पड़ गया। पुन: दीवान साहब को अपने शब्द वापस लेने पड़े। यही नहीं वरन् महाराजा ने इस विभाग के अधिकारियों से इनाम और आदर भी दिये (६ अप्रेल सन १८९३), साथ ही बापट के कामों से संतुष्ट होकर तो महाराज ने उन्हें पेन्शन पानेके बाद स्वतंत्र असामी बनाने का भी आश्वासन दे डाला। तीसरी बार का धावा सर्वे विभाग पर अर्थात् खास बापट साहब पर ही किया गया। इस समय इलियट साहब छुट्टी लेकर विलायत चले गये थे। और उनके स्थान पर जो मेकेनकी नामक व्यक्ति काम करने आये वे एक मनमौजी और काले दिल के आदमी थे। इस लिये बिडलफ साहब की सोलहों आने बन आई। इसके बाद सन १८९३ के नवम्बर में जब इलियट साहब विलायत से लौटे, तब फिर उन्होंने बापट पर किये गये आरोप का निराकरण किया, किन्तु सन १८९४ के अप्रैल में वे फिर विलायत चले गये और जब महाराजाने भी उधरईको प्रस्थान कर दिया, तो इस मौके को साधकर फिर दीवान मणिभाई, रेसिडेंट बिडलफ और सेटलमेंट कमिश्नर मेकेनकी इन तीनोंने गुप्तमंत्रणा करके बापट के विरुद्ध अर्जियां लेना शुरू कर दिया, और इस तरह उनपर अभियोग चलानेका जाल रचा।

इस कार्य में दीवान और रेसिडेंट प्रधान कार्यकर्ता बने और मेकॅनकी उनके सहायक हुये। मेकॅनकी साहब के स्वभाव से खालसे की जनता अपरिचित नहीं। क्योंकी अपनी कलेक्टरी के जमाने में इन्होंने सोलापुर, रत्नागिरी, अहमदनगर और नाशिक आदि शहरों की जनता को जिन २ गुणों का परिचय कराया, उन्हें जनता अभीतक भूलीं नहीं है। इनके समान मनमौजी और काले दिल का सिविलियन आजतक कोई आया भी न होगा। ये महाशय कर्नेल बिढलफ के षड्यंत्र में न केवल शामिल ही थे, बल्कि अपने सेटलमेंट कमिश्नर रहने की दशा में सर्वे विभाग पर बापट की स्वतंत्र नियुक्ति हो जानेसे उन्हें बेतरह खटक रहाथा ; इस लिए बापट पर रिश्वत लेनेका आरोप लगाकर उसकी जांच करनेका निश्चय किया जाते ही मेकॅनकी को स्पेशल मजिस्ट्रेट का अधिकार दरबार कौंसिल की ओरसे दे दिया गया। फलतः बापट के विरुद्ध प्रमाण संग्रह करनेके लिए मेकॅनकी साहब ने जून-जुलाई और अगस्ट इन तीन महिनों में बड़ौदा के मजिस्ट्रेट की हैसियत से दुर्दभार मचा दी। उन्होंने कई एक गवाहों को अनुचित माफी देनेके साथ ही दरबार से इनाम दिलवाने का आश्वासन भी दिलवाया। कई सरकारी नौकरों को सस्पेंड कर दिया, और कई एक को बरखास्त करनेकी धमकी भी दी। कितने ही गवाहों को पुलिस की हिरासत में रखवा दिया और वहां उनके साथ सख़्ती की गई। व्यापारियों की वहियां जप्त कर ली गई। माफ़ीदारों को तरह २ के लालच दिये जाकर झूठा सुबूत देनेके लिए खड़ा किया गया, और कई-एक आरोपियों को एक तरफ से क्षमा कर दिया गया। मतलब यह कि बापट के विरुद्ध प्रमाण संग्रह करनेमें भले या बुरे किसी भी प्रकार के प्रयत्न करनेमें कसर न रखी गई।

ये सब कारवाइयां होती रहनेपर भी बापट अपनी जगह पर मौजूद थे। और अपने विषय में नित्य नई बातें भी उनके सुनने में आ रही थीं, किन्तु फिर भी प्रकट रूपमें कोई आज्ञा नहीं दे रक्खी थी, क्योंकि महाराजा और इलियट साहब दोनों ही विलायत में थे, और इधर दीवान साहब विरुद्ध हो रहे थे, साथ ही चारों ओर से शत्रुओं ने सिर उठा रक्खा था और भले २ मित्र कहानेवाले लोग भी भयभीत होकर बापट के हिताहित की पर्वाह न करते हुए दरबार की रोषाग्नि से अपने घर को बचाना चाहते थे। अतएव वे उनसे अलग रहने लगे। ऐसी दशा में यदि रावसाहब बापट घबरा भी जायँ तो इसमें क्या आश्चर्य ? किंतु इस विपन्नावस्था में उन्हें अपने मित्र तिलक का स्मरण होना स्वाभाविक ही था। फलतः तिलक ने भी अपने प्रेमभाव का स्मरण करके उन्हें हरएक प्रकार से सहायता देने का अभिवचन दिया। ता. १५

जून के लगभग तिलक ने अपने मित्र वासुदेवराव जोशी को बड़ौदा भेजा। यहां आकर जब उन्होंने बापट का बड़ौदा में रहना घातक समझा, तब हरएक प्रकार के वचन द्वारा उन्होंने उन्हें अन्यत्र चल देने को बाध्य किया। फलतः ता. १८ जून को बम्बई जानेवाली गुजरात मेल के टाइमपर बापट और जोशी दोनों ही स्टेशन पर आ पहुँचे। साथ में सामान केवल जोशीजी का ही था, और बापट मानों उन्हें पहुँचाने के लिए आये से जान पड़ते थे। बापट के पीछे लगी हुई खुफिया पुलिस कुछ अंतर पर खड़ी होकर इनकी देखरेख कर रही थी। इतने ही में गाड़ी ने सीटी दी, और गाड़ी के चलते ही बापट साहब भी फूट बोर्डपर पैर रख कर जोशीजी की गाड़ी में जा बैठे! जोशीजी ने सेकण्ड क्लास के दो टिकिट पहिले ही से खरीद लिये थे। अंततः बापट के गाड़ी में बैठते ही खुफिया पुलिस भाग-दौड़ शुरू की, किन्तु तब तक गाड़ी स्टेशन से बहुत दूर निकल गई थी। फिर भी उसने सूरत और नवसारी तक तार पर तार रवाना किये, किन्तु रेलवे की हद में फौजदारी कानून के समस्त अधिकार अंग्रेज-सरकार के हाथ में रहने से एवं उस विभाग के मजिस्ट्रेट का वारंट न होने से बापट की रोक-थाम कोई भी न कर सका। इस तरह जोशीजी के साथ बापट के पूना के आजाने पर लगभग डेढ़ महिने तक वे फरार समझे गये। इधर पूना-पुलिस की सहायता से बड़ौदा की पुलिस ने खूब सिरपच्ची की, परंतु जोशीजी ने बापट का पता तक न लगने दिया।

किन्तु केवल बड़ौदा छोड़कर चले आने से ही बापट बच नहीं सकते थे बल्कि उनके फरार हो जानेसे लोगों का संदेह और भी बढ़ गया। इधर शत्रु ो उनपर आरोप करनेके लिए भी खासा मौका मिल गया। ता. २०-१-१८१ । बापट के लिए सरेंडर करनेका हुक्म जारी किया गया इधर बड़ौदा छोड़ने क महीने भर बाद बम्बई हाईकोर्ट के सालिसीटर पेन गिल्बर्ट ने बापट की ओरसे दरबार के सामने हाजिर होनेकी आज्ञा मांगी। किन्तु दीवान साहब की ओरसे कुछ दिनों बाद उन्हें यह सूचित किया गया कि, बापट के मामले में उनकी ओरसे पैरवी के लिए वकील खड़ा किये जानेकी अभी आवश्यकता नहीं जान पड़ती है। इधर एक दिन पहले मि. गिल्बर्ट ने रेसिडेंट कर्नल बिडलफ से मिलकर यह बात कही थी कि, आप की ओरसे इस बात का अभिवचन मिल जाने पर कि खुद बापट के बड़ौदा आकर हाजिर हो जाने पर उन्हें गिरफ्तार नहीं किया जायगा, अथवा यदि वारंट की तामील हो जाय तो भी उन्हें जमानत पर छोड़ दिया जायगा—मैं उन्हें वापस बड़ौदा लाकर हाजिर कर सकता हूं। क्योंकि अपने पर किये गये आक्षेपों का उत्तर देकर उन्हें निराधार सिद्ध

करना चाहते हैं। किन्तु रेसिडेन्ट उस समय क्रोध के मारे बेक़ाबू हो रहे थे, अत एव उन्होंने उसी दिशा में उत्तर दिया कि "सजा के डरसे भाग जानेवाले अपराधी के साथ मैं सन्धी करना नहीं चाहता" इस पर सालिसीटर ने कहा कि, "बापट बीमार थे अत एव वे यहांसे चले गये"। किन्तु बापट के बडौदा से चले जाने का कारण तो सभी लोंगो को ज्ञात था, ऐसी दशा में भला रेसिडेन्ट को क्यों कर इस कारण पर विश्वास होता? अंततः सालिसीटर ने तिलक को इस भेट का आशय निम्न लिखीत शब्दों में सूचित किया कि "कर्नल साहब बापट के विरुद्ध कहांतक क्रुद्ध और द्वेषबुद्धि के कारण बेचैन हो रहे हैं और किस झिझक के साथ उन्होने इस विषय में मुझसे बातचीत की, उसे मैं वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि कितनी ही बार मुझे इच्छा हुई कि साहब बहादुर की बातोंका मुँह तोड़ उत्तर देकर उन्हें चुप करदूं। किन्तु मैं ठहरा अपराधी का वकील! हर हालत में मुझे चुप ही रहना चाहिये था।"

अंत में ता. १२ अगस्ट सन १८९४ के दिन बापट कामिशन की नियुक्ती हो ही गई। ऐसी दशा में जब कि कमिशन बैठाया जाकर उसके द्वारा जांच होनेका निश्चय हो चुका था–बापट के लिए बड़ौदा से बाहर रहने ठीक न था। अतएव वे स्वेच्छापूर्वक ही बड़ौदा जाकर कमिशन के सामने जा खड़े हुए। फरियादी की ओर से पैरवी करने के लिए प्रथमतः बेरिष्टर फिरोजशाह मेहता और इसके बाद मि० ब्रेसन खड़े हुए थे। और बम्बई के ख्यातनामा भाईशंकर उन्हें सहायता देते थे। क्योंकि एक तो वैसे ही भाईशंकर की होशियारी सर्व प्रसिद्ध थी, दूसरे मामला रिशवत से संबंध रखता था, और उस में गुजराती लिपी में लिखी हुई हिसाब-किताब की बहियों का दिनरात उपयोग होनेको था। इस काम में भाईशंकर का दम बड़ी खूबी के साथ काम करता था। इसी प्रकार बड़ौदा के सरकारी वकील भी हर-एक प्रकार की सहायता पहुँचा रहे थे। अलावा इनके माफ़ी-विभाग के कीड़े असंतुष्ट माफीदार, द्रव्य-लोभी, चुगलखोर, घरभेदू और कृतघ्न लोगों से जो सहायता मिल रही थी, वह अलग ही थी। इनके साथ सबसे बढ़ियां सहायता इस बात की मिल रही थी कि महाराजा और इलियट साहब के वहां मौजूद न रहनेसे मैदान एकदम साफ़ था। दीवान मणिभाई एक प्रकार से फरियादी बन रहे थे, और इसी के साथ २ इन्हे यह अधिकार भी प्राप्त था कि दरबार के कौन २ से कागज़ कमिशन के सामने पेश किये जायँ और कौनसे नहीं, इसी प्रकार किन कागजों का गुम होना बतलाया जाँय, और किन २ को गुप्त होने से प्रकट न किया जाय; फलतः दीवान साहब ने अपने इस अधिकार का यथेच्छ उपयोग कर दिखाया। यह

कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि फरियादी को आर्थिक दृष्टि से किसी बात की कमी न थी।

किन्तु बापट की स्थिति एकदम इसके विरुद्ध थी। क्योंकि सरकार ने अन्त तक वेतन रुककर उनके पास जरा भी नहीं था। इसी लिए अपनी पैरवी के वकील भी खड़ा नहीं कर सके। प्रारंभ में कुछ दिनोंतक बम्बई हाई कोर्ट के वकील महादेव चिमणाजी आपटे और दाजी आबाजी खरे ने महा-राव साहब बापट की ओरसे पैरवी करते रहे। इधर खास बड़ोदा के वकील रामचन्द्र सोमनाथ भी उनकी ओरसे खड़े हो गये। किन्तु असल में यदि देखा जाय तो वकीलों का सारा काम और उनके कलम की खामी से अधिक लिखाई इत्यादि पूर्व कथनानुसार तिलक को ही करनी पड़ी! किंबहुना सभी बातों की तैयारी उन्हीं को कर देनी पड़ी। किन्तु इस सिद्धांत के अनुसार कि घर के बदलते ही वहां का नाम भी बदल जाता है, इन सत्ताधारी बापट के बड़ौदे में इतने मित्र रहने पर भी इस मामले में ऑफिस खोलकर बैठने के लिए तिलक को कोई एक कोठरी तक देने के लिए तैयार न हुआ। स्टेशन के निकट सेठ की धर्मशाला में ही तिलक, बापट और जोशी को अड्डा जमा कर अपनी कचहरी कायम करनी पड़ी। कमिशन का कार्य लगभग चार महिने चला। इस अवसर में केसरी और मराठा तथा लॉ-क्लास के लिए अस्थायी व्यवस्था होजाने से तिलक का कार्य यथातथा चल ही रहा था। कहा है कि अपनी बाड़ के आंगन में अपने चौखटे पर नाहर बन सकता है। फलतः अपने पत्रों के विषय में तिलक इस कहावत को सोलहों आने चरितार्थ कर दिखाते थे। किंतु फिर भी इस बार बापट के कार्य में उनका चित्त यहांतक संलग्न हो गया था कि, अपने पत्रों के लिए लेखादि लिखने को भी उन्हें अवकाश न मिलता था। क्योंकि सुबह का पूरा वक्त दो पहर की कारगुजारी के लिए सोच-विचार में निकल जाता था, दुपहर अदालत में बीतती थी और रातका वक्त दिनभर की कार्यवाही के नोट तैयार करने और चर्चा करनेमें बीत जाता था।

इतने पर भी समय निकालकर तिलक केसरी और मराठा के लिए कुछ-न कुछ लिख ही भेजते थे। कमिशन के सामने पेश किये हुए सुबूत का खास हिस्सा फरियादी की ओर से गवाहों का था। और अधिकांश गवाहों के सुबूत में हिसाब-किताब की बहियों का सम्बन्ध आता था। ये बहियां अदालत में ही जांची जाती थीं। और क्योंकि ये गुजराती में लिखी हुई थीं, किन्तु तिलक इतनी गुजराती नहीं जानते थे कि उन बहियों को पढ़ सके, इस लिए इस काम में उन्हें बापट से सहायता लेनी पड़ती थी।

0

किन्तु फिर भी जिरह के वक्त प्रश्न सुझाने का काम तिलक ही करते थे। और जब इनके जैसा सहायक साथमें हो तो किस वकील को गरज पड़ी है कि वह अपने दिमाग को व्यर्थ के लिए कष्ट दे! मतलब यह कि तिलक और बापट ने मिलकर हिसाब-किताब की जांच और जिरह इस खूबी के साथ की कि कई गवाह एकदम झूठे सिद्ध हो गये, यही नहीं वरन गीरधरलाल नानाभाई जैसे खास गवाह की बहियां भी गलत ठहरीं और प्रमाणपूर्वक यह अपराध फरियादी पर साबित कर दिया गया कि ये बहियां फरियादी के हाथ में आनेके बाद भी इस में काट छाँट और घटा-बढी की गई है। इधर कमिशन का काम होता रहनेकी ही दशा में बे० फीरोज़शाहा मेहता ने भी इस मामले से हाथ खींच लिया। कारण इसका यह बतलाया जाता है कि उन्हें प्रमाण की सामग्री के बनावटी होनेका पता काम शुरू हो जाने पर लगा। कोई २ बेरिष्टर मेहता और भाईशंकर सालिसीटर के बीच मनमुटाव होजाने को भी इसका कारण मानते हैं। बापट की ओरसे लेखी जवाब दावा तयार करनेमें अधिकांश हाथ तिलक का ही रहा। अदालत से लौटने पर रात को घर बैठकर अगले दिन के लिए जवाबदावा लिखने और दूसरे दिन अदालत में जाकर उसे सुनानेका काम ता. १० दिसंबर से २४ दिसम्बर तक होता रहा। यह लेखी-बयान इतना बड़ा हो गया था जो कि छपे हुए फुलसकेप आकार के दो सौ पृष्ठों में समाप्त होता। अलावा इसके अपराधी की ओर के गवाहों की जांच की उस प्रमाणों के सारांश रूप में जो कैफियत की गई वह तथा कमिशन की ओरसे किये गये फैसले पर से हुजूर ख़िदमत में जो लेखी कैफियत पेश की गई दोनों मिलाकर लगभग पचास पृष्ठ और हुए होगें! अस्तु। इस बार की दशम राष्ट्रीय महासभा में सम्मिलित होनेके लिए तिलक मद्रास न जा सके। आरोपी की ओरसे अंतिम लेखबद्ध उत्तर ता. १५ जनवरी सन १८६५ के दिन पेश हुआ, किन्तु फिरभी तिलक का छुटकारा शीघ्र ही न हो सका। क्योंकि बड़ौदा छोड़ कर पूना आने पर भी उनके पीछे बापट कमिशन का अड़ंगा लगा ही हुआ था। अंत में जाकर ता. १ मार्च सन १८६५ से फिर वे लॉ-क्लास खोलकर अपने नित्य-व्यवसाय का शांतिपूर्वक आरंभ कर सके।

बापट के फैसले के लिए नियुक्त किया हुआ कमिशन सन १८५० के सैंतिस वे एक्ट के अनुसार था। और असल में उसे डिपार्टमेंटल स्वरूप ही दिया गया था, अर्थात् वह न्याय या इन्साफ देनेमें असमर्थ था। बापट पर लगाये गये रिश्वतखोरी के आरोप दरबारी मामले से सम्बन्ध रखते थे। और यह मामला फौजदारी नहीं माना जा सकता था। किन्तु फिर भी

कमिशन ने अपने को न्यायाधिकारी समझ कर ही सब काम किया था। आरंभ में बापट पर ३६ आरोप लगाये गये थे, किंतु अंत में जाकर उनमें से केवल १२ ही शेष रखे जाकर उन्हींपर फैसला दिया गया। इनमें से ग्यारह बातों में बापट अपराधी सिद्ध किये जाकर ६ मास की क़ैद और दस हजार रुपये जुर्माने की सजा के भागी हुए। यह कार्य कमिशन ने अपने अधिकार से बाहर का किया, यही नहीं बल्कि उनके रंगढंग और दिये हुए फैसले पर से क़ायदा कानून के ज्ञान अथवा न्याय-परीक्षा की यथार्थ पद्धति से भी उनके अपरिचित होनेकी बात सर्वसाधारण में प्रकट होगई। किन्तु सौभाग्यवश कमिशन के हाथ में रिपोर्ट करनेके सिवाय और कुछ भी अधिकार नहीं था। क्योंकि अखीर हुक्म देना केवल महाराजा के ही हाथ में था। इसी लिए बापट को न्याय-प्राप्त हो सकनेकी आशा थी, और यह किसी अंश में सफल भी हुई। ता. १९ जनवरी सन १८९५ में महाराजा साहब विलायत से लौटे और कुछ ही दिनों बाद उन्होंने कमिशन का मामला हाथ में लिया। मामले में पेश किये हुए सभी कागज़पत्र, एवं बापट की ओरसे पेश किये जाने पर भी दीवान ने जिन को गुप्त पत्र बतलाकर छुपा रक्खा था वह सब सामग्री महाराजा ने रा. ब. पंडित एवं दलाल इन दो कानूनदाँ के पास सम्मति के लिए भेज दी। इन दोनों महाशयों की सम्मति यह रही कि कुछ बातों को छोड़कर शेष सब विषय में बापट निर्दोष हैं। किन्तु नामको भी किसी प्रकार की शंका न रहने देनेके विचार से पुनः बड़ौदा हाईकोर्ट के एक पारसी जज और खुद दीवान साहब की सम्मति लेकर इन चारों की सम्मति से आधे से अधिक विषयों में और तीनों की सम्मति से शेष सब मामलों में निर्दोष सिद्ध होनेसे महाराजा ने भी बापट को निरपराध सिद्ध किया। किन्तु इतने पर भी उन्हें वापस नौकरी पर नहीं रखा। इसका आशय केवल यही है कि बापट पर लगाये गये मुख्य आरोप के विषय में जो भी महाराजा को किसी प्रकार की शंका न थी, किन्तु फिर भी जमीन पर गिरा हुआ गोबर थोड़ी बहुत धूल लेकर ही उठता है, इस लोकोक्ति के अनुसार कुछ विषयों में महाराजा शंकाशील बने ही रहे। इसी प्रकार ब्रिटिश सरकार के कोप का जो भूत खड़ा हुआ था, उसे बिना थोड़ा-बहुत बलि लिये बिना संतुष्ट होता न देख महाराजा ने बापट को नौकरी से अलग कर अपने शत्रु से समझौता कर लिया। किन्तु फिर भी महाराजा की ओरसे बापट के लिए १२५) रुपये की पेंशन कर दी गई। बापट के अंत समय तक महाराजा का उनपर प्रेमभाव बना रहा। सन १९१५ में बापट तथा उनके बड़े पुत्र एवं पुत्र वधु के एकदम स्वर्गवासी हो जाने से छोटे पुत्र को निराश्रित समझ

प्रतिमास तीस रुपये की छात्रवृत्ति चार वर्ष के लिए देनेका प्रबंध कर दिया, जिसमें कि उसकी पढ़ाई होती रहे। कमिशन के निर्णय के पश्चात् बापट स्थायी रूप से पूने में आ बसे, और अंतसमय तक ये तिलक के ही सान्निध्य में रहे। यद्यपि बापट और तिलक के स्वभाव में जमीन–आस्मान का अन्तर रहनेपर भी दाजी साहब खरे की तरह इनका प्रेम अखंड बना रहा। बापट की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र की सब प्रकार की व्यवस्था करवा देकर महाराजा की ओरसे उसके लिए प्रयत्न करते हुए तिलक ने वही प्रेम अंत समय तक कायम रक्खा।

महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ से तिलक का परिचय बापट कमिशन से भी पहिले का था, किन्तु इस बार वह और भी घनिष्ठ हो गया। क्योंकि कमिशन का काम करते हुए प्रकट रूपमें भले ही यह जान पड़ता हो कि वे अपने मित्र के बचाव के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु अंतरंग में तिलक की इस भावना का अनुभव कि मैं महाराजा को भी इस तरह सहायता पहुँचा रहा हूं–खुद महाराजा को भी हुए बिना न रहा होगा। फलतः अन्य कारणों से तिलक के विषय में महाराजा के चित्त में जो आदरबुद्धि थी, वह इस प्रकार और भी बढ़ गई। किन्तु तिलक की यह सेवा एकदम ही निस्वार्थ थी। कई लोगों की धारणा है कि महाराजा गायकवाड़ ने अपना नारायण पेठ (पूना) वाला भवन तिलक को उनकी पिछली सेवाओं के पुरस्कार में देदिया है। किन्तु उनकी यह धारणा एकदम निर्मूल है। क्योंकि यदि तिलक इस भवन को न खरीदते तो दूसरे कई व्यक्ति इसे लेनेको तैयार थे, यही नहीं बल्कि उन्होंने महाराजा से इसके लिए बातचीत भी की थी। कारण इसका यह था कि महाराजा गायकवाड़ पूने से अपना 'एस्टाब्लिशमेंट' उठा देना चाहते थे। इसी दृष्टी से उन्होंने सरकार इंजिनीयर से इस भवन की क़ीमत भी करवाई थी, उसने सत्रह हजार रुपये क़ीमत का अनुमान बताया था, किंतु तिलक की ओरसे इस बात पर ज़ोर दिया जानेके कारण कि मेरे लिए आप कुछ कम कर दीजिये, महाराजा ने यह बाड़ा पंद्रह हजार चार सौ रुपये में देना स्वीकार कर लिया। इसी लिए जब लोग कहने लगते हैं कि तिलक को यह बाड़ा मुफ्त में मिला है, तब इन पंक्तियोंके लेखक को हँसी आने बिना नहीं रहती। क्योंकि उस पंद्रह हजार चार सौ का चेक पटाकर रसीद लानेका काम उस समय इस लेखक को ही करना पड़ा और बड़ौदा जाकर उसने यह सब व्यवहार अपने हाथों से ही किया है।

बापट कमिशन में तिलक ने किन २ नये मुद्दों को पेश किया और किस में किस तरह कामयाबी हुई, इसका वर्णन इस लेखक की कई पोथियों में पुस्तका

मौका मिला है। किंतु अन्य सब बातों की अपेक्षा यह कर देना पर्याप्त होगा कि बारह वर्ष पूर्व जिन फीरोजशाह मेहता ने इसी प्रकार के एक रियासत संबंधी मामले में तिलक के वकील बनकर काम करना पड़ा था, उन्हीं को इस मामले में तिलक प्रतिपक्षी की ओरसे काम करते हुए यह देखनेका भी अवसर मिलगया कि वे किस खूबी के साथ वकालत कर सकते हैं। इस तरह तिलक के विषय में उनका आदरभाव और भी बढ़गया।

अंत में हम बापट और इलियट साहब के विषय में दोचार पंक्तियाँ लिख कर इस प्रकरण को समाप्त करदेना चाहते हैं। कई लोगों की धारणा यह हो सकती है कि इलियट साहब को बापट की चतुराई गले ही पड़ गई हो किन्तु उनकी विश्वसनीयता उन्हें स्वीकार न थी। क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे खास तौरपर विलायत से आकर बापट की ओरसे कमिशन के सामने गवाही देते। किन्तु इस शंका का संतोषकारक उत्तर भी हमारे पास मौजूद है और वह खुद इलिएट साहब के पत्रों परसे ही दिया जा सकता है। उनके कहनेका आशय यह जान पड़ता है कि "जब बापट के ही हुक्म से फैसला खुदा मारी की जांच का सम्बन्ध इस रिश्वत के मामले से जोड़ा गया, और इन सभी मामलों मे वादी किसीभी प्रमाण द्वारा उन्हें रिश्वतखोर सिद्ध न कर सके। ऐसी दशा में मेरा न आना ही अच्छा हुआ, अन्यथा इसका निर्णय किसी और ही रूप में होता और बिचारे बापट पर द्वेषाग्नि की वर्षा और भी अधिक प्रमाण में होने लगती। अपने ता. ६ दिसम्बर सन १८८९ के पत्र में वे लिखते हैं कि— "Do you see why I kept away? I should have been swept off my legs and the attack on you would have been far fiercer than it has and you would have been left without any assistance at the end. I write freely because I am writing privately and above all because I still believe that these charges do not shake my confidence in you."

बापट कमिशन और तिलक के विषय में कई आख्यायिकाएँ हमारे सुनने में आई हैं। उनमें से दो-तीन यहां देकर यह प्रकरण समाप्त कर दिया जायगा। पहली आख्यायिका इस प्रकार है:—जबतक तिलक बड़ौदा में रहे तबतक खुफ़िया पुलीस का पहरा सदैव उनके पीछे लगा रहता था। और यह केवल इस अपराध पर कि तिलक बापट के परम मित्र थे। किन्तु ये मित्र भी सैर खुशी में नहीं आये थे, बल्कि बापट के विरोधी दीवान से टक्कर लेने को बड़ौदा में उन्होंने आसन जमाया था। एक दिन कार्यवश तिलक को बड़ौदा शहर में किसी सज्जन

के घर जाना पड़ा। उनका निगहबान सिपाई बिचारा उस मकान के बाहर बैठ गया। बैठे २ उसे वहीं नींद भी आगई। तिलक ने बाहर जब आकर देखा तो अपने 'बॉडी गार्ड' साहब को सोते हुए पाया। तब उन्होंने जानबूझकर उसे आवाज़ दी और जगाकर कहा कि "भय्या! उठो और चलदो, मैं यहां से जा रहा हूं। यदि तुम सोये रहे तो इस पेटपर छुरी फिर जायगी"। उसी दिन तिलक ने दीवान मणिभाई को एक जोरदार पत्र लिखकर प्रार्थना की कि 'यदि आप चाहे तो मैं प्रतिदिन अपनी डायरी भेज सकता हूं, किन्तु मेरे पीछे यह खुफ़ीया का पुंच्छल्ला क्यों लगाया जा रहा है? यद्यपि मुझे तो इससे कोई कष्ट नहीं होता, किन्तु मुझ से मिलनेवाले तो घवराते है! क्योंकि मैं आपके राज्य में किसी प्रकार का उपद्रव मचानेके लिए नहीं आया हूं बल्कि मेरा आशय केवल अपने मित्र को न्याय दिलानेमें मदत करनेसे है'। दिगम्बर गोपाल नामक एक व्यक्ति बड़ौदा में रहता था, जो कि बापट को रिश्वत दिलाने के लिए एजंट समझा जाकर हवालात में ठूस दिया गया, और उससे स्वीकृति का उत्तर भी लिखवा गया था। हवालात में रख दिये जाने पर बिचारा कर ही क्या सकता था? किंतु उसे भी विश्वास होगया था कि चोर सें सिरजोर बन जाने पर ही काम चल सकता है। अतएव उसने दिये हुए वचन के अनुसार सब बातें लिख दीं। किंतु अन्त में हस्ताक्षर करते हुए सफ़ाई के साथ लपेटेदार अक्षरों मे "मैं नाकबूल" लिख मारा इस पर जब पुलिस ने पूछा कि यह लपेटदार अक्षरों में क्या लिखा है तो आपने उत्तर दिया कि यह मेरी आन्ल "मेणवलीकर" लिखी गई है। बेचारे पुलिसऽवालों ने उसकी बातपर विश्वास कर लिया। और आश्चर्य की बात तो इसमें यह है कि उन्हों ने इस उत्तर की सत्यासत्यता के लिए कुछ भी पूछ-ताछ नहीं की; यहां तक कि उन्हों ने उन अक्षरों को पढ़कर भी नहीं देखा। दिये के नीचे अंधेरा इसी का नाम है! हां, तो इस तरह पुलिस की मनचाही बात लिख देने पर दिगम्बर पन्त छूट गये। फलतः उन्हें यथासमय कमिशन के सामने भी गवाही के लिए खड़ा होना पड़ा। किन्तु इस बार आरंभ से ही उन्होंने इनूकार करना शुरू कर दिया। अंततः उन्हें झूंठा सिद्ध करनेके लिए वह लेखी जबाब पेश किया गया। जब वह काग़ज पढ़कर समाप्त कर दिया गया, तब दिगम्बरपन्त ने कहा "जरा आगे पढ़िये!" फरियादी के वकील ने कहा कि, आगे तो सिर्फ तुम्हारे दस्तख़त ही हैं। इस पर फिर दिगम्बरपन्त ने कहा कि "जनाब, उसी में हो मेरी नाकबूली है"। फलतः जब दस्तख़त के आगे का मज़मून पढ़ा गया, तो वहां स्पष्ट शब्दों में लिखा हुआ था कि "मैं नाकबूल!"। इन अक्षरों को पढ़ते

ही अदालत में कैसा कड़कड़ा लगा होगा, इसकी कल्पना पाठक स्वयं ही कर सकते हैं!

बापट के विरुद्ध गवाहों में प्रधान व्यक्ति गिरधरलाल मामाभाई थे। इनकी दूकान से बहुत वर्षों तक बापट का व्यवहार रहा। और अन्ततक बापट का लेन-देन एवं सब प्रकार कार्य इसी दूकान के द्वारा हुआ। ऐसी व्यक्ति बापट के विरुद्ध गवाही देनेके लिए क्यों न पसंद किया जाता? क्योंकि सच्चा सुबूत तो इसी की बहियों से मिल सकता था! इसी प्रकार मिथ्या प्रमाण को भी इसी की बहियों में आश्रय मिल सकता था। फलतः इसी नियम के अनुसार बनावटी खाता कायम किया जाकर पुराने खाते में भी कई तरह का रद्दो-बदल कर दिया गया। इस तरह सुबूत के लिए यह नकली खाता पास में रख लिया गया था। क्योंकि इस गवाह के जीत जाने पर ही मामले का फैसला निर्भर था, अतएव तिलक ने आँखों में तेल डाल २ कर हिसाब-किताब की जांच की, और इस जांच के आधार पर जब वकील की ओरसे जिरह शुरू हुई, तब तो गिरधरलाल की सूरत रोती सी होगई। क्योंकि अब गवाहियाँ ख़तम हो चुकी थी और संध्या भी होने आगई थी, अतएव तिलक ने इस बात पर ज़ोर दिया कि, आज ही सब काम ख़तम न कर दिया जाकर कुछ उलझन के प्रश्न कल पर छोड़ दिये जायँ, और बचा हुआ समय दूसरी बातों की जांच में लगा दिया जाय। किन्तु दाजीसाहब ने इस सलाह को न मानकर जल्दी २ में उसी दिन गवाही का काम ख़तम कर दिया। इस बात पर तिलक बेतरह क्रुद्ध हुए, और घर जाने पर दोनों मित्रों में इस ज़ोर का झगड़ा हुआ कि जैसा पहले कभी न हुआ होगा। कहा जाता है कि अंत में जाकर दाजी साहब को अपनी भूल स्वीकारनी पड़ी! सारांश; इस मामले में तिलक ने वकील की अपेक्षा कई गुनी अधिक निष्ठा के साथ सब काम किया, इसके बाद जब खुद उन्हीं पर मामला चला तब भी उनकी इस निष्ठा का विश्वास उनके वकीलों को हुए बिना न रहा। प्रतिदिन डिफेन्स के दसपांच नये कागज़ लिखकर अदालत में पढ़े जाते देख फरियादी के बैरिष्टर बेन्सन को बड़ा आश्चर्य प्रतीत हुआ। क्योंकि बैरिष्टर लोग इस तरह की मेहनत कभी नहीं करते है। और जब कभी ऐसा करना पड़ता है, तब वे अपना पेट भी अच्छीतरह भरे बिना नहीं रहते। सालीसीटर लोगोंने तवा तपाकर रोटी बनानेके बाद जहां उसे बेरिष्टर के हाथ पर रख दी कि फिर उसे उलटी या सीधी सेंक लेने पर से ही उनकी कुशलता देखी जा सकती है! बेन्सन ने एक दिन विनोदपूर्वक पूछा कि "प्रतिदिन इतना २ काव्य बनानेऽवाला यह स्फूर्तिसम्पन्न कवि कौन हो सकता है!" किन्तु उस

कवि का पता बतलाने के लिए किसी तीसरे व्यक्ति की आवश्यकता ही नहीं थी। क्योंकि एक ही टेबल के पास कई दिनों तक आमनेसामने बैठकर आरोपी के डिफेन्स के कल-पुर्जों को कौन चलाता था, यह उन्हें प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा था।

बापट पर दीवान मणीभाई के लगाये हुए अधिकांश आरोप अंत में येन केन प्रकरेण फैसल कर दिये गये। किन्तु फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके नाम पर कोई ना कोई-कदाचित् उनका कोई सम्बन्धी ही-रिश्वत खाता अवश्य था। किन्तु जिस मामले में रिश्वत खानेकी गड़बड़ मचाई जाती थी, उसी में प्रायः रिश्वत देनेवाले के विरुद्ध ही फैसला हुआ था! इसका प्रकट रूप में आशय यह है कि बापट को रिश्वत खानेवाले का पता तक न था। किन्तु जिन बिचारे के पैसे खर्च हुए, वे फैसले के लिहाज से भी नुक्सान में ही रहे। इस दुहरे अन्याय के कारण ही बापट की बेहद बदनामी होगई। क्योंकि एकबार जहां कोई व्यक्ति अप्रिय हुआ कि फिर उसका नाश किस प्रकार हो जायगा इसकी कल्पना भी साधारण लोगों से नहीं की जा सकती। और न वे चिकित्साबुद्धि से उसका विचार ही कर सकते हैं। इसी प्रकार जो भी कमिशन की ओरसे दी हुई सजा बापट के पक्ष में अन्याययुक्त थी, तथापि उनके जेल जाने पर जिन लोगों के प्रसन्नता हो सकती थी, उनकी संख्या उनके दुःख में दुःखी होनेवालों से कहीं अधिक हो सकती थी। किन्तु जिसका नमक खाया है, उस मालिक की नोकरी ईमानदारी के साथ करनेके विषय में बापट के लिए किसी को शंका न थी। और यह ईमान ही उनके लिए तिलक की सहायता से कहीं अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। क्योंकि तिलक तो येनकेन प्रकारेण बापट को दोषमुक्त ही कराना चाहते थे, अतएव बापट प्रकरण का अंतिम निर्णय प्रकट करते समय 'अंत भला सो भला' कहकर केसरी ने बापट के शत्रुओं पर विशेष रूपसे आक्रमण न करके मीठे शब्दों में ही इस प्रकरण को समाप्त कर दिया।

बापट का जवाब दावा तैयार करने में तिलक को क्राफर्ड कमिशन की रिपोर्ट से बड़ी सहायता मिली। क्योंकि दोनों ही मामले रिश्वतखोरी के थे। किन्तु तिलक का हित-संबन्ध इन दोनों में मनःपूर्वक भिन्नता लिये हुआ था। क्योंकि क्राफर्ड प्रकरण में तिलक का पक्ष क्राफर्ड साहब को रिश्वत देनेवाले और पदच्युत तहसीलदारों की ओर था, और ये भीमभाई एवं पेंडसे आदि सरकारी अधिकारियों अर्थात् फरियादी पक्ष को सहायता दे रहे थे, किन्तु इसके विरुद्ध बापट प्रकरण में वे आरोपी के सहायक बनकर फरियादी के वकील से

जुम रहे थे। क्राफर्ड साहब के रिश्वत खानेपर भी कमिशन ने उन्हें निर्दोष ही बतलाया, इधर तिलक भी बापट को निर्दोष सिद्ध कराना चाहते थे। इसी लिए क्राफर्ड के वकील ने जिस युक्तिवाद से काम लिया, और न्यायाध्यक्ष ने उसकी जिन २ बातों को स्वीकार किया था उन सबका तिलक ने यथाप्रसंग इस मामले में उपयोग कर दिखाया। इन सबके मूल में एक अपूर्व मर्म यह था कि जो युक्तिवाद (दलील) अंगरेज़ सरकार को क्राफर्ड प्रकरण में पट सका, वही इस बार बापट के मामले में क्यों न पटा, यह पूछने के लिए स्वतंत्रता प्राप्त थी। यद्यपि बापट के विषय में इस पिछले उदाहरण को माननेके लिए सरकार हृदयपूर्वक भलेही तैयार न हुई हो, किन्तु प्रकट रूप में वह इस उदाहरण को मिथ्या भी नहीं कह सकती थी। इसी लिए तेरी भी चुप तो मेरी भी चुप करके मामला खत्म होगया।

भाग—सत्रहवाँ.

फुटकर—आन्दोलन.

——:o:——

(सन १८९० से १८९५ तक)

इसमें कोई सन्देह नहीं कि डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी से इस्तीफा देकर अलग हो जानेके बाद अपने भावी कार्यक्रम का निर्णय करते हुए तिलक कुछ क्षण के लिए बेहद चकराये। क्योंकि जिस उद्देश्य से उन्होंने न्यू इँग्लिश स्कूल, फर्ग्यूसन कॉलेज एवं डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी की स्थापना की थी, वह इस त्यागपत्र के द्वारा खण्डित हो चुका था, अतएव यदि पुनः उसी उद्देश्य को सामने रखकर अपने जीवन का भावी कार्यक्रम निश्चित किया जाता तो फिरसे नया स्कूल या कालेज एवं नई सोसायटी की स्थापना अनिवार्य हो पड़ती। किन्तु जान पड़ता है कि आठ वर्ष के परिश्रम को इस प्रकार व्यर्थ जाना देखकर पुनः २ उसी कार्य को करनेसे तिलक का जी ऊब गया होगा। क्योंकि सोसायटी के झगड़े में कुछ भूलें तिलक के हाथों से हुई थीं और कुछ दूसरों के, किन्तु फिर भी उन्हें इस बात का अच्छीतरह अनुभव होगया था कि समान योग्यतावाले होनहार युवाओं के सम्मिलित उद्योग में स्वभावभेद के कारण विवाद उत्पन्न होना अनिवार्य है। इसीलिए कदाचित् उन्होंने यह निश्चय किया हो कि पुनः उसी प्रकार की रचना करनेमें कोई लाभ नहीं है। सिवाय इसके उन्होंने यह भी सोचकर इस कार्य से म्युँह मोड़ लिया हो कि नई शिक्षा-संस्था क़ायम करनेका आशय ही यह हो सकता है कि, पुरानी संस्था से टक्कर लेकर वह अपने साथ२ उसे भी निर्बल बनादे। परिणाम में दोनों ही नामशेष हो जायँ!

इधर यदि नया प्रेस खोलते हैं तो नया पत्र न निकालने की शर्त तिलक के मार्ग में अवरोधक बनती थी। किन्तु सोसायटी से अलग होते समय उनसे किसीने यह प्रतिज्ञा कभी नहीं कराई थी कि अब आप किसी नये स्कूल या कॉलेज की स्थापना न कर सकेंगे। अतएव इच्छा होनेपर वे सहजही में नये कॉलेज की स्थापना कर सकते थे; और यदि कहीं युनिवार्सिटी की ओरसे उसे अनुमती मिलजाती तो अवश्य ही वे कॉलेज फर्ग्यूसन कॉलेज के लिए असह्य हो जाता। क्योंकि प्रोफेसर के नाते तिलक ने बहुत कुछ ख्यातिलाभ कर लिया था, और त्यागपत्र देकर बाहर निकलते समय भी महाराष्ट्रीय लोकसमाज की सहानुभूति उनके साथ थी। सोसायटी के अविशिष्ट सदस्य प्रायः नवी सामाजिक मत के अनुयायी थे, साथ ही वे रावसाब और

रावबहादुरों की श्रेणि के एवं प्रतिदिन अधिकाधिक प्रमाण में सरकार की ओरसे सहायता पानेकी अपेक्षा करनेवाले भी थे। क्योंकि केसरी और मराठा पत्रश से यह विश्वास लोगों के चित्त में भलीभांति घर कर गया था। वस्तुतः विष्णु शास्त्री की ओरसे निजी स्कूल कायम करनेकी सूचना पाते ही जिस प्रकार तिलक-आगारकर आदि उनके साथ रहिये, उसी प्रकार यदि तिलक कोई नई संस्था कायम करते तो उन्हें भी इसतरह के तेज-तर्रार साथियों की कमी न पड़ती। क्योंकि पिछले आठ वर्षों में न्यू इंग्लिश स्कूल, और फर्ग्यूसन कॉलेज से शिक्षा पाकर पदवीधर बननेवाले प्रायः सभी विद्यार्थियों की तिलक के साथ सहानुभूति थी। आगे चलकर सन १६१८ में जब पूने में महाराष्ट्र कॉलेज की स्थापना हुई, तब केवल यह प्रकट किया जाते ही कि-इस में तिलक की भी सम्मति है-उसके लिए यदि सुयोग्य अध्यापकों की कमी न रही तो फिर दश वर्ष पूर्व, अर्थात् तिलक के नामपर सरकार रुष्ट होनेसे पहले उन्हें इस प्रकार के सहायक मिल सकना कोई कठिन बात नहीं थी। आरंभ में ख्यातनामा विद्वानों की शिक्षक के रूप में सहायता न रहते हुए भी आज न्यू पूना कॉलेज की जो कुछ उन्नति हो रही है, उसे ध्यान में लाने पर हमारे अनुमान की भलीभांति पुष्टी हो सकती है।

किन्तु शिक्षा-संस्थाओं से एकबार चित्त हटते ही तिलक ने फिर कभी उस दिशा की ओर दृष्टिपात नहीं किया। यदि उनसे कोई यह पूछता कि तुमने इनके जवाब में दूसरी संस्थाएँ क्यों कायम नहीं की ? तो इसका वे दो प्रकार से उत्तर दिया करते थे। एक तो यह कि विभिन्नस्वभाव लोग इकट्ठे होने पर मत-भेद की मात्रा बहुत बढ़जाती है। और दूसरा उत्तर वे "विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसांप्रतम्" वाली संस्कृत उक्ति के द्वारा दिया करते थे। किसी भी रूप में हो, किन्तु उन्होंने इसी बात के लिए निश्चय किया था कि, अब आगे आजीविका और सार्वजनिक सेवा के लिए केवल स्वतंत्रतापूर्वक चल सकने योग्य ही किसी उद्योग की योजना की जाय। प्रथम दृष्टि से उन्होंने दो धंदे शुरू किये। पहली लातूर की जिनिंग फेक्टरी और दूसरा लॉ-क्लास। इनमेंसे फेक्टरीविषयक उनकी स्वतंत्रता अपेक्षित प्रमाण में कायम न रह सकी, और शीघ्रही उन्हें इस बात का अनुभव हो गया कि हिस्सेदारी भी एक प्रकार की परतंत्रता ही है, किन्तु लॉ-क्लास के विषय में वे सोलहों आना स्वतंत्र थे। क्योंकि इस क्लास की योजना विस्तृत प्रमाण में या शुरुता लिये हुये नहीं थी। केवल एक सवैतनिक सहायक को साथ लेकर विद्यार्थियों को दो कक्षाओं में विभक्त कर

-कानूनी विषयों की शिक्षा देने भर की इसमें योजना हुई थी, और लगभग सात वर्ष तक नियमित रूप से यह संस्था चलती भी रही।

किन्तु सार्वजनिक सेवा के नाते समाचारपत्रविषयक जो कार्य तिलक ने अपने हाथ में लिया, वह इन दोनों से ही अधिक स्वतंत्र था। क्योंकि उस समय केसरी में केवल दस ही कॉलम रहते थे, और इन्हींमें चिट्ठी पत्री प्राप्त पत्रादि एवं किसी कार्यकर्ता की ओरसे चुनी हुई ख़बरें आदि सामग्री के साथ २ नई पुस्तकादि के महत्वपूर्ण विज्ञापन भी छापे जाते थे। अतएव अग्रलेखादि के लिए तिलक का केसरी के नाम पर केवल एक ही दिन ख़र्च होता था। इतवार के दिन उनके यहां सप्ताह भरके समाचार पत्रोंका पुलिंदा पहुँचते ही वे सरसरी नज़र से देखकर गरुड़पक्षी की तरह उन में के महत्वपूर्ण मुद्दे तत्काल ही निकाल लेते थे। और चार-साढ़े चार कॉलम का लेख (टिप्पणियों सहित) वे एक-आध क्लर्क को पास में बिठाकर एकदम तैयार कर देते थे। प्रूफसंशोधन का कार्य भी रातबिरात हो जाता था। इसतरह सप्ताह भर में कम से कम पांच दिन उन्हें अपने अन्य व्यवसाय के लिए सहज ही में मिल सकते थे। जब कभी बाहर जानेका काम पड़ता तो वे अपने किसी मित्र के भरोसे या समय आने पर एक आध कार्यकर्ता तक को 'केसरी' सौंप कर चल देते थे। ऐसी दशा में या तो वह तिलक की टेबल के किसी कोने में पड़ा हुआ कोई लेख देकर काम चलाता था फिर उनके किसी मित्र के पीछे पड़कर उनसे लेख लिखवा लेता। उन दिनों स्थानापन्न संपादक का काम बड़ाही सरल था। क्योंकि ले देकर एकमात्र सामाजिक विषय ही उस समय वादग्रस्त होता था, सो इस पर भी बिना किसी ज़ोरदार आन्दोलन के खड़े हुएँ सहसा केसरी में लेख भी नहीं निकलते थे। फलतः इस एक विषय को छोड़देने पर राजनैतिक विषयों में लिखने के लिए मैदान एकदम खाली था। क्योंकि राजद्रोह की धारा उन दिनों योगनिद्रा में मग्न थी, और न आजकल की तरह राजनैतिक आन्दोलनविषयक मतभेद ही उन दिनों सुईकी नोक के समान तीक्ष्ण रूप धारण कर पाये थे, अतएव किसी से भी कुछ लिखा लेने पर काम चला जाता था! पाठको की दृष्टि स्तिमित होने के कारण संपादक को भी अपने अग्रलेख के लिए विशेष चिंता नहीं करनी पड़ती थी। हेमन्त-व्याख्यान-माला की रिपोर्ट, सेन्सर मतप्रकाशन, विलायत अथवा उत्तर भारत की यात्रा, तंट्या भील अथवा शाहाजहान बेगम का चरित्र, इत्यादि अन्यान्य विषयों से ही केसरी के दस कॉलम में का आधेसे अधिक स्थान घिरा रहता था। किन्तु फिर भी इसपर किसी को खेद नहीं होता था। इसी प्रकार आज और कलके अग्रलेख में महद् अन्तर दिखाई

नेपर भी आजकल की तरह पाठकों की चिकित्साबुद्धि विशेष जागृत नहीं होती थी। सारांश यह कि उस समय केसरी पत्र का चलाना तिलक की ही तरह दूसरों के लिए भी अत्यंत सुलभ था, इसी लिए वर्ष भर में चारी २ से कई संपादक हो सकते थे। अर्थात् तिलक के लिए यह कार्य थोड़ीसी देरका था और इसे वे पूर्ण स्वतंत्रता के साथ कर सकते थे। इसी लिए तिलक ने इसे हाथ में लिया। आरंभ में तो यह कार्य केवल सार्वजनिक स्वरूप में ही रहा। वैसे तिलक जो भी केसरी के मालिक भले ही बनगये हो, किन्तु उस समय एक तो पत्र से आमदनी ही कम होती थी, और जो कुछ होती थी वह ऋण चुकाने में दे दी जाती थी। फिर भी तिलक द्वारा आरंभित लोकसेवा के लिए ऐसे पत्र की आवश्यकता थी ही। क्योंकि केसरी के ही द्वारा वे नये विचार पाठकों के सामने रख सकते थे। इसी प्रकार सप्ताह भर में वे जो सार्वजनिक कार्य करते उसका बौद्धिक सम्यांश भी केसरी के लेखों द्वारा सर्वसाधारण के सन्मुख प्रकट किया जा सकता था! वे सदैव कहा करते थे कि मैं जो सप्ताह भर में केवल एक ही दिन के लिए दफ्तर में जाकर काम करता हूं, किन्तु फिर भी, उस दिन के लेख्य विषय पर मैं सप्ताह भर विचार करता रहताहूं। यद्यपि उनमें कितने ही उद्योग एक साथ कर सकनेकी योग्यता थी, किन्तु फिर भी उनके हाथ में हर समय एक न एक विषय ऐसा रहता था जो कि उनके चित्त व्यग्र किये रहाता हो। यही कारण है कि उस समय का केसरी देखनेपर तिलक-द्वारा लिखित सामग्री का पता केवल इसीपर से लग जाता है कि उसमें या एक-आध चटकीला लेख अथवा किसी एक एक ही विषय पर लिखी हुई दो-तीन टिप्पणियां मात्र ही पठनीय होती थीं। लेख लिखने को तिलक प्रायः अपना प्रिय कार्य बतलाया करते थे। किन्तु इतनेपर भी प्रत्येक विषयपर उनके विचार हृदय में इतनी हलचल मचा देते थे कि, तत्सम्बन्धी लेख लिखना उनके लिए श्रम-कारक होनेके बदले शान्ति-प्रदायक ही होताथा।

हां; तो डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी को मनःपूर्वक त्याग देने पर उन्होंने सब से पहले जिस आन्दोलन को हाथमें लिया, वह क्रफर्ड प्रकरण था। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम पिछले एक प्रकरण में कर भी चुके हैं। यह आन्दोलन अधिकतर स्थानिक-स्वरूप का ही था। किन्तु फिर भी इस विषय में पार्लमेंट में लोगों ने अपना मत प्रकट किया, और जो भी बड़ी धारासभा में उन तहसीलदारों को क्षमाप्रदान करनेविषयक बिल पेश किया गया हो, किन्तु असल में यह प्रश्न बम्बई प्रान्त के मध्यभाग के रेविन्यु कमिश्नर के कारोबार से ही सम्बन्ध रखता था; और इसमें अधिकांश महाराष्ट्रीय ही फँसाये

गये थे। किन्तु पहली ही बार में तिलक ने जो तत्परता और फुर्ती दिखलाई उसका परिणाम न केवल बम्बई ही, बल्कि अन्य प्रान्त के लोगों तक पर भी हुआ। और इस आन्दोलन के द्वारा जैसे ही प्रत्यक्ष राजनैतिक-क्षेत्र में उनका प्रवेश हुआ कि फिर वह स्थायी बनकर ही रहा। यह बात नहीं हैं कि केवल गोखले को अड़ाने के लिए ही तिलक ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया हो कि स्कूल छोड़ने से पहले अन्य किसी उद्योग में हाथ न डालेंगे; बल्कि उन्होंने खुद ही इसको चरितार्थ कर दिखाया था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सन १८८८ तक राष्ट्रीय महासभा के चार अधिवेशन हो जाने परभी वे किसी में साम्मिलित न हुए। किन्तु स्कूल छोड़ते ही स्वभावतः राष्ट्रीय महासभा के आन्दोलन में योग देनेकी उन्हें इच्छा हुई। ता १७ मार्च सन १८८६ के दिन पूने में एक विराट् सभा हुई, जिसमें कि राष्ट्रीय महासभा के उस वर्ष के अधिवेशन पर विचार किया गया। क्योंकि उस समय तक केवल इतना ही निश्चय हो सका था कि इसबार की सभा बंबई प्रान्त में की जाय, किन्तु वह बम्बई में हो या पूने में इसका अभी निर्णय होना था। इसी लिये पूना निवासियों की इच्छा थी कि अधिवेशन हमारे यहां ही होना चाहिये। और क्योंकि पूनावालों को ऐसा करनेके लिए दो प्रकार से अधिकार भी था। प्रथम तो यह कि सन १८८५ में इस सभा का आरंभिक अधिवेशन पूने में ही किया जाना निश्चित हुआ था। किन्तु एन वक्त पर पूने में हैजा फैल जाने से वह विचार बदलना पड़ा। दूसरा अधिकार यों था कि पूना भी बम्बई प्रान्त की दुसरी राजधानी होनेके कारण जब बम्बई में एकबार सभा हो चुकी थी तो फिर दूसरी बार का हक्क पूने का ही हो सकता था, किन्तु क्योंकि इस अधिकार को बजालाना एक प्रकार से बंबई वालों के साथ विवाद खड़ा करने जैसा था, अतएव इस के लिए किसी कुशल वकील की ही नियुक्ति होना आवश्यक था। फलतः इस सभा में उस कार्य के लिए तिलक और नामजोशी की नियुक्ति हुई। क्योंकि पूनानिवासियों की यह इच्छा थी कि बम्बईवालों से वैर-भावना न बढ़ाते हुए और बिना उन्हें अप्रसन्न किये यदि हो सके तो राष्ट्रीय सभा पूना आमंत्रित की जाय। इधर पूना पर दरिद्रता का आक्षेप सदैव से होता आरहा है, फलतः सभा को आमंत्रित करनेके लिए जो लोग बम्बई जाते उनसे यह प्रश्न किया जाना स्वाभाविक ही था कि तुम लोग सभा तो करना चाहते हो, किन्तु उसके लिए द्रव्य कहांसे लाओगे? इसी लिए प्रस्तुत सभा में ढ़ाई हजार का चंदा भी लिख लिया गया। इसके बाद सभा के आदेशानुसार तिलक और नामजोशी बम्बई गये। किन्तु बम्बईवालों ने राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन अपने ही यहां करनेविषयक ज़िद न

छोड़ी। ऐसी दशा में पूनावाले जिस प्रकार बम्बईनिवासियों को असन्तुष्ट करना नहीं चाहते थे, उसी प्रकार वे सभाकी मांग अस्वीकृति की जानेपर भी अप्रसन्न न होने का निश्चय कर चुके थे। अतएव इन दो प्रतिनिधियों ने बम्बई की सहायता के लिए महाराष्ट्र में धनसंग्रह करनेका कार्य अपने सिर लेलिया। इसी वर्ष के जुलाई महिने में नूलकर के नेतृत्व में एक चंदा कमेटी बनाई जाकर धनसंग्रह का कार्य आरंभ कर दिया गया। फलतः तिलक और नामजोशी ने महाराष्ट्र भरके जिलों में घुमकर लगभग दस हजार रुपये इकट्ठे कर दिये।

दिसम्बर में सर विलियम वेडरबर्न की अध्यक्षता में—बम्बई में विराट् महासभा का अधिवेशन हुआ। लगभग चार हजार मनुष्यों के बैठ सकने योग्य मण्डप बनाया गया था। और दैवयोग से इस सन १८८९ की महासभा में प्रतिनिधि भी पूरे १८८९ ही पहुँचे। राष्ट्रीय महासभा के सप्ताह भरके लिए केसरी बम्बई लेजाया गया और वहां उसका दैनिक संस्करण निकाला गया। इस कार्य के लिए वासुदेवराव केलकर और रामभाऊ साने की योजना हुई और इन दोनों ने दिनरात श्रम करके अपने कर्तव्य को पूरा किया। इसी सभा में चार्लस-ब्रेडला भी उपस्थित हुए थे। अतएव उन्हें मानपत्र दिया जाने के साथ ही उनके सम्मुख इस आशय का प्रस्ताव भी उपस्थित किया गया कि, पार्लमेंट के सामने भारत के लिए किस प्रकार की कौंसिलें दिये जानेका बिल पेश होना चाहिये। किन्तु यह प्रस्ताव वादग्रस्त सिद्ध हुआ, अतएव कलमवारी से चर्चा शुरू होनेपर तिलक ने यह उपसूचना उपस्थित की कि भारतसरकार की धारासभा के सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप में मतदारों के ही द्वारा न होकर अप्रकट रूपमें प्रान्तिक कौंसिलों द्वारा होना चाहिये। प्रो. गोखले ने इसका समर्थन किया। किन्तु फिर भी बहुमत से संशोधन अस्वीकार हो गया। यही एक ऐसा कार्य था जिसे तिलक और गोखले ने एकमत होकर राष्ट्रीय सभा में एकही बार किया था, क्योंकि इसके बाद सर्वत्र इन दोनों में मतभेद पाया जाता है। यद्यपि इस समय केवल जनता के मतानुसार ही धारासभा के सदस्यों का चुनाव होने अवसर आगया है सही, किन्तु फिर भी लोकनियुक्त सदस्यों का धारासभा में प्रवेश होनेसे लगाकर अर्थात् सन १८९२ से १९१९ तक तिलक और गोखले की संयुक्त सूचना के अनुसार ही प्रान्तिक धारा सभा के सदस्योंद्वारा धारासभा के सदस्य चुने जाने की प्रथा प्रचलित थी, इसे न भूल जाना चाहिये।

इसी मौकेपर बम्बई प्रान्त में प्रान्तिक परिषदें भी होने लगी थीं। इनमें से प्रथम परिषद् में तिलक उपस्थित न हो सके थे, किन्तु दूसरी

परिषद् जब पूने में रा० ब० गोपाल हरी देशमुख के सभापतित्व में हुई, उसमें क्राफर्ड प्रकरण-विषयक प्रस्ताव के समर्थन कर्ता तिलक ही थे। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि "क्राफर्ड प्रकरण के विषय में बम्बई-सरकारने जैसा कुछ वर्ताव किया है, उसके लिए बम्बई प्रान्त की प्रजा कृतज्ञतापूर्वक आभार मानती है, साथ ही इस सभा का मत यह भी है कि एकदम पाप-मूलक अथच घृणोत्पादक कारणों को नामशेष कर अधिकारी मंडल को शुद्ध बना देने एवं चिरकालीन दुर्गन्ध को दूर करनेविषयक कर्तव्य भी सरकार ने पूरा किया है।" इस प्रस्तावसम्बन्धिनी चर्चा में भी मतभेद उत्पन्न हो गया और जोरशोर का विवाद भी मचा था। किन्तु अंत में तिलक की ही सूचना के अनुसार उक्त आशय का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। क्राफर्ड के विषय में नर्म शब्दों में निषेध करके एँग्लो इण्डियन पत्रे इस कोशिश में थे कि इसी मामले में तहसीलदारों पर विशेषरूप से दोषारोपण किया जाय। किन्तु दोष असल में क्राफर्ड का ही अधिक था, और उसी का निराकरण करना भी कठिन था। फलतः जब सरकार ने उसे कर दिखाने का धैर्य्य प्रकट किया, तो उस दशा में कृतज्ञतासूचक प्रस्ताव होना स्वाभाविक ही था।

तीसरी प्रान्तिक परिषद् सन १८९० के मई महिने में फिर पूने में ही हुई। इस बार काजी शहाबुद्दीन उसके अध्यक्ष बनाये गये थे। इस सभा के सन्मुख तिलक ने सरकारी आबकारी विभाग के ध्येय का निषेध करनेवाला प्रस्ताव उपस्थित किया। इसमें "लोकल-ऑप्शन" का अधिकार मांगा गया था। इस प्रस्तावविषयक भाषण में उन्हों ने केन साहब के साथ किये हुए पत्र-व्यवहार का उल्लेख कर यह सिद्ध किया कि देशी और विलायती दोनों ही प्रकार की शराब का प्रचार बढ रहा है। अतएव सरकार का यह कहना कि वह प्रचार बढ़ नहीं रहा है, एकदम मिथ्या है। यह ठीक है कि इस ओर मद्यपाननिषेधक मण्डलियां खड़ी हो गई हैं! किन्तु हम तो उनके स्थापित होनेका अवसर आने देना ही बुरा समझते हैं। क्योंकि अब से पहले मराठाशाही में शराब का प्रचार इतना अधिक न था। इत्यादि प्रमाणों द्वारा तिलक ने इस बात पर ज़ोर दिया कि म्युनिसिपालिटी, लोकल बोर्ड, ग्राम-पंचायत अथवा स्थानिक मतदारसंघ के मतानुसार ही गाँव या नगर में अथवा बाहर शराब की दूकान खोलने या न खोलने देनेका अधिकार जनताकोही प्राप्त रहना चाहिये। किन्तु दुर्भाग्यवश् 'लोकल ऑपशन्' का यह अधिकार पिछले तीस बत्तीस वर्ष के आन्दोलन द्वारा भी अबतक प्राप्त न हो सका। अस्तु। इसी

रिषद् में आगामी वर्ष के अधिवेशन की व्यवस्था के लिए नामजोशी के साथ २ लिक और गोखले संयुक्त मंत्री बनाये गये।

अगले वर्ष की प्रान्तिक परिषद् भी पूने में ही उसी मई मास में इसलामपुर के ख्यातनामा वकील गोविन्दराव लिमये के सभापतित्व में हुई। इसमें अन्य साधारण प्रस्तावों के अतिरिक्त एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव सम्मति-बिल-विषयक था, जिसे कि तिलक ने उपस्थित किया था। इसमें बिलसम्बन्धी लोकमत का विचार न किया जाने के विषय में सरकार का निषेध किया गया था। इस प्रस्ताव सम्बन्धी भाषण में तिलक ने 'लोकमत' शब्द का अर्थ बतलाते हुए कहा था कि यदि बहुजन मत को लोकमत मान लिया जाय, अथवा केवल सुशिक्षितों का मत ही लोकमत समझा जाय, तो भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि वह इस सम्मति-बिल के विरुद्ध था। बहुजनसमाज के मत की दृष्टि से तो यह विधान कदम निर्विवाद ही था, किन्तु सुशिक्षितों के मत के विषय में अवश्य थोड़ासा विवाद था, और जिस प्रकार कि कितने ही ख्यातनामा व्यक्ति इस बिल के समर्थक थे, उसी प्रकार अनेकों सुशिक्षित व्यक्ति इसके प्रतिकूल भी अवश्य थे। इस परिषद् में भी अगले वर्ष के लिए तिलक और उनके साथ साथ रामभाऊ साने संयुक्त मंत्री बनाये गये। क्योंकि तिलक और गोखले ने यथानियम इस परिषद् के सन्मुख अपने पद से त्यागपत्र उपस्थित कर दिये थे। किन्तु फिर भी अगले वर्ष के चुनाव में उन्हीं का नाम लिया जाने वाला था, पर गोखले की ओरसे अस्वीकृति मिलने पर इनका त्यागपत्र मंजूर कर लिया गया, और तिलक अपने पद पर ही कायम रहे।

पांचवी प्रान्तिक परिषद् फिर पूने में हुई। यह सभा पीछलीयों सभी सभा से बढ़कर जोरदार भी। इस बार सभापति के पद पर फीरोजशाह मेहता बैठाये गये थे। असल में यदि देखा जाय तो पूने की सभा के लिए बम्बई के इन धनी महानुभाव का योगदान असंभवसा ही था। किन्तु राष्ट्रीय महासभा का केन्द्रस्थान बम्बई होते हुए भी पूने में लगातार तीन चार सभाएँ होकर उनको सफलता प्राप्त करते देख पांचवी परिषद् का सभापतित्व स्वीकार करना फीरोजशाह मेहता के लिए हीनतासूचक प्रतीत न हुआ। इस परिषद् की विशेषता यह थी कि महाराष्ट्र से बाहर के उस प्रान्तीय लोग भी इसमें सम्मिलित हुए थे। क्योंकि फीरोजशाह मेहताके सभापति चुने जाते ही वाच्छा, सेटलवॉड आदि भी परिषद्में आना स्वीकार कर लिया। इधर गुजरातियों के भी आनेकी संभावना की गई, क्योंकि उस समय सबसे अधिक महत्व का कारण यह योग्य था कि धारासभाओं में सुधारविषयक एक्ट हालही में

पार्लमेंट से पास हुआ था, और अमलबजावरी के नियम बनानेका प्रश्न इस समय लोगों के सामने था। इधर प्रान्तिक सभा के लिये नियम बनाने की अवश्यकता भी लोगों को प्रतीत हो रही थी। इस बार परिषद का अधिवेशन ता. ७-८ नवम्बर को हीराबाग (पूना) में हुआ। नगर के प्रायः सभी प्रधान व्यक्तियों के उपस्थित रहनेके ही साथ २ बाहर के लोगों की उपस्थिती के लिहाज से केसरी ने इन शब्दों में परिषद् का वर्णन किया था कि "इतना बड़ा और प्रभावशाली लोकसमाज पूनेमें शायद ही कभी देखा गयाहो"। हम समझते हैं कि इसमें अतिशयोक्ति की मात्रा न होगी।

स्वागत-समिति के अध्यक्ष रावबहादुर विष्णु मोरेश्वर भिड़े (पेन्शनर) थे। फ़ीरोज़शाह मेहता इस बारका भाषण बड़ेही मार्केका कहा जाता है। इस भाषण में राजनैतिक विषयों का तो उत्कृष्ट विवेचन था ही, किन्तु इसीके साथ २ वर्ष डेढ़ वर्ष से पूने में जो सामाजिक मतभेद ज़ोर पकड़ रहा था, उसे राजनैतिक मतभेद से निकट सम्बन्ध रखता जानकर उभय पक्षों को, एकमत बनानेके उद्देश्य से मेहताजी ने निम्नलिखित मार्मिक उद्गार प्रकट किये थे, जो कि स्मरणीय हैः—लीवार्नर प्रभृति अंगरेज़ों का कथन है कि लोकापवाद से भय खाकर सामाजिक और नैतिक सुधारों को छोड़ राजनैतिक सुधार कर सकने की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति भारत का सच्चा हितैषी नहीं कहा जा सकता। यह तत्व सैद्धान्तिक दृष्टि से बिलकुल ठीक है, और इसी मुद्देपर मेरे मित्र चंदावरकर ने हाल ही में डेक्कन कॉलेज में एक बढ़िया व्याख्यान दिया था। किन्तु इस सिद्धांत को अमल में लाते समय यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिये, कि इसमें कितने ही अपवाद भी हैं। क्योंकि एकबार मानसिक जागृति होजाने पर मनुष्य की प्रायः सभी विषयों में समानगति होजाती है। किन्तु केवल इसीसे यह नहीं कहा जासकता है कि राजनैतिक और सामाजिक विषयों में उसका कदम लगातार एक ही समय आगे बढ़ सकता है। क्योंकि कितनीही बार मानसिक प्रवृत्ति नये विचार और नई कल्पना को एकदम स्वीकार नहीं करलेती, बल्कि उसके विरुद्ध होकर पुरानी बातों को पुनः स्थापित करनेकी ओर ही विशेष रूपसे आकर्षित होती है। दो विभिन्न सुधारों के परस्पर अभिमुख होनेपर प्रायः ऐसी ही बातें हुआ करती हैं। अतएव जो इनसे बचकर निकल जाता है, उसी के हाथों परकीय सुधारों की उत्तम बातों का हममें संग्रह होसकता है। मेरे मित्र श्रीयुत तिलक ने अभी उस दिन औद्योगिक परिषद् के सामने जातीय बन्धन का सरकारद्वारा अमल करवानेके विषय में जो निबंध पढ़कर सुनाया, उसके विषय में भी लोक उनकी निंदा करते हैं। मेरे मतानुसार किसी बात को

बिना अच्छी तरह जांच किये स्वीकार न करलेना चाहिये। क्योंकि यह अतिशय चौकसबुद्धि का परिणाम कहा जा सकता है। मेरी दृढ धारणा है कि इस स्थिति से मुक्त होते ही उनकी निंदा करनेवाले भी यही समझने लगेंगे कि तिलक ही एकमात्र सच्चे और हृदय से उद्योग करनेवाले सुधारक हैं"।

इस परिषद् में सब से प्रथम प्रस्ताव इस आशय का स्वीकृत हुआ कि नई धारासभाएँ किस नमूने की होनी चाहिये। इसे उपस्थित करनेवाले तिलक थे। उन्होंने इसमें यह सूचना उपस्थित की थी कि हाल में म्युनिसिपालिटी जैसी संस्थाओं को ही मतदाता संघ समझा जाय। परिषद् के अंतमें आगामी वर्ष के लिए अधिवेशन बम्बई या गुजरात के किसी नगर में किये जानेका प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इसके बाद सभापति श्रीयुत मेहता की सूचना के अनुसार वाच्छा और सेटलवाड इन दो नये मंत्रियों की जोड़ में तिलक का नाम रखा जाने की बात तय पाई। अगली अर्थात् छठी परिषद् अहमदाबाद में ता. १-२-३ नवम्बर के दिन बम्बई के सालिसीटर रहिमतउल्ला मुहम्मद सयानी के सभापतित्व में हुई। इस परिषद् में तिलक ने देवगढ, पेन, पनवेल आदि तहसीलों के रिविजन सेटलमेंटविषयक झगडों से सम्बन्ध रखनेवाला प्रस्ताव उपस्थित किया। इस बार पुनः वाच्छा, सेटलवाड और धरमसी इन तीन मंत्रियों के ही साथ २ तिलक भी प्रान्तीय परिषद् के मंत्री चुने गये। इसी प्रकार न्याय और अमलबजावरी इन विभागों के पृथक्करणसम्बन्धी विधायक योजना तैयार करने के लिए फीरोजशाह मेहता के नेतृत्व में जो कमेटी बनी थी उसमें भी तिलक चुने गये थे। इसके बाद अगली प्रान्तिक सभा सन १८९४ में बम्बई में हुई। किन्तु कई कारणों से तिलक इसमें उपस्थित न हो सके। अगले वर्ष ख़ास पूना नगर में ही ग्यारहवी राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन हुआ। इसके मंत्रि-मण्डल में भी तिलक का समावेश था, किन्तु आगे चलकर झगडा उत्पन्न होने पर उन्हों ने मंत्रित्व से इस्तीफा देदिया। इस विषय का विस्तृत विवेचन हम एक स्वतंत्र प्रकरण में करनेवाले हैं, अतएव यहां उसका उल्लेख करना नहीं चाहते। सिवाय इसके अगले वर्ष तिलक बम्बई की धारासभा के सदस्य और युनिवर्सिटी के फेलो बनाये जानेसे उनकी महत्ता और कर्तृत्वशीलता की ध्वजा अनुकूल दिशा में फहराने लगी थी, अतएव इसके बाद से प्रांतिक परिषद् के साथ उनका संबन्ध गौण स्वरूप में रहा, इसी लिए यहां उसका विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया जाता। इसके बाद भी वे प्रायः प्रान्तिक परिषदों में उपस्थित रह कर एक-आध महत्वपूर्ण प्रस्ताव उपस्थित करते रहे। करॉची (सन १८९६) और सोलापुर (सन १९०२) की परिषद् में वे उपस्थित हो सके। किन्तु सन १९००

में सातारा की परिषद् में तिलक के उपस्थित रहने से ही बंबई और पूनावालों के बीच जोरशोर के साथ झगड़ा मचा, जिसका विस्तृत वर्णन तत्कालीन घटनाओं के क्रम से आगे दिया जायगा।

सन १८९० में तिलक के अन्यान्य आन्दोलनों के विषय में मुख्यतः एक ही बात देखने में आती है, वह है फौजी शिक्षा के सम्बन्ध की। क्योंकि इसी वर्ष के मार्च महिने में ड्यूक ऑफ् कनॉट पेन्शन लेकर विलायत जानेके विचार में थे। ये महाशय महारानी विक्टोरिया के पुत्र और वर्तमान भारत सम्राट के चाचा हैं। उन दिनों फौजी विभाग में ये बम्बई प्रान्त के सेनापति थे। वर्षभर में कितनी ही बार इनका पूने में डेरा पड़ता था। आजकल कौंसिल हॉल से इस तरफ की सड़कपर कनॉट होटल के नाम से जो भोजनालय है, उसी इमारत में ड्यूक साब का पूने में मुक़ाम रहता था। यह बंगला पूना के एक धनिक नागरिक और म्युनिसीपालिटी के सदस्य हरि रावजी चिपलूनकर गोस्वामी ने खास तौर पर ड्यूक साहब के लिए बँधवा दिया था। इस तरह अपने पुत्र के लिए रहने योग्य स्थान का प्रबंध कर देनेके कारण कहा जाता है कि खास महारानी विक्टोरिया ने अपने हाथ से आभारप्रदर्शक पत्र इन के पास भेजा था। ड्यूक साहब अधिकार और खान्दानियत के लिहाज से इतने बड़े होने पर भी मिलनसार तबियत के आदमी थे, अतएव लोगों से ये बड़े ही सौजन्यभाव से व्यवहार करते थे। साथ ही उन्होंने भारतीयों की सेनाविषयक महत्त्वाकांक्षा पूर्ण करने एवं उन्हें सेना में ऊंचे पदपर नियुक्त करनेके विषय में भी सहानुभूति प्रकट की थी और विलायत में इसके लिए प्रयत्न करने का भी आश्वासन दिया था। ऐसी दशा में विलायत जाने पर जब उनका स्मारक बनानेकी चर्चा चली, तब यह कल्पना उपस्थित की गई कि, वह स्मारक ड्यूक साहब के उक्त विचारों के अनुरूप हो, अर्थात् एक-आध फौजी शिक्षण का स्कूल खोला जाय, जिसमें कि 'एक पंथ दो काज' बन सकें। इस सम्बन्ध में ता. ९ मार्च के दिन पूने में एक सभा हुई, जिसमें कि उपर्युक्त कल्पना निश्चित ठहराई जाकर ड्यूक साहब के पास इस विषय में एक डेपुटेशन भेजना भी स्थिर हुआ। इस में दक्षिण महाराष्ट्र के अनेकानेक राजामहाराजा और पूना के कई सरदार, एवं अन्य कितने ही प्रतिष्ठित नागरिक भी संमिलित किये गये थे। इस डेपुटेशन के मंत्री-पद पर भी तिलक और नामजोशी की ही नियुक्ति की गई। निश्चित संकेतानुसार ड्यूक साहब की आज्ञा से डेपुटेशन के कुछ सदस्य बम्बई पहुँचे। वहां जाने पर उन्हें फौजी स्कूल की योजना के लिए अनुमति मिल गई और ड्यूक साहब ने स्कूल के साथ अपना नाम जोड़ने देना भी स्वीकार कर लिया।

किन्तु फिर भी अंत में जाकर न तो ऐसा स्कूल ही खुला और न कोई विशेष स्मारक ही बनाया गया। क्योंकि पूना की सभा में गंगाराम भाऊ म्हस्के और कई सहायुरोंने इस स्मारक की मूल कल्पना को ही अव्यवहार्य सिद्ध कर दिखाया था। किन्तु इसके विरुद्ध रावबहादुर रानडे ने यह मत प्रकट किया था कि, कुछ कुलीन व्यक्तियों को फौज में जगह देनेका निश्चय सरकार पहिले ही से कर चुकी है। और ऐसी दशा में जिस प्रकार कुछ सिपाहियों को संतुष्ट रखना आवश्यक है, उसी प्रकार पुराने सरदार घरानेवालों का संतोष करना भी उतना ही आवश्यक है। कठिनाई थी एकमात्र फौजी स्कूल की, और यह भी स्मारक के रूप में खोलने के लिए यह सब प्रयत्न था। किन्तु इसके बाद राजा महाराजाओं को सरकार की ओरसे गुप्त सम्मति मिल जानेके कारण, जिन ड्यूक साहबके लिए स्मारक बनाया जानेका था, उन्हींने स्वेच्छापूर्वक उससे अपना हाथ खींच लिया, और इस तरह अन्त में सारी योजना जहां की तहां स्थगित रहगई।

सन १८९१ से १८९३ तक के तीन वर्षों में तिलक ने ग्रंथकार के नाते एक महान् रचना कर दिखाई। अर्थात् उन्होंने 'ओरायन' अथवा 'वेदकालनिर्णय' विषयक एक निबन्ध पुस्तकरूप में लिखा। सन १८९१ के मई महिने में डेक्कन कॉलेज [पूना] में, और ता. १२ मई के दिन हीराबाग [पूना] में इस विषय पर उनके व्याख्यान भी हुए। डेक्कन कॉलेज की सभा के अध्यक्ष रा. ब. मानकर थे। सन १८९२ में तिलक की यह पुस्तक छपकर प्रकाशित हुई। क्योंकि तिलक की अन्यान्य पुस्तकों के साथ हम इसका भी एक स्वतंत्र परिच्छेद में विस्तृत वर्णन करना चाहते है, अतएव यहां विशेष रूप से कुछ नहीं लिखा जाता।

सन १८९४ में पार्लमेंट को लक्ष्य करके तिलक ने एक अर्ज़ी तैयार की। जिसमें कि भारतीय लोकहित की दृष्टि से समकालीन सिविल सर्विस परिक्षा की आवश्यकता का प्रतिपादन और सप्रमाण विवेचन किया गया था। क्राफर्ड प्रकरण में पार्लमेंट के पास अर्ज़ी भेजनेविषयक उनका प्रथम प्रयत्न सन १८८९ में हुआ, और इसी बार से विलियम डिग्बीके साथ उनकी जो घनिष्टता क़ायम हुई, वह आगे चलकर कितने ही कारणों से लगातार बढ़ती गई। इसके बाद तो केन, मॅडला, ह्यूम, वेडरबर्न, आदि महानुभावों से परिचय होजाने के कारण यह पत्रव्यवहार और भी बढ़ गया। इधर गत वर्ष भूलसे हर्बर्ट पाल का समकालीन परीक्षाविषयक प्रस्ताव स्वीकृत होजानेके कारण इसके लिए अभिनंदनात्मक सभाएँ भी पूना और बम्बई आदि स्थानों में होरही थीं। किन्तु पार्लमेन्ट की

ओरसे प्रस्ताव पास करदेने पर भी उसकी अमल-बजावरी तो भारतसरकार के ही हाथ में थी ! फलतः उसने कईएक कारण दिखलाकर इस कार्य को टाल दिया। तिलक की उपर्युक्त अर्ज़ी भारत की बड़ी नौकरशाही के इस कार्य का निषेध करनेके ही लिए तैयार हुई थी।

अगले वर्ष (सन १८९५ में) लो. तिलक का पूना शहर की म्युनिसिपालिटी में चुनाव होनेके साथ ही वे बम्बई की प्रान्तीय धारासभा के भी सदस्य चुन लिये गये। इनके मित्र श्री. माधवराव नामजोशी सन १८८१ से ही म्युनिसिपालटी के कार्यों में ध्यान देने लगे थे, और इस संस्था के कामकाज एवं विवादास्पद विषयों के निराकरण में उन्हें तिलक से पूरी २ सहायता मिलती रहती थी। यदि पहिले ही चुनाव के समय तिलक उम्मेदवार बनकर खड़े होते तो भी वे निःसन्देह चुन लिये जाते। किन्तु उन्होंने और नामजोशीने सार्वजनिक कार्यक्षेत्र को आपुस में बाँट सा लिया था। इनमें स्थानिक स्वराज्य और औद्योगिक आन्दोलन नामजोशी के हिस्से में आया था, और प्रत्यक्ष राजनैतिक एवं धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन का हिस्सा तिलक ने स्वीकार किया था। क्योंकि म्युनिसिपालटी के मेनेजिंग ऑफिस में बैठकर सैंकड़ों फुटकर कागज पत्रोंको फैसल करना तिलक को अरुचिकारक प्रतीत होता था, जब कि नामजोशी को यही कार्य दिल से पसन्द था। और इसी कारण पूना के व्यापारी लोगों के अंतरंग में नामजोशी का प्रवेश भी हो गया था। इधर शहर की हद्द में आकर बाहर जानेवाले मालपर जकात वापस दिलवाने विषयक उनका आन्दोलन पहिले ही सफल हो चुका था, अतएव नामजोशी व्यापारी समाज के संरक्षक भी समझे जाने लगे थे। कमेटी के अध्यक्ष सरदार दोराबजी पदमजी के चित्तपर भी नामजोशी की बुद्धिमत्ता एवं कार्यपद्धति की छाप जम गईथी, अतएव वे प्रत्येक महत्त्व के कार्य में इनकी सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करते थे। लार्ड रे के शासनकाल में सन १८८८ में नामजोशी के प्रयत्न से पूने में औद्योगिक प्रदर्शिनी भी हुईथी। इस कार्य में पूना म्युनिसिपालिटी ने पूरा २ भाग लिया था और 'प्रदर्शिनी के विसर्जित होनेपर उसमें की बची हुई वस्तुएँ भेटके रूप में या मोल ख़रीद कर रे-इंडस्ट्रियल म्यूज़ियम के नाम से लार्ड रे के स्मारक में प्रदर्शन कमेटी ने शहर म्युनिसिपालिटी को सौंप दीथी, जोकि आजतक उसके आधीन हैं। इस कार्य में नामजोशी को तिलक से यथेष्ट सहायता मिली हुई थी। पूना म्युनिसिपालिटी की उद्योगशाला स्थापित करने में भी नामजोशी ने ही विशेषरूपसे भाग लिया था। इन सब बातों में तिलक होते हुए भी नहींसे थे, अर्थात् वे अपने नाम से कोई लाभी काम नहीं करते थे। किन्तु

नामजोशी को सलाह देना, सूचना करना और उनके चुनाव के समय शारीरिक श्रम उठाकर प्रधान करना आदि सहायताएँ तिलक की ओरसे बराबर मिलती रहती थी। नामजोशी की इमाम की बैठक प्रायः व्यापारी पैठ में ही किसी की दूकान-पर जमती थी। इन्ही के साथ २ तिलक का भी वैताल पेठ के सेट हुकुमचंद ईश्वरदासप्रभृति व्यापारियों से स्नेह-संबंध होगया। यह संबंध अन्ततक यथावत् क़ायम रहा। सेठ हुकुमचंद (जिन्हें कि हाखामाई कहते हैं) की दुकान तिलक और नामजोशी के दूसरे घरकी ही तरह थी। दोनों ने एक दूसरे की कठिनाइयों में अंतसमय तक साथ दिया। सन १८९६ में नामजोशी का शरीरान्त होगया। इससे पहले के चुनावतक वे बराबर १२-१३ वर्ष म्युनिसिपालिटी में चुने जाते रहे। वे हमेशा किसी न किसी वार्ड की ओरसे खड़े हो जाते, और अपनी लोकप्रियता के कारण उन्हें यह अधिकारसा प्राप्त होगया था कि हर कहींसे वे चुने जा सकते थे। किन्तु अन्तिम वार के निर्णय में उन्होंने धोखा खाया। क्योंकि सन १८९५ में तिलक पहिली ही बार चुनाव के लिए खड़े हुए थे, और हुए भी तो जनरल वार्ड में-अर्थात् सुशिक्षितों की ओरसे चुने जाने के लिए। इधर इसी वर्ष कै० विनायक रामचंद्र उर्फ अण्णासाहब पटवर्धन को भी लोगों ने चुनाव के लिए खड़ा कर दिया। इसमें 'खड़ा कर देने' का आशय यह है कि उनपर एक प्रकार से यह जबरदस्तीसी की गई थी। किन्तु उनकी लोकप्रियता यहांतक बढ़ी हुई थी कि 'नामिनेशन पेपर' पर हस्ताक्षर करनेके सिवाय उन्हें चुनाव के लिए न केवल उसी समय बल्कि आगे भी प्रयत्न तक न करना पड़ा। उनके नामका एक मत गणेशजी की सुपारी की तरह अलग निकाल कर रख दिया जाता था। इसी प्रकार तिलक को भी पोलिंग स्टेशन पर प्रायः अपने चुनाव के लिए नहीं जाना पड़ता था। अर्थात् अण्णासाहब की तरह वे भी अनुपस्थिति में चुन लिये जाते थे। किन्तु उस समय पूना हाईस्कूल के हेड मास्तर विट्ठल नारायण उर्फ दादासाहब पाठक एम. ए. भी जनरल वार्ड से चुनाव के लिए खड़े हुए थे। अतएव तिलक की ओरसे उन्हीं को विरोध सहायता मिली। अण्णासाहब और तिलक यथाक्रम पहिले और दूसरे आ ही गये। रावसाहब मोघे नामक एक उमेदवार और भी थे, जिन्हें कि मिलिटरी फायनेंस ऑफिस के मतदाताओं की सहायता रहनेसे उनका नंबर तीसरा रहा। चौथी जगह के लिए अलबत्ता बड़ी खींचतान हुई, और जब विट्ठल रावजी पाठक की बाजू गिरती देखी गई तब तिलक और पटवर्धन के अवशिष्ट मत की सहायता

मित्र बाबासाहब पेंढसे और गणेश व्यंकटेश जोशी दोनों पेंशनर बनकर पूने में आ बसे थे। अतएव अण्णासाहब पटवर्धन के साथ ही इन दोनों को भी तिलक ने अनुरोधपूर्वक खड़ा किया। और बिना विशेष प्रयत्न के ये तीनों चुन लिए गये। फलतः बची हुई एक जगह को हथियाने का निश्चय कर पूना के नर्मदल ने जी जान से प्रयत्न किया, इस पक्ष के उमेदवार हरि नारायण आपटे और तिलक पक्षके उमेदवार शिवरामपंत परांजपे के बीच इस चौथी जगह के लिए प्रेसबीय द्वंद्व हुआ। इस मौक़ेपर भी तिलक पोलिंग स्टेशनपर जाकर सहायकों की गतिविधिपर देखरेख करते रहे, और अंत में उन्हों ने इस बाज़ीको भी जीत लिया। किन्तु फिर भी बाबासाहब पेंढसे या गणपतराव जोशी को अध्यक्ष चुनने के प्रयत्न में वे सफल न होसके और उस पद पर सरदार नौरोजी पदमजी ही चुने गये। इसके बाद म्युनिसिपालिटी के कारोबार में ध्यान देने का अंतिम प्रसंग तिलक के लिए सन १९२० में आया, जब कि कमेटी के सन्मुख अनिवार्य शिक्षा का प्रश्न उपस्थित हुआथा। कमेटी के द्वारा राष्ट्रीय पक्षने इस प्रकार की योजना उपस्थित की थी कि, प्राथमिक शिक्षा यदि अनिवार्य और निःशुल्क करना हो तो आरंभ में वह केवल लड़कों के ही लिये होनी चाहिये। इसके बाद अधिक द्रव्य की योजना होनेपर अनुभव को देखकर आगे यह शिक्षा लड़कियों के लिए भी अमलमें लाई जाय। किन्तु शहर के नर्मदल एवं सेवासदन के संचालकों ने इस योजना को स्त्रीशिक्षा के मार्ग में अवरोधक समझकर अथवा यदि सत्य बात कही जाय तो अगले वर्ष में होनेवाले नई कौंसिलों के चुनाव में तिलक पक्ष का विरोध करनेके लिए इसे एक उत्तम अवसर समझ इससे यथेष्ट लाभ उठानेके विचार से कई दिनोंतक शहर में ज़ोरशोर के साथ आन्दोलन मचाया। इसमें समाचारपत्रों के कालम का युद्ध, जुलूसों की जमघट और नोटिसों की भरमार के ही साथ २ विराट् सभाओं की भी बाढ़ सी आगई थी। उस समय किर्लोस्कर थिएटर में एक विराट् सभा बड़े महत्त्व की हुई। और इसी एक सभा में तिलक ने म्युनिसिपालिटीविषयक जो व्याख्यान दिया, वह इस विषयक उनका अंतिम कार्य था।

किन्तु ख़ास म्युनिसिपालिटी की ओरसे उनके लिए एक काम होना शेष था, वह उसने सन १९१९ में तिलक के विलायत से लौटनेपर पूरा कर दिखाया। अर्थात् विलायत से लौटकर तिलक जिस दिन पूना आये, उसी दिन कमेटी ने उनको प्रकाश्य रूप में मानपत्र समर्पित किया। सरकारी अधिकारोंको छोड़कर प्रजाकीय नेताको शहर की म्युनिसिपल कमेटीद्वारा मानपत्र दिये जाने

का प्रसंग यह पहला ही था। इसका विस्तृत वर्णन आगे चलकर यथाक्रम आने-होवाला है, अतएव यहां उस विषयमें कुछ नहीं लिखा जाता। मूल उद्देश्य के अनुसार इस प्रकरण में तिलक की सन १८६० से १८६५ तक के पांच वर्षों की कारगुजारी ही दी जानी चाहिये थी, किन्तु फिर भी उपर्युक्त विवेचन से प्रकट होसकता है कि शहर म्युनिसिपालिटी से उनका संबन्ध वस्तुतः बहुत ही थोड़े दिन रहा; और इसी लिए सन १८६५ के बादका भी इस विषय का जो थोड़ासा वर्णन रह जाताथा, उसे देकर यह प्रकरण समाप्त किया गया है।

भाग—अठारहवा।

——:o:——

तिलक और धारासभा।

पूना शहर म्युनिसिपालिटी की अपेक्षा बम्बई की धारासभा के साथ तिलक का सम्बन्ध कुछ अधिक रहा। किन्तु फिर भी यह उनके सार्वजनिक जीवन के हिसाब से बहुत ही थोड़ा अर्थात् केवल सवा दो वर्ष का ही था। पर अन्य विचार दृष्टि से म्युनिसिपल निर्वाचन की अपेक्षा धारासभा में उनका प्रवेश विशेष महत्त्व का सिद्ध होता है। सन १८६१ में ही प्रथमवार भारत में धारासभाओं का विस्तार हुआ। इससे पहले देशभर के लिए केवल एक ही बड़ी धारासभा थी। और उसके सदस्य सरकारी अधिकारी ही होते थे। किन्तु सन १८६१ के कानून से यह हालत बदल गई, अर्थात् बड़ी धारासभा को कायम रखकर मद्रास और बम्बई आदि प्रदेशों के लिए प्रान्तीय धारासभाएँ कायम की गई। इसी प्रकार इन दोनों सभाओं के लिए कुछ गैरसरकारी सदस्य चुननेका भी कौंसिल के अध्यक्ष को अधिकार दे दिया गया था, और ये सदस्य अतिरिक्त सदस्य कहे जाने लगे। इनकी संख्या बड़ी धारासभा में छह से बारह तक और प्रान्तिक सभा में कमसे कम आधे अतिरिक्त गैरसरकारी सदस्य चुने जानेका निश्चय हुआ, और इनकी अवधि दो वर्ष की रखी गई। इन अतिरिक्त सदस्यों अर्थात् माननीयों में सरकार किस प्रकार के लोगों को चुनती होगी, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं। किन्तु इसका यह आशय भी नहीं हो सकता कि सदैव ही निकम्मे आदमियों को सरकार ने चुना हो। क्योंकि दादाभाई, रानड़े, तैलंग, मेहता, और बद्रुद्दीन तैयबजी जैसे व्यक्तियों को भी इसी अधिकार से बम्बई सरकार ने अतिरिक्त सदस्य के नाते चुना था। किन्तु हमारे कहनेका मुख्य मुद्दा यह है कि इन पांच मुख्य एवं स्वतंत्र विचारवाले सदस्यों के सिवाय 'हां में हां' मिलाने या जी हुजूर कहनेवाले व्यक्ति ही अधिक प्रमाण में चुने गये थे। राजा लोग या बड़े २ सरकार अथवा बम्बई के प्रधान सेठ साहूकार या बेरोनेट, विशिष्ट जातियों के नेता, अल्पसंख्याकों के प्रतिनिधि, आदि अनेक वर्ग अतिरिक्त सदस्यों की जगह के लिए अधिकार दिखलाने को हमेशा तैयार रहते थे। और इन लोगों का अधिकार मान लेना सरकार को भी सुविधाजनक प्रतीत होता था। अतएव जहां एक दादाभाई अथवा फिरोजशाह मेहता सरकार की नियुक्ति से कौंसिल में पहुँचते थे, वहीं उनके आसपास इन दूसरे प्रकार के माननीयों का घेरा पड़ जानेसे, सरकार के पक्ष का बहु-

मत होनेमें इन लोगों से हमेशा पूरी २ सहायता मिलती रहती थी। और ऐसी दशा में प्रथम श्रेणि के सदस्यों को इस कहावत का अनुभव कर चुप हो जाना पड़ता था कि ' सत्ता के सन्मुख बुद्धिमत्ता नहीं चल सकती। एक—आधवार बम्बई के किन्हीं सेठजी का दिमाग़ चक्कर पर चढ़ जाता या उनके लिए भाषण लिख देनेवाला कठोर वृत्ति का होनेपर यदि वह असावधानी से क़लम चलाने लग जाता तो वे सरकार को खरी खोटी भी सुना देते थे। किन्तु वे बेचार क्या कहते हैं, इसे वे खुद भी समझते या नहीं यह तो ईश्वर ही जान सकता है। इसी शांत विचार के अनुरूप सरकारी सदस्य उनके प्रति दयाभाव ही प्रकट करते थे। कुछ भी हो किन्तु थे वे निरुपयोगी। अब रहे दूसरे प्रकार के 'हां हुजूर' कहनेवाले सदस्य, सो ये एक प्रकार से केवल कौंसिल के लिए मनोरंजन के ही साधन समझे जाते थे। कोई ख़ान्दानी धनाढ्यता दिखानेके लिए ठाट-माट करता तो कोई संस्थानिक (राजा–महाराजा) के रूप में अपनी विचित्रता दिखलानेके लिए रंग–बिरंगा पोशाक पहनकर वहां जाता था। किसी २ को गवर्नर साहब के ठीक सामने बैठने से उनकी सभ्यता के अनुसार बोलने या उठने बैठने तक का भान न रहता था। कोई २ लिख कर लाया हुआ भाषण पढ़ सुनाते समय स्कूल के विद्यार्थी की तरह रुक–रुक कर गलतियां करता, और इस तरह अपनी हँसी करता या और किसी २ सदस्य की तो यह दशा थी कि अपने पूरे दो वर्ष की सदस्यता में उसे होट तक हिलाने का मौका न आता था। ख़ास पूना नगर में ही दोनों प्रकार के सदस्यों का लोगों को अनुभव हो गया था। क्योंकि रा. ब. रानडे भी पूना के ही थे और खंडेराव रास्ते भी पूना के ही। इसमें से रानडे ने कौंसिल में अपना तेज किस प्रकार प्रकट किया, उसे सब जानते हैं। इसी प्रकार दूसरी और सरदार खंडेराव को किस प्रकार लोगों ने अपने लिए मज़ाक का साधन बनाया था, यह भी सब प्रकट है। ये अतिरिक्त सदस्य अपने को ऑनरेबल न कहलवाकर हॉनरबल कहाते थे। एक बार सरदार रास्ते के लिए भाषण लिख देनेवाले ने उस में Ascendency यह शब्द दुर्भाग्यवश लिख दिया। कहा जाता है कि इसे जब उन्होंने ' अस्केन्डेन्सी ' पढ़ा, तब तो कौंसिल के गंभीर स्वभाववाले सदस्य भी अपनी हँसी न रोक सके। खंडेराव रास्ते को पूनावाले " मेहुणपुरे का सितारा " कहा करते थे।

केसरी में वासुदेवराव केलकर लिखते हैं कि " रा. ब. खंडेराव रास्ते सरीखे सदस्यों को चुनने में क्या लाभ ? प्रिंसिपाल वर्ड्स्वर्थ सरीखे अंतेवासित्व के सौभाग्यवश कुछ दिनों के लिए जिनके पास रहनेसे अपनी ' मेन्टल क्वालिटी ' की ' आस्केन्डसी ' के कारण जिन्हें हरएक प्रश्न को ' ग्रन्द ' करने में कठिनाई

नहीं पड़ती, उन प्रभावशाली खूबसुरत, राजबिंदे, बड़े हानरबल को मि. पील तैलंग, और सर जेम्स फर्ग्यूसन के साथ कंधेसे कंधा भिड़ाकर कानून-निर्माण करनेका भारी जू मुह वांसीने 'आ' करके नीचे मुह करना पडा तो भी कुछ परवा नहीं, तो भी अच्छा होगा, वतिस्वत इसके कि वे ज्यों त्यों करते उसे खींचते रहे और इस प्रकार अपनी हँसी कराते रहे। चतुर किसान की यह रीति है कि वह नाजुक काम को किसी उद्दंड बैलपर नहीं छोड़ देता। बल्कि उसकी जोड में वह एक आध विश्वास पात्र किन्तु धीमा बैल जोड़ता है, जिससे कि उसे समयपर कष्ट नहीं उठाना पड़ता। इसी प्रकार हमारे यहां के गवर्नर साहब का भी रंगढंग दिखाई देता है। क्योंकि धारासभा के सभी एडीशनल मेम्बर होशियार एवं स्वतंत्रवृत्ति के नियुक्त कर देनेपर इस विचार से कि उस जंगी समाज को नज़र न लग जाय, दो एक ढब्बू हानरेबल को नियुक्त करनेसे भी वे कभी नहीं चूकते"। किन्तु यह दशा अधिक दिन बनी रहना असंभव था। सन १८६० से १८६० तक के तीस वर्षों में इस प्रांत के शिक्षाप्रचार से लोकस्थिति में बहुत कुछ अन्तर पड़ गयाथा; और राष्ट्रीय महासभा का जन्म हो जानेसे उसने राजनैतिक आकांक्षाएँ भी उद्दीपित कर दी थीं। इसी लिए धारासभा में सुधार करनेके लिए सरकार को बाध्य होना पड़ा। बम्बई की प्रसिद्ध राष्ट्रीय सभा में ब्रॅडला साहब का आगमन होनेसें सन १८८६ में कौंसिल का विषय भी खास तौरपर प्रसिद्ध हो गया। इधर विलायत जानेपर पार्लमेंट के सामने पेश करनेके लिए उन्होंने एक बिल भी तैयार कर लिया। इसके बाद सन १८६० में उन्होंने वह बिल हाउस ऑफ् कामन्स में दाखिल भी कर दिया। किन्तु अन्य कार्यों की गड़बड़ के कारण उसका कुछ भी उपयोग न हो सका। आगे चलकर सन १८६१-६२ का कौंसिल एक्ट पास हो जाने पर लोकनियुक्त सदस्य चुने जानेका सिद्धान्त प्रथमतः स्वीकार किया गया। उस समय ग्लेडस्टन साहब अधिकारारूढ न थे। किन्तु बिल में लोकनियुक्त प्रतिनिधि नियुक्त करनेकी बात स्पष्ट शब्दों में न कही जानेपर भी उन्हें विश्वास हो गया कि भारत सरकार इस सिद्धान्त का अमल करेगी। इस बिल के द्वारा बड़ी धारासभा के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या सोलहतक बढ़ा दी गई थी और प्रान्तीय कौंसिलों में उनकी संख्या बीस कर दी गई थी। इनमें से बम्बई प्रान्त की कौंसिल के लिए आठ जगहें निर्वाचनार्थ छोड़ दी गई थीं। किन्तु लोगों की दृष्टि में तो ये आठ स्थान अपर्याप्त थे ही, पर इनकी जो हिस्से-रसी की गई वह और भी बुरी थी। बम्बई सरकार के नियमानुसार इन आठ स्थानों में से दो सिंधप्रान्त के लिए, एक गुजरात के लिए और एक कोंकण एवं

कर्नाटक के लिए, तथा एक दक्षिण के सरदारों के लिए और शेष तीन ख़ास बंबई के लिए थे। सिंध और दक्षिण भारत के सरदारों के लिए रखे हुए स्थानों पर सरकार के ही किसी ख्याउदों के आनेकी संभावना थी, और बम्बई की तीन जगहों में से दो पर युरोपियन चुने जानेको थे, एक बम्बई की म्युनिसिपालिटी के लिए और एक युनीवार्सिटी के लिए छोड़ दी जानेपर, कही मात्र के लिए एक गुजरात की म्युनिसिपालिटीयों को और एक दक्षिण के लोकलबोर्डों को दी हुई। ये दो स्थान ही असल में सामान्य जनता के लिए बच रहे थे। क्योंकि यथार्थ में केवल पूनेके लिए न सही किन्तु फिर भी पूना बम्बई प्रान्त की दूसरी राजधानी के नाते जिस मध्यभाग में हैं उसके लिए स्थान रखा जाना आवश्यक था। किन्तु महाराष्ट्र को नाममात्र के लिए जो एक स्थान सरकारने दिया था, वह सरदारों के गले मँढे दिया जानेसे पूना और मध्यभाग के छह जिलों का सच्चा लोकप्रतिनिधि कोई भी नहीं चुना जानेको था। इन स्थानों को इस तरह बाँटने में पूना के बड़े चढ़े सुशिक्षितों को चपत जमाने विषयक विचार स्पष्ट ही प्रकट हो रहा था। फलतः इसका प्रतिकार करनेके लिए पूना एवं अन्य अनेक शहरों में इस विषय की विराट् सभाएँ हुई और सरकार के पास अर्ज़ी भी भेजी गई थी।

धारासभा के लिए सदस्य चुन देनेके अधिकार से मध्यभाग को वंचित रखनेपर पूनावाले बेतरह असंतुष्ट हो उठे। ता. ६ अप्रैल सन १८९३ के दिन अप्पा बलवंत के वाड़े के निकट पूर्णानन्द थेएटर में नारायण भाई दांडेकर की अध्यक्षता में एक विराट् सभा हुई, जिसमें कि सभी दलके लोग शामिल हुए थे। इस सभा के लिए दीवारों पर जो नोटीस लगाये गये थे, उनपर एक क़िलेका चित्र बनाया। उसके तीन द्वार मेंसे बीचका बंद रखागया था, शेष दो खुले हुए थे। किलेपर कुछ अंगरेज़ खड़े किये गये थे, और बीच के बंद दर्वाज़ेपर एक ब्राह्मण कुंडी खटखटाता हुआ खड़ा किया गया था। क्योंकि दरवाज़ा खटखटानेवाला ब्राह्मण था, अतएव वह बंद था। यदि दूसरा कोई होता तो संभवतः दर्वाज़ा बन्द भी नहीं किया जाता। इस बात को सब लोग जानते थे। हां, तो आगे चलकर पूनावालों का समाधान करने या उनका मुँह बन्द करनेके विचार से उसी वर्ष पूना म्युनिसिपालिटी के अध्यक्ष दोराबजी पदमजी को धारासभा में चुन लिया था! किन्तु लोक सरकार की इस चालबाज़ी को समझ गये थे, अतएव इस नियुक्ति से उन्होंने आन्दोलन को रोका नहीं। उक्त सभा की ओरसे लार्ड हेरिस के पास एक अर्ज़ी भेजी गई, जिसमें कि मध्यभाग का महत्त्व भली भांति प्रतिपादित किया जानेके साथही मध्यभाग की म्युनिसिपाटियाँ एवं लोकल

बोर्ड को मिलकर ही कमसे कम एक सदस्य रखनेके लिए प्रार्थना की गई थी। सरकार यदि चाहती तो पहले बाँटे हुए आठ स्थान यथावत् क़ायम रखकर भी इस मांग को पूराकर सकती थी। क्योंकि बीस अतिरिक्त सदस्यों में से आठ के बदले दस स्थान तक वह निर्वाचन के लिए रख सकती थी। किंतु बम्बई सरकार को तो विश्वास था कि मध्यभाग के लिए स्थान रखा जाते ही पूने का कोई न कोई राजद्रोही ब्राह्मण उसे हथिया लेगा। अतएव उसने अपने मूल नियम को ही कायम रखकर प्रसिद्ध कर दिया। इस तरह पहिली ही बार में उसने पूना-वालों को असंतुष्ट कर दिया, किंतु यह अन्याय अधिक दिनों तक कायम रह सकना असंभव था। सन १८९३ के निर्वाचन में गुजरात की ओरसे चिमनलाल हरी सेटलवाड और दक्षिणभाग की ओरसे बेलगाँव के वकील विष्णु रघुनाथ नातू चुने गये थे। क्योंकि पहले निर्वाचन की दो वर्ष की मर्यादा सन १८९५ में समाप्त होने को थी, किन्तु इसके पूर्व ही महाराष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव पड़ने से मार्च १८९५ में निर्वाचन के नये नियम भी प्रकाशित कर दिये गये। इनमें मध्यभाग के छह ज़िलों के लोकलबोर्ड के लिए सब मिलाकर एक स्थान रखा गया था। अलावा इसके दक्षिण के सरदार एवं गुजरात की म्युनिसीपालि-टियां तथा दक्षिणभाग (कर्नाटक-कोंकण) के लोकलबोर्ड की जगहें यथावत् ही बनी रहीं। असल में उत्तरभाग की म्युनिसीपालिटियों की तरह मध्यभाग वाली जगह भी म्युनिसीपालिटी को ही दी जानी चाहिये थी। किन्तु लोकल बोर्ड की अपेक्षा म्युनिसीपालिटियां अधिक स्वतंत्र होती हैं। क्योंकि निर्वाचन के विषय में जिला कलेक्टर ही लोकलबोर्ड का अध्यक्ष होनेसे उनके भय एवं सहायता से सरकार का पक्षपाती उमेदवार चुना जाने की ही अधिक संभावना थी। इसी बात को ध्यान में रखकर ख़ास तौर पर बंबई सरकार ने इस तरह की योजना की होगी।

मध्यभाग के लिए तजवीज किया हुआ स्थान पूना के ही किसी नेता द्वारा हथिया लिया जानेविषयक सरकार की अपेक्षा मिथ्या नहीं थी। और निर्वाचन के नये नियम प्रकट होते ही इस बात की चर्चा भी शुरू होगई कि इसके लिए कौन उमेदवार बनकर खड़ा होगा और अंत में किसका चुनाव होने की संभावना है। दक्षिणभाग की जहग के लिए विष्णुपंत नातूके सिवाय भाटे, छत्रे, आदि बेलगाँव के वकील और दाजी आबाजी खरे एवं श्यामराव विठ्ठल प्रभृति बंबई के वकील खड़े हुए थे। इनमें से केवल खरे के साथ ही तिलक की पूर्ण सहानुभूति थी, किन्तु अन्य उमेदवारों में भी कुछ उनके मित्र थे, अतएव केसरी के द्वारा इस सहानुभूति को व्यक्त करते हुए तिलक को

ऐसे असमंजस में पड़ जाना पड़ा। और उनकी यह कठिनाई मध्यभाग की ओर से बहुत ही अधिक प्रमाण में बाधक हुई, क्योंकि इस भाग के लिये वे खुद ही खड़े हुए थे। यह जिले के लोकलबोर्ड का मिलाकर एक स्थान दिये जाने का आशय यह नहीं हो सकता कि प्रत्येक जिला लोकलबोर्ड का प्रत्येक सभासद इस निर्वाचन के लिये मतदाता समझा गया हो। क्योंकि बोर्ड ने जिले की जनसंख्या के अनुसार किसी एक प्रमाण से अपने सदस्य को सब से पहले मतदाता के नाते चुन देने और उस से मतपत्रिका पर हस्ताक्षर करादेनेका नियम बना लिया था। इस योजनाके अनुसार चूद जिलों में मिलाकर पैंसठ मतदाता चुनने और उनमें से जिसे बहुमत मिले, उसीको सदस्य बनाने का निश्चय हुआ था। इनमें से खानदेश के १८, सितारा के १३, पूना के ११, नासिक के ६, अहमदनगर के ६, और सितारे के ८, इस प्रकार मत-विभाजन किया गया था। इस निर्वाचन के लिए तीन व्यक्ति उमेदवार बनकर खड़े हुए थे। एक रा. ब. श्रीराम भिकाजी जठार, दूसरे धोंडो श्यामराव गरुड, और तीसरे तिलक थे। इनमें से जठार पूना के नर्मदल की ओरसे केवल इसी विषय के लिए प्रतिनिधि थे। ये महाशय पहिली पुरत के ग्रेजुएट थे, और इनकी नौकरी बरार के सरकारी शिक्षा विभाग में ही ज्यादातर रही। पेंशन के समय ये इस प्रान्त के डायरेक्टर ऑफ् पब्लिक इन्स्ट्रक्शन अर्थात् मुख्य विद्याधिकारी थे। पेन्शन ले लेने पर ये पूने में आकर बस गये। पूना के नर्मदल की राष्ट्रीयता में केवल इतनी ही प्रगति हुई थी कि उनमें अध्यक्षता का मान अभीतक केवल पेंशनरों को दा दिया जाता था। क्योंकि ये एक बड़े ओहदेदार, सुशिक्षित और धनवान होने के साथ ही वयोवृद्ध भी थे, अतएव उन्हें आगे करके मध्यभाग की ओरसे जेनरेयल की जगह पर अपने पक्ष का उम्मेदवार बनाने का नर्मदलवालों ने निश्चय कर लिया था। किन्तु ये खुद मितभाषी, भिडस्त, पक्षपाती थे और इस तरह के कार्यों के लिए आवश्यक चपलता का भी उनमें अभाव था। अतएव उनके लिए प्रयत्न करनेका भार गोखले आदि नर्मदली नेताओं पर आ पड़ा। फलतः रा. ब. रानडे की सलाह और सिफारिश लेकर ये लोग सब काम करने लगे। दूसरे उम्मेदवार श्री. गरुड खानदेश के रहने वाले थे। इनका वंश अपने प्रान्त में बड़ा प्रसिद्ध था। इनके चचा गोविंदराव गरुड सब से पुराने वकील और व्यक्तिशः उदारचित्त एवं सज्जन स्वभाव के व्यक्ति होने से खानदेश के नेता माने जाते थे। धोंडो श्यामराव गरुड ने कुछ दिनों तक बम्बई में सालिसीटर का काम किया और इसके बाद उन्होंने इन्दौर स्टेट के न्यायविभाग में नौकरी करली थी। सन १८६४ में धूलिया जाकर इन्होंने वहीं अपना निवासस्थान बना लिया। इस तरह यह सिरंगी

सामना शुरू हुआ। प्रथमतः खुद गोविंदराव गरुड़ के ही उमेदवार बनकर खड़े होने की अफवाह थी, और यदि यह ख़बर सच होती तो तिलक ने उनके विरुद्ध खड़े न होने का निश्चय कर लिया था। अन्य बाधक कारणों के न रहने पर वृद्धजनों का समुचित सम्मान करनेकी प्रवृत्ति तिलक में जन्म से ही थी, और जिस प्रकार पूना की एक प्रान्तिक सभा का अध्यक्षस्थान इस्लामपुर के मराठी वकील गोविंदराव लिमये को दिया गया था, उसी प्रकार जान पड़ता है कि कौंसिल में प्रविष्ट होने का प्रथम सम्मान यदि गोविंदराव गरुड़ खड़े होते तो तिलक के प्रयत्न से निःसन्देह उन्ही को मिलता। अर्थात् इस दृष्टि से धोंडोपंत चचा की किसी भी प्रकार बरावरी नहीं कर सकते थे। अतएव यदि वे अपने चचा की सहायता से चुनाव के लिए खड़े होते तो तिलक कभी उनकी पर्वाह न करते। यद्यपि रा. ब. जठार भी अवस्था में वृद्ध थे, किन्तु वे नर्मदल की ओर से प्रतिस्पर्धी बनकर खड़े हुए थे, अतएव उनके मार्ग से अलग होने की तिलक के लिए कुछ भी आवश्यकता न थी।

इन तीनों उमेदवारों को तीन प्रकार से सहायता मिल रही थी। मतदाताओं की दृष्टि से अकेला खानदेश ही लगभग दो जिलों के बराबर था। और गरुड़वंश की प्रतिष्ठा के लिहाज़ से वहांके पूरे पंद्रह वोट उन्हींको मिलनेकी बात निश्चित सी थी। खानदेश ज़िला वैसे ही पिछड़ा हुआ था और लोकलबोर्ड के अधिकांश सदस्य वहांके अशिक्षित पटेल अथवा देशमुख ही थे। अतएव जब मतदाता के चुनाव के लिये सभा होती, तब अध्यक्षस्थान पर कलेक्टर और दाहिनी ओर डिपुटी कलेक्टर एवं बायीं ओर गरुड़ के बैठने से सब काम दोचार मिनट में ही समाप्त होजाता था। अर्थात् जहां डिपुटी ने उठकर सूची पढ़ी कि सब सदस्यों ने 'हां हुजूर' कर दिया। इस तरह चुने हुए पंद्रह वोटर यदि कलेक्टर साहब के सन्मुख खुल्लमखुल्ला मतपत्रिकापर हस्ताक्षर करनेके लिए जायँ, और वे गरुड़ का नाम चुन दें तो इसमें आश्चर्य जैसी बात ही क्या हो सकती है? सिवाय इसके स्थानिक अभिमान की दृष्टि से भी ऐसा होना उचित ही था। अपने ज़िले के उमेदवार को छोड़कर वे दूसरे के लिए अपना मत ही क्यों कर देते? इधर तिलक जो भी बिद्वान एवं चतुर पत्रसंपादक होनेके साथ ही सरकार के निर्भीक समालोचक थे, और कई-एक सार्वजनिक आन्दोलन के सूत्र भी इन्हीं के हाथ में रहते थे, किन्तु फिर भी खानदेश के देहाती लोग उन्हें कैसे पहचान सकते थे? इधर रा. ब. जठार के समर्थक स्वयं न्यायमूर्ति रानडे थे, अतएव यह कहा जासकता है कि प्रत्येक जिले के समस्त माडरेटों की सहायता जठार के ही पक्ष में थी। क्योंकि सरकारी नौकरी करनेवाला ऐसा कौन सुशिक्षित

था जो कि रानडे की बात को न मानता हो ! इधर तिलक को जो कुछ सहायता मिल सकती थी, वह सब उनकी लोकप्रियता के कारण जुटाये हुए अनेक मित्रों एवं राष्ट्रीय भावना जागृत रखनेवाले व्यक्तियों से ही। यदि गरुड़ को खानदेश के साथ २ अन्य स्थानों से सात या आठ वोट मिल जाते तो काम बन सकता था, और खानदेश से मिले हुए नासिक जिले में भी उनका प्रभाव कुछ कम न था। इसके विरुद्ध जठार या तिलक को किसी एक ही स्थान के सब मत मिलजाने की कोई सूरत ही न थी। जिस प्रकार खानदेश के मूल मतदाताओं का चुनाव एक-मत से होसकता था, वैसा तिलक या जठार के लिए होसकने की कुछ भी संभावना नहीं थी। ऐसी दशा में तो जिस उम्मेदवार के प्रयत्न से बहुमत उसके पक्ष में हो जाता वही विजयी हो सकता था। किन्तु इसमें भी यह विश्वास नहीं बँधाया जा सकता था कि निश्चित मतदाता सम्मिलित न होंगे। इधर तिलक भी स्वस्थानीय ग्रह की तरह पूने में प्रबल नहीं कहे जा सकते थे। यद्यपि यह ठीक है कि पूना शहर तिलक के लिए स्वगृह सा होरहा था, और यदि यह चुनाव खास पूना शहर या म्युनिसीपालिटी में होता तो अवश्य ही तिलक चुन लिये जाते। किन्तु उस समय जिलाबोर्ड की रचना ही इस प्रकार की थी कि, जिस में सरकारी अधिकारियों की प्रबलता रहती थी। और खास शहर के कुछ व्यक्ति बोर्ड के सदस्य रहने पर भी वे प्रायः सरकारी ढंग के ही होते थे। इस कारण निर्वाचन की दृष्टि से तिलक पूना जिले के लिए भी परकीय से हो रहे थे। इतने परभी वे सन १८९५ और १८९७ में छह जिलों के बहुमत से दो बार चुन लिए गये, किन्तु पूना के आठ मतों में से उन्हें एक भी मत नहीं मिला!

हां, तो क्योंकि इस समय पूने में पक्षभेद का आरंभ हो चुका था, अतएव एक ओर ज्ञानप्रकाश और सुधारक तो दूसरी ओरसे केसरी के द्वारा निर्वाचन-विषयक द्वंद्व खुल्लमखुल्ला शुरू हो गया। इधर उम्मेदवार के गुणवर्णन की दृष्टि से तिलक के खुद ही संपादक होनेके कारण केसरी को चुप हो कर बैठना पड़ता था। अतएव उसने केवल यही कार्य शुरू रखा था कि उम्मेदवार के नाते तिलक पर जो आक्षेप किये जाते उनका वह उत्तर देता रहे। क्योंकि बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता या राजनैतिक ज्ञान की दृष्टि से तिलक पर किसी प्रकार भी आक्षेप नहीं दिया जा सकता था। अतएव विपक्षियों ने यह सिद्धान्त प्रकट किया कि पत्रसंपादक को कौंसिल में नहीं जाना चाहिये। इसके लिए स्पेन्सर के मत का प्रमाण किया जाने लगा। किन्तु केवल इसी एक सिद्धान्त से तिलक का पक्ष गिराकर नर्मदल वाले अपने मत का समर्थन नहीं करा सकते थे। सुधारक अर्थात् आगरकर ने ही तिलक के विरुद्ध स्पेंसर का मत दिखलाया था, किन्तु आगरकर ने अपने

एक ही लेख में जहां केसरीसंपादक को कौंसिल में जानेसे मना किया था, उसीमें "केसरे हिन्द" के संपादक वाच्छा और सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक के संपादक गोपालराव गोखले वहां जानेकी सिफारिश की थी। इसी बात को लक्ष्य करके केसरी ने यह फंज्ती उड़ाई थी कि "सुधारकद्वारा सिफारिश किये हुए सम्पादकों को कानूनविषयक ज्ञान न होनेसे उनका कौंसिल में जाना उचित है और तिलक अपने इस ज्ञान के कारण यदि अयोग्य समझे जाते हैं तो क्या बुराई है!"

सन १८९५ में यह चुनाव का दंगल शुरू होगया और उम्मेदवारों के गुणदोष के अतिरिक्त उनकी स्वीकृत की हुई प्रयत्नपद्धति पर भी दोनों ही ओरसे टीका–टिप्पणी होने लगी। तिलक के पक्षपाती–कहते थे कि रा. ब. जठार, न्यायमूर्ति रानडे की सिफारिशी चिट्ठियाँ ले जाकर ज़िले के अधिकारियों को देते हैं, और कलेक्टर लोग तिलक के विरुद्ध मत प्राप्ती के लिए प्रयत्न करते हैं। इसका उत्तर नर्मदल की ओरसे यह दिया जाता था "तिलक भी तो कहां इससे बचे हुए है? उनके मित्र बाबासाहब पेंडसे मध्यभागस्थ रेविन्यु कमिश्नर के मुख्य असिस्टंट होनेसे एवं तहसील भरके सभी तहसीलदारों की चोंटी उनके हाथ में रहने से सरकारी अधिकारियों की सहायता तिलक को भी तो मिल रही है!" वस्तुतः इन दोनों ही आक्षेपों में कोई तंत न होनेसे ये व्यर्थ थे। क्योंकि चुनाव के तीनों ही उम्मेदवार यथासाध्य उपायों से चुनाव के प्रयत्न में अपने पक्षसमर्थन के लिए अधिकारियों का उपयोग कर रहेथे। अन्तर केवल यही था कि एक को यह अधिकारी काम देता था और दूसरे को वह। अर्थात् रानड़े की चिठ्ठियों पर से तहसील के मजिस्ट्रेट जठार के लिए प्रयत्न करते थे, और बाबासाहब पेंडसे का रुख देखकर उसी तहसील के तहसीलदार तिलक के लिए कोशिश करते थे। कितने ही स्थानों निजी सहानुभूति एक ओर रहती थी तो प्रकट सहायता दूसरी ओर देनी पड़ती थी। इस तरह जठार–तिलक को प्रधान सहायता रानड़े–पेंडसे की ओरसे मिलती समझकर लोगों ने इस मुद्देपर एक उक्ति बना ली थी। क्योंकि रानड़े का घर रामेश्वर के देवालय के निकट था और पेंडसे सोट्या म्हसोबा के मंदिर के निकट रहते थे, अतएव इसी बात को लक्ष्य कर खुल्लमखुल्ला नाम लेना छोड़ एकने यों कहना शुरू किया कि जठार पर श्रीरामेश्वर प्रसन्न हुए है, इस लिए आज उनका बोलबाला है तो दूसरा इसके जवाब में यह कहने लगता कि तिलक पर सोट्या म्हसोबा की कृपादृष्टि हुई है, अतएव बिचारे भोले भाले रामेश्वर का उन दंडधारी उग्र देवता के आगे क्या वश चल सकता है? अंत में जाकर तिलक पक्ष की विजय होती देख कितने ही

पत्रों ने तिलक पर निर्मोयमयी घासवी शक्ति का प्रयोग करनेकी भी सूचना शुरु की। सन १८६१ के कौंसिल एक्ट के द्वारा निर्वाचन का सिद्धान्त अप्रत्यक्ष रूप में ही स्वीकृत हुआ था। किन्तु निर्वाचन से सदस्यों की संख्या नियमित होगई, और तदनुसार मतदाताओं के संघ भी बन गये। किन्तु इन नियमों द्वारा ही सरकार ने एक बात अपने मतलब की यह अधिकार में रखी थी कि किसी भी मतदार-संघ की ओरसे अपना प्रतिनिधि चुना दिया जानेपर भी उसे वह स्थान निर्वाचन के अधिकार से मिल ही जाना चाहिये, सो बात नहीं है। क्योंकि मतदारों का कर्तव्य केवल यही था कि वे अपना प्रतिनिधि चुनकर गवर्नरसाहब के सामने खड़ा करदें। इसके बाद यदि वे उसे योग्य समझें या उससे उनके कार्य में किसी प्रकार की हानि पहुँचने की संभावना न हो तो वे उसे अपने हाथ से उसे कौंसिल में भेज देते थे। इन दोनों कार्यवाहियों के बीच का भेद अत्यंत सूक्ष्म कहा जा सकता है। यह ठीक है कि मतदारों की ओरसे चुना हुआ व्यक्ति गवर्नर को नापसंद होनेसे अयोग्य सिद्ध हुआ हो, यह सहसा नहीं होती। किन्तु अंधाधुन्दी का यह हथियार कहीं भी देखिये, वह इसी प्रकार के सूक्ष्म भेदमें छुपा दिखाई देगा, और बिल्ली के नाखून की तरह वे जब इच्छा हो आगे बढ़ाये भी जा सकते हैं। इस निर्वाचनके नियम में केवल 'इलेक्टेड' शब्द नहीं था, बल्कि "ऑन् इलेक्शन, श्रुड् बी प्रेसिडेंट टु दि गवर्नर फॉर नामिनेशन" के लम्बे वाक्य से चुनाव का आशय लिया गया था। और इन्हीं शब्दों से लाभ उठाकर बम्बई गज़ट नामक पत्र ने खुल्लमखुल्ला लिख दिया था कि तिलक को एक 'विसाट व फाजिल' पत्र के संपादक होनेसे यदि मध्य भाग क मतदारों ने चुन भी लिया तो भी अंत में गवर्नर लॉर्ड सेन्डहर्स्ट को अपने अधिकार के बलपर यह चुनाव रद्द कर देना चाहिये। इस हित वचन का तिलक ने यहीं तक सदुपयोग किया कि, बम्बई गजट के संपादक जिस आशय से इस उपाय का अवलम्बन करनेको कहते हैं, उसे देखकर यहीं प्रतीत होता है कि तिलक को ही चुनना सब प्रकार उचित होगा। केसरी लिखता है कि 'लोगों की ओरसे तिलक पहिली ही बार नहीं चुने जा रहे हैं। उन्हें बम्बई यूनिवर्सिटी का फेलो बनाते समय उस चुनाव को स्वीकार या अस्वीकार करना गवर्नमेंट के हाथ में था। किन्तु उस समय लार्ड हेरिस का शासनकाल रहते हुए भी इस निर्वाचन को रद्द करने की हिम्मत तक किसी ने नहीं की। ऐसी दशा में गजट के संपादक के लिए आज ही इस प्रकार के विचार सूझनेका कारण क्या होना चाहिये, यह हमारी समझ में नहीं आ सकता।" इसके बाद से केसरी के लिखने का मुकाव इस तरह का था कि जठार के सहायकों ने तिलक का पक्ष कमज़ोर बनाने के

लिए ज़िले में जहां २ उनका वश चल सका, ख़ास युरोपियन कलेक्टर तक को उन के जिला बोर्ड के सदस्य होने के कारण धारासभा का मतदार चुना, और इतने पर भी जब काम बनता न देखा, तब उन्हों ने इस अजीब युक्ति से बम्बई गजट के संपादक द्वारा लोकमत को अपनाना चाहा हैं। गजट के भूतपूर्व सम्पादक मेक्लीन साहब ने खुल्लमखुल्ला पार्लमेंट में कह दिया था कि 'ह्यूम साहब भारतीयों को राजनीति सिखाते है, अतएव उन्हें गोलीमार कर ख़त्म कर देना चाहिये।' इस उद्गार को लक्ष्य करके केसरी लिखता है कि 'बम्बई गजट की परम्परा ही इस प्रकार द्वेषयुक्त रहती आई है, और कॉंग्रेस के एक युरोपियन संचालक को जो गोली मारने की सलाह देता हो उसकी ओर यदि कॉंग्रेस के एक स्थानिक मंत्री के लिए कौंसिल में न जाने देने सूचना प्रकट की जाय तो इसमें आश्चर्य जैसी बात ही क्या है? सारांश; गजटने यह सूचना जितने अंश में तिलक का विरोध करनेके लिए की थी, उतनी ही वह जठार के लिए प्रत्यक्ष रूप में सहायता पहुँचा सकती थी। क्योंकि लोगों के कहने मात्र से ही गजटने निर्वाचन के पूर्ण जानबूझकर लिखमारा था कि मध्यभाग के उमेदवारों में विजयी होनेवाले एकमात्र जठार ही हैं। इस तरह गजट के विधानों को एकत्र करनेपर स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि केसरी ने उसे इस अंतिम युक्ति के सुझाने का अपयश दिया वह यथार्थ ही था। इस मुद्दे पर केसरी में एक जगह ये शब्द आये थे कि "ये सुनहरे विचार खुद गज़ट— संपादक के मुख से व्यक्त होने पर भी... ई.।" इनमें 'सुनहरे' शब्द द्व्यर्थक के रूप में प्रयुक्त हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। क्यौंकि इस सुनहरे-शब्दका अर्थ बहुमूल्य अवश्य होता है, किन्तु इसी के साथ २ और भी कई मतलब निकाले जा सकते हैं। यथा, सोहनीनामक जठार के एक मित्र और पूना ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपाल रा. ब. विष्णु बालकृष्ण सोहनी से भी यदि तिलक ने इस शब्दद्वारा अपना आशय व्यक्त किया हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि केसरी के पाठक जानते ही हैं कि इस तरह नामों पर कोटियां लड़ाकर कभी २ तिलक भी अपना मंतव्य प्रकट किया करते थे। और हम समझते हैं कि बंबई गजट की ओरसे इस प्रकार के विचार प्रकट किये जाने पर तिलक को किसी प्रकार हानि पहुँचने के बदले उनके प्रति लोगों की सहानुभूति ही बढ़ी होगी। ऍंग्लोइंडियन पत्रों की सिफारिश निर्वाचन के कार्य में प्रायः साधक की अपेक्षा बाधक ही अधिक सिद्ध होती है। इतने पर भी लार्ड सेन्डहर्स्ट ने अपने अधिकार का दुरुपयोग भले ही न किया हो, किन्तु केसरी ने विवाद के जोश में इस प्रकार की नादानी भरी युक्ति सुझाने का आरोप उस पर लगाही तो दिया। फिर भले ही यह मिथ्या सिद्ध हुआ हो, किन्तु उस क्षुब्ध

वातावरण में कई एक व्यक्तियों को उसकी सत्यता पर विश्वास हो सकनेकी संभावना थी। इसके चौदह वर्ष बाद सरकार के हाथ से इस अधिकार के दुरुपयोग होनेका प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाई दिया, और केसरी के पाठक जानते हैं कि इस बार भी नर्मदल पर इसी प्रकार का आक्षेप लगाया गया था। सन १९०६ में नरसिंह चिंतामन केलकर मध्यभाग के लोकलबोर्ड की ही ओरसे चुनाव के लिए खड़े हुए और उनके लिए मतदान भी आरंभ हो गया था कि, इसी बीच एन वक्त पर बंबई के गवर्नर सर जार्ज क्लार्क ने उपरिनिर्दिष्ट अधिकार का उपयोग कर यह रिमार्क देते हुए कि 'केलकर का सदस्य होना सरकार के लिए अनिष्टकारक है, अतएव वे कौंसिल में बैठनेके पात्र नहीं हो सकते'– उनकी उम्मेदवारी कार्यकारी कौंसिल के प्रस्ताव से अस्वीकार कर गज़ट में छपवा दी। अर्थात् केलकर के प्रतिस्पर्धी उम्मेदवार हरी नारायण आपटे पर इस षड्यंत्र के रचने का लोकापवाद लगाया गया। किन्तु जिस प्रकार आपटे पर यहीं आरोप लगाया जाता हमें निराधार प्रतीत होता है, उसी प्रकार हम जहालपक्ष पर लगाया हुआ तबका आरोप भी निराधार ही समझते हैं। गज़ट की सूचना स्वयं उसके सम्पादक को ही सूझने जैसी थी। इसके बाद केलकर की उम्मेदवारी नामंजूर करने का सच्चा कारण गत वर्ष हाईकोर्ट का अपमान करने पर उन्हें दी गई डेढ़वर्ष की सजा ही था। क्योंकि इस बात को खुद गवर्नर साहब ने कई लोगों के सन्मुख कर सुनाया था।

किन्तु दक्षिण विभाग के चुनाव का झगड़ा इतना तीव्र न था। दाजी साहब खरे के प्रतिस्पर्धी नातू और धुम्रे ने जब स्वेच्छापूर्वक अपना नाम वापस लेलिया, तब अकेले भाटे वकील ही उनके प्रतिपक्षी रह गये। किन्तु इन दोनों में से खरे को ही अधिक मत मिलने की संभावना थी। उत्तर विभाग की ओर सेटलवाड और गोकुलदास पारेख के बीच बहुत कुछ छीनाझपटी चली। इनमें से जो कोई भी चुना जाता, वह सरकार से टक्कर ही लेता। बम्बई यूनिवर्सिटी की ओरसे मि० सेठ्ना, मि. मेकिन्न, बॅरिस्टर कर्के पॅट्रिक, और जव्हेरिलाल उमियाशंकर याज्ञिक ये चार उम्मेदवार खड़े हुए थे। किन्तु इनमें से याज्ञिक के लोकहितपटु होनेसे बहुमत उन्हीं को मिलने का संभव था।

अंत में मध्यभाग के चुनाव का काम ता. १८ मई को समाप्त हुआ, और मतपत्रिकाओं की जांच होनेपर तिलक को ३१, गरुड़को २६ और रा. ब. उज़ार को कुल दोही मत मिले। सितारा, सोलापूर और नासिक इन तीनों जिले के पूरे अर्थात् ३० मत अकेले तिलक को मिले! सिवाय इसके खानदेश, पूना और अहमदनगर इन तीन ज़िलों से भी एक-एक दो दो मत उन्हें मिलगये। पूना

लिए ज़िले में जहां २ उनका वश चल सका, ख़ास युरोपियन कलेक्टर तक को उन के जिला बोर्ड के सदस्य होने के कारण धारासभा का मतदार चुना, और इतने पर भी जब काम बनता न देखा, तब उन्हों ने इस अजीब युक्ति से बम्बई गजट के संपादक द्वारा लोकमत को अपनाना चाहा हैं। गजट के भूतपूर्व सम्पादक मेक्लीन साहब ने खुल्लमखुल्ला पार्लमेंट में कह दिया था कि 'ह्यूम साहब भारतीयों को राजनीति सिखाते है, अतएव उन्हें गोलीमार कर ख़त्म कर देना चाहिये।' इस उद्गार को लक्ष्य करके केसरी लिखता है कि 'बम्बई गजट की परम्परा ही इस प्रकार द्वेषयुक्त रहती आई है, और काँग्रेस के एक युरोपियन संचालक को जो गोली मारने की सलाह देता हो उसकी ओर यदि काँग्रेस के एक स्थानिक मंत्री के लिए कौंसिल में न जाने देने सूचना प्रकट की जाय तो इसमें आश्चर्य जैसी बात ही क्या है? सारांश; गजटने यह सूचना जितने अंश में तिलक का विरोध करनेके लिए की थी, उतनी ही वह जठार के लिए प्रत्यक्ष रूप में सहायता पहुँचा सकती थी। क्योंकि लोगों के कहने मात्र से ही गजटने निर्वाचन के पूर्व जानबूझकर लिखमारा था कि मध्यभाग के उमेदवारों में विजयी होनेवाले एकमात्र जठार ही हैं। इस तरह गजट के विधानों को एकत्र करनेपर स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि केसरी ने उसे इस अंतिम युक्ति के सुझाने का अपयश दिया वह यथार्थ ही था। इस मुद्दे पर केसरी में एक जगह ये शब्द आये थे कि "ये सुनहरे विचार खुद गज़ट– संपादक के मुख से व्यक्त होने पर भी... ई.।" इनमें 'सुनहरे' शब्द द्व्यर्थक के रूप में प्रयुक्त हुआ हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि इस सुनहरे–शब्दका अर्थ बहुमूल्य अवश्य होता है, किन्तु इसी के साथ २ और भी कई मतलब निकाले जा सकते हैं। यथा, सोहनीनामक जठार के एक मित्र और पूना ट्रेनिंग कॉलेज के प्रिंसिपाल रा. ब. विष्णु बालकृष्ण सोहनी से भी यदि तिलक ने इस शब्दद्वारा अपना आशय व्यक्त किया हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि केसरी के पाठक जानते ही हैं कि इस तरह नामों पर कोटियां लड़ाकर कभी २ तिलक भी अपना मंतव्य प्रकट किया करते थे। और हम समझते हैं कि बंबई गजट की ओरसे इस प्रकार के विचार प्रकट किये जाने पर तिलक को किसी प्रकार हानि पहुँचने के बदले उनके प्रति लोगों की सहानुभूति ही बढ़ी होगी। एँग्लोइंडियन पत्रों की सिफारिश निर्वाचन के कार्य में प्रायः साधक की अपेक्षा बाधक ही अधिक सिद्ध होती है। इतने पर भी लार्ड सेन्डहर्स्ट ने अपने अधिकार का दुरुपयोग भले ही न किया हो, किन्तु केसरी ने विवाद के जोश में इस प्रकार की नादानी भरी युक्ति सुझाने का आरोप उस पर लगाही तो दिया। फिर भले ही यह मिथ्या सिद्ध हुआ हो, किन्तु उस क्षुब्ध

वातावरण में कई एक व्यक्तियों को उसकी सत्यता पर विश्वास हो सकनेकी संभावना थी। इसके चौदह वर्ष बाद सरकार के हाथ से इस अधिकार के दुरुपयोग होनेका प्रत्यक्ष उदाहरण दिखाई दिया, और केसरी के पाठक जानते हैं कि इस बार भी नर्मदल पर इसी प्रकार का आक्षेप लगाया गया था। सन १६०६ में नरसिंह चिंतामन केलकर मध्यभाग के लोकलबोर्ड की ही ओरसे चुनाव के लिए खड़े हुए और उनके लिए मतदान भी आरंभ हो गया था कि, इसी बीच एन वक्त पर बंबई के गवर्नर सर जार्ज क्लार्क ने उपरिनिर्दिष्ट अधिकार का उपयोग कर यह रिमार्क देते हुए कि 'केलकर का सदस्य होना सरकार के लिए अनिष्टकारक है, अतएव वे कौंसिल में बैठनेके पात्र नहीं हो सकते'— उनकी उम्मेदवारी कार्यकारी कौंसिल के प्रस्ताव से अस्वीकार कर गज़ट में छपवा दी। अर्थात् केलकर के प्रतिस्पर्धी उम्मेदवार हरी नारायण आपटे पर इस षड्यंत्र के रचने का लोकापवाद लगाया गया। किन्तु जिस प्रकार आपटे पर यह आरोप लगाया जाता हमें निराधार प्रतीत होता है, उसी प्रकार हम उदारपक्ष पर लगाया हुआ तबका आरोप भी निराधार ही समझते हैं। गज़ट की सूचना स्वयं उसके सम्पादक को ही सूझने जैसी थी। इसके बाद केलकर की उम्मेदवारी नामंजूर करने का सच्चा कारण गत वर्ष हाईकोर्ट का अपमान करने पर उन्हें दी गई देवदंड की सजा ही था। क्योंकि इस बात को खुद गवर्नर साहब ने कई लोगों के सन्मुख कर सुनाया था।

किन्तु दक्षिण विभाग के चुनाव का झगड़ा इतना तीव्र न था। दाजी साहब खरे के प्रतिस्पर्धी नातू और लुम्रे ने जब स्वेच्छापूर्वक अपना नाम वापस लेलिया, तब अकेले माटे वकील ही उनके प्रतिपक्षी रह गये। किन्तु इन दोनों-में से खरे को ही अधिक मत मिलने की संभावना थी। उत्तर विभाग की ओर सेटलवाड और गोकुलदास पारेख के बीच बहुत कुछ छीनाझपटी चली। इनमें से जो कोई भी चुना जाता, वह सरकार से टक्कर ही लेता। बम्बई यूनिवर्सिटी की ओरसे मि० सेठ्ना, मि. मैकेकन्, बेरिस्टर कर्क पेट्रिक, और जव्हेरिलाल उमियाशंकर याज्ञिक ये चार उम्मेदवार खड़े हुए थे। किन्तु इनमें से याज्ञिक के लोकहितपटु होनेसे बहुमत उन्हीं को मिलने का संभव था।

अंत में मध्यभाग के चुनाव का काम ता. १८ मई को समाप्त हुआ, और मतपत्रिकाओं की जांच होनेपर तिलक को ३५, गर्दे को २६ और रा. ब. उदार को कुछ थोड़े मत मिले। सितारा, सोलापूर और नासिक इन तीनों ज़िले के पूरे अर्थात् ३० मत अकेले तिलक को मिले। सिवाय इसके खानदेश, पूना और अहमदनगर इन तीन ज़िलों से भी एक-एक दो दो मत उन्हें मिलगये। पूना

के ग्यारह वोट में से छह गरुड़ को मिले । अलावा इसके खानदेश में १२ और अहमदनगर के ८ मिलाकर २६ वोट उनके हो गये । पैंसठ में से एक मतदाता ने वोट ही नहीं दिया, और एक अग्राह्य समझा गया । शेष ६३ का हिसाब उपर्युक्त विवेचन के अनुसार रहा ।

इस तरह चुनाव का निर्णय प्रकट हो जाने पर भी विवाद की आवाज़ धीमी नहीं हुई थी । अर्थात् नर्मदल ने खुल्लमखुल्ला कहा कि तहसीलदारों ने ही अपने अधिकार का दुरुपयोग कर तिलक को वोट दिलवाये हैं । यह आक्षेप गज़ट में प्रकाशित हो जानेसे, तिलक ने इसका समुचित उत्तर भी दे डाला । यही नहीं बल्कि तिलक की ओरसे यह साबित किया गया कि नाशिक और पूने में कलेक्टर और असिस्टंट कलेक्टर ने ही तिलक के खिलाफ़ खुल्लमखुल्ला प्रयत्न किया था । किन्तु यह विवाद आगे चल कर अधिक दिन टिक न सकता था । इधर सरकार की ओरसे चुनाव मंजूर कर लिया जानेसे यह विवाद अपने आप मिट गया । अबतक तो तिलक की उद्योगिता एवं सूत्रचालकता की प्रचीति स्थानिक कार्यों के ही उपयुक्त प्रतीत हुई थी, और पूना म्युनिसिपालिटी का चुनाव तो उन्हें न कुछसा जान पड़ता था । इसी प्रकार पिछले वर्ष जब वे युनिवर्सिटी के फेलो बनाये गये, तब भी उन्हें विशेष श्रम न करना पड़ा । अधिकांश कार्य डाक-विभाग के ही द्वारा हुआ । किन्तु इस धारासभा के चुनाव के समय अवश्य ही नये प्रकार का अनुभव प्राप्त हुआ । यह हम ऊपर दिखला ही चुके हैं कि सामान्य जनता की सहानुभूति को छोड़कर अन्य सब बातें किस प्रकार उनके लिए प्रतिकूल थीं । किन्तु ऐसे प्रसंगपर भी तिलक ने अपनी उद्योगशालिता एवं कई एक सच्चे सहायकों के प्रयत्न से निर्वाचन में बाजी जीत ही तो ली । तिलक की ओरसे निर्वाचन के लिए खड़े होने की सूचना मिलते ही मतदारों की सूची सबसे पहले प्राप्त करनेके प्रयत्न से लगाकर मतपत्रिकाओं के निर्णय तक को सबसे पहले जाननेका प्रयत्न उन लोगों ने दिनरात किया । वैयक्तिक दृष्टि से जठार और गरुड़ की फुर्ती, मेहनत, तिलक के हिसाब से कुछ भी नहीं थी । इस निर्वाचन के कार्य में तिलक को दो बड़े २ सहायक मिल गये थे, उनमें एक तिलक के मित्र और चित्रशाला प्रेस के मालिक वासुदेवराव जोशी थे, और दूसरे तिलक के भानजे धोंडोपंत विद्वांस । इन दोनों के किये हुए परिश्रम और इनकी योजना की हुई युक्तियों का वर्णन सुनकर कई वार हमारा मनोरंजन हुआ है ।

ता. १२ जून सन १८९५ को धारासभा के मंत्री एच. डब्ल्यू. हेवर्ड की ओरसे तिलक के पास उनका निर्वाचन स्वीकार किये जाने विषयक पत्र पहुँचा ।

इसके बाद अगस्त महिने में जब धारासभा की पहिली बैठक हुई, उसमें तिलक मौजूद थे। इसी बैठक में बम्बई प्रान्त के बजट पर विचार हुआ था। आज-कलके हिसाब से उस समय कौंसिल के सदस्यों की संख्या बहुत ही कम थी, और बैठक भी कम होतीं एवं बैठक के दिन भी इनेगिने ही होते थे। प्रस्तुत बैठक में पांच सदस्यों ने मिलकर कुल ३८ प्रश्न किये थे। इनमें जव्हेरीलाल याज्ञिक के प्रश्न १२ थे, और फीरोज़शाह के आठ तथा दाजीसाहब खरे के चार, तिलक के छह, और सेटलवाड के आठ थे। क्योंकि इस समय सदस्यों की संख्या बहुत ज्यादा बढ़गई है, अतएव यदि एक ही सभासद दस बीस प्रश्न कर बैठे तो कोई आश्चर्य जैसी बात नहीं मानी जाती। सर जार्ज क्लार्क के कार्यकाल में दादा साहब करंदीकर ने एकबार कौंसिल के गले में पूरे एकसौ आठ प्रश्नों की माला पहना दी थी। बजटपर चर्चा करने का अधिकार तो कौंसिलरों को था, किन्तु उसकी मर्यादा बाँध दी गई थी। सन १८६४ में जव्हेरीलाल याज्ञिक को बजट पर भाषण करते समय बीच में गवर्नर ने यह कह कर कि 'आप विषयान्तर कर रहे हैं'–रोक दिया था। सन १८६५ का बजट निरस अवश्य था, किन्तु उद्दंड लार्ड हेरिस की जगह पर गरीब दिखाई देनेवाले लार्ड सेन्डहर्स्ट के आजाने से तिलक को प्रतीत होता था कि इस नीरस बजटपर भी कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त-विषयक प्रश्न किये जा सकेंगे। बजट के लिए पार्लमेन्ट से मंजूरी मिलती है, अर्थात् यह अधिकार यद्यपि नये एक्ट के द्वारा कौंसिलों को नहीं मिला था, किन्तु फिर भी मंजूरी को छोड़कर अन्य प्रकार से कौंसिल का वाद-विवाद वे लोकनियुक्त प्रतिनिधि ठीक पार्लमेंट के ढंग पर किया चाहते थे। इसी अवसर पर यह प्रश्न प्रधानरूप से लोगों के सामने था कि, प्रान्तिक और भारतसरकार के बीच आर्थिक-सम्बन्ध किस प्रकार का रहे। क्योंकि नाममात्र के लिए इन दोनों सरकार के बीच पांच-पांच वर्ष का एक इकरार होता था। किन्तु खर्च का बोझ सिरपर आनेकी दशा में उसे प्रान्तिक सरकार के माथे मँढा देनेकी आदत भारतसरकार को लग चुकी थी अतएव इसको नामशेष करनेके लिए सभी सरकारी और गैरसरकारी सदस्यों की ओरसे इस बात पर ज़ोर दिया जा रहा था कि उस पांच वर्ष के इकरार में अभी दुरुस्ती होजानी चाहिये। साथ ही उसे पूरा करनेका विश्वास भी भारतसरकार की ओरसे दिलाया जाना चाहिये। क्योंकि उस समय यही ध्येय रखना उचित दिखाई देता था कि बड़ी सरकार से अधिक आय के विभाग अपने हाथ में लेकर उन्हें स्वतंत्रता-पूर्वक खर्च करनेका अधिकार प्रान्तिक सरकार पहले प्राप्त करले। और इसके बाद उसे खर्च करनेके नियम बनाने पर वाद-विवाद होता रहे। तिलक ने

अपने भाषण में इसी मुद्दे पर विशेषरूप से चर्चा की। क्योंकि सन १८७० से यह पंचवार्षिक वचन–बद्धता की प्रथा शुरू हुई थी। अतएव अबतक उसके बाद चार बार ऐसा होकर पांचवे इकरार का चोथा वर्ष चलरहा था। फलतः तिलक ने सन १८७० से पूर्व के जम्मख़र्ची अंकोंपर से यह दिखाया कि इन पचीस वर्षों में बम्बई प्रान्तकी आय साढ़े पांच करोड़ बढ़ी और प्रजा को कष्ट पहुँचानेवाले विषयोकी हद् से जादा वृद्धी होगई है। पंचवार्षिक इकरार के मूल उद्देश्यानुसार यह वृद्धि मुख्यतः लोकोपयोगी कार्योंमें ही ख़र्च की जानी चाहिये थी किन्तु ऐसा न करके वह अनुचित कार्यों में खर्च कर दी गई और ख़ातेवार खर्च बढ़ाकर जो आमदनी बची थी उसे भारतसरकार लेकर बैठ गई। इन बातों के सिवाय तिलक ने अपने भाषण में जंगल और आबकारी विभाग के कारोबार पर भी विशेषरूप से टीका–टिप्पणी की थी। पच्चीस वर्ष में यह आय बढ़कर २४ लाख अधिक होगयी, किन्तु इसीकें साथ २ खर्च भी २१ लाख बढ़गया। अर्थात् सरकार को केवल तीन लाख रुपये की बचत करानेके लिए लोगों को २५ लाख रुपये अधिक देने पड़े। इसी लिए तिलक ने कहा था कि आबकारी विभाग में प्रतिवर्ष दूकानों की संख्या कम की जाय, फिर भले ही यदि उससे आय कम हो तो पर्वाह न की जाय। किन्तु उस समय भी आजकल की तरह सरकारी अधिकारीयों की ओरसे सूखा जवाब दे दिया जाता था। वास्तव में यदि कोई सूचना अमल में न लाई जासकती हो तो सरकार का कर्तव्य है कि वह दूसरी सूचना उपस्थित करे, और जिस किसी भी प्रकार से हो उस प्रयत्नकर्ता का उद्देश्य सफल होजाय, इस प्रकार की व्यवस्था करदे। किन्तु ऐसी बातोंपर जैसा अब कौंसिल में शान्तिपूर्वक विचार नहीं होता, उसी प्रकार का अनुभव उन दिनों भी होरहा था। मतलब यह कि कौंसिल की कार्यवाही के प्रति तिलक की जरा भी आदरबुद्धि न थी इसी लिए कभी २ वे इसे 'फार्स' या 'प्रहसन' के नामसे भी संबोधित किया करते थे। किन्तु फिर भी वे कौंसिल में जाना राजनैतिक क्षेत्र में काम करनेवालों के लिए अन्य कार्यों की ही तरह एक आवश्यक कार्य समझते थे। इसी लिए उन्होंने इसे व्यवहार में ला दिखाया था। ता. २१ जनवरी सन १८९६ के केसरी में निम्नलिखित वाक्य पाये जाते हैः—"धारासभा एक प्रकार से मजाक सी प्रतीत हुए बिना नहीं रह सकती। क्योंकि गत् बार कौंसिल का काम कुल ४५ मिनिट ही हुआ। इतनेसे समय में लगभग बीस प्रश्नों के उत्तर और कुछ काग़ज-पत्रों की पढ़ाई एवं एक बिल का मसौदा मंजूर करने की विधि भी होगई। 'यथा यक्षस्तथा बलिः' के न्यायानुसार तिलक को इस बैठक में केवल तीन ही प्रश्न करनेका मौका मिला। किन्तु

सन १८६५-६६ के बीच पंचवार्षिक इकरार पर उन्होंने एक विस्तृत अर्थात् लगभग २० सफे का निबंध लिखकर तैयार किया, जिसमें कि उपरिनिर्दिष्ट आलोचना के ध्येय का अनुसरण कर एकतरफ से सब विभागों के अदाखे निकालते हुए तपसीलवार बतलाया था कि आय-व्यय में वृद्धि कैसे हुई, और इन दोनों विभागों में प्रजा के हित की ओर जिस प्रकार दुर्लक्ष किया गया है साथ ही उस लेख में यह बात भी सिद्ध की गई थी कि जिस प्रकार गड़रिया अपनी पालतू भेड़ों के शरीर पर की ऊन एक निश्चित समय के बाद कैंची से काट लेता है, उसी प्रकार का व्यवहार बड़ी सरकार की ओरसे प्रान्तिक सरकार के साथ किया जाता है। यह निबंध सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक में अप्रैल सन १८६६ के अंक में प्रकाशित हुआ है। यद्यपि उसमें लेखक की जगह तिलक का नाम नहीं है। किन्तु इसी विषय पर इसी त्रैमासिक में रा. ब. रानडे इसी प्रकार के चार लेख लिखकर पिछले चारों पंचवार्षिक इकरारों का सूक्ष्मावलोकन किया था। उन लेखोंपर भी लेखक की जगह रानडे का नाम नहीं हैं। फिरभी परिचित लोग जानते हैं कि पिछले चार लेख रानडे के थे और यह पांचवा तिलक का। इन बातों के शिवाय और भी एक उपाय इसके जाननेका यह है कि सन १८६६ के अप्रैल महिने में सार्वजनिक सभा के अधिकारियों में क्रान्ति उत्पन्न हो जानेसे जब गोपालराव गोखले ने इस त्रैमासिक पत्र का काम छोड़दिया, तब लो. तिलक की सूचना के अनुसार महादेव राजाराम बोडस नामक हाईकोर्ट प्लीडर की इस पर नियुक्ति हुई थी। फलतः सभा में क्रान्ति उत्पन्न होनेके बाद निकला हुआ पहला अंक यही था, और इसीमें तिलक का यह उत्कृष्ट निबंध प्रकाशित होनेसे लोगों को यह प्रतीत न हो सका कि सभा के काम में किसी प्रकार की न्यूनता आई है। क्योंकि तिलक को इस बात के लिए विश्वास था कि रानडे ने जो कुछ किया, वही मैं भी कर सकता हूं। इसी लिए रानडे के हाथ में की संस्था को अपने हस्तगत करने की इच्छा उन्हें सदैव बनी रहती थी। इसी वर्ष (सन १८६६ में) अकाल पड़ जानेसे जमीन के लगान की रोक-थाम और रिआयत करनेका प्रश्न सरकार के सामने उपस्थित हुआ। इस विषय में सभा के द्वारा तिलक ने कहांतक का प्रयत्न किया, वह सब हम आगे चलकर लिखेंगे। यहां हमें केवल यही बतलाना है कि धारा सभा में चले जानेसे ऑनरेबल मेम्बर के बाहरी आन्दोलन के लिए अयोग्य सिद्ध होनेविषयक लोकमत को इस आन्दोलनद्वारा तिलक ने मिथ्या सिद्ध कर दिया है। यहीं नहीं बल्कि उन्होंने यहां तक बतला दिया है कि, इस प्रकार के व्यक्ति के

कौंसिल में जानेसे बाहरी आन्दोलन को सहायता ही मिलती है। इसी कारण कौंसिल को प्रहसन बतलाते हुए भी वे यथाशक्य प्रयत्न कर उसमें प्रविष्ट होते थे। सन १८९७ के मई महिने में पिछले चुनाव की अवधी समाप्त हो जानेसे पुनः मध्यभाग की ओर से उमेदवार बनकर तिलक चुनाव के लिए खड़े हुए। इस बार भी उनके प्रतिपक्षी वही धोंडोपंत गरुड़ थे। किन्तु इस बार का चुनाव तिलक के लिए बड़ाही सुगम रहा। क्योंकि इस बार केसरी में इस विपय का विशेष विवाद नहीं पाया जाता। इस बार केसरी ने धारासभा के विपय में दक्षिण भाग के लिए दाजीसाहब खरे, उत्तर भाग के लिए सेटलवाड और दक्षिण के सरदारों की ओरसे बाबासाहब घोरपड़े इचलकरंजीकर का पक्ष समर्थन किया था। क्योंकि उत्तर विभाग में सेटलवाड का म्युनिसीपालिटी के अधिकारियों ने घोर विरोध किया था। अतएव यह समस्या उत्पन्न होगई कि पिछले चुनाव में मध्यभाग के कितने ही जिलों से कलेक्टर आदि को भी मतदार न लिया गया था, अतएव इस बार सरकारी अधिकारी लोग कौंसिल के चुनाव में कहांतक भाग लें और उन्हें मतदान का अधिकार भी रहे या नहीं। श्रीमंत बाबा साहब इचलकरंजीकर के निर्वाचन में तिलक ने बहुत कुछ सहायता दी। क्योंकि उस समय दोनों में प्रेमभाव बढ़ा हुआ था। किन्तु सन १८९७ के अभियोग से सारा मामला बदल गया। इस नये निर्वाचन में तिलक को कितने मत मिले, इसका पता नहीं लगता। किन्तु ख़ास पूने से किसी प्रतिपक्षी उम्मेदवार के खड़ा न होनें के कारण एक खानदेश को छोड़कर अन्य कितने ही जिलों से बिना विशेप प्रयत्न के ही तिलक को बहुमत प्राप्त हो गया। ता. २३ जून सन १८९७ के दिन धारासभा के मंत्री मि. बेचलर ने तिलक को सूचित किया कि, तुम्हारा चुनाव सरकार ने मंजूर कर लिया है। किन्तु एँग्लोइंडियन पत्र टाइम्स आदि ने इस बार भी सरकार को समझाने का प्रयत्न किया था कि वह इस चुनाव को स्वीकार न करे। और यदि तिलक के पिछले दो वर्षों के ज़ोरदार प्रयत्नों का विचार कर सरकार अपने अधिकार का दुरुपयोग करना चाहती तो उसे इससे भी सबल कारण मिल सकते थे। किन्तु सरकार ने ऐसा किया नहीं। यही नहीं वल्कि इस विपय में याद रखने जैसी बात यह दिखाई देती है कि, ता. २२ जून की रात को गणेशखिंड [गवर्नमेंट हाऊस पूना] के निकट रेण्ड साहब की हत्या हो जाने पर दूसरे दिन कौंसिल के सेक्रेटरी ने उपर्युक्त पत्र लिखा था। किन्तु इसी के साथ २ यह संभावना भी की जा सकती है कि टाइम्स की शंकाओं का निराकरण गवर्नर साहब की कार्यकारिणी कौंसिल ने रेण्ड साहब की हत्या से पहले के सप्ताह में किया

, और उस प्रस्ताव की अमलबजावरी के अनेक साधारण कार्यों में सेक्रेटरी . बचलर ने इस कार्य को भी दस्तख़त करके फैसल कर दिया हो । किन्तु स हत्या के कारण तिलक के सम्बन्ध में सरकार का दृष्टिकोण एकदम बदल या। और इसी लिए उनपर मुकद्दमा चलाया गया। यदि इस हत्या के बाद वेचार की अपेक्षा विकारों की ही प्रबलता होती तो संभव था कि इस चुनाव ो अस्वीकार करनेका प्रस्ताव भी कौंसिलने पास कर दिया होता। ' किन्तु अगले महिने में तिलक पर मुक़द्दमा चलाया जाने से तिलक ने स्वेच्छापूर्वकही अपनी कौंसिलरी से इस्तीफ़ा दे दिया। इस तरह सरकार के प्रस्ताव से होनेवाला कार्य तिलक ने ख़ुद ही कर दिखाया। और इस दूसरी बार का चुनाव होजाने पर भी तिलक के लिए वह व्यर्थ ही रहा।

तिलक ने जेल से छूटकर आनेके बाद एक बार फिर कौंसिल की मेम्बरी के लिए प्रयत्न किया। किन्तु इस समय सारी परिस्थिती बदल चुकी थी। प्रथम तो उनपर चलाये गये अभियोग से जब गैर सरकारी मित्र तक भयभीत होगये थे, तो फिर सरकारी नोकरों की तो बात ही क्या ? क्योंकि राजद्रोही मनुष्य को किसी प्रकार की सहायता देना भी प्रायः राजद्रोह ही समझा जाता है। ऐसी दशा में यदि किसी पर जरासा संदेह उत्पन्न हुआ कि उसकी बरखास्तगी निश्चित सी समझ लीजिये। इसी लिए लोकल बोर्ड में तिलक के लिए मतसंग्रह करना बड़ाही कठिन कार्य हो रहा था। चुनाव के नियमों में यदि यह शर्त लगादी जाती कि कैद की सज़ा पानेवाला व्यक्ति उमेदवार न समझा जाय; तो सरकार उनके मार्ग में आरंभ से ही रुकावट डाल देती। किंतु नियमों में यह शर्त नहीं थी, अतएव पुनः एकबार लोकमत की परीक्षा कर देनेके विचार से ही तिलक के चित्त में यह संकल्प उत्पन्न हुआ और इसी लिए वे खड़े हुए। किन्तु उनके लिए प्रतिकूल कारणों में एक बात से और भी वृद्धि होगई। वह यह कि उस समय गोपालराव गोखले ख़ुद ही नर्मदल की ओरसे उम्मेदवार बनकर खड़े हुए थे। सन १८९५ के चुनाव में तो जटार के खड़े होने से गोखले हट गये थे। किन्तु अगले वर्ष रॉयल कमिशन के सामने गवाही देने के लिए वाच्छा, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि के साथ २ वे विलायत चले गये। वहां उनकी गवाही इतनी बढ़िया हुई कि बम्बई कौंसिल में प्रविष्ट होनेविषयक उनकी योग्यता के लिए किसी के चित्त में शंका ही न रही। सन १८९७ के अप्रैल–मई में यदि वे पूने में होते तो अवश्य ही तिलक के प्रतिस्पर्धी बनकर खड़े होते। किन्तु इस चुनाव के समय गोखले भी विलायत में थे। फलतः इसबार तिलक के स्थानपर गरुड़ की नियुक्ति हुई और वह

सन १८६६ तक रही। इस बीच गोखले भी विलायत से लौट आये। किन्तु विलायत में किये हुए कुछ विधानों के सम्बन्ध में उन्हें यहां आते ही क्षमा मांगनी पड़ी। इसका परिणाम इतना अनिष्ट हुआ कि सन १८६७ में उमरावती की राष्ट्रीय सभा में कोई भी उनका भाषण तक सुनने को तैयार न हुआ। लाचार हो उन्हें भी चुप रहना पड़ा। इन सब कारणों से लगभग डेढ़ वर्ष तक गोखले अज्ञातवास की तरह रहे। किन्तु उनके गुरु एवं प्रोत्साहक न्या. रानड़े ने हर एक प्रकार के यत्नद्वारा उनकी निराशा दूर कर सार्वजनिक कार्यों में अग्रसर करनेका निश्चय कर लिया था। फलतः उनके जीवनक्रम का पुनरारंभ होने के लिए नये चुनाव के प्रसंग से बढ़कर मौक़ा और कौनसा होता? यदि तिलक और गोखले के बीच यह युद्ध प्रत्यक्ष रूप में आरंभ होता तो अवश्य ही इसमें रंगत आती। किन्तु तिलक को सजा हो जाने से पहले पक्षसमर्थकों के पीछे हट जानेका अनुमान ही सच निकला। खानदेश के बाद ही मतदान में दूसरा नम्बर सितारा जिले का था। और यहां यदि पहले की तरह तिलक का पक्ष लिया जाता तो अवश्य ही वे अपना 'नामिनेशन' पेपर भेजने को तैयार हो सकते थे। किन्तु नई परिस्थिति में उन्हें पहला धक्का सितारे में ही लगजाने से लोकमत का पता पाकर उन्होंने अपना विचार बदल दिया। दूसरा यह एक कारण और भी था कि इस बार चुनाव के लिए खड़े होनेका निश्चय एकदम न हो सका था, अतएव इनकी ओरसे कुछ दिन विचार करने–कराने में ही बीत गये। इधर तबतक गोपालराव गोखले ने आगे बढ़कर अपनी उम्मेदवारी ज़ाहिर करते हुए प्रत्येक जिले में सिफारिशी चिट्ठियों द्वारा मतसंग्रह करना भी शुरू करदिया। इसी लिए कई एक महानुभावों के विचार से तिलक का देरकरके खड़ा होना ही प्रधानरूप से बाधक हुआ, और कितने ही लोगों ने इसे निमित्त मात्र बना लिया। पिछले निर्वाचन में तिलक को सहायता पहुँचानेवाले उनके एक मित्र तिलक के दूसरे एक मित्र को लिखते हैं कि:— "यद्यपि यह विषय नाजुक अवश्य है, किन्तु फिर भी स्पष्टतया सब बातें लिख देना आवश्यक जान पड़ता है। क्योंकि तुम्हारे लिखनेपर से इस बात का पता नहीं लगता कि तिलक ने चुनाव के लिए खड़े होनेका निश्चय किया है। अतएव इसका आशय मैं यह समझता हूं कि, मानों सरकार ने ही एक प्रकार से तिलक को चेतावनी दी है कि देखें किस प्रकार तुम चुनाव के लिए खड़े होते हो, और संभवतः इसी भावना से तिलक को खड़ा करनेके लिए अनुरोधपूर्वक एक मित्रमंडली प्रयत्न कर रही है। यद्यपि खुद मुझे तो ऐसा नहीं जान पड़ता, किन्तु यदि इस मित्रमण्डली का ही कहना सच मान

किया जाय तो एक कल्पना और भी उत्पन्न हो सकती है। वह यह कि ' देरसे खड़े होनेके कारण तिलक के न चुने जाने पर भी समालोचक लोग यही कहेंगे कि, लोकमत प्रतिकूल होनेसे ही वे न चुने जा सके । सिवाय इसके तिलक का नाम शीघ्र प्रकट न होनेसे जिन लोगों ने प्रो. गोखले को पहले ही से वचन दे दिया है, उनके लिए क्या हो सकता है ? इसी लिए हमारी नम्र प्रार्थना है कि इस तरह पुनवक्र पर चुनाव के लिए खड़े होने को आप स्वयं ही तिलक से आग्रह न करें। यह बात आप उस मित्रमंडली को समझा दीजिये। किन्तु इसके विरुद्ध यह भी कहा जा सकता है कि ऐसी विकट परिस्थिति में यदि तिलक चुनलिये गये तो वह और भी अधिक उज्वल दिखाई देगा। किन्तु इस विचारसरणी को घातक समझकर उन्हें त्याग देनी चाहिये । यदि ऐसा प्रबंध किया जा सकता कि जिसमें वे अकेले ही खड़े रहते, तो अलबत्ता सरकार और लोकमत के बीच का द्वंद्व देखने को मिल सकता था । किन्तु अब यह बात एकदम असंभव होगई है। सिवाय में जबसे रा. ब. पाठक पेंशनर होकर यहां आ बसे हैं, तभी से उन्होंने गोखले के लिए जीजान से कोशिश शुरू करदी है । और जब वे यह प्रश्न करते हैं कि उनपर सिवाय एकवार माफ़ी मांगनेके यदि दूसरा कोई दोष लगाया जा सकता हो तो बतलाओ ? तब कितने ही लोग चुप हो जाते हैं। इस समय प्रो. गोखले रावबहादुर के यहां आकर ठहरे हुए हैं; और कितने ही लोग उनके प्रति सहानुभूति दिखला रहे हैं । इस लिए यह पत्र आप तिलक को दिखलाइये, और उन्हें यह बतला कर कि आपके बहुत देर करके खड़े होनेसे हमारी मनस्थिति बड़ी विचित्र हो गई है; उन्हें उम्मेदवारी से हट जानेकी ही सम्मति दीजिये ।" इस तरह जहां तिलक को आग्रहपूर्वक खड़े होनेकी सलाह देनेवाले कुछ लोग थे, वहीं उन्हें देरसे खड़े हो कर धोखा न उठानेका स्पष्ट अभिप्राय कर सुनानेवाले भी कई लोग मौजूद थे, क्योंकि फिर से सन १८६६ में तिलक के विरुद्ध गरुड़ और पूना के नर्मदल के प्रतिनिधि के रूप में तिहेरी टक्कर शुरू होनेवाली थी। किन्तु परिस्थिति कुछ बदली हुई थी, अतएव तिलक ने अपना नामिनेशन पेपर नहीं भेजा और गोखले बहुमत से चुने लिये गये ।

तिलक और धारा सभा का सम्बन्ध यहां समाप्त होजाता है। क्योंकि इसके बाद उन्होंने कौंसिल के चुनाव में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से भाग नहीं लिया। गोखले केवल दो ही वर्ष बम्बई कौंसिल में रहे और इसके बाद वे एकदम बड़ी धारासभा में चले गये। वहां उनकी जगह पर हरी सिताराम दीक्षित (सालिसीटर) चार बार लोकलबोर्ड की ओरसे चुने गये।

इसके बाद सन १९०९ में नरसिंह चिंतामण केलकर, हरी नारायण आपटे, धोंड़ोपंत गरुड़ के पुत्र सीताराम धोंडो गरुड़ ये तीन उमेदवार खड़े हुए थे। किन्तु सरकार ने केलकर का बहिष्कार करके उनकी उमेदवारी रद्द करदी; और गरुड़ को बहुमत प्राप्त होनेसे उनका चुनाव होगया। इसके बाद भी कई वर्षोंतक वे ही चुने जाते रहे। विलायत से लौटकर आनेके बाद तिलक ने सन १९२० में सुधारयुक्त कौंसिलों के नये चुनाव के समय कांग्रेस डिमाक्रेटिक पार्टी स्थापित कर अपने ही पक्ष के अधिकांश सदस्य जुदी २ कौंसिलों में भेजनेका प्रयत्न किया था, और इस पार्टी की उद्देश्यपत्रिका भी उन्हींके नाम से प्रसिद्ध हुईथी। किन्तु फिर भी उन्होंने खुद खड़े होनेका विचार तक न किया। सन १९२० के मई महिने में तिलक को पर्सफंड अर्पित करने के लिए गायकवाड़वाड़ा-पूना में उनके मित्रों ने एक विराट् सभा का आयोजन किया था। उस समय कईएक मित्रों ने उनसे बड़ी धारासभा के लिए खड़े होनेका आग्रह भी किया था। किंतु इस प्रयत्न में अपने लिए कुछ न करनेका निश्चय हो जानेसे उन्होंने उस अनुरोध की पर्वाह न करते हुए यह कहकर उस प्रसंग को चला दिया कि "तुम सब लोगों के कौंसिलों में चले जानेसे मैं यही समझूंगा कि मैं ही वहां गया हूं!"

तिलक और बम्बई की धारासभा के विषय में केवल एक बातही छोटीसी लिखकर हम इस प्रकरण को समाप्त कर देंगे। हां, तो तिलक का स्वर्गवास हो जानेके लगभग दो सप्ताह पश्चात् पूने प्रान्तीय धारासभा की बैठक हुई थी। उस समय मा. बेलवी ने तिलक के विषय में दुःखप्रदर्शक प्रस्ताव उपस्थित करने का नोटिस दिया था। किन्तु गवर्नर सर जार्ज लाइड ने यह कहकर कि निश्चित समय के बाद यह सूचना दी गई है, उसे टाल दिया था। अर्थात् उनका यह बहाना एकदम व्यर्थ अथच द्वेषभाव का ही सूचक था। क्योंकि कौंसिल में तिलक का गुणगान होना वे नहीं सह सकते थे। इसके बाद तिलक के दो-एक मित्रों को समझाते हुए गवर्नर साहब ने कहा था कि "मैंने तिलक के शव को चौपाटी पर दहन करनेकी आज्ञा देनेके रूप में उनका जब लोकोत्तर सम्मान किया है तो फिर मैं एकदम उनका विरोधी कैसे कहा जा सकता हूं?"

धारासभा में जाकर तिलक ने क्या २ काम कर दिखाया, इसका विचार इस एकांगी दृष्टि से किया जाना चाहिये कि उस समय कौंसिल में जाकर कोई मनुष्य क्या काम कर सकता था। इस दृष्टि से विचार करनेपर यह प्रतीत होता है कि, उनकी दो वर्ष की उम्मेदवारी के जमाने में दो बजट की चर्चा

होते समय प्रान्तिक राज्यकारोबार पर टीका-टिप्पणी करने के लिए जितना मौक़ा मिला, उतने ही प्रमाण में उस समय की पद्धति के अनुसार उन्होंने अच्छी तरह अपने विचार प्रकट किये। किन्तु दादाभाई, याज्ञिक, वाच्छा, और गोखले के अनुसार अंकशास्त्री के नाते जो श्रेष्ठ प्रकार की आलोचना समझी जाती है उसका भी तिलक ने पूर्ण प्रकार से उपयोग किया था। तिलक की दो वर्ष की सदस्यता के समय में विशेष वादग्रस्त बिल कोई भी पेश नहीं हुआ, और यह प्रसिद्ध ही है कि उस समय चर्चा के लिए प्रस्ताव रखनेकी आज्ञा ली नहीं थी। ऐसे मौक़ेपर अंकशास्त्र का ज्ञान बड़े महत्व का समझा जाता है। फलतः प्रान्तिक पंचवार्षिक इक़रार का सिंहावलोकन करके रानडे के लेख से बिलकुल मिलता हुआ जो समालोचनात्मक लेख तिलक ने सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक में छपवाया, उस पर से उनका अंकशास्त्रविषयक ज्ञान सर्वमान्य होगया। इसी प्रकार कौंसिल के अन्य ख्यातनामा सदस्यों की ही तरह इन दो वर्षों में तिलक की कार्यवाही भी रही। किन्तु कौंसिल के काम की अपेक्षा उनकी प्रवृत्ति बाहरी आन्दोलनों की ओर विशेष प्रमाण में रहनेके कारण केवल इन आन्दोलनों की तीव्रता के मान से उनकी कौंसिल की कार्यवाही बहुत ही सौम्य प्रतीत होती है। यही एकमात्र इन दोनों में अंतर भी है। क्योंकि उनका यह सिद्धान्त निश्चित था कि राष्ट्रीय आन्दोलन का राजनैतिक फल धारासभा के द्वार पर ही प्राप्त करलेना पड़ता है। इसी कारण कौंसिल में जाकर वहां के आन्दोलन मात्र से ही वे संतुष्ट नहीं हुए, बल्कि उन्होंने बाहर का आन्दोलन भी ज़ोरशोर के साथ जारी रक्खा। यह बात उनके व्यापक ध्येय के अनुरूप ही थी। क्योंकि तिलक की सदस्यता के समय कौंसिल में लोकनियुक्त सभासदों का बहुमत नहीं था, अन्यथा उन्होंने हरएक मामले में रोक–थाम या धरना देनेतक का प्रयत्न किया होता, इसमें शंका करने जैसी कोई बात नहीं है। क्योंकि आगे चलकर जब उन्हें वह सुअवसर प्राप्त होनेके लक्षण दिखाई दिये तब उन्होंने सन १९१९ के सुधार अपूर्ण दिखाई देने पर भी ज़ोरों के साथ लोगों को कौंसिल में जानेका उपदेश किया था।

———:०:———

भाग–उन्नीसवा.

दो नये राष्ट्रीय उत्सव.

—:o:—

(१) श्री गणपति–उत्सव.

एक ही राष्ट्रीय भावना के अनेक रूप हो सकते हैं। देशभाषा का सुधार और उसकी वृद्धी, स्वकीयों के इतिहास का संशोधन, पुराने साधुसंतो की परम्परा की उपासना, ऐतिहासिक महापुरुषों का चरित्रवर्णन, तेजस्वी भावनाओं का काव्यरूप में निवेदन, परम्परागत यात्रा; उत्सव, एवं सम्मेलन के द्वारा राष्ट्रीय अथवा उपराष्ट्रीय बुद्धि और भावना प्रकट एवं दृढ होती है, और इन सब उद्योगों का परिणाम राजनैतिक स्वरूपवाली राष्ट्रीय भावना को जागृत करनेमें होता है। महाराष्ट्र में पुरातन ऐतिहासिक परम्परा सैंकडो वर्षों की है। इसका सबसे अधिक विकास जिस प्रकार शिवाजी महाराज के समय में हुआ उसी प्रकार पेशवाई के अंत में यह उतनी ही अधिक संकुचित भी होगई। अंगरेजी शासन के आरंभिक पांचपचास वर्षों में महाराष्ट्र की राष्ट्रीय भावना पर अनेक प्रकार से आघात किये गये। इसी अवसर में मराठे नामशेष होगये, और ब्राम्हण लोग अंगरेजी शिक्षा के पीछे पड़कर सरकारी नोकरियाँ करने लगे, अतएव उनकी राष्ट्रीय भावना मलिन होगई। इस अवधी में महाराष्ट्र के मुसलमान तो यहां तक हतबल होगये कि उन्हें किसी भी ओरसे सिर उठाने-का मौका न मिल सका। और न उन्होंने ही इसके लिए कोई प्रयत्न किया। बल्कि अंतर्मुख एवं संकोचवृत्तिवाले ईसाई मिशनरियों के धर्मप्रसारविषयक प्रयत्नों से आरंभ में बहुत बड़ा धक्का पहुँचने की संभावना दिखाई देने लगी।

जाड़े में जिस प्रकार लतावृक्षादि की वृद्धि रुककर वे स्तिमित हो जाते हैं, किन्तु इस अवधी में उनके शोषण किये हुए जीवन द्रव्य जिस प्रकार आगामी वृद्धि के लिए कारणीभूत होकर वसंत का आगमन में ही उन्हें नवजीवन दान करते और कोमल अंकुर के रूप में प्रत्येक शाखापर दृष्टिगोचर होने लगते है, उसी प्रकार अंगरेजी शासन के आरंभिक पांच-पचास वर्षों में महाराष्ट्र के पुराने वैभव के पके हुए पत्ते झड़ जाने पर नई शिक्षा के रूप में जो खादपानी महाराष्ट्र के बौद्धिक क्षेत्र को मिला, उसके परिणाम स्वरूप नया साहित्य, नई संस्था और नये उद्योग दिखाई देने लगे। महाराष्ट्र के समाचारपत्र, यहां की शिक्षा संस्थाएँ, और राजनैतिक सभा आदि उसी राष्ट्र-भावना रूपी वृक्ष के नये पल्लव कहे जा-

करते हैं। श्री गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव का आरंभ जो भी कुछ देरसे आहो, किन्तु उनकी गणना भी उक्त पहलुओं में ही की जानी चाहिये। इन दो उत्सवों को दोषार्ह बतलानेवालों ने इनकी उत्पत्ति का दायित्व तिलक पर रक्खा था। क़ानूनी दृष्टि से इसे हम निर्णायक स्वरूप की क़बूलियत कह सकते हैं। जिन्हें ये दोनों उत्सव आवश्यक जान पड़ते हैं उन्हें इनका श्रेय तिलक को देनेके लिए यह क़बूलियत ही सुबूत का काम देगी।

चिरोलसाहब अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ में लिखते हैं कि "तिलक ने अपने राजनैतिक आन्दोलन के साथ धर्म की सहानुभूति आवश्यक समझ कर इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारत के परमप्रिय देव श्री गणपति को अपने समस्त आंदोलनों का आदिदेव बनानेकी युक्ति निकाली है। वस्तुतः गणपति हिन्दुओं के विद्याधिपति देवता हैं, और प्रत्येक ग्रंथ के आरंभिक पृष्ठपर उनका चित्र रखने से उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती है। देहातों में या चलते रास्तोंपर एक ओर किसी पाषाण पर सिन्दूर लगाकर उसे किसी न किसी प्रकार के आकार में गणपति के नाते मानने या उसका देहरा बँधवानेका दृश्य भारत में जहां–तहां देखा जासकता है। फलतः गणपति उत्सव की नई खूबी उत्पन्न कर गणेश मण्डलियाँ स्थापित करते हुए पहलवानों की मंडलीद्वारा लोगोंपर अपना प्रभाव जमाने की तिलक ने जो युक्ति निकली वह अद्वितीय थी।.........गणपति उत्सव के कारण तिलक के आन्दोलन का क्षेत्र बहुत विस्तृत होगया।" इसी प्रकार शिवाजी उत्सव के विषय में भी चिरोलसाहब ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। वे लिखते हैं कि:—मराठा-समाज को अपने पक्ष में मिलाने का काम अभी तिलक को और भी करना था। अतएव जिस शिवाजी ने मुसलमानों का पराभव करके महाराष्ट्र में हिन्दूपद बादशाही की स्थापना की, उसका जन्म एक कुलीन मराठा वंश में होनेके कारण उसके पराक्रम के वीर गीत गाकर सिपाहि बननेवाले मराठों के चित्त में से अंगरेजी राज्यविषयक प्रेम-भाव को हटाकर उन्हें अपनेमें मिलालेने का तिलक ने उद्योग किया। कुछ लोगों की यह धारणा है कि एक अंगरेज द्वारा वर्णित रायगढ़वाली शिव–समाधि की शोचनीय दशा का हाल पढ़कर ही तिलक के मन में प्रथमतः यह कल्पना उत्पन्न हुई की शिवाजी उत्सव आरंभ करके उससे राजनैतिक आन्दोलन का लाभ पहुँचाया जाय।......कुछ भी समझिये, किन्तु तिलक ने शिवाजी को सामने लाकर एक बहुत भारी राजनैतिक प्रवृत्ति आरंभ करदी, और सन १८६६ में महाराष्ट्र भर में सर्वत्र ही शिवाजी के जन्मदिन के निमित्त उत्सव किये गये।"

इन दो उद्धरण परसे इन दोनों राष्ट्रीय उत्सवों के आरंभ करनेका यश तिलक को दिया जानेकी बात शत्रुपक्ष की स्वीकृति पर से भी प्रकट हो जाती है। महाराष्ट्र में एक कहावत है कि तोबड़े का मुँह जब आगे होता है तो फिर लगाम का मुँह पीछे क्यों ? इसीमें थोड़ासा परिवर्तन करके हम यह कहना चाहते हैं कि इन दोनों राष्ट्रीय उत्सवों से यदि महाराष्ट्र की राष्ट्रीय बुद्धि को लाभ पहुँचा हो तो इन उत्सवों के लिए जिन तिलक ने अपने पर अभियोग चलवाये और जेलयात्रा स्वीकार की है, उनकी ओरसे यह प्रश्न क्यों नहीं किया जा सकता कि "जब लगाम को आगे खीचते हो तो फिर तोबड़े को क्यों पीछे ढ़केला जाता है ?" और वह इन नवीन राष्ट्रीय घटनाओंकी विजयमाल से तिलक का कंठ क्यों न सुशोभित करे ?

अस्तु ! सबसे पहले हम गणपति उत्सव को ही लेते हैं ! यह एक निःसन्देह बात है कि गणपति उत्सव बहुत पुराना उत्सव है, यही नहीं बल्कि पहले भी यह बड़े ठाठ पाट से मनाया जाता रहा है। किंतु इसे कुछ परिवर्तन के साथ सामुदायिक स्वरूप देने एवं हिन्दू-मुसलमान के दंगे होनेके बाद इसका आरंभ किया जानेसे इस नई कल्पनाका वैशिष्ट्य तिलक को ही प्राप्त हुआ। पुराने ठाटपाट में तिलक के प्रयत्नसे वृद्धि हुई हो यह नहीं कहा जासकता। क्योंकि इस समय कोई कितनी ही सजावट करे तो भी, पहले कई राजभवनों में खुद राजा लोग जिस उत्साह के साथ उत्सव मनाते थे उस ठाठ और जनसमारोह एवं रोशनी तथा आतिशबाज़ी की बराबरी कहीं मध्यम-श्रेणिके लोगों से होसकती है ? किन्तु पुराना राज्य-वैभव एवं तेज व्यक्ति विशेष से निकलकर अब सामान्य जनता में विभक्त होगया, उस जनता को ही इस प्रकार सामुदायिक रूपसे उत्सव में भाग लेनेको प्रवृत्त करना, इस उत्सव के जीर्णोद्धार के समान कहा जासकता है। क्योंकि जो साधारण व्यक्ति इस उत्सव में योग नहीं देते या देते भी थे तो सामुदायिक भावना से नहीं, उन्हींसे इस भावना के साथ उत्सव शुरू करवाने में ही तिलक की बुद्धिमत्ता और चतुराई का परिचय मिल जाता है।

क्योंकि पहले समय में जब राजा-महाराजा इस उत्सव को मनाते तब यह दस-बारह दिनतक होता रहताथा। उस समय राजभवन की रँगाई पुताई की जाती और उन्हें सजाया जाता था। हाथी, घोड़े, सिपाही-प्यादे के साथ जुलूस निकलते, और सभामण्डप में गाना-बजाना, अथवा कथा वार्ता होती, या फिर किसी प्रकार की लीलाएँ या खेल-तमाशे कराये जाते, और उत्सव की समाप्ति पर ब्रह्मभोजन अथच दक्षिणादान किया जाताथा। ये बातें सर्वत्र प्रसिद्ध

ती है। इसी प्रकार गणपतिपूजन को उत्सव के रूप में हिन्दूसमाज की प्रत्येक जाति अपनी २ श्रेणि के अनुसार मनाती थी, इसे भी सब जानते हैं। इस विषय में यद्यपि तिलक ने कोई नवीनता उत्पन्न नहीं की, किन्तु सार्वजनिक विसर्जन और भजनमंडली की रचना एकदम नई थी। सन १८९३ का गणपति-उत्सव जो कि हिन्दू-मुसलमानों के दंगे से लगभग छह सप्ताह बाद हुआ था, उसीसे इसमें सुधार और वृद्धि का आरंभ करदिया गयाथा। इस बातका उल्लेख हम पिछले एक प्रकरण में कर चुके हैं। उस वर्ष के केसरी के ३१ वे अंक का "इस बार यहां गणपति---विसर्जन का समारोह अन्य वर्षोंकी अपेक्षा कुछ निराले ढंग से हुआ, और उसे अब बहुत कुछ सार्वजनिक स्वरूप प्राप्त होगया है"---यह वाक्य ही गणपति उत्सव का बीजमंत्र अथवा उद्गमस्थान कहा जासकता है। हिन्दुओं की अलग २ सभाएँ करवाकर दंगे के विषय में स्पष्ट अभिप्राय प्रकट करनेका आन्दोलन छिड़ा रहनेकी ही दशा में एक दिन तिलक-नामजोशी आदि बाबामहाराज के यहां इकठ्ठे हुए, और वहीं इस उत्सव को नया स्वरूप प्रदान करनेकी कल्पना उत्पन्न होकर उसे निश्चित स्वरूप भी देदिया गया। इस मंडली में गणपतराव घोटवडेकर आदि व्यक्ति कट्टर गणेशभक्त थे, और वे पहले ही से इस उत्सव को मनाते आरहे थे। बालासाहब नातू प्रभृति लोग भी पुराणमतानुयायी होने के कारण इसके लिए अनुकूल ही थे। इधर तिलक जी भी विशेष रूप से आचारमार्गी नहीं थे, किन्तु फिर भी उनके यहां गणपति का पूजन होता अवश्य था। इस ब्राह्मण समाज के साथ दगडू शेठ हलवाई, मोरकर वकील, खंडोबा तावडे एवं गावडे, पटेल, तथा भाऊ साहब रंगारी आदि ब्राह्मणेतर व्यक्तियों के शामिल हो जानेसे पहले ही वर्ष का उत्सव आदर्शवत् होगया।

इसके बाद अगले वर्ष का उत्सव और भी समारोह के साथ हुआ, और मूर्ति एवं भजन मंडलियों की संख्या भी बहुत अधिक होगई। इसी बीच ताजियों के बहिष्कार का आन्दोलन प्रबल हो जाने से अवशिष्ट उत्सव-प्रियता का लाभ यदि गणपति---उत्सव को प्राप्त हुआ तो आश्चर्य नहीं। सन १८९४ का गणपति---उत्सव "स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य हुआ"। बहुधा प्रत्येक गली कूचे में एक २ गणपति की झांकी सजाई गई थी। इनमें की कई एक मूर्तियां बड़ी ही सुंदर थीं। सजावट और चित्रादि भी दर्शनीय थे। बहुत ही बढ़ियां मखमल की पोशाक से लगाकर बिलकुल सादे सफेद वस्त्रों तक की झांकियां इस बार देखी गईं। भजन गाते समय बजानेके रंग-बिरंगे डंडे, और तालके साथ भजनीकों का पदनिक्षेप, गवैयों की रसीली आवाज़ एवं रसमय संगीत

उत्सव यदि धार्मिक भी हो तो उसमें भक्ति की मात्रा कम होने का आक्षेप किया जासकता है। किन्तु किसी उपासना के साथ समारंभ को जोड़ देनेसे उसमें—उदाहरणार्थ रामनवमी, जन्माष्टमी के समारोह में—सामान्यतः भक्ति का जितना अंश होता है, उतना ही इसमें भी था। भजनों पर आक्षेप करनेवालों को यह उत्तर दिया जाता था कि उत्सव के कारण समस्त कवियों का वन एकदम फूल उठा। उसमें कविताएँ अच्छी भी हो सकती हैं और बुरी भी। क्योंकि केवल अक्षर जोड़कर तर्क मिलानेवाले कवियों में यदि कवित्व की उत्कंठा बढ़ जाय तो उसे कौन रोक सकता है? फलतः कवियों की जिस प्रकार अनेक श्रेणियां हो सकती हैं, उसी प्रकार श्रोताओं की भी होनी चाहिये! क्योंकि हरएक व्यक्ति जब अपनी पसंद की चीज़ चुन ही लेता है तो फिर इसमें दूसरों को झगड़ा मचानेका क्या अधिकार है? यदि किसी भजन या गाने से किसी का अपमान हुआ हो. या उसमें राजद्रोह पाया जाता हो तो उसके लिये अदालते खुली ही हुई हैं। अंत में केवल एक ही आक्षेप बच रहता है, और वह यह की 'इस उत्सव का आरंभ तिलक के द्वारा होने से ही यह त्याज्य सिद्ध होता है!' किन्तु इसके लिए उत्तर देनेकी ही आवश्यकता नहीं जान पड़ती। क्योंकि इसका निर्णय तो उत्सव को ग्राह्य एवं त्याज्य समझनेवालों की संख्या पर से स्वयमेव ही हो जाता है। कुछ भी समझिये, किन्तु इस राष्ट्रीय उत्सव को आरंभ करके तिलक ने जितने व्यक्तियां से सम्बन्ध-विच्छेद किया, उससे कई हजारगुने लोगों को उन्होंने संयुक्त भी किया है। सिवाय इसके जिनसे सम्बन्धविच्छेद किया जान पड़ता है, वे लोग तो पहले ही से विछि हो रहे थे। अस्तु।

इस उत्सव का ढंग न केवल पूने में ही, बल्कि बाहर के लोगों को भी बहुत कुछ पसंत आया, और स्वल्प काल में ही बम्बई, कोल्हापुर, सितारा, अहमदनगर एवं धूलिया आदि अनेक स्थानों में ठीक पूने के ही ढंग से उत्सव मनाये जाने लगे। सन १८९६ के उत्सव से इसे और भी राष्ट्रीय महोत्सव का स्वरूप प्राप्त होजाने विषयक उल्लेख केसरी में पाया जाता है। सैकड़ो जगह से उत्सव के समाचार भेजे गये; और मालेगांव, नागपुर, बेजवाड़ा, पुलगांव, धारवाड़, हुबली, रत्नागिरी प्रभृति नगरों के नाम पर ध्यान देने से इस उत्सव की व्याप्ति का भी ठीक २ पता लग जाता है। बम्बई में डॉ. देशमुख, दाजी साहब खरे, दीवानबहादुर मणीभाई, रावबहादुर पितले, आदि बड़े आदमी जोकि हिन्दुओं की अलग सभाएँ करनेके विरुद्ध थे, वे भी अब इस उत्सव मे शामिल हो गये। कई स्थानों मे पुराने उत्सव जारी थे, वहां तिलक के

विचारों का स्पर्शमात्र होते ही नई तरह की रुकावटें उत्पन्न की जाने लगीं। बड़ौदा में अधिकारी समर्थ सुधारक दल के थे, अतएव उन्हों ने इस उत्सव के मार्ग में जानबूझ कर रुकावट डाली। क्योंकि वहां गणपति-विसर्जन का समारोह बहुत पुराने समय से होता था। और महाराजा के साथ २ खुद रेसिडेंट को भी इस जुलूस में पैदल जाना पड़ता था। प्रथम सयाजीराव के समय एकबार जब रेसिडेंट ने जानेसे इन्कार करदिया तब अधिकार का प्रश्न उत्पन्न होनेसे गणपति वहीं के वहीं रखे रहे। इस के दस वर्ष बाद जब महाराजा के पक्ष में निर्णय हुआ, तब रेसिडेंट को पैदल अपने साथ लेजाकर दसवर्ष के गणपति एकसाथ विसर्जित किये गये! इतने पर भी माधवराव समर्थ ने इस वर्ष जलूस के लिए रोक-थाम कर दी, किन्तु वह टीक न सकी। अन्य कई स्थानों में मुसलमानों की ओरसे नई २ रुकावटें उत्पन्न की जाने लगीं। तलेगांव में सरदार दाभाड़े के साथ वहां के मुसलमानों को बाजा बजाते हुए मुल्लों से मसजिद के सामने हो कर गणपति लेजाना पड़ते थे, किंतु इस बार उन्हों ने भी इन्कार करदिया। सारांश भिन्न २ विरोधी भावनाओं से, भिन्न २ स्थानों में, भिन्न २ प्रकारसे रुकावटें डाली जाने लगीं। किन्तु इतने पर भी जब से उत्सव का कदम आगे बढ़ा, सो फिर वह पीछे न हटने पाया। फिर भी इस उत्सव को निर्दोष किसी ने नहीं बताया। किन्तु इसी बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता की हिंदुसमाज के लिए इस उत्सव को नया स्वरूप प्रदान करके तिलक ने राष्ट्रीय भावना के एक अंग या उपाङ्ग को सुदृढ़ बनादिया है।

गणपति उत्सव के सम्बन्ध में सन १८९६ में प्रतिपक्षीयों को लक्ष्य करके तिलक ने केसरी में जो आलोचना की वह समालोचना की सुसम्बद्धता के ही साथ २ भाषा की उज्ज्वलता के विचार से भी पठनीय होनेके कारण उसका एक उद्धरण यहां दिया जाता है। " जिस के हृदय को धर्मबुद्धि स्पर्श-तक नहीं करती, और न जड़वाद से आगे उसकी बुद्धि ही बढ़ सकती है, उस अभागे व्यक्ति की दशा पर सिवाय दयाभाव प्रकट करने हमें कुछ भी नहीं कहना है। क्योंकी श्रीमंगलमूर्ति के महोत्सव के समय दिवाभीत की तरह ये दो चार व्यक्ति भले ही अपनी कोठरियों में छुपकर बैठ रहें। किन्तु केवल यह लिख दिखानेवाले कि, हम 'पाषाणपूजक' नहीं हैं अथवा मंदिरों में, जाकर या आँखें मूंद कर घर पर ही रामभजन करनेवालों को महाराष्ट्र के इस राष्ट्रीय महोत्सव के समय अपने बौद्धिक-सामर्थ्य द्वारा लोगों को सहायता देने-के लिए क्यों आगे नहीं बढ़ते? क्या वे नहीं जानते कि हम अपनी कृतियां द्वारा इस प्रकार सामान्य जनता का—स्वल्पांश में ही क्यों न हो किन्तु—बुद्धिभेद

उत्सव के स्वरूप में मनाई जाती थी। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करनेके लिए 'तारा' की यात्रा बड़ी उपयोगी होती थी। इस तरह विदेशीय उत्सवों का उल्लेख करनेके बाद भारतीय यज्ञयागादि एवं कालाग्नि-नाथनामक देवता के निमित्त होनेवाले मेले आदि का यथाक्रम वर्णन किया जाता है। और अंत में बम्बई के होलीविषयक जुलूस से उत्सवप्रिय समाज का जो कुछ मनोरंजन होता है, उस तक को प्रशंसा करके केसरी ने कहा है कि ऐसे २ कार्य केवल उत्सवों द्वारा ही हो सकते हैं, इन्हें समाचारपत्र कभी नहीं कर सकते।

दूसरे लेख में इस बातका सप्रमाण विवेचन किया है कि कुछ पुराने उत्सव और त्यौहार जो कि उद्वेगजनक प्रतीत होनेके कारण त्याज्य जान पड़ते हैं, उनके स्थान पर नये उत्सवों की किस प्रकार स्थापना होनी चाहिये। कमसे कम भिन्न २ स्थानों में पूर्वापर होनेवाले उत्सवों से ही लाभ उठानेकी बात सूचित कर पर्वती, चिंचवड़, चाफळ प्रभृति स्थानों में कार्यकर्ताओं एवं लोगों को मिलाकर उत्सव को नया स्वरूप देनेका अनुरोध किया है। साथ ही सुशिक्षितों को ऐसे प्रसंग से लाभ उठाकर पुराने लोगों के साथ मिलते हुए अपनी शिक्षा एवं नई कल्पनाद्वारा लोगों का हितसाधन करनेकी सलाह भी दी है। क्योंकि समाज का उद्धार होनेपर ही हमारा उद्धार होगा अतएव प्रार्थनासमाज मंदिर में भक्तिभाव के गीत गाते रहनेकी अपेक्षा यदि किसी गणेशोत्सव के मंडप में रानडे सदृश व्यक्ति भक्तिमाहात्म्य का वर्णन करें, अथवा चाफळ के उत्सव में वे रामदास के साथ खड़े हो कर व्याख्यान दें तो इससे बहुत कुछ काम हो सकता है। इस तरह केसरी ने सुधारकों को भी मार्ग दिखलाया है।

(२) श्री शिवाजी-उत्सव.

गणपति उत्सव की ही तरह शिवाजी उत्सव भी किसी एक निमित्त से प्रसिद्ध हुआ है। असल में इसके लिए जो निमित्त कारण हुआ वह अन्य उत्सवों की ही तरह था। किन्तु तिलक की बुद्धिमत्ता के प्रभाव से इस छोटे से निमित्त को लेकर ही शिवाजी उत्सव की कल्पना केसरी के लेखों द्वारा सर्वमान्य हो गई, और उन्होंने इसे बाहरी आन्दोलनों के साथ सम्बद्ध कर स्वल्प काल में ही चिरस्थायी बना दिया। इस आन्दोलन का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है कि, सन १८८९ में अर्थात् इस आन्दोलन का आरंभ होनेसे दशवर्ष पूर्व किसी कारणवश श्री शिवाजीमहाराज की रायगढ़वाली समाधि की जीर्णावस्था पर

कर रहे हैं? यह एक मानी हुई बात है कि यदि कोई सारी पृथ्वी को प्रथमतः स्वच्छ और समतल करके अपने लिए उपयुक्त पर्वतमालाएँ अथवा नदी-नाले उत्पन्न करनेकी कोशिश करे, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। पुरातन काल से प्रवर्तित चक्र को उसी दशा में देशकालानुसार आगे के लिए चलाते रहना ही चतुर पुरुषों की रीति है। बायीं कनपट्टी परसे दायां हाथ घुमाकर मुँह में ग्रास डालने जैसी हास्यास्पद 'प्रमदावनां' की कल्पना लोगों के सन्मुख उपस्थित करनेकी अपेक्षा, यदि आबालवृद्ध-वनिताओं को भक्ति, ज्ञान एवं मनोरंजन आदि से प्रादुर्भूत सुख की एकदम प्राप्ति करा देनेवाले राष्ट्रीय महोत्सव के समय, किसी अंश में अपनी देह और बुद्धि को कष्ट देना पड़े, तो केवल लेखनी द्वारा ही पंढरीनाथ के भक्त कहलवानेवालों को भी न्यूनाधिक अंश में ही अपने कर्तव्य-पालन का अनुभव हुए विना न रहेगा। इस प्रकार के राष्ट्रीय उत्सवों को जागृत रखना या न होनेपर उन्हें प्रचलित करना राष्ट्रीयता को स्थायी बनाने का एक उत्तम मार्ग है। इस लिए हम इस प्रार्थना के साथ प्रस्तुत लेख को समाप्त करते हैं कि हमारे सुशिक्षित भाइयों को भूलकर भी इनके प्रति अश्रद्धा न दिखलानी चाहिये"।

हमारा विश्वास है कि उस समय के सुधारक या सुबोधपत्रिका आदि पत्रों के लेख पढ़ने पर यही प्रतीत होगा कि उपरोक्त उद्धरण में केवल आधिक्षेप ही भरा हुआ है, और वह जैसे को तैसा के ही स्वरूप में है। किन्तु ता. १ और ८ सितंबर सन १८९६ के अंकों में "राष्ट्रीय महोत्सवों की आवश्यकता" और "राष्ट्रीय महोत्सवों के समय सुशिक्षितों का कर्तव्य" इन शीर्षकों से केसरी ने जो लेख लिखे हैं वे विचारपरिप्लुत एवं पठनीय हैं। गणपति उत्सव के नये आन्दोलन का उपसंहार और भावी शिवजयंत्युत्सव की प्रस्तावना के रूप में ही इन लेखों की सृष्टि हुई है। इन लेखों में प्रथमतः ग्रीस देश के ओलंपियन महोत्सव का वर्णन दिया गया है। यह भी एक धार्मिक उत्सव था और इसमें भी कवि, पण्डित, वीर, नीतिज्ञ एवं साधुसंत इकत्रित होते थे। अनेक विषयों की चर्चा और तरह २ के खेलों द्वारा इस उत्सव में लोकरंजन किया जाता था। इस तरह यह उत्सव राष्ट्रीय सम्मानप्राप्ति का एक साधन सा बन रहा था। इतिहासकार इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, ग्रीशियन लोगों के बिखरे हुए समाज को इस उत्सव ने फिर से संगठित करादिया है। पिथियन यात्रा में ललित—कलाओं की उपासना होती थी। निमियन उत्सव सिपाही पेशा लोगों का था। रोमन लोगों का सर्कस भी एक महोत्सव समझा जाता था। क्रूसेड्स नामक धर्मयुद्धों का आरंभ होनेसे पूर्व 'खीस्तजयंती' भी वीर्यपोषक

त्सव के स्वरूप में मनाई जाती थी। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करनेके लिए 'तारा' की यात्रा बड़ी उपयोगी होती थी। इस तरह विदेशीय उत्सवों का उल्लेख करनेके बाद भारतीय यज्ञयागादि एवं कालप्रियनाथनामक देवता के निमित्त होनेवाले मेले आदि का यथाक्रम वर्णन किया जाता है। और अंत में बम्बई के होलीविषयक जुलूस से उत्सवप्रिय समाज का जो कुछ मनोरंजन होता है, उस तक को प्रशंसा करके केसरी ने कहा है कि ऐसे २ कार्य केवल उत्सवों द्वारा ही हो सकते हैं, इन्हें सभाचारपत्र कभी नहीं कर सकते।

दूसरे लेख में इस बातका सप्रमाण विवेचन किया है कि कुछ पुराने उत्सव और त्यौहार जो कि उद्वेगजनक प्रतीत होनेके कारण त्याज्य जान पड़ते हैं, उनके स्थान पर नये उत्सवों की किस प्रकार स्थापना होनी चाहिये। कमसे कम भिन्न २ स्थानों में पूर्वापर होनेवाले उत्सवों से ही लाभ उठानेकी बात सूचित कर पर्वती, चिंचवड़, चाफल प्रभृति स्थानों में कार्यकर्ताओं एवं लोगों को मिलाकर उत्सव को नया स्वरूप देनेका अनुरोध किया है। साथ ही सुशिक्षितों को ऐसे प्रसंग से लाभ उठाकर पुराने लोगों के साथ मिलते हुए अपनी शिक्षा एवं नई कल्पनाद्वारा लोगों का हितसाधन करनेकी सलाह भी दी है। क्योंकि समाज का उद्धार होनेपर ही हमारा उद्धार होगा अतएव प्रार्थनासमाज मंदिर में भक्तिभाव के गीत गाते रहनेकी अपेक्षा यदि किसी गणेशोत्सव के मंडप में रानडे सदृश व्यक्ति भक्तिमाहात्म्य का वर्णन करें, अथवा चाफल के उत्सव में वे रामदास के साथ खड़े हो कर व्याख्यान दें तो इससे बहुत कुछ काम हो सकता है। इस तरह केसरी ने सुधारकों को भी मार्ग दिखलाया है।

(२) श्री शिवाजी–उत्सव.

गणपति उत्सव की ही तरह शिवाजी उत्सव भी किसी एक निमित्त से प्रसिद्ध हुआ है। असल में इसके लिए जो निमित्त कारण हुआ वह अन्य उत्सवों की ही तरह था। किन्तु तिलक की बुद्धिमत्ता के प्रभाव से इस छोटे से निमित्त को लेकर ही शिवाजी उत्सव की कल्पना केसरी के लेखों द्वारा सर्वमान्य हो गई, और उन्होंने इसे बाहरी आन्दोलनों के साथ सम्बद्ध कर स्वल्प काल में ही चिरस्थायी बना दिया। इस आन्दोलन का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है कि, सन १८८५ में अर्थात् इस आन्दोलन का आरंभ होनेसे दशवर्ष पूर्व किसी कारणवश श्री शिवाजीमहाराज की रायगढ़वाली समाधि की जीर्णावस्था पर

कर रहे हैं ? यह एक मानी हुई बात है कि यदि कोई सारी पृथ्वी को प्रथमतः स्वच्छ और समतल करके अपने लिए उपयुक्त पर्वतमालाएँ अथवा नदी-नाले उत्पन्न करनेकी कोशिश करे, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। पुरातन काल से प्रवर्तित चक्र को उसी दशा में देशकालानुसार आगे के लिए चलाते रहना ही चतुर पुरुषों की रीति है। बायीं कनपट्टी परसे दायां हाथ घुमाकर मुँह में ग्रास डालने जैसी हास्यास्पद प्रमदावनों ' की कल्पना लोगों के सन्मुख उपस्थित करनेकी अपेक्षा, यदि आबालवृद्ध-वनिताओं को भक्ति, ज्ञान एवं मनोरंजन आदि से प्रादुर्भूत सुख की एकदम प्राप्ति करा देनेवाले राष्ट्रीय महोत्सव के समय, किसी अंश में अपनी देह और बुद्धि को कष्ट देना पड़े, तो केवल लेखनी द्वारा ही पंढरीनाथ के भक्त कहलवानेवालों को भी न्यूनाधिक अंश में ही अपने कर्तव्य-पालन का अनुभव हुए बिना न रहेगा। इस प्रकार के राष्ट्रीय उत्सवों को जागृत रखना या न होनेपर उन्हें प्रचलित करना राष्ट्रीयता को स्थायी बनाने का एक उत्तम मार्ग है। इस लिए हम इस प्रार्थना के साथ प्रस्तुत लेख को समाप्त करते हैं कि हमारे सुशिक्षित भाइयों को भूलकर भी इनके प्रति अश्रद्धा न दिखलानी चाहिये "।

हमारा विश्वास है कि उस समय के सुधारक या सुबोधपत्रिका आदि पत्रों के लेख पढ़ने पर यही प्रतीत होगा कि उपरोक्त उद्धरण में केवल आधिक्षेप ही भरा हुआ है, और वह जैसे को तैसा के ही स्वरूप में है। किन्तु ता. १ और ८ सितंबर सन १८९६ के अंकों में "राष्ट्रीय महोत्सवों की आवश्यकता" और "राष्ट्रीय महोत्सवों के समय सुशिक्षितों का कर्तव्य" इन शीर्षकों से केसरी ने जो लेख लिखे हैं वे विचारपरिप्लुत एवं पठनीय हैं। गणपति उत्सव के नये आन्दोलन का उपसंहार और भावी शिवजयंत्युत्सव की प्रस्तावना के रूप में ही इन लेखों की सृष्टि हुई है। इन लेखों में प्रथमतः ग्रीस देश के ओलंपियन महोत्सव का वर्णन दिया गया है। यह भी एक धार्मिक उत्सव था और इसमें भी कवि, पण्डित, वीर, नीतिज्ञ एवं साधुसंत इकत्रित होते थे। अनेक विषयों की चर्चा और तरह २ के खेलों द्वारा इस उत्सव में लोकरंजन किया जाता था। इस तरह यह उत्सव राष्ट्रीय सम्मानप्राप्ति का एक साधन सा बन रहा था। इतिहासकार इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, ग्रीशियन लोगों के बिखरे हुए समाज को इस उत्सव ने फिर से संगठित करादिया है। पिथियन यात्रा में ललित—कलाओं की उपासना होती थी। निमियन उत्सव सिपाही पेशा लोगों का था। रोमन लोगों का सर्कस भी एक महोत्सव समझा जाता था। क्रूसेड्स नामक धर्मयुद्धों का आरंभ होनेसे पूर्व 'खीस्तजयंती' भी वीर्यपोषक

उत्सव के स्वरूप में मनाई जाती थी। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करनेके लिए 'तारा' की यात्रा बड़ी उपयोगी होती थी। इस तरह विदेशीय उत्सवों का उल्लेख करनेके बाद भारतीय यज्ञयागादि एवं क्षत्रप्रिय-नायनात्मक देवता के निमित्त होनेवाले मेले आदि का पर्यायक्रम वर्णन किया जाता है। और अंत में बम्बई के होलीविषयक जुलूस से उत्सवप्रिय समाज का जो कुछ मनोरंजन होता है, उस तक की प्रशंसा करके केसरी ने कहा है कि ऐसे २ कार्य केवल उत्सवों द्वारा ही हो सकते हैं, इन्हें समाचारपत्र कभी नहीं कर सकते।

दूसरे लेख में इस बातका सप्रमाण विवेचन किया है कि कुछ पुराने उत्सव और त्यौहार जो कि उद्वेगजनक प्रतीत होनेके कारण त्याज्य ज्ञात पड़ते हैं, उनके स्थान पर नये उत्सवों की किस प्रकार स्थापना होनी चाहिये। कमसे कम भिन्न २ स्थानों में पूर्वापर होनेवाले उत्सवों से ही लाभ उठानेकी बात सूचित कर पर्वती, चिंचवड, चाफल प्रभृति स्थानों में कार्यकर्ताओं एवं लोगों को मिलाकर उत्सव को नया स्वरूप देनेका अनुरोध किया है। साथ ही सुशिक्षितों को ऐसे प्रसंग से लाभ उठाकर पुराने लोगों के साथ मिलते हुए अपनी शिक्षा एवं नई कल्पनाद्वारा लोगों का हितसाधन करनेकी सलाह भी दी है। क्योंकि समाज का उद्धार होनेपर ही हमारा उद्धार होगा अतएव प्रार्थनासमाज मंदिर में भक्तिभाव के गीत गाते रहनेकी अपेक्षा यदि किसी गणेशोत्सव के मंडप में रानडे सदृश व्यक्ति भक्तिमाहात्म्य का वर्णन करें, अथवा चाफल के उत्सव में वे रामदास के साथ खड़े हो कर व्याख्यान दें तो इससे बहुत कुछ काम हो सकता है। इस तरह केसरी ने सुधारकों को भी मार्ग दिखलाया है।

(२) श्री शिवाजी–उत्सव.

गणपति उत्सव की ही तरह शिवाजी उत्सव भी किसी एक निमित्त से प्रसिद्ध हुआ है। असल में इसके लिए जो निमित्त कारण हुआ वह अन्य उत्सवों की ही तरह था। किन्तु तिलक की बुद्धिमत्ता के प्रभाव से इस छोटे से निमित्त को लेकर ही शिवाजी उत्सव की कल्पना केसरी के लेखों द्वारा सर्वमान्य हो गई, और उन्होंने इसे बाहरी आन्दोलनों के साथ सम्बद्ध कर स्वल्प काल में ही चिरस्थायी बना दिया। इस आन्दोलन का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है कि, सन १८८५ में अर्थात् इस आन्दोलन का आरंभ होनेसे दशवर्ष पूर्व किसी कारणवश् श्री शिवाजीमहाराज की रायगढ़वाली समाधि की जीर्णावस्था पर

कर रहे हैं ? यह एक मानी हुई बात है कि यदि कोई सारी पृथ्वी को प्रथमतः स्वच्छ और समतल करके अपने लिए उपयुक्त पर्वतमालाएँ अथवा नदी-नाले उत्पन्न करनेकी कोशिश करे, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। पुरातन काल से प्रवर्तित चक्र को उसी दशा में देशकालानुसार आगे के लिए चलाते रहना ही चतुर पुरुषों की रीति है। बायीं कनपट्टी परसे दायां हाथ घुमाकर मुँह में ग्रास डालने जैसी हास्यास्पद 'प्रमदावनों' की कल्पना लोगों के सन्मुख उपस्थित करनेकी अपेक्षा, यदि आबालवृद्ध-वनिताओं को भक्ति, ज्ञान एवं मनोरंजन आदि से प्रादुर्भूत सुख की एकदम प्राप्ति करा देनेवाले राष्ट्रीय महोत्सव के समय, किसी अंश में अपनी देह और बुद्धि को कष्ट देना पड़े, तो केवल लेखनी द्वारा ही पंढरीनाथ के भक्त कहलवानेवालों को भी न्यूनाधिक अंश में ही अपने कर्तव्य-पालन का अनुभव हुए बिना न रहेगा। इस प्रकार के राष्ट्रीय उत्सवों को जागृत रखना या न होनेपर उन्हें प्रचलित करना राष्ट्रीयता को स्थायी बनाने का एक उत्तम मार्ग है। इस लिए हम इस प्रार्थना के साथ प्रस्तुत लेख को समाप्त करते हैं कि हमारे सुशिक्षित भाइयों को भूलकर भी इनके प्रति अश्रद्धा न दिखलानी चाहिये"।

हमारा विश्वास है कि उस समय के सुधारक या सुबोधपत्रिका आदि पत्रों के लेख पढ़ने पर यही प्रतीत होगा कि उपरोक्त उद्धरण में केवल आधिक्षेप ही भरा हुआ है, और वह जैसे को तैसा के ही स्वरूप में है। किन्तु ता. १ और ८ सितंबर सन १८९६ के अंकों में "राष्ट्रीय महोत्सवों की आवश्यकता" और "राष्ट्रीय महोत्सवों के समय सुशिक्षितों का कर्तव्य" इन शीर्षकों से केसरी ने जो लेख लिखे हैं वे विचारपरिप्लुत एवं पठनीय हैं। गणपति उत्सव के नये आन्दोलन का उपसंहार और भावी शिवजयंत्युत्सव की प्रस्तावना के रूप में ही इन लेखों की सृष्टि हुई है। इन लेखों में प्रथमतः ग्रीस देश के ओलिंपियन महोत्सव का वर्णन दिया गया है। यह भी एक धार्मिक उत्सव था और इसमें भी कवि, पण्डित, वीर, नीतिज्ञ एवं साधुसंत इकत्रित होते थे। अनेक विषयों की चर्चा और तरह २ के खेलों द्वारा इस उत्सव में लोकरंजन किया जाता था। इस तरह यह उत्सव राष्ट्रीय सम्मानप्राप्ति का एक साधन सा बन रहा था। इतिहासकार इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, ग्रीशियन लोगों के बिखरे हुए समाज को इस उत्सव ने फिर से संगठित करदिया है। पिथियन यात्रा में ललित—कलाओं की उपासना होती थी। निमियन उत्सव सिपाही पेशा लोगों का था। रोमन लोगों का सर्कस भी एक महोत्सव समझा जाता था। क्रूसेड्स नामक धर्मयुद्धों का आरंभ होनेसे पूर्व 'ख्रीस्तजयंती' भी वीर्यपोषक

उत्सव के स्वरूप में मनाई जाती थी। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करनेके लिए 'तारा' की यात्रा बड़ी उपयोगी होती थी। इस तरह विदेशीय उत्सवों का उल्लेख करनेके बाद भारतीय यज्ञयागादि एवं कालप्रिय-नाथनामक देवता के निमित्त होनेवाले मेले आदि का यथाक्रम वर्णन किया जाता है। और अंत में बम्बई के होलीविषयक जुलूस से उत्सवप्रिय समाज का जो कुछ मनोरंजन होता है, उस तक को प्रशंसा करके केसरी ने कहा है कि ऐसे २ कार्य केवल उत्सवों द्वारा ही हो सकते हैं, इन्हें समाचारपत्र कभी नहीं कर सकते।

दूसरे लेख में इस बातका सप्रमाण विवेचन किया है कि कुछ पुराने उत्सव और त्यौहार जो कि उद्वेगजनक प्रतीत होनेके कारण त्याज्य जान पढते हैं, उनके स्थान पर नये उत्सवों की किस प्रकार स्थापना होनी चाहिये। कमसे कम भिन्न २ स्थानों में पूर्वापर होनेवाले उत्सवों से ही लाभ उठानेकी बात सूचित कर पर्वती, चिंचवड, चाफल प्रभृति स्थानों में कार्यकर्ताओं एवं लोगों को मिलाकर उत्सव को नया स्वरूप देनेका अनुरोध किया है। साथ ही सुशिक्षितों को ऐसे प्रसंग से लाभ उठाकर पुराने लोगों के साथ मिलते हुए अपनी शिक्षा एवं नई कल्पनाद्वारा लोगों का हितसाधन करनेकी सलाह भी दी है। क्योंकि समाज का उद्धार होनेपर ही हमारा उद्धार होगा अतएव प्रार्थनासमाज मंदिर में भक्तिभाव के गीत गाते रहनेकी अपेक्षा यदि किसी गणेशोत्सव के मंडप में रानडे सदृश व्यक्ति भक्तिमाहात्म्य का वर्णन करें, अथवा चाफल के उत्सव में वे रामदास के साथ खड़े हो कर व्याख्यान दें तो इससे बहुत कुछ काम हो सकता है। इस तरह केसरी ने सुधारकों को भी मार्ग दिखलाया है।

(२) श्री शिवाजी-उत्सव.

गणपति उत्सव की ही तरह शिवाजी उत्सव भी किसी एक निमित्त से प्रसिद्ध हुआ है। असल में इसके लिए जो निमित्त कारण हुआ वह अन्य उत्सवों की ही तरह था। किन्तु तिलक की बुद्धिमत्ता के प्रभाव से इस छोटे से निमित्त को लेकर ही शिवाजी उत्सव की कल्पना केसरी के लेखों द्वारा सर्वमान्य हो गई, और उन्होने इसे बाहरी आन्दोलनों के साथ सम्बद्ध कर स्वल्प काल में ही चिरस्थायी बना दिया। इस आन्दोलन का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है कि, सन १८८४ में अर्थात् इस आन्दोलन का आरंभ होनेसे दशवर्ष पूर्व किसी कारणवश श्री शिवाजीमहाराज की रायगढवाली समाधि की जीर्णावस्था पर

कर रहे हैं ? यह एक मानी हुई बात है कि यदि कोई सारी पृथ्वी को प्रथमतः स्वच्छ और समतल करके अपने लिए उपयुक्त पर्वतमालाएँ अथवा नदी-नाले उत्पन्न करनेकी कोशिश करे, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। पुरातन काल से प्रवर्तित चक्र को उसी दशा में देशकालानुसार आगे के लिए चलाते रहना ही चतुर पुरुषों की रीति है। बायीं कनपट्टी परसे दायां हाथ घुमाकर मुँह में ग्रास डालने जैसी हास्यास्पद 'प्रमदावनों' की कल्पना लोगों के सन्मुख उपस्थित करनेकी अपेक्षा, यदि आबालवृद्ध-वनिताओं को भक्ति, ज्ञान एवं मनोरंजन आदि से प्रादुर्भूत सुख की एकदम प्राप्ति करा देनेवाले राष्ट्रीय महोत्सव के समय, किसी अंश में अपनी देह और बुद्धि को कष्ट देना पड़े, तो केवल लेखनी द्वारा ही पंढरीनाथ के भक्त कहलवानेवालों को भी न्यूनाधिक अंश में ही अपने कर्तव्य-पालन का अनुभव हुए बिना न रहेगा। इस प्रकार के राष्ट्रीय उत्सवों को जागृत रखना या न होनेपर उन्हें प्रचलित करना राष्ट्रीयता को स्थायी बनाने का एक उत्तम मार्ग है। इस लिए हम इस प्रार्थना के साथ प्रस्तुत लेख को समाप्त करते हैं कि हमारे सुशिक्षित भाइयों को भूलकर भी इनके प्रति अश्रद्धा न दिखलानी चाहिये"।

हमारा विश्वास है कि उस समय के सुधारक या सुबोधपत्रिका आदि पत्रों के लेख पढ़ने पर यही प्रतीत होगा कि उपरोक्त उद्धरण में केवल आधिक्षेप ही भरा हुआ है, और वह जैसे को तैसा के ही स्वरूप में है। किन्तु ता. १ और ८ सितंबर सन १८९६ के अंकों में "राष्ट्रीय महोत्सवों की आवश्यकता" और "राष्ट्रीय महोत्सवों के समय सुशिक्षितों का कर्तव्य" इन शीर्षकों से केसरी ने जो लेख लिखे हैं वे विचारपरिप्लुत एवं पठनीय हैं। गणपति उत्सव के नये आन्दोलन का उपसंहार और भावी शिवजयंत्युत्सव की प्रस्तावना के रूप में ही इन लेखों की सृष्टि हुई है। इन लेखों में प्रथमतः ग्रीस देश के ओलंपियन महोत्सव का वर्णन दिया गया है। यह भी एक धार्मिक उत्सव था और इसमें भी कवि, पण्डित, वीर, नीतिज्ञ एवं साधुसंत इकत्रित होते थे। अनेक विषयों की चर्चा और तरह २ के खेलों द्वारा इस उत्सव में लोकरंजन किया जाता था। इस तरह यह उत्सव राष्ट्रीय सम्मानप्राप्ति का एक साधन सा बन रहा था। इतिहासकार इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, ग्रीशियन लोगों के बिखरे हुए समाज को इस उत्सव ने फिर से संगठित करादिया है। पिथियन यात्रा में ललित—कलाओं की उपासना होती थी। निमियन उत्सव सिपाही पेशा लोगों का था। रोमन लोगों का सर्कस भी एक महोत्सव समझा जाता था। क्रूसेड्स नामक धर्मयुद्धों का आरंभ होनेसे पूर्व 'खीस्तजयंती' भी वीर्यपोषक

उत्सव के स्वरूप में मनाई जाती थी। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करनेके लिए 'तारा' की यात्रा बड़ी उपयोगी होती थी। इस तरह विदेशीय उत्सवों का उल्लेख करनेके बाद भारतीय यज्ञयागादि एवं कालप्रियनाथनामक देवता के निमित्त होनेवाले मेले आदि का यथाक्रम वर्णन किया जाता है। और अंत में बम्बई के होलीविषयक जुलूस से उत्सवप्रिय समाज का जो कुछ मनोरंजन होता है, उस तक की प्रशंसा करके केसरी ने कहा है कि ऐसे २ कार्य केवल उत्सवों द्वारा ही हो सकते हैं, इन्हें समाचारपत्र कभी नहीं कर सकते।

दूसरे लेख में इस बातका सप्रमाण विवेचन किया है कि कुछ पुराने उत्सव और त्यौहार जो कि उद्वेगजनक प्रतीत होनेके कारण त्याज्य जान पड़ते हैं, उनके स्थान पर नये उत्सवों की किस प्रकार स्थापना होनी चाहिये। कमसे कम भिन्न २ स्थानों में पूर्वापर होनेवाले उत्सवों से ही लाभ उठानेकी बात सूचित कर पर्वती, चिंचवड़, चाफल प्रभृति स्थानों में कार्यकर्ताओं एवं लोगों को मिलाकर उत्सव को नया स्वरूप देनेका अनुरोध किया है। साथ ही सुशिक्षितों को ऐसे प्रसंग से लाभ उठाकर पुराने लोगों के साथ मिलते हुए अपनी शिक्षा एवं नई कल्पनाद्वारा लोगों का हितसाधन करनेकी सलाह भी दी है। क्योंकि समाज का उद्धार होनेपर ही हमारा उद्धार होगा अतएव प्रार्थनासमाज मंदिर में भक्तिभाव के गीत गाते रहनेकी अपेक्षा यदि किसी गणेशोत्सव के मंडप में रानडे सदृश व्यक्ति भक्तिमाहात्म्य का वर्णन करें, अथवा चाफल के उत्सव में वे रामदास के साथ खड़े हो कर व्याख्यान दें तो इससे बहुत कुछ काम हो सकता है। इस तरह केसरी ने सुधारकों को भी मार्ग दिखलाया है।

(२) श्री शिवाजी-उत्सव.

गणपति उत्सव की ही तरह शिवाजी उत्सव भी किसी एक निमित्त से प्रसिद्ध हुआ है। असल में इसके लिए जो निमित्त कारण हुआ वह अन्य उत्सवों की ही तरह था। किन्तु तिलक की बुद्धिमत्ता के प्रभाव से इस छोटे से निमित्त को लेकर ही शिवाजी उत्सव की कल्पना केसरी के लेखों द्वारा सर्वमान्य हो गई, और उन्होंने इसे बाहरी आन्दोलनों के साथ सम्बद्ध कर स्वल्प काल में ही चिरस्थायी बना दिया। इस आन्दोलन का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है कि, सन १८८५ में अर्थात् इस आन्दोलन का प्रारंभ होनेसे दशवर्ष पूर्व किसी कारणवश श्री शिवाजीमहाराज की रायगढ़वाली समाधि की जीर्णावस्था पर !

कर रहे हैं ? यह एक मानी हुई बात है कि यदि कोई सारी पृथ्वी को प्रथमतः स्वच्छ और समतल करके अपने लिए उपयुक्त पर्वतमालाएँ अथवा नदी-नाले उत्पन्न करनेकी कोशिश करे, तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। पुरातन काल से प्रवर्तित चक्र को उसी दशा में देशकालानुसार आगे के लिए चलाते रहना ही चतुर पुरुषों की रीति है। बायीं कनपट्टी परसे दायां हाथ घुमाकर मुँह में ग्रास डालने जैसी हास्यास्पद 'प्रमद्वनां' की कल्पना लोगों के सन्मुख उपस्थित करनेकी अपेक्षा, यदि आबालवृद्ध-वनिताओं को भक्ति, ज्ञान एवं मनोरंजन आदि से प्रादुर्भूत सुख की एकदम प्राप्ति करा देनेवाले राष्ट्रीय महोत्सव के समय, किसी अंश में अपनी देह और बुद्धि को कष्ट देना पड़े, तो केवल लेखनी द्वारा ही पंढरीनाथ के भक्त कहलवानेवालों को भी न्यूनाधिक अंश में ही अपने कर्तव्य-पालन का अनुभव हुए बिना न रहेगा। इस प्रकार के राष्ट्रीय उत्सवों को जागृत रखना या न होनेपर उन्हें प्रचलित करना राष्ट्रीयता को स्थायी बनाने का एक उत्तम मार्ग है। इस लिए हम इस प्रार्थना के साथ प्रस्तुत लेख को समाप्त करते हैं कि हमारे सुशिक्षित भाइयों को भूलकर भी इनके प्रति अश्रद्धा न दिखलानी चाहिये"।

हमारा विश्वास है कि उस समय के सुधारक या सुबोधपत्रिका आदि पत्रों के लेख पढ़ने पर यही प्रतीत होगा कि उपरोक्त उद्धरण में केवल आक्षेप ही भरा हुआ है, और वह जैसे को तैसा के ही स्वरूप में है। किन्तु ता. १ और ८ सितंबर सन १८९६ के अंकों में "राष्ट्रीय महोत्सवों की आवश्यकता" और "राष्ट्रीय महोत्सवों के समय सुशिक्षितों का कर्तव्य" इन शीर्षकों से केसरी ने जो लेख लिखे हैं वे विचारपरिप्लुत एवं पठनीय हैं। गणपति उत्सव के नये आन्दोलन का उपसंहार और भावी शिवजयंत्युत्सव की प्रस्तावना के रूप में ही इन लेखों की सृष्टि हुई है। इन लेखों में प्रथमतः ग्रीस देश के ओलंपियन महोत्सव का वर्णन दिया गया है। यह भी एक धार्मिक उत्सव था और इसमें भी कवि, पण्डित, वीर, नीतिज्ञ एवं साधुसंत इकत्रित होते थे। अनेक विषयों की चर्चा और तरह २ के खेलों द्वारा इस उत्सव में लोकरंजन किया जाता था। इस तरह यह उत्सव राष्ट्रीय सम्मानप्राप्ति का एक साधन सा बन रहा था। इतिहासकार इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं कि, ग्रीशियन लोगों के बिखरे हुए समाज को इस उत्सव ने फिर से संगठित करदिया है। पिथियन यात्रा में ललित—कलाओं की उपासना होती थी। निमियन उत्सव सिपाही पेशा लोगों का था। रोमन लोगों का सर्कस भी एक महोत्सव समझा जाता था। क्रूसेड्स नामक धर्मयुद्धों का आरंभ होनेसे पूर्व 'खीस्तजयंती' भी वीर्यपोषक

उत्सव के स्वरूप में मनाई जाती थी। आयरिश लोगों में राष्ट्रीय भावना जागृत करनेके लिए 'तारा' की यात्रा बड़ी उपयोगी होती थी। इस तरह विदेशीय उत्सवों का उल्लेख करनेके बाद भारतीय यज्ञयागादि एवं कालप्रिय-नाथनामक देवता के निमित्त होनेवाले मेले आदि का यथाक्रम वर्णन किया जाता है। और अंत में बम्बई के होलीविषयक जुलूस से उत्सवप्रिय समाज का जो कुछ मनोरंजन होता है, उस तक को प्रशंसा करके केसरी ने कहा है कि ऐसे २ कार्य केवल उत्सवों द्वारा ही हो सकते हैं, इन्हें समाचारपत्र कभी नहीं कर सकते।

दूसरे लेख में इस बातका सप्रमाण विवेचन किया है कि कुछ पुराने उत्सव और त्यौहार जो कि उद्वेगजनक प्रतीत होनेके कारण त्याज्य जान पड़ते हैं, उनके स्थान पर नये उत्सवों की किस प्रकार स्थापना होनी चाहिये। कमसे कम भिन्न २ स्थानों में पूर्वापर होनेवाले उत्सवों से ही लाभ उठानेकी बात सूचित कर पर्वती, चिंचवड़, चाफल प्रभृति स्थानों में कार्यकर्ताओं एवं लोगों को मिलाकर उत्सव को नया स्वरूप देनेका अनुरोध किया है। साथ ही सुशिक्षितों को ऐसे प्रसंग से लाभ उठाकर पुराने लोगों के साथ मिलते हुए अपनी शिक्षा एवं नई कल्पनाद्वारा लोगों का हितसाधन करनेकी सलाह भी दी है। क्योंकि समाज का उद्धार होनेपर ही हमारा उद्धार होगा अतएव प्रार्थनासमाज मंदिर में भक्तिभाव के गीत गाते रहनेकी अपेक्षा यदि किसी गणेशोत्सव के मंडप में रानडे सदृश व्यक्ति भक्तिमाहात्म्य का वर्णन करें, अथवा चाफल के उत्सव में वे रामदास के साथ खड़े हो कर व्याख्यान दें तो इससे बहुत कुछ काम हो सकता है। इस तरह केसरी ने सुधारकों को भी मार्ग दिखलाया है।

(२) श्री शिवाजी–उत्सव.

गणपति उत्सव की ही तरह शिवाजी उत्सव भी किसी एक निमित्त से प्रसिद्ध हुआ है। असल में इसके लिए जो निमित्त कारण हुआ वह अन्य उत्सवों की ही तरह था। किन्तु तिलक की बुद्धिमत्ता के प्रभाव से इस छोटे से निमित्त को लेकर ही शिवाजी उत्सव की कल्पना केसरी के लेखों द्वारा सर्वमान्य हो गई, और उन्होंने इसे बाहरी आन्दोलनों के साथ सम्बद्ध कर स्वल्प काल में ही चिरस्थायी बना दिया। इस आन्दोलन का खुलासा संक्षेप में इस प्रकार है कि, सन १८८५ में अर्थात् इस आन्दोलन का आरंभ होनेसे दशवर्ष पूर्व किसी कारणवश श्री शिवाजीमहाराज की रायगढ़वाली समाधि की जीर्णावस्था पर

समाचारपत्रों में चर्चा चली। कहा जाता है कि सर्वप्रथम इसका उल्लेख कुलाबा जिलेके जंगलविभाग के एक अंगरेज़ अधिकारी ने किया। क्योंकि रायगढ़ का किला सरकारी जंगल-विभाग की सीमा में समाविष्ट होता है, यद्यपि सन १८८५ में मेन्युमेंट्स एक्ट (ऐतिहासिक वस्तुसंरक्षण का क़ानून) का निर्माण नहीं हुआ था, किन्तु फिर भी सारा क़िला और आसपास का जंगल सरकारी हद में था। फलतः क़िले के साथ ही उसमें की समाधि भी आगई। पेशवाई के अंत-तक रायगढ़ दुर्गपर वस्ती और सरकारी सिपाही प्यादे भी रहते थे। किन्तु सन १८१८ में पेशवाई का अंत होजाने के बाद से वहां की वस्ती उजड़कर केवल जंगल ही रह गया। इस जंगल को पार करके भी लोग प्रतिवर्ष रायगढ़ का क़िला देखने को जाया करते थे। जहां तक हम समझते हैं कोईसा भी साव-धान गवर्नर इस किले को देखे बिना न रहा होगा। सर रिचर्ड टेम्पल भी अपनी गवर्नरी के समय में यह क़िला देखने गये थे । इस प्रसंग का मज़ेदार वर्णन लगभग विस वर्ष पश्चात् "टाइम्स ऑफ इण्डिया" में ए. टी. सी. के नाम से किसी पुरानी यादगार लिखनेवाले अंगरेज़ ने छपवाया था।

ये ए. टी. सी. वहुत करके आर्थर क्राफर्ड साहब ही हो सकते हैं। उन्होंने टाइम्स पत्र को चिठ्ठियां भेजी थीं, उनका शीर्षक Stray Leaves from my note book (अर्थात मेरी स्मरण पुस्तिका के कुछ पृष्ठ) रक्खा था, और उनमें रायगढ़विपयक पत्र छतीसवां था। टेम्पल साहब की गवर्नरी के समय क्राफर्ड साहब रेविन्यु कामिशनर और डॉ० वाटर्स एवं केप्टन पिट भी उनके साथ किला देखने को गये थे। क्राफर्ड साहब लिखते हैं कि "रायगढ़ दुर्ग पर पहुँच जानेके बाद टेम्पल साहब समाधि के चबूतरे पर चढ़े। वहां चढ़ते ही उन्हें इतनी स्फूर्ति हुई कि उनकी कल्पनाशक्ति ने दो सौ वर्ष पूर्व के इसी स्थान पर होनेवाले शिवाजी दरबार का वर्णन एकदम काव्यमारी भाषा में कर दिखाया। इसके बाद फिर शिवाजी की मृत्यु होजाने पर संभाजी ने जिस प्रकार अपनी सौतेली माता की दुर्गति की, और उसने जिस प्रकार उन्हें शाप दिया, उन सब विचित्र दृश्यों का हूबहू वर्णन कर अंत में टेम्पल साहबने कहा कि अन्य देशों के जो विद्वान् यहां आते हैं उन्हें मैं सिफारिश करता हूं कि वे अवश्य ही इन दो दृश्यों का अपनी भाषा में चित्र अंकित किया करें। किन्तु 'गस्ताव दोरे' नामक चित्रकार के सिवाय अन्य किसीसे इन चित्रों के अंकित हो सकनेकी संभावना नहीं जान पड़ती।' इस प्रसंग पर टेम्पल साहब ने रायगढ़ पर के दृश्यों के अनेक चित्र पेंसिल से बना लिए। इसके बाद जाते समय उन्होंने वहां की टूट-फूटी की मरम्मत करनेके लिये दो सौ रुपये

की ही, किन्तु इसीके साथ २ उन्होंने कुलाबा के कलेक्टर को इस आशय का एक पत्र भी लिखा कि आज तक खुद ही ज़िले के ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थान की मरम्मत करानेकी ओर तुम्हारा ध्यान क्यों नहीं गया, इसी पर मुझे आश्चर्य होता है ?"

"इसके सात-आठ वर्ष बाद रायगढ़ पर की समाधि का विषय फिर से लोगों के सामने आया। उस समय कुलाबा जिले के जंगल-विभाग के अधिकारी ने टेम्पल साहब के इस हुक्म का उपयोग कर समाधि की दुरस्ती के लिए बम्बईसरकार से कुछ रक़म मंजूर करनेकी प्रार्थना की। इसका उल्लेख समाचार-पत्रों में होनेसे सर्वसाधारण में भी इसकी चर्चा चलपड़ी। डगलस साहब ने बम्बई प्रान्तविषयक एक पुस्तक छपवाई, उसमें भी इस समाधि की दुरवस्था का वर्णन किया गया था। सन १८८५ में गोविंद बाबाजी जोशी वसईकर नामके एक ग्रंथकार एवं उपदेशक ने जब बड़ौदे में यह चर्चा पढ़ी तो अबतक रायगढ़ न देखनेपर खेद प्रकट कर वे ता. ३ अपरैल को रायगढ़ पहुँचे। वहांकी सारी स्थिति देखकर इस विषयपर उन्होंने एक पुस्तक लिखी, जोकि सन १८८७ में छपकर प्रकाशित हुई। डगलस साहब ने इस बातके लिए महाराष्ट्रीयों को फटकारा था कि उन्होंने अपने देश की इस अमूल्य समाधि की दुरवस्था पर अबतक ध्यान न देकर कैसी गंभीर भूल की है। यह बात जोशीजी को सहन न होसकी। डगलससाहब ने कोल्हापुर एवं सितारावाले छत्रपती के वंशज पेशवाओं को तो दोष दिया ही था, किन्तु इसीके साथ सामान्य जनता की ओरसे इसके लिए कभी एक पैसा तक ख़र्च न किया जानेपर भी उसे बुरा भला कहा था। इस दोषारोप से जोशीजी का उत्साह तो बढ़ ही गया, किन्तु जान पड़ता है कि उन्होंने राजामहाराजाओं से सहायता प्राप्त करके काम चलानेकी अपेक्षा न रख सर्वसाधारण से ही धनसंग्रह कर इस कार्य को पूरा करनेका ही निश्चय किया। उन्होंने इस विषय पर अपनी पुस्तक में कुछ कविताएँ भी सम्मिलित कर दी थीं। इधर उन्होंने के. जनार्दन नाम के एक शिल्पज्ञ इंजिनीयर से समाधिपर छत्री बनवाने में जो ख़र्च पड़नेवाला था उसका तफसीलवार इस्टीमेट भी बनवा लिया था। वह रक़म लगभग ४१०४६ रुपये हुई थी। रायगढ़ से वापस आते ही जोशीजी ने बम्बई के 'नेटिव ओपीनियन' आदि पत्रों में इस विषय पर लेख लिखे थे, और इसी वर्ष (सन १८८६) के १५ दिसेंबर के 'केसरी में इस संवाद के साथ कि लार्ड रे ने समाधि के जीर्णोद्धार का काम-सरकारकी ओरसे करवाया जानेके लिए सिफारिश की है—उन्हें धन्यवाद भी दिया गया है। सिवाय में सालना पांच रुपये की मंजूरी समाधिपर की फुटकर सफाई

बम्बई गज़ट में भी किसी एक कृत्रिम नामधारी मराठे ने यह आक्षेप किया था कि यह सारा आन्दोलन ब्राह्मणों ने अपने पेट के लिए खड़ा किया है। क्योंकि शिवाजी का उत्सव किया जाने पर भी होगा ब्रह्मभोजन ही। आक्षेपकर्ता के मतानुसार स्मारक के लिए स्कूल या बोर्डिंग हाउस खुलना चाहिये था। सोलापुर की सौ. लक्ष्मीबाई किर्लोस्कर जैसी स्त्रियां, इस आन्दोलन के लिए उत्साहवर्धक पत्र भेजने लगीं। एक शास्त्रीजी ने भी शिवाजीविषयक कुछ पुराने श्लोक लिख भेजे। छोटे २ दूकानदार और भोजनालयवाले भी चंदा करके सहायता भेजने लगे। विद्यार्थियों की सभाएं होने लगीं, बम्बई में सभा करके यशवंत बाबाराम, डॉ. देशमुख, मा. खरे और मा. सेटलवाड वहांकी कमेटी के मंत्री बनाये गये। ता. ६ अगस्त के अंक में चंदे की रकम २१०० रुपयेतक जापहुँची। श्री. शंकराचार्य ने प्रतिवर्ष दस रुपये देना स्वीकार किया। यदि यह सिद्धान्त सत्य माना जाता हो कि छत्रपति शिवाजी के ही कारण हिन्दूधर्म जीवित रह सका, तो हिन्दूधर्म के गुरु की ओरसे दश रुपये का वर्षासन दिया जाना एक बहुत ही साधारण बात होसकती है। हां, परधर्मी अंगरेज की ओरसे दिये गये पांच रुपये के वर्षासन से अवश्य यह रकम दूनी है। किन्तु जगद्गुरु के आशीर्वाद या आज्ञापत्र के नाते उसका मूल्य बहुत अधिक जान पड़े तो आश्चर्य नहीं। ता. २० अगस्त तक चंदे की रक़म ६१०० तक पहुंच गई। बंबई की एक गुजराती नाटक कम्पनी ने एक खेल की आय ७०० रु. इस स्मारक फंड में देदिये। फर्ग्यूसन कॉलेज में जब सभा हुई तब प्रो० भानु ने अध्यक्षस्थान स्वीकार किया था, और उसमें कई अन्य प्रोफेसर भी उपस्थित थे। ता. २६ अगस्त को करवीर कर छत्रपति के पास सहायतार्थ डेपुटेशन भी रवाना होगया। श्रीमंत इचलकरंजीकर, श्री. कुरुंदवाडकर, मा. वंटमोरीकर देसाई, सेनापति दाभाड़े, सरदार पोतनीस, डॉ. देशमुख, सरदार मुतालीक, श्री. बाबामहाराज, माधवराव नामजोशी, सोलापुर के चक्रदेव, सितारा के करंदीकर, बेलगांव के नातू आदि डेप्युटेशन के सदस्य और तिलक इनके मंत्री बनकर गये थे। महाराजाने डेपुटेशन का सत्कार करके कहा कि "अपने अन्य पूर्वजों की छत्री की ही तरह रायगढ़वाली छत्री की भी हम व्यवस्था करदेंगे, और जैसा कुछ अनुमान होगा, उसके अनुसार वर्षासन की रक़म पीछे से प्रकट करदी जायगी"।

इसके बाद ही सितम्बर महिनेसे राष्ट्रीय सभाविषयक झगड़ा खड़ा हो जानेसे लोगों का ध्यान बँटना स्वाभाविक ही था। किन्तु फिर भी केसरी में स्मारकसंबन्धी लेखो की कमी न होने पाई। पूरा पेज भर भर कर चंदे की रकमें प्रकाशित होती थीं। ता. १ अक्टूबर के अंक में चंदे की रकम के नौ हजार से ऊपर पहुँच

कि "समाधि की दुरुस्ती के विषय में जो कुछ होना था, वह सब पहले ही होचुका है और इस विषय को सबसे पहले सुझानेवाले भी हम्हीं हैं, हमारी सूचना पर सरकार को जो उचित दिखाई दिया, वही उसने किया है। न्या. रानडे और तैलंग जैसों को भी सरकार की ओरसे किया हुआ प्रयत्न ही पर्याप्त जान पड़ा है। इन लोगों ने भी सन १८८५ में समाधि की मरम्मत के लिए सभा करके चंदा इकट्ठा करने का प्रयत्न किया था। किंतु इसके बाद सरकार ने जो व्यवस्था की वह उन्हें पट गई, अतएव उन्होंने चंदा इकट्ठा करना छोड़ दिया। ऐसी दशा में इस समय पेशवाई का डंका पीटनेवाले कुछ लोगों ने सरकारी प्रबंध को बुरा बतलाकर समाधि के टूट-फूट जानेके बहाने से नया आन्दोलन खड़ा किया है। इन लोगों ने रायगढ़ पर एक बहुत बड़ा उत्सव भी किया। किन्तु हम नहीं समझ सकते कि जब समाधिपर सरकार का कब्जा है, और उसने आवश्यक दुरुस्ती करादी है, तो फिर इस नये आन्दोलन को खड़ा करनेकी क्यों आवश्यकता हुई? [बाम्बे टाइम्स ता. २६ मई सन १८९५ ई.]

इस आक्षेप का इचलकरंजी के एक व्यक्ति ने ता. ११ जून सन १८९५ के अंक में जो उत्तर दिया, उसका ख़ास मुद्दा यह था कि, यह नया आन्दोलन स्वयमेव ही छिड़ गया है और इसे पूना के किसी व्यक्तिविशेष ने खड़ा नहीं किया। सन १८८५ में जब इसका आरंभ हुआ, तब कोल्हापुर के रीजंट साहब जैसे लोगों की इसके साथ सहानुभूति थी किंतु दुर्भाग्यवश कुछ दिनों बाद रीजंट (आबासाहब घाटगे) साहब का देहान्त होजाने से यह काम पिछड़ गया। सन १८८६ में सरकार ने कुछ काम कराया, किन्तु समाधि के मान से वह नहीं के ही बराबर था। कोल्हापुर आदि राज्यों के सामान्य राजपुरुषों की समाधि पर ही कितनी बड़ी २ रकमें बँधी हुई हैं, इसे सब जानते हैं। और ये अधिकांश सरदार शिवाजी महाराज की ही गादी का अन्न खाते हैं; अतएव इन्हे उस ऋणसे किसी अंश में मुक्त होनें इच्छा होना स्वाभाविक ही है। सामान्य लोगों में भी इसी प्रकार का उत्साह पाया जाता है। बिना किसी कोषाध्यक्ष के नियुक्त हुए केवल स्मारक की कल्पना प्रकट होते ही अनेक स्थानों में लोगों ने छोटी बड़ी रकमों से हजार पांचसों का चंदा इकट्ठा कर लिया है। और इस नये आन्दोलन के साथ कोल्हापुर के महाराज सदृश राजा लोग एवँ न्या. रानडे जैसे विद्वानों के अनुकूल रहते हुए भी व्यर्थ ही संदेह करनेंकी क्यों आवश्यकता हुई, सो समझमें नहीं आता।

बम्बई गज़ट में भी किसी एक कृत्रिम नामधारी मराठे ने यह आक्षेप केया था कि यह सारा आन्दोलन ब्राह्मणों ने अपने पेट के लिए खड़ा किया है। क्योंकि शिवाजी का उत्सव किया जाने पर भी होगा ब्रह्मभोजन ही। आक्षेप-कर्ता के मतानुसार स्मारक के लिए स्कूल या बोर्डिंग हाउस खुलना चाहिये था। सोलापुर की सौ. लक्ष्मीबाई किर्लोस्कर जैसी स्त्रियां, इस आन्दोलन के लिए उत्साहवर्धक पत्र भेजने लगीं। एक शास्त्रीजी ने भी शिवाजीविषयक कुछ पुराने श्लोक लिख भेजे। छोटे २ दूकानदार और भोजनालयवाले भी चंदा करके सहायता भेजने लगे। विद्यार्थियों की सभाएँ होने लगीं, बम्बई में सभा करके यशावा बाबाराम, डॉ. देशमुख, मा. खरे और मा. सेटलवाड वहांकी कमेटी के मंत्री बनाये गये। ता. ६ अगस्त के अंक में चंदे की रक़म १६०० रुपयेतक जापहुँची। श्री. शंकराचार्य ने प्रतिवर्ष दस रुपये देना स्वीकार किया। यदि यह सिद्धान्त सत्य माना जाता हो कि छत्रपति शिवाजी के ही कारण हिन्दूधर्म जीवित रह सका, तो हिन्दूधर्म के गुरु की ओरसे दस रुपये का वर्षासन दिया जाना एक बहुत ही साधारण बात होसकती है। हां, परधर्मी अंगरेज की ओरसे दिये गये पांच रुपये के वर्षासन से अवश्य यह रकम दूनी है। किन्तु जगद्गुरु के आशीर्वाद या आज्ञापत्र के नाते उसका मूल्य बहुत अधिक जान पड़े तो आश्चर्य नहीं। ता. १० अगस्त तक चंदे की रक़म ६२०० तक पहुंच गई। बंबई की एक गुजराती नाटक कम्पनी ने एक खेल की आय ७०० रु. इस स्मारक फंड में देदिये। फर्ग्युसन कॉलेज में जब सभा हुई तब प्रो० भानु ने अध्यक्षस्थान स्वीकार किया था, और उसमें कई अन्य प्रोफेसर भी उपस्थित थे। ता. २६ अगस्त को करवीर के छत्रपति के पास सहायतार्थ डेपुटेशन भी रवाना होगया। श्रीमंत इचलकरंजीकर, श्री. कुरुंदवाड़कर, मा. चंदमोरीकर देसाई, सेनापति दाभाडे, सरदार पोतनीस, डॉ. देशमुख, सरदार मुतालीक, श्री. बाबामहाराज, माधवराव नामजोशी, सोलापुर के चकदेव, सितारा के करंदीकर, बेलगांव के नातू आदि डेप्युटेशन के सदस्य और तिलक इनके मंत्री बनकर गये थे। महाराजाने डेपुटेशन का सत्कार करके कहा कि "अपने अन्य पूर्वजों की छत्री की ही तरह रायगढ़वाली छत्री की भी हम व्यवस्था करेंगे, और जैसा कुछ अनुमान होगा, उसके अनुसार वर्षासन की रक़म पीछे से प्रकट करदी जायगी"।

इसके बाद ही सितम्बर महिनेसे राष्ट्रीय सभाविषयक झगड़ा खड़ा हो जानेसे लोगों का ध्यान बँटना स्वाभाविक ही था। किन्तु फिर भी केसरी में स्मारक-संबन्धी लेखों की कमी न होने पाई। पूरा पेज भर भर कर चंदे की रकमें प्रकाशित होती थीं। ता. १ अक्टूबर के अंक में चंदे की रकम के नौ हजार से ऊपर पहुँचं

जानेका उल्लेख पाया जाता है। किन्तु यह बात हरएक के दिल में खटकने जैसी थी कि हेरिस के स्मारक फंड में ४० हजार रुपये बातकी बात में इकठ्ठे होगये, किन्तु शिवाजी स्मारक फंड में इतना आन्दोलन करनेपर भी चंदेकी रक़म नौ हजार तक ही पहुँची! इसी अवसर में न्या. रानडे ने मराठों की राज्यपद्धति पर एक निबंध पढ़ा। जिसमें कि शिवाजीमहाराज की मुल्की राज्यपद्धति के विषय में बहुतसी ज्ञातव्य बातों का समावेश कर उनका गुणगान किया गया था। इस निबंध का भी स्मारक-आन्दोलन में बहुत कुछ उपयोग हुआ। किन्तु बम्बई आदि स्थानों के अन्य पत्रों मे से एक--आध निन्दक सिर उठाता ही रहताथा। एक मराठी पत्र में ही किन्ही महाशयने यह लिखकर अपनी बुद्धिमत्ता का निदर्शन कराया था कि 'स्मारक फंड की रकम विज्ञापन चार्ज के रूप में केसरी को सौंपदी जायगी!' किंतु असल में केसरी अपनी सुविधा के अनुसार पाठ्यविषयों के स्थान में, अथवा विज्ञापन के पृष्ठोंपर मुफ्त में और कभी २ अपने ख़र्चे से फ़ोड़पत्र तक छापकर चंदे की नामावली प्रकाशित कर रहाथा! ऐसी दशा में उपरोक्त आक्षेप एकदम ही सफेद को काला बतलाने की तरह था। 'दक्खन समाचार' नामके एक मासिक पत्र मे किन्ही महाशय को आगरकर के साथ शिवाजीमहाराज की तुलना करने की बुद्धि सूझी और उसने लेख के अंत में वे इस परिणाम पर पहुँचे कि 'शिवाजीमहाराज ने सार्वजनिक हित का कोई काम ही नहीं किया'! बल्कि उन्होंने गरीबों को सताया और उनकी हत्या की। इस तरह भयंकर रक्तपात करके अपने पर छत्र--चवँर डुलवाये! किन्तु इसके विरुद्ध आगरकर की देशभक्ति कितनी उज्ज्वल थी! उन्होंने स्वार्थत्यागपूर्वक देशहित किया, और इसीने उन्हें शिवाजीसे श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है! किन्तु निन्दकों के इस प्रलाप से स्मारक फंड का कार्य रुका नहीं। ग्वालियर, उज्जैन, आदि स्थानों में सभाएँ करके वहां मराठा सरदारों ने भी इस आन्दोलन में योग दिया, और ता. ५ नवम्बर तक चंदे की रकम ग्यारह हजार से ऊपर पहुँच गई।

राष्ट्रीय सभा के झगड़े में फँसे रहनेपर भी जब तिलक स्मारक फँड को नहीं भूले, तो फिर मंत्रिपद से त्यागपत्र देकर मुक्त हो जानेपर तो वे उसे भूल ही कैसे सकते थे? उन्होंने अपनी सदैव की समयसूचकता को कायम रखकर ता. २६ दिसंबर के दिन ठीक राष्ट्रीय सभा की गड़बड़ के दिनों में ही रे मार्केट के मैदान में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी (राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष) को सभापति बनाकर विराट् सभा की। सारा मैदान उपस्थित जनता से खचाखच भरगया था। एक बड़े वृक्ष की शाखापर रेशमी डोरसे शिवाजीमहाराज की तस्वीर टांग दी गई थी। ऐसे स्फूर्तिदायक प्रसंग पर सुरेन्द्रबाबू और पंडित मदनमोहन मालवीय जैसे

वक्ताओं के भाषण कितने उत्साहवर्धक हुए होंगे इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

इस आम सभा पर आक्षेप करनेवाले भी खड़े हो ही गये। उन्होंने कहा कि इस इतने बड़े जनसमारोह में लोग किसी बातको सुनेंगेही क्या? और जब वे सुन ही न सकेंगे तो विचार क्या करेंगे और प्रस्ताव किस बातका पास करेंगे? किन्तु हम यह भी नहीं कह सकते कि आक्षेपकर्ता इस बात से एकदम ही अपरिचित हो कि प्रत्येक आन्दोलन में लोकसमुदाय का प्रदर्शन ही मुख्य विभाग होता है। किन्तु मुफ्त लेनेके लिए जिस प्रकार प्रत्येक बात सस्ती हो सकती है, उसी प्रकार आक्षेपकर्तों को प्रत्येक बात में केवल बुराई ही बुराई दीख पड़ती है। फिर भले ही वह रे मार्केट की इस यशस्वी सभा के समान ही क्यों नहीं हो। सन १८९६ का चैत्र तृतीया निकट आने लगी। अतएव शिवाजी उत्सव का दिन और उत्सव मनाने की रीति निश्चित करनेके लिए चर्चा होने लगी। ता० १८ फरवरी के अंकमें इतिहाससंशोधक दत्तात्रय बलवंत पारसनीस ने केसरी में पत्र लिखकर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया कि 'मराठों का सच्चा इतिहास प्रसिद्ध होना समाधि के जीर्णोद्धार से भी बढ़कर उपयुक्त स्मारक हो सकता है। बंगाली और हिंदी भाषा में शिवाजी के छोटे २ चरित्र लिखे जा रहे हैं, इसका उल्लेख कर सन १८४७ में प्रतापसिंह महाराज के राज्य के विषय में विलायत में वाद-विवाद छिड़ा रहने की दशा में जार्ज टामसन नामक पार्लमेंट के एक सदस्य ने शिवाजी का सुंदर वर्णन किया था। उसमें का एक उद्धरण उन्होंने प्रसिद्ध किया। इसी अंक में बाबाजी काशीनाथ पटवर्धन, महाड़कर ज्योतिषी, आदि ने भी पत्र लिखकर इसी वर्ष वैशाख शु० २ दिन रायगढ़ पर अपनी ओर-से महोत्सव मनाने की सूचना दी, और सब लोगों से सहायता मांगी। असल में महाड़कर इस विषय में तिलक के ही मत को प्रकट कररहे थे। क्यों कि महाड़ के नेताओं से तिलक ने इससे पहिले ही पत्रव्यवहार शुरू कर दिया था।

ता० ३ मार्च के केसरी में उत्सव के नियम प्रकाशित हुए। उनमें लिखा गया था कि 'सबको प्रसाद-भोजन, दिया जायगा एव उत्सव के उपयोग में आनेवाली सभी वस्तुएँ स्वदेशी रहेंगी, तथा शुद्ध स्वरूप के कथा–कीर्तन, नाटक और ऐतिहासिक वीरगीतों में से जिसमें शिवाजी का वर्णन सर्वश्रेष्ठ होगा उसके रचयिता को इस संस्थान का मानकरी समझकर अन्य मानकरियों के साथ सम्मान-सूचक नारियल भेंट किया जायगा। जो आदमी पचास स्वयंसेवक साथ लेकर सेवा करनेको गढ़पर उपस्थित होगा, उसे भी मानकरी कहेंगे। स्त्रियों के लिए आम तौर पर यही सलाह दी जाती है कि वे इस प्रसंगपर रायगढ़ न आवें, क्यों

कि यहां उनके लिए ठीक २ प्रबंध हो सकना असंभव है।' इसी बीच करकेरि और एम. जे. के. नाम से लिखने वाले उनके प्रतिपक्षी के बीच अफ़ज़लखां के वध के विषय में फिर से विवाद शुरू हुआ। उसीको लक्ष्य करके केसरी ने लि कि, महाराष्ट्रियों को इस मामले में सुबूत के साथ बहस करनी चाहिये। इस आशय यह था कि पुराने कागज़ पत्रों की खोज कर उन्हें प्रकाशित कर दि जाय। ता. १७ और २४ मार्च के अंकों में खास तौर पर एक एक लेख इ आशय का लिखागया कि लोगों को कौनसे कागज खोजने चाहिये और उन कहां से प्राप्त हो सकने की संभावना हैं इत्यादि। इन्ही अंकों में स्मारक फंड व रक़म लगभग १६००० तक पहुँच गई थी। इसको एक स्वतंत्र खजानूजी पास जमा कर के तिलक ने यह सूचित किया कि, यह रक़म थोड़ी है, और पचास हजार तक इसे पहुँचाना आवश्यक है जो कि प्रयत्न करनेपर असंभव बात नहीं जान पड़ती। इसी लिए फंड की रक़म वर्ष भरके लिए यदि बैंक में पड़ी रहने दी जाय तो भी कोई हानि न होगी। इसी बीच यदि अधिक धनसंग्रह हुआ तो नई योजनाएँ भी निर्माण हो जायँगी।

इसी अंक में एक खुलासा यह भी किया गया था कि, रायगढ़ के उत्सव के लिए जो नियम प्रसिद्ध हुए हैं, वे स्थानिक उत्सव कमेटी के बनाये हुए हैं, स्मारक फण्ड कमेटी के नहीं। क्योंकि इस कमेटीने अभीतक उत्सवसम्बन्धी कोई भी योजना नहीं की थी। इधर महाड़कर उत्सव के लिए अलग चंदा कर रहे थे। और यह उत्सव बहुत बड़े प्रमाण में किया जानेके ढंग दिखाई देनेसे इसमें दस पांच हजार तक का ख़र्च होनेकी संभावना थी। अर्थात् यह सब रकम स्मारक फंड के सोलह हजारमें से ख़र्च करना अनुचित ही होता। इधर रायगढ़ के ही साथ २ पूने में भी उत्सव मनाने के लिए एक कमेटी बनाई गई थी। ऐतिहासिक कागज़पत्र जुटानेकी सूचना प्रकाशित होते ही कुछ कागज़-पत्रों के कालनिर्णय के सम्बन्ध मे मनोरंजक विवाद उठ खड़ा हुआ। अंततः ख्यातनामा ज्योतिर्गणितज्ञ शंकर बाळकृष्ण दीक्षित ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध कर दिखाया कि 'शिवदिग्विजय' नामक बखर (ऐतिहासिक लेख) शके १७४० का लिखा हुआ होसकता है।

इसी अवसर पर प्रो. चिंतामण गंगाधर भानू ने ता. २८ मार्च के दिन अफ़ज़लखां के वध का विवाद डेक्कन कॉलेज के हिस्ट्री क्लब के सन्मुख उपस्थित किया। इस मौक़ेपर कॉलेज के विद्वान् प्रिंसिपाल प्रो. बेइन ने अध्यक्षस्थान स्वीकार किया था। अतएव प्रो. भानू के व्याख्यान के ख़ास मुद्दे के सम्बन्ध में प्रि. बेइन ने जो मत प्रकट किया वह डेक्कन कॉलेज के त्रैमासिक के अप्रैल के

अंक में प्रकाशित हुआ है। क्योंकि प्रो. बेइन का मत संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट शब्दों में हो होसकता था ! और यह इस प्रकार था कि " इस विषय में अब विशेष रूप से चर्चा करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि शिवाजी सरीखे लोकसंस्थापकों की परीक्षा सामान्य नीति की दृष्टि से नहीं की जा सकती। मराठों में स्वतंत्रता स्थापित करनेका भार शिवाजीपर था, अतएव उन्होंने इसकी पूर्ति के लिए जो कुछ किया वह सब प्रकार उचित ही था। और यह सब उन्होंने राष्ट्रीयत्व दृष्टि से ही किया ! "

रायगढ़ के उत्सव का प्रथम दिन ता ११ अप्रैल निश्चित हुआ था। इसके ऐन वक़्तपर एक बहुत बड़े विघ्न के आ उपस्थित होनेके चिन्ह दिखाई देने लगे। क्योंकि रायगढ़ सरकार जंगल की हद में है। अतएव जंगल में भीड़ इकट्ठी होने पर उसके लिए जंगल के अधिकारियों से आज्ञा प्राप्त करनी पड़ी। और वह मिल भी गई। किन्तु फारेस्ट की ही तरह वहां रेविन्यू विभाग की भी सीमा थी, अतएव बन्दोबस्त के लिए उत्सव के संचालकों ने यह महाड़ के तहसीलदार को सूचित किया। उन्होंने यह कागज़ कलेक्टर साहब के पास भेज दिया किन्तु साहब मौसूफ ने इस उत्सव के लिए मेलेका कानून लागू कर अर्जी के नियत समय से बाद आनेका कारण दिखलाते हुए आज्ञा देनेसे इन्कार कर दिया। क्यों कि तब तक भाड़ इकट्ठी होना शुरू होचुका था, ऐसे वक़्तपर आज्ञा न दी जानेका विघ्न आ उपस्थित हुआ। फलतः तत्काल ही तिलक को महाबलेश्वर जाना पड़ा। वहां जाने पर सबसे पहले कौंसिलरों का मन मिलाना था, यह काम भी तिलक ने कर देखा। किन्तु न्यूजेंट आदि उनकी बात न सुनने लगे। अंततः उन्हें गवर्नर तक यह झगड़ा ले जाना पड़ा।

क्योंकि उस समय तिलक भी धारासभा के सदस्य थे, अतएव सरकार में उनका प्रभाव बना हुआ था। ऐसी दशा में एक साधारणसी बात के लिए गवर्नर साहब तिलक को नाखुश कैसे कर सकते थे ? फलतः तिलक ने लार्ड सेन्डहर्स्ट को जब स्मारक आन्दोलन का इतिहास एवं समाधि की दुरवस्था के विषय में दिखलाई हुई सहानुभूति आदि बातें अच्छीतरह समझाई, तब कहीं जाकर उन्होंने उत्सव के लिए आज्ञा दी। इस आज्ञा के प्राप्त करनेमें कितना श्रम और कष्ट उठाना पड़ा, इसे तिलक ही जान सकते थे। साथ ही इस विचारसे कि उत्सव के समय होनेवाले व्याख्यानों का स्वरूप अनजाने में किस प्रकार बिगड़ सकता है, इसका अनुभव होनेके कारण तिलक ने केसरी में स्पष्ट शब्दों द्वारा सावधान कर दिया था कि इस उत्सव के सम्बन्ध में अनेक व्यक्ति झूंठ-मूंठ और बे सिरपैर की बातें लिख-कर सरकार को भ्रम में डालनेके लिए प्रवृत्त होंगे। क्यों कि अभी से उसकी शुरू-

प्राप्त होचुकी है। यद्यपि यह ठीक हैं कि अकारण ही किसीकी ओरसे दोष लगाया जानेपर हम उसकी पर्वाह न करेंगे; किन्तु फिर भी राज्यकर्ताओं की अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाली वृत्ति का मनन करनेपर यही उचित जान पड़ता है कि हमारा वर्ताव ही ऐसा रहना चाहिये, जिसमें किसीको कहने सुननेके ही लिए जगह न रहे। फलतः उत्सव के संचालक और रायगढ़ में एकत्रित होनेवाले समस्त सूज्ञ महानुभावों से इस बातके लिए प्रथक् रूपसे कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि, इस प्रसंगपर उन्हें अपने व्यवहार आन्दोलन एवं संभाषणों में यथासंभव नर्मी का ढंग ही रखना चाहिये।" हाँ, तो उत्सव के लिए महाबलेश्वर से आज्ञा प्राप्त करके तिलक महाड़ होते हुए सीधे रायगढ़ पहुँचे। यहां तबतक उत्सव कमेटीके प्रयत्न एवं आन्दोलन की नवनिता के कारण हजारों मनुष्य आ पहुँचे थे। इस बार रायगढ़पर जितनी भीड़ हुई, उतनी संभवतः पिछले सौ डेढ़सौ वर्षोंमें भी कभी न हुई होगी। प्रथम तो किला ही बहुत ऊंचा था, उसमें भी फिर चढ़नेका मार्ग सुगम नहीं था। इधर महाड जैसी तहसील के गाँव भी दसदस बारह बारह मीलके अंतर पर बसे हुए थे। ऐसी दशा में उत्सव का सारा सामान ऊपर चढ़ाना कितना श्रमकारक हुआ होगा, इसकी कल्पना सहज ही में की जासकती है।

किन्तु सभी बातें इच्छा के वशीभूत होती हैं। अतएव उत्सव के विषय में रुकावट डाली जाने की ख़बर ऐन् वक्तपर फैल जाने से इस आशापर कि उत्सव-भंग हो जायगा--आक्षेपकों को बड़ी प्रसन्नता हुई थी, किन्तु संकट के टल जानेपर जिस प्रकार उत्साह दुना होजाता है, उसी प्रकार उत्सव के संयोजकों की हिमत भी बढ़ गई। क्यों कि उत्सव के लिए आज्ञा न दी जानेका प्रस्ताव पास किया जाकर उसकी सूचना प्रायः सभी अधिकारियों के पास भेज दी गई थी, किन्तु फिर भी बचे हुए थोड़ेसे समय में ही बहुत कुछ काम होगया। पहले ही दिनसे किलेपर मनुष्यों की कतार सी बनगई थी। बारहों मावल प्रदेशों के प्रतिनिधि इस उत्सव में शामिल हुए थे। क़िलेपर का नगारखाने का चौक, राजदरबार का दीवानखाना, दीवानसाहब का महल, दारूखाने का भंडार, जगदीश्वर और शिरकाई देवी का मंदिर आदि इमारतें, अर्थात् प्रायः सभी इमारतों के अवशेष, मनुष्यों से खचाखच भर गये थे। सैंकड़ों वर्षों से जहां झाड़ू तक न लगी थी, वहां की सफाई भी इस बार होगई। देवालयों के अंतर्भाग में झिरपनेसे बनीहुई पत्थल उखाड़ डाली गई। टूटी-फूटी मूर्तियों पर वर्षों के बाद सफाई का हाथ फिराया गया। पीने के जल का तालाब भी बहुत कुछ साफ किया गया और प्रधान मार्ग पर के कांटे कंकड़ भी हटाकर रास्ता साफ करदिया गया। सभा के स्थान पर टट्टों का मण्डप बनाया गया और मण्डप का तोरन-द्वारा खड़ा किया जाकर उच्च स्थान पर गादियां बिछाई

गई और छत्रपति शिवाजी और समर्थ गुरु रामदास की तसवीरें रखी गई। सवेरे विख्यात दामोदर चांदेकर का कथाकीर्तन हुआ। बीच २ में पूना के बोरवणकर की नरसिंहदास ने भी 'उठ चला हो कस लगाओ, रायगड़ी जाऊं' का गाना ऊंची आवाज से सुनाया। शरीर पर केवल मिर्जई या कमर में धोती पहननेवाले मर्द मराठे लोग कमर में रंगीन धोती २ कर यहां आये थे। और अपनी रू-ढ़ि के अनुसार झांझपथक और पुजारी का नजराना भी उन्होंने गढ़ी के सामने रखा। दोपहर में गंगासागर तालाब के निकट भोजन-व्यवस्था तैयार करनेकी आज्ञा दी गई थी। एक भोजनालयवाले ने भी उस जगह अपना डेरा डाल रखा था, अतएव उसकी भी बिक्री अच्छी हुई।

रातन के पांच बजे सभाका कार्य आरंभ हुआ। सबसे पहले तिलक ने कार्य-क्रम की सब बातें समझाई। कई भजनमण्डलीयों ने भजन सुनाये। नारायण बापूजी कानिटकर, शिवराम महादेव परांजपे और हायेवाले के प्रो. गोखले ने ऐतिहासिक विषय पढ़े, और अंत में तिलक ने उपसंहारात्मक व्याख्यान देकर कहा कि जिस प्रकार अंग्रेजों ने ऑफिसर ब्यानवेल का स्मारक बनाया, अथवा फ्रेंचों ने नेपोलियन बोनापार्ट की स्मृति कायम की, उसी प्रकार हम भी अपने स्वराज्य-संस्थापक का स्मारक बना रहे हैं, इसमें राजद्रोह का कहीं नाम भी नहीं है। इसके बाद पोवाड़े (गाने) सुनाये गये और मध्यरात्रि में जगदीश्वर के मंदिर में से महाराज की सवारी निकाली गई।

दूसरे दिन सब लोग किलेपर के भिन्न २ दर्शनीय स्थान देखने गये। उनमें से कितने ही लोगों ने दुर्गपर के इस एवं आसपास का सृष्टी-सौंदर्य पहिली ही बार देखा था। ऊंचे २ किनारे और, नैसर्गिक दीवारें, भयानक बुर्जें, मजिलावस्था को पहुंची हुई पानी की टांकी, गढ़ियां ख्याइयां और अर्धांहुई इमारतों के टेढ़े-मेढ़े खंडहर, टूटी हुई इमारतों के भग्नावशेष, उजड़ देवालय, छोटी २ गुफायें [भुयार] आले आले भुलनेवाला किलेके रस्ताजदारों का मार्ग, पुराने तूपोंके ढूंढ, अन्न के कोठार और दारू [बारूद] घर में मिलनेवाली वानगी, तथा कितने ही स्थानों से अस्पष्ट स्वरूप प्रकट होनेवाली ज्ञातव्य बातों का स्मरण और गतवैभव के स्मरण से प्रादुर्भूत मानसिक शिथिलता, इत्यादि का कुछ तो मनही मन अनुभव कर रहे थे, और कोई इन्हें प्रत्यक्ष देख रहे थे। इस तरह लगभग ५।६ घंटे तक सब लोग इधर उधर घूमते रहे। इस प्रसंग पर कई लोगों के ऐतिहासिक ज्ञान की पुनरावृत्ति हो गई, और कई लोगों ने इस दुर्ग का इतिहास पहली ही बार सीखा। दोपहर के समारापन के पश्चात् कई एक कीर्तनवालों ने नये २ आख्यान सुनाये। इसके बाद अंत में तानाजी मालुसरे, येसाजी कंक आदि प्राचीन मराठा

कुल के वंशजों से लगाकर जो की उत्सव में सम्मिलित हुए थे, सभी मानकरियों एवं कार्यकर्ताओं को नारियल बांटे गये। इसके बाद अगली व्यवस्था के लिए स्थायी कार्यकारिणी समिति बनाई गई। प्रयत्नशील महाड़निवासियों को धन्यवाद दिया जाकर, रामदास, शिवाजी और महारानी विक्टोरिया के त्रिवार जयघोषपूर्वक उत्सव की समाप्ति हुई। इसके बाद अधिकांश लोग नीचे उतर गये।

फिर भी कुछ लोग ऐसे मौजूद ही थे जो प्रश्न कर रहे थे कि ऐसे उत्सवों से क्या होगा? किन्तु सब प्रकार की कार्यसिद्धि के पश्चात् 'ततः किं ततः किं' का प्रश्न शेष रह ही जाता है। और इसका यथोचित उत्तर देसकना कठिन होता है। महाराष्ट्र में राष्ट्रीय बुद्धि उत्पन्न होनेके लिए इस प्रकार के उत्सवों से सहायता मिलने एवं इस उपदेशानुसार कि 'मराठे मात्र को मिला देने' का थोड़ासा पालन होनेके सिवाय विचारे उत्सव के संयोजक दूसरा उत्तर ही क्या देसकते थे? जिनका उत्सव था वे भी मराठे थे, और उत्सव में भी मराठों का ही विशेष महत्त्व होनेके कारण सफेदपोश लोगों से प्रथम उन्हींको प्रसाद और सम्मान का बीड़ा दिया गया। इससे बढ़कर संयोजकों की शुद्ध--हृदयता का प्रमाण और क्या हो सकता है? सरकार को हृदय से यह उत्सव अप्रिय रहने पर भी प्रकट रूप में कहने सुनने का मौका न मिल सका। इसका प्रमाण यही हो सकता है कि ऐन वक्त पर लम्बसाहब की ओरसे डाली हुई रूकावट को गवर्नर साहब ने दूर कर दिया। सरकार के संवाददाता और कुछ अधिकारी भी उत्सव के समय रायगढ़ पहुँचे थे। उन लोगों ने सरकारके पास क्या रिपोर्ट भेजी सो तो हम नहीं जानते; किन्तु थोड़े ही दिनोंबाद कुछ बातें ऐसी हुई कि जिनकी वजह से शिवाजी उत्सव मनाना ही राजद्रोह समझा जाने लगा। और तिलक पर राजद्रोही हेतुओं का आरोप सिद्ध करनेके लिए केवल यही प्रमाण पर्याप्त समझा गया कि वे शिवाजी उत्सव के कर्ता-धर्ता थे। ऐसी दशा में उत्सव के समय होनेवाले व्याख्यानों की रिपोर्ट पर कौन अवलंबित रहता? लार्ड सेन्डहर्स्ट से अनुमति प्राप्त करके यद्यपि तिलक ने कुलाबा के कलेक्टर लँबसाहब को हरादिया, किन्तु अगले ही वर्ष जब वे पूना की कलेक्टरी पर बदल दिये गये, तब उन्हे तिलकपर का क्रोधमय सूद के निकाल रुकनेका मौक़ा मिल ही तो गया!

किन्तु अकेले लॅम्बसाहब को ही बुरा क्यों कहा जाय? जब कि पूना के सुधारक आदि लोगों को ही यह उत्सव-विषयक आन्दोलन पसंद न आया। क्योंकि शिवाजी के साथ अवतारी पुरुष का विशेषण लगानेसे तर्क-कर्कश सुधारकों का पारा गरम हो उठा; और वे कहने लगे कि तिलक ने नई विद्या का अध्ययन व्यर्थ खो दिया। किन्तु मनोभावना की भाषा ही इस प्रकार की होती है। रानडे भी जब

र्थनामंदिर के व्यासपीठ पर से भक्तिमाहात्म्य का प्रेमपूर्वक कथन करते समय नर और भगवान् की भेट को संभाव्य बतलाते हैं, सो यह किस तरह ? मतलब यह कि सुशिक्षितों में भी आस्तिक और नास्तिक का भेद होसकता है। प्राणसंकट में डाल देनेवाले प्रसंगों का सामना करना एवं बुद्धि के लिए अगम्य पराक्रम कर दिखाना आदि बातें लोकोत्तर पुरुषों के ही हाथसे होसकती हैं। किन्तु वे क्यों होती हैं, इसका समर्थन निरे अज्ञेयवादी अपनी तर्कबुद्धि से नहीं कर सकते। तिलक का कथन था कि अज्ञेयवादी अपने विशेषण के 'अ' को चाहे जितना बड़ा करके लिखे, किन्तु फिरभी वह समाधान के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। कितने ही 'विलेज हैंम्पडेन' होजाने पर भी इतिहासप्रसिद्ध हैंम्पडेन एकही क्यों हुआ ? शिवाजी के समान शूरवीर भी कितने ही होंगे किन्तु हुए अकेले शिवाजीकी इतनी कीर्ति क्यों है ? इन सबके कारण न बतलाये जासकने से ये सब एक प्रकार के अवतारी पुरुष ही कहे जासकते हैं। क्योंकि 'अवतारी' विशेषण का यही आशय होसकता है कि केवल प्रयत्न से न होसकनेवाले काम उनके हाथों होजाते हैं। सुधारकों का मुख्य आक्षेप यह था कि यह उत्सव रामनवमी के ढंगपर हुआ। किन्तु इस समय शिवाजी जितने ऐतिहासिक पुरुष माने जाते हैं उतने ही उस समय श्रीरामचंद्रजी भी रहे होंगे। इस विवाद पर लिखते हुए अन्त में एक तीसरे ही व्यक्ति ने यह निर्णय प्रकट किया था कि, इन आक्षेपों के मूल में मत्सररूपी राक्षस का निवास हो रहा है, इसी लिए तिलक का ध्येय इस प्रकार का था कि "आत्मज्ञानसे वे तत्वोंका ऐक्य करें"। किन्तु सुधारकोंको प्राचीन मतवादी समाज की पर्वाह तकन थी, यही इनमें एकमात्र अंतर था। जिस मूल कल्पना के कारण सन १८८९ में स्मारक का आन्दोलन शुरू हुआ था, उसीको तिलक ने अपने प्रयत्न एवं उत्साह के द्वारा विशेष रूप से पूर्ण कर दिखाया, यह उनका दोष है या गुण ?

हां, तो रायगड में उत्सव हो जानेके बाद स्मारक फंड की रकम आना बहुत घट गया, और केसरी के कई अंकों में दाताओं की नामावलियां भी नहीं देखने में आईं। "मराठों के इतिहास के साधन" शीर्षक एक सुंदर लेखमाला केसरी में शुरू होगई। किन्तु वह केवल सुशिक्षितों के ही काम की थी। तिलक की कल्पना के अनुसार कमसे कम पचास हज़ार रुपये इकठे होजाने पर ही समाधि का कार्यारंभ होना चाहिये था। किन्तु 'बूंद बूंद से घड़ा भर जाने' की कहावत सत्य होने पर भी पूरे सरोवर को भरते २ बूंदों के भी उकता जानेसे जब तक बड़ी २ धाराओं द्वारा कमसे कम चार पांच बार पानी उसमें नहीं पहुँचाया जाता, तबतक वह सरोवर कभी भर नहीं सकता। यही बात इस विषय में भी हुई। नालों के पानी का अक्षय इस कार्य में राजा महाराजाओं की ओरसे आनेवाली सहायता की रकम

ही था। किन्तु सरकार दरबार में अंदर ही अंदर क्या कुंजी घुमा दी गई सो कहा नहीं जा सकता। किंतु उन्होंने अपने हाथ खींच लिये। सुधारक लोक शुरू से ही तटस्थ थे। अर्थात् जब वे आलोचना नहीं करते थे तब भी उन्हें सहायता देने की इच्छा न थी।

सारांश, सन १८९६ के जून से स्मारक फंड का काम ठंडा पड़ चला। खुद तिलक भी इस विश्वास पर चुप बैठे रहे कि, जमा की हुई रकम बैंक में है और काम करने वाली कमेटी बन ही चुकी है; कारण यह था कि राजामहाराजा और बंबई सरकार तक से बहुत कुछ सहायता पानेकी उन्हें आशा थी। किन्तु अगले ही वर्ष उनपर राजद्रोह का अभियोग चला, और दैवयोग से राजद्रोहात्मक समझे जानेवाले अधिकांश लेख शिवाजी उत्सव संबन्ध ही होनेसे कुछ दिनों के लिए उनकी यह आशा ठंडी पड़गई। किन्तु फिर भी वे सोचे हुए थे कि ये दिन भी निकल जायंगे और पूर्व संकेतानुरूप स्मारक का कार्य पूर्ण हो सकेगा। उनकी इस सदाशयवादिता का अनुभव आगे चलकर लोगों को हो भी गया। अर्थात् जेल से छूटकर तिलक के आते ही फिर रायगढ़ पर महोत्सव हुआ। अब की बार उसका प्रसार कलकत्तेतक होगया, और लार्ड लेमिंग्टन के शासनकाल में बंबई सरकार ने पांच हजार की सहायता का वचन भी दे दिया, किंतु इससे आगे की बातें यहीं न लिखकर आगे यथाक्रम लिखी जायगी।

---o---

विभाग—बीसवां.

राष्ट्रीय सभा के मंडप का विवाद।

—:o:—

सन १८६४ की राष्ट्रीय सभा मद्रास में हुई थी। इस अधिवेशन के अन्त में यथानियम अगले वर्ष के लिए पूने की ओरसे आमंत्रण दिया गया। गत वर्षों की तरह इस बार भी ह्यूमसाहब ही प्रधानमंत्री चुने गये। पूने में होनेवाली सभा का प्रबंध बंबई के सर फीरोज़शाह मेहता और दिनशा वाच्छा की देखरेख में ही पूनावालों के हाथ से होनेका निश्चय किया गया था। क्योंकि पूनावालों में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन अपने यहां करने की महत्त्वाकांक्षा आरंभ से ही दिखाई देती थी। किन्तु सन १८८२ में हैज़े के प्रकोप से उनके मार्ग में बाधा उपस्थित होगई, और सन १८८६ में भी बंबईवालों के उत्साह तथा चार्लस ब्राडलॉ की उपस्थिति के कारण उन्हें अपनी इच्छा मन में ही रखलेनी पड़ी और सभा बम्बई में ही हुई। इस तरहके दो प्रसंग टल जानेके बाद जब बम्बई प्रान्त में पुनः तीसरा अधिवेशन होनेका प्रसंग आया, तब यदि पूनावालों ने अपने अधिकार का समर्थन ज़ोरों के साथ किया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या? क्योंकि सन १८६५ से पहले सम्मति-वय बिल का ज़ोरों के साथ विरोध करके तथा अन्यान्य प्रकार से भी पूनावालों ने देश में अपना नाम मशहूर कर दिया था। नई धारासभा का प्रश्न जब सामने आया तब भी पूनावालों ने उसकी रचना के विषय में अपना विशिष्ट मत प्रतिपादन करके विचारवान् नेता और समालोचक के नाते बीच राष्ट्रीय सभा में बम्बई के नेताओं से बराबरी की थी। इससे पूर्व जब राष्ट्रीय सभा के संगठन पर चर्चा शुरू हुई, तब भी सभा के संयोजकों को पूनावालों ने यह दरसाने का प्रयत्न किया था कि हमारी भी इस विषय में कुछ ख़ास राय है। सिवाय में सन १८८९ और १८८६ में जिसके नेतृत्व के कारण पूना शहर की महत्ता देशभर में बढ़ रही थी, उन माधवराव रानडे को सन १८६५ में बंबई बदल दिये जानेपर भी उनका स्वाभाविक प्रेम पूना पर ही था। पुण्यपत्तनस्थ अपने बालगोपाल के हाथों से राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन सफलतापूर्वक करानेकी इच्छा उनमें अभी मौजूद थी। इन्हीं सब कारणों से सन १८६५ की राष्ट्रीय सभा पूनेमें ही किया जाना तय हुआ, और पूना वालों के लिए उत्साहपूर्वक काम करनेका मौका मिला।

किन्तु फिरभी मतभेद प्रकट होना उस समय भी अनिवार्य था। ऐसी दशा में हम इस बात को स्वीकार करनेसे नहीं नहीं कर सकते कि अपने यहां की राष्ट्रीय

सीपालिटी के त्रैवार्षिक चुनाव के समय भी खूब झगड़े मचे थे। इसमें तिलक पक्षके नामजोशी उम्मेदवार रह गये और बाबासाहब नातू एवं बायामहाराज चुन लिये गये थे। इधर मध्यभाग की प्रारंभिक कौंसिलरी के चुनाव में तिलक को सफलता प्राप्त हो जानेसे पूने में राष्ट्रीय दल की ही अधिकाधिक जीत हो रही थी। अप्रैल महिने में राष्ट्रीय सभा के लिए वार्किंग कमेटी बनाई गई, और उसमें खास पूना शहरसे ही पंद्रह हजार रुपये इकट्ठा करनेकी आशा से कार्य आरंभ कर दिया।

इसी बीच शिवाजी महाराज की समाधि के जीर्णोद्धार का आन्दोलन शुरू होने एवं तिलक के उसमें मंत्री चुन लिये जानेसे, महाराष्ट्र के राजा महाराजाओं की बैठकें भी विंचूरकर के वाड़ेमें तिलक के यहां होने लगीं। अतएव लोग समझने लगे कि राज—दरबार में तिलक की प्रतिष्ठा रानडे के अनुयाइयों से बहुत बढ़ी-चढ़ी है। इसी प्रकार सार्वजनिक सभा की अंतर्व्यवस्था का विवाद भी ज़ोर पकड़ गया, और ता. १४ जुलाई की वार्षिक सभा के समय से तिलक पक्ष का ही विशेष रूप से, सभापर अधिकार हो गया। इस प्रकार यह विवाद आगे चलकर होने-वाली राष्ट्रीय-सभा के लिए भूमिकात्मक समझा गया।

इसी वर्ष के जुलाई महिने में ही राष्ट्रीय सभा के विवाद का यथार्थ रूप में आरंभ हुआ। क्यों कि तिलक राष्ट्रीय सभा के मंत्रियों में से ही थे किन्तु धारा-सभा के चुनाव एवं शिवाजीस्मारक के आन्दोलन के कारण उनका ध्यान बँटा हुआ रहनेके विषय में प्रतिपक्षियों ने झगड़ा मचाया। इधर एक दृष्टि से यद्यपि चंदा उगाहने का काम भी यथेष्ट प्रयत्न एवं स्फूर्ती के साथ नहीं हो रहा था, किन्तु इस का कारण तिलक की बेपर्वाही नहीं थी, बल्कि सामाजिक परिषद् के लिए राष्ट्रीय सभा का मंडप दिया जाय अथवा नहीं, इस विषय का तक नया ही विवाद छिड़कर शहरभर में उसकी चर्चा शुरू हो जानेसे ऐसा हो रहा था। यद्यपि वार्किंग कमेटी में तिलक भी एक मंत्री की हैसियत से थे, किन्तु फिर भी उसमें रानडे के ही अनुयाइयों का बहुमत था। सिवाय में वयोवृद्ध अथच प्रतिष्ठित लोगों का झुकाव भी उसी पक्ष में होनेसे प्रतिष्ठा के नाते प्राप्त होनेवाला नेतृत्व इसी दल के हाथ में था। ऐसी दशामें सभा के लिए धनसंग्रह करनेकी जवाबदारी तिलक के ही समान किंबहुना उनसे भी अधिक गोखले—पार्टी परभी, और जैसेही यह मंडली काम करनेको निकली कि इनके पीछे मंडपविषयक उपरोक्त शुष्क विवाद लगा ही रहता था। इस चर्चा को उठानेवाले श्रीमंत बाबासाहब नातू और पूना वैभव के सम्पादक केलकर उनका कम्पू आदि ही थे। इधर तिलक की सहानुभूति व्यक्तिशः वार्किंग कमेटी के सदस्यों की अपेक्षा नातू आदि के ही साथ विशेष रूप

से थी। किन्तु फिर भी मंत्री के नाते काम करते हुए, निःसंदेह तिलक ने यह निश्चय कर लिया था कि इस समय उस स्नेहभाव की पर्वाह न करके दूसरों के साथ मिलकर सभा की तैयारी का ही काम पूरा किया जाय। प्रधान कार्यालय से महाराष्ट्रभर में सभी मंत्रियों के दस्तख़त से हजारों पत्र, और खास २ स्थानों में अधिकारी प्रतिनिधि भेजे जा रहेथे, इधर क्योंकि रा. ब. वासुदेव बापूजी कानिट-कर आदि इंजिनीयर लोग विशेषतः किसी भी पक्ष के अनुयायी नहीं थे, अतएव सभा के लिए स्थान निश्चित करने एंव सभामडप और प्रतिनिधियों की छावनियों के नकशे तैयार करनेमें नियमवद्ध होकर लगे हुए थे। मतलब यह कि मंडप का विवाद छिड़ा रहनेपर भी उससे काम में रुकावट न डालने देनेकी इच्छा से तिलक आदि सभी मंत्री मनःपूर्वक काम कर रहेथे। और यही ढंग उनका केसरी में लेख लिखते समय भी रहता था। क्योंकि राष्ट्रीय सभा के मण्डप में सामाजिक परिषद् का अधिवेशन पहिली ही बार हो रहा हो सो बात नहीं थी। बल्कि सात—आठ वर्षों से वह भिन्न भिन्न स्थानों में इसी प्रकार होता आ रहा था। और इस तरह उसका विरोध करनेवाले भी सर्वत्र ही थे। किन्तु इस बार राष्ट्रीय सभा पूने में ही होनेकी थी, अतएव यहां उपर्युक्त विवाद का बढ़ना स्वाभाविक था। इस विवाद को न बढ़ने देनेकी इच्छा यद्यपि तिलक के मन में आरंभ से ही थी। और वे यह भी अच्छी तरह जाने हुए थे कि आज दश वर्षों से जो सभा निर्विघ्नतापूर्वक होती आ रही है, उसको इस बार पूने में ही विघ्न खड़ा होने पर सभी प्रकार से बुराई की जिम्मेदारी अपने ही सिर आवेगी। इसी लिए तिलक ने केसरी में उन दोनों ही प्रकार के लोगों को फट्कारना शुरू कर दिया, जो कि राष्ट्रीय सभा के मण्डप में सामाजिक परिषद् होने या न होने देनेकी प्रतिज्ञापर सहायता करना चाहते थे। क्योंकि इस प्रकार की ज़िद् करनेवाले लोग राष्ट्रीय सभा के सच्चे हित-चिंतक नहीं हो सकते, अतएव केसरी ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया था कि, यदि राष्ट्रीय सभा को पूने में बुलवाना हो तो पूनावालों को सब से पहले इस बात की चिंता करनी चाहिये कि हमारे यहां आनेवाले मेहमानों की व्यवस्था भलीभांति किस प्रकार रह सकेंगी। किन्तु इसको छोड़कर मण्डप में परिषद् होने दी जाय या नहीं, इस बात का ठीक २ निर्णय होजाने पर चंदा देनेवालों कीहि तरह वे लोग भी मूर्ख हैं, जो कि इन झगड़ोंमें पड़कर काम को बंद कर बैठे हैं। किंबहुना जुलाई के अंततक तो कम से कम तिलक का रंगढंग इस विषय में नातूप्रभृति के विरुद्ध ही था, और उपर्युक्त विवाद में विशेष तथ्य न होनेसे उन्होंने भोले भावुक की तरह यह युक्तिवाद उपस्थित कर दिया था कि "राष्ट्रीय सभा होजाने पर क्योंकि वह मण्डप जूँठा हो जायगा, ऐसी दशा में वहां परिषद् हो भी जाय तो

क्या और न हो तो भी क्या, नफा नुकसान है। जूँठनवाली जगह में अपना काम निपटानेवाली सभा राष्ट्रीय सभा की दृष्टि से गौण ही सिद्ध होती है। " किन्तु असल में यह वाद निस्सार ही था। क्योंकि आजतक कहीं भी ऐसा नहीं हुआ था कि राष्ट्रीय सभा के लिए बनाये हुए मण्डप में 'राष्ट्रीय सभा से पहले' सामाजिक परिषद् की गई हो। बल्कि यह परिषद् तो सदैव ही राष्ट्रीय सभा होजानेके बाद उस बासी मण्डप में हुआ करती थी। और इसी नियमानुसार पूने में भी सुधारक लोग यह नहीं चाहते थे कि राष्ट्रीय सभा के मण्डप में हमें पहले सामाजिक परिषद् करलेने दीजिये। इधर पुराणमतवादी नातू पक्ष भी झगड़ा कर रहा था, तो वह इस लिए नहीं कि मण्डप में परिषद् पहिले न होने दी जाय। बल्कि वह तो इस बात का आग्रह कर रहा था कि राष्ट्रीय सभा होजाने पर भी पीछे से उस मण्डप में परिषद् न होने दी जाय। किन्तु इस 'बासी मण्डप' की युक्ति बढ़ानेमें तिलक का आशय इस सूचना के उपस्थित करनेसे था कि, यदि नातू पक्ष इस बात से ही संतुष्ट हो जाय कि बासी या जूंठे मण्डप में होनेवाली सभा का कोई महत्व नहीं होसकता—तो भी उसे समझा देखना चाहिये। क्योंकि वे इस झगड़े को बढ़ने देना नहीं चाहते थे। ले देकर झगड़े का मुद्दा यही तो था कि 'सामाजिक परिषद् का लोग सम्मान नहीं करते। सो बासी मण्डप में उस का अधिवेशन होनेसे वह सहज ही में सिद्ध होसकता था। दूसरों की उपेक्षा करते हुए त्याज्य व्यक्ति के लिए क्षुद्रता दिखलाने, और ऐसा करके महत्ता प्राप्त करने विषयक ठसक दिखानेकी संसार में जो रीति है, उसका अपने पुराणमतवादी मित्रवर्गों को अवलंबन कराते हुए तिलक ने इस दुहरे दाव के साथ जूँठे मंडप की कल्पना निकाली थी कि जिसमें इनको भी संतोष हो जाय और राष्ट्रीय सभा के मंत्री के नाते अपना कार्य भी शांतिपूर्वक सम्पन्न हो जाय। इस तुच्छ भावना को और भी अधिक बढ़ानेके लिए तिलक ने एक युक्ति यह भी लगाई थी कि, यदि सामाजिक परिषद् हुई भी तो वह राष्ट्रीय सभा के जूंठे मंडप में हो जायगी, किन्तु वैसे कितने ही लोग इस परिषद् को ही मूलतः निरुपयोगी समझते हैं। यह सब होते हुए भी जब लोग चंदा देनेमें देरी नहीं करते तो फिर जूंठे मण्डप में भी परिषद् होने देनेवालों को अपना हाथ क्यों खींचना चाहिये? सामाजिक परिषद् के लिए राष्ट्रीय सभा में विघ्न डालना किसी के लिये भी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। इस प्रकार उभय पक्षों को उपदेश करके तिलक ने केसरी के द्वारा लोगों को यह सूचित किया कि, मैं तो हरहालत में सभा का मंत्री ही हूं, अतएव मेरा उद्देश्य प्रयत्नपूर्वक सभा को सफल बनाने से है। इसके लिए मैं निष्पक्ष होकर तनमन से काम करूंगा। यदि मेरे पास धन होता तो मैं उसे भी इसके लिए खर्च कर

देता। किन्तु कुछ ही दिनों वाद इस ध्येय को छोड़कर वार्कींग कमेटी के सताने और नातू पक्ष की ओरसे प्रवल आकर्षण किया जाने के कारण वे नातू पक्ष की ही ओर अधिकाधिक झुकते चले।

सितम्बर महिने में केसरी में इस आशय के पत्र छपने लगे कि " मंडप में परिषद् होने देना पूना के बहुजनसमाज की सम्मति के विरुद्ध है। इस बहुजनमत को सिद्ध करनेके लिए हस्ताक्षर कराने के सर्क्यूलर निकल रहे हैं। अतएव जो लोग परिषद् के विरुद्ध हों वे हस्ताक्षर कर दें, और इस तरह झगड़े का फैसला करलिया जाय। " इन पत्रों के कारण बाहर के लोग यह समझने लगे की, मंडप का झगड़ा अधिक बढ़जाने पर यातो पूने में राष्ट्रीयसभा ही न हो सकेगी, और यदि वह हुई भी तो निर्विघ्नता के साथ समाप्त न हो सकेगी। किन्तु तिलक केसरी के द्वारा लोगों का इस प्रकार समाधान करते जाते थे कि "यह विवाद बहुतभारी और सच्चा अवश्य है, किन्तु इससे राष्ट्रीय सभा को धक्का पहुँचनेका भय करना एकदम निराधार है। क्योंकि कैसाही झगड़ा हो तो भी उसके निराकरण का कुछ न कुछ मार्ग निकल ही जाता है। फलतः वह इसमें भी निकल सकता है। किम्बहुना मंत्रिमंडल और संयोजकों ने तो यह निश्चय भी करलिया है कि उस मार्ग को निकाल कर ही राष्ट्रीय सभा को सफल बनाया जाय। इस प्रकार लोगों को समझाने विषयक तिलक का प्रयत्न केवल युक्ति-सिद्ध ही न था, वल्कि हमारी धारणा के अनुसार वह प्रामाणिकता के लिये हुए भी था। क्योंकि पूने में राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन यदि न हो सका तो इससे बालासाहब नातू को कुछ भी बुरा न लगेगा, यही नहीं बल्कि पुराणमतवादी तो इसे अपनी विजय ही समझेंगे। इसी प्रकार तिलक यह भी अच्छी तरह समझे हुए थे, कि यदि ऐसा हुआ तो इस सारे पाप का घड़ा हिन्दुस्तान के लोग मुझ अकेले के सिर ही फोड़ने को तैयार हो जायँगे, और इसमें बालासाहब नातू का कुछ भी न बिगड़ेगा, न वे इस मर्म को समझ ही सकेंगे। इसीलिए अन्त में जाकर तिलक को यह ध्येय निश्चित करना पड़ा कि मंडप के विवाद का निर्णय किसी भी पक्ष में हो, किन्तु एकबार उसे निश्चित करके राष्ट्रीय सभा अवश्य होजानी चाहिये, फिर भले ही उसे कोई एक पक्ष अपनी जिम्मेदारी पर भी क्यों न करे। क्योंकि तिलक जानते थे कि इस झगड़े को तोड़ने का प्रारंभिक स्थान स्वागत—समिति ही है। और इस समिति के निर्णय को मानने-के लिए वे हर समय तैयार थे। किन्तु अनजान लोग इधर-उधर से आकर मंत्री के ही सिर सवार होते थे। कोई उनसे कहता था कि परिषद् को मंडप में न होने देने की प्रतिज्ञा लिख दीजिये, तो दूसरा यह कहकर कान फोड़ता था कि "परिषद् यदि मण्डप में हुई तो उसे वहांसे न हटाया जायगा, इसकी गेरंटी कर दीजिये।

ध करे तो वह भी कुछ काम नहीं दे सकती। क्योंकि बंगलों के लिए अनुमतियां
ौर मैदान के लिए किराये नामा एवं मंडप का ठेका, स्वयंसेवकों की योजना
ादि सब बातों का उचित ढंगपर प्रबंध हो गया है। और जो कुछ रह गया, वह
ब हो रहा है।" अन्य स्थानों में जहां सभाएँ हुईं, वहां प्रबंध को कार्य इससे
ी देरीके साथ शुरू हुआ था इस बात को भी उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया।
किन्तु फिर भी पक्षभेद का तिहरी सामना पूने में प्रतिदिन अधिकाधिक जोर पक-
ड़ता चला; अतएव इन तीनधाराओं के बीचसे राष्ट्रीय सभा की नौका के सकुशल
किनारे लगाने के विषय में स्वागतसमिति को भी चिंता होने लगी। यद्यपि
टीका-टिप्पणी करनेवाले अधिकांश लोग अंध, अज्ञान, एवं पक्षपाती ही थे, किंतु
उससे भी लोग चक्कर में पड़ ही गये। क्योंकि पक्षाभिमान रखकर वर्किंग कमेटी
को सहायता देनेके लिए बहुत से लोग तैयार थे। किन्तु ऐसे लोगों को काम में
लगानेमे कार्य की प्रगति होनेकी अपेक्षा उसके पिछड़ने की ही विशेष संभा-
वना थी। इसी लिए तिलक स्पष्टतयः नामनिर्देश्य करके लिखते थे कि "श्री.
बाबासाहब नातू को राष्ट्रीय सभा का काम बतलानेसे जिस प्रकार गड़बड़ होने-
की संभावना है, उसी प्रकार सुधारकों की भी कथा है। जिन युवाओं ने राष्ट्रीय
सभा का काम करके राष्ट्रभक्ति दिखलानेका निश्चय कर लिया है, उन्हें इस पक्षा-
मान के झगड़े में न पड़कर काम करना चाहिये।"

किन्तु दूसरों को पक्षाभिमान छोड़नेका भरपूर उपदेश देनेपर भी कई लोग
समझ रहे थे कि खुद तिलक का पक्षाभिमान भी दूर नहीं हुआ है। इधर
ारी मे एक बार यह विधान कर दिया जानेसे कि सामाजिक-सुधार एक प्रकार का
सन है, बम्बई के पत्रों ने यह हो हल्ला मचाया कि, लोगो, देखो इस झगड़े में
लक का सच्चा मत किस प्रकार का है। इन सारी बातों का उद्देश्य यह था कि
ं में राष्ट्रीय सभा न हो। इधर पूने का झगड़ा निपटता न देखकर यह दर्शानके
ए कि बिना एकमत हुए ऐसे महान् कार्य का पूरा होना असंभव है। सितारा के
ता, करंदीकर एवं सहस्रबुद्धे वकील आदि ने पूना और बम्बई तार भेजकर सूचित
िया कि यदि सभा पूने में न होती हो तो हम उसे सितारे ले जाकर सफल बनानेको
ैयार हैं। इनके शब्दों की अपेक्षा इनकी आंतरिक ध्वनि ही विशेष मुद्दे की थी।
्योंकि यदि पूने में सभा न हो सकी, तो हस्ताक्षर करनेवालों को अच्छीतरह ज्ञान
ा कि वह बम्बई में ही होगी, सितारे में कभी नहीं हो सकती। रेल्वे स्टेशन से
्यारह मीलके अंतरपर [illegible] में राष्ट्रीय सभा कर सकना सुगम नहीं है, इसे
भेजनेवाले [illegible] थे [illegible] के पक्षभेद का गुप्त नि-
[illegible] सभा के अधिवेशन

दूसरे सिरे पर थे। और इन दो पक्षों के बीच राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन का कचूमर हो जानेके भी रंगढंग दिखाई देने लगे थे। इसी बीच पुरातन पक्ष की ओरसे एक हैंडबिल प्रकाशित किया गया। इसपर अनेक व्यक्तियों के हस्ताक्षर थे। उन्ही में श्री. बाबा महाराज, डॉ० गर्दे, आदि के भी नाम थे। किन्तु ये दोनों ही तिलक के ख़ास मित्रों में से थे, अतएव तिलक ने इन दोनों से प्रकटरूप में यह खुलाशा कराया कि "जो भी सामाजिक परिषद् के विरुद्ध निकाले हुए हैंडबिल पर हमारे दस्तख़त हुऐ हैं, इस का आशय केवल इतना ही है कि, हमारे मतानुसार परिषद् राष्ट्रीय सभा के मण्डप में न होनी चाहिये। किन्तु इसपरसें यह न समझ लेना चाहिये कि परिषद् को मंडप में होने या न होने देनेका निर्णय हुए विना चंदा ही न दिया जाय। क्यौंकि तिलक इस बात की गहराईतक पहुँचे हुए थे कि चंदे के बलपर मतदार प्राप्त करने और उनके द्वारा स्वागत समिति से फैसला करवाने से राष्ट्रीय सभा भी ढंग के साथ हो सकेगी और परिषद् के होने या न होने देनेका फैसला भी मिल जायगा। किन्तु दुर्भाग्यवश् पुराणमतवादियों के नेता बालासाहब नातू एक बहुत बड़े धनवान व्यक्ति होनेपर भी कृपण थे। और इस पक्ष के अनुयायी वर्ग में अधिकांश व्यक्ति एकदम मध्यम श्रेणि के ही थे। ऐसी दशा में नातू पक्ष का स्वागत-समिति के मतदार संघ में बहुमत हो सकनेका कोई चिन्ह नहीं दिखाई देता था। इधर प्रतिपक्षी लोग तिलक और नातू को पुराणमत-वादी होनेसे एक ही पक्ष के समझकर उनपर यह आरोप लगाने लगे कि यह सब बखेड़ा तिलक ही खड़ा कर रहे हैं।

सुधारक पक्ष की ओर से भी हैंडबिल निकलने लगे, और उनमें यह चर्चा शुरू हुई कि तिलक आदि मंत्री राष्ट्रीय सभा का कुछ भी काम नहीं कर रहे हैं। इसका आशय यह था कि मेहता, वाच्छा आदि का ध्यान इस बातों की ओर जाकर इस विश्वास पर कि पूने में राष्ट्रीय सभा ही नहीं हो सकती-वे यहां-से उसे अन्यत्र ले जाँय। इन हैंडबिलों के प्रत्येक आक्षेप का तिलक ने प्रकटरूप में उत्तर दिया और आक्षेपकों का थोड़ासा मजाक भी उड़ाया। अर्थात् उन्होंने मंत्री की हैसियत से यह प्रकट किया कि " वर-वधू से पूर्व ही पुरोहित क्यों हल्ला मचा रहे हैं? टेढ़ी पीठ की कुर्सियों को 'आस्ट्रेलियन चेअर्स' के नामसे सम्बोधित किया जानेपर भी वे बम्बई में हरसमय मिल सकती हैं। चाय-कॉफी के कप-बशियों को चीनी मिट्टी के बर्तन बतलानेपर भी उन्हें लेनेके लिए हमें चीनदेश को नहीं जाना पड़ता। हण्डे-ग्लास और झाड़-फ़ुंभर विलायत में तैयार होते हैं, किन्तु अब तो सितम्बर का अंत आ गया, ऐसी दशा में राष्ट्रीय सभा के मण्डप के लिए सजावट का सामान न मिल सकनेकी यदि कोई निरर्थक चिंता

हट करें तो वह भी कुछ काम नहीं दे सकती। क्योंकि बंगलों के लिए अनुमतियाँ और मैदान के लिए किराये नामा एवं मंडप का ठेका, स्वयंसेवकों की योजना आदि सब बातों का उचित ढंगपर प्रबंध हो गया है। और जो कुछ रह गया, वह सब हो रहा है।" अन्य स्थानों में जहां सभाएँ हुईं, वहां प्रबंध को कार्य इससे भी देरीके साथ शुरू हुआ था इस बात को भी उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया। किन्तु फिर भी पक्षभेद का तिहरी सामना पूने में प्रतिदिन अधिकाधिक जोर पकड़ता गया; अतएव इन तीनधाराओं के बीचसे राष्ट्रीय सभा की नौका के सकुशल किनारे लगाने के विषय में स्वागतसमिति को भी चिंता होने लगी। यद्यपि टीका-टिप्पणी करनेवाले अधिकांश लोग अंध, अज्ञान, एवं पक्षपाती ही थे, किन्तु इससे भी लोग चक्कर में पड़ ही गये। क्योंकि पक्षाभिमान रखकर वर्किंग कमेटी को सहायता देनेके लिए बहुत से लोग तैयार थे। किन्तु ऐसे लोगों को काम में लगानेसे कार्य की प्रगति होनेकी अपेक्षा उसके बिगड़ने की ही विशेष संभावना थी। इसी लिए तिलक स्पष्टतः नामनिर्देश करके लिखते थे कि " श्री-बाळासाहब नातू को राष्ट्रीय सभा का काम बतलानेसे जिस प्रकार गड़बड़ होने-की संभावना है, उसी प्रकार सुधारकों की भी कथा है। जिन युवाओं ने राष्ट्रीय सभा का काम करके राष्ट्रभक्ति दिखलानेका निश्चय कर लिया है, उन्हें इस पक्षाभिमान के झगड़े में न पड़कर काम करना चाहिये।"

किन्तु दूसरों को पक्षाभिमान छोड़नेका भरपूर उपदेश देनेपर भी कई लोग यह समझ रहे थे कि खुद तिलक का पक्षाभिमान भी दूर नहीं हुआ है। इधर केसरी में एक बार यह विधान कर दिया जानेसे कि सामाजिक-सुधार एक प्रकार का प्रहसन है, बम्बई के पत्रों ने यह हो हल्ला मचाया कि, लोगो, देखो इस झगड़े में तिलक का सच्चा मत किस प्रकार का है। इन सारी बातों का उद्देश्य यह था कि पूने में राष्ट्रीय सभा न हो। इधर पूने का झगड़ा निपटता न देखकर यह दर्शानेके लिए कि बिना एकमत हुए ऐसे महान् कार्य का पूरा होना असंभव है। सितारा के नेता, करंदीकर एवं सहस्रबुद्धे वकील आदि ने पूना और बम्बई तार भेजकर सूचित किया कि यदि सभा पूने में न होती हो तो हम उसे सितारे ले जाकर सफल बनानेको तैयार हैं। इनके शब्दों की अपेक्षा इनकी आंतरिक ध्वनि ही विशेष सुखद थी। क्योंकि यदि पूने में सभा न हो सकी, तो हस्ताक्षर करनेवालों को अच्छीतरह ज्ञान था कि वह बम्बई में ही होगी, सितारे में कभी नहीं हो सकती। रेल्वे स्टेशन से ग्यारह मीलके अंतरपर छोटेसे कस्बे में राष्ट्रीय सभा कर सकना सुगम नहीं है, इसे भीतर भेजनेवाले अच्छीतरह समझे हुए थे। किन्तु पूना के पक्षभेद का गुप्त निषेध, सितारा की मित्रमंडली के एके की गुप्त स्तुति और राष्ट्रीय सभा के अधिवेशन

के लिए किसी प्रकारका प्रयत्न न करते हुए भी कठिन प्रसंगपर राष्ट्रीय सभा कर सकनेका श्रेय, इत्यादि बातें यदि एक आठ आने के तारसे ही बन आती है तो फिर ऐसे मौके को कौन जाने देता ? किन्तु सितारावालों की इस चालबाजी को लोगों ने भाँप लिया था, अतएव स्थानीय एवं बाहरी लोगों ने खुल्लमखुल्ला उनपर टीका-टिप्पणी की । किन्तु फिरभी हमें इस बातपर विश्वास नहीं होता कि यदि उनके दिये हुए निमंत्रण को राष्ट्रीय सभा स्वीकार कर लेती तो समयपर वे मुँह छिपाकर अपना वचन खो बैठते । क्योंकि उन दिनों सितारे के सुशिक्षित समाज में आदर्श ऐक्यता होनेकी बात हम भी स्वानुभव से कह सकते है ।

हां, तो सितारे के इस तार का इतना उपयोग अवश्य हुआ कि, पूना के कितने ही भले व्यक्तियों को अपने यहां के पक्षभेद पर हृदय से लज्जा प्रतीत हुई इसी अवसर में तिलक को भी एक बार सितारा जाना पड़ा । वहां उनके संभाषण में सामाजिक-परिषद् के विरुद्ध चर्चा शुरू होनेकी ख़बर पूने पहुँची । अतएव तिलक को मंत्री के स्थान से हटाकर सारी सत्ता सुधारकों के हाथ में सौंप दिये जानेके आशय से ज़ोरशोर के साथ प्रयत्न होने लगा । किन्तु तिलक का कहना था कि इस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण कर सकने योग्य कर्तव्य-शीलता इस दल में नहीं है । अंततः अक्टूबर के तीसरे सप्ताह में वर्किंग कमेटी के भिन्न २ अंतर्विभाग करके सब-विभागों का प्रबंध किया गया । किन्तु अक्टूबर के अंत में विवाद की चिनगारी एकदम भड़क उठीं । ता. २२ अक्टूबर को रेमार्केट के मैदान में एक जंगी मंडप बनाकर विराट् सभा का आयोजन किया गया । इसकी निमंत्रणपत्रिका पर तिलकपक्ष के ही लोगों के हस्ताक्षर थे । सभा में अध्यक्षस्थान श्री. बाबामहाराज को दिया गया था । और सभा का उद्देश्य यह बतलाया गया था कि " राष्ट्रीय सभा सभी मत और जाति के लोगों की है, अतएव उसकी व्यवस्था भी बहुजन-समाज के मतानुसार होनी चाहिये । " इधर क्योंकि वर्किंग-कमेटी में तिलक का बहुमत था, और दूसरी ओर उन्हें मंत्रीपद से ही हटा देनेके प्रयत्न हो रहे थे । अतएव इन्हीं बातों के प्रतिकारार्थ इस विराट् सभा का आयोजन किया जाना स्पष्ट प्रकट हो रहा था । इस सभा का विरोध करनेके लिए गोखलेपक्ष के लोगों ने हैंड-बिल भी बाँटे, जिनका आशय यह था कि, राष्ट्रीय सभा के लिए की जानेवाली आम सभा पूने की स्टैंडिंग कांग्रेस कमेटी की मौजूदगी में ही होनी चाहिये, किन्तु इस नियमानुसार यह सभा नहीं है । सिवाय में इस सभा के लिए निश्चित समय का नोटिस भी नहीं दिया गया है । इसी प्रकार निमंत्रण पत्रिका पर हस्ताक्षर करनेवालों में से कई-एक ने चंदे में एक पाई भी नहीं दी है । अतएव दूसरों के दिये हुए धन की व्यवस्था करनेका इस सभा को कोई अधिकार नहीं है । इन

सब बातों के सिवाय सभा में प्रत्यक्ष विरोध करनेके लिए काशीनाथ परशराम गाडगील, वामन विष्णु लेले आदि भी उपस्थित हुए थे। जब इन लोगों ने तिलक के भाषण का विरोध शुरू किया तब सभा में गड़बड़ सी मच गई, किन्तु पुलिस ने मामले को बढ़नेसे रोक दिया। इस सभा में तिलक ने वर्किंग कमेटी के झगड़े लोगों के सामने प्रकट कर दिये। क्योंकि पहले इस प्रकार का निश्चय हो चुका था कि पचास रुपये चन्दा देनेवाले को एकमत समझा जाय। किन्तु सुधारक पक्ष ने इस पर यह फंदा लगाया कि पचास रुपये पर एकमत के हिसाब से जितनी गुनी अधिक रकम हो उतने ही अधिक मत उस व्यक्ति के होने चाहिये। ऐसा होने पर पूना के धनी मानी लोग उपस्थित होकर अनेक मत दे सकेंगे! बिचारी स्वागत समिति रचना अभी होनेको थी। फलतः उसके संगठनपर विवाद होने लगा। इस पर वर्किंग कमेटी का कहना यह था कि इसका निर्णय हम करेंगे। किन्तु यह कमेटी भी पूना के ही लोगों की बनाई हुई थी। ऐसी दशा में कमेटी की अपेक्षा नागरिक ही श्रेष्ठ कहे जा सकते थे। अतएव यदि वर्किंग कमेटी में भी झगड़ा हुआ तो उसका निर्णय नागरिकों की आम सभा ही कर सकती थी।

तिलक के व्याख्यान के पश्चात् सभा में कुछ प्रस्ताव भी स्वीकृत हुए। जिनमें कि राष्ट्रीय सभा का काम अकेले सुधारक पक्ष के ही हाथ में न रहने देने, एवं नई स्वागत समिति बनाकर उसके मंत्री तिलक को चुनने एवं पुरानी वर्किंग कमेटी को तोड़ देने आदिकी योजना की गई थी। किन्तु दूसरे एक प्रस्ताव में स्पष्ट ही कह दिया गया था कि राष्ट्रीय सभा और वर्किंग कमेटी का सम्बन्ध ही तोड़ दिया जाय। इस अर्थ प्रकटरूप में हो यह हो रहा था कि, राष्ट्रीय सभा के मण्डप में सामाजिक परिषद् न होने दी जाय। तिलक आजतक यह कह रहे थे कि पूने के तीन पक्षों में से मैं यह कहनेवाले लोगों में से हूं कि, हरएक प्रकार के यत्न से राष्ट्रीय सभा को सफल बनाया जाय। यद्यपि इस सभा में श्री. बाबासाहब नातू-प्रभृति व्यक्तियों ने जो भी नम्रता धारण नहीं की थी, किन्तु फिर भी लोग यही कह रहे थे कि अपने हाथ में सत्ता रखकर उसके बलपर ही नातूपक्ष के मनोरथ पूर्ण करनेके लिए तिलक ने यह चाल चली है। अतएव इससे बाहरवालों के भ्रम का निराकरण होनेके बदले उनकी शंका और भी बढ़ गई। ऐसी दशा में सब बातों का खुलासा करनेके लिए तिलक को एक निवेदनपत्र छपाकर बाहर के गाँवों में भेजना पड़ा। जिसमें कि शुरूसे लेकर अंततक की सब बातें लिखी गई थीं। सभा में तिलक जिन बातों को न कह सके वे इस प्रकार थी कि "जबतक बाबासाहब नातू ने अदूरदर्शिता करके तिलक से अलग होने एवं नया पक्ष खड़ा करनेमें सफलता नहीं पाई थी, तबतक वर्किंग कमेटी में तिलकपक्ष और सुधारक दल

की शक्ति समान ही थी। किन्तु नातू की ओर से तीसरा पक्ष खड़ा किया जाने-पर सुधारकों का बल कम हो गया। क्योंकि तिलक खुद मंत्रियों से ही एक थे, ऐसी दशामें भी उन्होंने निमंत्रणपत्रिका पर हस्ताक्षर किये और वर्किंग कमेटी को तोड़ देनेका प्रस्ताव भी उस सभा में स्वीकृत हो गया, इस अपराध के लिए वर्किंग कमेटी ने तिलक को ही अपनेमें से अलग कर दिया। ' यह सब बखेड़ा न्या. मू. रानड़े को बिलकुल अच्छा न लगता था। इसी लिए वे एक ओरसे तिलक एवं दूसरी ओरसे नगरकर, गाडगील आदि को समझाकर विवाद मिटाने का प्रयत्न कर रहे थे। किंतु उस विराट् सभावाले दिन, सभा से कुछ पहले जब तिलक समझौते की चर्चा के लिए रानड़े के घर गये तो वहां उन्हें प्रुफ पढ़ते हुए देखा। वह प्रुफ उसी हैंडबिल का था जो कि उस सभा में निबंध के लिए बांटा गया था। तिलक को वर्किंग कमेटी से हटा देने पर जब वे बंबई गये तो उनके घर से मंत्री का दफ्तर हटा लेजानेका गाडगील ने प्रयत्न किया, किन्तु उसमें वे सफल न होसके। फलतः उस विराट् सभा के निश्चयानुसार तिलक स्वागत-समिति के मंत्री की हैसियत से काम करने लगे, क्यों कि सारा दफ्तर उन्ही के पास था। किन्तु फिर भी क्यों कि रानड़े एवं उनके अनुयायी दूसरे पक्षके थे, अत-एव बँबई शहर के सब लोगों का मत तिलक के विरुद्ध हो गया, और अन्य प्रांतों के नेता भी बम्बईवालों के रंगढंग देखकर ही बरतने लगे। इस तरह बहुत ही बेढंगा बखेड़ा शुरू हो गया। ऐसी दशा में पूना से बाहर के लोगों से इस बात को लिए राय मांगी गई कि अधिवेशन की व्यवस्था का कार्य किसके हाथ में रहे, और बहुमत जिसके पक्ष में हो, उसीको मंत्री का कार्य सौंप दिया जाय। यदि बहुमत से सुधारकों के ही हाथ में सब काम सौंप देनेका निश्चय हुआ तो हम स्वेच्छापूर्वक काम छोड़ देंगे। ये सब बाते उस निवेदनपत्र में थीं।

इधर ता. २७ अक्टूबर के दिन बम्बई में फीरोज़शाह मेहता के ऑफिस में बम्बई स्टेंडिंग कांग्रेस कमेटी की बैठक हुई। इसमें पूने के दोनों ही पक्ष के लोग निमंत्रित किये गये थे। इस मीटिंग का कारण यह था कि गोपालराव गोखले और काशीनाथपंत गाडगील ने बम्बई पत्र भेजकर यह सूचित किया था कि तिलक अब प्रकटरूप से नातू के पक्षमें मिले हैं। किन्तु उस विराट् सभा के बाद तिलक के लिए इस आक्षेप का खंडन करना कठिन होगया। फिर भी इस मीटिंग में उन्होंने उक्त आक्षेप का खण्डन करके इस बात का प्रतिपादन किया कि, मैं नातू पक्ष का नहीं हूं। इसी प्रकार बाजार और पेठों से चंदा उगाहनेका काम शुरू रहने पर तिलक तो चंदा देनेको कह रहे थे और नातू उन्हें मना करते जाते थे। यह झगड़ा लोगों के देखते हुए हो रहा था। किन्तु फिर भी सामाजिक सुधार के

पय में तिलक के मत की चर्चा आज चारपांच वर्षों से चल रही थी, अतएव नके और बालासाहब नातू के हेतुओं में कुशाग्रवत् सूक्ष्म अन्तर फीरोज़शाह सा जैसे व्यक्ति के लिए ठीक तरहसे कैसे अनुभूत हो सकता था ? अर्थात् "सामाजिक परिषद् को जो नहीं चाहते, उन्हें यह कहदेना होगा कि राष्ट्रीय सभा के मण्डप में उसका अधिवेशन नहीं हो सकता । जान पड़ता है कि तिलक और नातू दोनों ही इसे नहीं चाहते, किन्तु कारण दोनों के ही भिन्न हैं । जिस प्रकार नातू हठीले हैं, उसी प्रकार सुधारक भी पक्का आग्रह करनेवाले हैं । किन्तु यदि परिषद के अलग कर लेनेसे उसमें कोई हानि नहीं पहुँचती तो फिर परिषदवाले व्यर्थ ही के लिए इतना हठ क्यों कर रहे हैं ? " इस प्रकारकी सूक्ष्म बातें फीरोज़शाह न समझ सकते हों सो बात नहीं है । किन्तु अपने पूर्व विश्वास के कारण ये उनपर ध्यान ही क्यों देने लगे । इधर उन्हें बराबर यह दरसाया जाता रहा कि तिलक ने कुछ भी किया तोभी उसमें अंतस्थ हेतु कुछ न कुछ अवश्य होना चाहिये । फलतः बंबई की मीटिंग में दोनों ही पक्ष के लोग मौजूद रहनेसे ये सब बातें खुल गईं । ऐसी दशा में मेहता आदि को बड़े ही असमंजस में पड़जाना पड़ा । अंततः बम्बई के लोगों ने यह मत प्रकट किया कि वार्किंग कमेटी का यह प्रस्ताव उचित नहीं है कि जहां तक हो सके सभी पक्ष के लोग वार्किंग कमेटी में रहें और धनाढ्य लोगों को पचास रुपये पर एकमत के हिसाब से अनेक मत प्राप्त हों, जिन्हें कि वे अपने स्त्री-पुत्रादि में भी बाँट सकें । किन्तु केवल पूने के ही लोगोंपर यह काम डालदिया जाने से अंत समय तक जाकर झगड़े अनिवार्य हो जायँगे और सभा का काम भी बिगड़नेका डर रहेगा । अतएव बंबई की सभा ने यह निश्चय किया कि पुरानी वार्किंग कमेटी को लगभग रद्द करके तिलक पक्ष के दो और गोखलेपक्ष के दो, तथा दिनशा वाच्छा, चिमनलाल सेटलवाड और दाजीसाहब खरे इस प्रकार तीन बम्बई के मिलाकर कुल सात मंत्री अबसे सभा का काम करें । इस नई व्यवस्था के योग से अंत में भले ही मंडप के विवाद का निर्णय किसी प्रकारसे भी हो । किन्तु राष्ट्रीय सभा का कार्य सफल होनेकी आशा से तिलक ने इस निर्णय को मान लिया । किंबहुना बिना इस व्यवस्था को स्वीकार किये तिलक के लिए अन्य कोई मार्ग ही नहीं था । किन्तु इसी के साथ र हमें यहां इस बात का उल्लेख भी कर देना होगा कि बंबई की इस मीटिंग से पूना की विराट् सभा के प्रस्ताव भी रद्द हो गये थे ।

अगले सप्ताह में वाच्छा और सेटलवाड तथा खरे ये तीनों पूना आये । यहां आनेपर इन्हें ज्ञात हुआ कि सरदार नातू और उनके पक्ष के लोग तो एकपक्षीय विचार के और थोड़ेसे हैं, किन्तु असल में बहुमत उन्हीका है जोकि मंडपवाद का

फैसला कांग्रेस से कराया चाहते हैं, पर इससे पहले वे कांग्रेस का अधिवेशन सफल बनाने के इच्छुक हैं। किन्तु उन्होंने देखा कि इस पक्ष को भी सब काम सौंप देना उचित न होगा। क्यों कि सुधारक लोग जो कुछ सहायता लेना चाहते हैं, वह एक मात्र अपने पक्षवालों से ही, इधर तिलक का कहना यह हैं कि राष्ट्रीय सभा के लिए सभी प्रकार के लोगों से एक सी सहायता लेनी चाहिये, और पूना के व्यापारी उद्योगी एवं कारीगर आदि सबको कांग्रेस का प्रतिनिधित्व दिया जाय, और इसके बाद जैसा कुछ हो वह अपने हाथों से कर लिया जाय। सुधारकों के मत से तिलक के उद्देश्यानुसार भट्ट-भिक्षुक, और काछी, माली, नाई, तेली, तम्बोली की भीड़ होजाने पर अपने पक्ष के बहुमत से वंचित रह जाने और उससे गड़बड़ मचनेकी संभावना थी, और वे समझते थे कि इन लोगों की सहायता से तिलक ऐन वक्त पर सामाजिक परिषद् को धोखा पहुँचावेंगे। इस प्रकार परस्पर के विरोध भाव को देखकर बम्बई से आये हुए मंत्रियों ने यह निश्चय किया कि, तिलक अपनी सब बातों को वापस लेलें, और पुरानी वार्कैंग कमेटी ही अपने पहले ढंग को जारी रक्खे। इस निर्णय से तिलक का पक्ष एकदम गिरगया। इस तरह एक सप्ताह पूर्व ही जिस व्यवस्था को सामान्य रीति से ही क्यों न हो—किन्तु सब लोगों ने मंजूर किया था वही अब निकम्मी सिद्ध होगई। किन्तु ऐसा करके भी कुछ काम नहीं होसकता था। क्योंकि अतिशयोक्ति—प्रिय एवं एकान्तिक ऐसे दो पक्षों के प्रबल होजाने पर बहुजनसमाज मध्यम—मत का अनुयायी हो तो भी उसकी निभ नहीं सकती। राष्ट्रीय सभा के भंग हो जानेपर नातू पक्ष को नाम के लिए भी दुःख नहीं हो सकता था, इधर सुधारक पक्ष बम्बई से आये हुए तीन मंत्रियों की सहायता पाकर और भी प्रबल होगया। ऐसी दशा में आम सभा में व्यक्त होनेवाला बहुजन मत तिलक के पक्ष में रहने पर भी उन्हें मंत्रित्व पर से त्यागपत्र देना अनिवार्य हो गया। क्यों कि इधर अकेले नातू पक्ष पर ही सब काम डाल दिया जानेसे सफलता प्राप्त होनेकी संभावना नहीं थी। और यदि सुधारक पक्ष को सर्वसत्ताधारी बनाया गया तो लोग समझेंगे कि वह बहुजनसमाज के अप्रिय और मुट्ठीभर लोगों के हाथ में चलागया है, यद्यपि यह शंका उचित भी थी, किन्तु अन्यप्रान्तों की दृष्टि से इस कार्य को यथानियम सम्पन्न कर सकनेकी योग्यता भी इस समय उन्हींमें थी। अर्थात् राष्ट्रीय सभा का कार्य एक विशिष्ट प्रकार से हो जानेकी आवश्यकता जुरूर है, किन्तु यदि उस प्रकार से वह न हो सके तो उस काम को ही छोड़ देना या स्वेच्छापूर्वक उसे ठुकरादेना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। यही सब बातें सोचकर तिलक ने अपने पद से इस्तीफा देदिया। जान पड़ता है कि अपनी जिद को कायम रखने या पीछे हटकर सभा होने देने और उससे पूना के

संचित न करने जैसी विकट समस्या खड़ी हो जाने पर ही कदाचित् तिलक ने अपना हठ छोड़ दिया होगा। तिलक के लिए ऐसा किये बिना भलाई का कोई अन्य उपाय ही न था, यह बात हम कह ही चुके हैं। किन्तु यदि सुल्लमखुल्ला वे मन् पक्ष में शामिल हो जाते तो सभा को पूने से हटाकर वे यहांतक कह सकते थे कि "परप्रान्त के लोग पूना के इस विरोधभावके लिए जैसा मुझे बुरा कहते वैसेही वे सुधारक पक्ष की निंदा कर सकते थे। अर्थात् यदि इस परिश्रम के बदले में लोगों ने दोष ही दिया तो दोनो पक्ष उसे बराबर बाँट लेंगे"। किन्तु इस समय तो यही कहना होगा कि राष्ट्रीय हित कि दृष्टि से उन्होंने अपना पराभव स्वीकार कर अच्छा ही किया। क्यों कि पूने में सभा न होने देनेकी अपेक्षा यहां की जनता के उदासीन रहने पर भी अधिवेशन होने देना अधिक अच्छा था। इसी निर्णय पर दृढ़ रहना उचित समझकर तिलक ने उसे केसरी के द्वारा प्रकट भी कर दिया। साथ ही उन्होंने लोगों को यह उपदेश भी दिया कि यदि मैं मंत्री नहीं रहा तो कोई बुराई नहीं है, किन्तु लोगों को राष्ट्रीय सभा की सहायता बराबर करते जाना चाहिये।

किन्तु तिलक के त्यागपत्र दे देनेपर भी झगड़ा एकदम मिट नहीं गया। क्यों कि तिलक के उस निवेदनपत्र के सिद्धान्तों का खण्डन करनेके लिए कुछ रावबहादुरों ने अपने नाम से एक उत्तर प्रकाशित किया था। इधर सुधारक पक्ष ने अपने को विजयी समझ राष्ट्रीय सभा का काम जोरोंपर शुरू कर दिया था। किन्तु फिरभी वह लोगोंकी उदासीनता दूर न कर सका। एक व्यापारी सभा में इस प्रकार का प्रस्ताव हुआ कि, राष्ट्रीय सभा की सारी व्यवस्था सुधारकों के हाथ में चली जानेसे अब सामाजिक परिषद् के उसी मण्डप में होनेकी विशेष संभावना है, किन्तु हम ऐसा होने देना उचित नहीं समझते हैं, अतएव कांग्रेस के विषय में भी हम तटस्थ रहेंगे। इस प्रस्ताव चारों ओर यह हो-हल्ला मच उठा कि राष्ट्रीय सभा पक्ष विशेष के हाथ में चली जा रही है। किन्तु असल उसकी एकपक्षीयता केवल व्यवस्थापकों के लिहाज़ से ही थी। अन्य प्रान्तों से जो लोग आनेवाले थे, वे आ ही गये, इसी प्रकार पूना के भी कई लोग जो अपने को प्रतिनिधि बनाना चाहते थे, वे सब सभा में पहुँच गये। किन्तु सभा की व्यवस्था एकतर्फी होनेसे यह शंका बराबर बनी रही कि कहीं कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं होजाता है। ऐसी दशा में तटस्थ कहलानेवाले एक महाशय ने केसरी में पत्र छपाकर इस बात का उपदेश किया था कि पूना के लोगों को उदासीनता छोड़ देनी चाहिये। किन्तु यह सुधारकों को अपना सच्चा स्वरूप दिखलाने के लिए तैयार करने ही के हेतु था। और वैसे इसका आशय स्पष्ट प्रकट होरहा था। कितने ही लोग तिलक के चुप हो जानेपर उन्हें बुरा भला भी कहने लगे। कितने ही एम्. ए., एल् एल्.

बी. जैसे लोगों ने तिलक को अलग राष्ट्रीय सभा करनेको भी उत्तेजित किया। किन्तु उन भले आदमियों ने यह तक सोचने का कष्ट न उठाया कि केवल व्यवस्थापक जुदा होनेसे ही राष्ट्रीय सभा अलग नहीं की जासकती। पूना शहर में लोकमत यद्यपि तिलक के ही पक्ष में था, किन्तु फिरभी वे यह कभी नहीं चाहते थे कि अपने ही नगर में केवल सुधारकों का अप्रसन्नता पर राष्ट्रीय सभा को भंग कर अथवा उसके कार्य मे बिगाड़ उत्पन्न कर परप्रान्तीय लोगों से पूनेकी हँसी कराई जाय या उन्हें पुनावालों की निंदा करते हुए वापस लौटाने को वाध्य किया जाय। इसी लिए पूने में तिलक का बहुमत रहने पर भी ऐसे प्रसंगपर उनके अलग हो जानेकी सुशिक्षितों ने प्रशंसा ही की। पूना के व्यापारी या उद्योगधन्देवाले लोगों का महत्त्व अपने यहां भले ही वढ़ा हुआ हो, किन्तु जहां वाहर के सभी प्रान्तों से काम पड़नेवाला था, वहां रानड़े, गोखले एवं अन्यान्य रावबहादुरों का कथन उन्हें जितना यथार्थ प्रतीत होगा, अथवा उसकी यथार्थता न होनेपर भी वे लोग जितने अंश में उनका पक्ष ले सकेंगे, उतना तिलक का कभी नहीं। क्योंकि परप्रान्तों से व्यवहार करनेकी दृष्टि से तिलक अपने पक्ष में अकेले एक ही थे, और सुधारक पक्ष में उनकी बम्बई से प्राप्त सहायता का विचार करते हुए, कमसे कम दस पांच नाम तो ऐसे अवश्य थे, जिनसे कि अन्य प्रान्त के लोग भी परिचित थे। खुद तिलक और नामजोशी का नाम यद्यपि इससे पहले ही विख्यात होचुका था, किन्तु इन दोनों का रानड़े, मेहता, वाच्छा, गोखले, सेटलवाड, और खरे आदि से परप्रान्तीय लोकमत के अखाड़े में बाजी मार ले जाना असंभव ही था। क्यों कि तिलक को अपने पक्ष में लोकप्रसिद्ध व्यक्तियों का अभाव अभी २ तक जान पड़ता था, ऐसी दशा में सन १८९५ में उनकी दशा क्या होती इसे प्रथक् रूपसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। किम्बहुना यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय के झगड़े से पहले अन्य प्रान्तों में तिलक की जो कुछ प्रतिष्ठा थी वह भी इससे किसी अंश में कम होगई। सारांश, बम्बई के मंत्रियों द्वारा वाज़ी को उलटती देख कर तिलक के लिए त्यागपत्र दिये विना कोई दूसरा उपायहि न था, इसके वाद त्यागपत्र दे देनेपर तिलक क्या करते हैं, यही एक मात्र प्रश्न कितने ही के लिए कौतुक और कई एक के लिए चिंता का विषय हो रहा था।

उस समय तिलक की यथार्थ मनस्थिति क्या होसकती थी, इसकी हम अच्छीतरह कल्पना कर सकते हैं। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि वे उस समय हृदय से राष्ट्रीय सभा का अहित होने देना नहीं चाहते थे। किन्तु जब उन्होंने त्यागपत्र नहीं दिया था, तब सामाजिक परिषद् को मण्डप में होने या न होने देने के विषय में जो कुछ तटस्थ वृत्ति उन्होंने धारण कर रक्खी थी, वह दूर होकर

अब तो उनके लिए खुल्लमखुल्ला यह कहनेकी स्वतंत्रता प्राप्त होगई कि परिषद् मंडप में न होने दी जाय। यद्यपि त्यागपत्र न देने तक तो वे नातूपक्ष में समाविष्ट नहीं हुए थे, किन्तु अब, तो यदि उन्हें कोई वैसा कह भी देता तो भी उन्हें इसकी कोई पर्वाह नहीं थी। राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था एकतंत्री हो जानेसे संभवतः उन्हें यही प्रतीत हुआ होगा कि इससे अधिवेशन को सफल बनानेमें सहायता ही पहुँची है। क्योंकि परप्रान्तों से जो लोग आनेवाले थे उनसे तिलक का कोई झगड़ा ही नहीं था। और गाँव के लोगों से विरोध रहनेपर भी व्यवस्था में उनका किसी रूपमें हाथ न था। इसी प्रकार परप्रान्तीय प्रतिनिधियों पर बहुमत से मात कर देनेकी आशा बाँधने योग्य मनुष्य और द्रव्यबल तो तिलक के पक्ष में था ही नहीं। इधर बाळासाहब नातू ने विरोध भी किया तो वह शुष्क ही होसकता था, इसी लिये यह शंका करनेकी भी आवश्यकता नहीं रही थी कि उनके पक्ष के बहुत से लोग प्रतिनिधि बनकर सभा में गड़बड़ मचा देंगे। किन्तु फिरभी नातूपक्ष में सामाजिक परिषद् के नामपर बाहर झगड़ा मचा सकने का सामर्थ्य अवश्य था। इसी लिए यह कहना कठिन होगया था कि यह पक्ष कब क्या कर गुजरेगा इसका कोई नियम नहीं। ऐसी दशामें नातूपक्ष के इस आंतक से लाभ उठाकर तिलक के लिए यही उद्योग करना शेष रह गया कि यदि होसके तो अब भी मण्डप में परिषद् का अधिवेशन न होने देनेके लिए प्रयत्न किया जाय। इधर इस काम में नातूको भी तिलककी आवश्यकता थीही। फलतः तिलक और नातूके पक्ष में हेतु और कृति की दृष्टि से पहले जो अन्तर था, वह अब बहुत कुछ दूर होगया। सुधारक लोग पहिले ही से कह रहे थे कि तिलक और नातू दो व्यक्ति अलग २ दिखाई पड़ने पर भी अन्तर में दोनों एकही हैं। और जब वे दोनों एक दिखाई देने लगे, तब उन्हें यह कहने के लिए मौक़ा मिल गया कि " हम पहलेसे कह रहे थे वही बात सच निकली। क्योंकि यह सब प्रयत्न केवल तिलक का बहाना ही था। "

किन्तु सभाकी व्यवस्था अकेले सुधारकों के हाथ में रहनेसे उनकी जवाबदारी और तत्संबन्धी चिन्ता दूनी होगई। इधर उनके सामने यह समस्या अलग मुँह बाये खड़ी हुई थी कि वाचालता से तिलक को पराजित करनेकी अपेक्षा पूने में राष्ट्रीय सभा के विरुद्ध जो तूफ़ान खड़ा होरहा है, उसे कैसे शान्त किया जाय। क्योंकि इस उपद्रव के खड़े करनेवालों में से जब एक व्यक्ति के साथ नवंबर में ही पाला पड़ा तो सुधारकों की सारी अकल गुम होगई। ये महाशय थे श्रीधर विठ्ठल दाते।

श्रीधर विठ्ठल दाते का मामला महाराष्ट्र के लिए एक नवीन एवं बहुत भारी मकरघसा था। इसकी प्रायः सभी बातें अजीब थीं। यद्यपि दाते का पूर्व चरित्र पूना से बाहर ही घटित हुआ, किन्तु फिर भी उनकी कीर्ति पूने तक

बी. जैसे लोगों ने तिलक को अलग राष्ट्रीय सभा करनेको भी उत्तेजित किया। किन्तु उन भले आदमियों ने यह तक सोचने का कष्ट न उठाया कि केवल व्यवस्थापक जुदा होनेसे ही राष्ट्रीय सभा अलग नहीं की जासकती। पूना शहर में लोकमत यद्यपि तिलक के ही पक्ष में था, किन्तु फिरभी वे यह कभी नहीं चाहते थे कि अपने ही नगर में केवल सुधारकों का अप्रसन्नता पर राष्ट्रीय सभा को भंग कर अथवा उसके कार्य में बिगाड़ उत्पन्न कर परप्रान्तीय लोगों से पूनेकी हँसी कराई जाय या उन्हें पुनावालों की निंदा करते हुए वापस लौटाने को वाध्य किया जाय। इसी लिए पूने में तिलक का बहुमत रहने पर भी ऐसे प्रसंगपर उनके अलग हो जानेकी सुशिक्षितों ने प्रशंसा ही की। पूना के व्यापारी या उद्योगधन्देवाले लोगों का महत्त्व अपने यहां भले ही बढ़ा हुआ हो, किन्तु जहां बाहर के सभी प्रान्तों से काम पड़नेवाला था, वहां रानडे, गोखले एवं अन्यान्य रावबहादुरों का कथन उन्हें जितना यथार्थ प्रतीत होगा, अथवा उसकी यथार्थता न होनेपर भी वे लोग जितने अंश में उनका पक्ष ले सकेंगे, उतना तिलक का कभी नहीं। क्योंकि परप्रान्तों से व्यवहार करनेकी दृष्टि से तिलक अपने पक्ष में अकेले एक ही थे, और सुधारक पक्ष में उनकी बम्बई से प्राप्त सहायता का विचार करते हुए, कमसे कम दस पांच नाम तो ऐसे अवश्य थे, जिनसे कि अन्य प्रान्त के लोग भी परिचित थे। खुद तिलक और नामजोशी का नाम यद्यपि इससे पहले ही विख्यात होचुका था, किन्तु इन दोनों का रानडे, मेहता, वाच्छा, गोखले, सेटलवाड, और खरे आदि से परप्रान्तीय लोकमत के अखाड़े में बाजी मार ले जाना असंभव ही था। क्यों कि तिलक को अपने पक्ष में लोकप्रसिद्ध व्यक्तियों का अभाव अभी २ तक जान पड़ता था, ऐसी दशा में सन १८९५ में उनकी दशा क्या होती इसे प्रथक् रूपसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। किम्बहुना यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय के झगड़े से पहले अन्य प्रान्तों में तिलक की जो कुछ प्रतिष्ठा थी वह भी इससे किसी अंश में कम होगई। सारांश, बम्बई के मंत्रियों द्वारा बाज़ी को उलटती देख कर तिलक के लिए त्यागपत्र दिये बिना कोई दूसरा उपायहि न था, इसके बाद त्यागपत्र दे देनेपर तिलक क्या करते हैं, यही एक मात्र प्रश्न कितने ही के लिए कौतुक और कई एक के लिए चिंता का विषय हो रहा था।

उस समय तिलक की यथार्थ मनस्थिति क्या होसकती थी, इसकी हम अच्छीतरह कल्पना कर सकते हैं। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि वे उस समय हृदय से राष्ट्रीय सभा का अहित होने देना नहीं चाहते थे। किन्तु जब उन्होंने त्यागपत्र नहीं दिया था, तब सामाजिक परिषद् को मण्डप में होने या न होने देने के विषय में जो कुछ तटस्थ वृत्ति उन्होंने धारण कर रक्खी थी, वह दूर होकर

तो उनके लिए खुल्लमखुल्ला यह कहनेकी स्वतंत्रता प्राप्त होगई कि परिषद् मंडप में न होने दी जाय। यद्यपि त्यागपत्र न देने तक तो वे नातूपक्ष में समाविष्ट नहीं हुए थे, किन्तु अब,तो यदि उन्हें कोई वैसा कह भी देता तो भी उन्हें इसकी कोई पर्वाह नहीं थी। राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था एकतंत्री हो जानेसे संभवतः उन्हें यही प्रतीत हुआ होगा कि इससे अधिवेशन को सफल बनानेमें सहायता ही पहुँची है। क्योंकि परप्रान्तों से जो लोग आनेवाले थे उनसे तिलक का कोई झगड़ा ही नहीं था। और गाँव के लोगों से विरोध रहनेपर भी व्यवस्था में उनका किसी रूपमें हाथ न था। इसी प्रकार परप्रान्तीय प्रतिनिधियों पर बहुमत से मात कर देनेकी आशा बाँधने योग्य मनुष्य और द्रव्यबल तो तिलक के पक्ष में था ही नहीं। इधर बालासाहब नातू ने विरोध भी किया तो वह शुष्क ही होसकता था, इसी लिये यह शंका करनेकी भी आवश्यकता नहीं रही थी कि उनके पक्ष के बहुत से लोग प्रतिनिधि बनकर सभा में गड़बड़ मचा देंगे। किन्तु फिरभी नातूपक्ष में सामाजिक परिषद के नामपर बाहर झगड़ा मचा सकने का सामर्थ्य अवश्य था। इसी लिए यह कहना कठिन होगया था कि यह पक्ष कब क्या कर गुजरेगा इसका कोई नियम नहीं। ऐसी दशामें नातूपक्ष के इस आतंक से लाभ उठाकर तिलक के लिए यही उद्योग करना शेष रह गया कि यदि होसके तो अब भी मण्डप में परिषद् का अधिवेशन न होने देनेके लिए प्रयत्न किया जाय। इधर इस काम में नातूको भी तिलककी आवश्यकता थीही। फलतः तिलक और नातूके पक्ष में हेतु और कृति की दृष्टि से पहले जो अन्तर था, वह अब बहुत कुछ दूर होगया। सुधारक लोग पहिले ही से कह रहे थे कि तिलक और नातू दो व्यक्ति अलग २ दिखाई पड़ने पर भी अन्तर में दोनों एकही हैं। और जब वे दोनों एक दिखाई देने लगे, तब उन्हें यह कहने के लिए मौका मिल गया कि " हम पहलेसे कह रहे थे वही बात सच निकली। क्योंकि यह सब प्रयत्न केवल तिलक का बहाना ही था। "

किन्तु सभाकी व्यवस्था अकेले सुधारकों के हाथ में रहनेसे उनकी जबाबदारी और तत्संबन्धी चिन्ता दूनी होगई। इधर उनके सामने यह समस्या अलग मुँह बाये खड़ी हुई थी कि बाचाळता से तिलक को पराजित करनेकी अपेक्षा पूने में राष्ट्रीय सभा के विरुद्ध जो तूफान खड़ा होरहा है, उसे कैसे शान्त किया जाय। क्योंकि इस उपद्रव के खड़े करनेवालों मे से जब एक व्यक्ति के साथ नवंबर में ही पाला पड़ा तो सुधारकों की सारी अकल गुम होगई। ये महाशय थे श्रीधर विट्ठल दाते।

श्रीधर विट्ठल दाते का मामला महाराष्ट्र के लिए एक अर्वाचीन एवं बहुत भारी प्रकरणसा था। इसकी प्रायः सभी बातें अजीब थीं। यद्यपि दाते का पूर्व चरित्र पूना से 'बाहर ही' घटित हुआ, किन्तु फिर भी उनकी कीर्ति पूने तक

बी. जैसे लोगों ने तिलक को अलग राष्ट्रीय सभा करनेको भी उत्तेजित किया। किन्तु उन भले आदमियों ने यह तक सोचने का कष्ट न उठाया कि केवल व्यवस्थापक जुदा होनेसे ही राष्ट्रीय सभा अलग नहीं की जासकती। पूना शहर में लोकमत यद्यपि तिलक के ही पक्ष में था, किन्तु फिरभी वे यह कभी नहीं चाहते थे कि अपने ही नगर में केवल सुधारकों का अप्रसन्नता पर राष्ट्रीय सभा को भंग कर अथवा उसके कार्य मे बिगाड़ उत्पन्न कर परप्रान्तीय लोगों से पूनेकी हँसी कराई जाय या उन्हें पुनावालों की निंदा करते हुए वापस लौटाने को बाध्य किया जाय। इसी लिए पूने में तिलक का बहुमत रहने पर भी ऐसे प्रसंगपर उनके अलग हो जानेकी सुशिक्षितों ने प्रशंसा ही की। पूना के व्यापारी या उद्योगधन्देवाले लोगों का महत्व अपने यहां भले ही बढ़ा हुआ हो, किन्तु जहां बाहर के सभी प्रान्तों से काम पड़नेवाला था, वहां रानडे, गोखले एवं अन्यान्य रावबहादुरों का कथन उन्हें जितना यथार्थ प्रतीत होगा, अथवा उसकी यथार्थता न होनेपर भी वे लोग जितने अंश में उनका पक्ष ले सकेंगे, उतना तिलक का कभी नहीं। क्योंकि परप्रान्तों से व्यवहार करनेकी दृष्टि से तिलक अपने पक्ष में अकेले एक ही थे, और सुधारक पक्ष में उनकी बम्बई से प्राप्त सहायता का विचार करते हुए, कमसे कम दस पांच नाम तो ऐसे अवश्य थे, जिनसे कि अन्य प्रान्त के लोग भी परिचित थे। खुद तिलक और नामजोशी का नाम यद्यपि इससे पहले ही विख्यात होचुका था, किन्तु इन दोनों का रानडे, मेहता, वाच्छा, गोखले, सेटलवाड, और खरे आदि से परप्रान्तीय लोकमत के अखाड़े में बाजी मार ले जाना असंभव ही था। क्यों कि तिलक को अपने पक्ष में लोकप्रसिद्ध व्यक्तियों का अभाव अभी २ तक जान पड़ता था, ऐसी दशा में सन १८९५ में उनकी दशा क्या होती इसे प्रथक् रूपसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। किम्बहुना यह कहना अनुचित न होगा कि उस समय के झगड़े से पहले अन्य प्रान्तों में तिलक की जो कुछ प्रतिष्ठा थी वह भी इससे किसी अंश में कम होगई। सारांश, बम्बई के मंत्रियों द्वारा बाज़ी को उलटती देख कर तिलक के लिए त्यागपत्र दिये बिना कोई दूसरा उपायहि न था, इसके बाद त्यागपत्र दे देनेपर तिलक क्या करते हैं, यही एक मात्र प्रश्न कितने ही के लिए कौतुक और कई एक के लिए चिंता का विषय हो रहा था।

उस समय तिलक की यथार्थ मनस्थिति क्या होसकती थी, इसकी हम अच्छीतरह कल्पना कर सकते हैं। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि वे उस समय हृदय से राष्ट्रीय सभा का अहित होने देना नहीं चाहते थे। किन्तु जब उन्होंने त्यागपत्र नहीं दिया था, तब सामाजिक परिषद् को मण्डप में होने या न होने देने के विषय में जो कुछ तटस्थ वृत्ति उन्होंने धारण कर रक्खी थी, वह दूर होकर

इन्हें विशेष रूप से सिद्ध था। किन्तु सामान्यतः मुल्की मामलों का फैसला कानून या दस्तावेजों के आधार की अपेक्षा अंतस्थ दरबारी प्रयत्नों के आधार ही विशेष अवलंबित होता है, यह एक मशहूर बात है, और इस अंतस्थ प्रयत्न के लिहाज से दाते की निपुणता भी विख्यात थी। इसी ज्ञानके बलपर इन्होंने कईएक कार्यों में सफलता प्राप्त कर बहुतसा धन भी कमालिया था। क्यों कि माफी कमेटी का सर्व दारमदार ही निश्चय था, अतएव माफी की जांच के लिए उस समय बहुतसी अर्जियां लिखी जाती थीं। इधर मुल्की विभाग की जबरदस्ती के कारण बहुतसे जागीर के गाँव जप्त हो रहे थे, और जागीर या माफीदार के धमपदी एवं अज्ञान होनेसे वे बर्षोंतक जप्ती में ही पड़े रहते थे। और उसकी आय की रकम बहुतसी इकट्ठी हो जाती थी। किंतु जप्ती के इस तालेमें श्रीधर विट्ठल की दांतेदार कुंजी लगते ही बाहरसे अर्जी और अन्दरूनी प्रयत्न से बांसियां धार यह खुलगया। और जब अमानतगुदा रकम के मिलने का मौका आता, तब दाते महाशय अपनी फीस की बहुत बड़ी रकम उसमें से पहले उठा लेते थे। अपनी तहसील के बड़ेकी हाळ नामक गाँव की जप्ती के विषय में उन्हें अर्जी लिखने और प्रयत्न करनेकी फीस एक लाख रुपये मिलने की बात कही जाती है। नई और पुरानी मिलिकयत से समृद्ध बनकर वे एक सुखी गृहस्थ की तरह पूने में आ बसे थे। मेहुणपुरे में इस समय जहां लोकसंग्रह प्रेस है, उस वाड़े को देखते ही लोग समझ सकते हैं कि इस में रहनेवाला व्यक्ति किस प्रकार का होगा। किंतु जब खुद दाते इसमें रहते थे, तब जिन्होंने उनकी वैभवसम्पन्न दशा देखी होगी, वही उनके विषय में सच्चा मत प्रकट कर सकता है।

दाते महाशय की देहयष्टी ऊंचाई में छह फुट से अधिक थी, और उनकी पगड़ी की ऊंचाई मिलाकर देखने से तो यही प्रतीत होता था मानों कपड़े के थान को सीरपर उठाकर कोई नाल पीर जा रहा है। जिस प्रकार उनके शरीर की लम्बाई थी, उसी प्रकार वे चौड़ाई और मोटाई में भी पूरे थे। उनके सिर पर की पगड़ी के समान मोटी और विशाल काय पगड़ी पूने भर में दूसरे किसी के पास नहीं थी। उनकी आवाज भी शरीर के अनुसार ही थी। चिंचूरकर के वाड़े के दर्वाजे पर से जैसे ही उन्होंने 'तिलक' को आवाज़ दी कि उस मकान का कोना कोना गूंज उठता था। उनकी भाषणपद्धति भी आवाज़ की तरह भर्राती हुई थी। उनके मुँह से किसके लिए क्या शब्द निकलेगा इसका कोई नियम ही न था। एकबार जैसे ही उनके मुँह से गालियां बरसना शुरू हुआ कि गालियां खानेवाले का साथी भी सुनते २ आश्चर्यचकित होजाता था। संभाषणात्मक अंग्रेजी बोलने की आदतें उन्हें बहुत थी और जैसे ही एकबार अंग्रेजी बोलना शुरू किया कि फिर वे घंटे

फैलगई थी। इसका वर्णन यदि एक ही शब्दके द्वारा यथार्थ रूप में किया जाय तो, यह कहा जा सकता है कि " ये महाशय हरएक बात में झगड़ा खड़ा करदेते थे "। यद्यपि ये महाशय ग्रेजुएट नहीं थे, किन्तु फिर भी इन्होंने अंग्रेजी की शिक्षा अच्छी तरह पाई थी। साथ ही अपनी बुद्धिमत्ता एवं पठन पाठन से इन्होंने उसे और भी बढ़ा लिया था। यद्यपि ये अंग्रेजी के सुलेखक या सद्वक्ता के नाते सम्बोधित नहीं किये जाते थे, क्यौंकि इनके लिखनेमें और बोलने सत्साहित्य का झलक नहीं देख पड़ती थी। इसी प्रकार सदभिरुचि और औचित्य के बंधन से भी वे मुक्त थे। किन्तु फिर भी लेखन और भाषण का प्रवाह इनका कभी न टूटता था। अर्थात् धाराप्रवाह लिखने या बोलने में ये सिद्ध-हस्त माने जाते थे। आरंभ में इन्होंने सरकारी नौकरी की, किन्तु कहा जाता है कि अन्तमें वे तहसीलदारी से अलग कर दिये गये थे। इसके लिए अन्यकारण भले ही कुछ हो, किन्तु मौक़ा पडनेपर ये साहब लोगों (अंग्रेजों) तक की पर्वाह नहीं करते थे। अर्थात् उन्हें मनमाने ढंगसे लिखने या उनसे संभाषण करनेकी आदत पड जानेके कारण ही कदाचित् ऐसा हो जानेका संभव है। अर्थात् इनकी उद्दंडता के विषय में लोगों का जो विश्वास था, उसके लिए केवल अंगरेज़ों के साथ इनका उद्दंडता युक्त वरताव किया जाना ही मूल कारण नहीं कहा जा सकता। क्यौंकि जनसाधारण सभी इनका वर्ताव इसी प्रकारका था। अधिकारी के नाते श्री. दाते की किसी नाठाळसे भेट हो जाने पर इनका वर्ताव उसके साथ ऐसा रहता था कि जिस में वह इन्हें अपने से सवाया समझकर चुप रहजाय। किन्तु इसके विरुद्ध यदि किसी अनुचित काम के करने की इच्छा हुई, तो लोकमत के विरुद्ध रहनेपर भी दाते उसे करके ही छोड़ते थे। अपने कार्य की सिद्धी के लिए आवश्यकता पड़ने पर सारे गाँव की मुश्कियां बांधने या सारे गाँव में आग लगा देनेतक से ये न चूकते थे। अथवा चाहे जिस मकान को रातभर में जमीदोस्त करके उसपर हल फिरवा देने और सबेरे जाकर यह पूछने से कि ' क्यों जी यह क्या हुआ ? ' ये महाशय कभी न चूक सकते थे। इसप्रकार दाते की ख्याति थी। कुशाग्रबुद्धि, एवं अप्रतिहत स्मरणशक्ति तथा सरकारी कागजपत्रों के उत्कृष्ट ज्ञान आदि के योग से मुलकी [दीवानी ?] वकालत करनेके लिये भी ये सर्वथैव योग्य थे। नौकरी से छूटने के बाद ये सरकारी विभाग के लिए अर्ज़ियां लिख देनेका काम करते रहते थे। इसके लिए इन्होंने क़ानून की भी थोड़ी सी जानकारी करली थी। इसलिए अब लोग इन्हें वकील के ही नाम से पहचानते भी थे। इनकी तैयार की हुई कुछ अर्जियां हमारे देखनेमें भी आई हैं। जिनसे पता लगता है कि उनमें कानूनी आधार की अपेक्षा पुरानी प्रथाएँ और दफ्तर के उदाहरनों के हवाले ही देने का हथकण्डा

इन्हें विशेष रूप से सिद्ध था। किन्तु सामान्यतः मुल्की मामलों का फैसला कानून या उदाहरणों के आधार की अपेक्षा अंतस्थ दरबारी प्रयत्नों के आधार ही विशेष अवलंबित होता है, यह एक मशहूर बात है, और इस अंतस्थ प्रयत्न के लिहाज़ से दाते की निपुणता भी विख्यात थी। इसी ज्ञानके बलपर इन्होंने कईएक कार्यों में सफलता प्राप्त कर बहुतसा धन भी कमालिया था। क्यों कि माफी कमेटी का कार्य हालमें ही निपटा था, अतएव माफ़ी की जांच के लिए उस समय बहुतसी अर्जियां लिखी जाती थीं। इधर मुल्की विभाग की जबरदस्ती के कारण बहुतसे जागीर के गाँव जप्त हो रहे थे, और जागीर या माफीदार के घमण्डी एवं अज्ञान होनेसे वे वर्षोंतक जप्ती में ही पड़े रहते थे। और उसकी आय की रक़म बहुतसी इकट्ठी हो जाती थी। किंतु जप्ती के इस तालेमें श्रीधर विट्ठल की दांतेदार कुंजी लगते ही बाहरसे अर्जी और अन्दरूनी प्रयत्न से बीसियां बार वह खुलगया। और जब अमानतशुदा रक़म के मिलने का मौका आता, तब दाते महाशय अपनी फीस की बहुत बड़ी रक़म उसमें से पहले उठा लेते थे। अपनी तहसील के बड़ेकी हाल नामक गाँव की जप्ती के विषय में उन्हें अर्ज़ी लिखने और प्रयत्न करनेकी फीस एक लाख रुपये मिलने की बात कही जाती है। नई और पुरानी मिल्कियत से समृद्ध बनकर वे एक सुखी गृहस्थ की तरह पूने में आ बसे थे। मेहुणपुरे में इस समय जहां लोकसंग्रह प्रेस है, उस वाड़े को देखते ही लोग समझ सकते हैं कि इस में रहनेवाला व्यक्ति किस प्रकार का होगा। किंतु जब खुद दाते इसमें रहते थे, तब जिन्होंने उनकी वैभवसम्पन्न दशा देखी होगी, वही उनके विषय में सच्चा मत प्रकट कर सकता है।

दाते महाशय की देहयष्टी ऊंचाई में छह फुट से अधिक थी, और उनकी पगड़ी की ऊंचाई मिलाकर देखने से तो यही प्रतीत होता था मानों कपड़े के थान को सीरपर उठाकर कोई नाल पीर जा रहा है। जिस प्रकार उनके शरीर की लम्बाई थी, उसी प्रकार वे चौड़ाई और मोटाई में भी पूरे थे। उनके सिर पर की पगड़ी के समान मोटी और विशाल काय पगड़ी पूने भर में दूसरे किसी के पास नहीं थी। उनकी आवाज भी शरीर के अनुसार ही थी। चिंचूकर के वाड़े के दर्वाजे पर से जैसे ही उन्होंने 'तिलक' को आवाज़ दी कि उस मकान का कोना कोना गूंज उठता था। उनकी भाषणपद्धति भी आवाज़ की तरह भरोती हुई थी। उनके मुँह से किसके लिए क्या शब्द निकलेगा इसका कोई नियम ही न था। एकबार जैसे ही उनके मुँह से गालियां बरसना शुरू हुआ कि गालियां खानेवाले का साथी भी सुनते २ आश्चर्यचकित होजाता था। संभाषणात्मक अंग्रेजी बोलने की आदतें उन्हें बहुत थी और जैसे ही एकबार अंग्रेजी बोलना शुरू किया कि फिर वे घंटे

आधा घंटे से पहले मुँह वन्द नहीं करते थे। फिर उसमें कितनी सच बाते होंगी और कितनी दंतकथा एवं कितने उद्धरण और प्रमाण रहेंगे इसके लिए कोई नियम नहीं बताया जा सकता। क्यों कि ये तिलक से अवस्था में बहुत बड़े थे, अतएव उनसे ये लड़के की तरह बरतते थे। अर्थात् तिलक जैसोंसे यदि कुछ कहना भी होता तो वे आज्ञा के ढंग पर कहते थे। उलटे-सीधे युक्तिवाद अथवा विवेकशील चर्चा तो मानों दाते जानते ही नहीं थे। उनके भाषण में जो बाते होती थी वे बहुधा इसी प्रकार सिद्धान्तमूलक होती थी कि 'अमुक बात होनी ही चाहिये और न हो तो भी अवश्य होनी चाहिये।' और कमसे कम उनके भारी जूते की ठोकर या भीमसेनी मुट्ठी के आघात की शक्ति से न होसकनेवाली कोई बात ही नहीं थी। बोलनेकी ही तरह उनका हँसना भी ठानवन्द घोड़े के हिनहिनाने जैसा था। जब तिलक उनके सामने खड़े होते और संभाषन जोरोंपर होने लगता तब देखनेवाले को यही प्रतीत होता था कि ये भीमसेन तिलक को बगल में दबाकर गाडी में डाल कहीं उठा तो नहीं ले जायँ गे? किन्तु वामनमूर्ति तिलक की योग्यता को दाते महाशय ही भलीभांति समझे हुए थे। इसीलिए वे तिलक के विषय में कहा करते थे कि "है तो अभी यह छोकरा ही, किन्तु तरवारबहादुर है।" आगे चलकर तो निकमी हालत में गप्पे ठोकनेके लिए तिलक का मकान दातेजीका एक अड्डासा बन गया था। और तिलक को भी लाचार होकर अपना बहुतसा समय इस काम में देना पड़ता था। यहांतक कि जी ऊब जाने पर भी इस महाशय को अप्रसन्न न करनेके विचार से संकोच कर उन्हें इनके पास बैठना पड़ता था। कभी २ वे तिलक को ही अपने यहां बुलवा लेते, और घूम-फिर कर लोगों को अपना घर दिखानेकी जो बुरी आदत कुछ लोगों में होती है, उसकी सनक सवार होने पर तलघर में जमा कर रखे हुए दस-बीस तरह के अचार-मुरब्बे के बर्तनों से लगाकर तिजोरी में रखे हुए सोने चांदी के ज़ेवर और हीरे मोती आदि सभी वस्तुएँ दिखलाकर वे तिलक को अपने ऐश्वर्य से परिचित करा देते थें।

किन्तु उनका यह ऐश्वर्यप्रदर्शन मंडप के विवाद में तिलक के लिए किसी अंशमें उपयोगी सिद्ध हुआ, वह इस प्रकार कि दाते महाशय जो भी महान् धर्मनिष्ठ नहीं थे, किन्तु फिरभी मंडप-वाद में उनका झुकाव नातूपक्ष की ही ओर रहा, अतएव मंडप में परिषद् न होनेदेने विषयक उनका मत भी धीरे २ सारे शहर में प्रकट हो गया। दाते के मिल जानेसे नातूपक्ष को बड़ी सहायता पहुँची। किन्तु फिर भी इस झगडे में दाते महाशय आरंभ में प्रकट रूपसे नहीं पड़े थे। किंतु जो उनके पंजे में फँसता उसीके सामने वे परिषद् के धुर्रे उड़ाया करते थे। फिरभी वे राष्ट्रीय सभा को जी जानसे सहायता करनेवालों में से नहीं थे। आगे

वर्किंग कमेटी में झगड़ा बढ़ गया और किसी एक पक्ष के ही हाथ में राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था सौंप देनेके चिन्ह दिखाई देने लगे। किन्तु इस बात का निश्चय तात्कालिक आर्थिक दृष्टि से कौनसा पक्ष अधिक योग्य है, इसका विचार किये बिना भी कम नहीं चल सकता था। क्यों कि केवल परिश्रम की दृष्टि से तिलक का पक्ष कमजोर नहीं था, किन्तु रुपये का सवाल सामने आनेपर उसे सहज ही में झुक जाना पड़ता था। यह हम पहलेही कह आये हैं कि बालासाहब नातू से जो कुछ सहायता मिल रही थी वह नाममात्र की और शुष्क ही थी, क्यों कि रुपये का सवाल सामने आतेही वे हजारो बहाने पेश करने लग जाते थे। तिलक जिन बाब महाराज को अपना नया मित्र बनाया था वे भी नाममात्र के ही श्रीमान थे, क्यों कि गत बारह वर्षोंसे दत्तक-संबंधी मुकदमें के कारण उन्हें भी लोगोंका देना होगया था। किन्तु फिरभी तिलक की ओरसे चाहे जितनी रकम का प्रामिसरी नोट लिखकर रखा जातेही वे अपनी उदार वृत्ति के अनुरूप उसपर हस्ताक्षर कर देनेमें जरा भी आगा-पीछा न देखते थे। किन्तु उनके भी प्रामिसरी नोट की इस समय साहूकारोंमें कोई कीमत नहीं रही थी। ऐसी दशा में वर्किंग कमेटी का झगड़ा लगभग इस मुद्देतक पहुँच गया कि राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था को अपने हाथमें लेनेकी जिस किसी पक्षकी इच्छा हो वह सभा को सफल बनाने की जमानत के तौरपर दस हजार रुपये पहले गिन दे। क्यों कि गोखले पक्ष में बड़े २ वकील, पेंशनर आदि व्यक्ति और रानडे जैसे की अप्रत्यक्ष जमानत रहनेके कारण वे जब चाहते तभी दसहजार रुपये गिन सकते थे। इसके विरुद्ध तिलक की ओर यद्यपि बहुजनमत अवश्य था किन्तु नगद दस हजार की रकम का कोई प्रबंध नहीं था। जब यहां रकम का सवाल तै होनेपर बात आगई तब तिलक बालासाहब नातू के पास यह रकम बतौर कर्ज के लेने गये, किन्तु उन्होंने यही जवाब दिया कि बिना पूरी तारण के हम कुछ भी नहीं दे सकते। इस कठिनाईमें फँस जानेपर तिलक को सहजभाव से दाते महाशयका स्मरण हुआ और उन्होंने सोचा कि तलघर में ले जाकर अपना ऐश्वर्य दिखलानेवाले इन महानुभाव में अपनी धनाढ्यता के ही समान धैर्य भी है या नहीं.इसकी परीक्षा करनी चाहिये। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि दाते महाशय इस साहस की परीक्षा में प्रथम श्रेणि में उत्तीर्ण हुए। एक दिन रातके वक्त तिलक और उनके मित्र वासुदेवराव जोशी मुट्ठी में जान लेकर असमय दाते के घर गये। क्योंकि इस तरह वे वक्त तिलक के आनेकी कभी संभावना न थी, अतएव उन्हें अचानक आया देख दाते को आश्चर्य होना स्वाभाविक ही था। किन्तु बातचीत होते २ जब तिलक ने यह रुपयेकी समस्या उनके सामने पेश की और कहा कि दस हजार गिन देनेपर ही राष्ट्रीय सभा अपने

आधा घंटे से पहले मुँह बन्द नहीं करते थे। फिर उसमें कितनी सच बाते होंगी और कितनी दंतकथा एवं कितने उद्धरण और प्रमाण रहेंगे इसके लिए कोई नियम नहीं बताया जा सकता। क्यों कि ये तिलक से अवस्था में बहुत बड़े थे, अतएव उनसे ये लड़के की तरह बरतते थे। अर्थात् तिलक जैसोंसे यदि कुछ कहना भी होता तो वे आज्ञा के ढंग पर कहते थे। उलटे-सीधे युक्तिवाद अथवा विवेकशील चर्चा तो मानों दाते जानते ही नहीं थे। उनके भाषण में जो बाते होती थी वे बहुधा इसी प्रकार सिद्धान्तमूलक होती थी कि 'अमुक बात होनी ही चाहिये और न हो तो भी अवश्य होनी चाहिये।' और कमसे कम उनके भारी जूते की ठोकर या भीमसेनी मुट्ठी के आघात की शक्ति से न होसकनेवाली कोई बात ही नहीं थी। बोलनेकी ही तरह उनका हँसना भी ठानबन्द घोड़े के हिनहिनाने जैसा था। जब तिलक उनके सामने खड़े होते और संभाषन जोरोंपर होने लगता तब देखनेवाले को यही प्रतीत होता था कि ये भीमसेन तिलक को बगल में दबाकर गाडी में डाल कहीं उठा तो नहीं ले जायँ गे? किन्तु वामनमूर्ति तिलक की योग्यता को दाते महाशय ही भलीभांति समझे हुए थे। इसीलिए वे तिलक के विषय में कहा करते थे कि "है तो अभी यह छोकरा ही, किन्तु तरवारबहादुर है।" आगे चलकर तो निकमी हालत में गप्पे ठोकनेके लिए तिलक का मकान दातेजीका एक अड्डासा बन गया था। और तिलक को भी लाचार होकर अपना बहुतसा समय इस काम में देना पड़ता था। यहांतक कि जी ऊब जाने पर भी इस महाशय को अप्रसन्न न करनेके विचार से संकोच कर उन्हें इनके पास बैठना पड़ता था। कभी २ वे तिलक को ही अपने यहां बुलवा लेते, और घूम-फिर कर लोगों को अपना घर दिखानेकी जो बुरी आदत कुछ लोगों में होती है, उसकी सनक सवार होने पर तलघर में जमा कर रखे हुए दस-बीस तरह के अचार-मुरब्बे के बर्तनों से लगाकर तिजोरी में रखे हुए सोने चांदी के ज़ेवर और हीरे मोती आदि सभी वस्तुएँ दिखलाकर वे तिलक को अपने ऐश्वर्य से परिचित करा देते थे।

किन्तु उनका यह ऐश्वर्यप्रदर्शन मंडप के विवाद में तिलक के लिए किसी अंशमें उपयोगी सिद्ध हुआ, वह इस प्रकार कि दाते महाशय जो भी महान् धर्मनिष्ठ नहीं थे, किन्तु फिरभी मंडप-वाद में उनका झुकाव नातूपक्ष की ही ओर रहा, अतएव मंडप में परिषद् न होनेदेने विषयक उनका मत भी धीरे २ सारे शहर में प्रकट हो गया। दाते के मिल जानेसे नातूपक्ष को बड़ी सहायता पहुँची। किन्तु फिर भी इस झगड़े में दाते महाशय आरंभ में प्रकट रूपसे नहीं पड़े थे; किंतु जो उनके पंजे में फँसता उसीके सामने वे परिषद् के गुरें उड़ाया करते थे। फिरभी वे राष्ट्रीय सभा को भी जानसे सहायता करनेवालों में से नहीं थे। और

चलकर वर्किंग कमेटी में झगड़ा बढ़ गया और किसी एक पक्ष के ही हाथ में राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था सौंप देनेके चिन्ह दिखाई देने लगे। किन्तु इस बात का निश्चय करतेसमय आर्थिक दृष्टि से कौनसा पक्ष अधिक योग्य है, इसका विचार किये बिना भी काम नहीं चल सकता था। क्यों कि केवल परिश्रम की दृष्टि से तिलक का पक्ष कमजोर नहीं था, किंतु रुपये का सवाल सामने आनेपर उसे सहज ही में झुक जाना पड़ता था। यह हम पहलेही कह आये हैं कि बालासाहब नातू से जो कुछ सहायता मिल रही थी वह नाममात्र की और शुद्ध ही थी, क्यों कि रुपये का सवाल सामने आतेही वे हजारो बहाने पेश करने लग जाते थे। तिलक जिन बाबा महाराज को अपना नया मित्र बनाया था वे भी नाममात्र के ही श्रीमान थे, क्यों कि गत बारह वर्षोंसे दत्तक-संबंधी मुकदमें के कारण उन्हें भी लोगोंका देना होगया था। किन्तु फिरभी तिलक की ओरसे चाहे जितनी रक़म का प्रामिसरी नोट लिखकर रखा जातेही वे अपनी उदार वृत्ति के अनुरूप उसपर हस्ताक्षर कर देनेमें जरा भी आगा-पीछा न देखते थे। किन्तु उनके भी प्रामिसरी नोट की इस समय साहूकारोंमें कोई कीमत नहीं रही थी। ऐसी दशा में वर्किंग कमेटी का झगडा लगभग इस सुहेतक पहुँच गया कि राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था को अपने हाथमें लेनेकी जिस किसी पक्षकी इच्छा हो वह सभा को सफल बनाने की जमानत के तौरपर दस हजार रुपये पहले गिन दे। क्यों कि गोखले पक्ष में बडे २ वकील, पेंशनर आदि व्यक्ति और रानडे जैसे की अप्रत्यक्ष जमानत रहनेके कारण वे जब चाहते तभी दसहजार रुपये गिन सकते थे। इसके विरुद्ध तिलक की ओर यद्यपि बहुजनमत अवश्य था किन्तु नक्द दस हजार की रक़म का कोई प्रबंध नहीं था। जब यहां रक़म का सवाल तै होनेपर बात आगई तब तिलक बालासाहब नातू के पास यह रक़म बतौर कर्ज के लेने गये, किन्तु उन्होंने यही जवाब दिया कि बिना पूरी वारण्य के हम कुछ भी नहीं दे सकते। इस कठिनाईमें फँस जानेपर तिलक को सहजभाव से दाते महाशयका स्मरण हुआ और उन्होंने सोचा कि तलपर में ले जाकर अपना ऐश्वर्य दिखलानेवाले इन महानुभाव में अपनी धनाढ्यता के ही समान धैर्य भी है या नहीं इसकी परीक्षा करनी चाहिये। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि दाते महाशय इस साहस की परीक्षा में प्रथम श्रेणि में उत्तीर्ण हुए। एक दिन रातके वक्त तिलक और उनके मित्र वासुदेवराव जोशी मुट्ठी में जान लेकर असमय दाते के घर गये। क्योंकि इस तरह वे वक्त तिलक के आनेकी कभी संभावना न थी, अतएव उन्हें अचानक आया देख दाते को आश्चर्य होना स्वाभाविक ही था। किन्तु बातचीत होते २ जब तिलक ने यह रुपयेकी समस्या उनके सामने पेश की और कहा कि दस हजार गिन देनेपर ही राष्ट्रीय सभा अपने

आधा घंटे से पहले मुँह वन्द नहीं करते थे। फिर उसमें कितनी सच बातें होंगी और कितनी दंतकथा एवं कितने उद्धरण और प्रमाण रहेंगे इसके लिए कोई नियम नहीं बताया जा सकता। क्यों कि ये तिलक से अवस्था में बहुत बड़े थे, अतएव उनसे ये लड़के की तरह बरतते थे। अर्थात् तिलक जैसोंसे यदि कुछ कहना भी होता तो वे आज्ञा के ढंग पर कहते थे। उलटे-सीधे युक्तिवाद अथवा विवेक शील चर्चा तो मानों दाते जानते ही नहीं थे। उनके भाषण में जो बातें होती थी वे बहुधा इसी प्रकार सिद्धान्तमूलक होती थी कि 'अमुक बात होनी ही चाहिये और न हो तो भी अवश्य होनी चाहिये।' और कमसे कम उनके भारी जूते की ठोकर या भीमसेनी मुट्ठी के आघात की शक्ति से न होसकनेवाली कोई बात ही नहीं थी। बोलनेकी ही तरह उनका हँसना भी ठानबन्द घोड़े के हिनहिनाने जैसा था। जब तिलक उनके सामने खड़े होते और संभाषन जोरोंपर होने लगता तब देखनेवाले को यही प्रतीत होता था कि ये भीमसेन तिलक को बगल में दबाकर गाडी में डाल कहीं उठा तो नहीं ले जायँ गे? किन्तु वामनमूर्ति तिलक की योग्यता को दाते महाशय ही भलीभांति समझे हुए थे। इसीलिए वे तिलक के विषय में कहा करते थे कि "है तो अभी यह छोकरा ही, किन्तु तरवारबहादुर है।" आगे चलकर तो निकमी हालत में गप्पे ठोकनेके लिए तिलक का मकान दाते-जीका एक अड्डासा बन गया था। और तिलक को भी लाचार होकर अपना बहु-तसा समय इस काम में देना पड़ता था। यहांतक कि जी ऊब जाने पर भी इस महाशय को अप्रसन्न न करनेके विचार से संकोच कर उन्हें इनके पास बैठना पड़ता था। कभी २ वे तिलक को ही अपने यहां बुलवा लेते, और घूम-फिर कर लोगों को अपना घर दिखानेकी जो बुरी आदत कुछ लोगों में होती है, उसकी सनक सवार होने पर तलघर में जमा कर रखे हुए दस-बीस तरह के अचार-मुरब्बे के बर्तनों से लगाकर तिजोरी में रखे हुए सोने चांदी के ज़ेवर और हीरे मोती आदि सभी वस्तुएँ दिखलाकर वे तिलक को अपने ऐश्वर्य से परिचित करा देते थे।

किन्तु उनका यह ऐश्वर्यप्रदर्शन मंडप के विवाद में तिलक के लिए किसी अंशमें उपयोगी सिद्ध हुआ, वह इस प्रकार कि दाते महाशय जो भी महान् धर्मनिष्ठ नहीं थे, किन्तु फिरभी मंडप-वाद में उनका झुकाव नातूपक्ष की ही ओर रहा, अतएव मंडप में परिषद् न होनेदेने विषयक उनका मत भी धीरे २ सारे शहर में प्रकट हो गया। दाते के मिल जानेसे नातूपक्ष को बड़ी सहायता पहुँची। किन्तु फिर भी इस झगडे में दाते महाशय आरंभ में प्रकट रूपसे नहीं पड़े थे। किंतु जो उनके पंजे में फँसता उसीके सामने वे परिषद् के धुर्रे उड़ाया करते थे। फिरभी वे राष्ट्रीय सभा को जी जानसे सहायता करनेवालों में से नहीं थे। आगे

हाथमें आसकती है । किन्तु यह रुपया मिले कैसे ? इन शब्दों को सुनतेही दाते ने पलभरका भी विलंब न कर उत्तर दिया कि, रुपयों की तजवीज होजायगी, आप तो सभा का हाथ आनेका प्रयत्न कीजिये । किन्तु रुपये तो नक्द होने चाहिये, इसका उपाय बतलाइये ? यद्यपि नातू के पास नक्द रोकड बहुतकुछ हैं, किन्तु वे उसके लिए तारन मांगते हैं । यह सुनतेही दातेने कहा कि तारन लो, जितना चाहो मैं दे सकताहूं । इसके बाद तत्काल वे जोशी और तिलक को लेकर तलघरमें गये और दस हजार से भी अधिक मूल्य के सोने और मोतीके जेवर का डिब्बा उठा कर बिना किसी रसिद के टुकडे के उन्होंने तिलक के हाथ में दे दिया । उस डिब्बे को दुपट्टे में छुपा कर तिलक और जोशी उस समय नातू के पास गये, और इस तरह वे दस हजार रुपये खडे होगये । तिलकने महाराष्ट्रीय जनता के लिए राष्ट्रीय सभा विषयं भ्रमनिवारणार्थ जो निवेदनपत्र प्रकाशित किया था, उसमें वर्तमान परिस्थिती की धाराओं में से एक इस प्रकार थी कि, "पूने का दस हजार का चंदा जो पक्ष चाहेगा वही दे सकेगा" । इसका असली आधार वही दाते महाशय की ओरसे आधी रातके समय मिलाहुआ जेवर का डिब्बा ही था ।

इस उदारता के कार्य से परिषद् के विपक्षियों मे यदि प्रमुख के नाते एकदम दाते महाशय की ख्याति हो गई हो तो आश्चर्य नहीं । क्यों कि नगर का प्रतिष्ठित व्यक्ति समझकर परस्पर समझौता करा देनेके काम में भी उनका उपयोग कर देखा जाने लगा । फलतः जब उन्होंने रा. ब. रानडे से भेट की, और उनसे इस बात के लिए वचन लेलिया कि हम मंडप में ही परिषद् करने की जिद्द ने पकडेंगे । इस तरह परिषद् अलग हो गई और दस हजार रुपये के बलपर कांग्रेस की व्यवस्था तिलक पक्ष के हाथ में आजाने के लक्षण दिखाई देने लगे । किन्तु इसी बीच बम्बई की स्टेंडिंग कमेटी ने बीच में पडकर सारी व्यवस्था सात मंत्रियों के हाथ में देने की योजना उपस्थित की । इसे तिलक की ओरसे स्वीकृति मिलते ही सारा मामला बदल गया । अर्थात् वर्किंग कमेटी स्थायी रूपसे सुधारकों के हाथ में चली गई और परिषद् को मंड़प से बहार करने विषयक रानड़े के दिये हुए आश्वासन को वापस कराने में उनके अनुयाइयों ने हरएक प्रयत्न से सफलता प्राप्त करली । इन सब कारणों से दाते महाशय को अपने अंतिम अस्त्र का उपयोग करना पड़ा । ता. १० नवम्बर को रे मार्केट के मैदान में एक विराट् सभा की गई । जिसमे कि उपस्थिति लगभग दस हजार के बतलाई गई थी । सभापति के स्थानपर डॉ. गद्रे की योजना होनेके बाद दो-एक प्रस्ताव भी स्वीकृत हुए । उनमे एक प्रस्ताव इस आशय का भी था कि " जब कि बंबई की कमेटी ने पूना के लोगों को एक ओर रखदिया है, तो उस दशा में पूने की राष्ट्रीय सभा एकपक्षीय ही कही जा सकती

"। मंडता सामाजिक परिषद् से राष्ट्रीय सभा को अपना संबन्ध सदैव के लिए तोड़ देना चाहिये। इस सभा में तिलक ने नाम मात्र के लिए भी भाग नहीं लिया था। किन्तु फिर भी इस सभा की अपूर्वता इसी एक बात से सिद्ध हो गई कि इसने श्रीधर विठ्ठल दाते ने मुख्य प्रस्ताव पर डेढ़ घंटे तक भाषण करके किसी को भी कहना नहीं छोड़ा। किन्तु उनके भाषण का मुद्दाभी गैर वाजिब नहीं था क्योंकि राष्ट्रीय सभा सब के ही लिए समान रूप से आदरणीय है। और उसके दरबारक रानडे भी पूजनीय है। अतएव यदि उनके अनुयाइयों के हाथ में भी सभा की व्यवस्था चली गई तो इसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु परिषद् को मंडप में करने विषयक वर्किंग कमेटी का हठ एकदम अनुचित है। क्यों कि इसमें अधिकारों का अतिक्रमण होता है। सुधारकों की प्रधानता रखनेवाली वर्किंग कमेटी पर पूने के लोगोंने केवल राष्ट्रीय सभा की बैठक के ही लिए विश्वास कायम किया है। किन्तु परिषद् को बहुजनसमाज के विरुद्ध यदि राष्ट्रीय सभा के मण्डप में होने देने में कमेटी ने अपने अधिकारों का उपयोग किया तो यह खुल्लम् खुल्ला विश्वासघात ही कहा जायगा। वर्किंग कमेटी के लोग जिस प्रकार सुधारप्रिय है, उसी प्रकार तिलक और हम भी हैं। अथवा अंग्रेज़ी शिक्षा की हवा खालेनेवाले सभी लोग सुधारक होते है। किन्तु सामाजिक परिषद् और उसके नेता जनसमाज में अप्रिय है। ऐसी दशा में जब कि लोग परिषद् के लिए मण्डप देनेके विरुद्ध हैं, तो फिर इन्हें ऐसा करनेका क्या अधिकार है? इ. "

किन्तु दाते महाशय के व्याख्यान का असली मर्म इस युक्तिवाद में नहीं था, बल्कि भाषण के प्रवाह में उन्होंने दहशत पैदा करनेवाली जो दो एक बातें कह दी थी, वही ध्यान देने जैसी थीं। उन्होंने कहा कि "यदि लोगों के विरुद्ध सभा की गई तो क्या वह राष्ट्रीय सभा कही जा सकती? और यदि उस में विरुद्ध मतवाले लोग गये तो क्या ये उन्हें वहांसे हटा सकेंगे? कभी नहीं! बल्कि इससे तो औरभी गड़बड़ मचेगी, राष्ट्रीय सभा में आग लग जायगी, और दयानंद सरस्वती के समयवाला प्रसंग आ उपस्थित होगा। क्योंकि सम्मति बिल को तो सरकार ने अपनी सत्ता के बलपर पास कर लिया है। किंतु पूने के सुधारकों की क्या मजाल है जो वे हमारे विरुद्ध जा सकें?–'इन्द्राय-तक्षकाय स्वाहा' की तरह यदि अपनी दशा कराना चाहें तो भले ही वे मनमानी कर सकते हैं। किंतु क्या इस बादशाही शहर में हम उन्हें ऐसा करने दे सकते हैं? सामाजिक परिषद् एक रोग के समान है। अथवा वह एक कुलंग कुत्ते के समान कही जा सकती है। इसे एकबार मण्डप से निकाल देनेपर अन्य साधारण जन का कष्ट दूर हो जायगा"। इत्यादि। क्यों कि दाते महाशय की कीर्ति एक तो वैसे ही सर्वत्र

हाथमें आसकती है। किन्तु यह रुपया मिले कैसे ? इन शब्दों को सुनतेही दाते ने क्षणमात्रका भी विलँब न कर उत्तर दिया कि, रुपयों की तजवीज होजायगी, आप तो सभा का हाथ आनेका प्रयत्न कीजिये। किन्तु रुपये तो नक्द होने चाहिये, इसका उपाय बतलाइये ? यद्यपि नातू के पास नक्द रोकड बहुतकुछ हैं, किन्तु वे उसके लिए तारन मांगते हैं। यह सुनतेही दातेने कहा कि तारन लो, जितनी चाहो मैं दे सकताहूं। इसके बाद तत्काल वे जोशी और तिलक को लेकर तलघरमें गये और दस हजार से भी अधिक मूल्य के सोने और मोतीके जेवर का डिब्बा उठा कर बिना किसी रसिद के टुकडे के उन्हींने तिलक के हाथ में दे दिया। उस डिब्बे को दुपट्टे में छुपा कर तिलक और जोशी उस समय नातू के पास गये, और इस तरह वे दस हजार रुपये खडे होगये। तिलकने महाराष्ट्रीय जनता के लिए राष्ट्रीय सभा विषय भ्रमनिवारणार्थ जो निवेदनपत्र प्रकाशित किया था, उसमें वर्तमान परिस्थिती की धाराओं में से एक इस प्रकार थी कि, "पूने का दस हजार का चंदा जो पक्ष चाहेगा वही दे सकेगा"। इसका असली आधार वही दाते महाशय की ओरसे आधी रातके समय मिलाहुआ जेवर का डिब्बा ही था।

इस उदारता के कार्य से परिषद् के विपक्षियों मे यदि प्रमुख के नाते एकदम दाते महाशय की ख्याति हो गई हो तो आश्चर्य नहीं। क्यौं कि नगर का प्रतिष्ठित व्यक्ति समझकर परस्पर समझौता करा देनेके काम में भी उनका उपयोग कर देखा जाने लगा। फलतः जब उन्होंने रा. ब. रानडे से भेट की, और उनसे इस बात के लिए वचन लेलिया कि हम मंडप में ही परिषद् करने की जिद्द ने पकडेंगे। इस तरह परिषद् अलग हो गई और दस हजार रुपये के बलपर कांग्रेस की व्यवस्था तिलक पक्ष के हाथ में आजाने के लक्षण दिखाई देने लगे। किन्तु इसी बीच बम्बई की स्टेरिंङ्ग कमेटी ने बीच में पडकर सारी व्यवस्था सात मंत्रियों के हाथ में देने की योजना उपस्थित की। इसे तिलक की ओरसे स्वीकृति मिलते ही सारा मामला बदल गया। अर्थात् वार्किंग कमेटी स्थायी रूपसे सुधारकों के हाथ में चली गई और परिषद् को मंडप से बहार करने विषयक रानडे के दिये हुए आश्वासन को वापस कराने में उनके अनुयाइयों ने हरएक प्रयत्न से सफलता प्राप्त करली। इन सब कारणों से दाते महाशय को अपने अंतिम अस्त्र का उपयोग करना पड़ा। ता. १० नवम्बर को रे मार्केट के मैदान में एक विराट् सभा की गई। जिसमे कि उपस्थिति लगभग दस हजार के बतलाई गई थी। सभापति के स्थानपर डॉ. गद्रे की योजना होनेके बाद दो-एक प्रस्ताव भी स्वीकृत हुए। उनमे एक प्रस्ताव इस आशय का भी था कि "जब कि बंबई की कमेटी ने पूना के लोगों को एक ओर रखदिया है, तो उस दशा में पूने की राष्ट्रीय सभा एकपक्षीय ही कही जा सकती

ह। अंततः सामाजिक परिषद् से राष्ट्रीय सभा को अपना संबन्ध सदैव के लिए तोड़ देना चाहिये। इस सभा में तिलक ने नाम मात्र के लिए भी भाग नहीं लिया था। किन्तु फिर भी इस सभा की चर्चा इसी एक बात से सिद्ध हो गई कि इसमें श्रीयुत विष्णु दाते ने मुख्य प्रस्ताव पर डेढ़ घंटे तक भाषण करके किसी को भी कसर नहीं छोड़ा। किन्तु उनके भाषण का मुख्यांश भी गैर वाजिब नहीं था क्योंकि राष्ट्रीय सभा सब के ही लिए समान रूप से आदरणीय है। और उसके उत्पादक रानडे भी पूजनीय है। अतएव यदि उनके अनुयाइयों के हाथ में भी सभा की व्यवस्था चली गई तो इसमें कोई बुराई नहीं है। किन्तु परिषद् को मंडप में ऐसे विषयक वर्किंग कमेटी का हठ एकदम अनुचित है। क्यों कि इसमें अधिकारों का अतिक्रमण होता है। सुधारकों की प्रधानता रखनेवाली वर्किंग कमेटी पर पूने के लोगोंने केवल राष्ट्रीय सभा की बैठक के ही लिए विश्वास प्रगट किया है। किन्तु परिषद् को बहुजनसमाज के विरुद्ध यदि राष्ट्रीय सभा के मण्डप में होने देने में कमेटी ने अपने अधिकारों का उपयोग किया तो यह शुद्धम् खुल्ला विश्वासघात ही कहा जायगा। वर्किंग कमेटी के लोग जिस प्रकार सुधारप्रिय है, उसी प्रकार तिलक और हम भी हैं। अथवा अंग्रेजी शिक्षा की हवा खानेवाले सभी लोग सुधारक होते है। किन्तु सामाजिक परिषद् और उसके नेता जनसमाज में अप्रिय है। ऐसी दशा में जब कि लोग परिषद् के लिए मण्डप देनेके विरुद्ध हैं, तो फिर इन्हें ऐसा करनेका क्या अधिकार है? इ."

किन्तु दाते महाशय के व्याख्यान का असली मर्म इस युक्तिवाद में नहीं था, बल्कि भाषण के प्रवाह में उन्होंने दहशत पैदा करनेवाली जो दो एक बातें कह दी थी, वही ध्यान देने जैसी थीं। उन्होंने कहा कि "यदि लोगों के विरुद्ध सभा की गई तो क्या वह राष्ट्रीय सभा कही जा सकती? और यदि उस में विरुद्ध मतवाले लोग गये तो क्या वे उन्हें वहांसे हटा सकेंगे? कभी नहीं! बल्कि इससे तो औरभी गड़बड़ मचेगी, राष्ट्रीय सभा में आग लग जायगी, और दयानंद सरस्वती के समयवाला प्रसंग आ उपस्थित होगा। क्योंकि सम्मति बिल को तो सरकार ने अपनी सत्ता के बलपर पास कर लिया है। किंतु पूने के सुधारकों की क्या मजाल है जो वे हमारे विरुद्ध जा सकें?—' इन्द्राय-तक्षकाय स्वाहा' की तरह यदि अपनी दशा कराना चाहें तो भले ही वे मनमानी कर सकते हैं। किंतु क्या इस बादशाही शहर में हम उन्हें ऐसा करने दे सकते हैं? सामाजिक परिषद् एक रोग के समान है। अथवा वह एक कुलंग कुत्ते के समान कही जा सकती है। इसे एकबार मण्डप से निकाल देनेपर अन्य साधारण जन का कष्ट दूर हो जायगा"। इत्यादि। क्यों कि दाते महाशय की कीर्ति एक तो वैसे ही सर्वत्र

ठेकी हुई थी, सभा में भी फिर उनका इस प्रकार ज़ोरदार व्याख्यान होगया। अब क्या पूछना था? सभा में इतनी नहीं थी कि उसके प्रस्ताव स्वीकृत होनेकी घोषणा करनेके लिए झांझ-नगाड़े पहले ही से लाकर रख दिये गये थे। फलतः प्रस्ताव स्वीकृत होने का 'बाजे बजाने' के लिए हाथ के इशारा देते ही बाजे की गड़गड़ाहट के साथ प्रस्ताव पास हो जाता। इस ढंग से जिस सभा का काम चल रहा हो, उस में अनियंत्रित आकर क्या कर सकता था? अंततः सभा से लौटते समय लोगों में यही चर्चा होता सुना गई कि, या तो राष्ट्रीय सभा में गड़बड़ मचेगी अथवा मण्डप में आग लगा दी जायगी, या फिर 'इंद्राय-तक्षकाय स्वाहा' का दृश्य दिखाई देगा। क्यों कि मण्डप अभी बनना शेष था। किन्तु कल्पनाप्रधान लोगों को यह अभी से जलता दिखाई देने लगा। लोग कहते थे कि, वैसे ही जब लोगों को पशु कहा जाता है, तो फिर यदि उन्होंने पशुओं की तरह वर्ताव किया तो इसमें आश्चर्य माननेकी क्या आवश्यकता है? कुछ दिनों बाद जब सभा के लिए मण्डप बननेकी शुरूआत हुई, तब ग्राते महाशय प्रतिदिन संध्या समय गाड़ी में बैठकर वहां जाते और जानबूझकर उन लोगों को चिढ़ानेके लिए कमरपर हाथ रख आसपास के लोगों से कहने लगते कि मंडप में 'आग लगानेके लिए यह जगह बड़े मौक़े की है'। क्यों कि सचमुच में आग लगानेवाला मनुष्य अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट नहीं करता है। किन्तु भयभीत व्यक्तियों को इस तरह की बातें सुनानेका फल भी क्या हो सकता था? पर इसके दो-एक सप्ताह पश्चात् तो यह विवाद ही मिट गया। अर्थात् सामाजिक परिषद् के मंत्री रा. ब. रानडे ने स्पष्ट शब्दों में प्रकट कर दिया कि हम अपनी परिषद् का अधिवेशन अन्यस्थान में करेंगे। किन्तु फिर भी राष्ट्रीय सभा के व्यवस्थापकों पर लोगों का जो अविश्वास होगया वह अभी तक क़ायम ही था, अतएव मंडप में आग लगा दी जानेविषयक भय उनके चित्त को सशंक ही बनाये हुए थे। इसी लिये उन्होंने आग बुझानेके साधनों की भी मण्डप के पास ही भली भांति योजना कर ली थी।

रीसेप्शन कमेटी से इस्तीफा देतेही तिलक ने अबतक के अपने किये हुए कार्य एवं जमाख़र्च का हिसाब तत्काल प्रकाशित कर दिया और इस तरह से कांग्रेस के कार्य से एकदम मुक्त होगये। किन्तु परिषद् को मण्डप से बाहर निकालनेका जो काम शेष रहा था उसकी खींच-तान और भी दो-एक सप्ताह चलती रही। इसी बीच तिलक ने आवश्यक निवेदनपत्र भेजकर बाहर के लोगों को सूचित करदिया था कि राष्ट्रीय सभा के लिए प्रतिनिधि चुननेको जो सभा की जाय, उसमें चुनाव केही साथ २ यह प्रस्ताव भी होना चाहिये कि सभा के मंडप में परिषद् न की जाय।

फलतः इस प्रकार के प्रस्ताव पास किये जाकर धड़ाधड़ वर्किंग कमेटी के पास भेजे जाने लगे। इधर वर्किंग कमेटी ने "राष्ट्रसभा समाचार" के नामसे एक बुलेटिन (अस्थायी पत्र) निकाल कर उसे ज्ञानप्रकाश के साथ बाँटना शुरू किया, जिसमें कि उसने अपने पक्षका खुलासा लोगों के सामने पेश करनेका प्रयत्न किया था। इसी प्रकार परिषद्के मंत्री रा. व. रानडे ने अन्य प्रान्तों से सम्मति प्राप्त करनेके लिए जो पत्र भेजे थे, उनके उत्तर अथवा स्वतंत्र सन्देश के रूप में भी पत्र आने लगे थे। उनमें भी यही सलाह मिलती थी कि यदि परिषद् को मंडप में करनेकी ज़िदसे राष्ट्रीय सभा में ही विघ्न उपस्थित होनेकी संभावना है तो इस आग्रह को बिना विलंब के छोड़ देना चाहिये। लंदनटाइम्स, अमृतबाजार पत्रिका, इंडियन नेशन, हिन्दू पेट्रियट, होप, पॉवर, नॅशनल गार्डियन, हिन्दू [मद्रास] प्रभृति पत्रों ने भी इसीके लिए हो हल्ला मचाया था, और दातेने आम सभा में व्याख्यान देते समय उनमें के कुछ उद्धरण भी पढ़ सुनाये थे। इस तरह बंगाल के 'इंडियन मिरर' नामक पत्र को छोड़ कर और कोई भी मंडप में परिषद् जाने-का समर्थन नहीं कर रहा था। स्थान २ के शास्त्री और विद्वान् लोग तो मूलतः जब परिषद् के ही विरोधी थे, तो फिर ये उसे मण्डप में न होने देनेके विरुद्ध होंगे या नहीं, यह बतलानेकी ही आवश्यकता नहीं रह जाती। कई स्थानों में राष्ट्रीय सभा के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव होता देख, सामाजिक परिषद् के लिए मुख्तार चुनकर उसका राष्ट्रीय स्वरूप व्यक्त करनेका भी प्रयत्न किया गया। किन्तु वह व्यर्थ ही था। क्यों कि छोटे २ गाँवों में तो परिषद् को कोई पूछता ही न था, किन्तु शहरों में भी कहीं किसी कोठरी या बरामदे में इनेगिने लोग इकट्ठे होकर अथवा वातावरण अनुकूल न होनेसे कहीं २ दर्वाजे बन्द करके भी इस चुनाव के लिए सभाएँ की जाने लगीं। क्योंकि सुधारक लोग पशुओं में से चतुर अथवा घूड़ेपर पड़े हुए हीरे के समान कहे जाते थे, और इस विशेषणों को कोई प्रशंसा के अर्थ में लगा लेता था तो कोई निंदा के। किन्तु इस प्रकार के विवाद कहीं खून का छिटा लगे विना मिट नहीं सकते थे, फलतः पूने में इसका प्रयोग होगया। ता. २३ नवम्बर को न्यू इंग्लिश स्कूल के अध्यापक और सुधारकपत्र के तात्कालीन सम्पादक वासुदेव बलवंत पटवर्धन आदि जब 'हेम्लेट' का खेल देखकर पिछली रातको लोट रहेथे, तब अचानक किसीने उनपर लाठी चलाई, और उससे उनके सिरपर थोड़ासा जख्म भी होगया। यद्यपि लाठी चलानेवाले का पता न लगा सका, किंतु सुधारक पक्ष का सन्देह तो तिलक पार्टीपर ही था। फलतः कुछ समय के लिए लोगों की ज़बान पर यही चर्चा रहने लगी। इस घटनापर से सुधारक लोग खुल्लमखुल्ला कहने लगे कि आज यदि एकके सिर में लाठी लगी है तो कल

अवश्यही मण्डप में भी आग लगा दी जानेका संभव है। आगे क्या होता यह तं ईश्वर ही जाने, किन्तु श्रीधर विठ्ठल दाते के भीतिप्रद व्याख्यान और वासुदेवराव पटवर्धन के सिर में लगी हुई चोंट से लोकमत काँप अवश्य गया। कुछ भी सम झिये, किन्तु इस बातसे रहे सहे आग्रह के भाव भी दूर होगये, और परिषद को मण्डप से हटना ही पड़ा।

ता. २८ नवम्बर को रा. ब. रानडे ने तारद्वारा यह सूचित किया कि सामाजिक परिषद् के लिए इस बार राष्ट्रीय सभा का मण्डप न मांगने का ही हमने निश्चय कर लिया है। बस फिर क्या देर थी? तत्काल ही तो केसरी ने अतिरिक्त अंक निकाल कर महाराष्ट्र भर में यह खबर पहुँचा दी। स्टेंडिंग कांग्रेस कमेटी के अधीनस्थ बीस कमेटियों की ओरसे परिषद् के लिए अनुकूल सम्मति मिली थी, और दसने समझौते के लिए सिफारिश की थी। किन्तु प्रत्येक स्थान की कांग्रेस कमेटियां रानडे के अनुयाइयों के ही हाथ में थी अतएव रानडे जानते थे कि इनका बहुमत निरुपयोगी है। इसी लिए अन्त में सर्वसाधारण लोकमत को मान देकर उन्होंने परिषद् को मण्डप से बाहर लेजानेका ही निश्चय कर लिया। इस निर्णय का श्रेय कइएक कारणों को भलेही दिया जा सकता हो, किन्तु उसके सबसे अधिक हिस्सेदार राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ही थे। उन्होने पूना की वार्किंग कमेटी को स्पष्ट शब्दों में लिख दिया था कि "सुधारवादी मै भी हूं, किन्तु परिषद् के विषय में लोकमत पर ध्यान देना परमावश्यक है। अतएव यदि आप मुझे अपने यहां की सभा का अध्यक्ष बनाना चाहते हों तो मेरे पूना आनेसे पूर्व ही ये सब झगडे शांत हो जाने चाहिये"। इस आखिरी और स्पष्ट सूचना को पढते ही रानडे को अपना आग्रह (हठ) छोड देना पड़ा। कहा जाता है कि परिषद् को मण्डप से हटानेकी सूचना सुरेन्द्र बाबू के पास (तारद्वारा) भेजते समय रानडे को बहुत बुरा लगा। क्यौं कि आठ वर्षों से होती आनेवाली परिषद् को इस बार प्रथमतः अपने शहर में ही अलग करनेका प्रसंग आना सचमुच ही दिल को दुखाने जैसी बात थी। किन्तु लोग कहने लगे कि जब केवल आठ वर्षों से चले हुए नियम को बदलनेमें ही तुम्हें इतना दुःख होता है तो फिर सैंकडो वर्षों से चले आते हुए रीति-रिवाजों को तोडने मे लोगों को कितना दुःख होता होगा? क्यौंकि परिषद् में केवल सूचनाएँ नहीं की जाती, बल्कि समाजपर अत्यंत कडे शब्दों में टीका-टिप्पणी भी की जाती है। अतएव इस प्रकार की अप्रिय परिषद् को लोगों की सर्वाधिक प्रिय राष्ट्रीय सभा के मण्डप में करनेका हठ धारण करना ही बहुत बडी भूल है। तो फिर इसे दुरुस्त करने में इतना दुःख क्यौं होता है?

इस तरह अंत में तिलक पक्ष की ही जीत हुई। किन्तु यहां हमें स्मरण रखना होगा कि तिलक ने इसका दुरुपयोग कभी नहीं किया। हां, तो तिलक की ही तरह नामू पक्ष की भी इच्छा पूर्ण हो गई। किन्तु राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था अपनी सुधारकों के ही हाथ में थी, अतएव इस बात से रूठकर नामू पक्ष ने चंदा देनेके काम से बहुत कुछ हाथ खींच लिया। किन्तु तिलक ने अपना यही पुराना ध्येय कायम रखकर लोगों से कहना शुरू किया की अभिप्रता का मूल ही जब तोड़-कर दूर करदिया गया है, तो अब सभी प्रकार के लोगों को आगे बढ़कर सुबे हमें राष्ट्रीय सभा को सफल बनानेके लिए सहायता देनी चाहिये। क्यों कि "राष्ट्रीय सभा का काम यदि 'अ'ने किया तो क्या, और 'ब'ने किया तो क्या? हमारे लिए दोनों ही समान है। अतएव इसके लिए हठ धारण करना ही व्यर्थ है। और कमसे कम यह समय तो हठ धारण करनेके लिए कभी उपयुक्त हो ही नहीं सकता। क्यों कि सभा होनेमें अब दो तीन सप्ताह की ही देर है, अतएव उनके हठ को छोड़कर अपने शहर का नाम रखनेके लिए कमर कसना चाहिये, और वर्तमान प्रबंधक-समिति को अपनी ही समझकर सब प्रकार उसकी सहायता करनी चाहिये।" इसे उपदेशानुसार उनके हाथों संग्रह हो सकने योग्य २५०० रुपये का चंदा उन्होंने इकट्ठा करके भेज भी दिया। इसके बाद भी वर्किंग कमेटी में उभय पक्षों के समसमान सदस्य रखे जाकर दोनों पक्ष एकमतसे सभा का काम कर सकते थे। किन्तु अपने पराभव के कारण वर्किंग कमेटी असंतुष्ट हो रही थी, अतएव तिलक की ओरसे उपर्युक्त प्रकार से सहायता का उपदेश किया जाते एवं प्रत्यक्ष सहायता देने पर भी उसने अपना काम एकतर्फा ही चलाया।

किन्तु इस तरह एकतर्फा काम चलाने पर भी अंतमें पूना की राष्ट्रीय सभा ठाट-बाट के साथ ही सम्पन्न हुई। क्यों कि सभा के अध्यक्ष सुरेन्द्रनाथ बनर्जी से तिलक ने शुरूसे ही सूत मिला रक्खा था, और उन्हें पत्र लिखकर पूने की असली दशा उचित समय पर सूचित कर दी थी। इसीलिए इन्होंने इस सूचना पर से वर्किंग कमेटी के झगड़े तोड़नेका सुरेन्द्रबाबू ने अनुरोध किया था। क्यों कि सभापतिजी वर्किंग कमेटी के मेहमान थे, अतएव उनका सब प्रकार सत्कार करना तो कमेटी का कर्तव्य ही था। किन्तु तिलक ने व्यवस्थापक मंडल से अलग रहते हुए भी अपने पक्ष की विशिष्टता कायम रखनेके लिए सभापति के सत्कारादि के विषय में पूरी २ सावधानी रक्खी थी। क्यों कि सुरेन्द्रबाबू के पूना आनेपर उनका जो स्वागत होनेवाला था, वह स्वागतसमिति की ओर से ही होता, किन्तु इससे पहले ही अपने पक्ष की ओरसे उनका स्वागत करनेकी तिलक ने एक योजना करली थी। क्योंकि अध्यक्ष महाशय को मनमाड स्टेशनपर उतरकर दौंड होतेहुए

पूना आनेके लिए सूचित किया गया था, तदनुसार वे दौंड स्टेशनपर आकर अपने डिब्बे में सो रहे थे। उनके स्वागत के लिए गोखले भी रात की गाड़ी से दौंड पहुँचे। किन्तु सुरेन्द्रबाबू को सोते देखकर वे स्टेशनपर ही एक ओर उनके जगने की प्रतीचा में बैठ रहे। इधर तिलक ने अपने भानजे धोंडोपंत विद्वांस को पत्र देकर पहले ही दौंड भेजदिया था। फलतः उन्होंने भी धीरेसे जाकर सुरेन्द्र-बाबू के जगकर गाड़ी का दर्वाजा खोलते ही उनके हाथ में तिलक का पत्र देदिया। इस तरह इस कौतुकयुक्त हुल्लड़ में तिलक ने बाजी मारली। इसके बाद जब गोखले ने आकर देखा तो सुरेन्द्रबाबू के हाथ में तिलक का पत्र मौजूद था। सभा-पति का स्वागत कमेटी की ओर से करनेके लिए पूना स्टेशन पर बहुत कुछ तैयारी हो चुकी थी। किन्तु तिलक, नातू एवं बाबामहाराज प्रभृति ने पहले ही हडपसर स्टेशनपर पहुँचकर वहीं सभापति का स्वागत एवं इत्रपान कर दिया। सारांश, तिलक की चतुराई से अध्यच्च महाशय के हाथ में सबसे पहले उन्ही का पत्र पहुँचा। और स्वागत–समारंभ भी सबसे पहले तिलक पच्च की ही ओरसे हुआ। क्यों कि तिलक ने अपने भानजे के हाथ जो पत्र भेजा था उसमें हडपसर स्टेशनपर इत्रपान की योजना का उल्लेख कर दिया था। अर्थात् ये दोनों योज-नाएँ एकसाथ ही तिलक को सूझीं; और उनके अनुसार सब बातें भी अचूक पूरी होगई। इसी प्रकार राष्ट्रीय सभा के दूसरे ही दिन संध्या समय पांच बजे रे–मार्केट के मैदान में श्री. पंतप्रतिनिधि की अध्यच्चता में तिलक ने शिवाजी–स्मारकफण्ड के लिए विराट् सभा का आयोजन किया, और उस में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पं. मदनमोहन मालवीय आदिसे व्याख्यान भी दिलवाये। क्योंकि स्मारक आन्दोलन के मंत्री तिलक ही थे, और उससे सुधारकों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था, इस दृष्टि से विचार करनेपर तिलक और सुरेन्द्रबाबू का यह निकट स्नेहसंबन्ध लोगों के चित्त को मुग्धकर रहा था। और सुधारक लोग इसे देखकर मनमसोस रहे थे। किन्तु इतनेही से काम न चल सका। फलतः इस सभा में से उठकर सब लोग वहींसे सीधे पेटिट के "ईगल्स नेस्ट" [चील का घोंसला] नामक बँगले पर गये, जहां कि श्री. बाबा महाराज की ओरसे राष्ट्रीय सभा के प्रति-निधियों को गार्डनपार्टी दी गई थी। इस आयोजन के कर्ताधर्ता भी तिलक के मित्र ही थे, अतएव इसमें भी तिलकपच्च ने ही मौका साध लिया। इस तरह तिलक ने राष्ट्रीय सभा के मंत्री न रहते हुए भी एक ओर से परिषद् को मण्डप से बाहर निकलवा दिया, और दूसरी ओर सभापति का स्वागत–सम्मान करके अपने पच्च का महत्त्व भी परप्रांतीय नेताओं के चित्तपर जमा दिया। सामाजिक परिषद् के लिए मंडप से अलग और बहुतही दूर अर्थात् इस समय जहां फर्ग्यू-

सन कॉलेज का क्रिकेट मैदान है वहां की जगह खोद—काटकर साफ की गई, और वहां शामियाना खड़ा किया गया था। अतएव वहां उसका काम भी यथा-नियम समाप्त हुआ। किन्तु परिषद् में उन्हीं लोगों को आने दिया जाता था, जो कि टिकिट पास में रखते थे। और टिकिट भी आदमी को देख परखकर दिया जाता था। इस तरह वहां पक्का प्रबंध किया गया था।

इस बार भी सामाजिक परिषद् में न्या. रानडे का मंडप-वाद सम्बन्धी बड़े ही महत्त्व का भाषण हुआ। उनका किया हुआ स्पष्टीकरण इस आशय का था कि "बम्बई, कलकत्ता, लाहौर, नागपुर, मद्रास, इलाहाबाद इतनी जगहों में से कहीं भी इस तरह का झगड़ा नहीं मचा। तो फिर वह पूने में ही क्यों हुआ? यह ठीक है कि पूना भी अन्य शहरों की बराबरी करता है, अतएव इसके लिए हम सब के चित्त में अभिमान है। इसी लिए मेरा अनुमान था कि जो बात पूने में हुई वह नहीं होनी चाहिये थी, किन्तु वह तो होकर ही रही। बाहर के कई स्थानों से पत्र और तार भी आये। क्यों कि लोगों को यह वाद व्यक्तिविषयक प्रतीत हुआ था, किन्तु असल में बात ऐसी नहीं थी। दस बारह व्यक्तियों के इकत्रित होनेपर भी मतभेद उत्पन्न होही जाता है, और इस प्रकार के व्यक्तिगत मतभेद तो संसार का अंत होनेतक भी नहीं मिट सकते। पूना की तरह अन्यत्र भी पक्षभेद विद्यमान है। अर्थात् एक की ओरसे दूसरे को बुराभला कहा जाना, और उसके विषय में लोकमत को बिगाड़ देना, सर्वत्र ही प्रचलित है। किन्तु इस सामान्य स्पष्टीकरण से इस प्रसंगपर समाधान नहीं हो सकता। तो फिर क्या यह कहा जाय कि मण्डप में परिषद् होने देने जैसी साधारण सी बात के लिए केवल झूठ हठ के लिए-दोनों ही पक्ष के पढ़े लिखे लोग इतने पागल होगये थे? नहीं; क्योंकि, इसके लिए कई एक कारण बहुत ही गहरे हैं। अन्य स्थानों में जो काम करनेका धैर्य लोगों में न था, उसे पूने के लोगों ने दिखा दिया, यह बात भी मुझे उचित नहीं जँचती। इसी लिए सचा कारण तो मुझे यह जान पड़ता है कि समाज-सुधारका विकट प्रश्न हल करनेकी इसी एक देश में अनेक रीतियां प्रचलित हैं। बंगाल में समाज-सुधारकों ने ब्रह्मसमाज के नामसे एक स्वतंत्र दल ही खड़ा कर लिया है। किन्तु अकेले ईश्वरचंद्र विद्यासागर को छोड़ कर इस समाज में एक भी सचा समाज-सुधारक न निकला होगा। पर इससे एक सिरेपर कालीके उपासक अर्थात् पुराने मत के अनुयायी वयोवृद्ध जनसमाज, और दूसरी ओर ब्रह्मसमाजिस्ट अर्थात् एकदम नये मत के लोग, इस प्रकार दो सर्वथा पृथक् वर्ग निर्माण होगये। और वे भी यहांतक कि एक वर्ग का दूसरे से किसीभी प्रकार का संबन्ध नहीं रहा। जिस प्रकार बंगाल में ब्रह्मसमाज है लगभग उसी प्रकार पंजाब में आर्यसमाज का

ज़ोर है। किन्तु सामाजिक परिषद् का मूल उद्देश्य प्राचीन समाज-परम्परा की निसैनी छोड़कर पीठ पर पाँव रखते हुए दीवार फांदने का नहीं है। क्यों कि पुराणमतवादिता एक शक्ति है। जोकि भुलाई भी नहीं जा सकती, और निकम्मी भी नहीं बतलाई जा सकती। नया ही धर्मपँथ बनाकर उस पर नई सामाजिक रचना करना एक अलग बात है, किन्तु इसी प्रकार के और भी कई मार्ग हैं, जो निकम्मे नहीं कहे जा सकते। अतएव जबतक सब को एक ही मार्ग स्वीकार नहीं होता, तबतक सब को पृथक् रूप में भी सहयोग करना चाहिये। हमारे प्रान्त की विशेषता यह है कि बंगाल की तरह प्राचीन समाज से मुँह तोड़ बरताव करके या उसके साथ विद्रोह कर हम सुधारक लोग काम नहीं करते हैं। क्योंकि हमारे यहां सभी रीतियों का उपयोग एक साथ किया जाता है। और जहांतक हो सकता है जातियों के ही द्वारा हम सुधार कराते हैं। मौक़ा लगने पर शंकराचार्य को अपने पक्ष में मिलाकर आज्ञापत्र प्राप्त करनेका यत्न करते हैं। आवश्यकता जान पडनेपर शपथपत्रिका पर हस्ताक्षर करके स्वयंनिर्मित बंधन के द्वारा प्रगति कर देखते हैं। इसी प्रकार जब ज़ुरूरत होती है तब कोई २ क़ानून की ओरभी दौड लगाने लगता है। किन्तु बंगाल की तरह हम सुधारक लोग अपनी अलग जाति या नया धर्म या साम्प्रदाय नहीं बना रहे हैं। इस प्रान्त के सुधारकों का मार्ग अधिकांश लोगों को अनिश्चित, स्वच्छ और असम्बद्ध नहीं जान पडेगा। किन्तु यह निर्बलता नहीं बल्कि प्रधान शक्ति है। सुधारक और पुराणमतवादी एक ही छावनी में रहकर मार्गक्रमण कर रहे हैं, इसीसे तो पूने में झगड़े हुए। अलगसुभा निर्माण कर शुरू से वाद उत्पन्न होने ही न देना सरल कार्य था। किन्तु हमें तो उस मार्ग का ही अवलंबन नहीं करना था। इसी प्रकार व्यक्तिगत द्वेष और लोकसंभ्रम से भी पूना बचा हुआ नहीं था। किन्तु झगड़े का मूल कारण ही यह नहीं था। हां, इसने विवाद बढ़ाने में सहायता अवश्य दी। पर अन्य स्थानों में न हो सकनेवाला झगड़ा खड़ा होनेकी जड़ यही थी कि हम एकत्र रहकर ही अपनी २ दृष्टि से प्रगति करना चाहते हैं।"

अंत में मण्डपवाद सम्बन्धी एक बात का उल्लेख करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। वह यह कि लोकमत या लोकशक्ति का 'ब्रूट फोर्स' अथवा "पाशवी शक्ति" के निंदाव्यंजक नामसे गोपालराव गोखले ने एक सर्क्यूलर में उल्लेख किया था, उसपर एक मनोरंजक विवाद खड़ा होगया था। यद्यपि यह विवाद किसी अंशमें शुष्क अवश्य था, किंतु इस समय वह तिलक के लिये लाभकारी था। अतएव उन्होंने उसकी शुरूआत की, और उसमें भी गोखले ने जब सेल्बीसाहब के पास जाकर शब्दार्थ के लिए पूछताछ की तो यह विवाद मुफ्त में बढ़ गया।

गोखले का मूल आशय इस आशय का था कि तिलक पूने में 'मूट फोर्स' की सहायता से अपना कथन सत्य सिद्ध कर दिखाना चाहते हैं। फलतः तिलक ने तत्काल ही इस शब्द प्रयोग पर चर्चा शुरू करके जनता के सामने यह फरियाद पेश की कि गोखले लोकमत को पशु-बल कहते हैं। यह बात निःसन्देह कही जा सकती है कि 'मूट' शब्द का अर्थ पशु या जानवर ही होता है। किंतु 'मूट फोर्स' का अर्थ 'पाशवी शक्ति का प्रयोग' करना क्या वक्ता और कर्ता दोनों के लिए 'जानवर' कहने के रूप में गाली देने जैसा हो सकता है, यही एकमात्र झगड़े का सवाल रह जाता है। क्योंकि लोकमत कहनेसे केवल सुशिक्षितों का ही मत नहीं समझा जा सकता; उस में अशिक्षितों के मत का भी समावेश हो जाता है। किंतु अशिक्षित होनेके कारण लोगों को पशु बतलाना उनका अपमान करनेके समान है, यही एक मात्र स्पष्टीकरण तिलक की ओरसे किया जाता था। क्योंकि जिस प्रकार 'लोक' शब्द की कोई *निश्चित व्याख्या नहीं हो सकती उसी प्रकार* 'सुशिक्षित' का अर्थ भी निश्चित नहीं है। लोक शब्द का उच्चारण करनेसे जिस प्रकार उसमें समाज के स्तर ठेठ नीचेतक एक दूसरे से संलग्न रहते हैं, उसी प्रकार सुशिक्षितों में भी एक से एक अधिक विद्वान के रूप में अनेकानेक सिढ़ियाँ होती हैं। अर्थात् 'लोक' कहने सब से अधिक विद्वान् का अर्थ भी नहीं लगाया जा सकता और न सबसे अधिक अज्ञ का ही आशय लिया जा सकता है। लाखों रुपये का व्यापार करनेवाले लोग अशिक्षित होनेसे गधे, और लार्ड बेकन की दो एक पुस्तके पढ़लेनेवाले ऐनकधारी मेजुएट मात्र विद्वान कैसे *सिद्ध हो सकते हैं?* ता. १९ नवम्बर के अंक में केसरी लिखता है कि "केसरी जन्मतः पशुओं का राजा होनेसे उसे तेली-तम्बोली अथवा व्यापारी आदि को जानवरों में मिलाते कुछ भी तुच्छता या लज्जा नहीं जान पड़ती। किम्बहुना यही जानवरों को ही वह अपनी शक्ति समझता है। फिर भलेही अंग्रेजी विद्याके कारण चार्वाक अथवा वृथाभिमानी बनजानेवाले लोक कुछभी कहते रहे।"

लोगों को जानवर कहदेने के आरोप पर गोखले मनहीमन बहुत पछताये। *सिवाय इसके सारागाँव उनपर पहले ही से बिगड़ी बैठा था।* उस में भी जब यह बात मालूम हुई कि सुधारकों ने जानवर कहा है, तब तो फिर पूछनाही क्या था। फलतः अब यह समस्या उपस्थित हुई कि इस झगड़े का फैसला कैसे हो? क्योंकि झगड़े की जड़ था अंग्रेजी शब्द का प्रयोग। अतएव तिलक का शब्दार्थ मिथ्या सिद्ध होनेपर यह दर्शाकर मामला *उलटाया जा सकता था कि उन्होंने* जान बूझकर लोगों को भ्रममें डालनेके लिए ही ऐसा किया है। फलतः गोखले ने अपने दस्तख़त से निकला हुआ सरक्यूलर देकन कॉलेज के प्रिंसिपाल सि.

सेलवी के पास भेजकर इस बात के लिए सम्मति मांगी कि ब्रूट फोर्स का जो अर्थ तिलक ने किया है, वह ठीक है या नहीं। इस पर सेल्वी साहब ने अपना मत इन शब्दोंमें लिख भेजा कि:—" To say that in attributing to certain people a design to carry their measures by ' brute force ' you intended to call them brutes is non-sense " किन्तु इससे भी गोखले का पक्ष समर्थन विशेषरूप से नहीं हुआ। ' ब्रूट फोर्स ' शब्दप्रयोग में ब्रूट का वाच्यार्थ जानवर न करके उसके स्थानपर लक्षणासे अंधाधुन्द शरीर बल, अथवा केवल शिरगणती का बल, अथवा अशिक्षित लोकसत्ता का बल भी निःसन्देह हो सकता है, तथापि शब्दार्थ केवल लक्षणारूढ हो जानेसे मूल शब्द के उच्चारण करनेपर चित्त में उत्पन्न होनेवाले सभी विचार लुप्त नहीं होसकते। और उस में के कुछ विचार यदि निन्दाव्यंजक हो तो इस जबरन् इस बात का आरोप से किया जाने पर भी शब्द प्रयोगकरनेवाला बच नहीं सकता कि इस में उसे किसी अंश निंदा अभिष्ट थी। यह पूछनेवाले से कि 'ब्रूट–फोर्स'का अर्थ 'जानवर' ही क्यों किया जाता है, बदले में यह प्रश्न किया जा सकता है कि इस शब्द का प्रयोग करने समय तुह्मारे चित्त में निंदा का भाव नहीं था, इसका प्रमाण क्या दे सकते हो? क्यों कि यदि पाशवी शक्ति का अर्थ अशिक्षित लोकमत ही तुह्में अभीष्ट था तो इसके बदले "opinion of uneducated people " का सरल एवं निर्विवाद प्रतिशब्द क्यों नहीं लिखा? तात्पर्य; गोखले ने पहले तो आक्षेप-जनक शब्द का उपयोग कर झगडा खड़ा कर दिया इसके बाद खुलासे के लिए सेलवी साहब का प्रमाणपत्र पेश कर उसमें और भी वृद्धि कर दी। क्यों कि 'तेली–तम्बोली के नेता' और 'ब्रूट फोर्स' ये दो शब्द महाराष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में स्थायीरूप से रहेंगे, अतएव उनकी उत्पत्ति इस मण्डपवाद में होनेसे यहां इतना विवेचन करना पडा हैं। तिलक का सार्वजनिक जीवन यदि एक कम्पनी के रूप में मान लिया जाय, तो सामान्य जनसमाज की सहायता उसके मुख्य द्वार पर लगा हुआ चावीका पत्थर कही जा सकती है। सारांश, इस विवाद का मूल तत्व सचमुच ही बडे महत्व का है। इस विवाद के मुद्देपर तिलक की ओरसे गोखले को उत्तर दिया गया, वह उन (तिलक) की वादपद्धति का उत्कृष्ट नमूना होनेसे ता. १६ नवम्बर के केसरी के अग्रलेख की निम्न लिखित पंक्तियां इस स्थान पर विशेष रूपसे उद्धृत की गई है:—

"किन्हीं दो सरल अंगरेजी शब्दों का अर्थ बतलानेके लिए हमें मि. सेल्वी की आवश्यकता नहीं है। क्यों कि 'ब्रूट' का अर्थ जानवर और 'फोर्स' का मतलब 'शक्ति' ही प्रधान रूप से होता है। इसे कोष के पन्ने उलटनेवाला हरएक व्यक्ति

स्वीकार कर सकता है। किन्तु मूट का अर्थ संख्यावाचक कोई भी नहीं बतला सकता। अतएव 'मूट फोर्स' का जो अर्थ मि. सेठवीने 'संख्या का बल' किया है, उनके व्यापथिक होनेकी बात खुद उन्हींको स्वीकार करनी पड़ेगी। यद्यपि इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं कि यदि किसीने किसी एक व्यक्ति को पैल कर दिया तो इससे ही उसके सींग या पूंछ नहीं निकल आते किन्तु फिरभी इससे हमारे कोटिक्रम को जरा भी धक्का नहीं पहुँच सकता। क्यों कि "जानवरों में शक्ति होती है, किन्तु ज्ञान नहीं होता; इसी लिए "जानवरों की शक्ति" इस शब्द का व्यापथिक अर्थ केवल संख्याके अर्थात् अज्ञान लोगों की शक्ति रूपमें भी लगाया जा सकता है। किन्तु व्यापथिक अर्थ में भी 'मूट फोर्स' शब्द का प्रयोग करने पर उससे लोगों के अपमान करने की बात शेष रह ही जाती है। क्यों कि केवल 'संख्या के जोर' से ही क्या अर्थ व्यक्त होता है? यही कि अज्ञान समाज का बल मार्केट में केवल खोपड़ियां ही इकट्ठी हुई थी और बुद्धिमत्ता केवल सुधारकों के ही अधीन थी, यही मूट फोर्स का अर्थ यदि मि. सेठवी के कथनानुसार यथार्थ मान लिया जाय तो इसमें और हमारे किये हुए अर्थ में कोई अन्तर है, ऐसा हमें तो नहीं जान पड़ता।

"जिस प्रकार 'लोकमत' शब्द सामासिक है, उसी प्रकार 'मूटफोर्स' भी समझना चाहिये। और यदि इसे योंही मानलिया जाय तो 'लोक' का आशय 'मूट' और मत का भावार्थ 'फोर्स' के रूप में सहज ही लगाया जा सकता है। सारांश, रे मार्केट में इकत्रित जन समाज 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरंति' अथवा 'साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः' की श्रेणिका था। अतएव कहना पड़ेगा कि ऐसों का मत पुच्छहीन पशु के मत के ही समान हो सकता है यही मूटफोर्स कहनेवालों का उद्देश्य था। क्यों कि अकारण ही शब्दवाद बढ़ानेमें कोई लाभ नहीं है। 'केवल संख्या के बल' इस शब्दों में 'केवल' के प्रयोग का हेतु 'बुद्धिहीन संख्या का बल' ही दर्शाने से है या नहीं? तो फिर लोगोंका बुद्धिहीन कहा तो क्या और पशु कहा तो क्या, आशय तो एक ही है। 'मूटफोर्स' के अर्थ पर विवाद खड़ा करके अलबत्ता खेंठा दिखाकर मजबूत ही कर लिया गया है।"

---:o:---

भाग बीसवां. परिशिष्ट (१)

—:०:—

लो. तिलक का हिन्दू पत्रपर चलाया हुआ अभियोग ।

[इस परिशिष्ट में एक अर्जी-दावा की नकल दी गई है । यह दावा तिलक महाशय के " हिन्दू " पत्रपर चलानेवाले थे । दावे की वजूहात अर्जी में दी ही गई है । यदि संक्षेप में कहा जाय तो मामला इस तरह पर था कि:—सेक्रेटरी-शिप के झगड़े छूट जाने एवं परिषद् के मण्डप से हटा दिये जानेपर भी राष्ट्रीय सभा के लिए पूने से प्रतिनिधि चुनने का काम अभी शेष ही था । किन्तु इस कार्य में तिलक की युक्ति काम कर गई । ता. २० दिसंबर के दिन सवेरे सुधारकोंद्वारा अधिकृत स्वागत-समिति ने यह सूचित किया कि, पूना की ओरसे डेलिगेट चुनने के लिए नागरिकों की एक आमसभा रविवारपेठवाले फड़के के बाड़ेमें आज सन्ध्यासमय होनेवाली है । इस इने गिने घंटो के नोटिस और उस संकुचित स्थान का विचार करते हुए सभा करनेवालोंका उद्देश्य तत्काल ही ध्यान में आसकता था । किंतु उनसे टक्कर लेने के लिए तिलकपक्ष भी कुछ कम न था । अतएव निश्चित समय से घंटाभर पहले तिलक और उनके पक्षके प्रधान २ व्यक्ति तथा लॉ-क्लास के विद्यार्थियों ने जाकर सभा स्थलपर रखी हुई कुर्सियां और बेंचें घेरी ली, यहांतक कि निश्चित समय पर जब गोखले तथा नगरकर आदि वहां पहुँचे तो उन्हें बैठने तक के लिए जगह न मिली । इसी गड़बड़ में ठीक सभा का समय होते ही वासुदेवराव जोशी ने उठ कर सभापति के लिए श्रीमंत दामोदर यशवंत जोग का नाम सूचित किया, और जोग ने भी अनुमोदन की प्रतीक्षा तक न करते हुए तत्काल सभापति का आसन ग्रहण कर लिया । लगेहाथ दूसरे एक महाशय ने उठकर तिलक-पक्ष के लोगों की एक नामावलि पूना के प्रतिनिधियों की सूची के रूप में पढ़ सुनाई । और ' आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं ' की तरह सुधारक पक्षवाले अवधान को सम्हल भी न पाये होंगे कि तबतक सभा की कार्यवाहि होकर सभा विसर्जित भी कर दी गई । विचारा सुधारक दल झेंपकर घर लौट गया, और उने फिर से अलग सभा करके अपने पुरते प्रतिनिधि चुन लिये । तिलक की इस युक्ति पूर्ण हुल्लड़बाज़ी पर सुधारकों ने हो हल्ला मचाया, और भिन्न २ पत्रों को तारद्वारा इसका संवाद भी भेज दिया । उनमें इस आशय का भी मज़मून था कि तिलक के लॉ क्लास के विद्यार्थियों ने गड़बड़ मचा दी । इस झूठी और बदनाम करनेवाली ख़बर के छाप-नेपर नीचे लिखे अनुसार दावा दायर करके ' हिन्दू ' पत्रसे क्षमा-प्रार्थना करानेका

तिलक का विचार था। और यदि अर्ज़ी दाखिल हो जाती तो 'हिन्दू' पत्र के संपादक जी. सुब्रह्मण्य अय्यर के लिए यह विचित्र समस्या उपस्थित हो जाती कि वे कांग्रेस में जाकर बैठें या सिटी माजिस्ट्रेट के इजलास में। किन्तु यह कहनेकी आवश्यकता तिलक का सच्चा कटाक्ष बेचारे 'हिन्दू' पत्र के संपादक की अपेक्षा जिसने पूने से यह झूठा तार भेजा था उसीपर था। क्योंकि सुब्रह्मण्य अय्यर और तिलक के बीच परस्पर मैत्री थी। किंतु अय्यर महाशय सुधारक थे, अतएव इस मतवाद में उनकी सहानुभूति गोखले पक्ष की ही ओर थी। जान पड़ता है कि इसी लिए तिलक ने सोचा होगा कि मित्र हो तो भी क्या चिंता है, उसे भी बातों से सावधान करने लिए थोड़ी सी बानगी अवश्य चखानी चाहिये। क्यों कि सुब्रह्मण्य अय्यर के सहकारी संपादक वीर राघवाचारियर पुराणमतवादी थे, अतएव अय्यर की अपेक्षा तिलक से ही उनकी घनिष्ठता अधिक थी। ये महाशय भी कांग्रेस में आनेवाले थे। यदि तिलक यह दावा दायर भी कर देते तो भी हम समझते हैं कि अंत में मामला उठा ही लिया जाता।]

'अर्जी—दावा मेहर्बान सिटी माजिस्ट्रेट दर्जा १ की कोर्ट में

फरियादी—बाल गंगाधर तिलक, सदाशिव पेठ पूना।

बनाम—जी. सुब्रह्मण्य अय्यर, हिन्दू पत्र के संपादक मुद्रक और प्रकाशक, १०० मार्उंटरोड मद्रास।

इंडियन पिनल कोड कलम ५००

मुद्दई का दावा इं. पी. कोड कलम ५०० के मुताबिक इस तरह है कि मुद्दालेह मद्रास से निकलनेवाले रोजना अखबार "हिन्दू" के मालिक, छापने और प्रकाशित करनेवाले हैं। इन्होंने अपने पत्र के ता. २१ दिसंबर सन १८९५ के अंक में इंडियन टेलिग्राम्स के हेडिंग से पेज ५ कॉलम ५ की शुरूआत में Disgraceful Squabble at Poona का शीर्षक देकर उसके नीचे अपने पूना के रिपोर्टर का भेजा हुआ तार छापा है। जिस में की पूने में ता. २० दिसंबर सन १८९५ के दिन रविवार पेठ के फडके के वाड़े में होनेवाली आम सभा का हाल दिया गया है। उसमें मुद्दई और उसकी लॉ-क्लास की बेइज़्ज़ती करनेवाली मज़मून छापा गया है। क्यों कि वह मज़कूर झूठा है, इस लिए उसे छापने से मुद्दई और उसकी संस्था (लॉ-क्लास) की इज्ज़त को बड़ा धक्का पहुँचा है। इससे मुद्दई की बेइज्जती हुई और उसके जी को बहुत बुरा लग रहा है। यह

काम मुद्दश्रालेह ने मुद्दई की इज्जत लेने के इरादे से ही किया है। और उसका अखबार पूने में शाया हो चुका है। जिस हेडिंग के नीचे वह मज़कूर छापा गया है उसपर निशान बनाकर इस के साथ पेश किया जाता है। गवाह ये हैं:—

१ मि. पी. वाज, सिटी पुलिस ईन्सपेक्टर पूना।

२ श्रीमंत दामोदर यशवंत जोग, सा. बुधवार पेठ।

३ रा. सा. गणेश रामचंद्र फड़के, सा. सदाशिव पेठ।

४ श्री० वासुदेव गणेश जोशी, सा. सदाशिव पेठ, पूना।

५ रा० ब० श्रीराम भिकाजी जठार, सा. नारायण पेठ, पूना।

६ कृष्णाजी रघुनाथ, नेटिव जनरल लाइब्रेरी के मंत्री, पूना।

गवाही के लिए आते वक्त साथ में ता. २१ दिसंबर सन १८६५ का हिन्दू (मद्रास) का अंक साथ लाना चाहिये।

इनके सिवाय सुबूत के लिए और जो कुछ गवाह वगैरे की जुरूरत होगी, वह पेशी के दिन हाजिर किये जायंगे। इस तरह से सुबूत लेकर मुद्दश्रालेह को हक में इंडियन पिनल कोड की ५०० दफ़ा के मुताबिक गुनाह करनेके लिए बाक़ायदा तजवीज़ की जानी चाहिये। क्योंकि मुद्दश्रालेह इस बातकी कॉंग्रेस में डेलिगेट की हैसियत से पूना आनेवाला सुनाया है, इस लिए एक समन्स उनके क़ायम मुकाम मद्रास में और दूसरा पूने में उनपर लागू किया जाने के लिए हुक्म दिया जाय। फक्त ता. २३ दिसंबर सन १८६५ ई.।

सार्वजनिक काका.
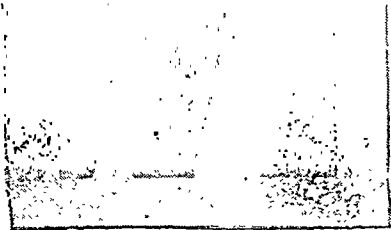
काम मुद्दआलेह ने मुद्दई की इज्जत लेने के इरादे
अखबार पूने में शाया हो चुका है। जिस हेडिंग
है उसपर निशान बनाकर इस के साथ पेश किया

१ मि. पी. वाज, सिटी पुलिस ईन्सपेक्टर पू
२ श्रीमंत दामोदर यशवंत जोग, सा. बुध
३ रा. सा. गणेश रामचंद्र फड़के, सा. स
४ श्री० वासुदेव गणेश जोशी, सा. सदा
५ रा० ब० श्रीराम भिकाजी जठार, सा.
६ कृष्णाजी रघुनाथ, नेटिव जनरल ला

गवाही के लिए आते वक्त साथ में ता.
(मद्रास) का अंक साथ लाना चाहिये।

इनके सिवाय सुबूत के लिए और जो
वह पेशी के दिन हाजिर किये जायंगे। इस
हक में इंडियन पिनल कोड की ५०० दफ़
बाक़ायदा तजवीज़ की जानी चाहिये। क्यों
डेलिगेट की हैसियत से पूना आनेवाला सुन
क़ायम मुकाम मद्रास में और दूसरा पूने
हुक्म दिया जाय। फक्त ता. २२ दिसंबर स

डॉ. रामकृष्ण गो. भांडारकर.

भाग एक्कीसवां।

सार्वजनिक सभा और डेक्कन सभा।

प्रत्येक देश में नेता बननेके लिए मनुष्य को परिस्थिती से झगड़ना पड़ता है। इस परिस्थिति में समकालीन संस्थाओं का भी समावेश हो जाता है। क्यों कि संस्थाका आशय ही यह होता है कि वह किसी एक ही उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करनेवालोंका समूह हो। फलतः देश या प्रान्त की प्रगति का हिसाब लगानेके लिए संस्थाएँ मील के पाथर की तरह तो है ही, क्यों कि इनकी विभिन्नकालीन अवस्थाओं परसे ही किसी राष्ट्र की प्रगति के स्वरूप का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। किन्तु मंज़िल गिननेके मीलस्टोन की अपेक्षा पलटन की चढ़ाई के मार्ग पर के फौजी थाने या नाके की उपमा ही संस्था के लिए विशेषरूप से युक्त हो सकती है। क्यों कि मील का पाथर तो केवल यही बतलाता है कि यात्री ने कितना रास्ता तय किया है, किन्तु लश्करी थाने या नाके उस पलटन की पूरी की हुई मंज़िल को उसके अधिकार में देकर ऊपर से सुरक्षित बैठने और अगली मजल मारनेके साधन जुटानेमें सहायता पहुँचाते हैं। सब देशों में जिन्हे २ नेता पन—अंत में नेतापन—प्राप्त हुआ है, उन्हे आरंभ में छोटी और उनके बाद बड़ी २ संस्थाओं पर धीरे २ अपना अधिकार जमाना पड़ा है। और इस विजय के लिए सुद अपने ही नगर की संस्थाओं अर्थात् सार्वजनिक युद्ध के छोटे किन्तु लश्करी नाकों पर कब्जा करनी पड़ा है। इस झगड़ने और अंत में प्राप्त होनेवाली विजय को हमें ग्राम्य एवं उदात्त दोनो ही स्वरूप में इच्छानुसार देख सकते है। क्यों कि झगड़े में तामसी वृत्ति प्रकट हुए बिना रह ही नहीं सकती। अतएव इतनी बात के लिए हमें उसे ग्राम्य ही कहना पड़ेगा। भलेही बड़े आदमी झगड़ें, किन्तु वह फिरभी झगड़ा ही कहा जायगा। हां, यदि इन झगड़ों के पर्यवसान की ओर व्यक्ति माहात्म्य की दृष्टि से देखा जाय तो इनका उदात्त स्वरूप भी देखने वाले को अवश्य दृष्टिगोचर होगा।

क्यों कि मनुष्यप्राणी स्वभावतः समाज संघप्रिय होता है। और शिक्षा से यह संघप्रियता और भी बढ़ जाती है। अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार होने से पूर्व भारत में संघ न था सो बात नहीं है। किन्तु इस शिक्षा के बाद जो संघवृत्ति शुरू स्वरूप कुछ भिन्न अथवा सुधारा हुआ था, यही एक मात्र इन दोनों में

अंतर है। क्यों कि पहले भी दो चार व्यक्ति एकत्र बैठकर गप्पें मारा ही करते थे। कहा जाता है कि अंगरेजी राज्य के आरंभकाल में घरबैठे खेल खेलनेके अड्डे पूने में बहुत थे। साधारण प्रतिष्ठित मनुष्य के घर पर भी चार आदमी फुर्सत के वक्त ज़रूर इकट्ठे होते, उस समय चाय का काम पानतम्बाकू देते थे। और शतरंज या चौसर खेलनेवाले दो या चार व्यक्ति होनेपर भी प्रत्येक ओर बैठकर देखनेवाले या चाल बतलाते अथवा लड़ते या चिल्लानेवाले और भी कई लोग वहां मौजूद रहते थे। ये खेल की बाजियां प्रतिदिन तो होती ही थीं, किन्तु मौक़ा पड़नेपर इनके सप्ताह भी हो जाते थे; और इस बात पर स्पर्धा होने लगती थी कि यह अड्डा बिना पालती खोले कितने प्रहर तक एकसा खेल सकता है। दूसरे एक प्रकार के संघ कुश्ती के अखाड़ों में पाये जाते थे। यहां भी उस्ताद और उनकी शिष्यमण्डली मिलकर एक प्रकार का क्लबसा हो जाता था। और इस क्लब का नैमित्तिक कार्य यदि कहा जाय तो पड़ौस के गांवों में जाकर कुश्तियों के इनाम पाना या उसकी बाजी जीतना मात्र ही था। पहले मंदिरों में कथा-वार्ता सुननेके लिए प्रतिदिन संध्यासमय स्त्रियों की तरह पुरुष भी जाया करते थे। और जिस मंदिर में अधिक अच्छा पौराणिक होता, उसीमें भीड़ अधिक रहती थी। किन्तु अंगरेजी शिक्षा आरंभ होनेसे पूर्व लोगों में एकत्र बैठकर राजनैतिक चर्चा करनेका प्रघात नहीं था, वह निःसन्देह इस शिक्षा के कारण ही शुरू हुआ। यद्यपि ऊपर लिखे अनुसार संघप्रियता अथवा संघबुद्धि वही थी, किन्तु अब उसका उपयोग अलबत्ता कुछ भिन्न प्रकार से होने लगा। पहले मौका आनेपर यदि कोई अर्जी वगैरा देनी पड़ती तो दस्तखत करनेके लिए वह घर २ घुमाई जाती थी। किन्तु सामुदायिक खेल की तरह अथवा वक्तृत्वकी भांति राजनैतिक आन्दोलन प्रत्यक्ष सामुदायिक स्वरूप को प्राप्त न कर सका था। पर इसका आशय यह कदापि नहीं है कि एकत्र बैठनेसे लोग डरते हों, बल्कि एकसाथ बैठकर राजनैतिक विचारविनिमय करने की आदत ही अभी उन्हे नहीं पडी थी।

बम्बई प्रान्त में सन १८४३ में दादाभाई नौरोजी ने बाम्बे एसोसिएशन नाम की एक राज-नैतिक संस्था स्थापित की थी। इसके चौदह वर्ष बाद पूने में भी ऐसी ही एक संस्था कायम की गई। उसका नाम प्रथमतः पूना एसोसिएशन था। इन दसबीस वर्षों में बंबई, मद्रास, बंगाल आदि सभी खास २ प्रान्तोमें इस प्रकार की संस्थाएँ स्थापित हुई थी। तीनही वर्ष के बाद पूना की इस संस्था का नाम ‘सार्व-जनिक सभा’ करादिया गया; और सन १८७० के अपरैल महिने की दूसरी तारीख को सदाशिव पेठवाले ओंधकर के बाड़े में उसकी पुनः स्थापना हुई। सभा की ओरसे प्रकट किया हुआ उद्देश्य यह था कि ‘सरकार और जनता के बीच मध्यस्थी

नेके लिए, तथा लोगों की माँग और उनकी यथार्थ स्थिति समय २ पर, कार को अर्जी के रूप में सूचित करने, एवं इसी तरह सरकार के उद्देश्य जनता सुलासेवार समझा देनेके लिए' इस सभा की स्थापना की जाती है।

सार्वजनिक सभा की कल्पना सूझनेके लिए एक तात्कालिक कारण बना गया। अर्थात् सन १८७० के लगभग संस्थान पर्वती (पूना) की व्यवस्था में, लोकमतानुसार सुधार होनेके लिए कुछ प्रयत्न किया जानेवाला था। इस में पूना के कई हिन्दू कार्यकर्ता शामिल थे। किंतु किसी एक ही काम के लिए सभा स्थापित करनेकी अपेक्षा सामान्यतः सभी सार्वजनिक कार्यों के ही लिए ही एक सार्वजनिक सभा स्थापित करना श्रेष्ठ था, क्यों कि इस पर्वती के सुधार कार्य में प्रथमतः उपयोग होनेके बाद अन्य सार्वजनिक कार्य भी उसके द्वारा किये जा सकते थे। फलतः इन्हीं उद्देश्यों को सामने रखकर यह सभा स्थापित की गई। शके १७९२ की वर्षप्रतिपदा के शुभ मुहूर्त पर (ता. २ अप्रैल सन १८७०) श्रीमंत श्रीनिवासराव पंत प्रतिनिधि की अध्यक्षता में सभा करके अधिकारीमंडल का चुनाव किया गया। स्व. गणेश वासुदेव जोशी उर्फ सार्वजनिक काका इस में प्रधानरूप से प्रयत्न कर रहे थे, अतएव सभा के प्रारंभिक नियम उन्हीं ने बनाये है। औंधकर सभापति, भोरकर, सांगलीकर, जमखिंडीकर, कुरुंदवाडकर प्रभृति राजा लोग उपसभापति बनाये गये। राजमाचीकर, गोखले, कर्वे और खुद सार्वजनिक काका ये चार मंत्री नियुक्त हुए। सन १८७३ के दूसरे चुनाव में मिरजकर (दोनों), अक्कलकोटकर, जतकर, फलटणकर, इन चार राजाओं का समावेश उपसभापति की नामावलि में और कर दिया गया। सभा के सामान्य अधिकारियों में महाराष्ट्रीय राजाओं की नामावलि सन १८८७ तक रही। सन १८८१ से १८९६ तक गोखले मंत्री रहे, और इनके अमानेतक सभा का काम शांतिपूर्वक चलता रहा। किन्तु सन १८९६ में गोखले ने मंत्री पद छोड दिया, और सभा के सूत्र तिलक के हाथ में आगये। गोखले के स्थानपर प्रो. शिवरामपंत परांजपे मंत्री बनाये गये। अंत में सन १८९७ के मार्च महिने में बम्बई सरकार ने एक प्रस्ताव प्रकटकर सभा की राजमान्यता को खुल्लमखुल्ला अस्वीकार कर दिया। अर्थात् सन १८८७ में श्रीमंत जमखिंडीकर (उपसभापति) का देहान्त होते ही सरकार प्रकटरूप से सभा के विरुद्ध होगई। बस, तभी से अन्य राजाओं के नाम भी हटगये; और राजाओं की तरह सरकारी नौकरों के नाम भी सन १८८७ में सभा के सामान्य अधिकारियों में से लुप्त हो गये। महादेव मोरेश्वर कुंटे, कृष्णशास्त्री चिपलूनकर, कृष्णाजी रघुनाथ केलकर, जैसे सरकारी नौकरों के नाम उस समय के सदस्यों की सूची में पाये जाते हैं।

सार्वजनिक काका की तरह रा. ब. रानड़े भी सभा के आधारस्तंभों में से एक थे। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि सभासदों की नामावलि में उनका नाम कहीं भी पाया नहीं जाता। सन १८७७ के लगभग नौरोजी फर्दूजी को फायनेन्स कमेटी के सामने गवाही देनेके लिए इंग्लैण्ड भेजा गया था। उस समय इस काम के लिए सलाह-मसलहत देनेवाले रा. ब. रानडे भी चुने गये थे। इसका उल्लेख सभा के क़ागज़पत्रों में पाया जाता है। इन दो स्थानों के सिवाय अन्य कहीं भी उनका नाम नहीं पाया जाता। प्रत्यक्ष रंगमंचपर न आते हुए स्टेज-मैनेजर की तरह पर्दे की आड़ से काम करनेवाले के नाते रानड़े का नाम मशहूर ही है। वही बात यहां भी चरितार्थ हुई, और सभासदों कि सूची में नाम न रहनेपर भी प्रारंभ से ही प्रत्येक योजना में वही सूत्रधार रहे।

यह हम उपर एक स्थान में बतला ही चूके हैं कि सभा की स्थापना प्रथमतः औंधकर के वाडे में हुई थी। इसके बाद सांगलीकर और फड़तरे के बाड़े में सभा रही और फिर कुछ दिन विश्रामबाग के निकट नगरकर के वाड़े में भी उसकी बैठक होती रही। सभा के कार्य का विस्तार जैसे २ बढ़ता गया, वैसे ही वैसे सभा के लिए स्वतंत्र स्थान की अधिकाधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी। सन १८८४ में अर्थात् सभा के स्थापित होनेसे १४ वर्ष पश्चात् इस कमी के पूरा होने का मौक़ा आया। वह इस प्रकार कि सन १८८० में सार्वजानिक काका का देहान्त हो जाने पर उनके स्मारकफण्ड में जो ६००० रुपये इकट्ठे हुए थे, वे फंड के अधिकारियों के पास चार वर्षों से वैसे ही पड़े हुए थे। अतएव यह रक़म उनसे प्राप्त करके तथा उसमें ९००० रुपये और मिलाकर सन १८८४ में दानेआली (धानमंडी) में वालवेकर की हवेली १५००० रुपये में ख़रीद लीगई। इस हवेली की दूसरी मंजिलपर पूर्व ओर के क़मरे का नाम जोशी हाल रखा गया। आरंभ में सभा इसी कमरे में हुआ करती थी। किंतु कुछ दिनों बाद जब यह स्थान भी अपर्याप्त हो चला, तब पश्चिम ओर का क़मरा अधिक विस्तृत किया गया; बस तभी से इस कमरे में सभा होती है। यह विस्तृत स्थान भी अब केवल छोटी-मोटी सभा के ही लिये उपयोग में लाया जाता है। और विराट् सभाएँ शिवाजी मंदिर या मार्केट के मैदान में होती हैं, कभी २ ये स्थान भी अपर्याप्त हो जाते हैं।

'लोगों के दुखदर्द सरकार के सामने उपस्थित करना' भी सभा का मुख्य उद्देश्य था। यह हम ऊपर बतला ही चुके हैं। फलतः इस काम के लिए दादाभाई नौरोजी, फर्दूनजी, जगन्नाथ शंकर शेठ, डॉ. भाऊ दाजी प्रभृतिने वम्बई में बाम्बे एसोसिएशन के नाम से और बाबू क्रिस्तोदास पाल, डॉ. राजेंद्रलाल मित्र आदि ने कलकत्ते में 'ब्रिटिश इंडियन ऐसोसिएशन' के नाम से जो संस्थाएँ

बना रक्खी थी, उनका उदाहरण सार्वजनिक सभा के उत्पादक एवं संचालकों के व्यक्तित्व में आरंभ से ही विद्यमान था। अतएव अपनी कर्तव्यशीलता द्वारा सभा ने भी इन दोनों ही संस्थाओं के समान महत्व प्राप्त कर लिया।

आरंभ में सभा का ध्यान स्थानिक विषयों की ओर ही अधिक था। क्योंकि पर्वती-संस्था के सुधाररूपी सार्वजनिक कार्य से ही उसकी उत्पत्ति हुई थी। इस संस्था का मामला सभा के प्रयत्न से एक ओर रेवेन्यू कमिश्नर तक और दूसरी ओर अदालत तक पहुँचा था। किन्तु इस प्रारंभिक कार्य में सभा को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसके बाद सभा ने पूना शहर के सुधार का काम हाथ में लिया। क्योंकि पहले क़ानून के मसौदे अंग्रेज़ी में ही प्रकाशित किये जाते थे, उन्हें मराठी में छपवानेकी शुरूआत सभा के ही प्रयत्न से हुई। बम्बई हाईकोर्ट में एतद्देशीय न्यायाधीश नियुक्त कियेजानेका प्रयत्न भी सभा की ओरसे ही हुआ। ज्यूरी (पंचायत) के अधिकार, रेलवे के यात्रियों की शिकायतें, म्युनिसीपाल्टियों में लोकनियुक्त सदस्यों की नियुक्ति, राजा और सरकारका संबन्ध, इत्यादि विषयों में समय २ पर सरकार के पास सूचनाएँ भेजनेका क्रम सभा ने शुरू कर रक्खा था। सन १८७२ में भारत-हितैषी फासेट साहब का ब्रायटन के मतदाराओं द्वारा पार्लमेन्ट में चुनाव हो जानेसे सभा ने ब्रायटनवालों के प्रति कृतज्ञता प्रकट कर फासेट साहब का अभिनन्दन किया। इसी वर्ष भारत के कारोबार की जांच के लिए पार्लमेंट की ओरसे नियुक्त हुई कमेटी के सामने गवाही देनेको फर्दूनजी सेठकी नियुक्ति हुई। इस काम में जो कुछ ख़र्च हुआ वह सब बाम्बे एसोसिएशन और सार्वजनिक सभा दोनों ने मिलकर बर्दाश्त किया। इसके बाद सार्वजनिक सभा द्वारा आरंभ किया हुआ महत्वपूर्ण आन्दोलन सन १८७६-७७ के अकाल से सम्बन्ध रखता था। क्योंकि सभा की ओरसे आरंभ से ही इस बात के लिए प्रयत्न किया जा रहा था कि कायम धारणा की पद्धति अमल में लाई जाय। फलतः जब सन १८७७ में अकाल का स्वरूप बहुत ही उग्र हो गया, तब सभा ने आम सभा करके सरकार से पत्रव्यवहार शुरू किया। और अकाल निवारक फंड इकट्ठा कर स्थान २ पर अकाल कमेटीयां भी बनाई गई। विलायत के पत्रों में भी विज्ञापन छपवाकर सहायता प्राप्त करनेका सभा ने प्रयत्न किया।

सार्वजनिक सभा की प्रगति विकासवाद की तरह धीरे २ नहीं हुई। और जो कुछ भी थोडीसी कीर्ति उसने प्राप्त की वह क्रान्तिकारक पद्धति से अर्थात् खलबली मचाकर ही की। किन्तु इस प्रकार खलबली मचानेके प्रसंग सभा के पचास वर्ष के इतिहास में एक-दो बार ही आवे। प्रत्येक हलचल के समय विवाद का मूल-तत्व विशेष महत्व का न होते हुए एक संचालक मंडल के बदले दूसरे संचा-

लक का नियुक्त होना ही प्रायः उस आन्दोलनका असली कारण होता था। सार्व-जनिक सभा के आरंभिक काल में सार्वजनिक काका (गणेश वासुदेव जोशी) ही उसके प्रधान संचालक थे। और सभा के उस समय के ख़ास कमरेको उनका नाम दिया जाने पर से ही कल्पना की जासकती है कि सभा के काम में उनका महत्त्व कितना था। पर्वती संस्था के सुधार के लिए जन्म धारण करनेवाली सभा सार्व-जनिक कार्यों की आवश्यकतानुसार आगे के लिए भी कायम रखी गई। क्यों कि इस का उद्देश्य सरकार और जनता के बीच मध्यस्थी करनेका था। किन्तु इसे पूरा कर सकनेवाली अन्य संस्था उस समय कोई भी न थी। समाचारपत्रों में भी राजनैतिक विषयों पर कभी २ लेख निकलते थे। किन्तु उन लेखों को पढ़कर सरकार की ओरसे उत्तर दिया जानेकी थोड़ी बहुत प्रथा जो कि इन दिनों प्रच-लित है, उस समय बिलकुल ही नहीं थी। किन्तु फिर भी अपने लिखे हुए लेख पर सरकार का अभिप्राय जाननेकी आकांक्षा आजकल जिस प्रकार धारासभाओं में प्रश्न करके या प्रस्ताव पर वाद-विवाद करके सफल हो सकती है, उसके लिए उस प्राचीन समय में एक मात्र अर्जी भेजना ही मुख्य साधन था। सभा की ओरसे सरकार के पास अर्जी जाते ही उस पर भलाबुरा या संक्षिप्त जैसा कुछ उत्तर आता, उसी पर से नेता ओं को संतोष हो जाता था कि पूना के लोगों की राजकीय बुद्धि जागृत है। सार्वजनिक काका के सार्वजनिक सभा के साथी महादेव गोविंद रानड़े थे। सन १८७१ में ये पूने में फर्स्ट क्लास सब् जज अर्थात् उस समय के 'सदर अमीन' की जगह पर नियुक्त होकर आये। इससे पहले रानड़े महाशय पूने में थोड़े ही दिनों तक रहे थे, किन्तु फिरभी उनकी ख्याति वहां बहुत बढ़ गई थी। इसी प्रकार ऊंचे पद पर नियुक्त होकर बाहर चले जानेपर भी उन्हें पूने का ध्यान बराबर बना रहता था। क्यों कि पूना उस समय भी बुद्धिमत्ता की राजधानी समझा जाता था; ऐसी दशा में जब ख़ास पूने में ही उन्हें स्थायी रूप से जगह मिल गई, तब फिर वे अपनी विद्वत्ता के लाभ से पूनावालों को क्यों वंचित रखते? फलतः उन्होंने पूना के आन्दोलक स्वभाव का उपयोग सार्वज-निक कार्यों में कर लिया। क्योंकि उस समय की सार्वजनिक सभा नई थी, और उस में सरदार एवं प्रतिष्ठित लोगों का ही आधिक्य था, साथही रानड़े जैसे ८०० रुपये मासिक वेतन पानेवाले उपपदाधिकारी एवं प्रमुख विद्वान् का उस में हाथ था, अतएव यदि सभा का सूत्रधार वे ही बनाये गये तो इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं हो सकती। रानड़े के पूना से बदलकर नाशिक जानेतक बहुत कुछ परिवर्तन हो गया, जिनका कि वर्णन अन्यत्र किया जा चुका हैं। यहां हमे उस विषय में केवल यही कहना है कि, इन में के बहुतसे आन्दोलन सार्वजनिक

सभा की ही विद्यमानता में हुए । और सभा की कीर्ति यहांतक बढ़ गई कि बाहर की बड़ी २ रियासतों एवं सरकारी जलसों में सभा को निमंत्रित किया जाने लगा, और सभा भी अपने प्रतिनिधि भेजने लगी। इन में सबसे अधिक महत्व का प्रसंग दिल्ली दरबार के समय सभा कि ओर से भेजा हुआ प्रतिनिधिमंडल था। इन्ही दिनों सीतारामपंत चिपलूनकर का नाम बहुत मशहूर हो रहा था, इस लिए सबसे क्रमशः सभा का संचालन भार भी उन्हीं पर आगया। सीताराम-पंत का स्वभाव विष्णु शास्त्री से भिन्न रहने पर भी सभा में बोलचाल एवं सार्वजनिक कार्यों में शारीरिक श्रम करने आदि की दृष्टि से ये अपने भतीजे विष्णु शास्त्री से भी तेज़तर्रार थे। सीतारामपंत चिपलूनकर और शिवराम हरी साठे के संयुक्त मंत्रित्व में क्राफर्ड प्रकरण तक सभा का काम रहा। इसी समय सभा में दूसरी एक क्रांति यह हुई कि उस में चिपलूनकर के बदले गोखले उस (सार्वजनिक सभा) के मंत्री हो गये।

यह क्रांती सन १८९५–९६ में हुई। इस गड़बड़में चेयरमेन विष्णु मोरेश्वर भिड़े और मंत्री गोपालराव गोखले और शिवराम हरी साठे आदि रानडे पक्ष के लोगों के हाथ में से सभा का कार्यभार हटकर वह तिलक पक्ष को मिल गया।

मिला लेनाही अधिक सुविधाजनक होता था। सभा में इस समयतक यह नियम थ कि नये सभासद होनेके लिए, महाराष्ट्र के किन्ही पचास सज्जनों की ओरसे चुनाव की सिफारिश कराई जाय। इसके बाद समस्त सदस्यों की सभा में उस सिफारिश के मंजूर होनेपर ही उस नये सदस्य का चुनाव हुआ समझा जाता था। किंतु नये सभासद चुननेका सिलसिला शुरू होते ही लोगों से सिफारिश के लिए हस्ताक्षर करानेमें पूने में विशेष कष्ट नहीं उठाना पड़ता था। और क्रान्ति होते समय दोनों पक्ष के प्रयत्न से सदस्यों की संख्या एकदम बढ़ जाती थी। सभासंचालन के सूत्र एक के पास से दूसरे के हाथ में जाते समय जितनी २ बार क्रांति हुई, उतनी ही बार सभा के सदस्यों की संख्या सेंकड़ों से बढ़गई। किंतु एकबार क्रांति हो जानेपर फिर वह ग्रीष्मकालीन प्रवाह की तरह एकयमेव हो घट जाती और सदस्यों की ओर से चंदा भी प्रायः वसूल न होने लगा। इस प्रकार का जो उल्लेख सभा के कागज़पत्रों में पाया जाता है वही बात तिलक के हाथ में सभा के जानेपर भी हुई। स्वयं तिलक भी इस से पहले कई वर्षों से सभा के सदस्य थे। और सितारामपंत चिपलूनकर का इस्तीफा पेश होकर गोपालराव गोखले के मंत्री बनाये जानेसे पहिले ही डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी के झगड़े शुरू हो चुके थे।

गोखले को मंत्री रखनेपर भी उनके पद की शाखाओं को तोड़कर उन्हें अकेला कर दिया जाय। इतनेपर भी यदि वे अपने पदपर बनेही रहे तो अपने तांबेदार और यदि अलग हो गये तो यह कहनेको मौका रहे कि हमने तो उन्हें अलग नहीं किया, वेही इच्छा से चले गये।

इस क्रांति का नाम ज्ञानप्रकाशादि पत्रों ने तिलककी 'अहंपिशाचिका का खेल' रक्खा था। यह दर्शानेके लिए कि जो कुछ हुआ वह बुरा हुआ, कुछ संवाददाताओं ने बंबई के पत्रों में ये खबरें छपवाईं कि, सभा में जो गालीगलौज हुआ उसे मिटानेके लिए पुलीस की सहायता लेनी पड़ी। किन्तु तिलक ने इस क्रांति का समर्थन इस प्रकार किया कि व्यवस्थापक मण्डल में कुछ नये व्यक्ति चुने जानेपर भी हमने पुराने मंडल के प्रभावशाली दस पांच व्यक्तियोंको चुना है। वयोवृद्ध शिवरामपंत साठे के स्थानपर नव युवक जालनापुरकर यदि चुने गये तो इसमें क्या बुरा हुआ? और एक वैतनिक सहकारी मंत्री के स्थान पर यदि दूसरा भी आ गया तो इससे कुछ सभा डूब नहीं सकती। कालान्तर में जाकर पक्षान्तर या अदलबदलौवल होती ही रहती है। और इसी विषय में पहले सीतारामपंत और रा. नूलकर को गोखले पक्ष ने नहीं चुना। इस मुद्दे की भी तिलक ने याद दिलाई; यही नहीं बल्कि उन्होंने यहांतक कह दिया कि चिपलूनकर की सेवा गोखले से कहीं अधिक थी; और सभा की इज्जत बढ़ानेवाले एकमात्र चिपलूनकर ही थे। ऐसी दशा में चिपलूनकर को न चुनकर गोखले का चुना जाना सभा की एकमात्र कृतघ्नता ही है। कोषाध्यक्ष के बदलने में कोई विशेषता नहीं कही जा सकती। क्यों कि पूनाके कुलीन लोगों को यह सम्मान बारी २ से मिलना ही चाहिये था। आजतक ऐसा न करके बड़ी भूल की गई है। शिवराम हरी साठे जिन्हों ने केवल चक्कर लगानेका ही काम किया है, उन्हें तो दस रुपये आजीवन पेन्शन के तौरपर दिये गये और सीतारामपंत चिपलूनकर जिन्होंने कि चौदह वर्षतक सभा की अर्जियां लिखी और त्रैमासिक पत्र का सम्पादन किया, उनका देहान्त हो जानेपर छह रुपये मासिक की छात्रवृत्ति तक उनके लड़के को देना पुरानी मंडली के लिए कठिन हो गया। इस तरह तो जहां आज नये मण्डल की टोलि बतलाई जाती है, वहीं उन दिनों वृद्ध लोगों ने भी तो टोलियां बना रक्खी थी। जैसा बोया वैसा ही पाया। जिन युक्तियों से नूलकर और चिपलूनकर को हटाया गया, वही भिडे और साठे के लिए काम में लाई गई। यह सब होते हुए भी गोखले को तेज़तर्रार और काम करनेवाला समझकर हमने रख ही लिया कि नहीं? क्यों कि चिपलूनकर और क्राफर्ड साहब के बीच घनिष्ठता थी, अतएव वे ज्ञानप्रकाश में व्यक्तिगत रूपसे उन की प्रशंसा ही करते थे। किन्तु

गोखले को मंत्री रखनेपर भी उनके पक्ष की शाखाओं को तोड़कर उन्हें अकेला कर दिया जाय। इतनेपर भी यदि वे अपने पदपर बनेही रहे तो अपने तावेदार और यदि अलग हो गये तो यह कहनेको मौका रहे कि हमने तो उन्हें अलग नहीं किया, वेही इच्छा से चले गये।

इस क्रांति का नाम ज्ञानप्रकाशादि पत्रों ने तिलककी 'अहंपिशाचिका का खेल' रखा था। यह दर्सानेके लिए कि जो कुछ हुआ वह बुरा हुआ, कुछ संवाददाताओं ने बंबई के पत्रों मे ये खबरें छपवाईं कि, सभा में जो गालीगलौज हुआ उसे मिटानेके लिए पुलीस की सहायता लेनी पड़ी। किन्तु तिलक ने इस क्रांति का समर्थन इस प्रकार किया कि व्यवस्थापक मण्डल में कुछ नये व्यक्ति चुने जानेपर भी हमने पुराने मंडल के प्रभावशाली दस पांच व्यक्तियोंको चुना है। वयोवृद्ध शिवरामपंत साठे के स्थानपर नव युवक जालनापुरकर यदि चुने गये तो इसमें क्या बुरा हुआ? और एक वैतनिक सहकारी मंत्री के स्थान पर यदि दूसरा भी आ गया तो इससे कुछ सभा डूब नहीं सकती। कालान्तर में जाकर, पक्षान्तर या कंधेबदलौवल होती ही रहती है। और इसी विषय में पहले सीताराम पंत और मा. नूलकर को गोखले पक्ष ने नहीं चुना। इस मुद्दे की भी तिलक ने याद दिलाई; यही नहीं बल्कि उन्होंने यहांतक कह दिया कि चिपलूनकर की सेवा गोखले से कहीं अधिक थी, और सभा की इज्जत बढ़ानेवाले एकमात्र चिपलूनकर ही थे। ऐसी दशा में चिपलूनकर को न चुनकर गोखले का चुना जाना सभा की एकमात्र कृतघ्नता ही है। कोषाध्यक्ष के बदलने में कोई विशेषता नहीं कही जा सकती। क्यों कि पूनाके कुलीन लोगों को यह सम्मान बारी २ से मिलना ही चाहिये था। आजतक ऐसा न करके बड़ी भूल की गई है। शिवराम हरी साठे जिन्होंने केवल चक्कर लगानेका ही काम किया है, उन्हें तो दस रुपये आजीवन पेन्शन के तौरपर दिये गये और सीतारामपंत चिपलूनकर जिन्होंने कि चौदह वर्षतक सभा की अर्जियां लिखी और त्रैमासिक पत्र का सम्पादन किया, उनका देहान्त हो जानेपर छह रुपये मासिक की छात्रवृत्ति तक उनके लड़के को देना पुरानी मंडली के लिए कठिन हो गया। इस तरह तो जहां आज नये मण्डल की टोलि बतलाई जाती है, वहीं उन दिनों वृद्ध लोगों ने भी तो टोलियां बना रखी थी। जैसा बोया वैसा ही पाया। जिन युक्तियों से नूलकर और चिपलूनकर को हटाया गया, वहीं भिडे और साठे के लिए काम में लाई गई। यह सब होते हुए भी गोखले को तेजतर्रार और काम करनेवाला समझकर हमने रख ही लिया कि नहीं? क्यों कि चिपलूनकर और अऋई साहब के बीच घनिष्ठता थी, बम्बई के ज्ञानप्रकाश में ख्यातिप्राप्त रुपसे उन की प्रशंसा ही करते थे। किन्तु

सभा का मत क्राफर्ड साहब के विरुद्ध रहनेसे मंत्री के नाते उन्हों ने क्राफर्ड साहबकी तारीफ नहीं की। पुराने चेअरमेन रा. ब. भिड़े के विषय में भी यही बात हुई थी। सभा के त्रैमासिक पत्र में हेरिस साहब के विरुद्ध लेख छपते थे। किन्तु निजी तौर पर उन्हों ने हेरिस स्मारक फण्ड में भी चंदा दिया था। अंततः यदि ज्ञानप्रकाश में लिखनेके कारण चिपलूनकर सभा के मंत्री होने योग्य नहीं समझे गये, तो फिर अप्रिय गवर्नर के स्मारक में धन देनेके कारण सभा के चेअरमेन श्री. भिड़े भी अयोग्य ही समझे जाने चाहिये। अलावा इस के भिड़े की अपेक्षा विनायकराव उर्फ अन्नासाहब पटवर्धन सभी तरह से इस पद के लिए अधिक योग्य थे। क्यों कि एक वृयोवृद्ध एवं निरुपद्रवी तथा पेंशनरी की अपेक्षा स्वतंत्र उद्योगवाला, लोकोपयोगी विद्वान् व्यक्ति का चुनाव कौन पसन्द न करेगा? क्यों कि यह तो नियम चलाही आता है कि दो दिन सास के तो दो बहू के भी रहेंगे ही। यदि सभा में गोखले ने पांच सात वर्ष तक बहुमत पाया तो आगे के लिए तिलक क्यों न उस सम्मान को प्राप्त करें? एक पक्ष के अधिकार-मुक्त होनेपर दूसरे के अधिकारारूढ़ होनेका चक्र चलता ही रहता है। एक के पचीस तो दूसरे के दस की अपेक्षा अब एक के दस और दूसरे के पचीस हो गये, यही एक मात्र इन दोनों में अंतर है। असल में यह क्रान्ति केवल स्थानिक महत्त्व रखती है। किन्तु सार्वजनिक सभा के व्यवस्थापक मण्डल में कौन चुने गये और चेअरमेन किसे बनाया गया, अथवा गोखले की जगह तिलक ने कैसे ले ली, इन बातों की चर्चा पूने में ही होनी चाहिये थी किन्तु बम्बई के अंग्रेजी पत्रोंतक यह मामला कैसे गया? किन्तु नहीं; नारदवृत्तिवाले लोग चुप कैसे रह सकते हैं? फलतः उन्होंने तिलक की अपकीर्ति फैलानेके लिए गोखले पक्ष को माडरेट या नर्मदल और तिलक पक्ष को फारवर्ड अथवा निकम्मा नाम देकर अपना मनोरथ पूरा कर ही तो लिया। जब गोखले पक्ष ने अपनी बात को बनते न देखा, तब समझौते के लिए प्रयत्न किया। किन्तु इस में बड़ी देर हो गई। अतएव इस प्रश्न के हल न हो सकने पर तिलक पक्ष को बदनाम करनेके लिए यह कहा जाने लगा कि उसने हमें धोखा दिया। इस क्रान्ति को लक्ष्य करके तिलक ने लिखा कि, दो पक्ष निर्माण हो जानेसे एक ही गाँव में दो अलग २ संस्थाएँ स्थापित करने-की अपेक्षा यदि हो सके तो एक पक्ष का बहुमत होना ही अच्छा है। बंबई की रीती जुदी थी। वहां एक की तीन सभाएँ हो गईं। दादाभाई की स्थापित की हुई 'ईस्ट इंडिया एसोशिएशन' से न पटने पर मण्डलिक ने 'बाम्बे एसोशिएशन' स्थापित की। और जब नई सुरत के मेहता, तैलंग एवं बद्रुद्दीन आदि की मण्डलिक से न पटी तब उन्होंने 'प्रेसिडेंसी एसोशिएशन' कायम किया। इसी तरह

तिलक भी नई सभा स्थापित कर सकते थे, किन्तु उन्हों ने ऐसा न कर के पुरानी ही सभा में बहुमत प्राप्त करते हुए उसके सूत्र अपने हाथ में ले लिये तो इसमें उन्होंने क्या बुरा किया ?

अब तक गोपालराव गोखले ने खुद आगे बढ़कर कुछ भी नहीं कहा था। किंतु ता. ६ अगस्त के केसरीमें उन्होंने अपने नामसे एक चिट्ठी छपाकर कुछ खुलासा किया। उन्होंने यह बात तो स्वीकार कर ली कि नये सभासद बनानेकी स्पर्धा में हम कभी तिलक-पक्ष से बराबरी नहीं कर सकते। उनकी शिकायत सिर्फ यही थी कि समझौते की चर्चा शुरू करके तिलक और वासुदेवराव जोशी ने हमें धोखा दिया। पर बात असल में यह थी कि अण्णासाहब भिडे को अपने स्थान से तिलक हटने देना नहीं चाहते थे, और इसके लिए उन्हों ने वचन भी दिया था। किंतु तिलक पक्ष के अन्दर ही एक नया पक्ष खड़ा हो गया था, जिसने की तिलक के वचन को तोड़ दिया। गोखले की दूसरी शिकायत यह थी कि, यदि इस समय सब के राजनैतिक मत एक से हैं तो फिर अबतक पक्षभेद से अलिप्त रहनेवाली सार्वजनिक सभा में झगड़ा क्यों हुआ। जब कि पुराने लोगों ने दो–एक बार छोड़कर प्रायः सदैव ही नये पक्ष की बात को सुना और स्वीकार किया है !

चिपलूनकर के विषय में गोखले ने यह लिखा था कि "जब मुझे चिपलूनकर के स्थान पर मंत्री बनाया गया, तभी मैंने लोगों से कह दिया था कि, सीतारामपंत की तरह मुझ जैसे व्यक्ति से काम न हो सकेगा। फलतः जब चिपलूनकर और सभा के बीच सुलूक हो सकना असंभव समझा गया, तब मुझ से अधिक योग्य मनुष्य तत्काल ही व्यवस्थापक मंडल को दूसरा न मिल सका होगा, इसी लिए कदाचित् उसने वहां मेरी नियुक्ति की होगी, किन्तु इसमें मेरा कौनसा अपराध है ?"इस चिट्ठी का जवाब भी तिलक ने उसी अंक में छापा। जिस में उन्हों ने स्वीकार किया कि गोखले ने जो कुछ लिखा वह बिलकुल सरल भाव से ही लिखा है। किंतु तिलक का मुख्य कथन यह था कि समझौता भंग करनेकी जबाबदारी हमपर नहीं बल्कि गोखले पक्ष पर ही थी, और बहुमत रखनेवाले पक्ष ने यदि अपने मनोनुकूल चुनाव कर लिया तो इस में उसे कुछ भी दोष नहीं दिया जा सकता। ऐक्यता का जो उपदेश गोखले ने किया था उस से लाभ उठाकर तिलक ने गोखले से ही उल्टा यह सवाल किया कि, तुम्हारे मनोनुकूल दूसरा चुनाव न होनेसे मंत्री और संपादक का काम छोड़ देने की जो गुप्त धमकी दी गई वह क्या आशय रखती है ? अस्तु। यह विवाद कुछ दिनों यहीं तक रुका रहा। इसी बीच पूना–कांग्रेस का झगड़ा शुरू हो गया। ऐसी दशा में इस प्रश्न को कौन पूछने बैठता ? किन्तु यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि सार्वजनिक सभा के

इस झगड़े से राष्ट्रीय सभा के विवाद को भी थोडीबहुत सहायता मिली थी। फलतः सन १८९६ में यह विवाद फिर खड़ा हुआ। सार्वजनिक सभा का काम हाथ में लेलेने के बाद तिलक पर आक्षेप करनेके लिए केवल यही प्रश्न रह गया था कि सभा के त्रैमासिक का काम अब पहले से बहुत बुरा होने लगा है। उपरि लिखित पत्रमें भी गोखले ने अपनी सौम्य पद्धति से जाते २ अंतमें इस प्रकार छेड़-छाड़ कर ही तो दी कि, यदि तिलक एवं पटवर्धन आदि मनपर धार ले, तो इन कामों को वे बड़ी ही सफलता के साथ कर सकते हैं। किन्तु इसे वे बहुधा बेपर्वाही से ही करेंगे, क्यों कि किसी संस्था का हथिया लेना उतना कठिन नहीं होता जितना कि उसे यथानियम चलाते रहना, यही एकमात्र उनके इस खुलासे का सारांश था। किन्तु उसमें भी यह उलहना तिलक की अपेक्षा अन्नासाहब पटवर्धन को ही लक्ष्य करके विशेष रूपसे दिया गया था। क्यों कि भिडे निरुपद्रवी एवं हां में हां मिलानेवाले व्यक्ति होनेपर भी अन्नासाहब के विषयमें गोखले के कहनेका आशय यही था कि वे खुद कुछ करते ही नहीं, किन्तु दूसरों को भी कुछ नहीं करने देते और केवल उपद्रव ही मचाते रहते हैं। सन १८९६ में सार्वजनिक सभा में तिलक का बहुमत बेहद बढ़ जानेपर ज्ञानप्रकाश ने कांग्रेस के हिसाब की चर्चा करते हुए लिखा था कि, तिलक हैं ही ऐसे आदमी जिन्हें विशेष रूपसे काम करनेकी इच्छा नहीं है। और न कांग्रेस के मंत्री की हैसियत से उन्होंने कोई विशेष कार्य किया ही है। ऐसी दशा में अब यदि उन्होंने सार्वजानिक सभा को हाथ में लिया है तो यहां भी उसी बात का अनुभव हुए बिना न रहेगा। किन्तु उसका यह आक्षेप एकदम व्यर्थ और 'आ बला पकड़ गला' की तरह ही था। फलतः कांग्रेस के विषय में तो तिलक ने यह उत्तर दिया "कि मंत्री के नाते तिलक ने कितना काम किया और कितना धनसंग्रह कर दिया, इसका हिसाब तो उन्होंने गतवर्ष नये मंत्री को सिलक सौंपने समय ही प्रकाशित कर दिया था। इसी प्रकार नये विवाद के विषय में उन्होंनें स्पष्ट रूप से यह विधान किया था कि चंदे के रूप में मैंने खुद जितनी रकम दी उतनी ज्ञानप्रकाश के सम्पादक और उनके सब साथियों ने मिलकर भी न दी होगी। यह बात सचमुचही बड़े महत्त्व की है। प्रान्तिक सभा के विषय में भी यही बात कही जा सकती हैं। सभाएँ भले ही पूना के नाम से चलती रही हो किन्तु दो तीन परिषदे तो तिलक और नामजोशी को अपनी गांठ के पैसे खर्च कर करनी पड़ी थीं, और अंतिम प्रसंग पर तो तीन दिन उपवास कर के भी काम करना पड़ा था।" इसी आलोचना में दुर्भाग्यवश समालोचक ने सार्वजनिक सभा का नामोल्लेख भी कर दिया था। किन्तु इस पर तिलक ने

यह उत्तर दिया कि " साल भर में एक-आध लेख लिखकर सार्वजनिक सभा के जर्नल की उन्नति क़ायम रहती तो पिछले पांच सात वर्षों में जर्नल के ग्राहकों की संख्या ढ़ाईसो से घटकर दो सौ तक न आजाती। इस समय उक्त जर्नल के ठीक तौर से न चलनेका यदि कोई कारण हो सकता है तो उसके लिए सुधारक पत्र को ही विशेष रूपसे दोषी जानलेना चाहिये। यदि प्रो. गोखले उस काम को छोड़ना चाहे तो उसे हाथ में लेकर चलाने के लिए कई लोग तैयार हैं। किन्तु दो चार महिने काम करके फिर उसे गोखले को सौंपने के लिए तैयार होना इस तरह की मूर्खता करनेको कोई तैयार नहीं हो सकता। स्वतः गोखले के कार्यकाल में गतवर्ष जुलाई और अक्टूबर के मिलाकर दो अंक और वे भी अधूरे लेखों के एकसाथ क्यों प्रकाशित हुए ? इसी पर से जाना जा सकता है कि कांच के घर में कौन बैठा है और पत्थर के घर में कौन है। " इस पर ता. १७ अगस्त के दिन गोखले ने फिर केसरी में पत्र छपवाया जिसका आशय यह था कि, प्रति तीन मास के अंक में त्रैमासिक पत्र में बहुधा दो ही लेख लिखे जाते और जब गोखले खुद नहीं लिखते, तब वे अपने अधिक योग्य लेखकों से (माधवराव रानडे, गणपतराव जोशी इनसे) लिखवा लिया करते थे। चिपलूनकर का सभा से मनमुटाव होते समय अर्थात् सन १८८८ के आरंभ से जर्नल की हालत बहुत बिगड़ चली थी। जब गोखले के हाथ में यह काम आया उस समय ग्राहकों की संख्या ४०० थी, किन्तु उनमें से २२४ केवल नामधारी ही थे। इस के बाद जब उन्हों ने काम छोड़ा, तब लगभग २५० ग्राहकों के नाम अंक रवाना किया गया था। वार्षिक मूल्य की आय के प्रतिदिन घटते जानेकी बात गोखले ने भी स्वीकार की हैं। संभव है कि यह सहायक मंत्री की ही भुल हो। गोखले कहते हैं कि देश की वर्तमान अवस्था में ग्राहक-संख्यापर से किसी मासिक या त्रैमासिक पत्र की योग्यता निश्चित करना ठीक नहीं कहा जा सकता। इस पर भी तिलक उत्तर देने को तैयार ही थे। अतएव उन्होंने हिसाब लगाकर दिखा दिया। गोखले ने कुल छब्बीस अंक निकाले थे। इन में ४६ स्वतंत्र लेख प्रकाशित हुए हैं, किन्तु इन में खुद उन्ही के लिखे हुए कितने हैं, इस की संख्या उन्हों ने नहीं बतलाई; पर तिलक के अनुमान से केवल आठ या नौ ही लेख उनके लिखे हुए हो सकते हैं। एकबार जब पत्र के पांच सो ग्राहक थे और वे घटकर दो सौ रह गये तो इस में लोकाभिरुचि की न्यूनता के सिवाय और भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये।

अस्तु, वह विवाद शीघ्र ही समाप्त होने जैसा नहीं था। फलतः सन १८९६ के मार्च से गोखले ने छुट्टी ली, और ६ महिने बाद अगस्त महिने में उन्होंने

बाकायदा इस्तीफा पेश कर दिया । कई लोगों ने उन्हें ऐसा करने से रोका भी, किन्तु उन्हें इस्तीफा वापस नहीं लिया । ता. १२ अगस्त के दिन वार्षिक अधिवेशन हुआ, जिसमें कि गोखले के स्थानपर महाराष्ट्र कॉलेज के प्रोफेसर शिवराम महादेव परांजपे की नियुक्ति की गई। और त्रैमासिक का काम महादेव राजाराम बोड्स, बम्बई हाईकोर्ट के वकील को सौंपा गया। बोड्स महाशय तिलक के पूर्व परिचित थे। क्यों कि इनके पिता महामहोपाध्याय राजारामशास्त्री बोड्स से तिलक का निकट परिचयसा था। हां, तो महादेवराव बोडस अंगरेजी, मराठी और संस्कृत तीनों में तेज तर्रार थे, और एम्. ए. की परीक्षा देनेके बाद एल् एल्. बी. का अभ्यास करते समय ये कुछ दिनोंतक न्यू इंग्लिश स्कूल में अध्यापक और सन १८९३-९४ में मराठा पत्र के उपसंपादक भी रहे थे। इसी प्रकार केसरी में भी इन्हीं ने कुछ लेख लिखे थे। इस तरह एक योग्य संपादक के लिए जिन २ गुणों की आवश्यकता रहा करती है, वे सब अधिकांश में बोडस में विद्यमान थे । इनकी बुद्धिमत्ता, बहुश्रुतता, और लेखनकुशलता आदि बातें अपने पत्र की दृष्टि से संग्राह्य प्रतीत होनेके कारण तिलक ने उनसे एल् एल्. बी. पास हो जानेपर अपने केसरी-मराठा के संपादकीय विभाग में शामिल होनेके लिए पूछा भी था। किन्तु उनकी इच्छा बम्बई रह कर हाईकोर्ट की वकालत करते हुए राजधानी के सार्वजनिक कार्य करते रहने की थी; अतएव वे पूने में नहीं रहे। किन्तु सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक की जबाबदारी पडनेपर तिलक को उसके लिए संपादक नियुक्त करते समय अनायास ही बोडस का स्मरण हो आया। और बोडस ने भी यह काम स्वीकार कर लिया। किन्तु फिर भी तिलक अपनी जवाबदारी कोन भूले थे। फलतः बोड्स के सम्पादकत्व में निकले हुए प्रथम अंक में ही तिलक ने "Decentralisation of finance" विषयक एक ज्ञातव्य सामग्रीयुक्त एवं महत्त्वपूर्ण लेख लिखा था। क्यों कि उस समय ये धारासभा के सभासद थे, अतएव बम्बई प्रान्तिक सरकार की आर्थिक दशा का विचार उन्हें दूसरी तरहसे भी करना ही पडता था। सिवाय में माधवराव रानडेने भी त्रैमासिक में इसी विषय पर बिना अपना नाम प्रकट किये एक लेखमाला शुरू कर रक्खी थी, जोंकि अबतक अपूर्ण ही थी। फलतः तिलक का यह बिना नामसे छपा हुआ लेख उस माला का अंतिम अंश ही के समान था । क्यों कि यह एक सर्वमान्य बात थी कि दृढ निश्चय कर लेनेपर जिस किसी विषयपर चाहते उसीपर वे लेख लिख सकते थे; और सार्वजनिक सभा पर अधिकार जमाने के बाद उन के लिखे हुए इस त्रैमासिकवाले लेख को पढनेपर प्रत्येक पाठक को स्पर्धा शब्द के अनुचित होनेपर भी

यह स्वीकार करना पड़ता था कि तिलक रानडे की बराबरी करने विषयक जो महत्त्वाकांक्षा रखते हैं वह एकदम ही व्यर्थ नहीं कही जा सकती। भाषा विषय और तत्वज्ञान में रानडे और तिलक की बराबरी स्वीकार करनेसे कोई नाहीं नहीं कर सकता था। किंतु राजनैतिक विषयोंपर तिलक थाड़ा टेढ़ा लेख लिखकर अच्छी तरह खरीखोटी सुना सकते थे। किंतु यदि किसी को यह शंका हुई हो कि ऐसे विषयों का सूक्ष्म अंकशास्त्रीय ज्ञान उनको प्राप्त नहीं हो सकता तो उसकी यह शंका तिलक के उपरोक्त लेख के पढ़ने से सहजही में दूर हो सकती है। अपने हाथ नीचे दो-चार आदमी रखकर उससे काम कराने विषयक इच्छा रानडे की ही तरह तिलक की भी थी। और अपने पक्ष का वर्चस्व स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा उनके मन में प्रबल हो जानेपर भी सार्वजनिक सभा को हाथ में लेनेपर उनकी इच्छा यही थी कि हम उसे पूर्ववत् चलाकर दिखावेंगे और उस की कीर्ति को बढाये रक्खेंगे। किन्तु रानडे के अधिकार में रहते समय सभा के मार्ग में जिन विघ्नों के आनेकी कभी संभावना नहीं थी उनका इस समय उपस्थित होना अनिवार्य था; और वे आकर ही रहे। अस्तु।

अब सार्वजनिक सभाविषयक चर्चा समाप्त करनेसे पूर्व उससे अलग होने-वाले गोखलेप्रभृति कार्यकर्ताओं ने पूने में ही प्रतिस्पर्धी के रूप में जो संस्था स्थापित की, उसके विषय में कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। इससे पूर्व लगभग बीस वर्षतक सभा रानडे के ही अधिकार में थी, और इन आठ वर्षों से सभा का काम बहुधा गोपालराव गोखले के ही हाथों हो रहा था, साथ ही व्यव-स्थापक मंडल की ओरसे भी उन्हें बहुमत प्राप्त था। किन्तु तिलक पक्ष के बहुमत में काम करनेवाले गोखले का मेल टिक सकना असंभव था, अतएव उन्होंने इस्तीफा दे दिया। इसके बाद भी उनके पक्ष के कुछ लोग सभा में बने ही रहे, और उन्होंने अपने पद से इस्तीफा तक न दिया। किन्तु फिर भी लगभग सभी ने सभा के कार्य से हाथ खिंच लिया था। सन १८९६ की दिवाली की छुट्टी में रानडे पूना आये, उस समय सार्वजनिक सभा के ये सब लोग उनके यहां इकट्ठे हुए। फलतः वहांपर सहज ही में इस विषयपर चर्चा शुरू हो गई कि आगे अब क्या किया जाय? क्यों कि प्राचीन सभापर अपना अधिकार ही नहीं रह गया है; अतएव उसी तरह की दूसरी एक सभा स्थापित करनेका निश्चय हुआ। आरंभ में पृथक् सभा कायम करनेके लिए न्या. रानडे तैयार न थे, ऐसा कहा जाता है, क्यों कि न्यूलकर के सभापतित्व काल में अक्सर ऐसा हो जाता था कि वे रानडे की बात को नहीं मानते और अपने मतानुसार काम कर डालते थे। किन्तु उस समय पृथक् सभा कायम न होनेका कारण यह था कि प्रधान कार्यकर्ता मंत्री सीतारामपंत

चिपलूनकर भी स्वतंत्र बानेके आदमी थे। और वे रानडे को भी अपना गुरु नहीं मानते थे। अतएव रानडे को मनःपूर्वक असन्तोष रहनेपर भी वे खुद आगे बढ़कर अपने नामसे राजनैतिक सभा का कुछ भी काम नहीं कर सकते थे। और न उस समय ऐसा कोई मनुष्य ही था जो कि सब प्रकार उन्हीं के इच्छानुकूल चल सकता हो। आगे चलकर नूलकर और चिपलूनकर दोनों के ही स्थानभ्रष्ट हो जानेपर रा. ब. रानडे का वर्चस्व सभा में पुनः स्थापित हो गया और वह सात आठ वर्षोंतक बराबर बना रहा। किन्तु यह प्रसंग सभी दृष्टियों एकदम भिन्न था। क्यों कि पहले तो रानडे ही मुख्य स्थान पर पूने में मौजूद थे। और यहां उनके रहनेपर यदि कोई बात एकदम ही उनके मतानुसार न हुई, तो भी उनसे थोड़ी बहुत सलाह लिये बिना वह नहीं की जाती थी। किन्तु इस समय उनकी बदली बम्बई हो जानेसे, मुख्य स्थान पर रहते हुए उनसे जो सहायता प्राप्त हो सकती थी, उससे उनके अनुयायी लोग वंचित हो गये। दूसरी बात यह थी कि उनके शिष्य कहलाकर एकदम ही उन्हीं के तंत्रानुसार विशेष श्रम के काम करनेवाले गोखले सदृश सहकारी मिल जानेसे स्वतंत्र संस्था कायम करना उनके लिए आवश्यक और सुलभ हो गया। आवश्यक इस लिए कि गोखले की बुद्धि राजनैतिक विषयों में विशेषरूप से गति प्राप्त कर सकती थी, और साथ ही यह आशा भी की जाने लगी थी कि रानडे की ही तरह ये भी राजनीति में बहुत बड़े कार्यकर्ता होंगे। इसी प्रकार डेक्कन एज्यूकेशन सोसायटी के आजीवन सदस्य के नाते भी उन्हें अभी दस-पांच निकालने थे; किन्तु उनका राजनैतिक कार्य भी इतना बढ़ा हुआ था और आगे चलकर औरभी बढ़जानेवाला था कि, उसके सामने उनका कॉलेज का शिक्षाविषयक कार्य फीका न पड़ने पर भी इस हिसाबसे लोकदृष्टि के अनुसार गौण ही सिद्ध होता था। बीस वर्ष तक सोसायटी में नौकरी करने का इकरार मानों एक प्रकार का नैतिक बन्धन ही था। इसी लिए यह बात जुदी समझी गई, अथवा शिक्षा का काम छोड़ देकर सम्यक् रूप से राजनीति में ही पड़कर ख्यातिलाभ करने और देशसेवक बननेविषयक उनकी योग्यता पर बम्बई में भी फीरोजशहा मेहता आदि को विश्वास हो गया था। किंतु बिना किसी संस्था के कोई काम में बल और तेज नहीं आ सकता। और एक चलती हुई संस्था इनके हाथ से निकल ही गई थी। अतएव बिना किसी नई संस्था के स्थापित किये उनकी आकांक्षा और स्फूर्ति के व्यर्थ चली जानेका भय था, अतएव नई संस्था स्थापित करना अनिवार्य हो गया; अलावा इस के सार्वजनिक सभा को ध्येय-विषयक मतभेद भी अब पहले से अधिक तीक्ष्ण हो गया था। अर्थात् नूलकर एवं रानडे की परस्पर न पटने पर भी इनमें एक नौकर था और दूसरा

पेंशनर। किन्तु तिलक और रानडे में केवल न्यूनाधिकता का अन्तर नहीं बल्कि मूलतः स्वभाव की जाति में ही भिन्नता थी। सभा की मर्जी माफिक तिलक किस ध्येय का अनुसरण करेंगे, इसे पहले ही से जान लेने का कोई मार्ग न था, किन्तु केसरी के लेख और दूसरे बर्तावों पर विचार करते हुए यह मानने में रानडे की कोई विशेष भूल नहीं थी कि यह ध्येय पुरातन परंपरा को छोड़ देगा। रानडे की ही तरह और भी एक सुशिक्षित मंडली इस समय मनेरत्न की ओरसे रंग रखना चाहती थी। उदाहरणार्थ, विनायकराव कीर्तने के पुत्र डॉ. ह्री. कीर्तने जो कि विलायत से बैरिस्टर होकर हाल ही में लौटे थे। ये महाशय अंगरेजी बहुत ही अच्छा लिखते थे। इधर विनायकराव कीर्तने क्यों कि रानडे के सहाध्यायी थे, अतएव बैरिस्टर कीर्तने भी उनके लिए पुत्रवत् थे। इन्होंने भी नई सभा स्थापित करने में बड़ा प्रयत्न किया। तीसरा एक दल और भी इस कार्य में योग दे रहा था। वह पूना के वयोवृद्ध पेंशनर लोगों का था। क्यों कि स्वयम् कुछ काम न कर सकनेवाले भी सार्वजनिक कार्यों में थोड़ाबहुत योगदान करने की इच्छा तो भी रखते थे। फलतः सार्वजनिक सभा को खुद रानडे का आश्रय प्राप्त रहने से पेंशनर लोगों के लिए सभा में रहकर काम करने में किसी प्रकार की शंका नहीं थी। किंतु तिलक के हाथ में सभा पहुँचते ही पेंशनरों की क्या दशा होगी! मतलब यह कि पूना के नर्मदल के युवा और वृद्ध दोनों के ही सार्वजनिक कार्यविषयक उत्साह को मान देकर बड़े ही प्रयत्न के बाद रानडे दूसरी संस्था क़ायम करने को तैयार हुए। किंतु नई संस्था क़ायम करने पर भी पुरानी सभा पर से उनका प्रेमभाव दूर नहीं हुआ था। इसका प्रमाण यही हो सकता है कि उन्होंने अपने वसीयतनामें में सालाना ब्याज की रकम से जितने दान देने की व्यवस्था की थी, उनमें सार्वजनिक सभा के नाम भी एक रक़म लिखी हुई है।

ता. ३१ अक्टूबर सन १८९६ के दिन मुंढवे के निकट कीर्तने के बगीचे में जो भोजन हुआ, उसमें अधिकांश नर्मदल के प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। उस प्रसंगपर न्या. रानडे भी वहां मौजूद थे। अतएव उसी प्रसंगपर वहीं डेक्कन सभा के नाम से ख़ास नर्मदलवालों की एक राजनैतिक सभा स्थापित करने का विचार निश्चित हुआ। यह समाचार तिलक को उसी समय ज्ञात हो गया। किंतु फिर भी दो दिन बाद निकलने वाले केसरी में उन्होंने इस विषय कि चर्चातक नहीं की। क्यों कि नई सभा स्थापित करने का विचार निश्चित हो जानेपर भी उसका उद्देश्यपत्र प्रकट हुए बिना तत्संबन्धी कुछ न लिखने का तिलक ने निश्चय कर लिया था। क्यों कि इस उद्देश्यपत्रिका में जो विधान किये जानेवाले थे उनपर टीका टिप्पणी करना अधिक सुगम था। किये हुए अनुमान के अनुसार अगले ही सप्ताह में वह उद्दे-

स्पपत्र प्रकाशित हो गया। किंतु उस में सभा स्थापित करनेके उद्देश्य बतलाते हुए सार्वजनिक सभा पर जो आक्रमण किया गया, उस से तिलक इतने चिढ़े कि जिसकी हद नहीं। इस विषय में उनके विचार जाननेके लिए ता. १० नवम्बर सन १८९६ के अंक में प्रकाशित लेख पढ़ना चाहिये। तिलक की लेखनी से निकले हुए मर्मभेदी कठोर शब्द जितने इस लेख में दृष्टि गोचर होंगे, उतने दूसरे लेख में शायद ही कभी दिखाई देंगे। इस लेख का शीर्षक ही यह रक्खा गया था कि "यह बुड्ढोंका अभिष्टपण है या बच्चोंका खेल!" यह सलामी बुड्ढे रानडे और कीर्तने आदि 'डोकरों' को मध्यमवयस्क तिलक ने दी थी। इस सारे लेख में क्रोधका एक वेगके पीछे दूसरा और द्वेष की नदियां बहती दिखाई देती हैं। "बड़े लोगों के दोष भी बड़े ही होते हैं। रानडे ने डेक्कन सभा कायम करके भयंकर भूल की है। किन्तु उनके बड़े हो जानेसे क्या हम उनका प्रकट विरोध करने डर जायँगे? उनकी सी विद्वता और बुद्धिमत्ता किसी अंश में हम भी रखते है। और किसी के ऐश्वर्य से हम धोका नहीं उठा सकते। अकाल के कारणों की खोज करते समय जिस प्रकार केरू नाना छत्रे को सूर्य पर के धब्बों का पता लगाना पड़ता था, उसी प्रकार रानडे ने जो तज्ज्ञता का अकाल डाला है, उस में उनके दोष दिखाना भी अनिवार्य हो गया है। जिस प्रकार वेकन मानवजाति में अत्यंत चतुर किंतु महाज नीच था, उसी प्रकार रानडे की बुद्धि व्यापक होने पर भी उदात्त नहीं है। ईश्वर को कमदर्जे का जोड़ीदार कभी नहीं सुहा सकता, उसी प्रकार रानडे को तिलक नहीं सुहा सके हैं। तभी तो उन्होंने सार्वजनिक सभा की छातीपर पाँव देने के लिए डेक्कन सभा स्थापित की है। किन्तु इसके लिए मुहूर्त अमावास्या का और प्रसंग भी ताड़ीवाग में होनेवाले वन–भोजन की तरह मिला है! ऐसे बुरे समय और बुद्धिभ्रंशकारक प्रसंग पर कुत्सित कल्पनाएँ ही उत्पन्न हो सकती। तभी तो मेहमानी के वक्त भक्त लोगों ने न्यायमूर्ति देवता से प्रार्थना की होगी कि हमारी कार्यकारिणी शक्ति नष्ट होती चली है, अतएव हमें नई सभा का वरदान दीजिये। देवता ने वरदान दिया और दूसरी सभा स्थापित करने की अनुमति भी प्रदान कर दी। नर्मदल के पेंशनर लोग तो परवाने के निकम्मे घोड़े की तरह गुलामगिरी का सिक्का लगाकर छोड़ दिये गये है। गोल्डस्मिथ के काव्य का नायक वृद्ध सिपाई अपनी युवावस्था के युद्ध प्रसंगों का जिस आवेश के साथ वर्णन करता है, उसी प्रकार ये वृद्ध रावबहादुर भी अपनी सरकारी नौकरी के पराक्रम को सुना सकते है। उन्होंने यह काम तो किया ही, किन्तु इसी के साथ २ उन्होंने अपने हाथों से न हो सकनेवाले काम को भी ओढ़ लिया हैं। इस प्रकार के डेढ़–दो दर्जन पेंशनर और परप्रकाशी स्वयंप्रज्ञ युवाओं का अपूर्व संयोग रानडे की छत्र-

पक्ष में मिलजाने से ही वह सभा स्थापित हो गई। रानडे ने भयंकर अविचार-पूर्ण कार्य किया, और उनके हाथों से भ्रूणहत्या का पातक हो गया है। विषवृक्ष होने पर भी अपने हाथ का लगाया हुआ समझकर उसे तोडने की नीति महादेव राव को नहीं सुहाई, किंतु रानडे ने उसीसे स्वीकार कर लिया। तभी तो उन्होंने सार्वजनिक सभा के लिए सौत खड़ी कर के अपनी कुटिलता, अनुदारता और क्षुद्र बुद्धि जगज़ाहिर कर दी। किन्तु फिर भी पींजरापोल में इकट्ठे होने वाले पेंशनर लोग किबेवाड़े के शीश महल में जाकर क्या दिये लगायेंगे सो अभी से दिखाई पड़ता है।" इस तरह एक दो प्रकार से ही नहीं बल्कि क्रोध के आवेश में तिलक न जाने क्या २ लिख गये।

जब डेक्कन सभावालों ने सरकार और उसके हस्तकों को एँग्लो-इंडियन पत्रों द्वारा यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि, तिलक से हमारी पटती नहीं, क्यों कि राजनैतिक ध्येय की दृष्टि से तिलक हमसे बड़े दूर हैं; और हम तुमसे बहुत निकट हैं; तबतो उन्हें क्रोध हुआही सही; किन्तु सार्वजनिक सभा की निंदा की जानेपर उन्हें बड़ा ग़ुस्सा आया। यदि कुछ दिनों तक सभा में बहुमत न भी रहा हो तो इसमें क्या बिगड़ हो गया ? किन्तु रानडे को तो सभाओं में सासका कर्तव्य पूरा करने चाव था; ऐसी दशा में वे अपने हाथ से अधिकार का छीना जाना कैसे सहन कर सकते थे ? हाँ, तो डेक्कन सभा के उद्देश्यपत्र पर अन्यान्य लोगों के ही साथ २ आठ रावबहादुरों के भी नाम दिये गये थे, और वह न्या. मू. रानडे की सम्मति से प्रकाशित हुआ था। इस पत्र में जिन दो शब्दों का ख़ास तौरपर समावेश किया गया था, वे ही आगे चलकर न केवल महाराष्ट्र में ही बल्कि सम्पूर्ण भारत के राजनैतिक क्षेत्र में पक्षभेद दिखलाने के लिए अमर हो गये। वे दो शब्द Liberalism और Moderation (अर्थात् उदारवादिता और नर्मी) थे। प्रथम शब्द में राजनैतिक मत की अपेक्षा सामाजिक मतभेद का ही भाव अधिक था। किंतु अब तो लिबरल शब्द एक राजनैतिक पक्ष के लिए ख़ास तौरपर प्रयुक्त हो गया है। जिस पक्ष को प्रतिपक्षी नर्मदल के नाम से सम्बोधित करते हैं, उसे नर्मदलवाले खुद भी लिबरल बतलाते हैं। इस तरह आज लिबरल और माडरेट इन दो शब्दों की समव्याप्ति हो गई है। किन्तु सन १८८६ में महाराष्ट्र के एक पक्ष ने जब इस शब्द को अपने नाम के साथ लगाया, तब इसका आशय केवल सामाजिक ही था। अर्थात् जो सुधारक था वही लिबरल कहा जाता था। क्यों कि उन दिनों सुधारक शब्द का अर्थ ही यह हो रहा था। इस योजना का असली उद्देश्य यह दिखलाने से था कि, तिलक के पुराणमत वादी होनेसे हम उनसे एकदम अलग है। 'नेमस्त' या नर्म शब्द का अर्थ उद्देश्यपत्र में ही अप्राप्य वस्तु

की इच्छा न रखनेवाला बतलाया गया था। शब्दार्थ के इस श्लेषसे का उपयोग कर एंग्लो-इंडियन पत्रों में सार्वजनिक सभा और तिलक को बदनाम करते हुए डेक्कन सभा को सराहनेका प्रयत्न किया। किन्तु सामाजिक मतभेद होनेपर भी तिलक का कहना यही था कि अभी राजनैतिक विषयों में जुदे नामसे पार्टियां खड़ी करने का समय नहीं आया है।

जब तिलक और गोखले, दोनों ही कांग्रेस को मानते हैं, तो फिर इन में अन्तर क्या है? किन्तु केसरी ने यहांतक लिखा कि "तिलक और नातु अंग्रेज़ सरकार का राज्य नष्ट कर देंगे, और रानडे या गोखले उसका उद्धार करेंगे, इस प्रकार के उद्गार प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में प्रकट करना ही सबसे बड़ी नीचता या अपनी मूर्खता के प्रकाशित करने जैसी बात है। अंग्रेज़ सर्कार इतनी शक्ति रखती है कि वह दोनों को थप्पड़ मार कर नीचे बिठा देगी। किन्तु समाज-सुधार में जिस प्रकार नर्म-गर्म का भेद है, वैसा राजनैतिक कार्यों में नहीं हो सकता। अत-एव गर्म सुधारक अपनेको सौम्य नीतिज्ञ कहकर यदि दूसरोंपर राजद्रोह का आरोप लगावें तो तो यह उनका सरासर पाजीपन है। इतनेपर भी संतोष न मानकर तिलक ने कुछ बारीकी से भी छेड़छाड़ की थी। क्यों कि सार्वजनिक सभा के रानडे की छत्रछाया में रहते समय ही सरकार ने उसपर राजद्रोह का कलंक लगा दिया था। इसे धोकर निकालने में रानडे को बड़ा श्रम उठाना पड़ा। इसके बाद राजनैतिक कार्यों में गर्मी दिखलानेपर क्षमा प्रार्थना करनेका जो प्रसंग आया वह गोखले के जमाने में। किन्तु सच्चा प्रातिनिधिक स्वरूप सार्वजानिक सभा को ही प्राप्त हो रहा था, क्यों कि बिना पचास व्यक्तियों की सिफारिश के कोई उसका सदस्य ही नहीं हो सकता था। किन्तु डेक्कन सभा में यह बात नाम को भी नहीं थी। वहां तो अधिकारी लोग जिसे चाहते उसी को सदस्य बना लेते और जिसे चाहते उसे रोक सकते थे। रानडे की गुरुपरम्परा को स्वीकार करनेवाले सियार को जहां अपने सरीखा दूसरा सियार मिला कि तत्काल वह अपने मण्डल में उसे शामिल कर लेता था। इसी लिए डेक्कन सभा का नाम रावबहादुरों की पींजरापोल या 'रानडे का घोंसला' रख दिया गया था। क्यों कि रानडे की विद्या मोटी [उच्च प्रति की] रहनेपर भी उनकी बुद्धि खोटी थी। उनकी जन्मपत्रिका में बुद्धीस्थान पर अवश्य ही कोई पापग्रह रहा होगा। क्यों कि स्वतः कष्ट न उठाकर लोगों को भ्रममें डालते हुए देशकार्य को आगे धकेलना ही रानडे कि शुक्रनीति है।" इत्यादि।

यह लेख लिखते समय खुद तिलक को ही ज्ञात हो रहा था कि मैं मर्यादा का उल्लंघन कर रहा हूं। क्यों कि अन्तिम वाक्य में तो उन्हों ने यहांतक लिख दिया था कि "आशा है कि अब किंचित् स्वेच्छाचार से अस्पृश्य हो जानेवाली लेखनी

को फिर हाथ में लेने की आवश्यकता न पडेगी"। इस विवादसे लाभ उठाकर सरकार के कितने ही बगल बच्चों ने सार्वजनिक सभा को एँग्लो-इंडियन पत्रोंद्वारा खूबही भला बुरा कहा। जब तिलक ने लोगों को फेमिन कोड समझाने का प्रयत्न किया तो उस में उपज की अन्नेवारी के हिसाबसे लगान देते समय भी सावधानी रखनेका उपदेश किया था। बम्बई टाइम्स ने इस को लक्ष्य करके लिखा कि "तिलक ने "नो रेंट कॅम्पेन" अर्थात् जिमींदारी नष्ट करनेका आंदोलन खड़ा किया है"। यह प्रकट ही है कि इन शब्दों की स्फूर्ति टाइम्स सम्पादक को आयर्लेण्ड के आंन्दोलन परसे हुई क्यों कि आयरिश लेण्ड लीग को बेक़ायदा बतलाकर ब्रिटिश सरकार ने नष्ट कर दिया, उसी प्रकार सार्वजनिक सभा को भी तुड़वा देनेका टाइम्स ने प्रयत्न किया था। किंतु इस सभा का पक्ष समर्थन करने-वाले भी कुछ पत्र प्रकाशित हुए थे। बम्बई गज़ट में चिट्ठी छपाकर "कालिथिक" के नाम से किसी व्यक्ति ने इन दो सभाओं की रचना का सच्चा अंतर्भेद प्रकट कर दिया था। उसने यहां तक लिखा कि ज़रा तिलक और उनके प्रतिपक्षों के बीच जो अन्तर है उसे तो देखिये! जब तिलक को राष्ट्रीय महासभा के मंत्रित्व से त्यागपत्र देना पड़ा तब उन्होंने तो चुपचाप अलग होकर रुपये पैसे सहित तात्कालही सारा दफ्तर प्रतिपक्षियों को सौंप दिया, और ये लोग अपनी प्रतिष्ठा को घटती देख तत्काल दूसरी सभा कायम कर बैठे! स्वतः टाइम्स को ही एक पत्र भेजकर किसीने पूछा था कि केसरी ने रानडे को बुड्ढा का अभिदान लगने की बात कही उसमें और तुम्हारी ओरसे ग्लेडस्टन साहब को "पागल और बुद्धिभ्रष्ट बुड्ढा" कहा जाने में कितना अन्तर है?"

आगे चलकर इन दो सभाओं का झगड़ा प्रकट रूप में नहीं बढ़ा। क्यों कि डेक्कन सभा की ओर से भी अकालविषयक अर्जियां आने लगी और सर-कार की ओरसे भी उनके उत्तर आने लगे थे। अतएव कुछ दिनोंतक इन दोनों सभाओं के ध्येय का अंतर सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करना ही लोगों के लिए एक उपहासा हो गया था और सरकार भी एक को अच्छा कहने से दूसरे को मायूस से बुरा कहलवानेका नाजुक काम सहजही न कर सकी। किन्तु जिस प्रकार सरकार ने सार्वजनिक सभा को कुछ नहीं दिया, उसी प्रकार डेक्कन सभा को भी उसने कुछ लाभ न पहुँचने दिया। हां, इतना अवश्य हुआ कि, लोकनवदर्शक सूचनाएँ स्वीकार कर तदनुसार अकाल में लोगों के साथ रियायत अधिक की गई। किन्तु इन दोनोंमें से कोई सी भी सभा करने लिए कुछ नहीं मांग रही थी। किन्तु कुछ ही दिनोंबाद एक प्रचारक की भूलसे सरकार ने सार्वजनिक सभा को स्पष्ट सूचित कर दिया कि 'अब हम तुम्हें कुछ भी न समझेंगे'। और

डेक्कन सभा के साथ पत्रव्यवहार जारी रक्खा, यही एकमात्र इन दोनों के बीच अंतर रहा।

अगले वर्ष वेल्बी कमिशन के सामने गवाही देनेके लिए डेक्कन सभा के मंत्री की हैसियत से गोखले विलायत गये। वहां उन्होंने अपनी कैफियत में डेक्कन सभा का वर्णन उसकी उद्देश्यपत्रिका के शब्दों द्वारा ही किया। और साथ ही यह कहकर कि डेक्कन सभा से पूर्व मैं इसी प्रकार की एक सभा का मंत्री था। वहां उन्होंने सार्वजनिक सभा का भी उल्लेख किया था। किन्तु यह उल्लेख प्रथमतः अपूर्ण था, अतएव गोखले की गवाही पर अग्रलेख लिखते हुए ता. ११ मई सन १८९७ के केसरी में तिलक ने अपनी पुरानी बातों को याद करके लिखा कि 'गोखले ने राजनिष्ठा का अनावश्यक प्रदर्शन करते हुए अंत में सार्वजनिक सभा पर भी लात फटकारने का प्रयत्न किया है'। इस आलोचना का उत्तर गोखले ने लन्दन से ही ता. २९ मई को लिख भेजा। जिस में कि यह कहा गया था कि "सार्वजनिक सभा का उल्लेख भी मैंने डेक्कन सभा की ही तरह नाम निर्देश्य-पूर्वक किया है।" साथ ही यह करनेके लिए कि मैंने दोनों ही सभाओं को एकसा वतलाया है, उन्होंने सारा उद्धरण ही यहां भेज दिया, जिससे कि खुलासा होने में कठिनाई न पड़ सकी।

सार्वजनिक और डेक्कन सभा का इससे वादका इतिहास महाराष्ट्र से छिपा हुआ नहीं है। किन्तु डेक्कन सभा की मूल स्थापना उपरिनिर्दिष्ट कारणों से विशेष महत्त्व की समझी जाती है। इस झगड़े में तिलक का असल मुद्दा यह था कि 'तुम अपनेको नर्मदल के कहलाते हो, अतएव परस्पर की तुलना से हम गर्मदलवाले सिद्ध हो जाते हैं। फिर भी तुम हम एकत्र रहकर ही काम करेंगे। क्यों कि दो दिन यदि तुम्हारा पक्ष ऊंचा हो गया तो दो दिन हमारा भी होगा। केवल दायें-बायें के भेद से ही एक शरीर के दो अवयवों के नाते लोगों में हमारा परिचय होना चाहिये। क्यों कि शरीर में लगे हुए दो हाथ परस्पर कभी न कभी काम दिये विना नहीं रह सकते। हां, यदि वे टूटकर एक दूसरे से अलग हो जायँ तो अलवत्ता कुछ नहीं कर सकते। क्यों कि तिलक आरंभ से ही समझ रहे थे कि इन हाथों को तोड़कर अलग करने एवं इनका परस्पर का नाता भुलवा देने, और मौका पड़ने पर यह तक कह देने में कि इनका हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है—सरकार का राजनैतिक दाव सफल हो जाता है। फलतः वंग-विच्छेद के बाद से तो यह ध्येय एक-तरफ से अमल में लाया जाने लगा। यद्यपि तिलक का खोज निकाला हुआ यह राजनैतिक मर्म अचूक था। किंतु सभा की पृथक् स्थापना करनेसे उन्होंने रानडे पर जो आक्रमण किया,

यह अप शब्दों की दृष्टिसे उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस बातको तो खुद उन्होंने स्वीकार किया है कि उन शब्दों को लिखते समय लेखनी स्वेच्छा-चारिणी हो गई थी। फलतः दोष दिखाई देता रहने पर भी तिलक ने क्यों उसे दूर नहीं किया, इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता। दूसरी एक बात यह भी कही जा सकती है कि इस फूट में कम से कम दस वर्ष का इतिहास गर्भित था। इस अवधी में ऐसा कोई वर्ष नहीं गया कि जिस में तिलक पक्ष और सुधारक पक्ष के बीच ज़ोरदार झगड़ा न हुआ हो। इन झगड़ों के कारण उभय पक्ष के नेताओं का स्वभाव-भेद यहांतक प्रगट हो गया कि, जिस परसे भविष्य में इन दोनों के पट सकने की आशा तक न रही। यदि यह भी मान लिया जाय कि इससे पहले के झगड़ों में सुधारक पक्ष की ही ओर दोष था, तो फिर नई सभा स्थापित करना उनके लिए नया दोष नहीं बतलाया जा सकता। पूना में आमंत्रित राष्ट्रीय सभा की व्यवस्था करने में यदि मतभेद के लिए स्थान हो भी सकता है तो वह बहुत ही थोड़ा। किंतु यहां भी वह इतना बढ़ गया कि स्वतः तिलक को त्यागपत्र देकर वर्किंग कमेटी से अलग हो जाना पड़ा। क्यों कि अलग से तो कॉंग्रेस होही नहीं सकती थी, अतएव इस पर कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु जुदी वार्किंग कमेटी बना सकने विषयक जो कल्पना थी, वह तिलक के अनुयाइयों के हठ से सूचित कर ही दी गई थी। सम-स्वभाव वाले दो मनुष्यों मे मतभेद होनेपर उन्हें अलग २ संस्थाएँ कायम नहीं करनी पड़तीं। क्यों कि वे उसीमें रहकर जैसे तैसे काम बना लेते हैं। किंतु जब मतभेद का बीजारोपण विषय स्वभाव रूपी भूमि में होता है, तब पेट में जड़े और बाहर शाखाएं बढ़े बिना रह ही नहीं सकतीं। यद्यपि यह माना जा सकता है कि डेक्कन एज्युकेशन सोसायटी से अलग हो जानेके बाद तिलक ने कोई नई शिक्षणसंस्था क़ायम नहीं की। किन्तु किसी कर्ता पुरुष के सार्वजनिक जीवन के लिए जितने साधनों की आवश्यकता होती है, उन सब की योजना तिलक को नये सिरेसे ही करनी पड़ी। रानडे-गोखले पक्षने भी तो डेक्कन सभा को स्थापित करके और क्या किया? इस सब में बुरी बात केवल यही थी कि गोखले पक्ष के पत्रों में तिलक के सम्बन्ध में कुछ भी लिखा जाता हो, किंतु यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि स्वतः रानडे की ही नहीं किंतु गोखले की शब्द मर्यादा भी तिलक के विषय में लिखते या बोलते समय इतनी छूट नहीं जाती थी। इतने पर भी जहां सरकार के साथ बरताव करते हुए किंचित् नर्मीसे पेश आने का दोष लगाना रानडे के लिए उचित कहा जा सकता है, वहीं उपर्युक्त लेख की तरह रानडे को गालियाँ देनेके दोष से तिलक भी मुक्त नहीं किये जा सकते। प्रत्येक विषय में उचित और अनुचित अंश अलग २ होता है। और समाज में राजनैतिक भेद

दिखाई देनेसे सरकार का लाभ होनेविषयक तिलक के कथन में जो भी तथ्य हो, किन्तु उसीसे केवल जुदी सभा स्थापित करनेपर इस तरह के अपशब्दों का प्रयोग करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। अस्तु। क्यों कि आज न तो रानडे विद्यमान है और न गोखले या तिलक ही, अर्थात् इन सब के चले जानेपर अब केवल किसी विशेष प्रसंग में क्रोध के अनिवार्य हो जानेसे तिलक को शब्द-मर्यादा छोड़देने का दोष देनेके लिए उपर्युक्त लेख एक उदाहरण के रूपमें ही रह गया है, और यही एकमात्र उसका महत्त्व भी समझा जा सकता है।

भाग बाईसवाँ।

——:०:——

तिलक और लार्ड हेरिस।

मनुष्य जब राजनैतिक विषयों की आलोचना करने के लिए प्रवृत्त होता है, तब उसे किसी न किसी रूप में प्रांतिक गवर्नर का नाम लेना ही पड़ता है। राज्य-कारोबार रूपी घड़ी के अंदर के कलपुर्ज़ों की रचना, उनका पारस्परिक संबन्ध और कार्यपद्धति कैसी ही क्यों न हो, किन्तु देखनेवाला डायल पर की सुइयों को ही मुख्य मानता है। क्यों कि समय बतलानेका मुख्य कार्य यही करते हैं। ये यदी असली समय को छोड़कर बहुत पीछे रह जायँ, अथवा बिलकुल ही न ठहरें या बहुत आगे बढ़ जाते हों तो इसी परसे उस घड़ी की परीक्षा हो जाती है। और उसकी प्रशंसा या निंदा का निर्णय भी हो सकता है। प्रान्तिक राज्य कारोबार की दृष्टि से घड़ी की स्प्रिंग बन सकनेवाले गवर्नर कभी २ ही आते है। परंतु डायल पर की सुई बनना कई एक के भाग्य में होता है। कारण इस का यह है कि पांच वर्ष के लिए यहां आनेवाले विलायती समझदारों को यहां की परिस्थिति का ज्ञान एक तो वैसे ही कम होता है, और यदि किसी को वह ज्ञान हो भी तो सिविलियन सेक्रेटरी और कौंसिलरों के ध्येय का विरोध कर अपने ढंग पर ही कारोबार चला सकने योग्य धैर्य एवं गंभीरता उस में नहीं होती। मूल कारण कुछ ही क्यों न हो किन्तु प्रान्त का सारा कारोबार तो गवर्नर के नाम से ही चलता है। ऐसी दशा में अच्छे कार्यों के यश की तरह उसे अपने कारोबार के निकृष्ट सिद्ध होने पर लोक-निंदा का भारवहन करते हुए भी विलायत जाना पड़ता है। राज्य कारोबार में आजतक कितने ही उत्तम अथच लोकोपयोगी कार्य हुए होंगे, किन्तु किसी भी कौंसिलर का स्मारक या पुतला बनाया नहीं देखा गया। सभी स्मारक एकमात्र गवर्नर के ही होते हैं। फलतः इसके विरुद्ध यदि लोग किसी को भला बुरा कहना चाहे, और गवर्नर का ही नाम ले तो इस में उन्हें कैसे दोष दिया जा सकता है?

संयोगवश बम्बई प्रान्तमें सन १८८८ से १८९५ तक के इस वर्षों में दो गवर्नर एक के बाद एक इस तरह के आये कि जिनमें से एक ने जितने अंश में लोकप्रियता संपादन की उतना ही दूसरे ने अपने को लोकनिंदा का पात्र बनाया। ये दोनों गवर्नर लार्ड रे और लार्ड हेरिस नाम के थे। इन दोनों से तिलक का व्यक्तिशः सम्बन्ध तो बहुत कुछ आया ही, किन्तु सार्वजनिक सभा की दृष्टि से भी केसरी को जहां एक की भरपूर प्रशंसा करनी पड़ी वहीं उसे दूसरे की उतनी ही निंदा करने के लिए भी बाध्य होना पड़ा।

सौभाग्यवश इन दोनों ही गवर्नरों के गुणदोष के संबंध में स्वतः तिल
और उनके प्रतिपक्षी सुधारक-अर्थात् तत्कालीन नर्मदल-में एकमत था। इ
कारण एक ही बात को भिन्न २ रीतिसे, जुदी २ भाषा में और अलग २ ढंग
प्रकट करने में ही मनुष्य का सच्चा स्वभाव-भेद दृष्टिगोचर हो जाता है, और स
लोकहित किस ने किया अथवा उसकी रक्षा करने में किस ने दक्षता प्रकट की
अधिक धैर्य किस ने दिखलाया किंवा विशेष स्वार्थत्याग किस ने प्रकट किया, इस
भी पता लग जाता है। इसी लिए सार्वजनिक कार्यों में योग दान करते समय
तिलक ने अपने दृष्टिपथ में इस ध्येय को कायम कर लिया था कि सरकार
लगातार सामना करने सकनेवाला लोकपक्ष खड़ा करके समाचारपत्रों द्वारा लो
मत प्रकट किया जाय। फलतः यदि इस प्रकार का पक्ष खड़ा करना या ऐस
लोकमत प्रकट किया जाना राष्ट्रहित की दृष्टि से आवश्यक मान लिया जाय तो अं
में संसार के यही निर्णय प्रकट करना पड़ेगा कि तिलक ने जो कुछ किया व
अच्छा ही किया, फिर भले ही उस में छोटे बड़े दोष कुछ भी क्यों न हो। औ
उनके प्रतिपक्षियों ने जो कुछ किया वह अनुचित किया, फिर भले ही उस में छो
बड़े गुण भी क्यों न हों।

लार्ड रे का शासन-काल अनेक दृष्टियों से लोकप्रिय सिद्ध हुआ। क्राफर्ड
प्रकरण में उन्होंने न्यायबुद्धि रखकर स्वकीयों के विरुद्ध झगड़े में बहुत कुछ धैर्य
दिखलाया; खंबात के पोलिटीकल एजंट विल्सन ने जब स्टेट-दीवान के साथ
व्यक्तिशः अपमानकारक और अनीतिमूलक व्यवहार किया, तब उसकी जांच के
लिए भी लार्ड रे ने एक कमिशन नियुक्त किया था। इन्हीं सब बातों से लार्ड रे
का यह महत्त्वपूर्ण गुण लोगों के परिचय में आ गया कि वे किसी गोरे अधिकारी
तक का अपराध क्षमा नहीं करते है। धारासभा में सरकार की ओरसे जो सदस्य
चुने जाते है, वे लार्ड रे के चुने हुए सर्वमान्य सदस्यों की तरह आज तक किसी ने
नहीं चुने। प्रान्तभर में घूमने और विपत्ति के समय लोगों को सरकार की ओरसे
सहायता देने आदि बातों परसे उनकी लोकहित-तत्परता विशेषरूप से दृष्टिगोचर
हुई। जंगल-विभाग के विरुद्ध लोगों की शिकायतें पराकाष्ठा तक पहुँच गई थीं,
उनकी जांच के लिए कमिशन नियुक्त कर सब शिकायतें सफा कर देनेसे लोगों को
बड़ा संतोष हुआ। जंगल की ही तरह आबकारी विभाग में और जमीन-महसूल
विभाग के कुछ विषयों में लार्ड रे ने अंत समय लोगों को नाराज अवश्य कर
दिया, किन्तु फिर भी यदि समालोचकों के हृदय में इस कार्य सम्बन्धी दोष उनके
कौंसिलरोंपर डालकर खुद उन्हें यथासंभव दोषमुक्त करनेकी बुद्धि उत्पन्न हो जाय,
तो इससे बढ़कर उनकी लोकप्रियता का प्रमाण और क्या हो सकता है? औद्यो-

ाक प्रगति और शिक्षासंबन्धी कार्यों में भी लार्ड रे ने बहुत कुछ सहानुभूति देखलाई। क्यों कि उस समय के महाराष्ट्रीय नेता और पत्र-संपादक प्रजाकीय कॉलेजों के प्रोफेसर भी थे, अतएव शिक्षा के विषय में अत्यंत उदारमत रखने वाले विद्वान गवर्नर ने यदि अपने ढंग से महाराष्ट्र को मोहित कर लिया हो तो इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। प्रो. गोखले की अपेक्षा व्यक्तिशः तिलक का ही लार्ड रे अधिक निकट परिचय था। क्यों कि कॉलेज परिवार में बड़े भाई का मान तिलक-आगरकर को ही प्राप्त था; अतएव सरकार दर्बार में शिक्षा-विषयक फेरफार करनेके सूत्र इन्हीं दोनों के हाथ में रहते थे। किन्तु इन दोनों में भी आगरकर की गति स्थिर थी, और तिलक का स्वभाव अधिक दृढ था, अतएव आगरकर की अपेक्षा तिलक के हाथ में ही ये सूत्र विशेषरूप से रहते थे। तिलक के सहायक नामजोशी को यद्यपि प्रोफेसरी का सम्मान प्राप्त नहीं हुआ था, किन्तु फिर भी कल्पकता, चातुर्य एवं उद्योग-शीलता की दृष्टि से वे किसीसे भी कम न थे। इसी कारण तिलक और नामजोशी को ही सरकार दरबार में विशेषरूप से आना-जाना पड़ता और कागजी घोडे दौड़ाने पड़ते थे। व्यक्तिगत रूप से आगे चलकर लार्ड रे के साथ इनकी यहांतक घनिष्ठता हो गई कि, पहलेसे टाइम निश्चित करके गवर्नर साहब की मुलाक़ात कर सकनेका जो नियम था, वह इनके लिये तोड़ दिया गया था। अतएव कार्यकारणवश ये जब कभी चाहते गवर्नर से मुलाक़ात करने चले जाते थे, और किसी विशेष कार्य में संलग्न न रहनेपर स्वाभाविक रीति से गवर्नर साहब इनसे मुलाकात और बातचीत कर सकते थे।

फलतः जब लोगों को लार्ड रे का शासनकाल समाप्त होने का पता लगा तो सारा बम्बई प्रान्त चिंतातुर हो उठा। क्यों कि उधर लार्ड रिपन और इधर लार्ड रे दोनों ही उदार ध्येय की दृष्टि से लोगों को एक सांचे में ढले हुए जान पड़ते थे। सार्वजनिक सभा के त्रैमासिक में सन १८८० में प्रो० गोखले ने लार्ड रे की कार्यवाही का पर्यालोचना करते हुए इस आशय के मीठे शब्दों का प्रयोग किया है कि वह अधिकांश में यशस्वी हुई, और उन्होंने अपूर्व धैर्य एवं कर्तव्य-निष्ठा का परिचय दिया है। किन्तु इसी तरह जब किसी अंगरेज की प्रशंसा करने का मौक़ा आता तब तिलक भी कभी किसीसे पीछे नहीं रहते थे। तभी तो लार्ड रिपन के अंगरेज़ होनेपर भी उन्होंने इनके गुणों की सराहना करने में जराभी आगा-पीछा न देखा। अधिक क्या कहा जाय, किंतु एक यःकश्चित् पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट ब्रुइन तक की मृत्यु हो जानेपर भी तिलक ने केसरी में उसके गुणानुवाद पर अग्रलेख लिखा था। इसे प्रायः केसरी के सभी पुराने पाठक अच्छी-

तरह जानते है। ऐसी दशा में लार्ड रे के विषय में उन्होंने कितना उज्ज्वल एवं प्रशंसात्मक लेख लिखा होता इसकी कल्पना पाठक स्वयंही कर सकते है। किंतु क्यों कि उन दिनों तिलक केसरी में कुछ लिखते-लिखाते नहीं थे, अतएव उन्हें इस विषय में अपने उद्गार प्रकट करनेका अवसर ही न मिल सका। लार्ड रे से पूर्व सर जेम्स फर्ग्यूसन के जमाने में तिलक को कोल्हापुरवाले मामले में सजा अवश्य हो गई, किन्तु उस समय भी शिक्षा दान के सिवाय अन्य कोईसा भी सार्वजनिक कार्य तिलक ने हाथ में नहीं ले रक्खा था; अतएव फर्ग्यूसन साहब के विषय में प्रकट रूप से भलाबुरा मत प्रकट करनेका अवसर उन्हें न मिल सका। और परिस्थिति के अनुरूप अपने नये कॉलेज का नाम भी खुद गवर्नर फर्ग्यूसन के नामपर रखना पड़ा। ऐसी दशा में यदि गुणदोष और स्तुति-निंदा विषयक उनका जमाखर्च बराबर भी मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। किंतु तिलक के सार्वजनिक जीवनमें प्रवेश करने और लार्ड हेरिस सरीखे गवर्नर के बम्बई आनेका मौका एकही साथ आया और इस शासन-कालकी समाप्ति पर्यन्त तिलक की केसरी के लेखों द्वारा प्रकट होनेवाली निर्भीकता अथच स्पष्टवादिता यहांतक बढ़ गई कि लार्ड हेरिस के ही कार्यकाल में तिलकपर पहिली बार राजद्रोह का अभियोग चलाया जानेके लक्षण दिखाई देने लगे किंतु दैवयोग से वह प्रसंग दूसरे गवर्नर के कार्यकालतक के लिए आगे टल गया।

लार्ड रे की तरह हेरिस के गुणदोष के विषय में तिलक और गोखले पक्ष का एक मत था। किन्तु यह दिखानेसे पूर्व लार्ड हेरिस पर तिलक की ओरसे किस प्रकारका आक्रमण किया गया, उनके विषय में प्रो० गोखले का अभिप्राय प्रकट कर देना आवश्यक जान पडता है। सार्वनिक सभा के त्रैमासिक में वे लिखते हैं कि " No regime has ever left so many disagreeable memories behind. Certainly no regime within our memory was guilty of a more systematic difiance of public opinion or set the rulers and the ruled wider apart " (अर्थात्) लार्ड हेरिस के शासनका[illegible] की तरह किसी लार्ड का शासन नहीं रहा कि जिसका स्मरण होते ही चि[illegible] हो। जिसने लोकमत की पर्वाह नहीं की, अथवा सरकार अ[illegible] अधिक विरोधभाव उत्पन्न किया हो, ऐसा कोईभी गवर्नर आजत[illegible] आया।' [illegible]लोचना के शब्द सौम्य सभ्यतापूर्ण है [illegible] यदि [illegible] बुरा बतलाना [illegible] अधिक [illegible] है [illegible] जो गवर्नर [illegible] भी

क्योंकर उचित कहा जा सकता है? क्यों कि जनता सचमुच ही अपने मन में उसके लिए इसी भाषा का उपयोग कभी न करते होंगे। अतएव यथार्थ में ही ये जिस भाषा का प्रयोग करते हो उसका प्रकाशरूप में कहांतक उपयोग किया जाना चाहिये? लोकहित की दृष्टि से ऐसे प्रसंगपर सौम्य भाषा का उपयोग करना अच्छा है या जैसा कि हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं, तदनुसार तिलक की लिखी हुई निर्भीक एवं मर्मयुक्त भाषा का प्रयोग करना? हम समझते हैं कि इस प्रश्न उत्तर पाठक लोग अपनेआप दे सकेंगे।

लार्ड हेरिस ने अपने कार्यकाल में लोकप्रिय कार्य शायद ही कोई किया हो। इसी लिये तिलक को भी उनके विषय में सद्शब्द लिखने का मौका कभी नहीं मिला। बल्कि अनेकों बार उन्हें निन्दा ही करनी पड़ी। किन्तु इस प्रसंग पर तिलक ने क्या कहा, उन वाक्यों को उद्धृत करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्यों कि ऐसा करनेसे विस्तार अधिक हो जायगा। किन्तु लार्ड हेरिस के विलायत जानेके समय जलेपर निमक लगाने की ही तरह जब (उनके) मित्र एवं भक्त लोगोंने उनका स्मारक बनानेका आन्दोलन खड़ा किया तब विवश हो कर तिलक को भी लार्ड हेरिस के विषय में खरी २ सुनानी पड़ी और अन्य समालोचकों के भी जोशीले लेख केसरी में छापकर लोकमत प्रकट करना पड़ा। प्रो. गोखले सदृश सावधान और नर्म एवं सौम्य स्वभाववाले व्यक्ति का लार्ड हेरिस-विषयक मत—जिसे कि हम खुशीसे न्या. रानडे द्वारा सम्मत कह सकते हैं—ऊपर लिखे अनुसार होते हुए भी यदि कोई उनका स्मारक बनानेके लिए आन्दोलन मचावे तो सच्चे लोकप्रतिनिधि को क्रोध क्यों न आवेगा? और उसे उचित शब्दों में व्यक्त करनेसे भी वह क्यों चूकेगा?

यदि वापस जानेवाले प्रत्येक गवर्नर का स्मारक बनाना ही कुछ लोग अपना धन्दा बना ले तो बिना ऐसा किये उसका प्रतिकार हो ही कैसे सकता है? उसमें भी स्मारक बनानेवालों की अनावश्यक आशा यह रहती है कि वह उसे सार्वजनिक बतलाकर जबरन जनताके माथे चढ़ा दे। खुद गवर्नर सा. मानपत्र पाने के लिए कहांतक उत्सुक थे यह बतलाना कठिन है किन्तु अपने कार्यकाल के अंतिम दिनों में उन्हों ने बहुत कुछ पैर पीटे और इसमें सन्देह नहीं कि उनके भक्तों ने भी इसके लिए जी जानसे प्रयत्न किया कि उनकी चरधरज हमारे शहर में पड़े। ऐसे मौक़ेपर इस मानपत्र के प्रयत्न का घोर विरोध करनेके लिए तिलक को केसरी के द्वारा बहुत कुछ लिखना पड़ा। खुद लार्ड हेरिस और उनकी भक्तमण्डली के लोग स्पष्टवादिता की बड़ी ठसक दिखाते थे। किन्तु सर्वाधिकारसंपन्न गवर्नर का ही जब लोगों को बुरा भला कहे बिना समाधान

तरह जानते है। ऐसी दशा में लार्ड रे के विषय में उन्होंने कितना उज्वल एवं प्रशंसात्मक लेख लिखा होता इसकी कल्पना पाठक स्वयंही कर सकते है। किंतु क्यों कि उन दिनों तिलक केसरी में कुछ लिखते-लिखाते नहीं थे, अतएव उन्हें इस विषय में अपने उद्गार प्रकट करनेका अवसर ही न मिल सका। लार्ड रे से पूर्व सर जेम्स फर्ग्यूसन के जमाने में तिलक को कोल्हापुरवाले मामले में सजा अवश्य हो गई, किन्तु उस समय भी शिक्षा दान के सिवाय अन्य कोईसा भी सार्वजनिक कार्य तिलक ने हाथ में नहीं ले रक्खा था; अतएव फर्ग्यूसन साहब के विषय में प्रकट रूप से भलाबुरा मत प्रकट करनेका अवसर उन्हें न मिल सका। और परिस्थिति के अनुरूप अपने नये कॉलेज का नाम भी खुद गवर्नर फर्ग्यूसन के नामपर रखना पड़ा। ऐसी दशा में यदि गुणदोष और स्तुति-निंदा विषयक उनका जमाखर्च बराबर भी मान लिया जाय तो अनुचित न होगा। किंतु तिलक के सार्वजनिक जीवनमें प्रवेश करने और लार्ड हेरिस सरीखे गवर्नर के बम्बई आनेक मौका एकही साथ आया और इस शासन-कालकी समाप्ति पर्यन्त तिलक की केसरी के लेखों द्वारा प्रकट होनेवाली निर्भीकता अथच स्पष्टवादिता यहांतक बढ़ गई कि लार्ड हेरिस के ही कार्यकाल में तिलकपर पहिली बार राजद्रोह का अभियोग चलाया जानेके लक्षण दिखाई देने लगे किंतु दैवयोग से वह प्रसंग दूसरे गवर्नर के कार्यकालतक के लिए आगे टल गया।

लार्ड रे की तरह हेरिस के गुणदोष के विषय में तिलक और गोखले पक्ष का एक मत था। किन्तु यह दिखानेसे पूर्व लार्ड हेरिस पर तिलक की ओरसे किस प्रकारका आक्रमण किया गया, उनके विषय में प्रो० गोखले का अभिप्राय प्रकट कर देना आवश्यक जान पडता है। सार्वनिक सभा के त्रैमासिक में वे लिखते हैं कि "No regime has ever left so many disagreeable memories behind. Certainly no regime within our memory was guilty of a more systematic difiance of public opinion or set the rulers and the ruled wider apart" (अर्थात्) लार्ड हेरिस के शासनकाल की तरह किसी लार्ड का शासन नहीं रहा कि जिसका स्मरण होते ही चित्त उद्विग्न हो उठता हो। जिसने लोकमत की पर्वाह नहीं की, अथवा सरकार और प्रजाके बीच अधिक विरोधभाव उत्पन्न किया हो, ऐसा कोईभी गवर्नर आजतक इस प्रान्तमें नहीं आया।' इस आलोचना के शब्द सौम्य अथच सभ्यतापूर्ण है किन्तु अर्थ की दृष्टि से यदि किसी गवर्नर को बुरा बतलाना हो तो इससे अधिक और कोई क्या कह सकता है? प्रश्न यह है कि जो गवर्नर इतना बुरा हो उसके विषय में इस तरह के सौम्य शब्दोंका प्रयोग करना भी

पैदा सरकार पर की गई है। क्यों कि जब यह मांग पेश करनेमें भी किसी प्रकार का राजद्रोह नहीं समझा जाता कि अमुक गवर्नर की हमे आवश्यकता नहीं है, दूसरा भेजिये, तो फिर उसे केवल बुरा भला कहने में राजद्रोह कैसे हो सकता है? क्यों कि जब हम पर किये जानेवाले अन्याय के लिए रानी सरकार की सम्मति नहीं है, तो फिर उन अन्यायों के विषय में कुछ भी न लिखा जाने पर हम नहीं समझ सकते कि समाचारपत्र ही क्यों निकाले जाते हैं?' किंतु इतना लिखकर भी तिलक चुप नहीं हो गये। बल्कि यह सोचकर कि प्रायः लेख की ही तरह मनःस्थिति का अन्य प्रमाण भी राजद्रोह की जांच में गृह्य मान लिया जाता है; वे लिखते हैं कि "हमारी धारणा है कि, जो कुछ हम लिखते हैं, उससे भी हमारी मानसिक स्थिति जितनी व्यक्त होनी चाहिये उतनी नहीं हो सकती।"

जब सबसे पहले (नवम्बर १८६४ में) लार्ड हेरिस का पुतला बनवाने की कल्पना प्रसूत हुई उस समय तिलक ने यह सूचित किया था कि "हेरिस साहब के गुणों का ठीक २ निदर्शन करानेके लिए मूर्तिकार को निम्न बातें याद रखनी चाहिये (१) लोकमत का तिरस्कार (२) खेलने की हवस (३) उचित काम करने से उकताहट (४) स्पष्टोक्ति से प्रेम (५) अपने भाषण द्वारा लोगों के चित्त पर कैसा प्रभाव पड़ेगा, इसके लिए निश्चितता (६) अधीनस्थ कर्मचारियों पर काम का बोझ लादने की युक्ति (७) वैमनस्य बढ़ानेका हतकंडा (८) राष्ट्रीय गुणों का ह्रास करनेकी शैली (९) स्वजाति बांधवों से प्रेम।

सन १८६५ की जनवरी के अंत में स्मारक की कल्पना प्रबल हो उठी, किंतु साहबबहादुर के दौरे में उन्हें जिस प्रकार का लोकमत दृष्टिगोचर हुआ, उससे सावधान होकर पुतले को सार्वजनिक न बनाते हुए यह प्रकट कर दिया गया कि वह केवल मित्र मण्डली की ही ओरसे बनाया जायगा। चंदे की रकम २२००० तक पहुँच गई थी, किंतु इसमें २०००० रुपये तो राजा-महाराजाओं से ही मिले थे। फिर सभा में इस बातका खुलासा कभी नहीं किया गया कि उनके अमुक गुणों के कारण यह स्मारक बनाया जा रहा है। इससे भी पहले एक सभा हुई थी, जिसमें कि इस बात पर चर्चा चली थी कि लार्ड हेरिस ने शारीरिक खेलों को उत्तेजन दिया है, अतएव उनके इस गुण के स्मारक में पुतला बनाया जावँ। इस सभा में रानडे आदि भी मौजूद थे। किन्तु इसके बाद वह कल्पना रहित कर दी गई। पर इस प्रकार के मर्यादित स्मारक के लिए भी किसी की ओरसे बाधा डाली जानेका संभव नहीं था। 'हमारे पुरातन बलवर्धक हनुमानजी के लिए दो अगरबत्तियां, एक नारियल और एक पुष्पहार पर्याप्त होता है। तदनुसार यदि किसी जिमखाने में हेरिस साहब की एक-आध तस्वीर रखनेसे भी काम चल सकता

था'। क्यों कि किसी विशेष गुण के अनुरूप विशेष प्रकार का स्मारक बनाना ठीक हो सकता है, किन्तु पिता के भले या बुरे होने परभी जिस प्रकार पुत्र को प्रति-वर्ष उसका श्राद्ध करना ही पड़ता है, उसी प्रकार प्रति पांच वर्ष के बाद जब एक गवर्नर विलायत जाने लगा कि उसका स्मारक बनाना लोगों के लिए आवश्यक हो जाने विषयक जो अंधपरम्परा चल पड़ी थी, उसका तिलक ने अच्छी तरह विरोध किया।

लार्ड विलिंग्डन के स्मारक के सम्बन्ध में कुछ वर्ष पूर्व जिस प्रकार आन्दोलन हुआ था, उसी प्रकार लार्ड हेरिस के स्मारक के विरोध में भी हलचाल मची थी। किन्तु टाउन हाल के दंगे की तरह गड़बड़ नहीं मची। इस स्मारक का विरोध करनेके लिए उस समय क्रानिकल सरीखे गंभीर पत्र बम्बई में मौजूद नहीं थे। किंतु फिरभी केसरी ने इस कमीको पूरा कर दिया। क्यों कि पूना शहर भी बम्बई प्रान्त की दूसरी राजधानी माना जाता है, अतएव यहां भी स्मारक के लिए कुछ न कुछ रकम एकट्ठी होना आवश्यक ही था। फलतः सरदार दोराबजी पदमजी के बंगलेपर भिड़े, भाण्डारकर आदि १०।१५ मनुष्यों ने निजी तौर पर इकट्ठे होकर आपुसमें ही ७०० रुपये चंदा करके बंबई भेजनेका निश्चय किया; और तत्काल ही बम्बई के ऍंग्लो-इंडियन पत्रों में यह तार प्रकाशित कर दिया गया कि, " पूना के हिन्दू, मुसलमान और पारसी जाति के ' मुख्तार ' (नेता ?) लोगों की एक सभा हो कर चंदा जमा किया गया। " इस तार के प्रकाशित होते ही लोगों में जब फिर चर्चा चल पड़ी, तब भिड़े को यह प्रकट करना पड़ा कि मैं मुख़्तार बनकर वहां नहीं गया था। किंतु डॉ. भाण्डारकर मुग्ध ही बने रहे। इस पर केसरी ने डॉ. भाण्डारकर को उनके सत्याभिमान की याद दिलाकर यह बतलाते हुए कि " कृतं च अनुमोदितं " दोनो की ही जवाबदारी एक सी है, क्रीडा भुवन के दंगे के हाल की ओर जो कि उन्होंने तार द्वारा टाइम्स को भेजा था उनका ध्यान आकर्षित किया।

क्यौं कि लार्ड हेरिस के जमाने में ही डॉ. भाण्डारकर यूनीवर्सिटी के वाइस चान्सलर बनाये गये थे, और उनके तैलचित्र का उद्घाटन हेरिस साहब ने ही किया था। अर्थात् यह एक प्रकार से खुल्लमखुल्ला लेनदेन हो गया। इसी को लक्ष्य करके तिलक लिखते हैं कि " डॉक्टरसाहब एक उच्चप्रति के धर्मशास्त्रपारंगत विद्वान् है। अतएव इन्हें यह अच्छीतरह याद है कि गवर्नरसाहब के इस ऋण से यदि इसी जन्म में अर्थात कार्य काल में मुक्त न हो सके तो इसके लिए उन्हें और डॉक्टरसाहब को पूर्नजन्म धारण करना पड़ेगा! "

अंत में जाते २ तिलक ने इन खुशामदियों को अच्छी तरह फटकार बत-लाई। और कहा कि ये लोग मुर्देके की पूजा करनेवाले हैं, और ये लोगूल-पालन करते हैं। इत्यादि। किन्तु स्मारक-सभा का कार्य जैसे तैसे पूरा हो ही गया। ता. १२ फर्वरी सन १८९१ के केसरी में तिलक ने लार्ड हेरीस की भारत करते हुए यह कहा कि जिस प्रकार पहले किसी बावर्ची [रसोइये] का नैपुण्य देखकर उसे तहसीलदारी दे दी जाने की बात कही जाती है, उसी प्रकार लार्ड हेरिस को भी गेंद बल्ला अच्छा खेलते समझकर गवर्नरी सौंप दी गई है। तात्पर्य, जब लार्ड हेरिस साहब के सम्बन्ध में तिलकने कुछ भी कहने की कसर न रखी, तो फिर यदि उनके विषय में लिखी हुई कविताओं में तिलक का वक्तृत्व-मर्यादा और भी जाय तो इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। ता. २२ जनवरी सन १८९१ के केसरी में 'हारीसाष्टकम्' के नामसे एक कविता छपी थी, जिसकी कि निम्न लिखित पंक्तियों कई दिनोंतक लोगों की जबानपर बसी रहीं—

कामें होतिल चोख लाखिल जरी लोख्या रिपोर्टांवरी।
कौंसिलदार कशास, तूं तरी कशा ? दादा हाजरांवरी ॥
पोपवितो तोपवितो वास्तव गोन्यांस थोर हारीस।
लोळवितो पोळवितो वास्तव आह्मांस थोर हा रीस ॥

ता. १६ फर्वरी के अंक में किसी माधव नाम के कवि ने चार सर्गों में हारिस चरित्र ग्रथित किया था। उनके नाम (१) नियुक्ति (२) गुरूपदेश [३] प्रजाजन विलाप [४] प्रयाण, रक्खे थे। इस चरित्र की एक साखी इस प्रकार थी:—

जेव्हां होईल पहा आर्यभू क्रिकेटमय ही सारी।
तेव्हां ह्मणतिल सगळे होता बहुत चांगला हारी ॥

एक महाशय ने तो 'क्रिकेट भूमि का विलाप' नामक काव्य भी लिख डाला था। मतलब यह कि जिसे जैसी कुछ कल्पना सूझी उसी प्रकार से उसने हारिस साहब की भरपेट निंदा करली। किन्तु फिर भी तिलक ने जो कुछ लिखा वही ठीक है कि, हमारे लिखनेसे ही हमारी मानसिक स्थिति का यथेष्ट स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। 'यदि किसी का अन्तःकरण वर्तमान स्थिति के कारण हमारी तरह उद्विग्न अथवा संतप्त न हुआ हो तो उसे "स योगी अथवा पशुः" इनमें से किसी एक श्रेणि में अवश्य सम्मीलित करना पड़ेगा।

———

भाग-तेईसवां.

सन १८९६ का अकाल-आन्दोलन.

महाराष्ट्र प्रान्त अपने दुर्भाग्यवश् अकाल की जन्म भूमिके नाते प्रसिद्ध हो चुका है। सन १८७६ में जो अकाल पड़ा उसे आँखों देखनेवाले लोग इने गिने ही मिलेंगे, किन्तु सन १८९६ से अकाल का जो सिल्सिला शुरू हुआ, उसे याद रखनेवाली पुश्त अभी युवावस्था में ही हैं, क्यौं कि उसने इस अकालों में बहुत कुछ कष्ट उठाया है। वर्षाद हो या न हो, किन्तु अन्न इतना मँहगा हो गया है कि अकाल और सुकाल में कोई अन्तर ही नहीं रहा है। पांच शेरका अन्न बिकनेकी जो एक कहावतसी होई है उसमें सचमुच ही एक प्रकार का इतिहास गर्भित है। वह भयंकर अकाल जिसमें कि मँहगाई बहुत ज्यादा बढ़ गई, और खानेके लिए अन्न न मिलनेके कारण प्राण संकट में पड गये होंगे, और जिसका कि वृद्ध लोगों को स्मरण होगा, इस कहावत का उत्पत्तिस्थान कहा जा सकता है। क्यौं कि तब भी अनुमानतः पांच शेरका ही अन्न बिका होगा। इस समय भी कहावत वही पुरानी है, किन्तु अन्न की तौल पांचसे भी नीचे उतरकर तीन सेर तक स्थायी रूपसे पहुँची हुईसी जान पड़ती है। अर्थात् कहावत बदलने तकका मौका आ गया, किन्तु कहावत यदि न बदली जा सकती हो यह बात अलग है।

किन्तु इसीके साथ २ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अन्न इतना महँगा हो जानेपर भी उस समय जितना हाहाःकार मच जाता था, उतना आज विशेष रूपसे कहीं सुना नहीं जाता। यद्यपि वर्षा का क्रम और अन्न का भाव दोनों ही पहले के दो अकालों से इस समय बहुत घट गये है, किन्तु फिर भी हाहाःकार न मचने का कारण यह जान पड़ता है कि, मध्यम श्रेणि के व्यक्ति तो अब भी उसी तरह से जैसे तैसे अपना निर्वाह कर लेते हैं, पर विशेपरूप से जो प्रभाव पड़ा है वह निम्न श्रेणि के लोगों की दशा पर ही। और वह इस प्रकार कि इन दिनों भरत में छोटे-बड़े उद्योगधन्दे बहुत ज्यादा शुरू हो गये हैं। जब कि पहले समय में मजदूर अधिक और काम कम थे, पर अब स्थिति एकदम इसके विरुद्ध हो गई है, अर्थात् मजदूर कम और काम बहुत बढ़ गया है। मज़दूरी के दर पहले से चौगुने-पंचगुने तक बढ़ गये है, किन्तु फिर भी अन्न का भाव उस हिसाब से घटा नहीं है। इसी लिए मजदूर लोगों को निजीं कार्योंसे जो मजदूरी मिलती है, उसी में वे पेट भर सकते हैं, और काम भी बहुत ज्यादा होनेसे केवल अकाल के समय ही

मजदूरों के लिए सरकार को नये काम शुरू नहीं करने पड़ते। जमाखर्च की योजना-रूपी भारत सरकार के जमाखर्च की जो खास मद पहले बड़े ही महत्व की और दुर्गम हो रही थी, वह अब लगभग नामशेष ही हो गई है। किन्तु लोगोंको उपवास के कष्ट न भोगने पड़ते हो, सो बात नहीं है। इसी भांति पशुओं की प्राणहानि और जल का अभाव पहले की ही तरह अखरता है। किन्तु अन्न न मिलनेके कारण रास्ते-रास्ते या गाँव-गाँव में मनुष्यों के भूखों मर जानेका जो बेजस दृश्य पहले दिखाई देता था वह अब निःसन्देह टलता जा रहा है।

इन उपर्युक्त कारणों से अब न तो 'सरकारी अकाल' ही रह गया है और न अकाल के समय राज्य व्यवस्था का बखेड़ा ही। इसी लिए सन १८६६ के अकाल से सम्बन्ध रखनेवाली तिलक की जो कार्यवाही हम आगे चलकर बतलानेवाले हैं उसका मर्म कदाचित् कितने ही पाठकों की समझ में भी न आ सकेगा। किन्तु छब्बीस वर्ष पूर्व इस आन्दोलन का स्वरूप बहुत कुछ राजनैतिक महत्व रखता था। सन १८७६ में पुराने ढंग का अकाल पड़नेपर सरकार के पास नये कारोबार की ऐसी कोई योजना ही न थी कि जिस के द्वारा वह फेमिन् वर्क शुरू कर सकती। किन्तु इसके विरुद्ध आज नये ढंग के अकाल में अकाल के समय शुरू कर सकने योग्य कोई विशेष कार्य ही नहीं बचरहा है। इसी लिये ऐसा कोई आन्दोलन नहीं हो सकता। किन्तु सन १८६६ का अकाल इस प्रकार का था कि सन १८७६ के अकाल के अनुभव पर से फेमिन कोड आदि के तैयार हो जाने एवं अकाल के कारण प्राणहानि होती रहने पर भी सरकार उक्त क़ानून का उपयोग आवश्यक तत्परता या उदारता के साथ नहीं करती थी। सरकार की इस बेपर्वाही के कारण अकालविषयक राजनैतिक आन्दोलन करना अनिवार्य हो गया, और उसे तिलक ने इतनी तत्परता के साथ चलाया कि, जिसके कारण सरकार की गुप्त कचहरी में रखा हुआ उनकी अप्रियता का प्याला लबालब हो जानेका प्रसंग आ गया।

सन १८६६ में तिलक धारासभा के सदस्य भी थे और इधर सार्वजनिक सभा भी सोलहों आने उनके हाथ में आ गई थी। किंतु सभा के द्वारा इस विषय में वे जितना कुछ प्रयत्न कर सके, उतना कौंसिल के द्वारा उनसे न हो पाया। इसका कारण यह था कि उस समय कौंसिल के सदस्यों के अधिकार ही इतने मर्यादित थे। एक तो वैसे ही साल भर में कौंसिल की बैठकें दो बार होती थी। और उनमें भी सालाना बजट की चर्चा के सिवाय राज्यकारोबार पर टीका-टिप्पणी करनेके लिए दूसरा कोई मौका ही न मिलता था। यद्यपि प्रश्न कर सकने की आज्ञा तो उस समय भी थी, किन्तु आजकल की तरह हरएक विषयपर प्रस्ताव पेश

भाग–तेईसवां.

सन १८९६ का अकाल–आन्दोलन.

महाराष्ट्र प्रान्त अपने दुर्भाग्यवश् अकाल की जन्म भूमिके नाते प्रसिद्ध हो चुका है। सन १८७६ में जो अकाल पड़ा उसे आँखों देखनेवाले लोग इने गिने ही मिलेंगे, किन्तु सन १८९६ से अकाल का जो सिल्सिला शुरू हुआ, उसे याद रखनेवाली पुश्त अभी युवावस्था में ही हैं, क्यों कि उसने इस अकालों में बहुत कुछ कष्ट उठाया है। बर्साद हो या न हो, किन्तु अन्न इतना मँहगा हो गया है कि अकाल और सुकाल में कोई अन्तर ही नहीं रहा है। पांच शेरका अन्न बिकनेकी जो एक कहावतसी होई है उसमें सचमुच ही एक प्रकार का इतिहास गर्भित है। वह भयंकर अकाल जिसमें कि मँहगाई बहुत ज्यादा बढ़ गई, और खानेके लिए अन्न न मिलनेके कारण प्राण संकट में पड गये होंगे, और जिसका कि वृद्ध लोगों को स्मरण होगा, इस कहावत का उत्पत्तिस्थान कहा जा सकता है। क्यों कि तब भी अनुमानतः पांच शेरका ही अन्न बिका होगा। इस समय भी कहावत वही पुरानी है, किन्तु अन्न की तौल पांचसे भी नीचे उतरकर तीन सेर तक स्थायी रूपसे पहुँची हुईसी जान पड़ती है। अर्थात् कहावत बदलने तकका मौका आ गया, किन्तु कहावत यदि न बदली जा सकती हो यह बात अलग है।

किन्तु इसीके साथ २ हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अन्न इतना महँगा हो जानेपर भी उस समय जितना हाहाःकार मच जाता था, उतना आज विशेष रूपसे कहीं सुना नहीं जाता। यद्यपि वर्षा का क्रम और अन्न का भाव दोनों ही पहले के दो अकालों से इस समय बहुत घट गये है, किन्तु फिर भी हाहाःकार न मचने का कारण यह जान पड़ता है कि, मध्यम श्रेणि के व्यक्ति तो अब भी उसी तरह से जैसे तैसे अपना निर्वाह कर लेते हैं, पर विशेषरूप से जो प्रभाव पड़ा है वह निम्न श्रेणि के लोगों की दशा पर ही। और वह इस प्रकार कि इन दिनों भरत में छोटे-बड़े उद्योगधन्दे बहुत ज्यादा शुरू हो गये हैं। जब कि पहले समय में मजदूर अधिक और काम कम थे, पर अब स्थिति एकदम इसके विरुद्ध हो गई है, अर्थात् मजदूर कम और काम बहुत बढ़ गया है। मज़दूरी के दर पहले से चौगुने-पंचगुने तक बढ़ गये है, किन्तु फिर भी अन्न का भाव उस हिसाब से बढ़ा नहीं है। इसी लिए मजदूर लोगों को निजी कार्योंसे जो मजदूरी मिलती है, उसी में वे पेट भर सकते हैं, और काम भी बहुत ज्यादा होनेसे केवल अकाल के समय ही

यहां दौरा करने की सूझी । इस आशय की टीका-टिप्पणी पढ़कर सरकार का केसरी पर क्रुद्ध होना स्वाभाविक ही था । यद्यपि धारासभा में अस्पष्ट रूपसे यह आश्वासन मिला अवश्य था कि यदि अकाल पड़ा तो सरकार बाक़ायदा इंतज़ाम करेगी। किंतु इस प्रकार संशयार्थी वाक्य उच्चारण करने घड़ी बीत कर की अब पूरी तरह अकाल दिखाई देने लगा था । ता. २० अक्टूबर के अंकसे फेमिन कोड के आधार पर केसरी ने लोगों को यह समझाना शुरू किया कि वे अपने अधिकारों के विषय में सचेत रहकर सरकार से अकाल-निवारण की योजना करावें । दूसरी ओरसे उसने यह उपदेश भी दिया कि अन्न की लूट-पाट रुकवाने और परोपकारार्थ सस्ते नाज की दुकाने खुलवाने आदि के द्वारा जनता सरकार की किसि अंश में जो सहायता कर सकती है, उससे भी उसे पीछे न रहना चाहिये । अकाल से लाभ उठाकर धनाढ्य बनने के इच्छुक व्यापारियों के भी केसरी ने कान खोल दिये थे । साथ ही उसने इस बात की घोषणा भी कर दी थी कि हमारे हाथ से जो कुछ हो सकेगा वह तो हम करेंही गे, किन्तु सरकार के हाथ से जो कुछ हो सकता वह उस से करा लेनेकी सावधानी भी हमें ही रखनी चाहिये ।

किन्तु उस समय भी यह सिद्धान्त प्रचलित था कि समाचारपत्रों द्वारा संचालित आन्दोलन अनुत्तरदायी समझा जा सकता है । और एक अर्थ से यह ठीक भी था । क्यों कि यदि पत्र संपादक ने मुंह फैलाकर अथवा मोटी कलम से भी यदि कहा कि ' हम चाहते कि ऐसा हो ' तोभी इस ' हम ' के कहनेवाले कौन और कितने आदमी हो सकते हैं ? यदि किसी संस्था की ओरसे अर्जी तैयार की जाय तो उसका महत्व अधिक समझा जा सकता है । फलतः इस तरह की एक सभा भी तिलक के हाथमें मौजूद थी, यही नहीं बल्कि उससे अर्जियां भिजवाना, मानों उसकी पूर्वपरम्परा को बढ़ाने जैसा ही था । " Decentralisation of provincial finance " अर्थात् ' प्रधान और प्रान्तिक सरकार के धनका बँटवारे पर सभा के त्रैमासिक में बिना नामसे लेख लिखकर रानडे की लेखमाला से तिलक ने जिस प्रकार जोड़ मिला दिया, उसी प्रकार अकाल आन्दोलन को भी सभा के द्वारा अपनी देखरेख में चलाते हुए भी तिलक ने रानडे का ही अनुकरण किया । यद्यपि रानडे सरकारी नौकर अवश्य थे; किन्तु फिर भी राजनैतिक पत्र में काम करने की इच्छा रखनेवाले नवयुवकों को गुरु की तरह पाठ पढ़ा सकने विषयक उनकी योग्यता को तिलक अवश्य स्वीकार करते थे । यही नहीं बल्कि कई बातों में उनका अनुकरण करके भी वे शिष्य के नाते उनकी प्रशंसा करते रहते थे । सन १८७६-७७ के अकाल में रानडे ने सार्वजनिक सभा की ओरसे महाराष्ट्र में चलते फिरते एजंट घुमाकर अकालविषयक सच्ची यथार्थ जानकारी

करके सरकार पर कलंक नहीं लगाया जा सकता था। बजटपर सालभर में एक भाषण दे डालनेसे ही कौंसिलरों की उस वर्ष की कार्यवाही समाप्त हो जाती थी। ऐसी दशा में आनरेबिलाशिप् से लाभ उठाकर कौंसिलरों की प्राइवेट मुलाकात से जो कुछ हो सकता वही किया जाता था। जब सन १८९६ में अकाल पड़नेका निश्चय हुआ तब तक कौंसिल की वार्षिक बैठक पहले ही हो चुकी थी, और दैव योग से उस वर्ष मृगशीर्षादि पांच नक्षत्रों में अतिवृष्टि होनेसे भयंकर बाढ़ भी आई। कितनी ही नदियों में आई हुई बाढ़ से तुलना करने के लिए अब भी सन १८९६ की वर्षा की ओर संकेत किया जाता है। यद्यपि अतिवृष्टि के कारण हानि होनेसे यह तर–अकाल समझा गया। किन्तु इस बात का स्वप्न किसी को भी नहीं आया था कि रब्बी की मौसम में वर्षा बिलकुल ही न होगी। इस वर्ष के अकाल के सम्बन्ध में पहला उल्लेख ता. २९ सितंबर के अंक में पाया जाता है। "हस्त नक्षत्र लग जानेपर भी एकबार अतिवृष्टि होकर जैसे ही वर्षा विदा हुई कि फिर आज तक उसका पता न लगा। वायव्य प्रदेश में अकाल ने अपना डेरा जमाना शुरू कर दिया है, और सहायता के लिए काम खोले जाने॰ का हुक्म भी हो चुका है। हमारी ओर भी इस स्थिति के उपस्थित होनेकी आशंका की जा रही है, और यदि कुछ दिनोंतक वर्षा ने दृष्टिपात नहीं किया तो अवश्य यहां भी वही प्रसंग आ उपस्थित होगा।" यह आशंका थोड़े ही दिनों में सत्य सिद्ध हो गई। कानपुर और आगरे में लूट-पाट होकर यह मामला नागपूर तक बढ़ गया। लोग कहने लगे कि यह एक नया रोग ही खड़ा हो गया है, क्यों कि कई वर्षों के बाद यह अकाल पड़ा था। उस वर्ष संवत्सर का नाम दुर्मुख था, अतएव लोगों को विचार पड़ गया कि कहीं यह अपने नाम को चरितार्थ तो नहीं कर देगा; किन्तु इस प्रान्त की साप्ताहिक सरकारी रिपोर्ट में अकाल का कहीं नामोल्लेख तक नहीं रहता था। किन्तु फिरभी विदेश से यहां गेहूं आनेकी शुरूआत हो गई। इधर अकाल का दूसरा प्रमाण यह था कि ईसाहि मिशनरी लोग गरीबोंके बाल-बच्चों को धर्मभ्रष्ट करने लगे थे।

सन १८७६ में तो लोगो ने अपने पास की बचतखुचत से काम चलाया क्यों कि उस समय अन्न की बखारियां रखी जाती थीं। किन्तु इन बीस-पच्चीस वर्षों से वह प्रथा ही उठ गई है। अस्तु। जब सरकारी रिपोर्ट में अकाल का उल्लेख न रहने लगा तब समाचार पत्रवाले भी गर्मा गरम लेख लिखने लगे। क्यों कि, उस समय उत्तर भारत में गर्मी का मौसम था, अतएव सरकार तो ऊंची २ पहाड़ियोंपर जाकर हवा खाती थीं और प्रजा बेचारी गर्म मैदानों में अकाल के मारे मर रही थी। इधर वाइसराय को भी दुर्भाग्य से इसी समय राजे–रजवाड़ों के

अंकमें तिलक ने फेमिन कोडपर स्वतंत्र किन्तु बिना नाम से एक लेख लिखकर उसकी त्रुटियां दिखाई थी, क्यों कि इस कोड की दुरुस्ती सरकार की ओर से हो नहीं सकती थी, अतएव इसी दृष्टि से सरकार के सामने लोकमत उपस्थित करनेके लिए यह लेख ख़ास तौर पर लिखा गया था। इसी अंक में, महाराष्ट्र, कर्नाटक और कोंकण इन तीनों प्रान्त के जिलों और ख़ास गाँवोंमें सभा की ओरसे भेजे गये एजंटों द्वारा मिले हुए विवरण परसे ज्ञातव्य बातों को लेकर बड़े अच्छे ढंगसे लेख के रूप में प्रकाशित किया गया था।

किन्तु इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि सन १८६६ के नवंबर दिसंबर और १८६७ के जनवरी महिने में तिलक ने सभा की ओरसे सरकार के साथ जो बहुतसा पत्रव्यवहार कराया था, उसका ख़ास मुद्दा जुलाहों की प्रायरक्षा कर के उन्हें घर बैठे कुछ उद्योग बतलाने की योजना कर देनेसे संबन्ध रखता था। क्यों कि जुलाहों से सड़क की गिट्टी कुटवाना एकदम निष्ठुरतापूर्ण एवं अप्रयोजनीय कार्य था। अहमदनगर जिले के जुलाहों को इस काम से पौने दो-आने भी मुश्किल से मिलते थे, किन्तु इन लोगों के फेमिन कोड के अनुसार इन्हीं के धन्दे (बुनाई) का कोई भी काम सरकार ने शुरू नहीं किया था। अतएव तिलक ने सूचित किया कि "इनके लिए सरकारी लोग केवल स्थान २ पर व्यापारियों के मण्डल बनाकर पूंजी की दृष्टि से थोड़ी बहुत सहायता दे, जिस में कि जुलाहे लोग घर बैठे कमसेकम चार आने रोज कमा सके। अर्थात् संयुक्त पूंजी से उन्हें सूत दिया जाय, और उनके पास से जो कपड़ा तैयार होकर आवे उसे बेचकर वह कीमत फिर पूंजी में जमा करली जाय"। इस पर सरकार ने यह अस्पष्ट उत्तर दिया कि ख़ास तौर के जुलाहों को क्या काम दिया जाय, इस पर अभी सरकार विचार कर रही है। किन्तु दिसम्बर के पहले या दूसरे सप्ताहतक भी सरकार ने निश्चित योजना प्रकट नहीं की। इधर सोलापुर के प्रसिद्ध व्यापारी अप्पा साहब वारद और सेठ वीरचंद-दीपचंद आदि इस पर व्यावहारिक एवं भूतदया की दृष्टि से विचार कर रहे थे। इन लोगों से तिलक का पत्र व्यवहार शुरू हुआ, और इस के बाद सभा ने भी उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर सोलापूर भेजा। ता. १२ दिसंबर को सोलापुर में एक कमेटी स्थापित हुई, और उस की ओरसे तिलक ने सरकार के साथ पत्र व्यवहार शुरू किया।

कमेटी की योजना इस प्रकार थी कि पांचसौं से लगाकर हजार जुलाहों तक के परिवारों को अकाल मिटने तक के लिए काम देकर छह महिने तक उनका पालन किया जाय। एक हजार परिवार में मिलाकर लगभग चार हजार छोटे बड़े आदमी होते हैं। कमेटी से अपना सूत पहुँचाया जानेपर जुलाहे का एक परिवार

प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था। सभा के त्रैमासिक में इन एजंटों द्वारा भेजी हुई रिपोर्ट "Famine narratives" अर्थात् "अकाल-कहानी" के शीर्षक से छापी जाती थी, और उनके आधार पर बनाई हुई विधायक सूचनाओं की अर्जियां भी सरकार के पास भेजी जाती थी। इन कहानी और अर्जियां का उपयोग कर सरकार ने बारम्बार सभा के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की थी, किंतु अब क्यों ऐसा नहीं होता? वही सभा है और वही अकालमय परिस्थिति एवं वही शोधकबुद्धि और उस समय की तरह परिस्थिति के अनुरूप आज भी सिफारिश पेश की जाती है। फिर भले ही सरकार सभा का अहसान न माने किंतु चलनशील बनकर सभा की अर्जियां का उत्तर तो देगी। किंतु ऐसा हो नहीं सकता था। क्यों कि जो भी सभा का नाम और अर्जियां का ढंग यही था; किन्तु फिर भी संचालक लोग बदला गये थे; अतएव सभा और सरकार की समझ के अनुसार मूल उद्देश्य में भी परिवर्तन हो गया; ऐसी दशा में पुराने उदाहरण से कैसे काम चल सकता था?

ता० ८ नवम्बर को सभा ने सरकार के पास एक विस्तृत अर्ज़ी भेजी। इस पर यद्यपि सभा के अध्यक्ष अण्णा साहब पटवर्धन और मंत्री शिवरामपंत परांजपे एवं जालनापुरकर के ही हस्ताक्षर थे। किन्तु इस की तय्यारी में विशेष हाथ तिलक का ही था। इसमें सोलापुर, बीजापुर और अमदनगर इन तीन ज़िलों की दशा का सविस्तार वर्णन किया गया था। साथ ही यह बतलाया गया था कि, इस समय न केवल घास-पानी की ही कमी हैं, बल्कि सब तरह से अकाल पड़ रहा है, अतएव सरकार को किसी भी प्रकार के बहाने न बतलाकर इस बात का विचार करते हुए कि भारतवासी प्रतिवर्ष डेढ़ करोड़ रुपया केवल अकाल का बीमा करने के ही लिए देते हैं, तत्काल ही अकाल-निवारक उपायों की योजना करनी चाहिये। सन १८७६-७७ के अकाल के पश्चात् तैयार किया हुआ फेमिन कोड सर्वांगपूर्ण न होने पर भी उसके आधार से उपायों की योजना करनेमें हानि नहीं हैं, इसी प्रकार सभा ने अपना मत प्रकट किया था। क्यों कि व्यापारी समाज के स्वभावतः किंचित् लोभी होनेपर भी उनके कारण यह महर्घता बढ़ी नहीं है, इसी प्रकार रेलें जो भी बड़े काम की हैं किन्तु ऐसे मौकोंपर उपयोग के अनुसार उनका भी दुरुपयोग हो सकता है। देशी राजाओं ने अपने यहां बहुत पहले ही अकाल-निवारणार्थ नये २ काम शुरू कर दिये हैं, किंतु समझ में नहीं आता कि सरकार इस विषय में क्यों चुप बैठी हुई हैं, इत्यादि मुद्दे उस अर्ज़ी में थे। इसका उत्तर भी सरकार ने दिया जिस में कि प्रत्येक मुद्दे के विषय में उसने खुलासा कर दिया था। किंतु इन दोनों के बीच जो वाद-विवाद हुआ, उसे विस्तार के साथ लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। सन १८९७ के जनवरी-अप्रैल के संयुक्त

में तिलक ने फेमिन कोडपर स्वतंत्र किन्तु बिना नाम से एक लेख लिखकर की त्रुटियाँ दिखाई थी, क्यों कि इस कोड की दुरुस्ती सरकार की ओर से हो हो सकती थी, अतएव इसी दृष्टि से सरकार के सामने लोकमत उपस्थित करनेके लिए यह लेख ख़ास तौर पर लिखा गया था। इसी अंक में, महाराष्ट्र, कर्नाटक और कोंकण इन तीनों प्रान्त के जिलों और ख़ास गाँवोंमें सभा की ओरसे भेजे गये एजंटों द्वारा मिले हुए विवरण परसे ज्ञातव्य बातों को लेकर बड़े अच्छे ढंगसे लेख के रूप में प्रकाशित किया गया था।

किन्तु इससे भी अधिक महत्व की बात यह थी कि सन १८९६ के नवंबर दिसंबर और १८९७ के जनवरी महिने में तिलक ने सभा की ओरसे सरकार के साथ जो बहुतसा पत्रव्यवहार काराया था, उसका ख़ास मुद्दा जुलाहों की प्राणरक्षा कर के उन्हें घर बैठे कुछ उद्योग बतलाने की योजना कर देनेसे संबन्ध रखता था। क्यों कि जुलाहों से सड़क की गिट्टी कुटवाना एकदम निष्ठुरतापूर्ण एवं अप्रयोजनीय कार्य था। अहमदनगर जिले के जुलाहों को इस काम से पौने दो-आने भी मुश्किल से मिलते थे, किन्तु इन लोगों के फेमिन कोड के अनुसार इन्हीं के धन्दे (बुनाई) का कोई भी काम सरकार ने शुरू नहीं किया था। अतएव तिलक ने सूचित किया कि ".इनके लिए सरकारी लोग केवल स्थान २ पर व्यापारियों के मददक बनाकर पूंजी की दृष्टि से थोड़ी बहुत सहायता दे, जिस में ये जुलाहे लोग घर बैठे कमसेकम चार आने रोज कमा सके। अर्थात् संयुक्त पूंजी से उन्हें सूत दिया जाय, और उनके पास से जो कपड़ा तैयार होकर आवे उसे बिकर वह कीमत फिर पूंजी में जमा करली जाय"। इस पर सरकार ने यह अस्पष्ट उत्तर दिया कि ख़ास तौर के जुलाहों को क्या काम दिया जाय, इस पर अभी सरकार विचार कर रही है। किन्तु दिसम्बर के पहले या दूसरे सप्ताहतक भी सरकार ने निश्चित योजना प्रकट नहीं की। इधर सोलापुर के प्रसिद्ध व्यापारी अप्पा साहब वारद और सेठ वीरचंद-दीपचंद आदि इस पर व्यावहारिक एवं भूतदया की दृष्टि से विचार कर रहे थे। इन लोगों से तिलक का पत्र व्यवहार शुरू हुआ, और इस के बाद सभा ने भी उन्हें अपना प्रतिनिधि बनाकर सोलापुर भेजा। ता. १२ दिसंबर को सोलापुर में एक कमेटी स्थापित हुई, और उस की ओरसे तिलक ने सरकार के साथ पत्र व्यवहार शुरू किया।

कमेटी की योजना इस प्रकार थी कि पांचसौं से लगाकर हजार जुलाहों तक के परिवारों को अकाल मिटने तक के लिए काम देकर छह महिने तक उनका पालन किया जाय। एक हजार परिवार में मिलाकर लगभग चार हजार छोटे बड़े आदमी होते हैं। कमेटी से अपना सूत पहुँचाया जानेपर जुलाहे का एक परिवार

प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था। सभा के त्रैमासिक में इन एजंटों द्वारा भेजी हु
रिपोर्टें "Famine narratives" अर्थात् "अकाल-कहानी" के शीर्षक
छापी जाती थी, और उनके आधार पर बनाई हुई विधायक सूचनाओं की अर्जि
भी सरकार के पास भेजी जाती थी। इन कहानी और अर्जियां का उपयोग क
सरकार ने बारम्बार सभा के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट की थी, किंतु अब क्यों ऐस
नहीं होता? वही सभा है और वही अकालमय परिस्थिति एवं वही शोधकबुद्धि
और उस समय की तरह परिस्थिति के अनुरूप आज भी सिफारिश पेश की जात
है। फिर भले ही सरकार सभा का अहसान न माने किंतु चलनशील बनकर सभ
की अर्जियां का उत्तर तो देगी। किंतु ऐसा हो नहीं सकता था। क्यों कि जो भ
सभा का नाम और अर्जियां का ढंग यही था; किन्तु फिर भी संचालक लोग
बदला गये थे; अतएव सभा और सरकार की समझ के अनुसार मूल उद्देश्य में
भी परिवर्तन हो गया; ऐसी दशा में पुराने उदाहरण से कैसे काम चल सकता था?

ता॰ ८ नवम्बर को सभा ने सरकार के पास एक विस्तृत अर्ज़ी भेजी। इस
पर यद्यपि सभा के अध्यक्ष अण्णा साहब पटवर्धन और मंत्री शिवरामपंत परांजपे
एवं जालनापुरकर के ही हस्ताक्षार थे। किन्तु इस की तय्यारी में विशेप हाथ
तिलक का ही था। इसमें सोलापुर, बीजापुर और अमदनगर इन तीन ज़िलों की
दशा का सविस्तार वर्णन किया गया था। साथ ही यह बतलाया गया था कि,
इस समय न केवल घास-पानी की ही कमी हैं, बल्कि सब तरह से अकाल पड़
रहा है, अतएव सरकार को किसी भी प्रकार के बहाने न बतलाकर इस बात का
विचार करते हुए कि भारतवासी प्रतिवर्ष डेढ़ करोड़ रुपया केवल अकाल का बीमा
करने के ही लिए देते हैं, तत्काल ही अकाल-निवारक उपायों की योजना करनी
चाहिये। सन १८७६-७७ के अकाल के पश्चात् तैयार किया हुआ फेमिन कोड
सर्वांगपूर्ण न होने पर भी उसके आधार से उपायों की योजना करनेमें हानि
नहीं हैं, इसी प्रकार सभा ने अपना मत प्रकट किया था। क्यों कि व्यापारी समाज
के स्वभावत: किंचित् लोभी होनेपर भी उनके कारण यह महर्घता बढ़ी नहीं है,
इसी प्रकार रेलें जो भी बड़े काम की हैं किन्तु ऐसे मौकोंपर उपयोग के अनुसार
उनका भी दुरुपयोग हो सकता है। देशी राजाओं ने अपने यहां बहुत पहले ही
अकाल-निवारणार्थ नये २ काम शुरू कर दिये हैं, किंतु समझ में नहीं आता कि
सरकार इस विषय में क्यों चुप बैठी हुई हैं, इत्यादि मुद्दे उस अर्ज़ी में थे। इसका
उत्तर भी सरकार ने दिया जिस में कि प्रत्येक मुद्दे के विषय में उसने खुलासा कर
दिया था। किंतु इन दोनों के बीच जो वाद-विवाद हुआ, उसे विस्तार के साथ
लिखनेकी यहां आवश्यकता नहीं है। सन १८९७ के जनवरी-अप्रैल के संयुक्त

इस पर तिलक ने फिर सरकार को पत्र लिखकर सूचित किया कि, सरकार का यह विश्वास भ्रमपूर्ण है कि कमेटी उसका रुपया लेकर अपने हाथ में रखना चाहती है। क्यों कि यदि वह चाहे तो इस विषय का सारा अधिकार कलेक्टर को दे सकती है, कमेटी को इस विषय में कोई आपत्ति न होगी। अलावा इसके कमेटी पर आधे से अधिक लोग सरकार अपने अधिकारियों में से ही नियुक्त करे तो भी कमेटी इन्कार न करेगी। सोलापुर का कमेटी का हेतु केवल यही है कि इस विषय में सरकार के साथ सहयोग कर के प्रत्यक्ष कार्य में उसे जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उन्हें दूर करने में साहायता दे। क्यों कि इस कमेटी का कारोबार व्यापारी ढंग का है, अतः केवल इसी कारण से किसी प्रकार के लाभ की अपेक्षा न रखते हुए सेठ वीरचंद दीपचंद सरीखे व्यापारी इस काम में योग देना चाहते हैं। यदि एक स्थान में यह योजना सफल हुई तो अन्यस्थानों में भी इसका प्रयोग किया जायगा। अंततः यदि थोड़ी-बहुत रकम लगाकर लोग सहायता देने को तैयार हो तो उन्हें निराश करना एकदम अनुचित होगा। किन्तु इस पत्र का उत्तर भी सरकार ने चार पंक्तियों में नकारात्मक देकर सारा मामला ही बिगाड़ दिया।

इन सब कामों के सिवाय तिलक ने सार्वजनिक सभा के हाथों अकाल विषयक और भी एक महत्व का काम कराया था। क्यों कि सरकारने फेमिन कोड की रचना सार्वजनिक उपयोग के लिए ही करवाई थी। और मुख्यतः सरकार ने इस विषय में अपना कर्तव्य उस के द्वारा निश्चित कर लिया था। किंतु फिर भी उसकी अमल-बजावरी का उपयोग खुद उसके या उसके अधिकारियों के लिए नाम को भी नहीं हो सकता था। अपनी कर्तव्यबुद्धि के अनुरूप सरकार को क्या २ करना चाहिये, वह सब इस कानून में लिखा रहने पर भी इस में की उपयोगी धाराओं का ज्ञान लेना लोकहित की दृष्टि से आवश्यक होनेके कारण उन्हें भी इस कानून के ज्ञान से वंचित न रहने दिया जा सकता। क्यों कि जिस प्रकार किसी वस्तु का देना सरकार का काम है, उसी प्रकार मांगना प्रजा का भी कर्तव्य है। किंतु बिना फेमिन कोड की बातें समझे वह इस कामको कैसे पूरा कर सकती है? इसी लिए चाहिये तो यह था कि सरकार ही इस कानून को मराठी में छपवा कर बांट देती या कमसे कम बिक्री के लिए तो वह अवश्य उसे तैयार करा देती। किंतु मूल अंगरेजी प्रति प्राप्त कर सकने में ही जहां कठिनाई पड़ती हो वहां देशीभाषा में उसका प्राप्त होना कैसे संभव हो सकता है? इन्हीं सब बातों का विचार करके तिलक ने सार्वजनिक सभा के लिए एक छोटीसी पुस्तक मराठी में तैयार की। इसमें फेमिन कोड का समग्र क्रम

अकाल-निवारण के प्रबंधविषयक निर्णय का खुलासा, थूहड़ से जानवरों के लिए घांस तैयार करनेकी युक्ति, अकालपीड़ित ज़िलों में सरकार की ओरसे खोले गये कार्यों की जानकारी, सरकारी नौकरों के साथ अकाल के कारण की हुई रिआयतें, तक़ावी कानून के नियम, इत्यादि बातें संक्षेप से किंतु अच्छे ढंग से लिखी गई थीं। सभा ने इसकी छह हजार प्रतियां छपवाई और प्रत्येक मराठी जिले के कलेक्टर के पास इस पुस्तक की सौं प्रतियां मुफ्त बाँटनेके लिए भेजीं और साथ ही यह भी सूचित कर दिया कि यदि अधिक पुस्तकों की आवश्यकता हो तो ढाई रुपये सैंकड़ा के हिसाब से जितनी प्रतियां चाहेंगे, भेज दी जायगी। पुस्तक में यदि कोई भूलचूक हो तो इसकी जवाबदार सभा रहेगी, सरकार पर इसका कोई बार न आने पावेगा। केवल सरकार द्वारा वितरित पुस्तकों की ओर इस विषय में लोगों का ध्यान विशेष रूपसे आकर्षित होगा, इस प्रकार सभा ने प्रार्थना की थी। किन्तु सरकार सभा का बारहवामें भोजे हुए थे। उसने तत्काल ही तो इस सभा को सूचित कर दिया कि यह पुस्तक अकाल से सम्बन्ध रखते हुए भी खानगी है, अतएव हम इसे बाँटना नहीं चाहते। कितने ही कलेक्टरों ने तो उन सौं-सौं प्रतियों को जलाकर खाक कर दिया; और कई-एकने उन्हें रद्दी की टोकरी में डाल दिया! हां; दो एक व्यक्ति ही अधिक सभ्य या क्रोधी ऐसे अवश्य निकले जिन्होंने पुस्तकों के पाकेट ज्यों के त्यों वापस सभा के पास भेज दिये। किन्तु इतने परभी सभा ने काम नहीं छोड़ा। उसने फिर जोर कर के अकालनिवारण अनेक अंगों के विषय में ता. ४ जनवरी सन १८९७ के दिन सरकार के पास फिर एक विस्तृत अर्ज़ी भेजी। किन्तु सरकार तो हरएक विस्तार को संकुचित करना अच्छी तरह जानती है; अतएव फिर मांटीथसाहब ने वही चार सतर का उत्तर भेज दिया। उसमें यह लिखा था कि जिन बातों का सभा सरकार से उत्तर लेना चाहती है, वे सब उसे प्रति सप्ताह सरकारी रिपोर्ट देखनेसे मिल सकते हैं। मानों यह साप्ताहिक रिपोर्ट ही अकाल-पीड़ितों की शकुनावली है! जिसे किसी भी बात की इच्छा हो, वह रिपोर्ट को सामने रखले और आंखें बन्द करके जहांपर हाथ रुके वहीं कंकर रख दे। यदि प्रश्नकर्ता के भाग्य से उसमें कोई अच्छी बात निकल आयी तो वह हँस ले या फिर रोता रहे। मांटीथसाहब इस चार पंक्ति से उत्तर से यह भी ध्वनित होता था कि, इस अकाल के जमाने में सरकार वैसे ही चिंतातुर हो रही है, यह क्या कम है? जो कि तुम उसे और भी इसके लिए कोस रहे हो? लोक हैं, और हम हैं, जैसा कुछ होगा देख लेंगे। व्यर्थ ही तीसरे को बीच में पड़कर मुँह न डालना चाहिये!

बीस वर्ष पूर्व सार्वजनिक सभाने लगभग इसी प्रकार काम किये थे। और उस समय सरकार ने सभा को फटकारा नहीं; बल्कि उसके प्रति कृतज्ञता का भावही प्रकट किया था, सन १८७६ के अक्टूबर में सभा ने अकालविषयक निजी रिपोर्ट सरकार के पास भेजी, जिस पर कि बंबई सरकार के सेक्रेटरी पेरमेन साहब लिखते हैं :-" अकालपीडित ज़िलों की रिपोर्ट समय २ पर भेजने के लिए आपने जो निश्चय किया है, उसके लिए सरकार को प्रसन्नता होती है।" सन १८७७ में सेक्रेटरी केनेडी साहब लिखते हैं कि "सभाने अपनी रिपोर्ट भेजी, इसके लिए सरकार सभा के प्रति आभार प्रकट करती है।" ता. ११ जुलाई के दिन जब सभा ने गवर्नर सर रिचर्ड टेम्पल को मानपत्र दिया, तब भी सभा के अकाल विषयक विचारों के सम्बन्ध में गवर्नर साहब ने सहानुभूतिपूर्ण उद्गार प्रकट किये थे। सरकार के उस समय और आजके वर्ताव में जो ज़मीन आसमान का अंतर हो गया है, उसके लिए अन्य कई–एक कारण हो सकते हैं, किंतु उन्हीं में यह एक कारण अवश्य होना चाहिये कि, उस समय सभा शिवरामपंत साठे के रूप में बोलती रहने पर भी वे माधवरावजी रानडे के मस्तिष्क से विचार करती थी। और इस समय कभी जाजनापुरकर तो कभी साठे और कभी परांजपे के हस्ताक्षर से अर्ज़ियां जाती रहनेपर भी, वह तिलक के मस्तिष्क से विचार कर रही है, इस बात का बंबई सरकार को न केवल संशय ही था, बल्कि समुचित ज्ञान भी था। फलतः तिलक–अर्थात् सन १८९१ से आगे ६–७ वर्षतक का उनका चरित्र— सरकार की आँखों में आये विना कैसे रह सकता था।

किंतु आगे चलकर यह प्रकरण शीघ्रही समाप्ति के निकट पहुँच गया। सन १८९७ के जनवरी महिने में सरकारके पास लगान की रोक और माफी के विषय में सभा ने फिर एक विस्तृत अर्ज़ी रवाना की। इसमें खास मुद्दा यह था कि "सरकार का सन १८९७ वाला इस विषय का ध्येय सन १८७६ के ध्येय से कम उदारता लिये हुए है। सच्चा किसान कौन है और मूंठा कौन अथवा धनाढ्य कौन है और गरीब कौन किंवा खातेदार कौन है और असामी कौन इन सब सूक्ष्म भेदोंपर विचार करके सरकार ने लगान की छूट या रोक का क्षेत्र यथाशक्य संकुचित कर दिया था। उसमें भी फिर जिला कलेक्टर ने तहसीलदारों को अंदरूनी तौर पर कुछ खुराफ़ात भरे हुक्म दे रक्खे थे। जिसे कि सरकार ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर अन्य जिलोंसे भी उनका अनुकरण करने की भोंडी सिफारिस की थी, इन बातों का भी सभा की अर्ज़ी में उल्लेख था। यह बात सरकार को बे तरह खर थी। क्यों कि उसका क्रोध इसीसे भडक उठा कि हमारे खानगी हुक्मों का पता इन लोगोंको कहांसे आता है? फलतः इस अर्ज़ीके मुख्य प्रश्नोंका उत्तर देना एक

और रख सेक्रेटरी मि. मान्टीथ ने पहलेही सपाटेमें सभासे यह प्रश्न किया कि "पूना कलेक्टर का निकाला हुआ हुक्म तुम्हें कहांसे देखने को मिल गया तो बतलाओ ?" इस प्रश्न पर से ही सभाने ताड लिया कि अपना निशाना ठीक लगा है। असल में सरकार का चिढ़ जाना और किसी भलतेही मुद्देपर बहस करने लगना और मुख्य प्रश्नका सरल उत्तर न देना गैर मुत्सद्दीपन का ही लक्षण कहा जा सका है । क्यौं कि इस समय तो उसके लिए सरल मार्ग यही था कि, वह इस बात से इनूकार कर देनी कि, तुम जैसा कह रहे हो, वैसा कोई हुक्म पूना के कलेक्टर ने नहीं दिया, अथवा यदि हुक्म से इनूकार नहीं किया जा सकता तो उसे यथायोग्य बतलाकर अपने कथन की पुष्टि की जाती । इस तरह मुख्य प्रश्न का उत्तर देकर इस बात की जाँच करना ही बुद्धिमानी का चिन्ह कहा जा सकता था कि कलेक्टर या सरकार के दफ्तर के हुक्म बहार कैसे प्रकट हो जाते हैं। किन्तु ऐसा न करके केवल उपर्युक्त प्रश्न के द्वारा सभा के लगाये हुए आरोप को स्वयमेव ही सरकार ने स्वीकार कर लिया ! क्यौं कि चित्त के पापरत होने एवं क्रोध के अनिवार्य हो जाने पर ऐसी ही बातें हुआ करती हैं। फलतः इन्ही सब बातोंसे लाभ उठा कर सभा ने भी सरकार को एकदम भोलेपन की ठसकसे सूचित किया कि सभा को इसी बातपर आश्चर्य हो रहा है कि, उससे ऐसा प्रश्न किया जाता है। क्यौं कि थाना, कुलाबा और पूना इन तीन जिलों में तो एकही प्रकार के हुक्म दिये जाकर गाँव के कारियों तकके पास भेजे चुके है, और इन कार्यकर्ताओं ने भी लगान वसूल करने की धुनमें लोगों को सहजही में उन हुक्मों की सूचना दे दी है। किसी एक को छूट या माफी देने और दूसरे को इससे वंचित रखने विषयक अन्तर का समर्थन बिना इस हुक्मके समझे कैसे किया जा सकता है ? यदि मूल में ही इस हुक्म के विषय में लिखी हुई हमारी बातें असत्य या निराधार हो तो यह बात अलग है। किन्तु उन्हें कैसे जाना ? इस प्रकार के निरुपयोगी प्रश्न करनेसे क्या लाभ ? अलावा इसके इसी उत्तर की अर्जी में फेमिन कमिशन की रिपोर्ट के आधारपर सरकार के उत्पन्न किये हुए सूक्ष्म भेदों के विषय में भी टीका-टिप्पणी करना सभा ने शुरू कर रक्खा था । इसपर गवर्नर-इन-कौंसिल का ता. १० फरवरी १८९७ के दिन स्वतंत्र प्रस्ताव प्रकाशित हुआ, जिसमें लिखा गया था कि पूना कलेक्टर का हुक्म प्रकट करनेकी सरकार ने आज्ञा नहीं दी थी। किन्तु फिर भी इस तरह के हुक्मों का सारांश यदि किसी पत्र में प्रकाशित भी हो जाय तो वह नियम विरुद्ध होनेसे कोई आधार के रूप में उसका उल्लेख नहीं कर सकता। किन्तु एक में सरकारी प्रस्ताव प्रकट हो जानेसे ही किसी अनुचित बात का समर्थन कैसे हो सकता है ?

किन्तु सरकार का भाग्य तो सबसे अधिक सिकंदर था। क्यों कि वह इस सभारूपी व्याधि को टालने के लिए निमित्त कारण ढूंढ ही रही थी, अतएव वह उसे मिल भी गया। हम पहले बतला ही चुके हैं कि अकाल-विषयक सभी जानकारी प्राप्त करनेके उद्देश्य से सभा ने स्थान २ पर अपने चलाते-फिरते एजंट नियुक्त कर दिये थे। फलतः एजन्सी का काम एक प्रकार से सरल भी था और कठिन भी। क्यों कि जैसी कुछ जानकारी प्राप्त हो उसे यथातथ्य सभा के पास भेज देनेमें अधिक जबाबदारी नहीं है, और न इसके लिए विशेष चतुराई की ही आवश्यकता रहती है। किन्तु सभी एजंट समान बुद्धी के कैसे मिल सकते हैं? किसी को निरे संवाद-दाता के रूप में एजंसी करना पसंद नहीं, तो कई उसमें अपनी बुद्धिमत्ता दिखलाने की भी इच्छा रखते हैं। यद्यपि यह इच्छा प्रशंसनीय है सही, किन्तु इसके लिए वह मनुष्य भी उतना ही बुद्धिमान और सचेत होना चाहिये। अनंतराव जोशी एकसंबेकर नामके एक एजंट धारवाड जिले में काम करते थे। इन्होंने अपने नाम से हैंडबिल छपाकर स्थान २ में सभाएँ करनेका सिलसिला शुरू कर रक्खा था। ता. २१ दिसंबर सन १८९६ के सभा करने के लिए उन्होंने एक हैंडबिल छपाया। जिसमें यह लिखा गया था कि "सरकार की इच्छा इस अकाल में एक भी मनुष्य को भूखों मरने देनेकी नहीं है, और इस आशय का एक तारभी वाइसराय की ओरसे आ गया है। बम्बई सरकार के रेविन्यु कमिश्नर की ओरसे इस तरह का हुक्म जारी हुआ है कि, जहां २ पैदावार छह आनेतक हुई हो, वहां एकदम लगान माफ कर दिया जाय, और जहां बारह आने पैदावार हुई हो वहां एक साल के लिए माफी रहे।

इस हैंडबिल का निमित्त ही सरकार के लिए बहुत था। फलतः मान्टीथ साहब ने इसकी एक प्रति भेजकर सभा से पूछा कि ये एकसंबेकर क्या सचमुच ही सभा के कोई एजंट हैं? और इनकी इस हैंडबिल में लिखी हुई बातों की जबाबदारी सभा अपने सिर लेना चाहती है या नहीं'? इन प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर शीघ्र दीजिये इ.। किंतु इस तरह फिर वही ख़ास मुद्दे को छोड़कर दूसरेही विषयों की खींचतान शुरू हो गई। और यथार्थ में सभा का भी इस विषय में जैसा कुछ ध्येय रहना चाहिये था वह न रह सका। यदि मान्टीथ साहब के प्रश्नों का सरल उत्तर सभा एकदम दे डालती तो सरकार के हाथ से यह निमित्त दूर हो सकता था। किंतु सभा ने पहिली भूल यह की कि सरकार के ता. २ फर्वरी के पत्र का उत्तर ता. ९ मार्च तक भेजाही नहीं। और सभा की ओरसे सरल एवं साहसपूर्ण उत्तर न जानेका कारण यही था कि वह न तो एकसंबेकर की बातों ठीक ही बतला सकती और न उन्हें अनुचित ही कह सकती थी, साथ ही उन

की बातें सभा की ओरसे दिये हुए अधिकार से बाहर की होनेसे उनकी जवाबदारी लेनेको भी सभा तैयार नहीं थी। क्यों कि यदि उन बातों को ठीक कहा जाय तो सभा की इज़्ज़त जाती है। और यदि एकसंबेकर को झूंठा बतलाया जाता है तो भी इस में सभा की अप्रतिष्ठा होती है। कारण यह कि निःस्वार्थभाव से काम करनेवालों को फँसाया कैसे जा सकता है? और यदि ऐसा न करें तो उसमें सभा की महत्व ही क्या रह सकती है? क्यों कि जिसे अपना बनालिया है उसे तो पीठ पीछे छुपाना ही पड़ेगा, क्यों कि नीति ऐसाही कहती है। हां, तो सभा में उक्त प्रश्नों के उत्तर पर कई मसौदे तैयार हुए और ज़ोर शोर के साथ चर्चा भी चली। इस अवसर में कुछ दिनोंतक तिलक को पूने से बाहर जाना पड़ा था। अतएव हम नहीं समझते कि सभा के अंतिम उत्तर को उन्हों ने पसंत किया होगा! कुछ भी समझिये, किंतु सभा ने यह खुलासा किया था कि "इस हैण्डबिल का उद्देश्य केवल एक-आध सभा की योजना करना ही है, और उस सभा में लोगों को फेमिन कोड की बाते समझाई जानेके बाद बदले में उन की बातों को समझ लेना मात्र ही था। क्यौं कि एजंटो के छपाये हुए हैण्डबिल सार्वजनिक सभा के पास पहले से स्वीकृती के लिए नहीं भेजे जाते, ऐसी दशा में उनमें की कौनसी बात ठीक है और कौनसी ग़लत, इस का निर्णय सभा पहले ही से कैसे कर दे?" किंतु इतना कहकर भी सभा चुप नहीं हुई। उसने यह बात और भी कही कि, एकसंबेकर को साधारणतया उनके कार्य के लिए जो २ हिदायतें दी गई थी, उनका उल्लंघन किया जानेके भी कोई चिन्ह सभा को नहीं दिखाई देते। जब एकसंबेकर से पूछा गया कि यह छूट या रोक अथवा माफ़ी विषयक जानकारी जो कि तुमने हैण्डबिल में छापी है, कहां से प्राप्त हुई? तो इसके उत्तर में वे बतलाते हैं कि इस तरः की बाते स्थान २ पर लोगों के मुँह से सुनी गई थी। जब कि एकसंबेकर के छापे हुए दो हैण्डबिलों में जुदी २ बातें लिखी गई हैं तो इस पर से स्पष्ट प्रकट होता हैं कि उस समय अवश्य ही परस्पर-विरोधी अफवाहें उड़ती होगी; और सरकार ने भी इस विषयके निश्चित हुक्म फौरन ही जारी न करके उस में ढिलाई की होगी, तभी ऐसा हुआ। यदि एकसंबेकर की बातें मिथ्या भी हों तो भी उसके लिए लोक-वार्ता का कुछ न कुछ आधार अवश्य होना चाहिये। फलतः ऐसी बातोंपर अनजाने में उन्हें विश्वास हो गया हो। यह सब लिखने के बाद अंतमें सभा यह कहती है कि 'सरकार ने एकसंबेकर की भूल दिखला कर अच्छा ही किया। यदि अन्य मुद्रित समाचार पत्रों में भी ऐसी ही भूलें हों तो सरकारको चाहिये कि वह इसी प्रकार उन्हें दुरुस्त करा दे!

किन्तु इस प्रकार के उत्तर से क्या फैसला हो सकता था, यह प्रकट ही था। किंतु सभा की ओरसे उत्तर आने में इतना विलंब होने मात्रसे ही सरकार के करद्वाकर ता. ९ मार्च को सभा के पास इस आशय का अंतिम खरीता भेजा कि 'यदि एक सप्ताह के भीतर ही सभा की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला तो सरकार इस विषय स्वेच्छानुसार एकपक्षीय फैसला कर देगी'। क्यों कि तोप में बारूद पहलेही से ठूंस २ कर भरदी गई थी, उसपर जब सभा की ओरसे उप-युक्त प्रकार की तेजस्वी उत्तर की चिनगारी जाकर गिरी तो फिर धड़ाका होने में देर ही क्या लग सकती थी? फलतः सभा ने यथाविधि प्रस्ताव प्रकट करके सभा को सूचित किया कि, एकसंबेकर की बातें एकदम असत्य हैं। क्यों कि एक साधारण किंतु समझदार आदमी इस तरह की किम्वदन्तियोंपर विश्वास करले यह कभी संभव नहीं हो सकता। क्यों कि इन बातों का नतीजा यह हुआ कि अपढ़ किसान लोग लगान न देनेका हठ धारण कर बैठे। पांच सप्ताह तक चुप रह कर भी सभा ने जो उत्तर दिया, उस में इन मिथ्या बातों से इन्कार नहीं किया गया। इसी प्रकार जिस तरह से स्पष्टीकरण किया गया, वह भी ठीक नहीं कहा जा सकता। और न इस बात का आश्वासन ही दिया कि आगे कभी ऐसी बातें न होने पावेंगी। क्यों कि ऐसी बातों का परिणाम बुरा होता है, लोग महसूल नहीं देते, सरकार को नोटिस जारी करने पडते हैं और सार्वजनिक हित की हानि होती है, अतएव सरकार यह निश्चय प्रकट करती है कि वर्तमान अवस्था में सरकार के सामने सार्व-जनिक प्रश्नों पर लोकमत सूचित करनेकी योग्यता सभा में नाम को भी नहीं है। इस लम्बे वाक्य का आशय केवल यही है कि "अब फिर कभी सरकार के पास अर्जियां भेजनेका कष्ट सभा स्वीकार न करे। इतनेपर भी यदि उसने अपना क्रम नहीं छोड़ा तो सरकार उसके पत्रों का कुछ भी उत्तर न देगी"। किंतु यथार्थ में ही इससे किसी का नफा-नुकसान कुछ भी न हुआ। क्यों कि पहले जब सभा का सरकार में मान था, तब भी उसने सभा को कोई सिरोपाव नहीं बँधवा दिया था, और न अब ही उसने ऐसा निश्चय प्रकट करके सभा का सिर उड़ा दिया। वह तो आज भी उसी दशा में जीवित विद्यमान है। किन्तु राजा प्रजा के बीच मध्यस्थी करने और सरकार का उद्देश्य लोगों को समझाने एवं लोगों की पुकार सरकार तक पहुँचानेका जो काम सभा ने हाथ में लिया था, उसके रुक जानेपर यह कैसे कहा जा सकता है कि किसी का कुछ नफा नुक्सान नहीं हुआ? क्यों कि आन्दो-लन के अनेक मार्गों में से ही एक यह भी था, और सभा को अयोग्य कह देनेसे अन्यमार्ग भले ही बन्द न हुए हों, किन्तु इस एक ही मार्ग के द्वारपर ताला लग जानेसे कारण कमसे कम यह तो बन्द होही गया। इसी लिए उस समय कई

लोगों को यही प्रतीत हुआ कि जो कुछ हुआ वह अच्छा नहीं हुआ। क्यों कि अकेले एकसम्पेकर की भूल से संसार के डूब जानेका आशय नहीं लगाया जा सकता। किन्तु अपने एजंट की भूलको खुद अपनी भूल मानकर यदि कुछ और सरल उत्तर देते हुए सभा मेल-मिलाप कायम रखती तो अच्छा था। क्यों कि ऐसा न होने से प्रतिपक्षी को यह कहने के लिए मौका मिल गया कि "तिलक ने सभा को हाथ में लेकर डुबा दिया।" फिर भले ही डुबाने का अर्थ चाहे सो कर लिया जाय।

यद्यपि अकाल-आन्दोलन सभा द्वारा अवश्य हो रहा था, किन्तु फिर भी यह एक मानी हुई बात है कि इस आन्दोलन का परिणाम केवल सरकार के पास अर्जियां भेजने से जो कुछ होता उसकी अपेक्षा इस आन्दोलन की लोगों में चर्चा होनेसे ही वह अधिक हो सकता था। इस दृष्टि से सार्वजनिक सभा के आन्दोलन में तिलक के केसरी में लिखे हुए लेखों से बहुत सहायता मिली। क्यों कि सभा की ओरसे सरकार के पास केवल अर्जी भेज देने, और उसकी सूचना केसरी में निकल जानेमें अन्तर क्या हो सकता है, वह प्रकट ही है। इधर क्यों कि सभा में आन्दोलन की स्फूर्ति उत्पन्न करनेवाले भी तिलक थे और केसरी में लिखनेवाले भी वही, इस बात को लोग अच्छी तरह जानते थे। इसी लिए उक्त अन्तर में न्यूनता आने जैसी कोई बात ही न थी। क्यों कि जब काम करनेवाले आदमी के हाथ में संस्था और समाचारपत्र के रूप में दो जोरदार साधन रहते हैं, तब एक का दूसरे के लिए उपयोग होकर दोनों का संयुक्त परिणाम द्विगुणित हो जाता हैं। वही बात यहां भी हुई। किंबहुना सभा के आन्दोलन से सरकार को जो भय अथवा कमसेकम चिंता प्रतित हुई उसकी अपेक्षा केसरी के लेखोंने ही निःसन्देह उसे अधिक चिंताग्रस्त एवं भयभीत बना दिया होगा।

ता. १७ नवम्बर सन १८९६ से केसरी में अकालसम्बन्धी जोरदार लेख निकलने लगे। "यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रही कि अब अकाल पड़नेमें कोई कसर रह गई है। क्यों कि अब पशु घांसके मूल्य में बिकने लगे हैं और घासकड़वी का मूल्य सोने के भाव हो गया है।" प्राणान्त संकट आ उपस्थित होनेपर भी लोग यह नहीं सोच सकते कि हमें सरकार से क्या मांगना चाहिये। इसी लिए तिलक द्वारा अनुवादित 'फेमिन रिलीफ कोड' को क्रमशः इसी अंकसे केसरी में छापना शुरू कर दिया गया और व्यक्तिशः तिलक की प्रेरणा से गांव २ में सभाएँ की जाकर सरकार के पास अर्जियां भेजने का काम शुरू हो ही गया था। रा. खरे सदृश स्थिर वृत्ति के वकील तक ने भी तहसील के गाँवों में जा जा कर लोगों को समझाना शुरू कर दिया था। सार्वजनिक सभा की अर्जी में जो सौम्यता

और मितभाषिता रहती थी, वह तिलक के लेखों में नहीं दीख पड़ती थी। क्यों कि न तो खुद तिलक ही इस ओर इतना ध्यान देते थे और न दूसरा कोई उनसे इसके लिए कुछ कहना चाहता था। क्यों कि पाठकों के चित्तपर प्रभाव डालने और प्रतिपक्षी के लिए भी चूंचरा तक करनेका मौक़ा न आ सके इस तरह की सरल भाषा में लिखे जानेसे उनके लेखों का बड़ा असर पड़ता था। क्यों कि पहले एकबार सरकार को अपनी कह देने पर फिर तो अपनी कहने योग्य और भी कितनी ही बातें मिल सकती हैं। क्यों कि जब सरकार अपनी हुई तो फिर उसके छोटे बड़े अधिकारी भी अपने ही होने चाहिये। अर्थात् उनपर भी हमारा अधिकार है। उन्हें अपना काम अच्छी तरह करना चाहिये। और चित्त में दयाभाव रखना चाहिये। यदि वे अपना काम न करें तो अपराधी सिद्ध होंगे। अकाल पीड़ितों की करुण-कहानी सरकार के कानतक पहुँचानेका काम लोगों की अपेक्षा उन्हीं का अधिकार हो सकता है, क्यों कि सरकारी रुपया भी एक प्रकार से अपना ही है; ऐसी दशा में लगान में रिआयत करने से यदि वह कम हो जाय तो इस में भी हमारी हानी है, किंतु इस हानि को हम भुगत लेना चाहते हैं। इधर क्यों कि जंगल भी हमारे हैं, अतएव उनमें के लतावृक्षादि भी प्राणरक्षा के लिए सरकार की ओरसे हमें मिल जाने चाहिये। मतलब यह कि सरकार जो कुछ भी दे उससे तो लोगों को लाभ उठाना ही चाहिये, किन्तु जो न देना चाहती हो उस के लिए भी उसे बाध्य करना चाहिये। क्यों कि सर्व साधारण को इन बातों का ज्ञान नहीं रहता, अतएव नेताओं को उन्हें समझाना चाहिये। सरकारी खजाने की रकम यदि पूरी न पड़ेगी तो हम लोगों से कर्ज़ लेकर प्रजा की प्राणरक्षा करेंगे इस प्रकार स्टेट सेक्रेटरी ने पार्लमेंट में जो वचन दिया था उसका उपयोग कर तिलक लिखते हैं कि "सरकार की ओरसे यहांतक का प्रबंध रहने पर भी लोग क्यों मुफ्त में प्राण दे, यह हमारी समझ में नहीं आता, ऐसी दशा उत्पन्न न होनी चाहिये कि दाता देनेको खड़ा रहे और याचक ही न मिलें। क्यों कि ऐसा होने पर ही यदि दाता सचमुच ही पक्का दाता होगा तो खड़ा रहेगा, अन्यथा उसकी असमर्थता का तो पता लग ही जायगा। अतएव सब लोगों से हमारी प्रार्थना है कि जिस किसीको प्राण बचानेके लिए कुछ मांगना हो वह कलेक्टर साहब के सामने जाकर अपनी मांग पेश करे"। यहांतक का स्पष्ट एवं सुबोध उपदेश मिलता रहने पर फिर क्यों न लोग आन्दोलन मचावेंगे? फलतः सरकार की परोपकार बुद्धि के विषय में तिलक ने जब इस प्रकार मायावी मधु का लोभ दिखाया तब मधुमक्खियां उठ २ कर अधिकारियों के आसपास चक्कर काटने लगी। तिलक का उपदेश देखने में एकदम सरल दिखाई पड़ता था। अर्थात्

में किसी को कुछ भी कठिनाई हो कि तत्काल उसे सरकार के पास भेज देनेका समान रूप से उपदेश; और यदि वे अकेले न जाते हो तो उन्हें साथ लेकर जाने-के लिए नेताओं को उपदेश दिया जा रहा था। भला इस प्रकार के उपदेश में सरकार भी क्या बांधा उपस्थित करती ?

दूसरी ओर अधिकारियों पर भी वे कड़ी आलोचनाएँ कर रहे थे। महावले-श्वरकी ठंडी हवा में बैठकर, सर रिचर्ड टेम्पल का अनुकरण करते हुए यह कह देने में गवर्नरसाहब का क्या बिगड़ता है कि, मनुष्य के लिए रोजका आधसेर अनाज बहुत होता है ? हम भी समझते हैं कि यदि गवर्नरसाहब को अधिकसे अधिक एक हजार रुपये वेतन दिया जाय तो बस होगा ! अंतर केवल यही है कि हमारी बात न सुनकर अधिकारी लोग वेतन के सिवाय ऊपर से हुंडावन का काँपेन्सेशन भी वसूल कर लेते हैं, और अकालपीड़ित मज़दूरों को प्रतिदिन आध सेर के बदले सेरभर अनाज देनेके लिए सरकार की तिजोरी में रुपया नहीं है। इतने परभी अकाल-निवारक फंड के करोड़ों रुपये सरकार हज़म कर ही बैठी है ! इत्यादि। इधर उन्हीं दिनों वाइसराय लार्ड एल्जिन भी राजा-महाराजाओं से मुलाक़ात करनेके लिए घूम रहे थे। अर्थात् वे जहां जाते वहीं मेहमानी के ठाठ रहते थे; शराब की बोतलें खाली की जाती थीं और आतिषबाजी एवं रोशनी में सैंकड़ों रुपया फूंक दिया जाता था। इस तरह प्रत्येक राजा-महाराजा के लाखों रुपये खर्च हो जाते थे। यदि वही पैसा प्रजा के अकाल निवारण में लगाया जाता तो कितना लाभ हो सकता था ! किन्तु इस बात को समझते रहने भी खरी कहकर बुरा बनना कौन पसंद करता ? जब वाइसराय बड़ौदा पहुँचे तो उनके जय जयकार के लिए बग़ीचे में बहुत ही भारी समारोह किया गया। यहांतक कि उस गड़बड़ में बिचारे तीस चालीस व्यक्तियों को तो कुचलकर प्राण दे देने पड़े ! " राजा लोग तमाशे करावें और गरीब जनता बिचारी उसे देखनेकी गड़बड में कुचलकर मर जाय ! इस तरह की दशा अंगरेज़ों की तरह सुधरे हुए राज्यकर्ताओं के जमाने-में भी रह सकती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। इधर जब महाबलेश्वर में 'इष्टापुरी' (स्ट्राबेरी) नामक विलायती फलों का अकाल पड़ा तब उसके लिए कुछ चंदा इकट्ठा करनेमें तो गवर्नरसाहब ने खुद आगे बढ़कर काम किया, किंतु अकाल-निवारक फंड का कहीं पता भी नहीं।"

इधर सार्वजनिक सभा की ओरसे तिलक ने सप्ताह भर में ही चारों ओर अपने एजंट भेज दिये थे। उनमें वि. का. राजवड़े, न. चिं. केलकर, नारायण बाबा घमंडे, शंकर गणेश लवाटे, महाड़कर जोतिषी, गोविंदराव तिलक, आदि के नाम पाये जाते हैं। इन एजंटों के भेजे हुए पत्रों का सारांश सभा के त्रैमासिक में तीन

महिने बाद प्रकाशित होनेवाला था। अतएव केसरी में प्रतिसप्ताह उन में के चुने हुए पत्र छापे जाने लगे। स्थानिक नेताओं की ओर उन एजंटो के पास पत्र भेजे जाने लगे। सभा के एजंट की तरह शिवरामपंत परांजपे और अच्युत सीताराम साठे भी स्थान २ घूमने गये थे। ये एजंट और मंत्री लोग प्रायः स्थानिक अधिकारियों से मिलते, और जिले की अकाल-विषयक योजनाएँ सरलता से समझते थे। कितने ही कलेक्टर आदि इनके साथ उद्दंडता का वर्ताव करते थे, इसकी भी शिकायतें केसरी के पास आती रहती थीं। इनको सम्बोधित करके तिलक लिखते हैं कि " प्रजा को बाक़ायदा सरकार से लड़ने की शिक्षा देनेके लिए हमारे नेता लोग सरकार की गति का अवलोकन कर रहे हैं, जब वे उन सब बातों को सीख लेंगे, तभी सरकारी अधिकारियों की उद्दंडता दूर होकर प्रजा को लाभ पहुँच सकेगा। " इन बातों के सीखते या सिखाते हुए कितनी ही भलीबुरी बातों का अनुभव हुए बिना रह ही नहीं सकता था। ता. १३ दिसंबर के दिन थाना जिले के उंबरगाँव टप्पे में खतलवाद नामक स्थान पर दो हजार मनुष्यों की सभा हुई थी। इसमें छोटी बड़ी सभी जातियों के अज्ञान लोगों की ही तरह नायब तहसीलदार, फौजदार, असिस्टेंट कलेक्टर डुबोले आदि भी उपस्थित हुए थे। सभा में पुलिसपार्टी ख़ास तौर पर बुलवाई थी। इस सभा में अच्युतराव साठे नाम के एजंट पूना से गये हुए थे। ये महाशय बड़े ही वाचाल थे, और कोकणी मनुष्यों से भेट होनेपर उन्हीं की भाषा में बातचीत करना भी इन्हें आता था। इसी सभा में साठे ने डुबोले साहब का मौजूदगी में तीन तीन बार लोगों को समझा कर कहा कि तुम्हारी फसल यदि नष्ट हो गई हो तो सरकार को लगान की एक पाई तक मत दो। जबतक सभा होती रही,- साहब बहादुर खड़े ही रहे और दी हुई कुर्सी पर नहीं बैठे। जब व्याख्यान देते हुए बीच में एक जगह साठे ने कहा कि हम ' सरकारी अधिकारी की छत्र-छायामें बोल रहे हैं ' तब डुबोले साहबसे न रहा गया, और वे बोल उठे कि ' तुम व्यर्थ ही में हमारा नाम क्यों इसमें घुसेड़ रहे हो ? ' सभा समाप्त होनेपर डुबोले साहबने साठे से दो एक मीठी बातें करके बिदा मांगी, किंतु इन मीठे शब्दों का बदला थोड़े ही दिनों में दूसरी ओरसे निकल गया। इस सभा का वर्णन करते हुए केसरी ने जो अग्रलेख लिखा उसका शीर्षक ' पुलिस की सुलगी हुई बन्दूक के निशाने में होनेवाली प्रजा की विराट् सभा ' के रूप में पढ़कर लोगों के चित्त की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती हैं। मतलब यह कि लोगों को सीधा सच्चा उपदेश करके, सरकार को दबाकर या प्रत्येक असामान्य प्रसंग का चटकीली भाषा में वर्णन कर प्रत्येक गांव के लोगों या उनके नेताओं को आन्दोलन में प्रवृत्त करना

में किसी को कुछ भी कठिनाई हो कि तत्काल उसे सरकार के पास भेज देनेका समान रूप से उपदेश; और यदि वे अकेले न जाते हों तो उन्हें साथ लेकर जाने-के लिए नेताओं को उपदेश दिया जा रहा था। भला इस प्रकार के उपदेश में सरकार भी क्या बाधा उपस्थित करती ?

दूसरी ओर अधिकारियों पर भी वे कड़ी आलोचनाएँ कर रहे थे। महाबले-श्वरकी ठंडी हवा में बैठकर, सर रिचर्ड टेम्पल का अनुकरण करते हुए यह कह देने में गवर्नरसाहब का क्या बिगड़ता है कि, मनुष्य के लिए रोजका आधसेर अनाज बहुत होता है ? हम भी समझते हैं कि यदि गवर्नरसाहब को अधिकसे अधिक एक हजार रुपये वेतन दिया जाय तो बस होगा ! अंतर केवल यही है कि हमारी बात न सुनकर अधिकारी लोग वेतन के सिवाय ऊपर से हुंडावन का कॉपेन्सेशन भी वसूल कर लेते हैं, और अकालपीड़ित मजदूरों को प्रतिदिन आध सेर के बदले सेरभर अनाज देनेके लिए सरकार की तिजोरी में रुपया नहीं है। इतने परभी अकाल-निवारक फंड के करोड़ों रुपये सरकार हज़म कर ही बैठी है ! इत्यादि। इधर उन्हीं दिनों वाइसराय लार्ड एल्गिन भी राजा-महाराजाओं से मुलाक़ात करनेके लिए घूम रहे थे। अर्थात् वे जहां जाते वहीं मेहमानी के ठाठ रहते थे; शराब की बोतलें खाली की जाती थीं और आतिषबाजी एवं रोशनी में सैंकड़ों रुपया फूंक दिया जाता था। इस तरह प्रत्येक राजा-महाराजा के लाखों रुपये खर्च हो जाते थे। यदि वही पैसा प्रजा के अकाल निवारण में लगाया जाता तो कितना लाभ हो सकता था ! किन्तु इस बात को समझते रहने भी खरी कहकर बुरा बनना कौन पसंद करता ? जब वाइसराय बड़ौदा पहुँचे तो उनके जय जयकार के लिए बग़ीचे में बहुत ही भारी समारोह किया गया। यहांतक कि उस गड़बड़ में बिचारे तीस चालीस व्यक्तियों को तो कुचलकर प्राण दे देने पड़े ! " राजा लोग तमाशे करावें और गरीब जनता बिचारी उसे देखनेकी गड़बड में कुचलकर मर जाय ! इस तरह की दशा अंगरेज़ों की तरह सुधरे हुए राज्यकर्ताओं के जमाने-में भी रह सकती है, यह बड़े आश्चर्य की बात है। इधर जब महाबलेश्वर में ' इष्टापुरी ' (स्ट्राबेरी) नामक विलायती फलों का अकाल पड़ा तब उसके लिए कुछ चंदा इकट्ठा करनेमें तो गवर्नरसाहब ने खुद आगे बढ़कर काम किया, किंतु अकाल–निवारक फंड का कहीं पता भी नहीं। "

इधर सार्वजनिक सभा की ओरसे तिलक ने सप्ताह भर में ही चारों ओर अपने एजंट भेज दिये थे। उनमें वि. का. राजवड़े, न. चिं. केलकर, नारायण बाबा घमंडे, शंकर गणेश लवाटे, महाड़कर जोतिषी, गोविंदराव तिलक, आदि के नाम पाये जाते हैं। इन एजंटों के भेजे हुए पत्रों का सारांश सभा के त्रैमासिक में तीन

महिने बाद प्रकाशित होनेवाला था। अतएव केसरी में प्रतिसप्ताह उन में के चुने हुए पत्र छापे जाने लगे। स्थानिक नेताओं की ओर उन एजंटो के पास पत्र भेजे जाने लगे। सभा के एजंट की तरह शिवरामपंत परांजपे और अच्युत सीताराम साठे भी स्थान २ घूमने गये थे। ये एजंट और मंत्री लोग प्रायः स्थानिक अधिकारियों से मिलते, और जिले की अकाल-विषयक योजनाएँ सरलता से समझाते थे। कितने ही कलेक्टर आदि इनके साथ उद्दंडता का वर्ताव करते थे, इसकी भी शिकायतें केसरी के पास आती रहती थीं। इनको सम्बोधित करके तिलक लिखते हैं कि "प्रजा को बाक़ायदा सरकार से लड़ने की शिक्षा देनेके लिए हमारे नेता लोग सरकार की गति का अवलोकन कर रहे हैं, जब वे उन सब बातों को सीख लेंगे, तभी सरकारी अधिकारियों की उद्दंडता दूर होकर प्रजा को लाभ पहुँच सकेगा।" इन बातों के सीखते या सिखाते हुए कितनी ही भलीबुरी बातों का अनुभव हुए बिना रह ही नहीं सकता था। ता. १३ दिसंबर के दिन थाना जिले के उंबरगाँव टप्पे में सखलवाद नामक स्थान पर दो हजार मनुष्यों की सभा हुई थी। इसमें छोटी बड़ी सभी जातियों के अज्ञान लोगों की ही तरह नायब तहसीलदार, फ़ौजदार, असिस्टेंट कलेक्टर डुबोले आदि भी उपस्थित हुए थे। सभा में पुलिसपार्टी ख़ास तौर पर बुलवाई थी। इस सभा में अच्युतराव साठे नाम के एजंट पूना से गये हुए थे। ये महाशय बड़े ही वाचाल थे, और कोकणी मनुष्यों से भेंट होनेपर उन्ही की भाषा में बातचीत करना भी इन्हें आता था। इसी सभा में साठे ने डुबोले साहब का मौजूदगी में तीन तीन बार लोगों को समझा कर कहा कि तुम्हारी फसल यदि नष्ट हो गई हो तो सरकार को लगान की एक पाई तक मत दो। जबतक सभा होती रही, साहब बहादुर खड़े ही रहे और दी हुई कुर्सी पर नहीं बैठे। जब व्याख्यान देते हुए बीच में एक जगह साठे ने कहा कि हम 'सरकारी अधिकारी की छत्र-छायामें बोल रहे हैं' तब डुबोले साहबसे न रहा गया, और वे बोल उठे कि 'तुम व्यर्थ ही में हमारा नाम क्यों इसमें घुसेड़ रहे हो?' सभा समाप्त होनेपर डुबोले साहबने साठे से दो एक मीठी बातें करके बिदा मांगी, किंतु इन मीठे शब्दों का बदला थोड़े ही दिनों में दूसरी ओरसे निकल गया। इस सभा का वर्णन करते हुए केसरी ने जो अग्रलेख लिखा उसका शीर्षक 'पुलिस की सुलगी हुई बन्दूक के निशाने में होनेवाली प्रजा की विराट् सभा' के रूप में पढ़कर लोगों के चित्त की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। मतलब यह कि लोगों को सीधा सच्चा उपदेश करके, सरकार को दबाकर या प्रत्येक असामान्य प्रसंग का चटकीला वर्णन कर प्रत्येक गांव के लोगों या उनके नेताओं को आन्दोलन

ही केसरी का मुख्य उपदेश था, और यह हरएक प्रकार से सफल हो रहा था।

यह एक मानी हुई बात थी कि इन कार्यवाहियों से अधिकारी लोग चिढ़ जाते। फलतः सन १८९६ के दिसंबर के अंततक सभा के तीन प्रचारकों पर अभियोग चलाये गये। इनमें से दो कुलाबा जिले में और एक थाना में था। कुलाबा जिले के अभियुक्त प्रो. अच्युतराव साठे और दत्तोपंत आपटे थे। तीसरा अभियोग उंबरगांव के परांजपे, कारूलकर और पिंपुटकर पर चलाया गया था। इनमें से साठे का मुकद्दमा विशेष महत्व का रहा। क्यों कि इनपर चलाया हुआ मामला एक प्रकार से सार्वजनिक सभा पर ही चलाये हुए अभियोग की तरह था। जिस समय यह अभियोग शुरू हुआ, तब तिलक कलकत्ता कांग्रेस में गये हुए थे। जब तार से उन्हें वहां यह समाचार मिला तो वे उसी दिन पूना लौट पड़े। इधर सभा के नेता अगले कर्तव्य अर्थात् डिफेन्स के विषय में ठीक २ निश्चय न कर सकने से बड़ी दुविधा में पड गये थे। किंतु तिलक कलकत्ते से पैंतिस घंटे की लगातार यात्रा करके पीछली रात को साढ़े तीन बजे जब पूना पहुँचे, तो उस समय भी उन्होंने अपने घर लोगों को प्रतीक्षा करते हुए देखा। फलतः इतने परिश्रम के बाद भी क्षणमात्र का विश्राम न लेते हुए तिलक ने मामले का सारा विवरण सुना; और तत्काल ही डिफेन्स का स्वरूप निश्चित कर दिया। मुक़दमा पेन नामक स्थानमें चला था; और फैसले के दिन हजारों मनुष्य अदालत के बाहर इकठ्ठे हो गये थे। पेशी के समय तिलक भी पेन गये थे, साथ ही कई वकील-बैरिष्टरों की भी भीड़ वहां हो गई थी। अभियोग से एक दिन पहले बाबासाहब धारकर के सभापतित्व में एक विराट् सभा हुई थी। और कई लोगों नें समझा था कि इस सभा का परिणाम मुकदमें पर हुए बिना न रहेगा। किन्तु उनकी यह शंका एकदम निर्मूल सिद्ध हुई। उस सभा में तिलक ने कह दिया था कि " वर्तमान राज्य एक मात्र-कानून पर आधार रखता है। अतएव यदि सरकार के क़ानून को हाथ में लेकर उसे लोगों को भलीभांति समझानेसे ही प्रो. साठे पर मामला चलाया जाता है, तो फिर मेरा तो यह रातदिन का ही काम है कि हजारों लोगों को कानून की बाते समझाता रहूं। ऐसी दशा में मुझ-पर हजारों मुकद्दमे चलने चाहिये। "

इस तरह की जोशीली भाषा का प्रभाव लोगोंपर पड़े बिना कैसे रह सकता था ? फलतः इन बातों से वे एकदम ही निर्भीक बन गये, और यदि साठे को सजा हो जाती तो उसकी दहशत पर यह चौपट पहले ही पड़ गया। इसके बाद जब मामले की सुनवाई शुरू हुई, तब आरंभ में ही खरे वकील ने यह शिकायत की कि, आपटे और साठे पर लगाये नये आरोप भिन्न २ हैं, अतएव इनपर जुदे २

मामले चलाये जाने चाहिये। इस बात को मजिस्ट्रेट ने स्वीकार करके अकेले साठे पर ही पहले मुकदमा चलाया और जब दो चार गवाहों के बयान से साठे के विरुद्ध कोई भी बात सिद्ध न हुई, तब मुकसाहब ने अभियुक्त को निरपराध कहकर उसी दिन छोड़ दिया। इसके बाद आपटे की पेशी हुई, किन्तु वह अभियोग स्थगित कर दिया गया। क्यों कि इसमें भी पहले ही गवाह का बयान निकम्मा सिद्ध होनेसे पुलिस को दूसरे गवाह पेश करने के लिए थोड़ासा अवकाश लेना पड़ा। और अंत में उन्हें एक वर्ष की सादी क़ैद एवं दो सौ रुपये जुर्माने की सजा दी गई। अर्थात् इस तरह साठे तक का बदला आपटेपर चुका लिया गया। इस मामले को सिद्ध करने के लिए पुलिस को बड़ी मेहनत करनी पड़ी। दो गवाहों ने तो यहांतक कह दिया कि पुलिस की ओरसे धमकी दी जाने ने ही हमें आरोपियों के विरुद्ध गवाही देनी पड़ी है। एक ने तो अदालत के सामने पुलिस के मारे हुए बेत का निशान भी अपने शरीर पर दिखला दिया। इधर आरोपी की ओरसे कितनी ही गवाहियां हुईं। किंतु फिर भी सुनार, ठाकुर आदि जाति के लोगों की ओरसे इस अकाल में ब्राह्मणों के सिखानेसे सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र रचा जानेकी बात कहकर मजिस्ट्रेट साहब ने उन्हे अविश्वसनीय सिद्ध कर ही दिया!

क्यों कि आपटे ने ख़ास तौरपर शराब न पीनेके लिए उपदेश करके केन साहब के व्याख्यान का एक अंश पढ़कर सुनाया था। किन्तु तीसरा अर्थात् थाना ज़िलेका अभियोग तो खुद तिलक पर भी अपना प्रभाव डालने की अवस्था में पहुंच गया था। क्यों कि जिस हँडबील परसे यह मुक़दमा चला था उस में ता. १५ दिसंबर के केसरी का उद्धरण इस ढंग से दिया गया था कि जिस में वह सब को दृष्टिगोचर हो सके। इसी प्रकार उस में फेमिन रिलीफ कोड का भी उद्धरण दिया गया था। किंतु उसे कौन पूछने बैठा था? क्यों कि यह हँडबील पूना के आर्यभूषण प्रेस में छपा था अतएव पुलिसने प्रेस में जाकर उस की हस्तलिखित प्रति जब्त कर ली थी। किन्तु अपराधी खुद ही इससे इन्कार करना नहीं चाहता था। अस्तु। ता. २ जनवरी को थाना के कलेक्टर मि. जोगन के सामने यह मुक़दमा चला। और इसका अंतिम निर्णय ता. १७ जनवरी को हुआ, जिसमें कि अपराधी निर्दोष कह कर छोड़ दिये गये!

जब उस हँडबिल की भाषा पर जांच-पर्ताल शुरू हुई तब जोगन साहब को स्वीकार करना पड़ा कि "केसरी के उद्धरण की भाषा बड़ी ही व्यवस्थित और सावधानतायुक्त है। किंतु इतना स्वीकार करके भी उन्हों ने यह रिमार्क लिख दिया कि, भाषा व्यवस्थित रहने पर भी क्या हुआ! जो भी लिखनेवाले ने भले

ही केसरी का मुख्य उपदेश था, और यह हरएक प्रकार से सफल हो रहा था।

यह एक मानी हुई बात थी कि इन कार्यवाहियों से अधिकारी लोग चिढ़ जाते। फलतः सन १८९६ के दिसंबर के अंततक सभा के तीन प्रचारकों पर अभियोग चलाये गये। इनमें से दो कुलावा जिले में और एक थाना में था। कुलावा जिले के अभियुक्त प्रो. अच्युतराव साठे और दत्तोपंत आपटे थे। तीसरा अभियोग उंबरगांव के परांजपे, कालकर और पिंपुटकर पर चलाया गया था। इनमें से साठे का मुकद्दमा विशेष महत्व का रहा। क्यों कि इनपर चलाया हुआ मामला एक प्रकार से सार्वजनिक सभा पर ही चलाये हुए अभियोग की तरह था। जिस समय यह अभियोग शुरू हुआ, तब तिलक कलकत्ता कांग्रेस में गये हुए थे। जब तार से उन्हें वहां यह समाचार मिला तो वे उसी दिन पूना लौट पड़े। इधर सभा के नेता अगले कर्तव्य अर्थात् डिफेन्स के विषय में ठीक २ निश्चय न कर सकने से बड़ी दुविधा में पड़ गये थे। किंतु तिलक कलकत्ते से पैंतिस घंटे की लगातार यात्रा करके पिछली रात को साढ़े तीन बजे जब पूना पहुँचे, तो उस समय भी उन्होंने अपने घर लोगों को प्रतीक्षा करते हुए देखा। फलतः इतने परिश्रम के बाद भी क्षणमात्र का विश्राम न लेते हुए तिलक ने मामले का सारा विवरण सुना; और तत्काल ही डिफेन्स का स्वरूप निश्चित कर दिया। मुक़द्दमा पेन नामक स्थानमें चला था; और फैसले के दिन हजारों मनुष्य अदालत के बाहर इकट्ठे हो गये थे। पेशी के समय तिलक भी पेन गये थे, साथ ही कई वकील-बैरिष्टरों की भी भीड़ वहां हो गई थी। अभियोग से एक दिन पहले बाबासाहब धारकर के सभापतित्व में एक विराट् सभा हुई थी। और कई लोगों नें समझा था कि इस सभा का परिणाम मुकदमें पर हुए बिना न रहेगा। किन्तु उनकी यह शंका एकदम निर्मूल सिद्ध हुई। उस सभा में तिलक ने कह दिया था कि " वर्तमान राज्य एक मात्र-कानून पर आधार रखता है। अतएव यदि सरकार के क़ानून को हाथ में लेकर उसे लोगों को भलीभांति समझानेसे ही प्रो. साठे पर मामला चलाया जाता है, तो फिर मेरा तो यह रातदिन का ही काम है कि हजारों लोगों को कानून की बाते समझाता रहूं। ऐसी दशा में मुझ-पर हजारों मुकद्मे चलने चाहिये। "

इस तरह की जोशीली भाषा का प्रभाव लोगोंपर पड़े बिना कैसे रह सकता था ? फलतः इन बातों से वे एकदम ही निर्भीक बन गये, और यदि साठे को सजा हो जाती तो उसकी दहशत पर यह चौपट पहले ही पड़ गया। इसके बाद जब मामले की सुनवाई शुरू हुई, तब आरंभ में ही खरे वकील ने यह शिकायत की कि, आपटे और साठे पर लगाये गये आरोप भिन्न २ हैं, अतएव इनपर जुदे २

को मिल जाया करती थी। क्यों कि वे अपना कर्तव्य इतना ही समझते थे कि, ऊपर के हुक्मों की अमल बजावरी यथासंभव कम ख़र्च, एवं थोड़े श्रम से कर दी जाय। उनमें भी यदि कोई ज़िलाधिकारी परिश्रमी या उदार होता उसे काम करने के बाद बहुत वक्त मिल सकता था। ऐसी दशा में वह क्योंकर अकाल-सम्बन्धी बातों का विचार करने बैठता? फलतः इसी लिए उसे भी तिलक के वचन एवं उनकी व्यापक दृष्टिपर आश्चर्य होता था। दूसरा भाग इस विषय के अग्रलेख एवं टिप्पणियों से सम्बन्ध रखता था। इन दोनों के लिए प्रतिसप्ताह कुछ न कुछ नया विषय अथवा नई सामग्री आही जाती थी। कहीं उल्लेखनीय सभा हुई तो कहीं सरकारी अधिकारियों ने मनमाने हुक्म जारी कर दिये, कहीं उद्दंडता की तो कहीं निठुरता से काम लिया गया तो इन सब बातों का संवादपहुंचाने के लिए तिलक का तारयंत्र तैयार ही रहता था। बहार के संवाददाता इन कामों के लिए बड़ी ही तत्परता से काम करते थे। क्यों कि प्रत्येक बात की चर्चा करने का ढंग केसरी ने लोगों को सिखा दिया था, वे भी बड़ी बारीकी से हर एक बात की ख़बर तिलक को भेज देते थे। अग्रलेख और टिप्पणियों में अनेकवार पुनरुक्ति हो जाती थी। किन्तु आन्दोलनों में तो यह पुनरुक्ति का अभ्यास ही सब से अधिक काम का होने के विषय में तिलक का विश्वास रहनेसे, वही कल्पनाएँ किम्बहुना अनेकों बार वे ही शब्द लौट पलट कर लिखते हुए उन्हें किसी प्रकार की उकताहट नहीं होती थी। तीसरा भाग प्रतिसप्ताह प्रकाशित होनेवाली अकाल-विषयक सरकारी घोषणाओं से संम्बन्ध रखता था। सो इनका भी अनुवाद अथवा सारांश केसरी में दे दिया जाता था। क्यों कि पृथक् रससे आलोचना करने पर भी सरकार के घर में क्या हो रहा है, इसका पता रहना उस की दृष्टि से लोगों के लिए आवश्यक था। बीच २ में एक-आध मुक़द्दमा चलजाने या तत्संबन्धी किम्वदंती उड़ जानेपर आलोचनारूपी खट्टे मठे में निमक की डली गिर जाने की तरह उस में किसी क़दर मिठास ही आ जाता था। सारांश, केवल पत्रसंपादक की दृष्टि से निःसन्देह तिलक ने यह आन्दोलन अनुकरणीय कर दिखाया।

किन्तु इस आन्दोलन में विध्वंसक आलोचनाओं के ही साथ २ तिलक ने कुछ विधायक कार्य भी कर दिखाया था। सार्वजनिक सभा की ओरसे सोलापुर जाकर उन्होंने जुलाहों की प्राणरक्षा के लिए योजना तैयार कर सरकार के सामने पेश करने में व्यापारियों को जो सहायता दी, उसका उल्लेख यथास्थान किया ही जा चुका है। किन्तु इससे भी अधिक सफल कार्य उनके प्रयत्न से पूने में सस्ते अनाजकी दूकाने खुलना है। क्यों कि बुभुक्षितों द्वारा अन्न की दूकाने लुट जाने के जो समाचार प्रकाशित होते वे केसरी में भी दिये जाते थे। किंतु वे केवल इसी

लिए कि जिस में लोभी व्यापारी अपने कर्तव्य को समझ लें और साथ ही उन्हें यह भी ज्ञान हो जाय कि अपने इस कर्तव्य से च्युत होनेका परिणाम क्या होगा ! किन्तु फिर भी बाजारों का लूटा जाना वे अनिष्ट एवं निन्दनीय समझते थे। यही नहीं बल्कि इस तरह के उपद्रवी लोगों के आक्रमणों का एकमत होकर विरोध करने के लिए भी वे लोगों को उपदेश देते रहते थे। व्यापारियों के भी पेट में घुसकर तिलक ने इसके लिए बहुत कुछ प्रयत्न किया कि उद्योग में अन्य प्रकार से धनाढ्यों से नफा कमाने पर भी धर्मादाय के ही रूप में क्यों नहो, किन्तु सस्ते अनाज की दूकाने अवश्य खोली जानी चाहिये। इन्हीं सब बातों के विचार से तिलक सदैव इस सिद्धान्त को मान्य रखते थे कि राजनैतिक आन्दोलन के लिए भी लोकोपयोग का अधिष्ठान रहे बिना काम नहीं चल सकता।

———:o:———

भाग—चौबीसवाँ।

——:——

पूने में प्लेग का प्रकोप।

यह कथन कि 'दुःखं दुःखानुबन्धी' अर्थात् दुःख ही दुःख का साथी होता है-बिल्कुल ठीक है। किसी दूरदर्शी शिकारी की तरह दुर्भाग्य सदैव दुनाली बन्दूक का ही उपयोग करता है; अन्यथा सन १८९६-९७ में अकाल और प्लेग दोनों ही एक साथ कैसे आ सकते थे? यद्यपि अकाल का जन्मजात साथी महामारी या हैजा ही कहा जा सकता है। क्यों कि इन दोनों में तो एक प्रकार का ऋणानुबंध एवं कार्यकारणसंबन्ध भी होता है। अर्थात् अकाल में गरीब लोग भूखे या आधे पेट रहते हैं, और अपनी क्षुधानिवृत्ति के लिए जैसा भी मिल जाय उस कदन्न तक को खा लेते हैं। और क्यों कि उसके भी निश्चितरूप से मिलते रहने की संभावना नहीं होती, अतएव जब कभी मिलता है, तो उसे केवल पेट भर ही खाकर वे सब्र नहीं नहीं कर लेते; बल्कि अधिक भी खा लेते हैं। इसी कारण अकाल में अजीर्ण की तरह विरोधाभास भी उत्पन्न हो सकता है। अतिवृष्टि का अकाल होने पर सड़े हुए अन्न एवं अनावृष्टि के अकाल में दूषित जल के रूप में खाली अधिक भरे हुए पेट के लिए उनकी सहायता तैयार ही मिलती है। इस तरह जिस प्रान्त में अकाल पड़ा हो, वहां उस के बाद ही महामारी का प्रकोप भी आता देखा गया है। किन्तु सन १८९६ में अकाल के साथ २ एक ऐसा रोग उत्पन्न हुआ कि जिस का उस से किसी भी प्रकार संबन्ध नहीं था। इस रोग का नाम था गंदिया ज्वर या ब्यूबोनिक प्लेग। सन १८९७ की आपत्ति के आरंभ में यह जोड़ी महाराष्ट्र भर में अनिरुद्ध स्वरूप में नाचने लगी। अकाल से लोगों का निरन्तर परिचय न रहने पर भी इस की कल्पना तो की जा सकती थी। किंतु यह गंदिया ज्वर ऐसा कुछ चमत्कारिक एवं भयंकर रोग था कि, जिस से प्रत्यक्ष भेट होने पर तो मृत्यु होती ही थी, किन्तु केवल संशय से ही मनुष्य अर्धमृत हो जाता था। यद्यपि मृत्यु वैसे ही भयंकर प्रतीत होती है, किन्तु अपमृत्यु की भीषणता उससे भी अधिक बढ़ जाती है। और यह भी एक दो नहीं बल्कि जब सैंकड़ों मनुष्यों का सफाया एकसाथ करने लगती है, तब कितनी भयंकर प्रतीत होती होगी?

बम्बई में अकाल का कष्ट विशेषरूप से अनुभव में नहीं आ सकता। किंतु राजधानी समझकर प्लेग ने बम्बई को छोड़ा नहीं। किम्बहुना सबसे पहले उसका जन्म बम्बई में ही हुआ। और जिस प्रकार आराम पहुँचानेवाली वस्तुएँ

बम्बई से बाहर गाँवों को भेजी जाती हैं, उसी प्रकार यह प्लेग भी बम्बई से ही अन्य स्थानों में फैला। सन १८९६ के अक्टूबर मास के आरंभ में बम्बई के माण्डवी नामक मुहल्ले में एक ऐसा नया और अनोखा रोग उत्पन्न हुआ, जिसकी कभी कल्पना तक नहीं की गई थी। सितम्बर महिने में लोग थोड़े २ बीमार होकर मर ही रहे थे; किंतु बड़ों की सभी बातें बड़ी ही हुआ करती है, इस न्याय के अनुसार बेशुमार बढ़ी हुई मृत्युसंख्या की शुरू में किसी ने चिंता नहीं की। वालुकेश्वर के पहाड़ी बंगलों से लगाकर भायखला के नागपाड़े या कामाठीपुरे की म्लेच्छ बस्ती तक स्वच्छता, अस्वच्छता, आरोग्यता और बीमारी के नमूने यथाक्रम देखे जा सकते हैं। माण्डवी में एक तो वैसे ही बस्ती गन्दगी युक्त हैं, उस में भी फिर वहांवालों को साफ हवा बहुत ही कम नसीब होती है। नालियां और गटरें वहां अब भी उसी पुराने ढंग की बनी हुई हैं, जिनमें कि लाखो मन मैला और सड़ा हुआ कीचड़ भरा रहता हैं। उन्ही में सड़े हुए अन्न के कोठे भी भरे पड़े हैं। इन सब साधनों के योग से यदि इस भाग में महिने दो महिने तक मृत्युसंख्या सदैव के प्रमाण से बढ़ भी जाय, तो बम्बई के हेल्थ ऑफिसर को एकाधबार कोई आश्चर्य प्रतीत नहीं होता। किन्तु एक ही महिने में बारह सौ मनुष्य मर जाने से म्युनिसीपालिटी के अधिकारियों के ध्यान में यह बात आने लगी कि इस बेशुमार बढ़ी हुई मृत्युसंख्या में अवश्य ही कोई संशयास्पद या भीतिप्रद कारण होना चाहिये; इधर इस मुहल्ले के डाक्टरों ने भी इस सन्देह का समर्थन किया।

अन्त में मृत्यु से भयभीत होकर जब माण्डवी के लोग वहांसे भाग कर दूसरे मुहल्लों में बसने लगे, यही नहीं बल्कि रेलों द्वारा गुजरात की ओर जाने भी लगे, तब कहीं जाकर इस बीमारी का हल्ला उड़ा। फिर तो सभाएँ होने लगीं, कमेटियां भी बनाई जाने लगीं, समाचारों में प्रतिदिन छोटी बड़ी सब तरह की बातें छपने लगीं और माण्डवी में सफाई करके रोग की बाढ़ को हटाने के विचार से हजारों रुपये ख़र्च कर इस मुहल्ले की गटरें खुदवाई जाने लगीं। किन्तु प्रथमतः बम्बई शहर के अन्य भागों में और इसके बाद बाहर के स्थानों में इस बीमारी के फैलने का भय नहीं रहा। क्यौं कि इस रोग की आरंभिक अवस्था का इतिहास देखने पर माण्डवी तक ही विचारों की पहुँच हो सकती थी। किन्तु कुछ ही दिनोंबाद माण्डवी की तरह अन्य कई छोटे-बडे नगर और गांव इस रोग के घर बन गये, और वहांसे यह दूर २ तक फैलाने लगा। बम्बई प्रान्त के अनेक भागों में इस रोग का प्रसार होता देखकर रेल के कारण एकोमय हो जानेवाले अन्य प्रान्तों को भी इस रोग का भय प्रतीत होने लगा। क्यौं कि जो साम्राज्यबन्धन अच्छे के लिए हो सकता है,

बड़ी मौका पड़नेपर अनिष्ट बातों के लिए भी बन्धन ही सिद्ध होता है, उससे बचा नहीं जा सकता। इसी लिए बंगाल और पंजाब जैसे दूरस्थ प्रदेशों की तरह सुदूर इंग्लैण्ड के लोगों को भी इस रोग ने भयभीत कर दिया। क्यों कि इससे ये लोग पहले ही से परिचित थे। सन १६६५ में इसने लन्दन शहर को बेचिराख बना दिया था; अतएव इस भय से कि यदि यह भारत का मेहमान फिर अपने यहां आ गया तो बड़ी कठिनाई होगी। प्लेग-निवारक उपायों की योजना करने के लिए तत्काल ही विलायत से भारत सरकार के नाम तार पर तार भेजे जाने लगे। पूना में प्लेग का सब से पहला केस सितंबर के अंतमें हुआ होगा। क्यों कि इसके बाद ही बम्बई से आनेवाले लोगों और ख़ासकर बीमारोंपर म्युनिसीपालिटी की ओरसे देखरेख रखी जानेका निश्चय हुआ था। ता. ६ अक्टूबर के अंक में केसरी के संपादक लिखते हैं कि " यहां के कुछ डाक्टर लोगों के देखने में आया है कि बंबई से आये हुए मुसाफिरों में दो एक व्यक्तियों में वहां का ज्वर सौम्यरूप में विद्यमान है, अतएव उन्होंने हमें सूचित किया है।" इसके बाद २०। २२ वर्ष तक जिसने पूना नगर को बहुत ही त्रास पहुँचाया, और जिस कि कार्यवाहियों से अनेक अद्भुत एवं भयंकर घटनाएँ पूना शहर को सौं-पचास वर्ष के बाद अनुभव करनी पड़ी उस आजन्म याद रहनेवाले प्लेग का संभवतः यही सब से प्रथम उल्लेख हो सकता है।

जनवरी के आरंभ में बम्बई की कचरियां और अदालतें बन्द होने लगी। इससे बम्बई छोड़कर बाहर जानेवालों की संख्या और भी बढ़ गई। इस तरह जी. आई. पी. रेल के द्वारा बम्बई से प्लेग के रोगी भी डॉक्टर की नज़र चुका २ कर पूना आने लगे। फरवरी के आरंभ तक लगभग सवासौ प्लेग की मृत्युएँ रविवार पेठ, भाजीगली और लोखार गली आदि में हुई। फलतः जब प्लेग विरुद्ध नाकेबंदी का कुछ उपयोग न होकर पूने में बीमारों की संख्या बढ़ने लगी, तब इस बात पर विचार होने लगा कि शहर में कौनसा उपचार शुरू किया जाय। प्रथमतः इस विषय की सर्वसाधारण जानकारी के लिए तिलक ने दो लेख अनुभवी डाक्टरों से लिखवाकर प्रकाशित किये। और साथ ही म्युनिसीपालिटी के उपचारों में लोगों को क्या २ सहायता देनी चाहिये, इसके लिए भी उपदेश किया। यद्यपि तिलक सदैवही सरकार के विरुद्ध लोगों की तरफदारी करते रहते थे, किन्तु जब नगर की व्यवस्था के विषय में उन्हें कुछ कहना होता तब वे लोगों को उनके अज्ञान एवं प्रमाद पर फट्कार बतलाने से भी नहीं चूकते थे। ता. २ और ९ फरवरी के केसरी के अग्रलेखों में तिलक के स्थानिक स्वराज्य का पारा यहां तक चढ़ गया था कि, उन्होंने कूड़े की पेटियों से भी दो क़दम दूर कूड़ा-करकट फेंकनेवाली स्त्रियों

तक को फट्कर दिया। " सुबह से श्यामतक कोई नालियों की ग़िलाज़त, तो कोई चूल्हे की राख और कोई कोने-कुचरे का कूड़ा, बाल-बच्चों का मैला, कपड़ों और चिंधड़ों के टुकड़े, रोड़े, पत्थर आदि हरएक वस्तु वहां फेंकते रहते हैं, इस कारण झाड़ू देकर कूड़ा-करकट साफ कर सकने का काम म्युनिसीपालिटी के हाथ में रहने वालों साधनों ने कभी समाप्त नहीं हो सकता "। अतएव केसरी ने प्रत्येक घरवाले को प्लेग के विष का कणमात्र भी अपने घर में न रहने देने लिए सावधानी रखने का उपदेश कर यह सलाह दी थी कि साधनहीन मनुष्यों को अपने घर के रोगी प्लेग के अस्पताल में भेज देने चाहिये।

किन्तु इसी के साथ २ सरकार की ओरसे इस विषय में जिन २ उपायों की योजना शुरू हुई थी, उसके दोषोद्घाटन की शुरूआत भी तिलक ने कर दी थी। उनकी शिकायत यह थी कि उचित समय पर प्रत्येक प्रकार के उपायों द्वारा भारत में प्लेग न आने देने या कमसे कम बम्बई से उसे बाहर न फैलने देने का प्रबंध तो सरकार को अवश्य ही करना चाहिये था, सो वह उसने नहीं किया; और अब जब कि प्लेग चारों ओर फैलकर स्थान २ में बद्धमूल हो गया है-उसकी रोक के लिए कितनी ही सख्तीसे काम लिया जाय तो भी रोग तो उससे रुकेगा ही नहीं और मुफ्त में बिचारे लोगों को परेशानी उठानी पड़ेगी। सरकारी डॉक्टर हुए तो भी क्या, वे भी तो प्लेग के सच्चे स्वरूप का अंदाज एकदम न कर सके। इसी लिए तो उस समयतक पिस्सुओं के द्वारा इस रोग का प्रसार होने की बात शास्त्र सिद्ध न होते हुए भी सरकारी डॉक्टरों ने आरंभ में यही मत प्रकट किया था कि यह रोग न तो स्पर्शजन्य है और न वातसंचारी। किन्तु वस्तुस्थिति ने एकदम हीं जब से मिथ्या सिद्ध कर दिया, और ख़ास कर विलायत से भयग्रस्त सरकार ने जब सख़्ती के हुक्म भेजना शुरू किये तब कहीं जाकर भारत सरकार की नींद खुली। फलतः उसने अबतक जो सुस्ती की और अनिष्टता दिखलाई थी उसकी पूर्ति एकदम उग्र उपायों की योजना द्वारा सरकारी अधिकारियों ने करनी चाही। किन्तु केसरी ने उसी समय सावधान कर दिया कि यह उनके हाथों भयंकर भूल हो रही है। मतलब यह कि प्लेग की बढ़ती हुई हालत और उसके स्वरूप का विचार करते हुए जिन उपायों की आगे के लिए योजना की जानी चाहिये थी, वे जिस प्रकार अज्ञानी पुरुषों के भरोसे छोड़े नहीं जा सकते, उसी प्रकार अकेले सरकारी अधिकारी भी उन्हें अपने हाथ में रखकर काम नहीं चला सकते। अतएव इस कार्य के लिए स्थानिक-स्वराज्य (म्युनिसीपालिटी) को ही सरकार की ओरसे समयोचित अधिकार दे डालने चाहिये। लोगों के रीति-रिवाज का विचार करके कुछ उनकी इच्छानुसार और कुछ सख्ती करके समष्टि में

जातीय नेताओं की सलाह एवं सहायता से ही यदि यह काम हुआ तो अवश्य कुछ सफलता प्राप्त हो सकेगी। यह बात भी यथा समय तिलक ने सरकार के दृष्टि पथ में उपस्थित कर दी थी।

किंतु ता. ४ फर्वरी के दिन धारासभा में एक सर्वव्यापक कानून पास करके सरकार ने अपने अधिकारियों को लगभग फौजी कानून के ढंग के अधिकार दे डाले, और उनका उल्लंघन करनेवाले के लिए सजाएँ भी निश्चित कर दी। फलतः बड़ी धारासभा में दर्भंग के महाराज और मा. आनंदाचार्लु आदि ने यह शिकायत की कि यह कानून लोकमत के विरुद्ध है, और इसकी अमल-बजावरी भी त्रासदायक होगी। किंतु वह समय ही ऐसा था कि जब इन बातों को कोई सुनता तक नहीं था। पहले चरण में कानून तो दूसरे ही चरण उसके लिए प्रान्तिक सरकार के नियम बनाये जाने के रूप में जोरों की तैयारी रहने के कारण संदैव के नियमानुसार कलेक्टर सा. अपने जिले के लिए एकदम सम्राट् का अवतार बनकर सायुध एवं सशक्त हो गये । जो वे बतलावें वही पूर्व दिशा माननी पड़ती थी। उनके कृत्यों पर अदालतों में तो कोई फरियाद हो ही नहीं सकती थी, किन्तु इसी के साथ २ सरकारी नियमानुसार उनसे यहतक पूछनेका किसी को अधिकार न था कि तुम यह क्या कर रहे हो ? सीमा परकी क्वारंटाइन से लगाकर रोग के संशय से चीज-वस्तुओं सहित घरद्वार तक जला देने, और हरएक हालत में मनुष्य को चाहे जहां ले जाने तक के अधिकार जिलाधिकारियों को मिल गये थे। और शायद इस शंका से कि उनके हाथों जैसा चाहिये वैसा अमल न हो सकने की संभावना समझ प्लेग के अनेक स्पेशल अधिकारी भी नियुक्त किये गये थे। इस खास काम के लिए जो अधिकारी नियुक्त किया जाता था उसमें कई खास गुणों का होना अनिवार्य था। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन गुणों में बेमुरव्वत मन, कठोर स्वभाव, अंधाधुन्दी की आदत, लोकमत के विषय में तिरस्कारबुद्धि आदि का ही विशेष रूप से समावेश होता था। जिस की विशेष अवकृपा होती, उसपर इन्हीं गुणों से युक्त अधिकारियों की नियुक्ति की जाती थी। इसी प्रकार के एक अधिकारी पूना के भाग्य-विधाता बनाये गये थे, अतएव लोगों को बहुत कुछ परेशान होना पड़ा और तिलक पर भी विशेष प्रकार के संकट आये !

अधिकारियों द्वारा योजित पहला उपाय था क्वारंटाइन की नाकेबंदी। इस नाकेबंदी के स्थान में लोगों के लिए रहने और खाने पीने की सुविधा बिलकुल नहीं की जाती थी, और बिचारे यात्री लोग रास्ते में अचानक ही पकड़ लिये जाकर या तो अस्पताल में रहते अथवा बंदीखाना में पास के मनुष्यों का साथ छुड़ा दिया जाने से उन को तरह २ के कष्ट उठाने पड़ते थे। किंतु इस प्रकार की नाकेबंदी

एक एक रेल्वेपर कहीं २ ही रहने एवं यात्रा के लिए निकलना या न निकलना ऐच्छिक विषय होनेसे इस क्वारंटाइन की चर्चा विशेषरूप से नहीं हुई। किंतु असली शिकायत रोगियों से स्थानपरिवर्तन कराने के विषय में ही थी और यह हर एक गांव में शुरू थी। क्यों कि घर पर रोगी के रखने से हवा दूषित होती है, अतएव रोगी का संवाद मिलते ही तत्काल उसे अपने घर से हटाकर अस्पताल नाम के किसी एक असुविधाजनक स्थान में पहुँचा देनेका काम जोरों पर शुरू हो रहा था। इस विषय में भी केसरी जो कुछ लिखता था, वह विवेकबुद्धियुक्त ही होता था। जिस प्रकार उसने अस्पताल के विषय में लोगों की विपरीत बुद्धि दूर करने के लिए प्रयत्न किया था, उसी प्रकार रोगियों को उठा लेजाने एवं अस्पताल में उनके लिए असुविधाएं रहने के विषय में सरकार पर भी तिलक ने कठोर टीका-टिप्पणी शुरू कर रक्खी थी। अस्पताल का आशय मनुष्यों को मार डालने के स्थान के रूप में लगाया जाकर बम्बई और पूने में जो तरह २ की गप्पें सुनने में आती थी उनके विषय में तिलक ने केसरी में साफ तौरपर लिख दिया था कि " ये बाते इतनी भूलभरी और मूर्खतायुक्त हैं कि, जिनका उल्लेख करना हम तक को उचित नहीं जान पड़ता। " किन्तु इसीके साथ २ अधिकारियों को भी केसरी यह कह रहा था कि " तुम्हारी सख़्ती और विवेकशून्यता के कारण रोगियों को उनके आप्त जन या इष्टमित्र छुपाकर रखते हैं अथवा अनेक स्थानों में घुमाते फिरते हैं, अतएव संसर्ग-दोष से बचाने का जो उद्देश्य है वह सिद्ध न होकर संसर्ग और भी बढ़ रहा हैं। सिवाय इसके मुद्दे की बात केसरी ने यह लिखी थी कि " सेग्रिगेशन अर्थात् रोगियों को बाहर निकालने का काम लोगों की अनुकूलता के विना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। "

इस विषय में पूना म्युनिसीपालिटी ने विवेकबुद्धि के कुछ नियम तैयार करके सरकार के पास भेजे, किन्तु उसने उन्हें मंजूर नहीं किया। अतएव सेग्रिगेशन का नियम नाममात्र के लिए होने पर भी रोगियों की भाग दौड़ इस क़दर होती थी कि गाँव में जोरों का प्लेग रहने पर भी यदि तलाश किया जाय तो एकआध रोगी ही प्रतिदिन अस्पताल ले जानेके लिए मिल सकता था। जो कुछ होना हो सो पूने का ही होने दीजिये; क्यों कि यदि समझाने पर लोग अस्पताल चले गये तो ठीक ही है, अन्य था सख्ती करने पर भी सभी रोगी तो अस्पताल जा ही न सकेंगे। किंतु इसके विरुद्ध गाँवभर में उनकी भाग दौड़ होने अथवा दूसरे गाँवों में उनके चले जानेसे अकारण ही बीमारी अलबत्ता फैल जायगी। क्यों कि संगम के नज़दीक का अस्पताल ऐसा था, जिस में कि एकदम हीन श्रेणीके लोग रखे जा सकते थे। किन्तु किसी मनुष्य के कुलीन एवं सुखसम्पन्न

गृहस्थी होने पर उसे भी उसी स्थान में ले जाकर मूंद देना कहां का न्याय है? इस पर अधिकारी लोग यह उत्तर देते थे कि 'मरजाने पर भी तो गरीब और अमीर सब एक ही स्थान पर जलाये जाते हैं!' किंतु यह दलील एकदम मूर्खता-पूर्ण थी। क्यों कि प्राण रहनेतक भरसक पैसा खर्च करके रोगी या उसके आस-जन यथासंभव उत्तम प्रबन्ध करने की तो इच्छा रखेंगे ही। किंतु इस पर भी अधिकारी लोग इसी तरह बेढंगा उत्तर देते थे कि, लोगों के जितने दर्जे हैं उन सब के लिए अलग २ अस्पताल हम कैसे खोल सकते हैं? इन शंकाओं का समाधान यही था कि यदि सरकार अलग २ अस्पताल कायम करने में असमर्थ हो तो लोगों का कर्तव्य है कि वे अपने लिए स्वतंत्ररूप से इस का प्रबंध कर ले और सरकार इस के लिए उन्हें इजाज़त देदे। इधर इस प्रकार की सूचनाएँ देते हुए तिलक खुद ही हिन्दुओं के लिए निजी प्रयत्नों से एक स्वतंत्र अस्पताल खोलने का प्रयत्न कर ही रहे थे।

पूना में प्लेग की व्यवस्था के लिए ख़ास तौरपर नियुक्त किये हुए अधिकारी मि. रेंड ने ता. १७ फर्वरी को अपने *काम का चार्ज लिया*। इन महाशय ने सितारे में असिस्टंट कलेक्टर की हैसियत से तीन वर्ष पूर्व धौवेत्र वाई में बाजे बजाने के नियम तोड़ने के अपराध में लोगों पर जो मुक़द्दमे चलाये थे, उनका वर्णन पहले हम कर ही आये हैं। रेंडसाहब यद्यपि थे तो मितभाषी, किन्तु इनकी सख्ती बड़ी ही कठोर थी। अतएव ऐसे समय उनकी नियुक्ति पूने के लिए होने में लोगों ने यही समझा कि एक संकट में यह दूसरा और भी आ खड़ा हुआ है। इधर तिलक ने इन साहब के आनेसे पहले ही यह भविष्य बता दिया था कि 'सरकार के इस समय के रुखपर से जान पड़ता है कि उसकी अमलबजावरी बहुत ही सख्ती के साथ होगी। किन्तु इस तरह की अमलबजावरी का यथोचित उपयोग न होकर उद्दिष्ट हेतु की सिद्धि में विघ्न ही विशेषरूप से उपस्थित होंगे। यह अनुमान सेग्रिगेशन के उदाहरण पर से सहज ही में किया जा सकता है।' साथ ही क्यों कि यह भी दिखाई दे रहा था कि रेंडसाहब पूना आकर क्या दिये खुलायेंगे। अतएव तिलक ने उनके आनेसे पहले ही डॉक्टरों की एक सभा करके उसके प्रस्ताव म्युनिसीपालिटी और सरकार के पास भेजने की व्यवस्था कर दी थी। उनमें एक प्रस्ताव यह भी था कि, भय और चिंता ये दोनों ही रोग के निमित्त कारण हो सकते हैं, अतएव सेग्रिगेशन बिलकुल ही सौम्यता के *साथ म्युनिसी-*पालिटी के हाथों होने दिया जाय। और लोगों के लिए निजी अस्पताल खोलकर यदि उन्हें योग्य संचालकों के हाथ में सौंप दिया जाय, तो इससे जनता के स्वेच्छापूर्वक अस्पताल चले जाने में सहायता ही मिलेगी।

यहां पर हमें यह भी कह देना होगा कि, आरंभ में सभी लोगों की लगभग यही धारणा थी कि, युरोपियन राष्ट्र भारत के प्लेग की बातें सुन २ कर बहुत ही भयभीत हुए, और वेनिस में सर्व राष्ट्रीय परिषद किये जानेपर विचार होने लगा। भारत वर्ष का नाम दहशत के कारण निन्दनीय सिद्ध होने लगा और इसी लिए सरकार घबराकर पागलों की तरह इलाज शुरू करने लगी थी। किन्तु इसमें दुष्टता का अंश नहीं, यह बात केसरी के उद्गारों परसे सिद्ध हो सकती है। किन्तु किसी भी कारण से क्यौं न हो अनुचित उपायों की योजना कभी अच्छी नहीं कही जा सकती। क्यौं कि रेलगाड़ी में सवार होकर तीसरे दिन बम्बई से बनारस प्लेग ले जाते हुए जब सरकार किसी को रोक नहीं सकती तो फिर घर के घर में ही यदि कोई रोगी रहे या वह एक पेठ से उठकर दूसरी में चला जाय तो उस के लिए इस तरह आकाश पाताल एक करने का कारण क्या हो सकता है? यही एक मात्र आक्षेपकों का प्रश्न था। दुर्भाग्य से पुलिस के कुछ बदमाश लोग गाँव में मची हुई गड़बड़ से लाभ उठाकर यह कहते हुए लोगों से पैसे ऐंठने लगे कि 'चल तुझे प्लेग हो गया है इस लिए अस्पताल में रहना होगा'। विचारे लो जैसे तैसे कुछ दे लेकर अपना पीछा छुड़ा लेते थे। फलतः सेग्रिगेशन के धं का यह एक अभावित दुष्परिणाम होने लगा।

तिलक खुद इस बात को मानते थे कि रोगी के घर रहने की अपेक्षा उस अस्पताल भेज दिया जाना अच्छा है, और इस विषय में लोगों के भ्रम को द करने का भी वे भरसक यत्न करते थे। ता. १६ फरवरी के अंक में वे लिखते कि "अस्पताल में किसी रोगी के मरनेपर यह ख़बर उड़ाया जाना कि वहां जाने ही वह मर गया है, अथवा मार डाला गया है—एकदम झूंठ है। क्यौं कि अस्पताल को खुद हमने अपनी आँखों से देखा है। रोगी के साथ घर के दो-एक आदमिय को भी वहां जाने दिया जाता है। रोगी के लिए खाने-पीने, और उसके रहने ए औषधोपचार के लिए भी वहां अच्छी प्रबंध होता है। ऐसी दशा में घर रे रोगी को बाहर निकालने में ही जो कुछ बुरा लगता हो वह भले ही लगता रहे किन्तु वहां की व्यवस्था किसी भी प्रकार बुरी नहीं कही जा सकती। यदि अस्प ताल में जाकर कोई व्यक्ति रोगी से मिलना चाहे तो उसके लिए किसी भी प्रकार की रुकावट नहीं है। सब व्यवहार खुला हुआ और साफ है। इसके लिए किसी भी प्रकार की शंका मन में लाने की आवश्यकता नहीं है"। यदि तिलक को सेग्रिगेशन का विरोध करना होता तो वे इस तरह स्पष्ट शब्दों में जी तोड़कर अस्पताल के लिए कभी सर्टिफिकेट नहीं देते। क्यौं कि उनका कथन केवल यही था कि रोगी अन्यायपूर्वक अथवा अविचार के साथ घर

से न निकल जाय। जहांतक हो सके पहले तो उसे समझाना ही चाहिये किन्तु इस ओर ध्यान कौन देने लगा? बल्कि पहले जो अधिकार म्युनिसीपालिटि को प्राप्त थे वे बम्बई में तो एक लोग कमेटी को दे दिये गये और पूने में तो उसे अकेले रेंड साहब को ही वे सब सौंपने पड़े थे। सिवाय इसके जब यह पता लगा कि अस्पताल में जितने कि रोगी जाना चाहिये वे नहीं जाते, अतएव घर में के रोगियों को ढूंढ निकालने के लिए जांच करने का निश्चय हुआ। किन्तु इसे जांच से सेग्रिगेशन का भय द्विगुणित हो गया। गवर्नर साहब ने अपने भाषण में यह कहा कि यदि कोई मनुष्य अपने घर के रोगी को छुपाकर रक्खेगा तो उसके घर की जांच कर सख्ती के साथ रोगी को वहांसे निकाल अस्पताल में पहुँचा दिया जायगा। इसका आशय यह था कि यदि प्रकटरूप में रोगी को घर रखकर उसकी ठीक तरह से सुश्रूषा होती हो और संसर्ग टालने के सामान्य उपायों की योजना हो चुकी हो तो रोगी को घर ही रहने दिया जा सकेगा। किन्तु गवर्नरसाहब के ये शब्द उन्हीं की जबान पर बसे रह गये, और अमल सोलहों आने शुरू हो गया। इतने पर भी तिलक ने अपनी आशा को छोड़ नहीं दिया था।

वे अश्वत्थामा के इस वचन की याद दिलाकर कि 'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोन्यतः प्रयातुं' लोगों से कहते थे कि अपना गाँव छोड़ कर व्यर्थ के लिए दूसरे गाँवों में रोग फैलाने से क्या लाभ? अभी उस दिन तक जितने भी लोग गाँव से बाहर गये, उतने शायद होलकर के दंगे के समय भी पूने से नहीं गये होंगे। फिर भले ही आप इसे बढ़ती हुई हतवीर्यता का प्रभाव कहिये या अज्ञान अथवा बेसमझी का। किन्तु तिलक में इस प्रकार का उपदेश देनेकी पात्रता अवश्य थी कि जहां के तहां रहकर संसर्गनिरोध के समुचित उपायों की योजना करके अंत में ईश्वर पर भरोसा रखजाय क्यों कि वे खुद ही इस प्लेग के ज़माने में अपने पारिवारिक जनों सहित पूने में रहे थे। यही नहीं बल्कि प्लेग के जोरों पर फैले रहने की दशा में भी वे हरएक स्थान में जाते और हर तरह के लोगों में बैठते और असमय जागरण करके भी काम पूरा करते थे।

जब पूने में प्लेगसम्बन्धी कारोबार बढ़ा तो खड़की छावनी और पूना शहर की मिलाकर एक प्लेग कमेटी बम्बई की ही तरह बनाई गई। और रेंड साहब की सहायता के लिए कर्नल फिलिप्स और केपटन् बेव्हरीज् ये दो फौजी अधिकारी तैनात किये गये। अब तो पूछना ही क्या था? पहले ही उल्हास और उस में फिर फाल्गुन मास। फौजी अधिकारियों का नाम लेते ही उनकी सख्ती और उनके न्याय एवं सिपाहीगीरी का चित्र अनायास ही सामने आ खड़ा होता है। मार्च के दूसरे सप्ताह में छुपाकर रखे हुए रोगीयों को ढूंढ निकालने-अर्थात्

प्लेग की जांच-का काम जोरोंपर शुरू हुआ, और आठ ही दिन में यह जांच इस हद्दतक वढ गई कि ता. १६ मार्च के केसरी के अग्रलेख का शीर्षक तिलक को 'पूने में मचा हुआ उत्पात' रखना पड़ा। और इस लेख का प्रथम वाक्य ही इस प्रकार लिखना पड़ा कि "मौसमी वीमारी के कारण इस वार पूने में होली आठ दस दिन पहले ही शुरू हो गई। प्रमाण के लिए स्थान २ पर घर में के कपड़े आदि जलाये जानेके दृश्यों पर ध्यान दिया जा सकता है।"

जांच के लिए जो फौजी लोग आये थे, उनमें गोरे सोल्जरों की भी एक पार्टी थी। यद्यपि यह वात अनुमान से वाहर की निकली, किंतु फिर भी यथासंभव इस योजना को भी निंदित न कहलवाने के ही विचार से मानो तिलक यह लिख रहे थे कि 'सोल्जर लोग उनके प्रवेश से वाहर के स्थानों में भी जा घुसते हैं। किन्तु उन्हें यह क्या पता है कि अमुक स्थानपर हमारा रसोइ घर है और अमुक जगह देवघर? इसमें सच्ची भूल यदि कही जाय तो वह उन सोल्जरों के साथ जांच करनेवाले स्वयंसेवकों की ही है। निःसन्देह लार्ड सेन्डहर्स्ट की भी यही उत्कट इच्छा थी कि फौजी लोगों के हाथ में कारोवार सौंप दिया जानेपर भी किसी प्रकार का अन्याय न होना चाहिये। और इसी लिए तिलक ने केसरी में वारम्वार उनके प्रति आभार प्रदर्शित भी किया है। जिन सोल्जरों की आवश्यकता नहीं थी, वे भी भेज दिये गये, किन्तु अव उनके लिए शिकम्मत करने में कोई लाभ नहीं है। क्यों कि उनके साथ हिन्दुस्थानी स्वयंसेवकों के जाने की जो आज्ञा दी गई है, उसी से हमें यथेष्ट लाभ उठाना लेना चाहिये। इस प्रकार तिलक ने जो उपदेश देना आरंभ किया था, उसी में उनका कर्मयोगित्व दिखाई दे सकता है। किन्तु जांच के नामपर जो फौजी आडंवर रचा जाता या गड़वड़ मचाई जाती थी, उसका भी केसरी में वरावर निषेध किया जाता था। आरंभ में रोगियों के लिए जो जांच शुरू हुई, वह वाद में छुपाकर रक्खे हुए मुर्दों के लिए वढ़ा दी गई। किंतु सोचने की वात है कि रोगी को यदि कोई चाहें तो कुछ दिन छुपाकर रख भी सकता है, किन्तु मुर्दे को कोई क्यों और कितने दिन छुपाकर रक्खेगा? किन्तु नहीं। कामवालों का अडंगा जो ठहरा। साथ ही इसके दूसरी ओर यह भी होने लगा कि, यदि वे घर के रोगीयां मुर्दे को एकवार जुल्म कर के भी उठवा ले जाते तो उस में उतनी वुराई नहीं थी, जितनी कि हानि उस घरपर सुर्ख-रोगन का निशान वन जाने के कारण वहां की दूषित वायु को साफ करने के लिए फौजी पार्टी के जाते और उसकी ओरसे लूटपाट मचानेसे होती थी। यद्यपि जांच के समय फौजी सोल्जरों के साथ हिन्दुस्थानी आदमी रहते थे सही, किन्तु घर-धोनेवालों की पार्टियां जव उनका जी चाहता तभी आ खटकती थीं, 'और घर में से

लवचाहा माल निकालकर जला देती या उसे बेकाम कर फेंक देती थी। यह उनकी सफाई का ढंग था। सिवाय इसके क्योंकि यह पार्टी स्वतंत्र थी इसलिए मुर्दे-निशानवाले मकानों के साथ ही तालेबंद मकानों में भी यह जबरन् घुस जाती थी। क्योंकि लोग बिचारे उस गड़बड़ में प्राण बचाने के लिए जैसे तैसे चीज वस्तुएँ घर में छोड़कर भाग निकलते थे, फलतः इस धुलाई पार्टी को ऐसे घरोंमें मनमाना हाथ साफ करने के लिए मौका मिल जाता था। यदि यह कह दिया जाय तो बात दूसरी है कि लोग कर्तव्य भ्रष्ट होकर जो घर छोड़ बाहर चल दिये है, उनके लिए यह एक प्रकार से सजा ही थी, किन्तु फिर भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्लेग पार्टीयोंने लोगों के मालमत्ते का बे तरह नुकसान किया।

मार्च के पहले ही सप्ताह में तिलक के प्रयत्न से पूने में हिन्दू लोगों के लिए एक स्वतंत्र अस्पताल खोल दिया गया था। यह उच्च श्रेणि के हिन्दुओं के लिए था। किन्तु फिर भी यह केवल ब्राह्मणों के लिए ही रिझर्व नहीं कर दिया गया था। अस्पताल के लिए चंदा देनेवालों की प्रथम सूची में सब से पहले डॉ. भाण्डारकर और उसके बाद रा. सा. शिरोड़कर आदि के नाम पाये जाते हैं। पहलेही इन बारके प्रयत्न से ८०० रुपये इकट्ठे हो गये थे। और अस्पताल का प्रबंध शहर की स्थिति जाति के नेताओं की कमेटी के हाथ मे सौंप दिया गया था। इनमें कालूराम भाऊ मनसाराम, पो. रा. बारी, परशुराम खूबचंद आदि व्यक्ति मुख्य थे। औषधोपचार का सब प्रबंध डॉ. गर्दे के भानजे और पूना शहर के नये डॉक्टर विष्णु वामन भागवत के सिपुर्द किया गया, और इनकी सहायता के लिए डॉ. सहस्रबुद्धे, डॉ. महाजन और मेडिकल स्कूल की उच्चकक्षाओं के विद्यार्थी श्री. केतकर, वैद्य, जोग, आदि नियुक्त कर दिये गये थे। अधिकारियों ने आरंभ में व्यवस्था के काम में बहुत कुछ रुकावटें डालीं किन्तु अन्त में अस्पताल शुरू हो ही गया, और पहले ही दिन अस्पताल में चौदह रोगियों के नाम दर्ज हुए। इसमें खास तौरपर उल्लेख करने योग्य बात यह है कि इनमें कई रोगी स्वेच्छासे ही वहां आये थे। सिवाय इसके जुल्म करके जो रोगी अस्पताल में पहुँचाये गये थे, उन्होंने भी सरकारी अस्पताल की अपेक्षा इस खानगी संस्था को ही अधिक पसंत किया। इस पर से तिलक की इस विषय में की हुई टीका और योजना दोनों की समानता सिद्ध होती है। इस अस्पताल में सहायकों को अपने घर के आदमियों के भेजने का अधिकार सब से पहले दिया गया था। दूसरों के लिए प्रवेश फी दस रुपये और दरदीन की फी एक रुपया देनी पड़ती थी। यदि अस्पताल में आनेके बाद रोगी के लिए अपने विश्वास के, किसी डॉक्टर से दवाई का प्रबंध कराना होता तो उसके लिए इस बात की भी आज्ञा दे दी जाती थी।

प्लेग की जांच-का काम जोरोंपर शुरू हुआ, और आठ ही दिन में यह हद्दतक वढ गई कि ता. १६ मार्च के केसरी के अग्रलेख का शीर्षक तिलक में मचा हुआ उत्पात ' रखना पड़ा। और इस लेख का प्रथम वाक्य प्रकार लिखना पड़ा कि " मौसमी वीमारी के कारण इस वार पूने में होली दिन पहले ही शुरू हो गई। प्रमाण के लिए स्थान २ पर घर में के कप जलाये जानेके दृश्यों पर ध्यान दिया जा सकता है। "

जांच के लिए जो फौजी लोग आये थे, उनमें गोरे सोल्जरों की भी ए थी। यद्यपि यह वात अनुमान से वाहर की निकली, किंतु फिर भी यथासं योजना को भी निंदित न कहलवाने के ही विचार से मानो तिलक यह लिख कि ' सोल्जर लोग उनके प्रवेश से वाहर के स्थानों में भी जा घुसते हैं उन्हें यह क्या पता है कि अमुक स्थानपर हमारा रसोइ घर है और अमु देवघर ? इसमें सच्ची भूल यदि कही जाय तो वह उन सोल्जरों के साथ जां वाले स्वयंसेवकों की ही है। निःसन्देह लार्ड सेन्डहर्स्ट की भी यही उत्क थी कि फौजी लोगों के हाथ में कारोबार सौंप दिया जानेपर भी किसी प्र अन्याय न होना चाहिये। और इसी लिए तिलक ने केसरी में वारम्वा प्रति आभार प्रदर्शित भी किया है। जिन सोल्जरों की आवश्यकता न थे भी भेज दिये गये, किन्तु अव उनके लिए शिकम्मत करने में कोई ला है। क्यों कि उनके साथ हिन्दुस्थानी स्वयंसेवकों के जाने की जो आज्ञा है, उसी से हमें यथेष्ट लाभ उठाना लेना चाहिये। इस प्रकार तिल उपदेश देना आरंभ किया था, उसी में उनका कर्मयोगित्व दिखाई दे स किन्तु जांच के नामपर जो फौजी आडंवर रचा जाता या गड़वड़ मच थी, उसका भी केसरी में वरावर निषेध किया जाता था। आरंभ में रो लिए जो जांच शुरू हुई, वह बाद में छुपाकर रक्खे हुए मुर्दों के लिए वढ़ा किंतु सोचने की बात है कि रोगी को यदि कोई चाहे तो कुछ दिन छुपा भी सकता है, किन्तु मुर्दे को कोई क्यों और कितने दिन छुपाकर र किन्तु नहीं। कामवालों का अडंगा जो ठहरा। साथ ही इसके दूसरी ओर होने लगा कि, यदि वे घर के रोगीयां मुर्दे को एकवार जुल्म कर के भी उ जाते तो उस में उतनी बुराई नहीं थी, जितनी कि हानि उस घरपर सुर्ख का निशान वन जाने के कारण वहां की दूषित वायु को साफ करने के लिए पार्टी के जाते और उसकी ओरसे लूटपाट मचानेसे होती थी। यद्यपि समय फौजी सोल्जरों के साथ हिन्दुस्थानी आदमी रहते थे सही, किन्तु घर वालों की पार्टियां जव उनका जी चाहता तभी आ खटकती थी, ' और घर

ने तो इस के विरुद्ध अपने स्पष्ट शब्दों द्वारा लोगों का यह भ्रम भी दूर कर दिया कि, 'प्लेग के इस कष्टोत्पादक कारोबार में पूना के नेताओं का भी हाथ है।' क्यों कि यदि सब व्यवस्था लोगों के ही हाथ में होती तो फौजी सिपाहियों की कुछ भी आवश्यकता न पड़ती किन्तु सारा कारोबार सरकार के ही तंत्र में चल रहा था-अतएव मनचाही फौज रखने या सख्ती करने में उन्हें कोई रोक नहीं सकता था। केसरी लिखता है कि " जांच करनेके लिए प्रतिदिन जो आडम्बर रचा जाता है, उसे देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि, एक रोगी को घर से बाहर निकालनेके लिए अधिकारियों को इतनी भारी तैयारी करनी पड़ती है, जिस के सामने मल्हारराव गायकवाड को बड़ौदा से निकालने के समय का प्रबंध भी फीका सिद्ध होता है।''

रोगी या मुर्दे को घर से हटाया जाते ही दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती थी कि घर के बाकी आदमियों को सेग्रिगेशन केम्प में-जो कि सवारी के गेट के नज़दीक बनाया गया था-जाना पड़ता था, और वहां उन्हें दस दिन तक रखने के लिए आर्डर थी। किंतु इस छावनी में लोगों के लिए रहने और खाने-पीने का बिलकुल ही ठीक प्रबंध न था। अतएव कुछ दिनों बाद यहां का प्रबंध भी लोगों के नेताओं को सौंप देना पड़ा। फलतः इसमें भी अग्रसर होकर तिलक को सब प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ी। इस केम्प में दुकाने खोलना, भोजनालय कायम करना और केवल रोगदूषित व्यक्तियों के ही कपड़े धुलवाने पर जोर देना, आदि बातें बड़े झंझट की थी, किंतु ये सब उन्हें करनी पड़ती थी। यह प्रबंध एक रिलीफ कमेटि के नाम से शुरू किया गया। इस में पूना के वयोवृद्ध पेन्शनर बापू पुरुषोत्तम जोशी, गोविंद कृष्ण तिलक, वकील, गणपतराव साठे, पेन्शनर जेकर आदि व्यक्ति योग दे रहे थे। सेग्रिगेशन केम्प में स्वतंत्र झोंपा बंधवाने की आवश्यकता थी, किंतु इसके लिए प्लेग कमेटी ने यथेष्ट रुपया खर्च नहीं किया था। अतएव इसके लिए भी लोगों से चंदा मांगना पड़ा। असल में प्लेग की व्यवस्था का सारा ख़र्च सरकारी हुक्मसे ही होता था और लोगों की भी धारणा थी कि इस का सारा ख़र्च पूना म्युनिसीपालिटी को ही देना पड़ेगा। ऐसी दशा में लोगों के लिए यह कहने का भी अधिकार नहीं रहा कि यह ख़र्च किस मद्में कितना किया जाय। इधर जब तिलक आदि ने दिन रात प्लेग कमेटी को तरह २ की व्यवस्थाएँ बतलाना शुरू किया तब लाचार होकर उसे प्रत्येक विभाग के लिए लेखबद्ध नियम प्रकाशित करने पड़े। किंतु फिर भी इन नियमों की अपेक्षा इन की अमलबजावरी में ही अधिक झंझट रहती थी। हाँ, तो इन केम्पो में आने जाने के लिए जलखाने की तरह पर्वाने दिया जाते थे। और अन्दर के लोगों को यहांतक कैदी का स्वरूप दे डाला गया था कि अनजान सिपाही

वे तो इस के विरुद्ध अपने तीव्र शब्दों द्वारा लोगों का यह भ्रम भी दूर कर देता कि, 'प्लेग के इस कमीशनयुक्त अत्याचार में पूना के नेताओं का भी हाथ है।' क्यों कि यदि सब व्यवस्था लोगों के ही हाथ में होती तो फौजी सिपाहियों की कुछ भी आवश्यकता न पड़ती किन्तु सारा अधिकार सरकार के ही हाथ में रख गए था-अतएव मनचाही फौज रखने या छावनी करने में उन्हें कोई रोक नहीं सकता था। केसरी लिखता है कि " जांच करनेके लिए प्रतिदिन जो प्रबन्ध रचा जाता है, उसे देखने पर तो यही प्रतीत होता है कि, एक रोगी को घर से बाहर निकालनेके लिए कर्मचारियों को इतनी भारी तैयारी करनी पड़ती है, जिस के सामने महाराजा गायकवाड को बड़ौदा से निकालने के प्रबन्ध का प्रबंध भी फीका सिद्ध होता है।"

रोगी या मुर्दे को घर से हटाया जाते ही दूसरी आपत्ति यह उपस्थित होती थी कि घर के बाकी आदमियों को सेग्रिगेशन कैम्प में-जो कि सवारों के गेट के बाहर बनाए गए थे—जाना पड़ता था, और वहां उन्हें दस दिन तक रखने के लिए भेजते थे। किन्तु इस छावनी में लोगों के लिए रहने और खाने-पीने का बिलकुल ही ठीक प्रबंध न था। अतएव कुछ दिनों बाद यहां का प्रबंध भी लोगों के नेताओं को सौंप देना पड़ा। फलतः इसमें भी अग्रसर होकर तिलक को सब प्रकार की व्यवस्था करनी पड़ी। इस कैम्प में दुकाने खोलना, भोजनालय कायम करना और केवल रोगदूषित व्यक्तियों के ही कपड़े धुलवाने पर जोर देना, आदि बातें बड़े झंझट की थीं, किन्तु ये सब उन्हें करनी पड़ती थी। यह प्रबंध एक रिलीफ कमेटी के नाम से शुरू किया गया। इस में पूना के वयोवृद्ध पेन्शनर बापू पुरुषोत्तम जोशी, गंगाधर कृष्ण तिलक, वकील, गणपतराव साठे, पेन्शनर जेवर आदि व्यक्ति पांच छः थे। सेग्रिगेशन कैम्प में स्वतंत्र झोंपड़ा बंधवाने की आवश्यकता थी, किन्तु इसके लिए प्लेग कमेटी ने यथेष्ट रुपया खर्च नहीं किया था। अतएव इसके लिए भी लोगों से चंदा मांगना पड़ा। असल में प्लेग की व्यवस्था का सारा खर्च सरकारी खजाने से होता था और लोगों की भी धारणा थी कि इस का सारा खर्च पूना म्यूनिसिपालिटी को ही देना पड़ेगा। ऐसी दशा में लोगों के लिए यह कहने का भी अधिकार नहीं रहा कि यह खर्च किस मद में कितना किया जाय। इधर जब तिलक आदि ने दिन रात प्लेग कमेटी को तरह २ की व्यवस्थाएँ बतलाना शुरू किया तब लाचार होकर उसे प्रत्येक विभाग के लिए लेखबद्ध नियम प्रकाशित करने पड़े। किन्तु फिर भी इन नियमों की अपेक्षा इन की अमलबजावरी में ही अधिक अंधेर रहती थी। हां, तो इन कैम्पो में आने जाने के लिए जेलखाने की तरह परवाने दिए जाते थे। और अन्दर के लोगों को यहांतक कैदी का स्वरूप दे डाला गया था कि अनजान सिपाही

केम्प कम्पाउण्ड में से बाहर खड़े हुए व्यक्ति के साथ बातचीत करते हुए भी रोक देता था ! मानों मुँह की वायु के ही साथ २ रोग का संसर्ग भी ऐसी खुली हवा में एक का दूसरे को लग जानेकी संभावना हो ! इसी प्रकार सारे शहर के आस-पास पलटन का घेरा भी कुछ दिनों तक पड़ा रहा और रात के वक्त बिना पास के किसी भी मनुष्य को भीतर या बाहर आने–जाने नहीं दिया जाता था। इस का असली उद्देश्य यह था कि शहर के रोग को भगा ले जाकर दूसरे गाँव में न पहुँचा दिया जाय। किंतु हट्टा कट्टा आदमी यदि अपने पैरोंसे चलकर बाहर से गांव में आ रहा हो तो उस के लिए किसी प्रकार से रूकावट डालने की क्या अवश्यकता थी ? किंतु पास में पर्वाना न रहने से कितने ही लोगों को गाँव से बाहर पेड़ के नीचे रात काटनी पड़ती थी। ऐसी हालत हो जाने से लोग संतप्त होकर इस प्लेग की व्यवस्था को मुगलाई (औरंगजेबी ?) के नाम से सम्बोधित करने लगे।

लार्ड सेन्डहर्स्ट साहब आरंभ में एक बार पूना आकर मीठी २ बातों से लोगों को संतोष करते हुए फौजी प्रबंध में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न होने देने की आज्ञा दे तत्काल वम्बई लौट गये। किन्तु इसके बाद क़दम-बकदम किसी दूसरी ही तरह का अनुभव होने लगा। क्यों कि तिलक का यह हार्दिक विश्वास था कि इस भयंकर रोग के लिए किसी ऐसे ही क्रूर औषधी की ही योजना ठीक हो सकती है। इसी लिए पूने में प्रचलित योजनाओं का उन्होंने कभी विरोध नहीं किया। वे वारम्वार केसरी में लोगों के लिए अप्रिय बातें स्पष्ट शब्दों में लिखते रहे। ता. १३ अप्रैल के अंक में निम्न लिखित वाक्य पाया जाता है:–"ऐसे भयंकर राक्षस (प्लेग) का विरोध करनेके लिए राक्षसी उपायों की ही योजना की जानी चाहिये; और वह जहांसे भी मिल सके उसे खोज निकालना उचित है। इस समय शहर में घरों की सफाई का जो काम चल रहा है, वह शास्त्रोक्त है, क्यों कि यदि यह काम इस तरह पर नहीं चलाया जाता तो आज पूना की सड़क पर मुर्दे पड़े हुए मिलते ! "

किन्तु फिर भी तिलक का विश्वास यही था कि इन उपायों के विषय में लोगों को अच्छी तरह समझाकर ही उनसे इनका अमल कराया जाय, और विना स्थानीय नेताओं की सहायता के यह काम नहीं हो सकता। किन्तु इसके विरुद्ध यदि इस विश्वास पर अमल कराया जाय कि गाँव का प्रत्येक मनुष्य अपने रोग को छुपाता है, तो प्रत्येक के पीछे एक एक पुलिस का सिपाही तैनात किये विना काम नहीं चल सकता, और यह कार्य एकदम ही अशक्य कोटिका है। क्यों कि शहर या गाँव के नेता के ही हाथ में सारी व्यवस्था सौंप देनेसे यदि आधे से अधिक

शिकायतें दूर-हो जातीं, और तरह २ के उपायों की योजना करने में भी कम परिश्रम पड़ता; तो भी वह बिलकुल-ही कम नहीं कहा जा सकता था। किन्तु प्लेग कमेटी की ओरसे यह ध्येय निश्चित कर लिया जाने से ही सारा बखेड़ा मचा कि काले लोगों पर विश्वास न रखा जाय और जो कुछ काम हो वह केवल गोरों के ही हाथ से कराया जाय। यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं कि गोरे सोल्जर लोग कैसे होते हैं और एकमात्र शिस्तरूपी गुण के सिवाय उनमें कितने अधिक अवगुणों का समावेश होता है। जांच के लिए निकलने पर वे अपने साथ के स्वयंसेवकों से कभी सीधी तरह बात नहीं करते थे। यदि कारणवश वह दो क़दम पीछे भी रह जाय तो उसके लिए ये ठहरते-नहीं थे। किसी को चिढ़ाना या बगर किसी हरकतें करना, मनमाना बोलना, धमकी देना, हरएक से हाथापाई करना या उसे छेड़ना, धक्के देना, अकारण ही स्वेच्छानुसार मन चाहे स्थान में घुस जाना, और केवल कौतुक बुद्धि से घर की हर किसी वस्तु को उलटपलट कर अथवा खोलकर देखना एवं चोरों की तरह वस्तुओं को उठाकर जेब में रख लेना आदि कितनी ही बातें अज्ञानवश तो कितनी ही वे उन्मत्त भाव से भी करते थे। किन्तु हिन्दुस्तानी सिपाही इनके बनिस्बत बहुत ही सीधेपन के साथ बरतते, किम्बहुना वे इस तरह बरत भी रहे थे। क्यों कि हिन्दुस्तान का कोई मुसलमान भी अच्छी तरह जानता था कि-उसे हिन्दू के घरवालों से किस तरह का बर्ताव करना चाहिये। इसी तरह हिन्दू सिपाही भी मुसलमानों के पर्दे का पूरा २ ध्यान रख सकता था। सिवाय इसके यदि उन सिपाहियों को यह ज्ञात हो जाता कि प्लेग कमेटीने थोड़े-बहुत अधिकार देकर स्वयंसेवकों को भी हमारे साथ कर दिया है, तो वे अदब से बरताव करते। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि हिन्दुस्तानी सिपाही उन स्वयंसेवकों की भाषा भी समझ सकते थे।

यह बात नहीं है कि प्लेगकमेटी के ध्यान में ये बातें नहीं आई होंगी। किन्तु इतना विचार करने कौन बैठता है? जितनी भी शीघ्रता से हो सके शहर से प्लेग को मार भगाना ही उन्हें इष्ट था, फिर भले ही उस में अर्थ या अनर्थ कुछ भी होता रहे। बिचारे स्वयंसेवक गोरे सोल्जरों की बदमाशियां अपनी आँखों से देखते रहते थे, किन्तु उन्हें चूं तक करने की सुविधा न थी। बहुत हुआ तो वे अपनी नोट बुक में उन की शिकायतों को लिख लेते और प्लेगकमेटी के सामने उन्हें पेश कर सकते थे, किंतु वहां भी यही आदर्श विद्यमान था। यदि कोई कुछ शिकायत करता तो उसे हां-हूं कर के टाल दिया जाता था। अर्थात् इस अपमान की चिढ़ उस परेशानी को और भी बढ़ा देती थी। तिलक ने तो एक-बार स्पष्ट लिख दिया था कि "हमारी गरीबी के कारण ही ये सब बातें हो रही

केम्प कम्पाउण्ड में से बाहर खड़े हुए व्यक्ति के साथ बातचीत करते हुए भी रोक देता था ! मानों मुँह की वायु के ही साथ २ रोग का संसर्ग भी ऐसी खुली हवा में एक का दूसरे को लग जानेकी संभावना हो ! इसी प्रकार सारे शहर के आस-पास पलटन का घेरा भी कुछ दिनों तक पड़ा रहा और रात के वक्त बिना पास के किसी भी मनुष्य को भींतर या बाहर आने-जाने नहीं दिया जाता था। इस का असली उद्देश्य यह था कि शहर के रोग को भगा ले जाकर दूसरे गाँव में न पहुँचा दिया जाय। किंतु हट्टा कट्टा आदमी यदि अपने पैरोंसे चलकर बाहर से गांव में आ रहा हो तो उस के लिए किसी प्रकार से रूकावट डालने की क्या अवश्यकता थी? किंतु पास में पर्वाना न रहने से कितने ही लोगों को गाँव से बाहर पेड़ के नीचे रात काटनी पड़ती थी। ऐसी हालत हो जाने से लोग संतप्त होकर इस प्लेग की व्यवस्था को मुगलाई (औरंगजेबी?) के नाम से सम्बोधित करने लगे।

लार्ड सेन्डहर्स्ट साहब आरंभ में एक बार पूना आकर मीठी २ बातों से लोगों को संतोष करते हुए फौजी प्रबंध में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न होने देने की आज्ञा दे तत्काल बम्बई लौट गये। किन्तु इसके बाद क़दम-बकदम किसी दूसरी ही तरह का अनुभव होने लगा। क्यों कि तिलक का यह हार्दिक विश्वास था कि इस भयंकर रोग के लिए किसी ऐसे ही क्रूर औषधी की ही योजना ठीक हो सकती है। इसी लिए पूने में प्रचलित योजनाओं का उन्होंने कभी विरोध नहीं किया। वे बारम्वार केसरी में लोगों के लिए अप्रिय बातें स्पष्ट शब्दों में लिखते रहे। ता. १३ अप्रैल के अंक में निम्न लिखित वाक्य पाया जाता है:—"ऐसे भयंकर राक्षस (प्लेग) का विरोध करनेके लिए राक्षसी उपायों की ही योजना की जानी चाहिये; और वह जहांसे भी मिल सके उसे खोज निकालना उचित है। इस समय शहर में घरों की सफाई का जो काम चल रहा है, वह शास्त्रोक्त है, क्यों कि यदि यह काम इस तरह पर नहीं चलाया जाता तो आज पूना की सड़क पर मुर्दे पड़े हुए मिलते!"

किन्तु फिर भी तिलक का विश्वास यही था कि इन उपायों के विषय में लोगों को अच्छी तरह समझाकर ही उनसे इनका अमल कराया जाय, और बिना स्थानीय नेताओं की सहायता के यह काम नहीं हो सकता। किन्तु इसके विरुद्ध यदि इस विश्वास पर अमल कराया जाय कि गाँव का प्रत्येक मनुष्य अपने रोग को छुपाता है, तो प्रत्येक के पीछे एक एक पुलिस का सिपाही तैनात किये बिना काम नहीं चल सकता, और यह कार्य एकदम ही अशक्य कोटिका है। क्यों कि शहर या गाँव के नेता के ही हाथ में सारी व्यवस्था सौंप देनेसे यदि आधे से अधिक

शिकायतें दूर हो जातीं, और तरह २ के उपायों की योजना करने में भी कम परिश्रम पड़ता; तो भी वह बिलकुल ही कम नहीं कहा जा सकता था। किन्तु प्लेग कमेटी की ओरसे यह ध्येय निश्चित कर लिया जाने से ही सारा बखेड़ा मचा कि काले लोगों पर विश्वास न रखा जाय और जो कुछ काम हो वह केवल गोरों के ही हाथ से कराया जाय। यह बतलाने की आवश्यकता ही नहीं कि गोरे सोल्जर लोग कैसे होते हैं और एकमात्र ख्रिस्तरूपी गुण के सिवाय उनमें कितने अधिक अवगुणों का समावेश होता है। जांच के लिए निकलने पर वे अपने साथ के स्वयंसेवकों से कभी सीधी तरह बात नहीं करते थे। यदि कारणवश् वह दो क़दम पीछे भी रह जाय तो उसके लिए ये ठहरते नहीं थे। किसी को चिढ़ाना या बगर किसी हरकतें करना, मनमाना बोलना, धमकी देना, हरएक से हाथापाई करना या उसे छेड़ना, धक्के देना, अकारण ही स्वेच्छानुसार मन चाहे स्थान में घुस जाना, और केवल कौतुक बुद्धि से घर की हर किसी वस्तु को उलटपलट कर अथवा खोलकर देखना एवं चोरों की तरह वस्तुओं को उठाकर जेब में रख लेना आदि कितनी ही बातें अज्ञानवश् तो कितनी ही वे उन्मत्त भाव से भी करते थे। किन्तु हिन्दुस्तानी सिपाही इनके बनिस्बत बहुत ही सीधेपन के साथ बरतते, किम्बहुना वे इस तरह बरत भी रहे थे। क्यों कि हिन्दुस्तान का कोई मुसलमान भी अच्छी तरह जानता था कि उसे हिन्दू के घरवालों से किस तरह का बर्ताव करना चाहिये। इसी तरह हिन्दू सिपाही भी मुसलमानों के पर्दे का पूरा २ ध्यान रख सकता था। सिवाय इसके यदि उन सिपाहियों को यह ज्ञात हो जाता कि प्लेग कमटीने थोड़े—बहुत अधिकार देकर स्वयंसेवकों को भी हमारे साथ कर दिया है, तो वे अदब से बरताव करते। और सबसे बड़ी बात तो यह थी कि हिन्दुस्तानी सिपाही उन स्वयंसेवकों की भाषा भी समझ सकते थे।

यह बात नहीं है कि प्लेगकमेटी के ध्यान में ये बातें नहीं आई होगी। किन्तु इतना विचार करने कौन बैठता है? जितनी भी शीघ्रता से हो सके शहर से प्लेग को मार भगाना ही उन्हें इष्ट था, फिर भले ही उस में अर्थ या अनर्थ कुछ भी होता रहे। बिचारे स्वयंसेवक गोरे सोल्जरों की बदमाशियां अपनी आँखों से देखते रहते थे, किन्तु उन्हें चूं तक करने की सुविधा न थी। बहुत हुआ तो वे अपनी नोट बुक में उन की शिकायतों को लिख लेते और प्लेगकमेटी के सामने उन्हें पेश कर सकते थे, किंतु वहां भी यही आदर्श विद्यमान था। यदि कोई कुछ शिकायत करता तो उसे हां-हूं कर के टाल दिया जाता था। अर्थात् इस अपमान की चिढ़ उस परेशानी को और भी बढ़ा देती थी। तिलक ने तो एक-बार स्पष्ट लिख दिया था कि "हमारी गरीबी के कारण ही ये सब बातें हो रही

केम्प कम्पाउण्ड में से बाहर खड़े हुए व्यक्ति के साथ बातचीत करते हुए भी रोक देता था ! मानों मुँह की वायु के ही साथ २ रोग का संसर्ग भी ऐसी खुली हवा में एक का दूसरे को लग जानेकी संभावना हो ! इसी प्रकार सारे शहर के आस-पास पलटन का घेरा भी कुछ दिनों तक पड़ा रहा और रात के वक्त बिना पास के किसी भी मनुष्य को भींतर या बाहर आने-जाने नहीं दिया जाता था। इस का असली उद्देश्य यह था कि शहर के रोग को भगा ले जाकर दूसरे गाँव में न पहुँचा दिया जाय। किंतु हट्टा कट्टा आदमी यदि अपने पैरोंसे चलकर बाहर से गांव में आ रहा हो तो उस के लिए किसी प्रकार से रूकावट डालने की क्या अवश्यकता थी ? किंतु पास में पर्वाना न रहने से कितने ही लोगों को गाँव से बाहर पेड़ के नीचे रात काटनी पड़ती थी। ऐसी हालत हो जाने से लोग संतप्त होकर इस प्लेग की व्यवस्था को मुगलाई (औरंगजेबी ?) के नाम से सम्बोधित करने लगे।

लार्ड सेन्डहर्स्ट साहब आरंभ में एक बार पूना आकर मीठी २ बातों से लोगों को संतोष करते हुए फौजी प्रबंध में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न होने देने की आज्ञा दे तत्काल बम्बई लौट गये। किन्तु इसके बाद क़दम-बकदम किसी दूसरी ही तरह का अनुभव होने लगा। क्यौं कि तिलक का यह हार्दिक विश्वास था कि इस भयंकर रोग के लिए किसी ऐसे ही क्रूर औषधी की ही योजना ठीक हो सकती है। इसी लिए पूने में प्रचलित योजनाओं का उन्होंने कभी विरोध नहीं किया। वे बारम्बार केसरी में लोगों के लिए अप्रिय बातें स्पष्ट शब्दों में लिखते रहे। ता. १३ अप्रैल के अंक में निम्न लिखित वाक्य पाया जाता है:-"ऐसे भयंकर राक्षस (प्लेग) का विरोध करनेके लिए राक्षसी उपायों की ही योजना की जानी चाहिये; और वह जहांसे भी मिल सके उसे खोज निकालना उचित है। इस समय शहर में घरों की सफाई का जो काम चल रहा है, वह शास्त्रोक्त है, क्यौं कि यदि यह काम इस तरह पर नहीं चलाया जाता तो आज पूना की सड़क पर मुर्दे पड़े हुए मिलते !"

किन्तु फिर भी तिलक का विश्वास यही था कि इन उपायों के विषय में लोगों को अच्छी तरह समझाकर ही उनसे इनका अमल कराया जाय, और बिना स्थानीय नेताओं की सहायता के यह काम नहीं हो सकता। किन्तु इसके विरुद्ध यदि इस विश्वास पर अमल कराया जाय कि गाँव का प्रत्येक मनुष्य अपने रोग को छुपाता है, तो प्रत्येक के पीछे एक एक पुलिस का सिपाही तैनात किये बिना काम नहीं चल सकता, और यह कार्य एकदम ही असाध्य कोटिका है। क्यों कि शहर या गाँव के नेता के ही हाथ में सारी व्यवस्था सौंप देनेसे यदि आधे से अधिक

म स्ताव हो जाने से उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि " रायर्ड साहब रिश्वतखोर तो थे ही, किन्तु यदि इस समय वे यहां होते तो उन्होंने लोगों को चुप रखकर सरकार का काम भी निपटा दिया होता।

पूना की स्थिति के विषय में तिलक इसतरह मनःपूर्वक प्रयत्न करते हुए केवल प्लेगकमेटीको ही दोष नहीं दे रहे थे, बल्कि सुशिक्षितोंको भी वे उतनाही दोष देते थे। ता. २० अप्रैल सन १८९७ के अंक में उन्होंने अपना यथार्थ मत स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट कर दिया था, वह इसी लिये कि यदि इस समय सुशिक्षितों ने एक मत होकर उचित रूप से अपने कर्तव्य का पालन किया होता तो रेण्डशाही के मार्ग में बहुत कुछ रुकावटें डाली जा सकती थीं, अथवा कम से कम उसके विरुद्ध जोरशोरसे चर्चा तो अवश्य छिड़ जाती, जो कि आगे चलकर बड़ा काम देती। इस प्रकार उन्हें दृढ-विश्वास हो चुका था, तभी तो वे कहते हैं कि मारवाड़ी और गुजराती लोग अपना २ व्यापार छोड़ प्लेग के मारे अपने २ देश को भागकर चले गये, क्यों कि वे लोग अशिक्षित थे। किन्तु वाद-पक्षोंकी चिंता के लिए सुशिक्षितों का शहर छोड़ कर भाग जाना कभी समर्थनीय नहीं हो सकता। क्यों कि यह अवस्था तो प्लेग से भी अधिक भयंकर है। कारण इसका यह है कि जब प्लेग सरीखे एक आप संकट के उपस्थित हो जाने पर भी हम एकमत होकर अपनी व्यवस्था कर न सके तो यह एक प्रकार से हमारी कमजोरी ही कही जा सकती है। यदि प्रत्येक मुहल्ले से सौ सवासौ पढ़े लिखे मनुष्य काम करनेके लिए निकल पड़ते तो आधे से अधिक अन्याय कम हो जाता। हिन्दू अस्पताल गरीबों से बिना फीस लिए ही चलाये जाने चाहिये थे; और यदि वहां का प्रबंध सब लोगों ने बाँट लिया होता तो सहज ही में काम बन जाता। किन्तु एक विशिष्ट श्रेणि के लोग तो केवल इसी विचार से चुप बैठ गये कि अस्पताल के खोलनेवाले तिलक हैं तो फिर हम सहायता क्यों करे? कॉंग्रेस का स्वयंसेवक बननेको तो हरएक तैयार हो जाता था, क्यों कि वहां ठसक दिखाने और तमाशा देखनेको मिलता था, किन्तु प्लेग के संकट में स्वयंसेवक बननेसे हरएक मनुष्य पीछे हटता था। ये बातें तिलक ने किसी एक ही पक्ष को सम्बोधित करके नहीं लिखी थीं, क्यों कि शहर छोड़कर भाग जानेवाले दोनों ही पक्ष के लोग थे। यदि सरकारी नौकरों को प्लेग ड्यूटी सौंपी जाती तो क्या उन्हें हुक्म की पाबन्दी न करनी पड़ती? क्यों कि आगे चलकर उन्हें वह बजानीही पड़ी। 'अन्याय की पुकार मचाई जाती है, किंतु अन्याय क्या हुआ? यदि तुम्हें वह असह्य हो गया हो तो प्लेग से मरने की अपेक्षा इस अन्याय को सहकर क्यों नहीं मर जाते? सरकार का तुम पर विश्वास नहीं है। तुम्हारी बुद्धि और करामत की सरकार को कुछ भी आवश्यकता

हैं। " इस एक ही वाक्य में सब बातों का सार आ जाता है। किन्तु अन्तर में क्रोधाग्नि भड़कती रहने पर भी तिलक इस विषय में बड़ी ही सावधानी से लिखा पढ़ी करते थे, यह बात इस भाग के परिशिष्ट में दिये हुए 'सुधारक' के उद्धरणों पर से प्रकट हो जाती हैं। प्लेग की मृत्युसंख्या प्रतिदिन अपने आप ही घटने लगी थीं, इस पर से भी कम से कम प्लेगकमेटी को सोचना चाहिये था कि अब विना सख्ती के ही प्लेग कम हो जायगा। किंतु उसे इस बात का बिलकुल ही ध्यान न रहा। बल्कि इसके विरुद्ध जैसे २ कमेटी की धाक अधिकाधिक बैठने लगी, वैसे ही वैसे अमलदारों की इज्जत भी बढ़ने लगी।

अप्रैल के आरंभ में रा. ब. विठ्ठल नारायण पाठक, डॉ. गर्दे, बाबू पुरुषोत्तम जोशी और बाल गंगाधर तिलक के दस्तखत से एक यथानियम शिकायत प्लेगकमेटी के पास भेजी गई। जिस में सविस्तर बतलाया गया कि लोग पर अन्याय न होते हुए भी उपाययोजना अच्छी तरह कैसे हो सकती है। साथ ही उस में यह भी लिखा गया था कि हम लोग समय २ पर जांच पार्टी के साथ घूमे हैं, और अपने प्रत्यक्ष अनुभव पर से ये सब बातें हमने लिखी है। इसी प्रका उस अर्ज़ी के अंत में यह भी सूचित कर दिया कि यह सब हम केवल सहयोग करने ही की दृष्टि से लिख रहे है। यद्यपि जांच करने आदि उपायों के न तो हम खुद ही विरोधी हैं और न जनता ही, बल्कि प्रत्यक्ष कृति के रूप में लोगो को जो परेशानी उठानी पड़ती है, उसे दूर करा देना ही हमारा एक मात्र उद्देश्य है। किन्तु रेण्डसाहब के मास्तिष्क में तो लोगों के विरुद्ध धारणा बैठी हुई थी, अतएव उन्हों ने इसमें से किसी भी बात पर ध्यान नहीं दिया। मार्च के आरंभ में तिलक ने एक स्वतंत्र मेमोरण्डम लिखकर गवर्नर के पास भेजा था, जिसे कि उन्हों ने रेण्डसाहब के पास रवाना कर दिया था। किन्तु उन्हों ने कभी तिलक को अपने पास बुलाकर किसी विषय की चर्चा तक नहीं की। अप्रैल के अंत तक प्लेग बहुत ही कम हो गया। किन्तु इन दो महिनों के अनुभव से लोगों की यह हालत हो गई कि, पूने का कोई भी भला आदमी स्वयंसेवक के नाते प्लेग कमेटी के सामने जाकर खड़ा होनेमें खुश नहीं था। खुद रेण्डसाहब ने शहर में कभी चक्कर नहीं लगाया। क्यौं कि एक तो वैसे ही काम निपटना उन्हें याद न था, साथ ही उनमें काम करनेकी करामत भी कम थी। बम्बई में तो जनरल गेट आदि प्लेग कमेटी के अधिकारी चतुर और सावधान व्यक्ति थे। अतएव फौजी अमलदार होते हुए भी उन्होंने लोगों के साथ जितनी सहानुभूति का वर्ताव रक्खा उतना रेविन्यु ऑफिसर के नाते लोगों से हरसमय कांम पड़नेवाले सिविलियनों तक के हाथ से कभी नहीं रखा गया होगा। इस प्रसंग पर तिलक को क्राफर्ड साहब

प्रस्ताव हो जाने से उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि " क्रफर्ड साहब रिश्वतखोर तो थे ही, किंतु यदि इस समय वे यहां होते तो उन्होंने लोगों को खुश रखकर सरकार का काम भी निपटा दिया होता।

पूना की स्थिति के विषय में तिलक इसतरह मनःपूर्वक प्रयत्न करते हुए केवल प्लेगकमेटीको ही दोष नहीं दे रहे थे, बल्कि सुशिक्षितोंको भी वे उतनाही दोष देते थे। ता. २० अप्रैल सन १८९७ के अंक में उन्होंने अपना यथार्थ मत स्पष्ट शब्दोंमें प्रकट कर दिया था, वह इसी लिये कि यदि इस समय सुशिक्षितों ने एक मत होकर उचित रूप से अपने कर्तव्य का पालन किया होता तो रेंडशाही के मार्ग में बहुत कुछ रुकावटें डाली जा सकती थीं, अथवा कम से कम उसके विरुद्ध जोरशोरसे चर्चा तो अवश्य छिड़ जाती, जो कि आगे चलकर बड़ा काम देती। इस प्रकार उन्हें दृढ़-विश्वास हो चुका था, तभी तो वे कहते हैं कि मारवाड़ी और गुजराती लोग अपना २ व्यापार छोड़ प्लेग के मारे अपने २ देश को भागकर चले गये, क्यों कि वे लोग अशिक्षित थे। किन्तु बाल-बच्चोंकी चिंता के लिए सुशिक्षितों का शहर छोड़ कर भाग जाना कभी समर्थनीय नहीं हो सकता। क्यों कि यह अवस्था तो प्लेग से भी अधिक भयंकर है। कारण इसका यह है कि जब प्लेग सरीखे एक आध संकट के उपस्थित हो जाने पर भी हम एकमत होकर अपनी व्यवस्था कर न सके तो यह एक प्रकार से हमारी कमजोरी ही कही जा सकती है। यदि प्रत्येक मुहल्ले से सौ सवासौ पढ़े लिखे मनुष्य काम करनेके लिए निकल पड़ते तो आधे से अधिक अन्याय कम हो जाता। हिन्दू अस्पताल गरीबों से बिना फीस लिए ही चलाये जाने चाहिये थे; और यदि वहां का प्रबंध सब लोगों ने बाँट लिया होता तो सहज ही में काम बन जाता। किन्तु एक विशिष्ट श्रेणि के लोग तो केवल इसी विचार से चुप बैठ गये कि अस्पताल के खोलनेवाले तिलक हैं तो फिर हम सहायता क्यों करें? कॉंग्रेस का स्वयंसेवक बननेको तो हरएक तैयार हो जाता था, क्यों कि वहां ठसक दिखाने और तमाशा देखनेको मिलता था, किन्तु प्लेग के संकट में स्वयंसेवक बननेसे हरएक मनुष्य पीछे हटता था। ये बातें तिलक ने किसी एक ही पक्ष को सम्बोधित करके नहीं लिखी थीं, क्यों कि शहर छोड़कर भाग जानेवाले दोनों ही पक्ष के लोग थे। यदि सरकारी नौकरों को प्लेग ड्यूटी सौंपी जाती तो क्या उन्हें हुक्म की पाबन्दी न करनी पड़ती? क्यों कि आगे चलकर उन्हें वह बजानीही पड़ी। 'अन्याय की पुकार मचाई जाती है, किंतु अन्याय क्या हुआ? यदि तुम्हें वह असह्य हो गया हो तो प्लेग से मरने की अपेक्षा इस अन्याय को सहकर क्यों नहीं मर जाते? सरकार का तुम पर विश्वास नहीं है। तुम्हारी बुद्धि और करामत की सरकार को कुछ भी आवश्यकता

नहीं है।' यदि यह कहा जाय कि लोगों की जान बचानेके ही लिए यह सब प्रयत्न था तो अकाल के समय देशभर में मिलाकर प्लेग से भी कई गुनी अधिक मृत्युसंख्या बढ़ गई थी। अर्थात् इस प्लेग की व्यवस्था में परोपकार की ही तरह सरकार का स्वार्थ भी उतने ही प्रमाण में था। और इस स्वार्थ के ही लिए उसने लोगों के दुःख या कष्ट की पर्वाह न करते हुए प्लेग को खोद निकालनेका निश्चय कर लिया था। किसमें शक्ति थी कि उसके ध्येय को बदल सकता? किंतु लोग इतना अवश्य कर सकते थे कि, गाँव में डटे रहकर यथा शक्य प्रतिकार करते हुए उसे हटा देते। किन्तु उनकी ओरसे अपने कर्तव्य का पालन न किया जाने पर भी अधिक अन्याय न हुआ यह एक ईश्वरीय अनुग्रह ही समझना चाहिये! जब पूना जैसे शहर में यह हालत थी तो फिर देहातों की क्या दशा हुई होगी, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। इत्यादि। "अंगरेजी सोल्जर या मिशनरी सेविकाओं में इतनी हिम्मत है कि प्लेग की बस्ती में जाकर लोगों की सहायता कर सके। और उनको इस कार्य में प्रवृत्त रहते देख कर भी हम अपने गरीब भाइयों को सोल्जरों के हाथ सौंप कर केवल अपनी ही प्राणरक्षा के निमित्त शहर से भाग जाते है, ऐसी दशा में तो केवल यही सोचकर चुप बैठ जाना पड़ता है कि अभी देश का भाग्योदय होनेमें बहुत देर है।"

यद्यपि प्लेग-विषयक अन्याय पूने से बाहर भी हो रहा था किंतु खास पूनां के लोगों मे जैसा हाहाःकार मचा वैसा अन्यत्र सुनने में नहीं आया। क्यों कि अन्य स्थानों में प्लेग का कारोबार सख्ती से चलाया जानेपर भी उस की अमल-बजावरी करनेवाले पटेल, नम्बरदार या पवारी अथवा अधिक से अधिक प्लेग के दारोगा लोग ही होते थे। ये लोग देहातों में अन्याय करते हुए खुद ही भय खाते हैं अथवा इस विषय में विवेकशील बन जाते हैं। या कमसे कम उनके हाथपैर पकड़ने से तो कारोबार किसी अंश में सौम्य हो ही जाता है। किन्तु पूना की रेण्डशाही में इन बातों में से एक भी शक्य नहीं थी। बाहर के लोग केसरी को पत्र भेजकर प्रकटरूप से पूछते रहते थे कि यह नादिरशाही पूना के लोग कैसे चलने दे रहे हैं? इसका स्पष्टीकरण ता. २७ अप्रैल के अंक में स्पष्ट शब्दों में कर दिया गया है। पूने में इतनी फौज इकठ्ठी कर गई थी कि, पेशवाई की नामशेष किया जाने समय भी एल्फिन्स्टन साहब के पास छावनी में उतने सिपाही न रहे होंगे। अर्थात् बम्बई और कराची की तरह पूना को भी कष्ट सहना अनिवार्य हो गया। [illegible] करने पर अदालत में उस की शिकायत नहीं की जा सकती। क्यों कि सन १८९७ के प्लेग कानुन के अनुसार यह मार्ग बन्द कर दिया गया था। इस तरह जब अर्जियों की कोई पूछ न रही, और [illegible]

सेना के आगे उद्दंडता करने की हिम्मत भी किसी में नहीं, ऐसी दशा में केवल यही एक उपाय बच रहा था कि, जिस बातों को सरकार करना चाहती है, उसे लोग ही स्वेच्छा से करने लगजायँ। किंतु यह भी लोगो से नहीं हुआ! इसी से चिढ़कर तिलक लिखते हैं कि "एक छोटे से अस्पताल तक के चलाने योग्य सहायता इस पूना शहर से न मिल सके, इस से बढ़ कर दुःख की बात और क्या हो सकती है। यह बात नहीं है कि वे उद्दंडता का प्रतिकार करने की शिक्षा न देते हो। क्यों कि यदि सोल्जर लोग नियमविरुद्ध आचरण करते हों तो उनका प्रतिबन्ध करना जैसे कोई अपराध नहीं माना जा सकता; उसी प्रकार चोरी करनेवालों का हाथ पकड़नेमें भी कोई अपराध नहीं; भले ही वह चोर सोल्जर ही क्यों न हो। तिलक ने केसरी में स्पष्ट लिख दिया था कि, "कुछ दिन पूर्व दश-पांच सोल्जरों ने रात के वक्त रास्ता पेठ में जाकर गड़बड़ मचाई थी। इस कारण उन्हें बेतरह पीटना पड़ा; और सुना गया है कि उन में का एक आदमी तो अस्पताल में जाकर मर भी गया। किन्तु इस के लिए जिस प्रकार कोई भी अव्यवहार नहीं समझा गया उसी प्रकार अन्य विषयों मे भी होगा। अलबत्ता हमें अवश्य कानून के अनुसार ही वरतना चाहिये। और ऐसा करना कोई कठिन बात भी नहीं हैं। यदि लोग अपने २ अधिकारों के विषय में सावधान रहेंगे तो सरकार की ओरसे सख्ती के कितने ही उपाय किये जायँ, किंतु हम निश्चयपूर्वक कह सकते है कि उस दशामें भी जोकि गड़बड़ इस समय हो रही है, वह कभी न हो पावेगी। किंतु दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि अच्छे २ आदमीयों के गाँव छोड़ कर चले जाने एवं बचे हुए गरीब लोगों में यथेष्ट साहस न होने से इस अन्याय का प्रतिकार नहीं हो पाता।............इन दिनों जो नादिर-शाही अथवा रेवड़शाही मची हुई है, उस का अधिक दिनो तक टिक सकना कभी संभव नहीं। लोग भले ही गरीब हो किंतु हम नहीं समझ सकते कि वे हरदीन अन्याय सहते रहेंगे। इसी लिए लार्ड सेन्डहर्स्ट साहब से हमारी प्रार्थना है कि वे लोगों में यह भाव उत्पन्न न होने दें कि वे प्लेग से मरने की अपेक्षा इस संकट को अधिक दुःखदाई समझकर इससे उद्धार पाने के लिए नाजुक उपायों से काम लेने लगे"।

इन बातोंको लिखते हुए तिलक को किस प्रकार तार के सर्कस कासा खेल करना पड़ता होगा, इसे अनुभवी लोग ही जान सकते हैं। क्यों कि इसे यदि हम तार के सर्कस की अपेक्षा तलवार की धारपर दौड़ना कह दें तो अनुचित न होगा। किन्तु फिर भी इस विषय में उत्तेजनात्मक लेख लिखते हुए तिलक अपने विषय में कानूनी दृष्टिसे कहांतक सावधानी रखते थे, इसे बतलानेकी

प्लेग के रोगियों को सुपाकर रक्खा गया तो उनके घर साफ़ नहीं किये जायँगे—रेंडसाहब जांच का काम और भी आगेतक जारी रखना चाहते थे। किन्तु तिलक आदि ने स्वेच्छापूर्वक सूचित कर दिया था कि—डॉक्टरी जांच कराये बिना कोईभी घर में से मुर्दे को उठाकर न ले जाय। जांच हो जानेके बाद मुर्दे को ले जानेका परवाना दिया जाय और जांच में इसका हवाला दिया जाने पर कि घर में रोगी मर गया है—वह घर धोकर जाय। बिना ऐसा हुए व्यर्थ ही घर धोनेका काम किसी को भी न दिया जाय। यह सूचना अंत में जाकर रेंडसाहब को मंजूर करनी ही पड़ी। प्रथमतः उन्होंने यह हुक्म दे दिया था कि ता. २८ मई के बाद प्लेग के हिन्दू अस्पताल बन्द कर दिये जाय। किन्तु बाद में उन्हें यह भी वापस लेना पड़ा। और इस आशंका से कि कहीं बर्सात में फिर प्लेग भड़क न उठे, हिन्दू अस्पताल जारी ही रखे गये। इस तरह शहर में प्रतिदिन एक-आध मृत्यु होने या कोई २ दिन खाली चला जाने जैसी स्थिति उत्पन्न हो जानेपर जांचसंबन्धी कार्य बंद किये गये। क्यों कि प्लेग के घटनेका कारण एकमात्र गर्मी की आबहवाही था, यह बात प्रतिसप्ताह की मृत्युसंख्या के अंक पर से सहज ही में जानी जा सकती थी। हां, तो प्लेग धीरे २ यथाक्रम ही घटता गया। यदि केवल सख्ती करने ही से वह हटता तो पिछले सप्ताह बढ़ी हुई मृत्युसंख्या अगले ही सप्ताह में एकदम घट जानी चाहिये थी, किंतु ऐसा होना असंभव था। बाहरी उपायों से बुझी हुई आग एकदम बुझ जाती है। किंतु जो आग अपने आप बुझनेवाली होती है वह धीरे २ ही कम होती है। यही नियम प्लेग का भी था।

इसके बाद तो दस–पांच वर्षतक प्लेग का खूबही जोर रहा। अतएव प्लेग की उत्पत्ति, उसीकी वृद्धि एवं रोक आदि बातों से किसी निश्चित सरकारी उपाय के सफल न हो सकनेका अनुभव लोगों को अपने–आप मिल गया। और सरकार को भी वह बात स्वीकार करनी पड़ी। अंत में जाकर चूहे पकड़ने एवं इनाक्युलेशन करनेके सिवाय अन्य समस्त अन्याय पूर्ण उपायों से उकताकर सरकार को हाथ खींच लेना पड़ा। और यह प्लेग का सारा कारोबार अंत में उसने म्युनिसीपालिटी को सौंप दिया। क्यों कि सन १८९७ का प्लेग आरंभिक ही था, अतएव सरकारी डॉक्टर एवं सरकार के अधिकारियों की बात ही उस समय ब्रह्मवाक्य मानी गई। और प्लेग के जंतु अपने आप मर जानेपर भी चारों ओर यह दुहाई फेरी गई कि सरकारी उपायों से प्लेग हटाया गया है! विलायत तक तार दौड़ाये गये और वहां प्लेग कमेटी की प्रशंसा भी होने लगी। किंतु अनंत दुःख भोगने और कष्ट उठानेवाले बेचारे भारतीयों के लिए किसी के भी मुख से सहानुभूति का एक शब्द तक न निकल सका! किन्तु होली के बीत-जाने-

अपेक्षा हमारे कहने का मुख्य उद्देश्य इस स्थानपर केवल यही है कि, वे अपनी तरह लोगों को विधायक कार्य करते समय कहांतक के कष्ट सहन करनेका उपदेश देते थे। शहर से बाहर जाकर रहनेवाले सुधारक लोगोंने मेलेवालों को प्लेग के निमित्त से व्यर्थ ही ऐसी-वैसी बातें सुना दीं। इसका जो कड़ा उत्तर तिलक ने दिया वह तो उचित ही था, किन्तु इसीके साथ २ यह कहनेवालों के लिए कि, तिलक की आलोचना केवल विध्वंसक ही हो सकती है, क्यों कि वे किसी को अमुक एक प्रकार की विधायक बातें नहीं बतलाते—इस प्लेग के विषय में तो कमसे कम तिलक ने केवल उपदेश देकर ही नहीं बल्कि खुद साहसपूर्वक आगे बढ़कर कार्य के रूपमें जो उत्तर दिया, वही सबसे अधिक समर्पक कहा जा सकता है। यदि तुलना ही की जाय तो भी प्रत्येक निष्पक्षपाती मनुष्य को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इस मौक़ेपर अपने प्रतिपक्षियों की अपेक्षा तिलक ने ही अधिक विधायक कार्य किये हैं। वे ता. ४ मई के अंक में फिर लिखते हैं कि "ऐसे मौकेपर केवल अन्याय कर्ता के नाम की पुकार मचानेसे ही काम नहीं चल सकता। क्यों कि जिस प्रकार घर में आग लग जाने पर केवल आग लगानेवाले के नाम की पुकार मचाने या रोनेपीटनेसे घर के मालमत्ते की रक्षा नहीं हो जाती, बल्कि फायर पम्प आदि लगा कर ही यथाशक्य घर का बचाव करना पड़ता है; यही दशा इस समय की भी है। क्यों कि सरकार को गालियां सुनाने के लिए फिर भी मौक़ा मिल सकता है।......यदि किसीने यह प्रश्न किया कि शहर से बाहर रहकर चिल्लाने की अपेक्षा हमारे नेताओं ने क्या किया, तो इसका उत्तर हम किन शब्दों में दे सकेंगे?......उस दशा में हम लोगों के नेता कैसे कहे जा सकते हैं?......जिस गली में जाइये वहीं सुनसान दिखाई देती है। और कमसे कम 'तेली तम्बोलियों के सिवाय' तो वहां कोई दिखाई ही नहीं देता, यहांतक की हालत हो गई है। और अभी जहां ये सोल्जर शहर से बाहर हुए कि सब लोग तत्काल ही शहर में वापस आ जायँगे और आश्चर्यपूर्वक कहने लगेंगे कि "इतना घोर अन्याय पूनावालों ने सहन कैसे कर लिया?"

तिलक की इन बातोंपर पूने में ज़ोर शोर का विवाद मचा। एक कहने लगा कि मेलेवालों के हाथ से क्या काम हुआ, तो दूसरे ने कहा कि कांग्रेसवालों ने क्या किया? किंतु तिलक आत्मविश्वासपूर्वक लिखते हैं कि "काम कौन करता है और कौन नहीं यह कमसे कम कार्यकर्ता को तो बतलानेकी आवश्यकता नहीं रहती।" किन्तु यह विवाद भी थोडे ही दिनों में ठंडा पड़ गया। ता. १६ मई के दिन रेण्डसाहब की दस्तखती एक नोटिस निकाला जाकर प्लेग की जांच के शीघ्र ही बन्द किये जानेका निश्चय हुआ। यद्यपि यह कारण दिखलाते हुए कि यदि

प्लेग के रोगियों को छुपाकर रक्खा गया तो उनके घर साफ नहीं किये जायँगे—रेंडसाहब जांच का काम और भी आगेतक जारी रखना चाहते थे। किन्तु तिलक आदि ने स्वेच्छापूर्वक सूचित कर दिया था कि—डॉक्टरी जांच कराये विना कोईभी घर में से मुर्दे को उठाकर न ले जाय। जांच हो जानेके बाद मुर्दे को ले जानेका पर्वाना दिया जाय और जांच में इसका हवाला दिया जाने पर कि घर में रोगी मर गया है—वह घर धोकर जाय। विना ऐसा हुए व्यर्थ ही घर धोनेका काम किसी को भी न दिया जाय। यह सूचना अंत में जाकर रेंडसाहब को मंजूर करनी ही पड़ी। प्रथमतः उन्होंने यह हुक्म दे दिया था कि ता. २८ मई के बाद प्लेग के हिन्दू अस्पताल बन्द कर दिये जाय। किन्तु बाद में उन्हें यह भी वापस लेना पड़ा। और इस आशंका से कि कहीं बर्सात में फिर प्लेग भड़क न उठे, हिन्दू अस्पताल जारी ही रखे गये। इस तरह शहर में प्रतिदिन एक-आध मृत्यु होने या कोई २ दिन खाली चला जाने जैसी स्थिति उत्पन्न हो जानेपर जांचसंबन्धी कार्य बंद किये गये। क्यों कि प्लेग के घटनेका कारण एकमात्र गर्मी की आज-हवाही था, यह बात प्रतिसप्ताह की मृत्युसंख्या के अंक पर से सहज ही में जानी जा सकती थी। हां, तो प्लेग धीरे २ यथाक्रम ही घटता गया। यदि केवल सख्ती करने ही से वह हटता तो पिछले सप्ताह बढ़ी हुई मृत्युसंख्या अगले ही सप्ताह में एकदम घट जानी चाहिये थी, किंतु ऐसा होना असंभव था। बाहरी उपायों से बुझी हुई आग एकदम बुझ जाती है। किंतु जो आग अपने आप बुझनेवाली होती है वह धीरे २ ही कम होती है। यही नियम प्लेग का भी था।

इसके बाद तो दस—पांच वर्षतक प्लेग का खूबही जोर रहा। अतएव प्लेग की उत्पत्ति, उसीकी वृद्धि एवं रोक आदि बातों से किसी निश्चित सरकारी उपाय के सफल न हो सकनेका अनुभव लोगों को अपने—आप मिल गया। और सरकार को भी यह बात स्वीकार करनी पड़ी। अंत में जाकर चूहे पकड़ने एवं इना-क्युलेशन करनेके सिवाय अन्य समस्त अन्याय पूर्ण उपायों से उकताकर सरकार को हाथ खींच लेना पड़ा। और यह प्लेग का सारा कारोबार अंत में उसने म्युनिसीपालिटी को सौंप दिया। क्यों कि सन १८९७ का प्लेग आरंभिक ही था, अतएव सरकारी डॉक्टर एवं सरकार के अधिकारियों की बात ही उस समय ब्रह्मवाक्य मानी गई। और प्लेग के जंतु अपने आप मर जानेपर भी चारों ओर यह दुहाई फेरी गई कि सरकारी उपायों से प्लेग हटाया गया है! विलायत तक तार दौड़ाये गये और वहां प्लेग कमेटी की प्रशंसा भी होने लगी। किंतु अनंत दुःख भोगने और कष्ट उठानेवाले बेचारे भारतीयों के लिए किसी के भी मुख से सहानुभूति का एक शब्द तक न निकल सका! किन्तु होली के बीत जाने-

पर भी जिस प्रकार उसके कवीर रह ही जाते हैं उसी प्रकार क्या आज और क्या उस समय, प्लेग का अड्डा उठ जानेपर भी प्लेग कमेटी की याद भूल सकना असंभव ही था। यही नहीं बल्कि इस प्रकार की मानसिक स्मृति की अपेक्षा एक अकल्पित रीति से पूने पर छह मास तक किये गये अन्याय की प्रतिध्वनि हो उठी, और उससे फिर कुछ दिनों तक-किंतु पहले से कुछ जुदे ढंगपर पूना शहर को जिन २ दुष्ट-कष्ट का सामना करना पड़ा, उनका वर्णन आगे के प्रकरण में दिया जायगा।

भाग—चौबीसवाँ, परिशिष्ट (१)

—:—

प्लेगकालीन अत्याचारों के विषय में सुधारक पत्र के कुछ जोरदार लेखों के उद्धरण.

सुधारक ता. १२-४-९७.

इस बात का कभी गुमान भी न किया गया था कि अंगरेज सरकार के शासनाधिकारी इस तरह अन्धाधुन्दी मचा देंगे ! किन्तु ब्युबोनिक प्लेग को कोई खास रोग न कहते हुए विवश होकर उसे सोलजरों का प्लेग कहना पड़ता है। लोगों के घर-द्वार की तोड़-फोड़ और उनकी वस्तुओं की उठा रखी एवं अकारण झगड़े खड़े कर चाहे जिस व्यक्ति का हाथ पकड़ लेना और जहां जी चाहे उसे खींच लेना, यह सब घरों की जांच कही जा सकती है या अन्धाधुन्दी का मजाक ? अर्जियों की दाद नहीं और फरियाद की याद नहीं, शिकायत की सुनवाई नहीं और कानून की पर्वाह नहीं, इस तरह रेण्डशाही के यमदूतों में से कई एक का नित्यकर्म सा हो रहा है ! इन उद्दंड एवं अज्ञान, जंगली सोलजरों को किसी भी बात की पर्वाह नहीं है। घर में यदि प्रसूता स्त्री हो, तो उस तक बाहर निकाल देना, आँखें दुखती रहने पर भी उसे हाथ पकड़कर बाहर खींच लेना, इन्हीं सब अन्धाधुन्दियों का ज़ोरशोर है ! समझ में नहीं आता कि यह प्रजा की रक्षा का प्रबंध है या उपद्रवकारियों की पिशाचलीला ? या रेण्डशाही का खेल ?

सुधारक ता. १६-४-९७.

अब तक तो मामला चोरी पर ही खतम हो जाता था, किन्तु अब स्त्रियों के शरीर पर भी हाथ डालने के हौसले बढ़ गये हैं ! और यह सब होते हुए भी हम अपने समाज को देखते हैं तो वह एकदम शान्त प्रतीत होता है ! हमें बड़ी लज्जा के साथ कहना पड़ता है कि सचमुच ही हमारे भाइयों की तरह नामर्द, साहसहीन व्यक्ति दुनिया में कहीं भी न मिल सकेंगे ! लोगों, तुम इतने निःसत्व कैसे हो गये ? अपने आप्त जनों की मान रक्षा के लिए कुछ तो हिम्मत दिखाओ ! अरे, यों

'औरतों की तरह रोते क्या हो ? उद्दंडों को कानून सिखाओ !

पूना वालों के मुँहसे ये उद्गार दिन में दस बार निकलते होंगे कि अमुक सोल्जर ने किसी की क़लम चुरा ली, तो किसी ने सन्दूक तोड़कर रुपये निकाल

अपने जेब में रख लिये ! किसी का अन्न जल भ्रष्ट कर दिया तो किसीकी स्त्री को घर से ही निकाल दिया ! और जितनी ही बार हम इन बातों को सुनते हैं, हमें लोगों की नपुंसकता पर हृदय से संताप होता है ! अरे तुम हो कौन ? स्त्री हो या पुरुष ? क्या इस तरह रोते रहनेसे यह रेण्डशाहि हट जायगी ? कभी नहीं, इससे तो उसके हौसले और भी बढ़ जायँगे । वह तुम्हारा बकवाद अब कहां गया ? सोल्जर हो या उसका नगड़ दादा ही क्यों न हो, अगर वह चोरी करता है तो उसे पकड़ क्यों नहीं लेते; आत्मरक्षा करना या बेक़ायदा चलनेवाले को क़ानून सिखाना कभी अपराध नहीं माना जा सकता । ज़रा इन्सान की तरह अपने पैरों पर खड़े होकर इन भुक्कड़ों को दिखादो कि तुम्हारी अंधाधुन्धी हम तबतक चुपचाप नहीं सहते रहें गे, जबतक कि क़ानून हमारे पक्ष में हैं ! सरकारी क़ानून द्वारा बेक़ायदा फिसाद से अपनेको बचाने का अधिकार हरएक के लिए रखा गया है । इसे ध्यान में रखो ।

सुधारक ता. १०-५-९७.

असल में इन सब का इरादा एक ही है, और कोई बात नहीं है । हमारा स्वाभिमान नष्ट हो गया है । और जो कुछ बचा है वह हतवीर्य हो कर पड़ा हुआ है । उसे कोई उठानेवाला ही नहीं । खड़े होकर दो हाथ मारने की भी उस में शक्ति नहीं है । प्लेग कमेटी के बनाये हुए क़ानून को एक ओर रख मनमाने ढंग से घर में घुसकर गड़बड़ मचानेवाले विलायती सोल्जरों से हर तरह चिढ़ाये और संतप्त किये जानेपर भी तुम चूं तक नहीं करते ! भला, यह क्या सूचित करता है । गांठ का पैसा गया, घर का नाज लुटा और हांडियों का दही उड़ गया, बापदादों के समय के देवता तोड़ फोड़कर फैंक दिये गये, अथवा भूजीं की दूकानपर तोलो और छटाक का काम देने लगे, घर के बडे बूढ़ों को इन धूर्तों ने मनमाना नाच नचाया, और यह सब हो जाने भी किसी से उन का प्रतिकार तक न हो सका । ये बातें क्या सूचित करती है । अधिक तो क्या किंतु संसार की जंगली जातियों से सभ्य लोगों तक में जिस एक विषय में सब की मनोवृत्तियों अत्यंत सुकुमार होती है उसमें भी इन धूर्तों ने तुम्हें छका दिया, और तुम्हारी मां--बहनों की दुर्गति कर दी । किंतु फिर भी तुम उसी तरह चुप्पी साधकर बैठे हो ? धिक्कार है ऐसे नामर्द समाज को !! अरे, जानवरों में भी इतना मुर्दापन और पिटते रहनेकी आदत नहीं होती ? जब इतनी निर्बलतायुक्त सहनशीलता तुम में आगई है, तो फिर इतनी बड़बड़ क्यों मचा रहे हो ? इन सबसे अधिक दुःख की असहनीय बात यह हैं कि, इस तरह का अन्याय होता रहने पर भी

हम इतने भीरू, इतने निर्बल, ऐसे पस्त हिम्मत हो गये हैं कि जिसका स्मरण होते ही हृदय फटने लगता है! अरे, अब अधिक और क्या कहलाना चाहते हो! इन बाहरी दुःखों की अपेक्षा यह आन्तरिक दुःसह वेदना अत्यंत ही निराशा उत्पन्न कर देती है। शरीर में रग (सत्व) नहीं! पैरों में जान नहीं! कलाई में ताक़त नहीं! शरीर में प्राण नहीं! और फिर भी अगर कोई कुछ कहे तो बुरा मानने लगते हो। हर हर, कैसी यह दुरावस्था है।

——:०:——

भाग-पच्चीसवाँ.

राजद्रोह का अभियोग.

फर्गुसन कॉलेज से अलग होनेके बाद तिलक के चार वर्ष स्थानिक और सामाजिक झगड़ों में व्यतीत हुए। सन १८९१ में उनके केसरी के जवाबदार संपादक बन जानेपर भी ये झगड़े कुछ दिनों तक चलते रहे। किंतु फिर भी तब तक कम से कम ऐसे विषय तो उपस्थित नहीं हो पाये थे कि जिनके कारण सरकार को केसरी के लेखोंपर विशेषरूप से ध्यान देने की आवश्यकता पड़ती। सन १८९३ से अलबत्ता केसरी ने सरकार की ओर दृष्टिपात् किया। आरंभ में हिन्दू मुसलमानों के झगड़े, इस के बाद हेरिस शाही का प्रताप, तदनंतर अकालनिवारक आन्दोलन और सबके बाद पूना की प्लेगनिवारक योजनाओं के अत्याचार के विषय में तिलक ने सरकार पर जोरदार आलोचनाएँ कीं, इसी तरह दूसरी ओर सरकार की यह भावना बढ़ती चली कि तिलक की कार्यवाहियां मानों हमारे लिए शत्रु का काम देंगी। सामाजिक विवाद में तिलक की दलीलों के सामने उनके प्रतिपक्षियों के हार जाते देखकर संभवतः सरकार यही समझी होगी कि यह कोई नया और तेजतर्रार नेता सामने आ रहा है। किंतु यह एक प्रकार की केवल कौतुक बुद्धि ही कही जा सकती है। क्यों कि इस में अभी तक वैमनस्य की छाया उत्पन्न नहीं हुई थी। किंतु जब हिंदू मुसलमानों के दंगे के विषय में केसरी की ओर से, जोरशोर के आक्रमण हुए तब इस विचारसे कि यह नया नेता हमारा शत्रु है और हमारे मर्मस्थान पर यह अचूक वार कर सकता है–सरकार ने अपने चित्रगुप्त की काली बही में तिलक का नाम स्थायी रूपसे लिखवा दिया।

हिन्दू–मुसलमान के दंगेविषयक (सरकार के) पक्षपातयुक्त ध्येय के आविष्करण की अपेक्षा तिलक के अकाल-निवारक आन्दोलन ने ही सरकार को विशेषरूप से त्रस्त किया। यद्यपि यह कहने में की सरकार दो जातियों में से किसी एक का पक्ष ले बैठती उसकी अप्रतिष्ठा अवश्य होती है, किंतु वह अधिक नहीं कही जा सकती। पर यदि अकाल के समय सरकार की ओरसे यथेष्ट प्रबंध न किया जाने के कारण प्रजा के भूखों मर जानेका आक्षेप सत्य सिद्ध हो जाय तो सरकार की निश्चयपूर्वक ही बदनामी हो सकती है। उस में भी तिलक ने किसानों को यह जो उपदेश देना शुरू किया था कि जमीन के लगान में कुछ छूट कराई जाय–उसे एकदम ही ' सरकार का लगान डुबा देने ' का स्वरूप प्रदान करदेना सरल कार्य

था। और टाइम्स आदि पत्रों ने तिलक के इस आन्दोलन को ' नो रेंट कम्पेन ' का नाम भी दे रक्खा था। क्यों कि इन पत्रों की ओरसे यह समझाने का प्रयत्न तो सदैव होता है कि सरकार जो जमीन का महसूल लेती है वह (रेंट) खंड के रूप में नहीं बल्कि जमीन के कर के रूप में लेती है। किंतु इस बार उन्होंने यह पेंच छोड़कर सरकार को ही जिमींदार सिद्ध किया। अर्थात् यह कल्पना उन्होंने ' आयरिश लैंण्ड लीग ' पर से ही ली थी, अतएव उन्हें क्षणभर के लिए सरकार जिमींदार की तरह और तिलक पार्नेल की तरह प्रतीत हुए हों तो आश्चर्य नहीं।

इधर तिलक के पूना म्युनिसीपालिटी, बम्बई यूनिवर्सीटी, एवं धारासभा में चुन लिये जानेसे उनकी लोकप्रियता सरकार को प्रकटरूप से दिखाई देने लगी; अतएव सन १८९५ से ही उसे विश्वास हो गया कि यह समस्या हमारे लिए अवश्य ही कुछ दिनों में जाकर कठिन हो जायगी। फलतः सन १८९६ के अकाल आन्दोलन में ही तिलक पर मुकद्दमा चलाये जानेकी संभावना प्रतीत होने लगी, सरकारी क़ानूनदां लोगों ने अपना जाल कमजोर समझकर तिलक जैसे बड़े मत्स्य को पकड़ने के लिए उसे फेंकने की हिम्मत न की। अतएव आपटे, साठे आदि छोटे २ मत्स्यों को पकड़ने का ही उन लोगों ने प्रयत्न किया; किन्तु इसमें भी उन्हें असफल होना पड़ा। इसके बाद प्लेग-विषयक प्रश्नों में तो सरकार के साथ तिलक की अच्छी तरह भिड़ंत हुई। और उसने देखा कि लोगों के असंतोष के ही साथ २ केसरी की आलोचना में कठोरता पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। किंतु वह अच्छी तरह जानती थी की इस विषय में अधिकांश दोष अपनीहि ओर है, साथ ही लोगों को इतना परेशान भी होना पड़ा है कि जिससे वे झल्ला उठें। अतएव इस आलोचना परसे भी अभियोग चलाने की सरकार हिम्मत न कर सकी।

तथापि अभियोग की पूर्व तैयारी धीरे २ होती जानेके साथ ही गोला बारूद भी भरा जा चुका था, अतएव अब केवल बत्ति दिखलाने की ही देरी थी, और उसने ता. २२ जून की रात को रेण्डसाहब की हत्या के रूप में तोप को सुलगा ही दिया। किंतु इस विषय में मन ही मन समझा जानेकी तरह तिलक ने अनुमान कर लिया था कि किसी ने किसी दिन इस विषय में हम पर राजद्रोह का अभियोग अवश्य चलाया जायगा। सन १८९६ में इस भावी अभियोग का उल्लेख करते हुए ' मराठा ' पत्र में संपादक ने यह रूपक बनाया था कि " बादल बनने को है, और भयसूचक झंडा शीघ्र ही खड़ा किया जाय गा "। किंतु लिखनेवाले ने इसे भविष्य के रूप में सूचित किया था। तथापि भविष्य वार्ता ओं को भी कुछ दिनोंतक गर्भावस्था में रहना पड़ता है क्यों कि तभी वे अनुभवरूप जन्मधारण कर सकती हैं। साधारणतः बच्चों से यह कहा जाता है

कि सौ अपराध करने पर मनुष्य को बिच्छू काटता है। इसी नियमानुसार तिलक को डंक मारनेके लिए तैयार बैठे हुए सरकाररूपी बिच्छू ने सौवाँ अपराध होते ही डंक मार दिया। किन्तु यह सौवाँ अपराध किसी भी प्रकार से तिलक का किया हुआ नहीं कहा जा सकता था। क्यौं कि रेण्डसाहब की हत्या प्लेग सम्बन्धी त्रास से संतप्त होकर चाफेकर ने की और शिवाजी उत्सव के व्याख्यान केसरी में छापने के कारण तिलक पर मुकद्दमा चलाया गया; कः केन सम्बन्धः ? किंतु 'बत्ती कोई भी दिखलावे' जो आदमी तोप के मुँह पर खडा होगा वही मारा जाय गा।

यह हम पिछले एक प्रकरण में बतला ही चुके हैं कि पूने में रेण्डशाही ने कैसा २ अनर्थ ढाया और लोगों को कैसे २ कष्ट उठाने पड़े थे। इसी लिए प्लेग सम्बन्धी जांच शुरू रहने पर लोगों ने सोच लिया था कि यह लोक-संताप एक न एक दिन धुंधवाती हुई अग्नि की तरह भड़के बिना न रहेगा, अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि कब किसका घातपात हो जाय ! किन्तु कैसा ही दुःख हो तो भी उसे धीरे २ भूल जाना मानवी स्वभाव का एक लक्षण ही है। इसी नियमानुसार सन १८९६ के ग्रीष्मकाल में प्लेग के घट जाने एवं जांच के बन्ध हो जाने पर पूना के लोग धीरे २ अपने गत दुःख को भूलने लगे। जिस प्रकार रातभर आँखोंपर पड़ी हुई झांपड दूर होकर अरुणोदय हो जानेपर एक महान संकट से मुक्त होने–किम्बहुना पुनर्जन्म पाने–की भावना से पक्षीवृंद आनंदपूर्वक चहचहाने लग जाते हैं, और उनकी हलचल से सारा पेड़ रौनक पा जाता है, उसी प्रकार प्लेग से भयभीत होकर बाहर गये हुए लोग धीरे धीरे वापस आने लगे। घर के दर्वाजोंपर चार चार महिनों से पड़े हुए ताले खोल कर उनकी झाड़–बुहार और लीपा पोती होने लगी। सरकारी दफ्तर या अन्य संस्थाओं में चार महिने के बचे हुए प्रकरणों के समूह निर्णय के लिए हाथ में लेलिये जानेसे लोगों में विशेष हलचल दिखाई देने लगी। क्यों कि मई का महिना पूनावालों के लिए बड़े ही काम का होता है, अतएव वह इस बार भी प्लेग के हटजाने से आनंद पूर्वक बीतता दिखाई दिया। तिलक के लॉ-क्लास के फिर खुलने का विज्ञापन भी छप गया।

प्लेग और अकाल को छोड़कर नई स्फूर्ति के साथ केसरी में लेख लिखने के लिए कुछ नये विषय भी मिल गये। इन में एक विषय था महारानी विक्टोरिया की डायमंड ज्युबिली का। इस विषय में ता. २२ मई के दिन सार्वजनिक सभा ने मानपत्र समर्पित करने का निश्चय किया। यही नहीं बल्कि प्रजा की पुकार को हर समय टालना अनुचित समझकर, एवं सरकार से एक मात्र गुण की बात कह देने का प्रसंग आया मान सभा ने इस डायमंड ज्युबिली [illegible]

अंग समझा; अतएव उस मानपत्र में सन १८५८ के घोषणापत्र का स्मरण करानेके सिवाय अन्य किसी अप्रिय वार्ता के उल्लेख तक न करने का *निश्चय* कर लिया था, और इसमें वह राजनिष्ठा के आरोप की भी पर्वाह नहीं करती थी। फलतः केसरी ने भी इसका समर्थन किया मतलब यह कि सरकार के साथ शिष्टाचार करने योग्य मानसिक शान्ति पूनावालों में पुनः प्रस्थापित हो गई थी। इसी ध्येय का अनुसरण कर ता. ८, १५, २२ जून के केसरी के तीन अंकों में तिलक ने *महारानी विक्टोरिया का जयजयकार* करके अभिनन्दनात्मक लेख लिखे थे। महारानी की भाग्यशालिता, उसका चारित्र्य एवं शील-स्वभाव, तथा उसके साठ वर्ष के शासन में साम्राज्य की होनेवाली वृद्धि और राज्यघटना के नियंत्रय को वंदनीय मानकर चलाया हुआ कारोबार इत्यादि के विषय में तिलक ने खुले दिल से और गुणग्राहक बुद्धिके साथ सब बातें लिखीं। साम्राज्य के उत्कर्ष को अंग्रेजों के गुणों की दृष्टि से यथा योग्य बतलाकर एवं अंग्रेजों के राज्यकर्ता होनेसे उनके आनंद में प्रजा के अंशभागी होनेका उल्लेख कर तीसरे लेख में उन्होंने अलबत्ता भारत की दरिद्रता का खाका खींचा था। अर्थात् उन्होंने यह बतला कर कि अंगरेजी शासन में भारत की बाहरी तड़क-भड़क बढ़ जाने पर भी हमें इस दृष्टि से उसका विचार करना ही होगा कि सोजन (वरम) आजाना एक अलग बात है और सच्ची पुष्टता अलग। किंतु इस आलोचना का यह उद्देश्य कदापि नहीं था, कि उन लेखों के अभिनन्दनात्मक स्वरूप में किसी प्रकार की बाधा पड़े। अर्थात् तिलक का आशय इस में यह था कि आयरिश लोगों की ओर से डायमंड ज्युबिली में के उत्सव में सम्मिलित होने के निश्चय कर लिया जाने का अपने लेख में हवाला देकर भी उन्होंने भारत को उसका अनुकरण करने की सलाह नहीं दी।

दूसरा *स्फूर्तिदायक विषय था शिवाजी-स्मारक का* आन्दोलन। ता. १ जून सन १८९७ के केसरी में तिलक ने विभूतिपूजा पर एक सुंदर एवं सोपपत्तिक लेख लिखा। क्यों कि उन दिनों स्थान २ में शिव-जन्मोत्सव होने के समाचार आ रहे थे; और इस वर्ष से कितने ही सुशिक्षित एवं ग्रेजुएट लोग भी उत्सव में सम्मिलित होने लगे थे। अतएव उत्सव को कुछ नियमबद्ध स्वरूप प्राप्त होने की आशा बंध गई थी। इधर क्यों कि अंगरेज़ी राज्य में अन्य राजनैतिक उत्सवों की प्रथा उठ जानेपर भी इस ऐतिहासिक विभूति के पूजन करने का सुअवसर लोगों को प्राप्त हो रहा था, अतएव इस के *लिए* केसरी ने आनंद प्रदर्शित किया था। यद्यपि पूने का उत्सव होना अभी शेषही था, किंतु यहां प्रारंभ से ही जन्मोत्सव के बदले राज्याभिषेकोत्सव होता आरहा है। फलतः इस बार ता. १२ जून

के दिन लकड़ी पुलके निकट विठ्ठलमंदिर में यह उत्सव शुरू हुआ। कदाचित् प्लेग से पीछा छूटनेके ही कारण लोगों ने इस वार उत्सव वड़े ठाठ से मनाया था। आरंभ में प्रार्थनादि होनेके पश्चात् प्रो. शिवरामपंत परांजपे की कथा हुई। कथा का विषय राजसूय यज्ञ और शकुनी–धृतराष्ट्र का संवाद था और "असंतोषः श्रियोमूलम्" तथा "संतोषस्तु श्रियो हन्ति" ये दो उनके आधार वचन थे। प्रो. जिन्सीवाले ने कहा कि "शिवाजी का पराक्रम महत्वाकांक्षा का प्रभाव नहीं था, वल्कि स्वदेश और स्वधर्म की दुर्गति होती देखकर उत्पन्न होनेवाली चिढ़के ही कारण उनके चित्त में यह भाव जागृत हुआ था। दुसरे दिन विंचूरकर के वाड़े में मर्दानी खेल हुए। रात को तिलक की अध्यक्षता में प्रो. भानु का 'अफज़लखां के वध' पर भाषण हुआ, जिसमें कि उन्हों ने इस हत्या के अपराध से शिवाजी को दोषमुक्त सिद्ध किया। प्रो. जिन्सीवाले ने नेपोलियन और सीज़र के हाथों से होनेवाली नरहत्या का हवाला देते हुए वतलाया की जिस प्रकार इन दोनों को ऐतिहासिकों ने निर्दोष सिद्ध किया है, उसी प्रकार अफजलखां के वध-रूपी आरोप से शिवाजी भी निर्दोष सिद्ध किये जाने चाहिये। उपसंहार के रूप में तिलक ने जो व्याख्यान दिया उस में इस वध के अंतर्गत सात्विक बुद्धि का निर्देश कर उन्होंने सूचित किया था कि वर्ष भर में कम से कम एक दिन के लिए तो सब लोगों को इस उत्सव में योग देनेके लिए एकत्र अवश्य होना चाहिये। इसके बाद ता. १५ जून के ही अंक में निशानी भवानी तलवार के नाम से 'शिवाजी के उद्गार' शीर्षक एक कविता छपी जो किसी महानुभाव की भेजी हुई थी, और उसमें विभूतिपूजा के विषय में लोगों को उत्साहित कर तत्कालिन राजनैतिक अन्याय एवं दुःखों का भी वर्णन किया गया था।

तत्काल ही तिलक के एक शत्रु ने 'जस्टिस' के सांकेतिक नाम से वम्वई टाइम्स में पत्र छपवाकर केसरी में प्रकाशित उत्सव का वर्णन एवं तत्संबन्धी टिप्पणियों में से कुछ अंश लेकर वेपर्वाही के साथ उनका अनुवाद करते हुए यह प्रतिपादन कर दिखाया कि उत्सव के भाषणों में राजद्रोह भरा हुआ है। यह बात हमारे पाठकों को पिछले एक प्रकरण परसे ज्ञात हो चुकी है कि असल में अफ़-जलखां की हत्या का प्रश्न नया नहीं था। फलतः जितने अंश में तिलक उस समय राजद्रोही रहे होंगे, उतने ही इस समय भी होंगे। अतएव यदि शिवाजी द्वारा अफजलखां की हत्या होनेका समर्थन करने पर तिलक अभियोग से मुक्त रखे गये, तो उसी प्रकार इन लेख एवं भाषणों परसे भी उनको इस तरह फँसाने का कोई कारण नहीं था। किन्तु किसी भी कार्य के लिए एक ही कारण निर्णयात्मक नहीं हो सकता। वल्कि उनमें अनेकों कारण उलझन् की तरह एक के वाद दूसरे के

क्रमसे उपस्थित रहते हैं। यही दशा इस समय भी हो रही थी। यदि कोई निश्चय कर लेता तो इस समय भी अफज़लखां की हत्याविषयक प्रश्न दो चार उलटे-सीधे उत्तरों से हल हो सकता था। किन्तु इस हत्या की चर्चा में मूलतः राजद्रोह की भावना रहनेका संदेह इस कारण दृढ हो गया कि इस चर्चा के बाद एक सप्ताह में ही पूने में एक भयंकर हत्या हो गई थी। ता. २२ जून मंगलवार की रात को अर्थात् ठीक ज्युबिली उत्सव के ही दिन सरकारी भोज के पश्चात् गणेश खिंड (गवर्नमेंट हाउस) के रास्तेपर पूना के प्लेगाधिकारी रेंडसाहब की हत्या से ही यहां हमारा मतलब है।

बुधवार ता. २३ जून को सूर्योदय से पूर्व ही शहर में सर्वत्र इस हत्या का समाचार फैल गया, और सब लोग बेचारे भय और विस्मय के मारे स्तंभित रह गये। इधर रास्ते पर खडे होकर तो बातचीत करने का सुभीता था ही नहीं, किंतु अब घर का दर्वाजा खुला रखकर बात-चीत करने में भी लोग डरने लगे। क्यों कि सरकारी गुप्तचर के छूट जाने की अफवाह इस हत्याकांड के साथ ही शहर में फैल गई थी। किन्तु इस संवाद में सिवाय इसके और कोई बात ही नहीं थी कि रेंडसाहब को किसी ने गोलीसे मार दिया है। इस बात को कोई किसी से कहता भी क्या और पूछनेवाला पूछता भी क्या? किंबहुना यथार्थ विषय से नगर की जनता एकदम ही अनभिज्ञ थी। सारा गोलमाल सरकारी पुलिस के अधिकारी और बम्बई के गोरे पत्रों के संवाददाताओं के बीच ही हो रहा था। इस हत्या के सात दिन बाद प्रकाशित होनेवाले केसरी में जो ख़बरें इस सम्बन्ध में छपी उन में दिलचस्पी गप्पे भी कम नहीं थीं। निश्चयात्मक वर्णन केवल इतना ही था कि, मंगलवार ता. २२ जून की रात को गणेशखिंडवाले गवर्नमेंट हाउस में जुबिली के निमित्त एक बहुत भारी प्रीति भोज और स्वागत समारोह हुआ। बंगला के विस्तीर्ण कम्पाउण्ड में बढिया रोशनी की गई थी। आसपास की छोटी २ पहाडियों पर ढेरों लकडियां और घास-फुस की होलियां जलाकर इस उत्सव का आनंद प्रकट किया गया था। मध्यरात्रि में समारोह के समाप्त हो जाने पर रेंड साहब अपनी गाडी में बैठकर वापस लौट पडे। इसके बाद उनकी गाडी जब बंगले के मुख्य द्वार से लगभग पांच सौ गज़ दूर निकल आई, तब पास की झाडी में से एक मनुष्य बाहर निकल कर गाडी के पीछे पायदानपर खडा हो गया और वहीं से उसने पिस्तौल चलाया। उसकी गोली और छर्रे रेंड साहब के बायें कंधे में घुस जानेसे वे गाडी में ही बेहोश हो गये। इसके कुछ ही सेकंद बाद इस गाडी के पीछे आनेवाली दूसरी एक गाडीपर भी इसी प्रकार का वार हुआ। इसमें लेफ्टिनेंट आयर्स्ट और उनकी मेम साहब ये दो व्यक्ति थे। इस

वार की गोली आयर्स्ट के सिर में आरपार निकल गई और प्राणान्त हो जाने के बाद वे अपनी स्त्री के शरीरपर लुढक पड़े। उस अँधेरी रात में इस प्रकार एकदम गोली वार होनेसे चौंककर गाड़ी के घोड़े बेतहाशा भाग चले। क्यों कि आयर्स्ट की गाड़ी में उनकी मेम चिल्ला रही थी, अतएव किन्हीं ले. लुई ने उसकी पुकार सुनकर गाड़ी ठहराई और अंदर मुँह डालकर देखा तो ले. आयर्स्ट को मरा हुआ पाया। इसके बाद जब उसने रेण्ड साहब की गाड़ी को देखा तो उस में भी उन्हें बेहोश हालत में कराहते हुए पाया। अस्पताल में ले जानेपर उनका इलाज कराया गया। इसके बाद आसन्नमरण दशा में पहुँच जानेपर उनके बयान लिये गये, और अंत में ११ दिन कष्ट भोगकर वे इस संसार से चल बसे। उसी रात को गणेश खिंड की सड़क और अन्यान्य रास्तों की नाकेबन्दी की गई। दूसरे दिन सबेरे जांच करने पर हत्या काण्ड के स्थान से निकट सड़क के नीचे की एक मोरी में दो तलवारें, एक बोतल और एक फत्थर ये चार वस्तुएँ मिली। किन्तु इनसे उस हत्या के विषय में किसी ख़ास बात का पता नहीं लग सका। अतएव चारों ओर के चतुर गुप्तचर पूना बुलवाये गये, और उनका मुख्याधिकार ख्यातनामा डिटेक्टिव ब्रुइन साहब को सौंपा गया। इसी के साथ २ हत्याकारी को पकड़ने के लिए सरकारने बीस हजार का इनाम देने की भी घोषणा कर दी। किंतु पुलिस से पहले ही निकल्ले लोगों के तर्क-वितर्क शुरू हो गये। इधर अंगरेजी पत्रों ने यह कल्पना प्रकट की कि 'पूने में ब्राह्मणों की ओर से एक भयंकर विद्रोह होनेवाला था, संभव है कि वह अब भी हो। रेण्डसाहब की हत्या को हम उसी का श्रीगणेश कह सकते हैं'। यह हम नहीं कह सकते कि इस विद्रोह की कल्पना को सरकार ने सच माना या नहीं, किन्तु इस खून के लिए उसने पूना शहर को जबाबदार मानकर तत्काल ही अतिरिक्त पुलिस की अलबत्ता नियुक्ति कर दी। क्यों कि सरकार इस बात की प्रतीक्षा कर रही थी कि रेण्डसाहब की हत्या के विषय में पूना के नागरिकों की निषेध-सूचक सभा स्वयंस्फूर्ति से अवश्य होगी। किन्तु यह अनुमान मिथ्या सिद्ध होनेपर सरकार का क्रोध बे तरह बढ़ गया। अतएव इस क्रोध को पूनावालों पर मुँह दरमुँह प्रकट करके एक ओर से उनका निषेध, और दूसरी ओर से हत्याकारी का पता लगवा देनेके लिए सहायता की याचना करनेके निमित्त ता. २८ जून को तत्कालीन कलेक्टर मि. लम्ब ने म्युनिसीपल स्कूल टेक्निकल के मकान में प्रधान २ नागरिकों की एक सभा अपनी ही ओरसे की, और उस में उन्होंने सभासदों के सन्मुख यह निश्चित अनुमान प्रकट किया कि जिस प्रसंगपर यह हत्याकाण्ड हुआ है, वह अवश्य ही विद्रोह सूचित करता है। प्रथम तो इस

प्रकार की दुर्घटना होनों ही पूना शहर के लिए लांछनास्पद है, दूसरे यदि हत्याकारी का पता न लगे तो यह और भी बुरा है और उसका पता लगाने में सहायता न देना सबसे ज्यादा बुरा है। क्यों कि ऐसा होनेपर सरकार और भी तीव्र उपायों की योजना करेगी, और वह लोगों के एक भी बहाने की पर्वाह न करेगी। सिवाय इसके पूना शहर के समाचार पत्रों को, ख़ासकर केसरी और तिलक को लक्ष करके किंतु प्रगट में नामनिर्देश न करते हुए लँब साहब ने एक तरफ से सब पर राजद्रोह का आरोप लगा दिया। इस व्याख्यान में एक सप्ताह पूर्व शिवाजी उत्सव में हुए व्याख्यानों का भी उल्लेख होना स्वाभाविक ही था। और जो भी इस भाषण से यह ध्वनित नहीं होता था कि तिलक उस हत्याकारी का पता लगाने में सहायता दे, किंतु यह सूचना उस से अवश्य प्रकट होती थी कि वे (तिलक) राजनैतिक आन्दोलन के रूप में सारे पूना शहर में धधकते हुए अङ्गारे फैला रहे हैं, अतएव अन्य लोगों को कमर कस कर राजनिष्ठा के जलसे उन्हें बुझादेना चाहिये। लँब साहब ने अंत में यह धमकी भी दी कि हत्याकारी को तो सजा दी ही जायगी किन्तु इसी के साथ २ दूसरों को भी कष्ट भोगना पड़ेगा। इसके बाद इस हत्या के अभियोग का आरंभ होने से पूर्व, किंबहुना हत्याकारी का पता लगने से पूर्व ही सरकार ने तिलक की ही तरह और भी कुछ पत्र संपादकों को फँसाकर जुलाई के अंतमें उन पर अभियोग भी चला दिये।

किन्तु इस बात की आशंका उत्पन्न होजाने पर भी कि रेंडसाहब की हत्या से हमपर भी किसी प्रकार की आफत अवश्य आनेकी संभावना है, तिलक ने केसरी के अगले तीन चार अंकों में जो लेख लिखे उनमें नम्रता की झलक नाम को भी न थी। ता. ६ जुलाई के अंक में जुबिली पर कुछ कविताएँ प्रकाशित हुईं, उन में भी केसरी के ध्येयानुसार व्यक्तिगत रूप से महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा करते हुए भी नोकरशाही पर आलोचना की ही वर्षा हुई थी।

यथाः—धावादानी अमुचि कधिंही तूजला सेवकानीं।
मत्स्याज्ञागी कुशल कथिलें वृत्त जैसे बकानीं॥
नाहीं द्रव्य न वस्त्र नाहिं नशिबीं आरोग्य ते आमुच्या।
बाकी सर्व सुखें प्रजेस अमुच्या माथाभ्रमा राणीच्या॥

इन पंक्तियों में केसरी की पूर्वोक्त आलोचना का ही सार कह गया है। इसी अंक में अग्रलेख का शीर्षक "*क्या सरकार का दिमाग ठिकाने पर है?*" इस तरह प्रश्न वाची रख कर उसमें पूना पर नियुक्त की हुई अतिरिक्त पुलिस के विषय में ज़ोरदार आलोचना की गई थी। "जिस प्रकार किसी बड़े हाथी के उन्मत्त हो जाने पर वह सर्वत्र त्राहि त्राहि मचा देता है, लगभग वही दशा सर-

बार की गोली आयर्स्ट के सिर में आरपार निकल गई और प्राणान्त हो जाने के बाद वे अपनी स्त्री के शरीरपर लुढक पड़े। उस अँधेरी रात में इस प्रकार एकदम गोली बार होनेसे चौंककर गाड़ी के घोड़े बेतहाशा भाग चले। क्यों कि आयर्स्ट की गाड़ी में उनकी मेम चिल्ला रही थी, अतएव किन्ही ले. लुई ने उसकी पुकार सुनकर गाड़ी ठहराई और अंदर मुँह डालकर देखा तो ले. आयर्स्ट को मरा हुआ पाया। इसके बाद जब उसने रेण्ड साहब की गाड़ी को देखा तो उस में भी उन्हें बेहोश हालत में कराहते हुए पाया। अस्पताल में ले जानेपर उनका इलाज कराया गया। इसके बाद आसन्नमरण दशा में पहुँच जानेपर उनके बयान लिये गये, और अंत में ११ दिन कष्ट भोगकर वे इस संसार से चल बसे। उसी रात को गणेश खिंड की सड़क और अन्यान्य रास्तों की नाकेबन्दी की गई। दूसरे दिन सबेरे जांच करने पर हत्या काण्ड के स्थान से निकट सड़क के नीचे की एक मोरी में दो तलवारें, एक बोतल और एक पत्थर ये चार वस्तुएँ मिली। किन्तु इनसे उस हत्या के विषय में किसी ख़ास बात का पता नहीं लग सका। अतएव चारों ओर के चतुर गुप्तचर पूना बुलवाये गये, और उनका मुख्याधिकार ख्यातनामा डिटेक्टिव ब्रुइन साहब को सौंपा गया। इसी के साथ २ हत्याकारी को पकड़ने के लिए सरकारने बीस हजार का इनाम देने की भी घोषणा कर दी। किंतु पुलिस से पहले ही निकल्ले लोगों के तर्क-वितर्क शुरू हो गये। इधर अंगरेजी पत्रों ने यह कल्पना प्रकट की कि 'पूने में ब्राह्मणों की ओर से एक भयंकर विद्रोह होनेवाला था, संभव है कि वह अब भी हो। रेण्डसाहब की हत्या को हम उसी का श्रीगणेश कह सकते हैं'। यह हम नहीं कह सकते कि इस विद्रोह की कल्पना को सरकार ने सच माना या नहीं, किन्तु इस खून के लिए उसने पूना शहर को जबाबदार मानकर तत्काल ही अतिरिक्त पुलिस की अलबत्ता नियुक्ति कर दी। क्यों कि सरकार इस बात की प्रतीक्षा कर रही थी कि रेण्डसाहब की हत्या के विषय में पूना के नागरिकों की निषेध-सूचक सभा स्वयंस्फूर्ति से अवश्य होगी। किन्तु यह अनुमान मिथ्या सिद्ध होनेपर सरकार का क्रोध बे तरह बढ़ गया। अतएव इस क्रोध को पूनावालों पर मुँह दरमुँह प्रकट करके एक ओर से उनका निषेध, और दूसरी ओर से हत्याकारी का पता लगवा देनेके लिए सहायता की याचना करनेके निमित्त ता. २८ जून को तत्कालीन कलेक्टर मि. लम्ब ने म्युनिसीपल स्कूल टेक्निकल के मकान में प्रधान २ नागरिकों की एक सभा अपनी ही ओरसे की, और उस में उन्होंने सभासदों के सन्मुख यह निश्चित अनुमान प्रकट किया कि जिस प्रसंगपर यह हत्याकाण्ड हुआ है, वह अवश्य ही विद्रोह सूचित करता है। प्रथम तो इस

ई. रुस्तमजी होरमसजी को जब रोका गया तो उन्होंने दलील में कहा कि मैं तो इसी बम्बई का शेरिफ था, किन्तु शेरिफ को भी उस समय वहां कौन पूछने बैठा था!

ता. १६ जुलाई के अंक में यह कहकर केसरी ने सरकार के कान खोल दिये कि "राज करने का मतलब लोगों से घरबार छुड़ाने में नहीं है।" क्यों कि शहर के लोकमत को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस आन्दोलन का लोग भी समर्थन कर रहे थे। किन्तु दमन नीति का जो एक चक्र चल चुका था उसे कौन रोकने की हिम्मत करता? क्यों कि उसका एक एक पेंच अधिकाधिक ऐंठा जा रहा था। अतएव अतिरिक्त पुलिस का खर्च आठ-सवा लाख रुपया ठहरा कर उसकी पहिली किश्त के रूप में पूना म्युनिसिपालिटी से ४२००० रुपये मांगे भी गये। किन्तु जब कमेटी ने यह सूचित किया कि न तो मेरे पास इतना रुपया ही है, और न इतना खर्च लेने का अधिकार ही, तब सरकार ने ही कमेटी के नामपर इस रकम को लिखकर अपना खर्च चलाया। किन्तु धीरे २ म्युनिसिपालिटी ही सरकार के अधिकार में गई सो इसका भी नाश हो गई। ता. २० जुलाई के अंक में तिलक ने इस बात की चर्चा शुरू की कि "राजद्रोह किसे कहते हैं!" क्यों कि इसी अवसर में पार्लमेंट के किसी सदस्य ने स्टेट सेक्रेटरी से यह प्रश्न किया था कि "क्या तिलक के व्याख्यान राजद्रोहात्मक हैं"। इसपर उन्होंने यह उत्तर दिया कि "यह प्रश्न कानून से सम्बन्ध रखता है और इस विषय में अभीतक बम्बई सरकार अपना कोई मत निश्चित नहीं कर सकी है"। किन्तु इसका आशय प्रकट ही था। वह यह कि सरकार तिलक पर मामला चलाने की तैयारी में थी, इधर तिलक ने राजद्रोह के विषय में लेख लिखकर मानों आगे चलकर मुकद्दमें के समय डिफेन्स के लिए उसका उपयोग करने का निश्चय कर लिया था।

ता. २७ जुलाई के अंक की सामग्री सोमवार को तैयार करके मंगलवार को सवेरे तिलक बम्बई गये। इस यात्रा में उनका उद्देश्य यह था कि अभियोग के विषय में बंबई में किस तरह का आयोजन हो रहा है, इसका पता लगाया जाय। किन्तु इसीकी तरह और भी एक महत्वपूर्ण कारण इस यात्रा का था। वह यह कि रेंडसाहब की हत्या का समाचार तारद्वारा विलायत जाते ही वहां के पत्रों में तरह २ के लेख इस विषय में निकलने लगे थे। और डेली क्रॉनिकल ने तो अतिरिक्त पुलिस के विषय में यहांतक लिख मारा था कि सरकार का दिमाग ही ठिकाने नहीं है। लंदन टाइम्स ने यह अभिप्राय प्रकट किया कि इस हत्या के होने की बात पूनावालों को पहिले ही से ज्ञात थी, अतएव हत्या होने का संवाद

कार की भी हो रही है। जो खून की हत्याचारी को चढ़ना चाहिये था, वह अब सरकार को चढ़ रहा है, इसी लिए उसकी दृष्टि एकदम बदलसी गई है"। क्यों कि सरकार को विश्वास था कि रेण्ड साहब की हत्या करनेवाला ब्राह्मण है और इस घटना की जड़ में एक भयंकर षड्यंत्र गर्भित है। किंतु तिलक में आत्मविश्वास की मात्रा बढ़ी हुई थी, अतएव उन्हों ने आरंभ में ही इन दोनों बातों से स्पष्ट इनकार किया। इन में से अपराधी जो भी ब्राह्मण ही निकला, किंतु षड्यंत्र न होने की प्रतिज्ञा अंत तक सत्य ही सिद्ध हुई, और इसी से उनकी सजा में छह महिने कम कर दिये गये, जैसा कि आगे चलकर प्रकट होगा। हां तो केसरी ने इस विषय की आलोचना भी स्पष्ट और सरल शब्दों में कर दी कि कदाचित् हत्याकारी कोई ब्राह्मण ही सिद्ध हो तो भी उसे पकड़वाने के लिए बीस हजार रुपये का इनामरूपी प्रलोभन कम नहीं कहा जा सकता। किंतु फिर भी शहर पर अतिरिक्त पुलिस की नियुक्ति और उसके द्वारा अन्याय कराने की कुछ भी आवश्यकता नहीं, क्यों कि केवल इसी से अपराधी का पता लग सकता हो सो बात नहीं है। जिस प्रकार शरीर पर गोमाशी के बैठने से घुड़ साल में बँधा हुआ घोड़ा उछल-कूद मचाने लगता है, उसके साथ तथा गोल्डस्मिथ के प्रहसन के पात्र क्रोकर अथवा बोंवल्या की उपमा से भी उन्हों ने सरकार की तुलना की थी। किंतु भेड़िया आया, भेड़िया आया की पुकार मचानेवाले एँग्लो इंडियन पत्रों को सचमुच ही इस समय भेडिये का सामना करना पड़ा। इस तरह होने में भी उन्होंने अच्छा ही समझा और उधर दुसरी ओर ठीक जुबिली के ही दिन पेशावर में एक ग़ाज़ीने भी दिन दहाड़े एक यूरोपियन को गोली से मार डाला। इधर उसी मौक़ेपर थाने में एक डाके के मामले में गंगाराम नामक व्यक्ति के पास कुछ पुराने शस्त्रास्त्र मिले; और उसने अपने बयान में लिखाया कि माथेरान (ग्रीष्मकाल में रहने के लिए पहाड़ी बस्ती) पर हमला करके वहां के समस्त युरोपियनों को मार डालने का हमने निश्चय कर लिया था। किंतु ज्यूरी ने उसे पागल बतलाकर छोड़ दिया। फिर भी राजद्रोही षड्यंत्र के संशय का जो गोबर जमीनपर गिरा था, वह बिना थोड़ीसी मिट्टी उठाये कैसे रहता।

हाँ तो लँम्ब साहब के इस कठोर व्याख्यान के बाद रेण्ड साहब के हत्याकाण्ड का निषेध करने के लिए हीराबाग में डा. भाण्डारकर की अध्यक्षता में एक सभा हुई। किन्तु लँम्ब साहब की उतावली टीका-टिप्पणी से इस सभा का ज़ोरा पहले ही निकलसा गया था। अस्तु, रेण्डसाहब की श्मशानयात्रा में युरोपियनों के साथ २ कुछ हिन्दुस्तानी भी स्वेच्छापूर्वक गये थे किंतु श्मशान-भूमि के द्वारपर ही डॉ. भाण्डारकर सहित सब भारतीयों को रोक दिया गया।

डॉ. कावसजी होरमसजी को जब रोका गया तो उन्होंने दर्वान से कहा कि मैं तो कभी बम्बई का शेरिफ था, किन्तु शेरिफ को भी उस समय वहां कौन पूछने बैठा था ?

ता. १३ जुलाई के अंक में यह कहकर केसरी ने सरकार के कान खोल दिये कि " राज्य करने का मतलब लोगों से बदला चुकाने से नहीं है । " क्यों कि दो सप्ताह के लोकमत को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस आलोचना का लोग भी समर्थन कर रहे थे। किंतु दमन नीति का जो चक्र चल चुका था उसे कौन रोकने की हिम्मत करता ? क्यों कि उसका एक एक घेरा अधिकाधिक होता जा रहा था। अतएव अतिरिक्त पुलिस का खर्च लाख-सवालाख रुपया कूता जाकर उसकी पहिली किश्त के रूप में पूना म्युनिसीपालिटी से ४२००० रुपये मांगे भी गये। किंतु जब कमेटी ने यह सूचित किया कि न तो मेरे पास इतना रुपया ही है, और न इतना ऋण लेने का अधिकार ही, तब सरकार ने ही कमेटी के नामपर इन रकम को लिखकर अपना खर्च चलाया। किंतु धीरे २ म्युनिसीपालिटी ही सरकार के अधिकार में गई सी दशा को प्राप्त हो गई। ता. २० जुलाई के अंक में तिलक ने इस बात की चर्चा शुरू की कि " राजद्रोह किसे कहते हैं ! " क्यों कि इसी अवसर में पार्लमेंट के किसी सदस्य ने स्टेट सेक्रेटरी से यह प्रश्न किया था कि " क्या तिलक के व्याख्यान राजद्रोहात्मक हैं " । इसपर उन्होंने यह उत्तर दिया कि " यह प्रश्न कानून से सम्बन्ध रखता है और इस विषय में अभीतक बम्बई सरकार अपना कोई मत निश्चित नहीं कर सकी है" । किन्तु इसका आशय प्रकट ही था। वह यह कि सरकार तिलक पर मामला चलाने की तैयारी में थी, इधर तिलक ने राजद्रोह के विषय में लेख लिखकर मानों आगे चलकर मुकद्दमे के समय डिफेन्स के लिए उसका उपयोग करने का निश्चय कर लिया था।

ता. २७ जुलाई के अंक की सामग्री सोमवार को तैयार करके मंगलवार को सवेरे तिलक बम्बई गये। इस यात्रा में उनका उद्देश्य यह था कि अभियोग के विषय में बंबई में किस तरह का आयोजन हो रहा है, इसका पता लगाया जाय। किंतु इसीकी तरह और भी एक महत्त्वपूर्ण कारण इस यात्रा का था। वह यह कि रेंडसाहब की हत्या का समाचार तारद्वारा विलायत जाते ही वहां के पत्रों में तरह २ के लेख इस विषय में निकलने लगे थे। और डेली क्रॉनिकल ने तो अतिरिक्त पुलिस के विषय में यहांतक लिख मारा था कि सरकार का दिमाग ही ठिकाने नहीं है। लंदन टाइम्स ने यह अभिप्राय प्रकट किया कि इस होने की बात पूनावालों को पहिले ही से ज्ञात थी, अतएव हत्या होने

पाते ही लोगों के मुखपर आनंद की लालिमा दिखाई देने लगी ! कोई कहता था कि देशी समाचार पत्र इस के लिए जवाबदार है, तो किसी की राय में धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप किये जाने का ही यह सब परिणाम था। कोई इस घटना पर से फिर सन १८५७ के विद्रोह का स्वप्न देखने लगा था तो कोई एक तरफ से सभी ब्राह्मणों को फाँसी पर चढ़ा देने की सलाह देता था। दूसरी ओर खरी बातें सुनानेवाले पत्र स्पष्ट शब्दों में कह रहे थे कि पहले तो सोल्जरों को छुट्टा छोड़कर लोगों के घरद्वार भ्रष्ट कर दिये, फिर अब क्यों रोते हो ? यही ग़नीमत समझो कि इस तरह की हत्याएँ अबसे पहिले नहीं हुईं। क्राफर्ड साहब ने पूना के ब्राह्मणों पर शस्त्र उठाया और भावनगरी राष्ट्रीय सभा को दोषी सिद्ध करने लगे। उन दिनों प्रो. गोपालराव गोखले विलायत में ही थे, अतएव मांचेस्टर गार्डियन के प्रतिनिधि ने उनसे भेट करके कुछ प्रश्न भी किये। जिनके उत्तर में गोखले ने यह कहा कि, प्लेग कमेटी की ओरसे हद दर्जे का अन्याय किये जानेपर ही संभवतः यह हत्या हुई है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि सोल्जर और प्लेग के अधि कारी स्त्रियों को सड़क पर खड़ा करके उनकी जांच करते थे, इसी प्रकार दो ए स्त्रियों के साथ अत्याचार भी हुआ, जिनमें से कि एकने प्राणतक दे डाला !

जैसेही गोखले की इस मुलाक़ात का हाल छपा कि विलायत में सारे रहस् का भण्डा फोड़ हो गया और पार्लमेंट में प्रश्नों की भरमार होने लगी। लंदन स बम्बई और बम्बई से लन्दन के बीच सरकारी तार मिनिट २ पर दौड़ने लगे अंतमें बम्बई सरकार के विश्वास पर स्टेट सेक्रेटरी ने यह बात प्रकट की कि गोखले के सारे आक्षेप मिथ्या है। दुर्भाग्यवश गोखले के आक्षेपों में कुछ अतिशयोक्ति थी। क्यों कि उन्होंने पूना से भेजे गये कितने ही प्रतिष्ठित एवं विद्वान मित्रों के पत्र पर से ही इस तरह की बातें उस भेट में प्रकट की थीं। किंतु इसमें एक ओर जहां निराधार संवाद भेजनेवाला दोषी था, वहीं उन्हें प्रकट करनेवाले ने भी कम भूल नहीं की। बिचारे गोखले को क्या पता था कि ऐन वक्तपर मेरे संवाददाता धोखा दे जायँगे। किंतु कोल्हापुर प्रकरण में जिस बात का अनुभव तिलक को करना पड़ा था, वही इस बार गोखले के अनुभव में भी आई। फलतः जिस प्रकार तिलक और आगरकर को क्षमा प्रार्थना करनी पड़ी, उसी प्रकार इस विषय में गोखले को भी क्षमा मांगनी पड़ी। विलायत से लिखकर पूछा जाते ही पूना के कलेक्टर लँब साहेब ने गोखले के मित्रों एवं पूना के अन्य प्रतिष्ठित सज्जनों को पत्र लिखकर पूछा कि गोखले की कही हुई बातें सच हैं या झूठ ! किंतु जिन्होंने गोखले के पास निराधार ख़बरें भेजकर धोखा दिया था, उन्होंने लँब साहब के सामने यह तक प्रकट न किया कि ' हमारी सुनी हुई बातें इस प्रकार

है"। किंतु इधर जिस प्रकार गोखले ने अतिशयोक्ति की थी, उसी प्रकार खुद सरकार ने भी इसी उक्तिका प्रयोग करते हुए यह प्रकट कर दिया कि प्लेग के जमाने में स्त्रियों पर अत्याचार तो क्या किंतु किसी प्रकार का अन्याय तक नहीं हुआ! अर्थात् कम से कम इस विषय में तो सरकार को मिथ्यावादी सिद्ध कर सकने की तिलक को दृढ़ आशा हो गई थी, इसी लिए केसरी ने स्पष्ट शब्दों में लिख दिया कि "अंत में सरकार की ही फजीहत होगी, यह उसे अच्छी तरह याद रखना चाहिये"। ता. २० जुलाई के अंक में तिलक ने सूचना प्रकाशित की थी कि प्लेग-विषयक जिस किसी को कुछ शिकायत करनी हो उन्हें अपने कथन की पुष्टि के लिए सप्रमाण हमें सूचित करना चाहिये। इस सूचना के निकलने बाद सप्ताह भर में ही जितनी शिकायतें दफ्तर में पहुँची उन्हीं को लेकर, तथा सोल्जरों के अत्याचार के जितने भी प्रमाण मिल सके उनका संग्रह कर बम्बई के चेम्पियन आदि पत्रों में छपाने और उनके द्वारा भंडा फोड़ कर देने का ही इरादा इस बार तिलक के बम्बई जानेका मूल कारण था। और यदि उनपर अभियोग न चलाया जाता तो गोखले के किये हुए आक्षेप के विषय में उनके मित्र जिन बातों का समर्थन नहीं कर सके, उन्ही का तिलक द्वारा पुष्टीकरण किया जाने का लोग अनुभव करते।

किन्तु जिस घड़ी बम्बई में तिलक का यह उद्योग शुरू हुआ उसी समय दूसरी ओर सरकार भी तिलक पर अभियोग चलाने का आयोजन करने लगी। इसी को योगायोग कहते हैं। ता. २७ जुलाई को सरकारी सॉलिसीटर निकलसन ने ओरियँटल ट्रान्सलेटर का दस्तख़ती दावा दफा १२४ अ के मुताबिक बम्बई के चीफ् प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट मि. स्लेटर के सामने पेश किया, और गिरफ़्तारी एवं तलाशी के वारंट हस्तगत कर लिये। गिरफ्तारी का वारंट तिलक, आर्यभूषण प्रेस के मैनेजर बाल और प्रेस के स्वामी हरी नारायण गोखले इन तीन व्यक्तियों के नाम का था। इनमें से तिलक तो बम्बई में मौजूद ही थे। किन्तु वारंट की ख़बर जाहिर नहीं होने दी गई थी और इस बात का पता रहते हुए भी कि तिलक बम्बई में मौजूद हैं, रात के दस बजे तक उनपर वारंट की तामील नहीं की गई थी। उस दिन नित्यक्रम के अनुसार तिलक अपने मित्र दाजी आबाजी खरे हाईकोर्ट वकील के यहां गिरगाँव की आंग्रेवाड़ी में उतरे थे। फलतः रात को भोजनादि से निवृत्त होकर जैसे ही दोनों मित्र बाहर आकर बैठे कि उसी क्षण एक युरोपियन पुलिस अधिकारी ने आकर तिलक को वारंट दिखलाया। क्षणभर में ही सब बातें उनके ध्यान में आ गईं। तत्काल उन्होंने नौकर को बुलाकर अपना बिस्तर बांध देनेके लिए कहा, और खरे से यह कह कर कि आप माजिस्ट्रेट से

पाते ही लोगों के मुखपर आनंद की लालिमा दिखाई देने लगी ! कोई कहता था कि देशी समाचार पत्र इस के लिए जवाबदार है, तो किसी की राय में धार्मिक विषयों में हस्तक्षेप किये जाने का ही यह सब परिणाम था। कोई इस घटना पर से फिर सन १८५७ के विद्रोह का स्वप्न देखने लगा था तो कोई एक तरफ से सभी ब्राह्मणों को फाँसी पर चढ़ा देने की सलाह देता था। दूसरी ओर खरी बातें सुनानेवाले पत्र स्पष्ट शब्दों में कह रहे थे कि पहले तो सोल्जरों को छुट्टा छोड़कर लोगों के घरद्वार भ्रष्ट कर दिये, फिर अब क्यों रोते हो ? यही ग़नीमत समझो कि इस तरह की हत्याएँ अबसे पहिले नहीं हुई। क्राफर्ड साहब ने पूना के ब्राह्मणों पर शस्त्र उठाया और भावनगरी राष्ट्रीय सभा को दोषी सिद्ध करने लगे। उन दिनों प्रो. गोपालराव गोखले विलायत में ही थे, अतएव मांचेस्टर गार्डियन के प्रतिनिधि ने उनसे भेंट करके कुछ प्रश्न भी किये। जिनके उत्तर में गोखले ने यह कहा कि, प्लेग कमेटी की ओरसे हद दर्जे का अन्याय किये जानेपर ही संभवतः यह हत्या हुई है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि सोल्जर और प्लेग के अधिकारी स्त्रियों को सड़क पर खड़ा करके उनकी जांच करते थे, इसी प्रकार दो एक स्त्रियों के साथ अत्याचार भी हुआ, जिनमें से कि एकने प्राणतक दे डाला !

जैसेही गोखले की इस मुलाक़ात का हाल छपा कि विलायत में सारे रहस्य का भण्डा फोड़ हो गया और पार्लमेंट में प्रश्नों की भरमार होने लगी। लंदन से बम्बई और बम्बई से लन्दन के बीच सरकारी तार मिनिट २ पर दौड़ने लगे। अंतमें बम्बई सरकार के विश्वास पर स्टेट सेक्रेटरी ने यह बात प्रकट की कि गोखले के सारे आक्षेप मिथ्या है। दुर्भाग्यवश गोखले के आक्षेपों में कुछ अतिशयोक्ति थी। क्यों कि उन्होंने पूना से भेजे गये कितने ही प्रतिष्ठित एवं विद्वान मित्रों के पत्र पर से ही इस तरह की बातें उस भेंट में प्रकट की थीं। किंतु इसमें एक ओर जहां निराधार संवाद भेजनेवाला दोषी था, वहीं उन्हें प्रकट करनेवाले ने भी कम भूल नहीं की। बिचारे गोखले को क्या पता था कि ऐन वक़्तपर मेरे संवाददाता धोखा दे जायँगे। किंतु कोल्हापुर प्रकरण में जिस बात का अनुभव तिलक को करना पड़ा था, वही इस बार गोखले के अनुभव में भी आई। फलतः जिस प्रकार तिलक और आगरकर को क्षमा प्रार्थना करनी पड़ी, उसी प्रकार इस विषय में गोखले को भी क्षमा मांगनी पड़ी। विलायत से लिखकर पूछा जाते ही पूना के कलेक्टर लँब साहेब ने गोखले के मित्रों एवं पूना के अन्य प्रतिष्ठित सज्जनों को पत्र लिखकर पूछा कि गोखले की कही हुई बातें सच हैं या झूठ ! किंतु जिन्होंने गोखले के पास निराधार ख़बरें भेजकर धोखा दिया था, उन्होंने लँब साहब के सामने यह तक प्रकट न किया कि ' हमारी सुनी हुई बातें इस प्रकार

मामला फिर अदालत में पेश हुआ। इस दिन केसरी के संपादक, प्रकाशक और मुद्रक एवं प्रचारक के विषय में पूछताछ की जानेपर तिलक ने एकदम ही उत्तर दे डाला कि ये सब बातें मुझसे पहले ही क्यों न पूछी ली गईं ? केसरी का संचालक, सम्पादक और स्वामी सब कुछ मैं ही हूं। सारे लेखों की जवाबदारी मुझ ही पर है इत्यादि। इसके बाद बाल महाशय ने कहा कि मैं केवल प्रेस का कार्यकर्ता हूं, और मुझपर इस की कुछ भी जिम्मेदारी नहीं है। इस तरह से तांत्रिक चौकसी हो जाने के बाद दोनों सेशन कमिट कर दिये गये। तलाशी के वारंट पर से केसरी और मराठा पत्र के ग्राहकों की सूची आदि सभी कागजपत्र पुलिस ने जब्त कर लिये थे। उन्हें वापस दिलवाने के लिए प्रथमतः बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ, और जब बेरिस्टर दावर ने अदालत को स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'केसरी पर अभियोग चलाया जानेसे पत्र का प्रकाशन बंद नहीं हो सकता, अतएव यदि उसके काम चलाऊ कागजपत्र व्यवस्थापक को वापस नहीं दिये गये तो लोग सरकार पर जुनसीपन का आरोप लगावेंगे इस लिए उसे सावधान हो जाना चाहिये। इतनी फटकार पड़ने पर तत्काल ही वे सब कागजपत्र तिलक के सॉलिसीटर को दे दिये गये।

किन्तु इधर तिलक पर अभियोग चलता रहने की ही दशा में दूसरी ओर भी अन्य लोगों की गिरफ्तारी शुरू हो रही थी, अर्थात् तिलक की गिरफ्तारी से दूसरे ही दिन सवेरे दिन निकलने से पूर्व पूना के पुलिस सुप्रेन्टेन्डेन्ट मि. केनेडी ने चालीस-पचास पुलिस-सिपायों की पार्टी के साथ जाकर श्रीमंत बालासाहब और तात्यासाहब नातू (विंचुरी पांती) का घर घेर लिया, और सन १८२७ के रेगुलेशन नं. २५ के अनुसार बंबई सरकार के जारी किए हुए वारंट की तामील कर दोनों को गिरफ्दार कर लिया। इस मकान के ही साथ १ बगीचेवाली तात्या साहब की खुद दौड़ सम्बन्धी इमारत की भी तलाशी ली जाकर कुछ शस्त्रास्त्र जब्त किये गये। दोनों महाशय उसी समय बंबई जानेवाली ट्रेन में सवार किये गये। इनमें से तात्या साहब को थाना स्टेशनपर उतारकर वहांकी जेल में रवाना कर दिया, और बाला साहब को साबरमती (अहमदाबाद) की जेल में रखा गया। किन्तु जिस रेगुलेशन के अनुसार ये दोनों महानुभाव गिरफदार किये गये थे, वह इतना पुराना और अप्रयुक्त था कि कानूनदां लोग तो एक प्रकार से उसे भूल ही गये थे। इस कानून की विशेषता यह थी कि यदि किसी मनुष्य पर सरकार नाराज़ हो जाय और खुली अदालत में उस पर मामला चलाकर, फैसला देनेकी उस की इच्छा न हो तो भी वह इस के अनुसार. उसे गिरफ्दार कर उसकी जमीन-जायदाद भी जब्त कर सकती है, और उसीमें से उसे खानेको भी दे सकती

पूछ देखिये कि वह जमानत लेने को तैयार है या नहीं;–वे सार्जेंट के साथ बाहर आकर गाड़ी में बैठ गये। तत्काल ही गाड़ी पुलिस कमिश्नर के ऑफिस की ओर फोर्ट के रास्तेपर दौड़ चली। वहां पहुँचते ही दूसरी मंजिल के एक सुरक्षित कमरे में तिलक को छोड़कर दर्वाज़े पर ताला लगा दिया गया। इधर दाजी साहब मि. स्लेटर के पास गये, किंतु पूर्व अनुमान के अनुसार उन्होंने जमानत लेने से इन्कार कर दिया। निराश होकर रात के साढ़े ग्यारह बजे जब खरेजी पुलिस के दफ़्तर में आये और तिलक के कमरे का दर्वाज़ा खटखटाने लगे, उस समय तिलक स्वस्थता पूर्वक सोये हुए खर्राटे ले रहे थे। क्यों कि तिलक को जमानत पर छूटने की आशा थी ही नहीं; अतएव उन्होंने अपने मित्र दाजी साहब को यह कहकर विदा कर दिया कि, आगे के लिए जो उचित जान पड़े सो करना।

आर्यभूषण प्रेस के मालिक हरी नारायण गोखले पूने में नहीं थे, क्यों कि वे कोंकण प्रान्त में गये हुए थे। फलतः मुरुड़ से लौटते समय केलशी ग्राम में धोंडोपंत विद्वांस के यहां उन्हें तिलक की गिरफ़्तारी और उनपर चलाये गये मुकद्में का तार से आया हुआ समाचार ज्ञात हुआ। तत्काल ही ये दोनों महाशय स्टीमर का रास्ता बंद होनेसे पैदल ही बम्बई जाने के लिए निकल पड़े। इस कारण गोखले का वारंट हवा खाता ही रह गया। इधर बुधवार को सवेरे पूने में गिरफ्तारी और तलाशी हुई। अर्थात् आर्यभूषण प्रेस के मैनेजर केशवराव बाल को पकड़कर पुलिसवालों ने केसरीसम्बन्धी कितने ही काग़ज़पत्र जब्त किये, और उन्हें बम्बई भेज दिया। उसी दिन (ता. २८ जुलाई को) स्लेटर साहब के सामने कच्ची जांच शुरू हो गई। अदालत के बाहर लगभग दो तीन हजार मनुष्य खड़े हुए थे। तिलक की ओर से बेरिस्टर रसल और केशवराव तथा खरे और माधवराव बोड़स ये दो वकील पैरवी कर रहे थे। यद्यपि अर्ज़ी केवल जमानत ही के लिए पेश की गई थी किन्तु वह भी मंजूर नहीं हुई। फलतः गुरुवार ता. २९ जुलाई को स्लेटर साहब के निर्णय के विरुद्ध खरे और सेटलवाड ने जमानतसंबन्धी अपील हाई कोर्ट में पेश की। उस समय न्यायमूर्ति पार्सन्स और रानड़े की जोड़ी न्यायासनपर विराजमान थी। इन्होंने भी यही निर्णय प्रकट किया कि दो ही दिन पश्चात् पुलिस कोर्ट में तिलक पर मामला चलाया जानेवाला है, अतएव वे जमानत पर नहीं छोड़े जा सकते। यदि अधिक विलंब हुआ तो इसपर विचार किया जायगा। ता. ३१ जुलाई को फिर स्लेटर साहब के सन्मुख कच्ची जांच की शुरूआत हुई और मुख्यतः केशवराव बाल के विषय में सुबूत पेश किया गया। इस दिन बे. रसल के बदले दिनशा दावर (भूतपूर्व न्यायाध्यक्ष) पैरवी के लिए खड़े किये गये थे। सोमवार ता. २ अगस्त को

मामला फिर अदालत में पेश हुआ। इस दिन केसरी के संपादक, प्रकाशक और मुद्रक एवं प्रचारक के विषय में पूछताछ की जानेपर तिलक ने एकदम ही उत्तर दे डाला कि ये सब बातें मुझसे पहले ही क्यों न पूछी गईं? केसरी का संचालक, सम्पादक और स्वामी सब कुछ मैं ही हूं। सारे लेखों की जवाबदारी मुझ ही पर है इत्यादि। इसके बाद बाल महाशय ने कहा कि मैं केवल प्रेस का कार्यकर्ता हूं, और मुझपर इस की कुछ भी जिम्मेदारी नहीं है। इस तरह से तांत्रिक चौकसी हो जाने के बाद दोनों सेशन कमिट कर दिये गये। तलाशी के वारंट पर से केसरी और मराठा पत्र के ग्राहकों की सूची आदि सभी कागजपत्र पुलिस ने जब्त कर लिये थे। उन्हें वापस दिलवाने के लिए प्रथमतः बहुत कुछ वाद-विवाद हुआ, और जब बेरिस्टर दावर ने अदालत को स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'केसरी पर अभियोग चलाया जानेसे पत्र का प्रकाशन बंद नहीं हो सकता, अतएव यदि उसके काम चलाऊ कागजपत्र व्यवस्थापक को वापस नहीं दिये गये तो लोग सरकार पर खुनसीपन का आरोप लगावेंगे इस लिए उसें सावधान हो जाना चाहिये। इतनी फटकार पड़ने पर तत्काल ही वे सब कागजपत्र तिलक के सॉलिसीटर को दे दिये गये।

किन्तु इधर तिलक पर अभियोग चलता रहने की ही दशा में दूसरी ओर भी अन्य लोगों की गिरफदारी शुरू हो रही थी, अर्थात् तिलक की गिरफदारी से दूसरे ही दिन सवेरे दिन निकलने से पूर्व पूना के पुलिस सुप्रेन्टेन्डेन्ट मि. केनेडी ने चालीस-पचास पुलिस-सिपायों की पार्टी के साथ जाकर श्रीमंत बालासाहब और तात्यासाहब नातू (बिचली पांती) का घर घेर लिया, और सन १८२७ के रेगुलेशन नं. २५ के अनुसार बंबई सरकार के जारी किये हुए वारंट की तामील कर दोनों को गिरफदार कर लिया। इस मकान के ही साथ २ बगीचेवाली तात्या साहब की घुड़ दौड़ सम्बन्धी इमारत की भी तलाशी ली जाकर कुछ शस्त्रास्त्र जब्त किये गये। दोनो महाशय उसी समय बंबई जानेवाली ट्रेन में सवार किये गये। इनमें से तात्या साहब को थाना स्टेशनपर उतारकर वहांकी जेल में रवाना कर दिया, और बाला साहब को साबरमती (अहमदाबाद) की जेल में रखा गया। किन्तु जिस रेगुलेशन के अनुसार ये दोनों महानुभाव गिरफदार किये गये थे, वह इतना पुराना और अप्रयुक्त था कि कानूनदां लोग तो एक प्रकार से उसे भूल ही गये थे। इस कानून की विशेषता यह थी कि यदि किसी मनुष्य पर सरकार नाराज हो जाय और खुली अदालत में उस पर मामला चलाकर फैसला देनेकी उस की इच्छा न हो तो भी वह इस के अनुसार उसे गिरफदार कर उसकी जमीन-जायदाद भी जब्त कर सकती है, और उसीमें से उसे खानेको भी दे सकती

५। इस तरह यद्यपि नातू को जेल भेजने पर उनके विषय में सरकार के लिए कुछ भी कार्यवाही करनेकी आवश्यकता नहीं रही थी। किंतु फिर भी जबतक वे जेल में रहे, तबतक उनकी जेलयात्रा के विषय में तिलक से भी कई अंश में अधिक चर्चा यहां और विलायत में हुई। क्यों कि पंच का दिया हुआ निर्णय न्यायालय का अंतिम फैसला समझ कर उस के विरुद्ध टीका-टिप्पणी न करना एक प्रकार का शिष्टाचार माना जाता है। अतएव तिलक के अभियोग की अपील हो जानेके बाद किसीने चूंतक नहीं किया। अलबत्ता फिर जो कुछ कोशिश हुई वह उनके छुटकारे के लिए ही हुई। किन्तु जिस प्रकार ज्यूरी के निर्णय के विरुद्ध बोलना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता है उसी प्रकार किसी के विषय में प्रकट रूप से न्याय न करते हुए उसे जेल में ठूंस देना भी शिष्टाचार के विरुद्ध होने से जनता की निंदक जिव्हा और लेखनी उठते-बैठते कटार की तरह सरकार के शरीर में घुसकर जख्म कर रही थी। इधर नातू भाइयों ने भी इस विषय की अर्जियों का पुल सा बांध दिया था कि "या तो हमें छोडिये; या फिर खुली अदालत में हमपर अभियोग चलाइये"। सरकार की अवकृपा से अपराधी लोगों को सामयिक ज्वर की तरह अपनी मुद्दत पूरी करनी ही पड़ती है; किन्तु फिर भी एक प्रकार से झेंपते हुए अंत में सरकार को इन नातू-बान्धवों को छोड़ ही देना पड़ा। इस विषय की ख़ास २ बातें आंगे चलकर लिखी ही जावेंगी। सिवाय इसके मोदवृत्त, पूनावैभव और प्रतोद आदि समाचार पत्रोंपर इस अवसर में जो अभियोग चलाये गये थे, उनका भी वर्णन इस प्रकरण में दे दिया गया है।

हाँ; तो सोमवार ता. २ अगस्त के दिन तिलक का अभियोग सेशन कमिट हो जानेपर फौरन् ही ता. ४ अगस्त को हाई कोर्ट में न्यायमूर्ति बद्रुद्दीन तयबजी के सामने बेरिस्टर दावर ने तिलक को जमानत पर छोड़ देने के लिए अर्ज़ी पेश की। बे. दावर की ख़ास शिकायत यह थी कि जेल में रखनेसे तिलक के लिए डिफेन्स तयार करनेमें कठिनाई होगी। क्यों कि लेखों के खुलासे, सुबूत के काग़ज़ात, ग्रंथों के आधार आदि बतलानेमें बिना तिलक की सहायता के काम चल ही नहीं सकता। जब कि जेल में केवल आना जाना कठिन हो जाता है तो फिर अधिक देर तक बातचीत हो ही कैसे सकेगी? सिवाय इसके सेशन शुरू होने में भी अभी महिने भर की देर है। क्यों कि इसी प्रकार कुछ समय पूर्व कलकत्ते के 'बंगवासी' पत्रपर जब मुक़द्दमा चलाया गया तब भी उसके संपादक के जमानत पर छोड़े जानेका उदाहरण मौजूद है, अतएव तिलक भी जमानत पर छोड़ दिये जाने चाहिये। इत्यादि। किन्तु बे. दावर को अधिक देर तक भाषण

न करने देकर एकदम न्यायमूर्ति ने पूछा कि "तुम कितनी जमानत देनेको तैयार हो?" इसके उत्तर में दावर ने भी उसी ढंग से कहा कि "जितनी भी आप चाहे, हम देने को तैयार हैं"। एडवोकेट जनरल ने बीच में साधारण सी बाधा उपस्थित की, किंतु न्यायमूर्ति ने उस की पर्वाह नहीं की। और पच्चीस हजार की दो जमानतें एवं पचास हजार का तिलक का जातमुचलका लेकर उन्हें छोड़ देनेके लिए हाईकोर्ट ने हुक्म दे दिया। ज्ञात होता है कि न्यायाधीश ने इस राजद्रोह के अपराध की महत्ता का विचार करते हुए भी इसे खूनी अपराध की तरह भयंकर नहीं समझा, इधर क्यों कि अपराधी भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो कि वचनबद्ध होने पर अदालत में हाज़िर न होता, फलतः इसी सरल न्याय के अनुकूल विचारसरणी को अंगिकार करके तिलक को छोड़ देनेकी आज्ञा दे दी थी। किंतु आगे चलकर ज्ञात हुआ कि सरकार को उनकी यह बात बिलकुल न भाई; और लोगों ने उसे दिल से पसंद किया। क्यों कि फैसला देकर न्यायाध्यक्ष के अपने आसन से उठते ही अदालत में खड़ी हुई जनता ने ताली की कड़कड़ाहट के रूप में उनको धन्यवाद दिया; और उसकी विशेष पूर्ति बाहर खड़े हुए चार पांच हजार व्यक्तियों ने कर दी। इस तरह जमानत देने पर ता. ४ अगस्त की रात को तिलक हवालात से छोड़ दिये गये।

किन्तु जिस ठसकसे बे. दावर ने मुँह मांगी जमानत देनेकी बात प्रकट की उसीके अनुसार बंगवासी के संपादक से इसी तरह के मामले में ली गई जमानत से दसगुनी रकम की जमानत पर तिलक छोड़े गये थे। किन्तु इस कार्य में बेरिस्टर के मुँह से साहसपूर्ण शब्द निकलनेके पूर्व जमानतदार बननेके लिए उतने ही साहसी मनुष्य के खड़े होनेकी आवश्यकता थी। फलतः उसके तैयार होजाने पर ही बे. दावर के मुँह से ऐसे साहसपूर्ण शब्द निकल सके। जमानतदार बननेवाले यशवंत विष्णु उर्फ अप्पासाहब नेने और सेठ द्वारकादास धरमसी ये दो महाशय थे। इन दोनों में से प्रत्येक ने २५००० रुपये के प्रामिसरी नोट न्यायमूर्ति का हुक्म होते ही अदालत में जाकर दाखिल कर दिये। जब कि तिलक को जमानत पर छोड़ देना खुद न्यायाध्यक्ष के लिए कठिन हो गया था तो फिर जमानतदार बननेवाले को यह काम कितना दुष्कर प्रतीत हुआ होगा, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। अधिक क्या कहा जाय, किन्तु इससे पहले जब न्या. रानडे के सामने जमानत के लिए अर्जी पेश की गई तब उन्होंने उसे मंजूर नहीं किया, और बदुद्दीन तयबजी ने उसे मंजूर कर लिया, इसी परसे लोगों ने अपने २ अनुमान लगाकर रानडे और तैयबजी के धैर्य्य की तुलना कर डाली। बम्बई के मुसलमान तो यह कहने लगे कि "देखा! तिलक के जातभाई ब्राह्मण

६। इस तरह यद्यपि नातू को जेल भेजने पर उनके विषय में सरकार के लिए कुछ भी कार्यवाही करनेकी आवश्यकता नहीं रही थी। किंतु फिर भी जबतक वे जेल में रहे, तबतक उनकी जेलयात्रा के विषय में तिलक से भी कई अंश में अधिक चर्चा यहां और विलायत में हुई। क्यों कि पंच का दिया हुआ निर्णय न्यायालय का अँतिम फैसला समझ कर उस के विरुद्ध टीका-टिप्पणी न करना एक प्रकार का शिष्टाचार माना जाता है। अतएव तिलक के अभियोग की अपील हो जानेके बाद किसीने चूंतक नहीं किया। अलबत्ता फिर जो कुछ कोशिश हुई वह उनके छुटकारे के लिए ही हुई। किन्तु जिस प्रकार ज्यूरी के निर्णय के विरुद्ध बोलना शिष्टाचार के विरुद्ध समझा जाता है उसी प्रकार किसी के विषय में प्रकट रूप से न्याय न करते हुए उसे जेल में ठूंस देना भी शिष्टाचार के विरुद्ध होने से जनता की निंदक जिव्हा और लेखनी उठते-बैठते कटार की तरह सरकार के शरीर में घुसकर जख्म कर रही थी। इधर नातू भाइयों ने भी इस विषय की अर्जियों का पुल सा बांध दिया था कि "या तो हमें छोडिये; या फिर खुली अदालत में हमपर अभियोग चलाइये"। सरकार की अवकृपा से अपराधी लोगों को सामयिक ज्वर की तरह अपनी मुद्दत पूरी करनी ही पड़ती है; किन्तु फिर भी एक प्रकार से झेंपते हुए अंत में सरकार को इन नातू-बान्धवों को छोड़ ही देना पड़ा। इस विषय की ख़ास २ बातें आगे चलकर लिखी ही जावेंगी। सिवाय इसके मोदवृत्त, पूनावैभव और प्रतोद आदि समाचार पत्रोंपर इस अवसर में जो अभियोग चलाये गये थे, उनका भी वर्णन इस प्रकरण में दे दिया गया है।

हाँ; तो सोमवार ता. २ अगस्त के दिन तिलक का अभियोग सेशन कमिट हो जानेपर फौरन् ही ता. ४ अगस्त को हाई कोर्ट में न्यायमूर्ति बद्रुद्दीन तयबजी के सामने बेरिस्टर दावर ने तिलक को जमानत पर छोड़ देने के लिए अर्ज़ी पेश की। बे. दावर की ख़ास शिकायत यह थी कि जेल में रखनेसे तिलक के लिए डिफेन्स तयार करनेमें कठिनाई होगी। क्यों कि लेखों के खुलासे, सुबूत के काग़ज़ात, ग्रंथों के आधार आदि बतलानेमें बिना तिलक की सहायता के काम चल ही नहीं सकता। जब कि जेल में केवल आना जाना कठिन हो जाता है तो फिर अधिक देर तक बातचीत हो ही कैसे सकेगी? सिवाय इसके सेशन शुरू होने में भी अभी महिने भर की देर है। क्यों कि इसी प्रकार कुछ समय पूर्व कलकत्ते के 'बंगवासी' पत्रपर जब मुक़द्दमा चलाया गया तब भी उसके संपादक के जमानत पर छोड़े जानेका उदाहरण मौजूद है, अतएव तिलक भी जमानत पर छोड़ दिये जाने चाहिये। इत्यादि। किन्तु बे. दावर को अधिक देर तक भाषण

तिलक की हरतरह से सहायता दी थी। मतलब यह कि इस बार के अभियोग में कानूनी सहायता का मुख्य आधार खरेपर ही रहा। लेकिन क्यों कि खरेजी राजनीति में नर्मदल के समर्थक थे, और स्वभावतः उनमें दिठाई की मात्रा भी कम ही थी। अतएव जो भी वे तिलक से मित्रता के नाते अलग रहना नहीं चाहते थे, किन्तु फिर भी उनका इरादा सरकार को यह दिखलाने का था कि, इस अभियोग में मैंने तिलक को जो कुछ सहायता दी है वह केवल पारस्परिक ही है। इसी प्रकार डॉ. देशमुख भी बम्बई में एक लोकप्रिय एवं प्रभावशाली व्यक्ति के नाते प्रसिद्ध थे। इन्होंने श्री. नेनेजी से मिलकर ही तिलक के लिए जमानत की तजविज कर दी। सेटलूर एक बहुत बड़े उद्योगी और प्रेमी सज्जन थे, अतएव उन्होंने अपने मित्र माधवराव देशमुख के साथ मिलकर इस अभियोग के समाप्त हो जानेपर पूरे विवरण सहित मुकदमें की रिपोर्ट छापी और इसके बाद तिलक के छुटकारे के लिए विलायत की हावर्ड सोसायटी द्वारा भी सेटलूर ने ही कोशिश करवाई। बेरिस्टर देशपाण्डे उन दिनों इंदुप्रकाश मे अंग्रेजी विभाग के संपादक थे। अतएव एक युवा उत्साही बैरिस्टर के नाते उन्होंने भी इस समय तिलक को सहायता दी। किन्तु इस प्रसंग पर सब से अधिक सहायता हमारे मतानुसार महादेव राजाराम बोड्स की ही ओरसे हुई। ये महाशय पहले कुछ दिनोंतक पूने में न्यू इंग्लिश स्कूल में अध्यापक और मराठा के संपादक भी रह चुके थे। तभीसे ये तिलक के पक्षपाती रहते आये हैं। एल्. एल्. बी. पास कर लेनेपर इनसे तिलक ने केसरी के संपादकीय विभाग में रहनेको पूछा भी था, किन्तु हाईकोर्ट की वकालत करते हुए बम्बई में रहकर ही कुछ सार्वजनिक कार्य करते रहने का ये निश्चय कर चुके थे, अतएव पूना छोड़कर ये बम्बई में जा बसे। फलतः इस बार बोड्स ने अग्रसर हो कर केवल मित्रभाव से ही तिलक की हर-तरह से सहायता की थी। वकील-बैरिस्टरों को ज्ञातव्य विषय बतलाना, अदालत में दौड़ धूप करना, साक्षिसीदरों को काम में लगाना, और डिफेन्स फण्डके लिए प्रयत्न करना आदि उन्हींके प्रयत्नों का फल था। पूना के सहायकों में सबसे अधिक भाग श्री. वासुदेवराव जोशी का रहा। हाँ, तो तारीख ४ अगस्त के दिन जमानत पर छूट जाने के लगभग पाच सप्ताह बाद अर्थात् ता. ८ सितंबर को तिलक का अभियोग हाईकोर्ट सेशन में जस्टिस स्ट्राचि के सामने पेश हुआ।

इस बीच डिफेन्स आदि के विषय में किस २ प्रकार की योजनाएँ हुई, उसका विचार कर लेना भी अनुचित न होगा। हाँ, तो जमानत पर छोड़े जाते ही तिलक पूना पहुँचे। किंतु दुर्भाग्यवश यहां उनके सामने एक दुःखरूपी विष का प्याला तैयार रखा हुआ मिला! अर्थात् उनके पूना आनेसे एक दिन बाद ता.

मान्य होती ? सिवाय में जब न्या. तैयबजी ने जमानत मांगी वह भी केवल पचीस-पचीस हजार की ही थी। अतएव नेने साहब ने यह जमानत अपनी हैसियत के ही अनुसार समझी ! और इस लिए अंत में एक ही जमानत रखनेका निश्चय किया गया। किंतु अब दूसरी जमानत की तजवीज क्योंकर होती ? यद्यपि इसके लिए बम्बई के लखमीदास खिमजी ने अपने भानजे द्वारकादास धरमसी को जमानतदार बना कर तो खड़ा कर दिया, किंतु अमानत की पूरी रक्कम की तजवीज न हो सकी। फलतः जब लखमीदास ने अपने भानजे के नामपर लगभग वीस हजार के बाण्डस बदल दिये तो शेष पांच हजार के प्रामिसरी नोट नेने ने अपने पास से मिलाकर पूरे पचीस हजार के दूसरे जमानतदार द्वारकादास की भी योजना कर दी और इन दोनों की जमानते मंजूर भी कर ली गई।

इसी अवसरपर पूना-वैभव के सम्पादक शंकरराव केलकर और मोदवृत्त के संपादक भाऊशास्त्री लेले पर भी बम्बई में ही अभियोग चलाये जानेसे उनके लिए भी जमानत की अर्जी पेश होनेवाली थी। इस विषय में भी श्री. नेने जमानतदार बनेने को तैयार हो गये और उन्होंने तिलक के कहनेसे शंकरराव केलकर की पांच हजार की जमानत भी दाखिल कर दी। हाँ, लेले की जमानत का अलबत्ता कोई प्रबंध न हो सका। क्यों कि अभियोग चलाने आदि के विषयों में लेले के सलाहकार लोग दूसरे थे। और खुद उनमें भी हेकड़पन अधिक था, अतएव नेने उनके जमानतदार बननेको तैयार न हुए। सारांश यह कि उस समय यदि किसी पर राजद्रोह का अभियोग चलाया जाता तो उसके लिए जमानत की आवश्यकता पड़नेपर नेनेजी हरसमय जमानतदार बनने को तैयार से रहते थे। सन १९०८ में जब तिलकपर दूसरी बार इसी तरह का अभियोग चला तभ भी श्री. नेने जमानत देनेको तैयार थें, किन्तु उसबार जमानत ली ही नहीं गई।

हाँ; तो सन १८९७ के अभियोग के समय तिलक की सहायता करनेवाले बम्बई निवासियों में यशवंतराव नेने, दाजीसाहब खरे, माधवराव बोडस, नानासाहब देशमुख, भाऊसाहब आठल्ये, एडवोकेट सेटलूर, बेरिस्टर केशवराव देशपांडे, वैद्यबन्धु, दाजीबा पिटकर आदि व्यक्तियों के नाम उल्लेखनीय हैं। यद्यपि दाजी साहब खरे थे तो तिलक के बालमित्र ही किन्तु आगे चलकर जब वे बम्बई में अपना मुकाम जमानेके बाद हाई कोर्ट की वक़ालत करने लगे, तब भी बम्बई जानेपर तिलक का अड्डा खरे के ही यहां लगता था। दोनों मित्र सिंहगढ़पर प्रतिवर्ष एक ही बंगले में महिनों २ रहते थे। बीच २ में कांग्रेस और हिन्दू मुसलमान के दंगे आदि विषयों में दोनों के बीच मतभेद अवश्य हो जाता था, किन्तु फिर भी वैमनस्य कभी नहीं हुआ। इसके बाद धारासभा के चुनाव में भी खरेजी ने

तिलक की हरतरह से सहायता की थी। मतलब यह कि इस बार के अभियोग में अपनी सहायता का मुख्य आधार खरेपर ही रहा। लेकिन क्यों कि खरेजी राजनीति में नर्मदल के समर्थक थे, और स्वभावतः उनमें दिठाई की मात्रा भी कम ही थी। अतएव जो भी वे तिलक से मित्रता के नाते अलग रहना नहीं चाहते थे, किन्तु फिर भी उनका इरादा सरकार को यह दिखलाने का था कि, इस अभियोग में मैंने तिलक को जो कुछ सहायता दी है वह केवल पारस्परिक ही है। इसी प्रकार डॉ. देशमुख भी बम्बई में एक लोकप्रिय एवं प्रभावशाली व्यक्ति के नाते प्रसिद्ध थे। इन्होंने प्रो. जिनसीवाले से मिलकर ही तिलक के लिए जमानत की तजवीज कर दी। सेटलूर एक बहुत बड़े उद्योगी और प्रेमी सज्जन थे, अतएव उन्होंने अपने मित्र माधवराव देशमुख के साथ मिलकर इस अभियोग के समाप्त हो जानेपर पूरे विवरण सहित मुकद्दमे की रिपोर्ट छापी और इसके बाद तिलक के छुटकारे के लिए विलायत की हावर्ड सोसायटी द्वारा भी सेटलूर ने ही कोशिश करवाई। बेरिस्टर देशपाण्डे उन दिनों इंदुप्रकाश में अंग्रेजी विभाग के संपादक थे। अतएव एक युवा उत्साही बैरिस्टर के नाते उन्होंने भी इस समय तिलक को सहायता दी। किन्तु इस प्रसंग पर सब से अधिक सहायता हमारे मतानुसार महादेव राजाराम बोडस की ही ओरसे हुई। ये महाशय पहले कुछ दिनोंतक पूने में न्यू इंग्लिश स्कूल में अध्यापक और मराठा के संपादक भी रह चुके थे। तभीसे ये तिलक के पक्षपाती रहते आये हैं। एल्. एल्. बी. पास कर लेनेपर इनसे तिलक ने केसरी के संपादकीय विभाग में रहनेको पूछा भी था, किन्तु हाईकोर्ट की वकालत करते हुए बम्बई में रहकर ही कुछ सार्वजनिक कार्य करते रहने का ये निश्चय कर चुके थे, अतएव पूना छोड़कर ये बम्बई में जा बसे। फलतः इस बार बोडस ने अग्रसर हो कर केवल मित्रभाव से ही तिलक की हर-तरह से सहायता की थी। वकील-बैरिस्टरों को ज्ञातव्य विषय बतलाना, अदालत में दौड़ धूप करना, सालिसीटरों को काम में लगाना, और डिफेन्स फण्डके लिए प्रयत्न करना आदि उन्हींके प्रयत्नों का फल था। पूना के सहायकों में सबसे अधिक भाग श्री. वासुदेवराव जोशी का रहा। हाँ, तो तारीख ४ अगस्त के दिन जमानत पर छूट जाने के लगभग पांच सप्ताह बाद अर्थात् ता. ८ सितंबर को तिलक का अभियोग हाईकोर्ट सेशन में जस्टिस स्ट्राचि के सामने पेश हुआ।

इस बीच डिफेन्स आदि के विषय में किस २ प्रकार की योजनाएँ हुईं, उसका विचार कर लेना भी अनुचित न होगा। हाँ, तो जमानत पर छोड़े जाते ही तिलक पूना पहुँचे। किंतु दुर्भाग्यवश यहां उनके सामने एक दुःखरूपी विष का प्याला तैयार रखा हुआ मिला। अर्थात् उनके पूना आनेसे एक दिन बाद रा.

अगस्त को उनके परम मित्र श्रीयुत बाबा महाराज महामारी के पंजे में फँस गये इस समाचार को पानेके बाद से ता. ८ को उनका शरीरांत होने तक तिल बराबर उनके पास ही बैठे रहे। क्यों कि दो चार वर्ष पहले ही से तिलक उन सलाहकार और इसके बाद सहकारी कार्यकर्ता एवं अंत में जाकर प्राणाधिक मि के रूप में प्रेमपात्र बन चुके थे। क्यों कि दस पंद्रह वर्ष अदालत मुकद्में बाज़ करके महाराज ने अपने विवादित दत्तविधान को सिद्ध कर रियासत पर हाल ही अधिकार जमाया था। सरदारों की सूची में उनका भी नाम लिखा जा चुका थ और स्वतः दिवानी मुक़द्मेंदारी की वजह से जो भी वे निर्धन किंबहुना ऋणग्रस हो गये थे, किन्तु फिर भी अपनी स्वाभाविक उदारता के कारण वे इन दिनों ऋर लेकर भी सार्वजनिक कार्यों में यथाशक्ति सहायता देते रहते थे। यद्यपि वे विशेष रूप से शिक्षित नहीं थे, तथापि एक प्रकार का सभाढ़ीठपन, कम से कम सभ में अध्यक्ष के आसन पर बैठने की ढिठाई तो उन में अवश्य थी। और जब कि सभा के लिए अध्यक्ष या उपाध्यक्ष बनानेको एक फर्स्ट क्लास सरदार मिल रहा है तो भला तिलक इसे मौके पर क्यों चूकते? इस कारण से भी तिलक और बाबा महाराज का परस्पर आवागमन विशेषरूप से होने लगा। बाबा महाराज की वह ठिंगनी और स्थूल मूर्ति एवं उनके रंग-बिरंगे जाकिट तथा हरी पगड़ी और नीला चष्मा इत्यादि बातों का पूना की नई पीढ़ी को भी अपने बचपन में देखी हुई बातों के नाते अबतक स्मरण होगा। शहर भर में सब से बड़े घोड़े के रथ में इस उत्सव मूर्ति को बिठला कर जब तिलक और उनके मित्र लोग पूना में निकलते थे तब लोगों को बड़ा ही आनंद प्रतीत होता था। किंतु तिलक के सहवास के कारण बाबा महाराज पर भी प्रारंभ से ही सरकार की वक्र दृष्टि थी। क्यों कि उन्हें शस्त्रास्त्र का पर्वाना मिल चुका था, और उनके यहां सिपाहीप्यादे एवं शस्त्रास्त्र का भी संग्रह था, अतएव रेण्ड साहब की हत्या के बाद से उनके घरपर खुफिया पुलिस का पहरा बैठा दिया गया था; फलतः सरदार नातू की गिरफ्दारी के बाद से मित्रवर्ग को बाबा महाराज पर भी किसी संकट के आनेकी अशंका सी हो चली थी। और अंत में संकट उपस्थित हो कर ही रहा; किंतु वह कारावास के रूप में न आकर महामारी के रूप में उपस्थित हुआ। जब से इस बीमारी के चगुल में वे फँसे, तबसे उसने घटनेका नाम ही न लिया। कुछ शंकाशील व्यक्तियों ने तो यहां तक कह डालनेका दुस्साहस कर डाला कि सरकार के अपराधी बन जानेके कारण महाराज ने हिरकनी खाकर आत्महत्या कर डाली है; यह महामारी का रोग तो केवल बहाना ही है। यदि सचमुच ही इस प्रकार की संदेहावस्था में महाराज का शरीरांत होता तो कदाचित

पुलिस के प्रयत्न से उनका शव डॉक्टरी जांच के लिए सौंपा जाता और वहां चीरफाड़ की जाकर उसकी जो कुछ दुर्गति होती सो तो होती ही, किंतु ऋण-ग्रस्त होते हुए भी उनकी रियासत बहुत बड़ी थी और उस समय उनकी भार्या भी युवावस्था के साथ गर्भवती थी; अतएव उसकी रक्षा और भावी व्यवस्था बिना किसी बखेड़े के हर एक प्रयत्न से होना आवश्यक था। इन्हीं सब बातों के विचार से तिलक ने प्रारंभ से ही सावधानी रखकर डॉ. मोदी, डॉ. विश्राम और डॉ. मेकॉनकी इन तीन महानुभावों का इलाज शुरू कर रक्खा था। इन में डॉ. मोदी पारसी थे और डॉ. विश्राम ब्राह्मणेतर एवं डॉ. मेकानकी एक यूरोपियन तथा पूना के सिविल सर्जन थे। यह योजना ध्यान देने जैसी है। क्यों कि इस योजना के कारण ही बाबा महाराज की आसन्न मरणावस्था में उनका वसीयत-नामा तैयार होकर अंत में वह अदालत से भी मंजूर हो सका। इस में तिलक ने अपनी समझ के अनुसार अन्य चार भले आदमियों को ट्रस्टी और एक्ज़ी-क्यूटर बना लिया था। किंतु स्वतः बाबा महाराज ने आग्रहपूर्वक तिलक का नाम ट्रस्टी के रूप में लिखवाया और विवश हो कर जब उन्हों ने इसे स्वीकार किया तब कहीं जाकर बाबा महाराज को संतोष हुआ। इस वसीयतनामे का तैयार हो जाना महाराज की जायदाद के लिहाज से एक महान आवश्यक कार्य था; और यदि उस समय तिलक वहां विद्यमान न होते तो बहुत संभव था कि यह वसीयतनामा तैयार ही न हो पाता। इसी प्रकार यदि तिलक दो ही दिन बाद जमानत पर छूटते तो अपने मित्र की अंतिम भेट और उनकी सम्पत्ति की व्यवस्था करनेसे वे वंचित रह जाते। किन्तु योगायोग के अनुसार ही सब बातें हुआ करती हैं। पर इस योग में विशेषता यह थी कि ठीक समय पर महा-राज से जो वसीयतनामा तैयार करवाकर तिलक ने उनकी रियासत का हित साधन किया, उसके द्वारा उन्होंने अपने लिए एक प्रकार से भावी संकट का ही मानों बीज बो दिया।

हाँ, तो इस तरह बाबा महाराज की वसीयत की संतोषकारक व्यवस्था हो जानेके बाद तिलक के लिए अगला कार्य अपने अभियोग के विषय में सब प्रकार प्रबंध करना ही था। इस व्यवस्था में मुख्य बात थी अदालत के ख़र्चे का प्रबंध, क्यों कि यह एक निश्चित सी बात थी कि इस कार्य के लिए ख़र्चे की रकम बहुत बड़ी होती। किंतु तिलक को अपने जीवन में आगे चलकर केसरी की आयसे ही सार्वजनिक या अदालती झगड़े जैसे कार्यों में आवश्यकतानुसार रकम मिलती रही। किंतु फिर भी चिरोल केस के समय दो तीन लाख रूपये ख़र्च हो जाने से उस समय प्रथक् रूप से सार्वजनिक फण्ड इकट्ठा करना पड़ा। ताई महाराज

के मामले में भी उन्हें लगभग पचास-साठ हजार रूपया खर्च करना पड़ा, किंतु वह कई वर्षों में बँट जानेसे उसके लिए तिलक को सार्वजनिक फंड इकट्ठा न करना पड़ा। क्यों कि जैसे २ इस कार्य में द्रव्य की आवश्यकता पड़ती गई, वैसे वह केसरी की चालू सिलक में से अथवा ऋण लेकर तथा उसे समयपर चुका कर -अर्थात् केसरी से ही-वे अपना काम चलाते रहे। किन्तु सन १८९७ के अभियोग के समय अवस्था बड़ी विकट थी। क्यों कि केसरी से बचनेवाला नफ़ा उसके और मराठा के सहकारी संपादक, कार्यकर्ता, आवश्यक ग्रंथसंग्रह, एवं विदेशी समाचार पत्रों के वार्षिक मूल्य, तार एवं पोष्टेज तथा कांग्रेस आदि कामों में यात्रा-व्यय एवं स्थानिक फुटकर आन्दोलन आदि में खर्च होनेके बाद जो कुछ थोड़ा-बहुत बचता था वह ऋण चुकानेके मद्दे जमा हो जाता था। ऐसी दशा में घर-खर्च के लिए तिलक केसरी की आय से पाई भी नहीं ले सकते थे; फलतः इस खर्च को चलाने के लिए ही उन्होंने लॉ क्लास खोला था, यह बात हम पिछले एक प्रकरण में बतला ही चुके हैं। उस समय तक लातूर की जिनिंग फेक्टरी का कर्ज़ भी सिरपर बना हुआ था। अतएव लॉ क्लास की सम्पूर्ण आय तिलक के तत्कालीन मित्र एवं साहुकार लोग तथा चित्रशाला प्रेस के स्वामी वासुदेवरांव जोशी के यहां जमा होता था, और घरखर्च के लिए जैसी २ आवश्यकता होती उतनी रक़म इन लोगों से लेते रहनेके बाद सालभर के हिसाब में जो रक़म बचती वह कर्ज के मद्दे चुकाई जाती थी। यह क्रम कई दिनों तक चलता रहा। ऐसी दशा में राजद्रोह के अभियोग में जिन बड़े २ वकील बैरिष्टरों की आवश्यकता पड़नेवाली थी उनकी फीस का प्रबंध कैसे होता? इसके लिए सार्वजनिक फंड इकट्ठा करने न बिना और कोई मार्ग ही न था। अतएव तिलक के जमानतपर छूटनेसे पूर्व ही उनके बम्बईनिवासी मित्रों ने ता. ३ अक्टूबर के केसरी में 'डिफेन्स फण्ड' का विज्ञापन छपा दिया था। केसरी की ही तरह अन्य कुछ पत्रोंपर भी मुकद्दमें चले थे, और साथ ही इस के और भी कुछ होनेके रंगढंग दिखाई देते थे। उन पत्रों के सम्पादक भी बिचारे निर्धन ही थे, और सबपर आरोप एक ही था; अतएव सबका बचाव एक ही तंत्रानुसार होना उचित था। जिस प्रकार फौजदारी मुकद्दमों में अभियोगी के स्थानपर महाराणी सरकार का नाम लिखा गया था, उसी प्रकार जो भी केसरी एवं अन्य पत्रों के सम्पादक इस प्रकार के अभियोग में पकड़े गये थे, तथापि पर्याय से वे सब अभि-योग जनता पर ही थे, ऐसी दशा में आरोपी के स्थानपर अपनेको मानना सर्व-साधारण के लिए उचित ही था। इसी लिए सार्वजनिक 'डिफेन्स फण्ड' की कल्पना निरपवाद सिद्ध होकर उसको कार्य रूप में परिणत भी कर दिया गया

था। इस फंड की रकम 'मेसर्स हीरालाल मुन्ना एण्ड मुन्ना' सालिसीटरसे के पास भेजने की सूचना दी गई, और दूसरे दिन से चंदा भी आने लगा।

किन्तु जिस प्रकार महाराष्ट्र प्रान्त ने तिलक के इस अभियोग को अपना समझा, उसी प्रकार अन्य प्रान्तों ने भी तत्काल ही सहानुभूति दिखलाई थी। समझ में नहीं आता कि महाराष्ट्र और बंगाल में कौनसा दैवी सम्बन्ध है, किन्तु उस समय 'डिफेन्स फण्ड' का आन्दोलन भारत भर में सबसे पहले बंगाल में ही जोरशोर के साथ शुरू हुआ। अमृतबाज़ार पत्रिका के सम्पादक शिशिर कुमार और मोतीलाल घोष तो तिलक के परम मित्रों में से थे ही; किन्तु इसीके साथ न भारत भर में राजनैतिक क्षेत्र में काम करनेवाले लोग एक ही मत के थे, और पक्ष-भेद भी अभीतक प्रबल नहीं हुआ था, अतएव बंगाल में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि ने भी 'डिफेन्स फण्ड के' कार्य में योग-दान किया था। ता. ३ अगस्त के केसरी में ही बंबई के संवाददाता ने यह लिख दिया था कि तिलक की सहायता के लिए एक बंगाली ज़िमींदार की ओरसे पचास हजार रुपये निकालकर रख दिये जानेकी ख़बर तार से आई है। किन्तु यह संवाद अन्दशः सत्य नहीं था; यहांतक कि अगले सप्ताह में तो वह केवल अफवाह ही सिद्ध हो गया। क्यों कि यह संवाद सबसे पहले ऍंग्लो-इंडियन पत्रों में छपा था, अतएव इस प्रकार का संदेह किया जाना स्वाभाविक ही था कि उन्होंने यह बात 'डिफेन्स फण्ड' में बाधा डालने ही के लिए प्रकाशित कर दी हो! किंतु जिस प्रकार यह संवाद मिथ्या था उसी प्रकार उक्त सन्देह भी अयथार्थ ही था। कुछ भी समझिये, किन्तु इस पचास हजार की झूंठी अफवाह से असल में चंदा इकट्ठा होनेमें शिथिलता आजाने का भय प्रतीत होनेके कारण ता. १० अगस्त के अंक में स्पष्टतयः सूचित कर दिया गया कि यह अफवाह मिथ्या है, अतएव लोगों को चंदा भेजनेमें विलंब न करना चाहिये। क्यों कि पहले इस फंड की रकम हीरालाल मुन्ना के पास भेजने की सूचना दी गई थी, किन्तु जब प्रख्यात सालिसीटर भाईशंकर और कांगा ने रिआयत और प्रेमभाव के साथ तिलक का काम करना स्वीकार कर लिया तब आगेके लिए चंदे की रकम इनके और डॉ॰ नानासाहब देशमुख के पास भेजने की सूचना प्रकाशित की गई।

आर्थिक सहायता की ही तरह कानूनी सलाह और मदद भी मुफ्त में मिलती रहने के लक्षण दिखाई देने लगे। कोई कहता था कि बे. नार्टन आकर मुक्द्मा में काम चलायेंगे तो किसीने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध बेरिस्टर उमेशचंद्र बनर्जी का इस तरह काम करनेके विषय में नाम लिया। क्यों कि सर्व साधारण के इस अनुमान के

अनुसार कि मुकद्दमें के काम में स्थानिक वकीलों की अपेक्षा बाहर वालोंका ही हाथ विशेषरूप से यशस्वी होता है, बम्बई के बेरिस्टरों का कोई नाम ही नहीं लेता था। किंबहुना बाहर के मनुष्य के द्वारा काम चलाया जानेमें थोड़ासा स्वारस्यभी था। क्यों कि यह अभियोग एक प्रकार से सरकार के साथ किये जानेवाले युद्ध की ही तरह था, अतएव युद्ध के समय दूर देश के राजाओं का सहायतार्थ आना पौराणिक एवं ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुसार प्रसिद्ध ही है। बातोंही बातोंसे पता लग चुका था कि बंबई के अंग्रेज बेरिस्टर इस विषय में नामको भी हाथ नहीं डालेंगे अतएव बचे हुए भारतीय बेरिस्टरों में उल्लेखनीय व्यक्ति एकमात्र फीरोजशाह मेहता ही थे। किंतु यह सोचकर कि भलेही दूसरे प्रान्त से क्यों न मिले, इस काम में अंगरेज बेरिस्टर ही विशेष उपयुक्त समझा जाकर अंत में यही योजना निश्चित की हुई; और तिलक के डिफेन्स का बीड़ा बंगाल ने उठाकर बेरिस्टर ग्यू और गार्थ के पैरवी के लिए आनेकी सूचना भी प्रकाशित कर दी। इधर दावर और देशपाण्डे को वकीलनामें देकर पहलेही रख लिया गया था; क्यों कि केसरी के अलावा पूना वैभव, मोदवृत्त आदि पत्रोंपर भी मुकद्दमें चल रहे थे, अतएव उनके लिए भी वकील चाहिये ही थे।

'डिफेन्स' फण्ड धीरे २ इकट्ठा हो रहा था और कलकत्ते से दो बेरिस्टरों के आनेकी बात भी निश्चितसी हो गई थी, किन्तु फिर भी केवल फण्डपर ही अवलंबित रहना तिलक के लिए असंभव था, क्यों कि अपनी ओरसे दो तीन हजार रुपये लेकर गये बिना उनके लिए बम्बई में पैर रखने तककी सुविधा न थी। ख़ास पूने में जैसी चाहिये वैसी रक़म जमा नहीं हो सकी थी। क्यों कि बालासाहब नातू के समान धनाढ्य मित्र भी पैसा खर्च करनेके नामपर एकदम कृपण थे; किन्तु फिर भी यदि वे वहां मौजूद होते तो संभव था कि कुछ रकम उधार या ऋण के रूप में ही उनसे मिल जाती। किन्तु उनकी गिरफ़्तारी से यह मार्ग भी रुक गया। यद्यपि उनकी सम्पत्ति घरपर यथावत् ही रखी हुई थी, किन्तु उनकी जायदादपर जब्ती बैठा दी गई थी। सिवाय इसके तिलक और नातू के एक ही समय गिरफ़्तार किये जानेसे शहर के लोगों में बेतरह दहशत बैठ गई थी। किन्तु यह सब होते हुए भी वासुदेवराव ज़ोशी ने निज मित्रों के पास जाकर किसीसे सौ तो किसीसे दो सौ इस तरह कुछ रुपया उधार मांगकर इकट्ठी कर दिया, और उसे लेकर तिलक ने बम्बई जानेकी तैयारी की। किंतु उन्हें विश्वास था कि इस अभियोग में सजा अवश्य होगी, अतएव उन्होंने अपना वसीयतनामा भी तैयार कर लिया था। जब यह काग़ज लिखनेके लिए धोंडोपंत विद्वांस को बैठाकर तिलक इबारत बोलने लगे, उस समय अपने कारा-

वास की अपेक्षा साम्पत्तिक स्थिति की कल्पना का ही प्रकार एकदम चित्तपर गिरनेसे लिखने और लिखानेवाले दोनों के नेत्रों में जल भर आया। तिलक की जायदाद ले-देकर एक मात्र केसरी पत्र ही था। किन्तु उनके सिर का कर्ज अभी निपटा नहीं था। सिवाय इसके केसरी की लोकप्रियता और उसकी ग्राहक संख्या केवल तिलक के लेखों के कारण बढ़ी हुई थी; अर्थात् यदि उनके बाद केसरी ठीक तरह से न चला तो पत्र का प्रचार घट जाना स्वाभाविक ही था। यद्यपि इस अभियोग से केसरी की ख्याती बढ़ जाने की संभावना अवश्य थी, किन्तु जब केसरी का ग्राहक होना भी सरकार की दृष्टि से एक प्रकार का अपराध सिद्ध होकर ग्राहकों के साथ पुलिस की ओरसे छेड़छाड़ होनेके लक्षण दिखाई देने लगे, तब जनता क्या कर सकती थी। इधर क्यों कि जिनिंग-फेक्टरी का कर्ज़ और उसके सूद की किश्तें तो बराबर जमा हो रही थीं, किन्तु निर्वाह का साधन जो लॉ-क्लास था, वह भी अब बन्द हो जानेवाला था। सारांश तिलक के नेत्रों में कदाचित् इसी विचार से जल भर आया होगा कि, निर्वाह के प्रायः सभी साधन बन्द हो जाने एवं कर्ज़ की एक बहुत बड़ी रक़म सिर पर बनी रहने की दशा में यदि जेल में ही मृत्यु हो गई तो उस कठिनावस्था के लिए कोई सीमा ही न रहेगी। किंतु यह स्थिति क्षणभर ही टिक सकती थी। अतएव उस क्षण के जाते ही तिलक ने सारा वसीअतनामा लिखवाकर तैयार कर लिया। उस में केसरी और कर्ज़ की अदायगी, इन दोनों ही बातों की व्यवस्था होनी थी, अतएव इस के लिए वासुदेवराव जोशी, धोंडोपंत विद्वांस, दाजीसाहब खरे और वासुदेवराव बापट आदि व्यक्ति अधिकारी पंच नियुक्त किये गये थे।

सितम्बर के आरंभ में सेशन शुरू होने एवं ता. ६ सितम्बर को केसरी का मुक़द्दमा शुरू होने विषयक नीमसरकारी सूचना प्रकाशित हुई थी। किंतु इस बीच कई एक व्यक्तियों की ओरसे यह प्रयत्न किया गया कि मुक़द्दमा कुछ दिन के लिए आगे बढ़ा दिया जाय। इन में ब्रुइन साहब प्रधान थे। हत्याकारी का पता लगानेके लिए पूने में स्पेशल ड्यूटी ऑफिसर के नाते उनकी नियुक्ति हुई थी, यह हम पहले बतला ही चुके हैं; फलतः इस समय उनकी सुक्रिया जांच पूने में जोरोंपर शुरू हो रही थी। ब्रुइन साहब की होशियारी और प्रतिष्ठा प्रसिद्ध ही थी; और यदि कुछ बातें उनके मार्ग में बाधक न होतीं तो वे अवश्य ही अबतक बम्बई के पुलिस कमिश्नर हो जाते! क्यों कि उनके आचरण में टसक नाम को भी न थी, और साधारण मनुष्य तक से व्यवहार करने योग्य उत्तम और सफाई-दार मराठी में वे भाषण कर सकते थे। संक्षेप में यह कि अन्य विलायती साहबों की अपेक्षा उन्हें एतद्देशीय समाज के मनुष्यस्वभाव का ज्ञान अधिक था। फलतः

इस हत्या का मामला हाथ में लेतेही पहली वार में उन्होंने यह कल्पना कर ली जो कि विलकुल ठीक थी कि तिलक और नातू भाइयों का इस हत्या से कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो सकता। इन में से एक को जेल हो ही चुकी थी और दूसरा भी शीघ्र ही वहां भेजा जानेवाला था; किन्तु उन्हें यह कैद एक मात्र लोगों में दह-शत बैठाने विषयक सरकार की इच्छा-पूर्ति के ही लिए भोगनी पड़ रही थी। एक दृष्टि से तिलक और नातू के पूने में न होनेसे सरकार को यह प्रतीत हो सकता था कि इससे हमें हत्या की जांच में सहायता मिलेगी। किन्तु ब्रुइन साहब को कदाचित् यह आशा हो रही होगी कि, तिलक को इस प्रकार की हत्या होना एक घृणित कार्य प्रतीत होनेसे कहिये अथवा हत्याकारी का शीघ्रही पता न लगने पर पूनावालों को जो विशेष कष्ट उठाना पड़ेगा उससे उन्हें बचाने के लिए समझिये कि, अपराधी का पता लगाने में तिलक की ओरसे अवश्य कुछ न कुछ सहायता मिलेगी। इसी लिए शायद उनका विचार तिलक के अभियोग की तारीख आगे बढ़वाकर तथा इधर तिलक से मुद्दत मिलने की अर्ज़ी दिलवाने और उधर सर-कार की ओरसे भी उनको मान्यता दिलवाने का था।

किन्तु इस विषय में उन्हें शीघ्रही निराश हो जाना पड़ा! उन्होंने पूने में मुकाम रहते हुए प्रति दूसरे तीसरे दिन तिलक के यहां जाकर अनेक प्रकार से गपशप लड़ाने का सिलसिला डाल रक्खा था। और ये गप्पें भी दो अतिशय धूर्त एवं बुद्धिमान् मनुष्यों के बीच करामाती लढने की ही तरह थीं। क्यों कि एक दूसरे के उद्देश्यों को अच्छी तरह जानता था। किन्तु फिर भी ब्रुइन साहब स्वेच्छा-पूर्वक अपने पैरों ही तिलक के यहां आते थे, अतएव उन्हें अपने यहां आनेसे मना कर देने जितना शिष्टाचार का उल्लंघन करने की तिलक को इच्छा न थी; इसी लिए इस मुलाक़ात में कोई बाधा नहीं पड़ सकी। बल्कि जब इन दोनों की बात-चीत शुरू होती तो फिर उसमें कुछ प्रकट एवं कुछ अर्धगुप्त एवं कुछ एकदम ही गुप्त विषयों की चर्चा छिड़ जानेसे इनका संभाषण देर तक होता रहता। इन दोनों में से हरएक की कोशिश यह थी कि ऐसी कोई भी बात अपने मुँह से न निकले दी जाय जो कि परस्पर के हित में विघातक हो, किन्तु फिर भी इरादा दोनों का यह था कि हम एक दूसरे की बात परसे अपने मतलब को सिद्ध कर लें। क्यों कि ब्रुइन साहब का अनुभव यह था कि हत्याकारी किस जाति या समाज का व्यक्ति हो सकता है, इस विषय में यदि तिलक कोई अस्पष्ट मत या सुनी सुनाई बात परसे भी कुछ जानकारी दे सकें, तो प्रयत्न कर देखना चाहिये। किन्तु इसके विरुद्ध केसरी के मुकद्दमें में सर्कार का रुख किस ओर रहेगा तथा और भी कुछ पकड़-धकड़ होगी या कोई नया अभियोग तो नहीं चलेगा, इन्हीं

सब बातों का संकेत मात्र भी मिल सके तो उसे प्राप्त करनेका इरादा तिलक कर था। होते २ एक दिन बहुत बड़ी प्रस्तावना करने के बाद ब्रुइन साहब ने तिलक के सामने सरलता के साथ स्पष्ट शब्दों में यह प्रश्न उपस्थित करही दिया कि 'यदि आप निश्चय करलें तो इस हत्या के मामले में हमें आपसे बहुत कुछ सहायता प्राप्त हो सकती है। फिर क्यों आप हमारी सहायता करनेके लिए तैयार नहीं होते?' इस पर तिलक ने भी तत्काल उत्तर दिया कि "प्रथम तो मैं समझ ही नहीं सकता कि किस प्रकार आपकी सहायता कर सकूंगा। क्यों कि मुझे इस विषय की जानकारी ही कहांसे प्राप्त हो सकती है? किन्तु फिर भी आपको स्मरण रखना चाहिये, भूलचूक से यदि मुझे किसी तरह कोई बात मालूम भी हो गई तो मैं उसे प्रकट नहीं करूंगा। क्यों कि अपराधी को सजा दिलाना न्याय्य समझते हुए भी मैं किसीके लिए गुप्तचर बनकर काम नहीं करूंगा, और न अपनी ओरसे किसीके साथ विश्वासघात ही होने दूंगा। इसी प्रकार मैं तुम्हारे कार्य में भी बाधा नहीं डालूंगा। यद्यपि इस हत्या के कारण पूना को लांछन लगनेविषयक लम्बसाहब का कथन मुझे मान्य नहीं है। किंतु फिरभी मैं आपसे इस बातका अनुरोध न करूंगा कि आप अपराधी को पकड़कर कठोर न दंडन दें।"

तिलक की इन खरी बातों को सुनकर ब्रुइन साहब निराश हो गये। किंतु शीघ्र ही हत्याकारी का पता लगानेविषयक उनके प्रत्येक प्रयत्न में सफलता प्राप्त होने लगी, साथ ही उन्हें इस बात पर भी अधिकाधिक विश्वास होने लगा कि, हत्या के विषय में तिलक को उत्तरदायी समझने सरकार भले ही ज़ोर-शोर दिखलाती रहे, किंतु केवल न्याय की दृष्टि से यह जवाबदारी उनपर कभी आ ही नहीं सकती। पर इस तरह तिलक का हत्या से कोई सम्बन्ध न रहते हुए भी ब्रुइन साहब इस बात के लिए आग्रह करते ही रहे कि सेशन में तिलक अपना मुकद्दमा कुछ दिन के लिए आगे बढ़ा दें। किंतु इस बार उनके ऐसा करनेका कारण यह था कि तिलक की सज्जनता का प्रभाव ब्रुइन साहब पर भलीभांति पड़ चुका था, अतएव उनके चित्त में तिलक के प्रतिसहानुभूति उत्पन्न हो चली थी। क्यों कि वे यह समझ रहे थे कि यदि हत्या का मामला ठीक तरह से चलकर अपराधी को सजा दे दी गई तो फिर तिलक पर से सरकार की कोपदृष्टि अपने आप बदल जायगी; और उस दशा में या तो उन्हें छोड़ ही दिया जायगा, अथवा यदि सजा ही दी गई तो उसका प्रमाण बहुत ही थोड़ा होगा। इधर प्रो. जिन्सीवाले भी तिलक से अनुरोध करने लगे जहां तक हो सके मुकद्दमे को महिना बीस दिन के लिए अवश्य आगे बढ़ा लो। क्यों कि उन्हों ने तिलक की जन्मपत्रिका में ग्रहस्थिति देखकर जो भविष्य कथन किया था, उस में यह पखवारा अनिष्ट-

कारी था। किंतु फिर भी तिलक को यही विश्वास था कि हत्या का पता लग जाने एवं उस से अपना कोई सम्बन्ध न रहनेकी बात निश्चित हो जानेपर भी सरकार सहज ही में इस अभियोग को वापस न ले सकेगी। और इससे भी अधिक महत्व का कारण यह था कि बंगाल के लोगों ने बे. प्यू और गार्थ से वचनबद्ध होकर दिन निश्चित कर लिये थे; और यह अभियोग समाप्त होते ही वे विलायत भी जानेवाले थे। यदि ब्रुइन साहब की इच्छानुसार काम होता तो तिलक अस्वस्थता का डाक्टरी सर्टिफिकेट पेश करके मुक़द्दमा आगे बढ़वा देते और ब्रुइन साहब उस सर्टिफिकेट को अधिकारियों. से मंजुर भी करवा सकते थे। किंतु तिलक ने यह सोच कर कि जो कुछ भी होना हो वह फैसला एक बार हो जाय तो अच्छा है, क्यौं कि यदि तारीख बदलवानेकी गड़बड़ में एक बार बे. प्यू और गार्थ से हाथ धो बैठना पड़ा तो फिर ये किसी तरह भी मिल न सकेंगे और अपने बंगाली मित्र भी मन में न जाने क्या समझने लगेंगे, इन सबके अनुरोध को स्वीकार न किया। इतना अवश्य हुआ कि ता. ६ के बदले मुकदमा ता. ८ सितंबर को पेश किया गया। क्यौं कि केशवराव बाल की जमानत पहले ही हो चुकी थी, और सब लोगों का अनुमान था कि वे निरपराध कहकर छोड़ दिये जायँगे। किन्तु यथानियम उनपर से अभियोग वापस न लिया जाने से तिलक और बाल पर एक साथ ही अभियोग चलाया गया।

बेरिस्टर प्यू. और गार्थ को उनकी पूरी २ फीस देकर बंगाली मित्रोंने उन्हें रवाना कर दिया था; इनके साथ २ जे. चौधरी नामक बंगाली बॅरिस्टर भी स्वयंसेवक बनकर आ रहे थे। इन बैरिष्टरों के इस अदालत में खड़े होनेका प्रसंग पहला ही था, अतएव हाईकोर्ट की इजाज़त का सवाल सामने लाया गया। और आरंभ में कोर्ट का रुख़ भी इसी तरह का दिखाई देता था कि इन परप्रान्तीय बैरिष्टरों को बम्बई हाईकोर्ट में पैरवी करनेकी आज्ञा न दी जाय। किन्तु फिर यह सोचकर कि कलकत्ते से इतने बड़े बैरिष्टर को बुलाने पर यदि उसे पैरवी के लिए आज्ञा नहीं दी गई तो इस में बहुत बड़ी बदनामी होगी। फलतः इससे बचने और हाईकोर्ट का सम्मान बनाये रखनेके विचार से केवल बे. प्यू को पैरवी के लिए इजाज़त दी गई, और गार्थ को इससे मना कर दिया गया। यद्यपि जो निर्णय गार्थ के लिए हुआ था वही चौधरी के विषय में भी प्रयुक्त हो सकता था, किन्तु वे तो केवल तमाशा देखने ही के लिए वहां आये हुए थे। अस्तु।

यद्यपि अभियोग के कागजपत्र तैयार करने और सुबूत में पेश करनेके लिए लेखादि जुटाने एवं उनका अनुवाद कर बेरिष्टरों को सारा मामला समझा देनेके लिए तिलक को सचमुच ही दो सप्ताह से अधिक समय न मिला। किंतु बम्बई

के मित्रोंसे इस कार्य में उन्हें बड़ी सहायता मिली। यद्यपि सालिसिटर भाई शंकर ने सारा काम मुफ्त में ही नहीं कर दिया, किंतु फिर भी उन्होंने और उनके दफ्तर के लोगोंने बहुत श्रम किया था। भाईशंकरजी से तिलक का परिचय आज से तीन वर्ष पूर्व बापट प्रकरण में प्रतिपक्षी के नाते हुआ था; और उस समय तिलक की बुद्धिमत्ता का पता पा जानेसे इस अभियोग के समय तिलक के प्रति उनके चित्त में सहानुभूति उत्पन्न हो गई थी। सिवाय इसके उनकी कचहरी के लोग भी इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि यह अभियोग साधारण नहीं है, बल्कि इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इधर इस अभियोग के प्रति तिलक न केवल व्यक्तिगत् विचार से ही बल्कि लोगों की विचारदृष्टि से भी ध्यान देते थे। डिफेन्स फण्ड की रक़में दूर २ से आ रही थी। इसी प्रकार कितने ही अकारण बन्धु एवं हितचिंतक लोग भी अपनी २ जानकारी के अनुसार विविध प्रकार की सूचनाएँ तिलक के पास भेजते रहते थे। क्यों कि राजद्रोह का अभियोग एक प्रकार की अनोखी घटना थी, अतएव भिन्न २ विषयों के उत्तर सोच निकालने में बुद्धिमान लोग अपने बुद्धिबल का उपयोग कर रहे थे। कोई तिलक के लेखों में से गूढ़ शब्दों के अर्थ लगाता तो कोई पिनल कोड के शब्दों का आशय समझाने लगता था। किसीने प्रमाण के लिए अन्य लेखों एवं पुस्तकों के उद्धरण निकालकर दिखलाये तो किसीने तिलक को धैर्य बँधाने के लिये ही मानों सरकार के नाम केवल गाली-गलौज लिखकर ही पत्र भेज दिये थे। कोई ज्योतिष के प्रश्न निकाल कर तो कोई जन्मपत्रिका देख कर आशाजनक भविष्य बताने लगा था। और कोई २ तो मंत्रसिद्ध तावीज, विभूति, देवताओंपर चढ़े हुए पुष्प तथा उनका प्रसाद भी तिलक के पास भेज देता था। इन सब में से कितना थोड़ा अंश तिलक के बचाव में काम दे सकता था, इसकी कल्पना पाठक स्वयंही कर सकते हैं। कुछ भी समझिये, किंतु तिलक को इस बातका अच्छी तरह पता था कि बाहर के लोग इस अभियोग में ध्यान दे रहे हैं, अतएव उन सब के प्रति आभार प्रदर्शनार्थ ता. ३१ अगस्त के केसरी में निम्न उल्लेख विशेषरूप से किया गया था। "केसरी पर संकट का प्रसंग आने के बाद से ही उसके हितचिंतकों के सैकड़ों पत्र प्रतिदिन आने लगे हैं, जिन्हें पढ़ कर संतोष होता है। किंतु इस गड़बड़ में प्रत्येक महाशय के पत्र का उत्तर देना कठिन हो गया है। अतएव सविनय प्रार्थना है कि हमारी विवशता ध्यान में लाकर कोई महाशय असंतुष्ट न होंगे। आये हुए सभी पत्र बराबर पढ़े जाते हैं, और उन में दी हुई कितनी ही उपयुक्त सूचनाओं के लिए पत्र-संपादक विशेषरूप से आभार प्रदर्शित करते हुए सूचित कर देना चाहता है कि उन बातों का समुचित उपयोग किया

जा रहा है।" ऐसी दशा में लोगों की दृष्टि से अर्थात् उन्हें हाईकोर्ट की इस अभियोगसम्बन्धी कार्यवाही का प्रतिदिन समाचार पहुँचानेके लिए, अखीर फैसला होनेतक केसरी को बम्बई ले जाकर उसका दैनिक संस्करण निकाला गया था इस कार्य को तिलक की अनुमति एवं उनके उत्साहदान से बम्बई के मुकुंद बालकृष्ण गुर्जर ने अपने हाथ में ले लिया था, और पूने से नरसिंह चिंतामण केलकर एवं कृष्णाजीपंत खाडिलकर उनके सहकारी बनाकर भेजे गये थे।

सेशन में पहुँचे हुए आरोपी के लिए अच्छे बुरे न्यायाध्यक्ष का नियुक्त होना एक समस्या ही कहा जा सकता है। इसी न्यायानुसार तिलक के हिस्से में न्यायमूर्ति स्ट्रेची आये थे। ये महाशय एकदम युवा एवं तेज़-तर्रार होनेके साथ ही बड़े बाप के बेटे थे, अतएव हाईकोर्ट में उसका सम्मान बहुत बढ़ा हुआ था। इनके पिता भारत सरकार की कौंसिल के सदस्य होनेके साथ ही साम्राज्यवादी और पक्के एँग्लो-इंडियन थे। उस समय हाईकोर्ट में देशी न्यायाध्यक्ष केवल दो ही व्यक्ति थे, पहले माधवराव रानड़े और दूसरे बद्रुद्दीन तैयबजी। इनमें से तैय्यबजी की स्वातंत्र्य-प्रियता आरंभ से ही प्रसिद्ध थी, और जब से उन्होंने तिलक को जमानतपर छोड़ा तबसे लोगों का तो उनपर बेहद् विश्वास बढ़ गया। किंतु सरकार अवश्य उनके विषय में शंकाशील हो गये। न्या. रानड़े ने तिलक के लिए जमानत स्वीकार करनेसे मना कर दी, किन्तु फिर भी वे सरकार की दृष्टि में पूर्ण विश्वास पात्र नहीं थे। क्यों कि बम्बई के हिन्दू-मुसलमान के दंगे के बाद 'फिर लड़ो' नामक पेम्फ्लेट पर जब सरकारने दावा दायर किया, उसमें न्या. रानड़े और जार्डिन ने उसे एकदम निराश कर दिया था; इधर जब तिलक के जमानत पर छोड़ दिये जानेका संवाद तार से विलायत पहुँचा, तो लार्ड हेरिस ने लंदन-टाइम्स में पत्र छपाकर इस बात के लिए शिकायत की थी कि "बम्बई हाईकोर्ट नें सरकार की इज्जत घटानेकी ज़िद सी धारण कर ली है"। क्यों कि उन्ही के शासनकाल में उपर्युक्त पेम्फ्लेट पर मामला दायर हुआ था। न्या. रानड़े के सामने यह अभियोग पेश न किये जानेका एक कारण यह था कि 'ओरिजिनल साइड' या सेशन का काम चलानेके लिए वे कभी २ ही बैठते थे। उन्हें आँखों से भी कम दिखाई देता था, और श्रवणशक्ति भी उनकी घट गई थी। क्यों कि जब कोई न्यायाध्यक्ष अपीलकोर्ट का जज बनकर बैठता है तब दूसरा एक साथी काम करनेवाला वहां और भी होता है। इसी प्रकार बहस करनेवाला वकील भी दूर नहीं बैठता। इतनेपर भी यदि वकील की बहस न सुनाई दे तो भी कागज़ात देखकर अखीर हुक्म लिखा जा सकता है। किंतु बम्बई हाईकोर्ट का सेशन कचहरी में रानडे के लिए सभी बातों की असुविधा रहती थी। क्यों कि प्रथम तो वहां अंधकार ही इतना

अधिक है कि दिन में दिये जगाने पड़ते हैं; और इन्हा बंद रहने पर भी वकील, गवाह या अपराधी के ऊंची आवाज़ में बोलने पर ही उनकी बातें सुनाई दे सकती हैं। कुछ भी समझिये, किंतु तैयबजी या रानडे इन दोनों में से किसी के पास भी यह अभियोग नहीं भेजा गया। पर स्ट्रेची साहब से परिचय रखनेवाले लोग भी यही कहते रहे कि इनके पास वह अभियोग भेजा जाना कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। किंतु इस अभियोग में न्यायाध्यक्ष की अपेक्षा पंचों के चुनाव पर ध्यान दिया जाना अधिक महत्व का था; अतएव मुक़दमा शुरू होते ही लोग इस पंच-निर्वाचन रूपी समस्या के परिणाम की ओर उत्सुकता से देखने लगे।

ता. ८ सितम्बर को ठीक १२ बजे मुक़द्दमा आरंभ किया गया। आरंभ में क्लार्क ऑफ़ दि कोर्ट (सरिश्तेदार) ने तिलक और श्री. बाल को उनपर लगाया हुआ आरोप पढ़कर सुनाया। इसके बाद ज्यूरी के लिए बुलवाये हुए लोग सामने खड़े किये गये। उन में सरकार की ओरसे नौ व्यक्तियों के विषय में बाधा दी गई, और तिलक की ओरसे सात व्यक्तियों के विषय में विरोध किया गया। अंत में मिस्टर टामसन (फोरमेन), सासून, पोर्टर, फिपसन, आनंदराव वासुदेव, बूलकोम, बाबाजी काशिनाथ, पेस्तमजी वाडिया, और प्रावटर इन व्यक्तियों को ज्यूरी बनाई गई। इन में पांच अंगरेज, एक यहूदी, एक पारसी और दो दक्षिणी थे। फलतः इन ज्यूररों के नाम सुनते ही लोगों को इस बात का तो विश्वास हो गया की फैसला इकतर्फ़ा नहीं हो सकता; हाँ तो जब आरोपी ने अपराध से इन्कार कर दिया, तब फरियादी की ओरसे एडवोकेट जनरल मि. लंग (इनके साथ मेकफ़रसेन और स्ट्रैंगमेन ये दो सहायक भी थे।), ने अभियोग को सुनाना आरंभ किया। उन्होंने केसरी के भिन्न २ लेख पढ़कर सुनाये, अंत में उनपर कुछ टीकाटिप्पणी भी की। बीच २ में कुछ लेख सुबूत के लिए भी पेश किये और उनके विषय में ग्राह्याग्राह्यता पर विवाद भी हुआ। किंतु उनमें से बहुत सी बातें अस्वीकार की गईं, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वे नामंजूर करने जैसी ही थीं। डिफेंसविषयक शिकायतें बतलाई जाते समय सारा व्यवहार मराठी में ही हो रहा था, अतएव शीघ्र ही प्यू साहब को अपने शब्दज्ञान का संग्रह अपर्याप्त प्रतीत होनेके कारण उन्हें तिलक से सहायता लेना अनिवार्य हो गया। फलतः उन्होंने अदालत से प्रार्थना की कि वह आरोपी को मेरे पीछे कुर्सीपर बैठने दे। और जब यह प्रार्थना स्वीकार करली गई तब तिलक कठघरे में से निकलकर अपने सालिसीटर के पास जा बैठे। अतएव सारे कठघरे में अकेले केशवराव बाल ही खड़े रह गये।

प्यू साहब की यह कार्यवाही शीघ्र ही दूरदर्शितायुक्त सिद्ध हुई । क्यों कि पहले गवाह और अभियोगी सरकारी ओरियेन्टल ट्रान्सलेटर मि. मिर्जा अब्बास अली बेग का बयान शुरू होते ही प्रथमतः इस पर थोड़ी देर तक चर्चा हुई कि अभियोग के लिए बाक़ायदा मंजूरी ली गई है या नहीं; और इसके बाद शब्दार्थ पर प्रश्नोत्तर होने लगे । क्यों कि खुद तिलक ही बेरिस्टर के पास यथास्थान सब बातें बतलानेके लिए बैठे हुए थे; अतएव इनके पक्ष की बहुत कुछ रक्षा हुई । मि. बेग की गवाही में सबसे पहले अभियोग के लिए सरकारी मंजूरी होने या न होनेके विषय में प्यू साहब ने यह मत प्रकट किया कि इस मंजूरी में यह बात कहीं भी नहीं लिखी गई है कि अमुक लेखपर से अभियोग चलाया जाय । किंतु १२४ अ के अपराध के लिए क्रिमिनल प्रोसीजर की दफा १९६ के अनुसार निश्चित लेख के विषय में मंजूरी होना आवश्यक है । इसपर एडवोकेट जनरल ने यह कह दिया कि, लेखी मंजूरी की भी आवश्यकता नहीं है, केवल सम्मति से ही काम चल सकता है । सिवाय इसके उन्होंने मामला दायर होनेके बाद का एक हुक्म बतौर पुरौनी के दाखिल किया था । उसके विषय में प्यू साहब ने बाधा उपस्थित करते हुए कहा कि तिलक की गिरफ्दारी के बाद से ही सब बातें बेक़ायदा होने लगी हैं । किंतु अंत में न्या. स्ट्रेची ने यह फैसला किया कि, राजद्रोह का अभियोग हरएक व्यक्ति नहीं चला सकता, केवल सरकार ही उसे कायम कर सकती है । यही इस मंजूरी की दफा का मतलब है । अतएव यदि मंजूरी के कागजात अधूरे या बे सिलसिला हों तो भी इस दावे के लिए सरकार की सम्मति रहनेकी बात निश्चित सी है, अतएव मैं इस शिकायत को नामंजूर करता हूं ।

इसके बाद मिर्जा साहब की गवाही फिर शुरू हुई और उस में उन्होंने अन्य कागजपत्र दाखिल किये । इसके बाद जिरह शुरू हुई । पहले दिन की जिरह कोई विशेष बात सिद्ध नहीं हुई । दूसरे दिन जिरह में अनेक शब्द एवं उनके अनुवाद पर चर्चा होती रही । किंतु एक प्रकार से जहां वह केवल तमाशे की तरह थी, वहीं वह दूसरे अर्थ में वह कौतुकास्पद भी थी । तमाशा यह था कि मराठी शब्दों की चर्चा करनेवाले तीन युरोपियन और एक मुसलमान सज्जन थे, अर्थात एडवोकेट जनरल, बेरिष्टर प्यू और न्या. स्ट्रेची इन तीनों के ही हाथ में लेख के मराठी शब्दों का अनुवाद करना निर्भर था । किंतु कौनसा अनुवाद बिलकुल ठीक है और किससे लक्षणा एवं ध्वनि सहित बिना अतिव्याप्ति के ठीक २ अर्थ निकल सकता है यह उस समय विचारणीय विषय था; अतएव अदालत में छिन्न भिन्न किये हुए सत्य का " त्रिधा विभज्य वृषभोरोरवीति " के रूप में जो वर्णन तिलक हमेशा विनोदपूर्वक किया करते थे, वह यहां भलीभांति अनुभव सिद्ध हो रहा

था। क्यों कि साधारण लोकमत इसी प्रकार का था कि ओरियेन्टल ट्रान्सलेटर सभी भाषाओं के विद्वान् होते हैं; किंतु मिर्ज़ा साहब के मराठी भाषासम्बन्धी ज्ञान के विषय में वह केवल धारणामात्र ही रही और अदालत में रखे हुए किन्तु हमेशा धूल फाँकते रहनेवाले कोश ग्रंथों की सफाई अलबत्ता बयान के कारण हो गई। दाद दिलाना, बर्दाश्त करना और नीचे दबा देना तथा स्वातंत्र्य इत्यादि शब्दों पर देर तक चर्चा हुई। और दाद दिलाने का अर्थ दुःखमुक्त करना और उससे आगे चलकर कानून की पर्वाह न करना इत्यादि प्रकार से खींचतान कर बढ़ाया जाने लगा। साथ ही यह प्रश्न भी उपस्थित किया गया कि इस शब्द से 'शस्त्र का उपयोग करने' की ध्वनि क्यों नहीं निकल सकती? बस; इसी वाद विवाद में दूसरा दिन समाप्त हो गया।

तीसरे दिन आरंभ में प्यू साहब ने टाइम्स ऑफ् इंडिया के एक लेख के विषय में शिकायत पेश की। इस पर न्यायाध्यक्ष की ओरसे यह साधारण सिद्धान्त प्रकट किया कि समाचारपत्रों को इस तरह आलोचनात्मक बातें न लिखनी चाहिये, और ज्यूरी जिन समाचार पत्रों को पढ़ा हो उन्हें वह भुला देना चाहिये। इस के बाद फिर मिर्ज़ा साहब से प्रश्नोत्तर किया जाने लगा। आज के दिन इस वाक्य का अर्थ निश्चित करनेमें व्यतीत हो गया कि "अंग्रेज़ों को भारत का राज्य का ताम्रपत्र ईश्वर ने लिखकर नहीं दिया है।" 'अंग्रेज़' शब्द की व्याप्ति और 'नहीं दिया' के व्याकरण पर ही जब ज़ोर शोर के साथ बहस हुई तो फिर 'स्वराज्य' शब्द और 'छाट्न टाका' (साफ कर दो) वाले वाक्य पर किस तरह की भिड़ंत हुई होगी, इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। दूसरा गवाह 'दत्तात्रय दामोदर' केवल केसरी के ग्राहक की हैसियत से अदालत में हाज़िर हुआ था। तीसरा 'नारायण महादेव पुराणिक' नामक गवाह आर्यभूषण प्रेस का एक कार्यकर्ता था, जिसके द्वारा तिलक और बाल का केसरी के साथ का सम्बन्ध सिद्ध कराया गया। किंतु डिफेन्स के समय पृथक् गवाह पेश नहीं किये जानेवाले थे, अतएव फरियादी पक्ष के गवाहों से ही अपने काम की बात कहलवाने का ढंग प्यू साहब ने शुरू कर रक्खा था। पुराणिक की ओरसे पुष्प-वाटिका, हितोपदेश आदि पुस्तकें सुबूत के लिए पेश की गई। चौथे गवाह हेड कंपोज़ीटर काळंगडे ने बयान किया कि केसरी के प्रूफ तिलक के पास भेजे जाते थे, किंतु इस बात को अस्वीकार भी कौन कर रहा था? गायडर साहब ने प्रेस की तलाशी में हिसाब की बहियाँ पेश की और छठे गवाह पुरोहित ने केसरी और पूना के डाकघर का सम्बन्ध बतलाया! उसे पूने का जानकार समझकर प्यू साहब ने उससे यह तो कहलवा ही लिया कि वहां समाज-सुधार के विषय में पार्टियां

बन गई हैं, किंतु इसी के साथ २ उन्होंने उससे पूना के प्लेगसम्बन्धी कारोबार, तिलक की ओर से किये गये दुःखनिवारक प्रयत्न एवं प्लेग अस्पताल के प्रबंधादि के विषय में भी कई उपयुक्त बातें कहलवा ली। क्यों कि उस बिचारे की स्त्री तिलक के प्रयत्नों द्वारा स्थापित हिंदू अस्पताल में ही पड़ी हुई थी ! ऐसी दशा में उसकी बात विशेषरूप से प्रमाणभूत मानी जा सकती थी ! अस्पताल में भोजन सभी हिन्दुओं के लिए एकसा रहता था, शूद्र लोग भी अस्पताल में लिये जाते थे। इन बातों के कहलवाने का आशय केवल यही था कि तिलक के विषय में 'पूना ब्राह्मिन'–अर्थात् केवल ब्राह्मण्याभिमानी एवं संकीर्ण विचार के ब्राह्मण—के नाते युरोपियनों की जो धारणा बनी हुई है, वह दूर हो जाय। सातवे गवाह नारायणराव दातार नामके केसरी के बंबईवाले एजंट थे। इनकी ओरसे बम्बई में केसरी के बाँटे जानेका सुबूत पेश किया जाने पर तिलक और बाल के मातहत अदालत में दिये हुए जवाबदावे पेश किये गये। इसके बाद महत्व की एक बात यह हुई की " खुद न्यायाध्यक्ष ने तिलक को अपने सामने बुलाकर उनसे कुछ मराठी शब्द एवं उनका व्याकरण विषयक स्पष्टीकरण करवाया। क्यों कि इस संभाषण को यथानियम यहां देनेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि इतनी बात हमें अवश्य कह देनी होगी कि, इस अपूर्व सुयोग के प्राप्त होने से तिलक के बैरिष्टर जिस काम को नहीं कर सकते थे यह, अर्थात् शब्दों के निश्चित अर्थ भली भांति समझा देनेका काम इस तरह अनायास ही हो गया। और उस में मनु, याज्ञवल्क्य, दादोबा पाण्डुरंग और रामभाऊ जोशी की अपनी २ ओरसे वहां उपस्थित होना पड़ा।

यह सब हो जानेपर भी मराठी शब्दों के अर्थ अधिक स्पष्ट करनेके लिए किसी बड़े विद्वान् को बुलवाने का विचार न्यायाध्यक्ष महाशय कर ही रहे थे। सच झूठ की तो ईश्वर जाने किन्तु अफवाह यही जोरों पर थी कि डॉ. भाण्डारकर की इस काम के लिए सरकार की ओरसे योजना की जाकर उन्हें हाईकोर्ट के निकट युनीवर्सिटी के भवन में लाकर बिठा भी दिया गया था। किंतु अंत में भाण्डारकर की गवाही न ली जाना सभी दृष्टि से अच्छा हुआ। क्यों कि संमति वय बिल सम्बन्धी विवाद के समय से ही भाण्डारकर और तिलक के बीच का वैमनस्य प्रकट हो गया था। क्रीड़ाभवन के दंगे में तिलक को फँसाने जैसा तार भी भाण्डारकर ने ही भेजा था, ये सब बातें हज़ार भुलाई जानेपर भी एकदम कैसे नाम शेष हो सकती थी ? भाण्डारकर यदि गवाह बनकर खड़े होते तो एक व्याकरणपाठी और दूसरे स्फूर्त वैयाकरण के बीच ज़ोर शोरें का विवाद हो सकता था। और इस तरह सन १८९१ के शास्त्रार्थ सम्बन्धी विवाद की पुनरावृत्ति भी

राई कोर्ट में हो सकती थी। किंतु असल में व्याकरण के सूक्ष्म आधार पर अवलंबित राजद्रोह का आरोप और उस पर से ही आनेवाली सज़ा किसे पच सक्ती थी? क्यों कि इस तरह व्याकरणरूपी औषधि से संशयरूपी कोष्ठबद्धता नष्ट होनेके बदले औरभी बढ़ जाती। कुछ भी समझिये, किंतु उस दिन अनिश्चित दशा में ही संध्या के साढ़े चार बजे अदालत उठ गई।

अगले दिन अर्थात् मुकद्दमें के चौथे दिन (ता. ११ सितंबर) प्रारंभ में ही न्यायमूर्ति ने यह कहा कि मराठी शब्दों के अर्थ के संबन्ध में विशेष प्रमाण न लिये जानेका निश्चय हो चुका है। इस के बाद फौरन ही एडवोकेट जनरल ने फरियादी की ओरसे भाषण शुरू कर दिया। क्यों कि शंतरंज के दाव की तरह अदालत को भी अखीर मौक़ा साधना पड़ता है। यदि तिलक की ओरसे सुबूत पेश किया जाता तो वे. प्यू को शुरू में ही अपना वक्तव्य पेश करनेके लिए खड़ा होना पड़ता, और एडवोकेट जनरल को उनका उत्तर देनेके लिए मौक़ा मिल जाता। किन्तु तिलक को इस तरह सुबूत नहीं देना था; अतएव परभृतिका (कोयल) के न्यायानुसार उन्होंने फरियादी के गवाहों द्वारा ही जिरह में अपना सुबूत पेश कर दिया; और सरकारी बेरिष्टर से पहले भाषण दिलवा कर अपने बैरिष्टर के लिए उसका उत्तर देने योग्य अवसर लाहीं दिया।

एडवोकेट जनरल लँग एक बड़े ही गंभीर वृत्ति के पुरुष थे। उन्होंने आरंभ में केशवराव बाल के विषय में भाषण करते हुए न तो इस मुद्दे को छोड़ा ही कि कानून के अनुसार वे अपराधी सिद्ध होते हैं, और न इसपर उन्होंने अधिक ज़ोर ही दिया। किंतु फिर भी बाल महाशय की मुक्तता तत्काल न होते हुए आरोपी के नाते उन्हें और भी दो दिनों तक कठघरे में खड़ा रहना पड़ा। *आरोपी नं. १* अर्थात् तिलक के विषय में भाषण करते समय यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी यह मनोवृत्ति यथावत् बनी हुई थी। लँग साहब के भाषण का सारांश सामान्यतः इस प्रकार था-" इस बात के सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं है *कि केसरी के लिखनेसे किसी व्यक्ति के चित्त में प्रत्यक्ष रूप से अप्रीति उत्पन्न हुई* है। क्यों कि केवल उसकी संभावना से ही हमारा काम चल सकता है। सरकार के उलट जाने या उसके *मार्ग में रोड़ा* अटकानेका मौक़ा देखते रहने की बुद्धि यदि उस लेख के कारण पाठकों के मन में उत्पन्न हो गई तो वह लेख राजद्रोही समझा जा सकता है। तिलक एक सम्माननीय फेलो है। केसरी सात हज़ार बिकता है। अकेले बम्बई शहर में उसकी नौ सौ प्रतियां बँटती हैं। इसी परसे प्रकट हो जाता है कि पत्र कितना प्रभावशाली है। *ऐसे पत्र के लेखों का प्रभाव उसके* पाठकों पर पड़े बिना रह ही नहीं सकता। केसरी सरकार को परकीय कहता है।

और उसका भाई मराठा तो यहां तक हिम्मत बढ़ा चुका है कि, आगे पीछे कभी न कभी लोगों को शस्त्र हाथ में लेना ही पड़ेगा। यह मैं नहीं कह सकता कि लोग सचमुच ही अन्याय के मारे त्रस्त हो गये हैं। किंतु लेखों में यह बात अवश्य कही गई है। शिवाजी उत्सव में अनुचित बात कुछ भी नहीं है। किंतु उसे राजनैतिक स्वरूप देनेका प्रयत्न किया गया है। और इस तरह उत्सव के बहाने सरकार के विषय में अप्रीति फैलाई गई है। विभूतिपूजा, शिवजयंती, रामजयंती आदि लेख इसी प्रकार के हैं। ब्राह्मणों की दुर्दशा, गोवध, लंका के राजा का वानरों द्वारा किया हुआ विध्वंस, शिवाजी का फिरसे जन्म होनेके लिए प्रार्थना इत्यादि उल्लेख क्या सिद्ध करते हैं? शब्दों के अनुवाद के विषय में शिकायतें हैं। किन्तु अनुवाद करनेवाले जबाबदार आदमी ने सब कुछ सोच समझकर ही लिखा है। यदि हमारा किया हुआ अनुवाद ठीक नहीं है तो इस के लिए तिलक को ही कोई विद्वान गवाह पेश करना चाहिये था। सिवाय इसके केवल एक ही शब्द के विषय में यह प्रश्न नहीं है, क्यों कि सभी लेखों पर एक साथ विचार किया जानेका है। इस बात के कहनेवाले और भी कई लोग पाये जाते है कि भारत की आर्थिक स्थिति बिगड़ी हुई है। किंतु वे लोग शिवाजी के उद्गार की भाषा में इस बात का प्रतिपादन नहीं करते। भारत की दरिद्रता के ही साथ २ धर्मच्छलविषयक प्रतारणा भी की जा रही है। इसी प्रकार यह भी दर्साया जा है कि गोरे लोग मिथ्या कारण दिखलाकर अभियोग से मुक्त कर दिये जाते हैं। तथा इस राज्य में स्त्रियों का अपमान होता है। इन शब्दों के कारण कि शिवाजी के समय में हजारों तलवारें म्यान से निकल पड़ती थी, फैसला कर लेनेका अर्थ सौम्य नहीं रह सकता। अफजलखां के वध की चर्चा ऐतिहासिक हो सकति है। और केवल शिवाजी के ही विषय में भाषण करते हुए हर एक व्यक्ति यह कह सकता है कि उन्होंने जो कुछ किया वह उचित ही था। किंतु उत्सव के बहाने सरकार का सम्बन्ध उसमें लानेसे चर्चा का स्वरूप राजनैतिक हो जाता है। राजसूय यज्ञ और डायमंड ज्युबिली का साम्य केवल कहने भर के लिए दिखलाया गया है। इस राज्य में असंतुष्ट रहना प्रत्येक प्रजाजन का कर्तव्य माना गया है। शिवाजी की अपेक्षा से सारे युरोपियन एवं अमेरिकन ऐतिहासिक पुरुष तुच्छ बतलाये गये हैं। खोया हुआ स्वराज्य फिर प्राप्त करनेके लिए उत्तेजन दिया गया है, और यह प्रकट ही है कि अंगरेजों के आनेके बाद से ही स्वतंत्रता नष्ट हुई है। "जो लोग राष्ट्र को नीचे दबाते हों उन्हें छांट निकालो" इस वाक्य के 'छांट निकालो' शब्द का अर्थ यदि अनुचित न होता तो खुद प्रो. भानु को अदालत में आकर अपने उद्देश्य की शुद्धता के विषय में प्रमाण देना चाहिये था।

क्यों कि खून करनेसे मार्ग के कांटे दूर कर देनेका आशय लिया जाने योग्य प्रति-भाषा मेंच राज्यक्रांति के समय भी काम में लाई जाती थी, किंतु इस का अर्थ स्पष्ट ही प्रकट हो जाता है। घर में घुसे हुए चोरों को घेर कर खड़े जला देने का अर्थ क्या हो सकता है? अंग्रेजों को ताम्रपट दिया हुआ न रहनेका शब्द व्याकरण की दृष्टि से भूतकाल या वर्तमान कुछ भी समझ लिया जाय तो भी उसकी अर्थ-ध्वनि स्पष्ट ही प्रकट हो जाती है। आरोपी की ओरसे बचाव के लिए पेश किये हुए कागजपत्रों का सम्बन्ध इस आरोप से विशेष नहीं है। यदि शिवाजी की समाधी की दुरुस्ती के लिये सरकार की ओरसे कुछ रकम मंजूर कर दी गई या तिलक ने हिंदुओं के लिए प्लेग का अस्पताल भी खोल दिया हो तो इस से क्या? शिवाजी के बहाने हत्या का उपदेश करने और प्लेग के उपायों के लिए सरकार को जुल्मी कहनेसे क्या रोक रुक सकते हैं। प्रमाण के लिये कुछ पुस्तकें पेश की गई है। किन्तु उनके लिखनेवालों के उद्देश्य की तिलक के हेतु से समता नहीं की जा सकती। उनकी बातें राजनैतिक स्थिती को लक्ष्य करके नहीं लिखी गई हैं। सिवाय इसके यदि किसी जोशीले लेखपर इससे पहले कोई अभियोग नहीं चलाया जा सका हो तो क्या इसका आशय यह है कि तिलक पर भी वह न चलाया जाय? सारांश, कितने ही शब्द निरे ऐतिहासिक ही नहीं है, और कई एक का हेतु सरकार के विशिष्ट कृत्यों के विषय में असंतोष प्रकट करनेसे भी आगे बढ़ गया है, अतएव दफा १२४ अ के खुलासे का फायदा भी आरोपी नहीं उठा सकता।"

मि. लैंग ने अपना व्याख्यान लगभग पौने दो घंटे में समाप्त किया, और उनके बाद तिलक की ओरसे भाषण करनेके लिए बेरिस्टर प्यू खड़े हुए। प्यू साहब की भाषणपद्धति भी लैंग की ही तरह सरल और गंभीर थी। यदि एक ओर मेन्सन और दूसरी ओर मार्टेन खड़े होकर बहस करते तो श्रोताओं को कई तरह के तमासे देखने में आते! हां तो, बेरिस्टर प्यू ने आरंभ में यह कहा कि प्रायः सभी बातें इस समय तिलक के प्रतिकूल हैं। यदि रेण्डसाहब की हत्या न होती तो यह मुकद्दमा ही कैसे चल सकता था। और जब मुकद्दमा चला भी तो वह पूने में नहीं चलाया गया। वहां कम से कम जूरी (पंच) मराठी भाषा तो भली भांति समझ सकते थे! किंतु यहां तो न्यायाध्यक्ष और पंच कोई भी मराठी भाषा नहीं जानता। मुकद्दमें से पहले तिलक के विषय में अनेकानेक आलोचनात्मक पत्र कितनेही दैनिक पत्रों में छप चुके थे। इधर पार्लमेन्ट में भी जो कुछ चर्चा हुई वह तिलक के विरुद्ध थी। कुछ गवाह जिनका बुलाया जाना अभियोगी की ओरसे आवश्यक था वेभी नहीं बुलाये गये। हमने जब सुबूत में

कुछ कागजात पेश किये तो कई इधर उधर की बातें पेश करके मि. लॅग को घंटा-डेढ़ घंटा भाषण करने के लिए मौका भी मिला; बर्ना उनके लिए इस तरह विवेचन करनेको कोई विषय ही नहीं हो सकता था। जिन लेखोंपर से अभियोग चलाया गया, उनमें से कई कविता के रूपमें हैं। अत एव यह स्वाभाविक ही था कि उनमें आलंकारिक-पद्धति का उपयोग किया जाता। और यदि आलंकारिक भाषा का शब्दार्थ लेकर ही कोई आरोप करने लगे तो फिर कुछ कहने ही के लिए स्थान नहीं रह जाता। इसके बाद बे. प्यू ने विस्तारपूर्वक बतलाया कि शिवाजी उत्सव मूलतः किस प्रकार आरंभ हुआ, साथही उन्होंने विभूतिपूजा का भी स्वतंत्ररूप से समर्थन किया। क्यों कि वकिलों का यह एक नियम सा होता है कि वे ज्यूरी के लोगों को खुशामद से गुदगुदा लेते हैं। इसी नियमानुसार मि. प्यू ने ज्यूरी के स्कॉच और वेल्श लोगों को उनकी मातृभूमि के राबर्ट ब्रूस, विलियम वालेस सम्बन्धी उत्सवों का स्मरण दिलाकर कहा कि, जिस प्रकार आप लोग अपने उत्सवों में मनमाना बकवाद करते या बड़बड़ाते और आवेशयुक्त भाषण करते हैं, तथा होमरूल मांगने लग जाते हैं, किंतु फिर भी यदि आपको कोई अराजनिष्ठ नहीं बतलाता तो फिर तुम्हें यही नियम तिलक के विषय में भी काम में लाना चाहिये। यह उत्सव ठीक पाश्चात्य भूमिका पर ही खड़ा किया गया है। यही नहीं बल्कि विभूतिपूजावाला लेख भी कार्लाइल के एक निबंध के आधारपर लिखा गया है। पत्रव्यवहार में यदि कहीं कुछ अनुचित शब्दों का प्रयोग भी किया गया हो तो भी वे सम्पादक के नहीं कहे जा सकते। और वैसे निर्भीक स्पष्टोक्ति में ज़ोरदार शब्दों का प्रयोग होता ही है। ऐसी दशा में अफ़ज़लखां के वध का समर्थन किया जानेसे यह नहीं कहा जा सकता कि उसके द्वारा रेण्डसाहब की हत्या के लिए उत्तेजन दिया गया है। यदि सचमुच ही सरकार को जान पड़ता कि तिलक ने इस हत्या के लिए लोगों को उत्तेजित किया है, तो उसने उनपर पिनल कोड की हत्या के लिए भड़काने विषयक दफा लगाई होती। फिर समझ में नहीं आता कि उसके दफा १२४ अ की तरह मामूली अपराध उनपर क्यों लगाया? अफ़जलखां के वध की चर्चा जब तिलक के सिवाय अन्य कितने ही लोगों ने की है तो फिर अकेले तिलकपर ही सारा दोष क्यों डाला जाता है? यदि यह कहा जाय कि आगे चलकर हत्या करानेके आशय से ही यह चर्चा शुरू की गई थी, तो यह भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्यों कि यह चर्चा तो उस समय शुरू हुई जब कि प्लेग का कहीं पता तक न था। इसी प्रकार क्या प्रो. भानू और तिलक जैसे परस्पर विरुद्ध राजनैतिक पक्ष के लोग हत्या के उद्देश्य से उत्सव में शामिल हो सकते हैं? राजद्रोह का जो अर्थ विलायत में लगाया जाता है, वही

भारत में भी होना चाहिये। यदि प्रजा के कष्टों का चटपटी भाषा में वर्णन कर असंतोष उत्पन्न किया जाय तो वह राजद्रोह नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी एक हत्या के कारण ही यह नहीं कहा जा सकता कि उससे सारी ब्रिटिश सत्ता-पर ही कोई अनिष्ट ढाया गया है। जब हत्या विषयक कोई षड्यंत्र ही नहीं पाया गया, तो फिर इतने बड़े राज्य को उलट देनेके लिए प्रयत्न किया जाना कैसे संभव हो सकता है? यदि ज्युबिलीसम्बन्धी तिलक के लेख पढ़े जायँ तो उनपर से उनकी बुद्धिमत्ता की ही तरह राजनिष्ठा भी सिद्ध की जा सकती है। इसी प्रकार गवर्नर लॉर्ड सेन्डहर्स्ट के विषय में भी तिलक के चित्त में किसी प्रकार का द्वेष-भाव होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। बल्कि इसके विरुद्ध तिलक ने यही लिखा कि वे लोगों की अर्ज़ियाँ मंजूर करके उनका कष्ट निवारण करते हुए हृदय से आशीर्वाद लें। यदि तिलक के चित्त में राज्यक्रान्ति करनेका ही विचार होता तो प्लेग के जमाने से बढ़कर अच्छा मौक़ा उन्हें मिल ही कैसे सकता था? किन्तु उन्होंने विद्रोह न मचाते हुए प्लेग का अस्पताल ही खोला!

उस दिन मध्याह्न का नाश्ता हो जानेके बाद फिर मामले की शुरूआत हुई। इस समय मि. प्यू ने आक्षेपित लेखों में से एकएक को लेकर उनका समर्थन किया। किन्तु उसे सम्पूर्ण या संक्षेप में भी यदि यहां दिया जाय तो विस्तार बहुत अधिक हो जायगा, अतएव विवश होके उसे छोड़ देना पड़ता है। मुकदमें के पांचवे दिन अर्थात् ता. १३ सितंबर को मि. प्यू ने अपने भाषण का वह चर्चात्मक भाग समाप्त करके दफ़ा १२४ अ का सच्चा आशय बतलाना शुरू किया। आरंभ में इस दफ़ा से सम्बन्ध रखनेवाला इतिहास बतलाकर इस मुद्दे पर कि–इस धारा के अनुसार अपराध होनेमें किस प्रकार का हेतु आवश्यक होता है–मूल पिनल कोड की दफ़ा मंजूर होते समय पिनल कोड कमेटी में और उसके बाद धारासभा में जो चर्चा हुई थी, वह डिफेन्स के लिए सब प्रकार उपयुक्त होने-से मि. प्यू उसे पढ़कर सुनाने लगे। इस पर उनके और न्यायाध्यक्ष के बीच जोरोंका विवाद हुआ, और "डिस् अफेक्शन्" शब्द के अर्थ पर भी जोरोंकी बहस हुई। इसी प्रकार डिफेन्स के लिए जो समर्थनात्मक या समानार्थक लेखवाले ग्रंथ सुबूत में पेश किये गये थे, उनपर चर्चा होकर अंत में बारम्बार यह कहते हुए कि यह अभियोग ऐसा ही है जिस में कि पंच लोग आरोपी को निरपराध सिद्ध कर सकते हैं, प्यू. साहब ने अपना भाषण समाप्त किया।

उस समय लगभग साढ़े तीन बजे थे। किंतु यह सोच कर कि ज्यूरीको सारा अभियोग सुनानेमें बड़ी देर लग जायगी, अतएव यह काम कलपर छोड़ न्यायाध्यक्ष उठ खड़े हुए, किंतु इस तरह समय बढ़ानेका एक आशय और भी

था जो कि आगे चलकर प्रकट हुआ। उसका मुख्य आशय यह था कि न्यायाध्यक्ष को उपसंहार के रूप में जो भाषण करना पड़ता है, वह अभी उन्हें लिखकर तैयार करना था। फलतः अगले दिन (ता. १४ सितंबर) न्यायमूर्ति ने इस उपसंहार का आरंभ किया। इस वक्तव्य के समाप्त होते २ श्याम के पांच बज गये। इस उपसंहार का सारांश देनेके प्रपंच में भी हम पड़ना नहीं चाहते, क्यौं कि ऐसा करनेसे इस प्रकरण का विस्तार बहुत ज्यादा हो जायगा। केवल तीन ही बातें जो कि उस उपसंहार में मुख्य थीं, और उनमें से केवल एक बात ऐसी थी जो कि तिलक के लिए अनुकूल कही जा सकती है। वह यह कि, तिलक के लेख और रेण्डसाहब की हत्या के बीच किसी प्रकार का कार्यकारणसंबन्ध न रहने एवं एडवोकेट जनरल के द्वारा उसके किसी तरह भी सिद्ध न हो सकने की बात न्यायाध्यक्ष ने स्वीकार की। किंतु राजद्रोह करने विषयक तिलक का अपराध उन्होंने कायम ही रक्खा। अभियोगी पक्ष के प्रत्येक लेख के लगभग प्रत्येक वाक्य को उन्होंने द्वेषमूलक सिद्ध किया। साथ ही उन्होंने राजद्रोह की धारा के सरल शब्दों का इस तरह अर्थविपर्यास भी किया कि, राजद्रोह का अपराध होनेके लिए राज्य को उलट देनेकी तैयारी अथवा उस प्रकार का इरादा साबित करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहती, यही नहीं बल्कि सरकार के विषय में प्रेमभाव न होना ही द्वेषवृत्ति को सिद्ध कर देता है। इत्यादि। न्यायमूर्ति स्ट्रेची के इस अर्थ पर खुद सरकार का पहला विश्वास, न्यायालय का प्रस्ताव, और लोगों का प्रत्यक्ष आचरण इत्यादि की इतनी प्रतिकूल पुटें लगी हुई हैं कि आज उनके इस पाण्डित्य को कोड़ी मोल भी कोई नहीं पूछता। किंतु जिस प्रकार सैंकड़ों रोगी के प्राणहरण करनेपर ही कोई वैद्य पूर्ण अनुभवी हो सकता है उसी प्रकार आरोपियों को अन्याय पूर्वक दंड देते २ ही न्यायमूर्ति भी सच्चा न्याय करने लगता है। यदि अन्यायपूर्वक दी हुई सजा का भोगना राजनैतिक अपमृत्यु मान लिया जाय, तो तिलक ने सजा भोगकर राजद्रोह का सच्चा अर्थ सिद्ध करनेमें जो सहायता पहुँचाई वह कमसे कम तीसरे जन्म में तो उन्हें काम आही गई, ऐसा हम कह सकते हैं।

हाँ, तो श्याम के पांच बजे न्यायाध्यक्ष का उपसंहार समाप्त होते ही पंच लोग उठकर दूसरी ओरके दालन में चले गये। उनके वापस आनेतक के लिए अदालत के पास कोई काम ही नहीं था। अतएव इस अवसर से लाभ उठाकर वे. प्यू ने आगेके लिए अपील का बीजारोपण करनेके विचार से ही मानों, न्यायाध्यक्ष के दोषों का उन्हीं के सामने हि दर्शन करा दिया। और 'डिस् लायल्टी' एवं 'डिस अफेक्शन' आदि शब्दों के वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ के विषय में दोनों

के बीच बहुत कुछ वाद-विवाद भी हुआ। किंतु न्यायाध्यक्ष ने अपनी अधिकार-युक्त वाणी से यह कह कर इस विवाद को समाप्त कर दिया कि मैंने सब बातों का विचार करके ही ऐसा किया है।

लगभग पौन घण्टे में ज्यूरी वापस लौटी, और उसने आते ही कह दिया कि आरोपी नं. २ केशवराव बाल आर्यभूषण प्रेस के कार्यकर्ता और असिस्टंट मैनेजर को हम एकदम निर्दोष सिद्ध करते हैं। किंतु आरोपी नं. १ के विषय में अलबत्ता यह एकमत न रह सका। क्यों कि छह पंचों ने उन्हें दोषी बतलाया था और तीन ने निर्दोष। फलतः न्यायाध्यक्ष ने भी इस बहुमत के निर्णय को ही मान्य किया। इसके बाद तत्काल ही क्लार्क ऑफ् दि क्राउन ने तिलक से पूछा कि यद्यपि तुम पर आरोप सिद्ध हो चुका है, किंतु फिर भी यदि अपनी बरीयत के लिए कुछ कहना चाहते हो तो तुम्हें इजाज़त दी जाती है। इसपर तिलक ने यह कहा कि " ज्यूरी भले ही मुझे दोषी बतलाती रहे किन्तु मैं तो अपने आपको निर्दोष ही समझता हूं। साथ ही मैं यह भी कह देना चाहता हूं कि मैंने ये लेख राजद्रोह के उद्देश्य को सामने रख कर नहीं लिखे हैं, और मैं नहीं समझता कि उनका परिणाम भी राजद्रोह उत्पन्न करनेवाला होगा। लेख में प्रयुक्त शब्दों का भी अर्थ करनेके लिए सरकार की ओरसे ही किसी विद्वान् को बुलवाना चाहिये था, सो उसने वह भी नहीं बुलाया"। किंतु तिलक के बतलाये हुए ये कारण न्यायमूर्ति को कैसे पट सकते थे? इसी लिए उन्होंने तिलक को सावधान करके कहा कि, मुझे विश्वास हो गया है कि तुमने ये लेख अपने पाठकों के चित्त में अराजनिष्ठा उत्पन्न करने ही के उद्देश्य से लिखे थे। इसी प्रकार " यद्यपि तुम्हारा अपराध बड़ा अवश्य है किंतु भयंकर नहीं है, इस देश में राजद्रोह का यह अभियोग दूसरा ही कहा जा सकता है। कदाचित् तुमने यह सोचा होगा कि दफ़ा १२४ अ एक बहुत पुरानी और अलग पड़ी हुई दफ़ा है। इस लिए निडर होकर जो जी में आया वही लिखा जा सकता है। प्लेग के विषय में तुमने सरकार और जनता की बहुत बड़ी सेवा की है। किन्तु फिर भी तुम्हारी बुद्धिमत्ता और विद्वत्ता पर विचार करते हुए यही कहना पड़ता है कि ऐसे लेख लिखकर तुमने बहुतही बुरा काम किया है। और आगे भी यदि तुमने ऐसे लेख लिखे होते तो अवश्य ही लोगोंपर आफ़त आये बिना न रहती। इन सब बातोंका विचार करके मैं तुम्हें केवल अठारह महिने की सख्त मजदूरी सहित जेल की सज़ा देता हूं। " इसके बाद श्री. बाल को सम्बोधित करके न्यायाध्यक्ष ने कहा कि " तुम्हें निर्दोष सिद्धकर छोड़ दिया जाता है। " इस तरह श्याम को लगभग साढ़े छह बजे

अदालत बर्खास्त हुई और पुलिसके अधिकारियों ने तिलक को नीचे लाकर गाड़ी में बिठा एकदम जेलकी ओर रवाना कर दिया।

इस तरह सजा हो जाने के बाद अपील होना स्वाभाविक ही था। किंतु यह अपील लेटर्स पेटंट की तरह विलायत की प्रीव्ही कौंसिल में ही हो सकती थी। पर साथ ही इसके ऐसी अपील के लिए ही पहले हाई कोर्ट के प्रधान न्यायाध्यक्ष के सामने अर्ज़ी पेश कर आज्ञा प्राप्त करना अथवा कमसे कम उसके विषय में हां या ना का उत्तर ले लेना अनिवार्य था। अतएव बैरिष्टर प्यू की सम्मति से तत्काल ही सालिसीटर भाईशंकर और कांगाने एक चौदह क़लम की अर्जी तैयार की, क्यों कि वह अर्जी महत्त्वपूर्ण थी, और ख़ास कर तिलक के साथ किये गये अन्याय के विषय में बाक़ायदा शिकायत का उस में निष्कर्ष निकाला गया था, अतएव उसका कुछ अंश इस परिच्छेद के अंत में परिशिष्टरूप से दे दिया गया है।

अपील की अर्जी पर ता. १७ सितंबर को तिलक के प्रतिज्ञालेख एवं हस्ताक्षर करवाकर तत्काल ही वह अदालत में पेश कर दी गई। और उस पर ता. २४ सितंबर को हाई कोर्ट फुल बेंच में विचार हुआ। पर फुल बेंच होते हुए भी इस में केवल तीन ही जज अपील सुनने के लिए बैठे थे। उनके नाम फॅरन, कॅंडी और स्टॅाची थे। क्यों कि यह अपील स्ट्राची के दिये हुए फैसले के विरुद्ध थी, किंतु फिर भी वे न्यायाध्यक्ष की त्रिमूर्तियों में मिलकर ही बैठे थे। यही नहीं बल्कि खुद उन्होंने तिलक के बेरिष्टर मि. रसेल से कितने ही चर्चात्मक प्रश्न करके उन्हें कुंठित करनेका भी प्रयत्न किया था। किंतु रसेल के भाषण के पश्चात् सरकार की ओर से एडवोकट जनरल मि. लंग की वक्तृता हुई, और इस के बाद तत्काल ही न्या. फॅरन ने अदालत का फैसला सुना दिया। उन्होंने कहा कि इस अभियोग के लिए प्रीव्ही कौंसिल में अपील करनेका अधिकार नहीं है। अतएव हमें केवल यही देखना हैं कि इस मामले में कोई विशेष अन्याय हुआ है या नहीं! क्यों कि दावा ख़ास बम्बई सरकार की ओरसे ही पेश किया गया था, अतएव उस के लिए मंजूरी लेने या उसे अपूर्ण बतलाने का मुद्दा ही शेष नहीं रह सकता, सिवाय में न्या. स्ट्रेची ने ज्यूरी को क़ानून का अर्थ समझाया वह भी सब तरह ठीक ही था। 'प्रीति का अभाव' कहा तो भी क्या और 'प्रीति के लिए प्रतिरोधक भावना' कहा तो भी क्या। आशय दोनों का एक ही है। सरकार की ओरसे शब्द का अर्थ अप्रयुक्त किया जानेकी शिकायत भी व्यर्थ ही है। जब इस तरह जब कि अपील करने योग्य कोई मुद्दा ही नहीं निकलता तो फिर हम अपील के लिए आज्ञा कैसे दे सक्ते है। इस तरह बम्बई हाई

कोर्ट में तिलकसम्बन्धी कार्यवाही समाप्त हो गई। किन्तु स्पेशल अपील के रूप में प्रीव्ही कौंसिल में यह मामला पेश किया जा सकता था, अतएव तत्काल ही वह वहां दायर कर दिया।

इधर तिलक के जेल चले जानेके बाद उनके मित्रों और सहायकों के सामने यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि 'केसरी' और 'मराठा' के लिए क्या प्रबंध किया जाय। ता. १० अगस्त सन १८९७ के अंकतक तो प्रेस लाइन में "यह पत्र आर्यभूषण प्रेस में हरी नारायण गोखले ने छापा और बाल गंगाधर तिलक ने प्रकाशित किया" इस तरह बाकायदा उल्लेख किया जाता रहा, साथ ही ता. १७ अगस्त के अंक से तिलक को सजा दी जानेतक संपादक और प्रकाशक के नाते तिलक का तो नाम कायम ही रहा, किंतु मुद्रक के स्थानपर हरि नारायण गोखले की जगह बलवंत कृष्ण कोल्हांगडे का नाम दिया गया। इसका आशय यह था कि गोखले ने तिलक पर अभियोग चलाया जाते ही केसरी के मुद्रक की हैसियत से अपनी जिम्मेदारी छोड़ दी। और उन्होंने असली प्रिंटर पर ही सारा भार डाल दिया। इसके बाद तिलक को सजा हो जाने पर तो परस्पर दूसरे के ही नाम से क्यों न हो किंतु केसरी के आर्यभूषण प्रेस में छापनेकी जवाबदारी गोखले न ले सके। अतएव तिलक को सजा होते ही उन्होंने विध्वंस को बुलाकर तत्काल उत्तर दे डाला कि अब से आप चाहे जिस दूसरे प्रेस में केसरी के छपानेका प्रबंध करलें। तिलक और गोखले के बीच आर्यभूषण प्रेस में केसरी के छापने विषयक जो इकरार हुआ था वह सन १८९४ के पहले ही समाप्त हो गया था, किंतु फिर भी उसमें लिखे अनुसार गोखले को पत्र न छाप सकनेके लिए तीन महिने पहले से नोटिस देना चाहिये था। और तिलक पर चलाये गये अभियोग का विचार करते हुए इस प्रकार का नोटिस दिया जाना ही सब तरह उचित था। सिवाय इसके मुद्रक के स्थान पर से अपना नाम हटा लेनेके बाद तो गोखले पर न्यायतः कोई जवाबदारी रह ही नहीं सकती थी। और क्यों कि उस समय तक प्रेस-एक्ट की रचना नहीं हुई थी अतएव प्रेस से जमानत लेने या उसे जब्त कर लेनेकी आफत भी प्रेसपर नहीं आ सकती थी। किंतु फिर भी गोखले ने अपनी हेकड़ कायम ही रक्खी, और केसरी को छापने से एकदम इन्कार करनेके साथ ही उन्होंने विध्वंस को इस प्रकार की विचित्र सलाह दी कि, तिलक के छूटकर आने तक तुम भी केसरी और मराठा दोनों को बंद रक्खो! किंतु इस सलाह को विध्वंस या तिलक के मित्र लोग एवं उनके सहकारी क्यों कर मान सकते थे? अतएव शीघ्र ही किसी दूसरे प्रेस से ठीक-ठाक करके पत्र को छपवानेका निश्चय कर लिया गया। क्यों कि सम्पादक के लिए 'डिक्लरेशन' करनेवाले

व्यक्ति मिल जानेपर भी सच्ची कठिनाई प्रेससम्बधी ही थी। तिलक के सहकारी के नाते सन १८९६ के मार्च से ही नरसिंह चिंतामण केलकर पूना आकर दाखिल हो गये थे और इसी वर्ष के अंततक कृष्णाजी प्रभाकर खाडिलकर भी वहीं आकर काम करने लगे थे। सन १८९६ के सितंबर से तो केलकर तिलक की देखरेख में मराठा के लिए अग्रलेख सहित सारा मेटर भी लिखने लगे थे; और इधर खाडिलकर ने भी केसरी में तिलक की देखरेख में लिखना शुरू कर दिया था। अतएव इन दोनों में से कोई एक सम्पादक की जवाबदारी तो अपने सिर ले सकता था, किन्तु बात की बात में प्रेस कैसे तैयार हो जाता? फिर भी सौभाग्यवश यह असुविधा समय पर दूर होगई।

भिड़े नामक एक पेंशनर सज्जन थे, जिन्होंने कि रविवार पेठ में फड़तरे के बाड़ेमें " श्री विठ्ठल " नाम का प्रेस खोल रक्खा था। इन महाशय ने तत्काल ही केसरी छाप देना स्वीकार कर लिया। हाँ, इतना अवश्य किया गया कि आगे के लिए मुद्रक और संपादक के नाते जुदे २ व्यक्तियों के नाम न रखते हुए किसी एक ही के सिर यह सारी जवाबदारी डाल देनेके निश्चयानुसार केलकर ने सिटी मजिस्ट्रेट के सामने केसरी के संपादककी हैसियत से डिक्लरेशन दाखिल किया, और ता. २१ सितंबर के अंक से " यह पत्र रविवार पेठ के श्री विठ्ठल प्रेस में छापकर नरसिंह चिंतामण केलकर ने प्रकाशित किया " इस तरह उल्लेख किया जाने लगा। ' मराठा ' का डिक्लरेशन भी केलकर ने ही किया और ता. १९ सितंबर से यह पत्र भी उन्ही के नाम से निकलने लगा। इस संपूर्ण नई व्यवस्था के कारण प्रबंधक के नाते धोंडोपंत विध्वंस को बड़ी मुसीबत का सामना करना पड़ा। आर्यभूषण प्रेस में केसरी छापनेसे इन्कार कर देने पर केलकर और विध्वंस ने हरिभाऊ गोखले से झगड़ा भी कर देखा। किंतु जब उसमें सफलता मिलती न दिखाई दी, तब प्रेस की व्यवस्था तो प्रथक्रूप से करनी ही पड़ी, साथ ही पत्र की रवानगी एवं हिसाब की नई वहियों का प्रबंध कर सारा कार्य नये सिरेसे जमानेके लिए विध्वंस को विंचूरकर के बाड़े में अलग ऑफिस खोलना पड़ा। यह कार्य उन्होंने ता. १९ सितंबर सन १८९७ के दिन से विंचूरकर के बाड़े में तिलक के रहनेके मकान में दो देवद्वारी खोके रखकर आरंभ किया, और तबसे आजतक केसरी के कार्यालय को उत्तरोत्तर जो उन्नत स्वरूप प्राप्त हुआ है, उसका श्रेय मुख्यतः तिलक के साथ २ अकेले विध्वंस को ही दिया जा सकता है। ता.२१ सितंबर के अंक में केसरी के प्रबन्धकर्ता ने अपने ग्राहकों से इस प्रकार प्रार्थना की थी:—" केसरी पर भयंकर आपत्ति आजानेसे छोटे बड़े कार्यों में भी कुछ गड़बड़ होने की संभावना है। किंतु इसके लिए पाठक हमें क्षमा करेंगे "। क्यों कि

ग्राहकों की केसरी के साथ हृदय से सहानुभूति थी, अतएव इस बात के पृथक्-रूप से उल्लेख करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि उन लोगों ने इन असुविधाओं पर ध्यान न दिया होगा। अबसे जो नये ग्राहक होते थे वे अभी पुराने पतेपर ही चिट्ठीपत्री भेजते रहते थे, अतएव उनके समयपर मिलनेका प्रबंध न हो सका। अंततः केसरी में यह सूचना प्रकाशित करनी पड़ी कि सब प्रकार के पत्र नये संपादक केलकर के घर के पतेपर भेजे जाँय। किंतु शीघ्रही कार्यालय की व्यवस्था जमगई और विठ्ठल प्रेस के मालिक एवं प्रबंधक ने नई जवाबदारी सिर लेकर भी समयपर केसरी छाप देनेके काम में बड़ी दक्षता दिखाई। लॉ-क्लास की बीच में कुछ दिनों के लिए छुट्टी थी; सो उसे भी फिर ता. ३ अक्टूबर से शुरू करनेकी सूचना केलकर ने प्रकाशित करदी। लोगों को स्वप्न में भी इस बात की कल्पना न हुई होगी कि ये सब बातें इस तरह शांतिपूर्वक व्यवस्थित हो जायँगी। ता १३ सितंबर रविवार को दो पहर तक 'मराठा' प्रकाशित न हो सकनेसे लोगों ने समझा कि तिलक के दोनों पत्र बन्द हो जायँगे। किंतु केवल 'मराठा' ही रविवार के बदले सोमवार को निकला, केसरी वही ठीक मंगलवार के दिन यथासमय प्रकाशित हुआ। इस क्रम को देखते ही पूने से टाइम्स के नाम एक तार भेजा गया, जिसे कि उसने मुख्यस्थान में प्रकाशित किया। तार का सारांश यह था कि, तिलक के दोनों पत्र फिर प्रकाशित होने लगे और केलकर नाम के एक एल्एल्. बी. सज्जन ने दोनों पत्रों का डिक्लरेशन किया है।

इधर विलायत में अपील की योजना भी तत्काल होगई। और शनीवार ता. २ अक्टूबर के मेल स्टीमर से तिलक के मित्र मा. दाजी आबाजी खरे केसरी सम्बन्धी अभियोग के काग़ज़पत्र लेकर लंदन के लिए रवाना हो गये। इसके बाद ता. १६ अक्टूबर को सालिसीटर कांगा को भी बचे हुए काग़ज़ात लेकर विलायत भेजनेका निश्चय हुआ। क्यों कि अभियोग महत्व का था, अतएव तत्संबन्धी संपूर्ण विवरणसहित पुस्तक का प्रकाशित होना आवश्यक था। फलतः डिफेन्स के लिए जो शार्ट हैंयड रिपोर्टर नियुक्त किया गया था, उससे जब सारा विवरण वकीलों के बहस मुबाहिसे सहित शीघ्रही मिल गया। ऐसी दशा में अंगरेजी पुस्तक फौरन् ही प्रकाशित हो गई। इसके लिए बे. देशपांडे ने तिलक का एक छोटासा चरित्र लिख दिया और बे. सेटलूर ने चर्चात्मक प्रस्तावना, तैयार कर दी थी। रहा छपाई का काम; सो उसे भी महादेव कृष्ण देशमुख ने स्फूर्ति से पूरा कर दिया। इसके बाद एक मराठी पुस्तक भी खंडेराव भिकाजी बेलसरे ने थोड़े ही दिनों में निकाली; किंतु अंगरेजी पुस्तक के आधारपर मराठी आवृत्ति तैयार होनेकी थी, अतएव सन १९१८ के प्रारंभ तक यह पुस्तक न निकल सकी। पर इस विलंब

से एक लाभ बेलसरे का यह हुआ कि ता. १६ नवंबर सन १८६७ के दिन लंदन की प्रीवी कौंसिल में तिलक की अपील सम्बन्धी जो अर्ज़ी पेश हुई थी, उसका वर्णन भी वे इस पुस्तक में दे सके।

तिलक के अभियोग-सम्बन्धी लोकमत के विषय में यहां विशेपरूप से लिखनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। क्यों कि एक तरफ से देश के स समाचारपत्रों ने तिलक को दी हुई सजा का विरोध ही किया। और दो एक अ रेजी पत्रों को छोड़कर शेप सभी एँग्लो-इंडियन और विलायती पत्रों ने यही क कि जो कुछ हुआ वह अच्छा ही हुआ। यही नहीं बल्कि कितने ही पत्रों ने तिलक की मिली हुई सजा कम बतलाकर सरकार को सलाह दी कि वह अप करके बढ़वा दे। किंतु ऐसा हो सकना एकदम ही असंभव था। इस अभिये में देशी-विदेशी का अन्तर सभी दृष्टि से दिखाई दिया। ज्यूरी में जितने अंगरेज उन सब ने तिलक को दोषी बतलाया और भारतीय ज्यूररों ने उन्हें निर्दोष सि किया। अंगरेजों ने तिलक को सजा दी जाने पर उसी दिन खूब गुलछर्रे उड़ा किन्तु इसके विरुद्ध मिल मज़दूर तक कितने ही तिलक भक्तों ने उस दिन उ वास भी किया। कितने ही कालेज के विद्यार्थियों ने स्वेच्छापूर्वक दो-एक दि छुट्टीयां मनाई और कई-एक विद्यार्थी अपनी भुजाओं में काले कपड़े बाँधक घूमने लगे। किंतु दुःख प्रदर्शन का यह ढंग केवल विद्यार्थियोंतक ही परिमि न था, बल्कि अमृतबाजार पत्रिका और हिन्दू आदि दूरस्थ पत्रों ने भी का बार्डर लगाकर यही भावना व्यक्त की कि इस अभियोग से मुद्रण-स्वातंत्र्य न हो गया है।

दफ़ा १२४ अ के विपरीत अर्थ एवं न्या. स्ट्रेची के एकतर्फा उपसंहार से लोग सरकार पर जितने असंतुष्ट हुए, उतने ही अंश में तिलक के प्रति उनकी सहानुभूति बढ़नेके कारण भी उपस्थित हो गये, तिलक की विद्वत्ता और उनकी देशभक्ति के विषय में तो सभी के चित्त में आदरभाव था ही, किंतु इसी के साथ २ तिलक के कुछ मित्रों की मध्यस्थी में तिलक से क्षमा प्रार्थना करवाकर इस अभियोग को उठा लेनेकी भी कोशिश की जा रही थी। किंतु तिलक ने क्षमा मांगनेसे साफ इन्कार कर दिया। ऐसी दशा में यदि लोग मनहीमन गोखले की मांगी हुई माफी और तिलक की ओरसे उसका इन्कार किया जाने की तुलना करे तो यह स्वाभाविक ही था। अमृतबाज़ार पत्रिका के सम्पादक मोतीलाल घोष के पत्र का जो उत्तर तिलक ने गिरफ्तारी के बाद किंतु फैसले से पहले लिख भेजा उस में एक महत्व का वाक्य यह था कि "प्रो. गोखले या ज्ञानप्रकाश के संपादक की तरह मेरी लेखनी लल्लोचप्पो करनेवाली नहीं है"—

'कार्-एम् वाँट यु कवा रीड'। इस वाक्य में गोखले की साहस-हीनता बतलाने की अपेक्षा तिलक का आशय अपनी लेखनीकी गंभीरता प्रकट करना ही प्रधान रूप से था। कुछ भी हो, किंतु केवल क्षमा प्रार्थना कर लेनेसे ही दोषमुक्त कर दिये जानेकी संभावना रहते हुए भी तिलक ने उससे इन्कार कर दिया यह निर्विवाद सिद्ध है, और इस बात के प्रकट हो जानेसे तिलक के धैर्य्य का सिक्का लोगों के चित्तपर और भी अधिक जम गया।

तिलक के विषय में सहानुभूति उत्पन्न करनेवाली एक घटना और भी हो गई। वह यह कि, रेण्डसाहब की हत्या करनेवाले का भी पुलिस ने पता लगा लेया। साथ ही सरकार को भी यह बात समझ में आगई की कितने ही लोगों को शंका रहते हुए भी इस हत्या के अभियोग में तिलक का सम्बन्ध अप्रत्यक्ष रूप से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। यद्यपि अभियोग चलाया जाने तक तो सरकार की संशयनिवृत्ति नहीं हो पाई थी, किंतु अब वह धीरे २ कम होने लगी, और एडवोकेट जनरल का भाषण होनेतक इस दृष्टि से वातावरण के बहुत कुछ शुद्ध हो जानेका उल्लेख हम पहले एक बार कर ही चुके हैं। इन बातों का उपयोग केवल यही हुआ कि तिलक को जो बहुत बड़ी सजा मिलनेवाली थी वह घटकर अठारह महिने की होगई। किंतु इसके बाद उनके छुटकारे के विषय में जो प्रयत्न हुए उनमें इस संशयनिवृत्ति से बड़ा लाभ पहुँचा। जिस प्रकार इस हत्या के विषय में तिलकसम्बन्धी संशयनिवृत्ति होनेकी आवश्यकता थी, उसी प्रकार सुधारक पक्ष के कई लोगों के इस अभियोग में कारणीभूत होने विषयक जो संदेह था, उस का निवारण होना भी अवश्य था। अभियोग से पहले टाइम्स पत्र में 'जस्टिस' के सांकेतिक नाम से जो एक उकसानेवाला पत्र छपा था उस के विषय में कई एक लोगों ने बेरिस्टर कीर्तने पर सन्देह किया। क्यों कि इससे पूर्व पांच-सात महिने में कीर्तने के ही नाम से तिलक के विरुद्ध कुछ पत्र इसी समाचारपत्र में छप चुके थे। अतएव कीर्तने को चिट्ठी भेजकर केसरी को सूचित करना पड़ा कि 'जस्टिस' नामधारी मैं नहीं हूं। भाण्डारकर के सरकार की ओर विद्वान्-सज्जन के नाते गवाह बनकर पेश किये जानेकी बात प्रसिद्ध हो ही चुकी थी। अतएव कई एक लोगोंने यह तर्क लगाया कि कदाचित् उन्होंने ही यह पत्र लिखा होगा, किंतु यह सन्देह भी मिथ्या सिद्ध हुआ। पर उस पत्र के किसी सुधारक पक्षानुयायी के हाथों लिखे जाने विषयक संदेह कभी दूर न हो सका। इस संदेह के कारण भी सुधारकों पर लोगों का क्रोध था, अतएव एकपर कुछ हो जाने की दशा में दूसरे के प्रति सहानुभूति बढ़ने विषयक नियमानुसार इस संदेह के कारण भी तिलक को थोड़ीसी सहानुभूति मिली।

रेण्डसाहब की हत्या के विषय में लोगों की कल्पनाएँ भिन्न २ प्रकार की थीं। मृत्यु से पूर्व स्वतः रेण्डसाहब और लेफ्टिनेंट आयर्स्ट की मेम साहबा के जो बयान हुए उनसे भी किसी बात का पता लग सकनेकी संभावना नहीं थी। क्यों कि इन दोनों व्यक्तियों की हत्या पीछे से गोली चलाकर की गई थी और इन लोगोंने अपने सामने से किसी को आते या इधर उधर भागते हुए भी नहीं देखा। उनके कोचवान या पास में बैठे हुए चपरासी ने भी कहीं कुछ नहीं देखा। क्यों कि मिसेस आयर्स्ट पिछली गाड़ी में थी अतएव उन्होने अलबत्ता अगली गाड़ी के पीछे वाले पाँवदान पर किसी सफेद कपड़े पहने हुए आदमी को कुछ चलाते हुए देखा था! क्षण भर के लिए उन्होंने कल्पना की कि शायद यह पटाख़े चला रहा है। किन्तु तत्काल ही वह आदमी कूदकर दाहिनी ओर को भाग गया। वह व्यक्ति ठिंगना और मोटा सा प्रतीत होता था। यह आश्चर्यकारक बात वे अपने पति को सुनाना ही चाहती थीं कि तबतक उनकी गाड़ी के पीछे भी आवाज़ हुई और उसी क्षण अपने पति को घायल होकर कराहते हुए नीचे गिरते उन्होंने देखा। ऐसी दशा में उन्हें इधर उधर देखनेका भान ही कैसे रह सकता था? क्यों कि सड़क पर मामूली राहदारी थी, और जब पहिली आवाज़ होते ही गाड़ीवाला चिल्लाया तो इन लोगों ने यही समझा कि वह रास्ते परके किसी आदमी को हट जानेके लिए कह रहा है। दूसरे दिन जब इस हत्या की ख़बर फैली; तब पुलिस एवं अन्य सरकारी अधिकारियों ने यही समझा कि किसी ब्राह्मण की ही यह करतूत हो सकती है। किन्तु इसके विरुद्ध पूना के कई लोगों का कहना यह था कि नेटिव पलटन के किसी असंतुष्ट सिपाही ने ही ऐसा किया है, अन्यथा पिस्तौल और कारतूस कैसे मिल जाते और इतना अचूक निशाना भी कैसे लग सकता? कोई कहता था कि पारस्परिक वैमनस्य के कारण ही युरोपियनों में से किसी ने ऐसा किया है, और किसी को धारणा यह थी कि इस हत्या में पूना की पुलिस के अधिकारी का हाथ था और बेचारे भारतीयों पर सन्देह उत्पन्न करानेके लिए ही उसने यह राजनैतिक महोत्सव का मौक़ा साधा है।

क्यों कि लोगों के पास सिवाय तर्क-वितर्क के और कोई साधन ही नहीं था। परंतु पुलिस ने इसी ध्येय को सामने रखकर अनुसंधान किया कि हत्याकारी कोई ब्राह्मण ही होना चाहिये। और उनकी पहली शिकार चूक जानेपर भी दूसरी उनके हाथ आही गई। इधर पूना के प्रतिष्ठित लोगों के यहां ब्रुइन साहब का आवागमन भी शुरू हो गया था; किंतु इनमें से श्रीधर विठ्ठल दाते ने इन साहब को एक ख़ासा चमका दिया। उन्होंने ब्रुइन साहब को बतलाया कि मेरेपास ब्राह्मणों के दो लड़कों ने आकर किसी साहब की हत्या करने विषयक मंतव्य

प्रकट किया था। फलतः इन शब्दों परसे ही बम्बई के दो ब्राह्मण-बालक जो कि, बेचारे आवश्यी कर्म में लगे हुए थे, पकड़कर बंबई लाये गये। प्रारंभ में पुलिस की धमकी से भयभीत होकर उन्होंने न जाने क्या २ कहलाया। किंतु मजिस्ट्रेट के सामने पेश किये जानेपर उन्होंने साफ इन्कार कर दिया। किंतु फिर भी उन बेचारों को चार २ हजार की जमानतें और जातमुचलके लिखकर देने पड़े। सितंबर के प्रारंभ में पूना के डेविड कि मार्फत जिस बात का पता लगा, वह अबतक अंततक कायम रहा। अर्थात् उन्होंने किरही चाफेकरबन्धु का नाम लिया, और प्रथमतः दामोदर हरि चाफेकर पकड़ा गया। इसने तारीख ८ अक्टूबर को बम्बई के प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट हेमिल्टन के सामने जो बयान दिया, वह इतना विस्तृत था कि, जिसे सुन लोगों ने उसे पागल और मनमाना बकवाद करनेवाला व्यक्ति समझा। क्यों कि उसने अबतक के बंबई और पूना के सभी हत्याकांड और उत्पात करनेवाला खुद अपने ही को बतलाया था। चाफेकर के पिता एक प्रसिद्ध कीर्तनकार थे, और दामोदर एवं उनका भाई कीर्तन के समय पिता के पीछे खड़े होकर उनका साथ दिया करते थे। स्वतः दामोदर सत्ताईस वर्ष का युवक था और उसके भाई बालकृष्ण तथा वासुदेव क्रमशः २४ और १८ वर्ष के थे। ये भाई सिपाहियाना ढंग पसंद करते थे, और इन में से दामोदर ने तो सरकार की पलटन में नौकरी करने का भी प्रयत्न किया था। किन्तु ब्राह्मण होनेसे उसकी इच्छा पूर्ण न हो सकी। अन्यथा उसने तो यहांतक का वचन दे डाला था कि यदि मुझे नौकर रखलोगे तो चार सौ ब्राह्मणों की कवायदी पलटन खड़ी कर दूंगा। किंतु जहां एक ब्राह्मण के रखनेकी मुश्किल हो रही थी, वहां चार सौ की कल्पना कैसे पसंद आ सकती ? इस तरह निराश हो जानेवाले चाफेकर की मर्दानगी ने दूसरे ढंग से रास्ता खोज निकाला! " वासुदेवराव पटवर्धन, दामू अण्णा कुलकर्णी आदि सुधारकों एवं थोरात, वेलिणकर प्रभृति धर्मभ्रष्ट हिंदुओं को भी मैंने ही पीटा था। बम्बई में महारानी विक्टोरिया के पुतले पर कोलतार लगाने और जूतों का हार पहनाने वाला भी मैं ही हूं। युनिवर्सिटी का मण्डप भी मैंने ही जलाया, पूने में प्लेग के समय सोल्जरों द्वारा अत्याचार होते देखकर मुझे ही क्रोध आया, अतएव उनके मुख्याधिकारी रेण्डसाहब को मार कर बदली चुकाने का मैंने निश्चय किया। अमुक स्थान से बंदूके प्राप्त की और अमुक स्थान से गोली बारूद। इसी प्रकार पिस्तोल एवं तलवार भी अमुक २ स्थान से प्राप्त हुए। इसके बाद शुरूमें रेण्डसाहब को मारनेके लिए जो प्रयत्न किये उनमें असफल होना पड़ा। अंततः ज्युबिली के दिन देर तक ईश्वर प्रार्थना करनेके बाद शस्त्रास्त्र साथ लेकर मैं अपने भाई

बालकृष्णसहित गणेश खिंड के रास्ते पर जा पहुंचा। इसके बाद रेण्डसाहब पर मैंने गोली चलाई और ले. आयर्स्ट को मेरे भाई ने मारा। अंत में सड़क को एक पुलिया के नीचे लुपाकर हम नहर के रास्ते से वापस आगये। इसके बाद लौंडे के कुएमें शस्त्र फेंक कर ता. २४ के दिन बम्बई लौटकर फिर कीर्तन करने लगे। इसके बाद तिलक पर मुक़द्दमा चला, नातू पकड़े गये और अन्य कई लोगों को त्रास पहुंचा, इन सब दुर्घटनाओं को देखकर मैंने ही स्वेच्छापूर्वक पुलिस के सामने सब बातें प्रकट कर देनेका निश्चय किया। ब्रुइन साहब मेरे मित्र हैं, उनको मैंने अपना सारा हाल लिखकर दे दिया है। किंतु उनके और मेरे बीच क्या २ बातें हुई वे सब मैं बिना उनकी सम्मति के प्रकट नहीं कर सकता"। इस आशय का उसका बयान था।

इस बयान में सत्यासत्य विषयों का बहुत कुछ मिश्रण हो गया था। शिवाय में बंबई गजट को एक गुमनाम सज्जन ने इसी अवसरपर पत्र भेज कर सूचित किया कि चाफ़ेकर झूँठ बोलता है, रेण्डसाहब को मारनेवाला तो मैं हूं। इस संवाद के प्रकाशित होनेपर तो लोग और भी भ्रम में पड़ गये। किंतु चाफ़ेकर के बयान का मुख्य भाग सच्चा माना गया; और सेशनकोर्ट में जो भी दामोदर ने अपना जवाब वापस ले लिया, किंतु फिर भी नवंबर के आरंभ में यह हत्या का अभियोग सेशन कमिट हो कर तीन-चार महिने बाद फरवरी में सेशन जज मि. क्रो के सामने मामला पेश हुआ और उसे फाँसी की सजा दे दीगई। दामोदर के पकड़े जाने ही बालकृष्ण निजाम स्टेट में भाग गया, और वहां उस का कई दिनों तक पता न लग सका। किंतु आगे जाकर वह भी पकड़ा गया और जांच करने के बाद फाँसीपर चढ़ा दिया गया। यही नहीं बल्कि जिन द्रविड़बन्धु ने इनाम की आशासे चाफेकर बन्धुओं को गिरफ़दार करवाया, उनकी भी हत्या हो गई; और इसके सन्देह में तीसरा भाई वासुदेव एवं उनका मित्र कोई रानडे दोनों फाँसीपर चढ़ा दिये गये। किंतु यह सब घटनाचक्र एकदम विचित्र होनेपर भी विस्तारपूर्वक यहां नहीं लिखा जा सकता। हाँ, चाफेकर विषयक इतनी बातें लिखनेका आशय केवल यही है कि, तिलक का अभियोग सेशन सुपुर्द होनेसे पहले ही पुलिस को हत्यारे का पता लग जानेसे तिलक विषयक उसका संदेह दूर हो चुका था, और उनको जेल में रवानगी होनेके बाद से कई लोग तो इस विषय की चर्चा भी करने लगे कि यदि संभव हो तो प्रयत्न करके तिलक को बन्धनमुक्त करादिया जाय। इसी प्रकार " भवानी तल्वार " के सांकेतिक नाम से केसरी में छपे हुए शिवाजी के उद्‌गार जो भी राजद्रोही सिद्ध हो चुके थे, और ' भवानी तल्वार ' नामक पुस्तक की भी खोज हो रही थी, किंतु फिर भी

नेटिव प्रेस रिपोर्टर गोपालराव साठे द्वारा उक्त पुस्तकपर की हुई सरकारी सम्मति शीघ्रतापूर्वक प्रकाशित हो जाने से यह बात स्वयं ही सिद्ध हो गई कि देशाभिमान और राजद्रोह दोनों बातें एक नहीं हो सकती।

अलबत्ता इन बातों का उपयोग प्रीव्ही कौंसिल की अपील में कुछ भी नहीं हो सकता था। ता. १६ नवम्बर सन १८६७ के दिन यह अपील व्हाइट हॉल में लार्ड चेन्सलर हेल्सबॅरी, लार्ड हाब हाउस, लार्ड डेव्ही और सर रिचर्ड कौच इन चार न्यायाध्यक्षों के सामने पेश हुई। तिलक की ओरसे बेरिष्टर आस्किथ, मेन और उमेशचंद्र बनर्जी पैरवी कर रहे थे, और बे. प्यू, गार्थ एवं मा. खरे उनके मददगार बने थे। सरकार की ओरसे आर्थर कोहेन और जे. एच. ब्रान्सन ने काम चलाया था। आस्किथ केवल एक प्रसिद्ध बैरिष्टर ही न थे, बल्कि ग्लेडस्टन साहब के मंत्रिमण्डल के ख्यातनामा होम मिनिस्टर भी थे। राजनैतिक उच्च पद एवं वकालत की कीर्ति दोनों का सम्मेलन निश्चित रूप से हो ही नहीं सकता। किंतु महान् प्रयास करके ऐसे ख्यातनामा बेरिष्टर की योजना की जानेसे लोगों को आशा बँध जाना स्वाभाविक ही था। क्यों कि राजद्रोह के अभियोग को विलायत में विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, यही नहीं बल्कि आधुनिक पिनल कोड में उसका कोई विशेष स्थान ही नहीं है, इन्हीं विचारों के कारण लोगों की आशा दिनोंदिन अधिक पुष्ट होती चली थी।

अभियोग विषयक लेख मूलतः मराठी भाषा में होनेसे उनके अर्थ का निर्णय किसी मराठी न समझ सकनेवाले न्यायाध्यक्ष या ज्यूरी से करवाना एकदम विपरीत होनेके कारण तिलक की ओरसे बाधा उपस्थित की गई थी। क्यों कि भारत में रहनेवाले अंग्रेज के कानपर तो भूलचूक में भी एक-आध मराठी शब्द पड सकता था; किंतु अपील के समय न्यायासन उठकर विलायत पहुँच जानेसे वहा मराठी शब्दोंकी साक्ष खींची जाकर अंतिम निर्णय किया जाना एक प्रकार से हास्यास्पद ही था। किंतु जहां सारा राज्यही विलायत में बैठकर चलाया जाता हो वहां न्याय के विषय में कैसे असुविधा हो सकती थी? यद्यपि प्रीव्ही कौंसिल के न्यायाध्यक्ष की तरह तिलक के बैरिष्टर मि. आस्किथ भी नहीं जानते थे कि मराठी को किस चीज़ के साथ खाया जाता है। किन्तु जैसे अनुवाद के आधार पर सारा कारोबार चलाया जाता है, उसी प्रकार इस अभियोग का काम भी चलाया गया। तिलक के वकील और सालिसीटरों ने 'ब्रीफ' इतने विस्तार के साथ तैयार कर दिया था कि आस्किथ साहब को किसी तरह की भी असुविधा न पड सका। इस ब्रीफ में मानहत अदालत में दाखिल किये हुए सब मराठी कागज़ात का अनुवाद—पहले प्रत्येक मराठी शब्द, उसके नीचे अंगरेज़ी में

लिखा हुआ मराठी उच्चार, और उसके नीचे अंगरेजी का प्रतिशब्द, तथा उन सब का मिलाकर एक अर्थ और उस पर सविस्तार भाषा के रूप में—महान् प्रयत्न-पूर्वक तैयार करके साहब बहादुर को दिया गया था। संभवतः सरकार की ओर से भी इसी प्रकार का ब्रीफ तैयार किया गया होगा। और इन दोनों परसे छह हजार मील एवं सात समुद्रपार प्रीव्ही कौंसिल इस अभियोग-सम्बन्धी न्यायपांडित्य दिखाया गया।

आस्क्विथ साहब का विशेष आधार दफा १२४ अ के अर्थ एवं उसके स्पष्टीकरण तथा अपवाद के भेद एवं गड़बड़ी, अप्रीति शब्द के विशिष्ट अर्थ, जोरदार राजनैतिक आलोचना और राजद्रोह का अंतर, स्ट्रेची साहब की बिना सुबूत के मंजूर की हुई अनेक बाधक बातें इत्यादि पर ही था। किंतु अंत में इन सब युक्तियों की व्यर्थता सिद्ध होती दिखाई देने पर उन्होंने अपनी विवादरूपी गाड़ी को इन मुद्दों की पटरी पर दौड़ाया कि, यह अभियोग साधारण नहीं हैं, अतएव *यदि हाई कोर्ट ने मंजूरी न भी दी तो भी प्रीव्ही कौंसिल के लिए यह ख़ास तौर* पर ध्यान देने योग्य मामला है। एक अर्थ से यह मुद्दा विशेष महत्त्व का था। क्यों कि दफा १२४ अ के खुलासा करनेका मौका प्रीव्ही कौंसिल को तिलक के इस महत्वपूर्ण अभियोग के कारण पहली ही बार प्राप्त हुआ था। स्ट्रेची साहब का किया हुआ विपरीत अर्थ यदि अपील में न बदला गया तो वही प्रमाणभूत हो जायगा, आगे के लिए वह प्रमाण भारत के वक्ता और पत्र सम्पादकों के लिए सब प्रकार के राजनैतिक आन्दोलनों में विशेषरूप से घातक सिद्ध होगा। इस उदार सिद्धान्त का प्रतिपादन भी इन उदारमतवादी बेरिष्टर साहबने कर देखा। किंतु प्रीव्ही कौंसिल के न्यायाध्यक्षों की इच्छा इस बड़ी जिम्मेदारी को अपने सिर लेने की ही न थी। क्यों कि उन लोगों को जिधर से भी मार्ग मिले उसी ओरसे भाग जानेकी युक्ति खूब याद रहती है। सच्चा इन्साफ करना यथार्थ में ही बड़ी चिंता एवं धैर्य्य का विषय होता है। आस्क्विथ साहब को कुछ देर तक अपने कथन का प्रतिपादन करने देकर ये न्यायाध्यक्ष लोग इसी युक्ति से छुटकारा चाहने लगे कि यह अपील मंजूर भी हो सकती है या नहीं। फलतः सरकार की ओरसे उपस्थित बैरिष्टर मि. कोहेन ने हाल ही में ता. १४ जुलाई सन १८९७ के दिन प्रीव्ही कौंसिल में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ केवल उसी को चार पंक्तियों में पढ़ सुनाया और उसीपर से अपना सारा कार्य समाप्त एवं सिद्ध हो जानेका बहाना कर दिया। इस प्रस्ताव में यह कहा गया कि “ नियमानुसार काम करनेकी रीती भुला दी जाने अथवा स्वाभाविक न्याय तत्वका उल्लंघन हो जाने या किसी अन्य कारण से बिना इस बात का विश्वास कराये कि कोई भयंकर अन्याय हुआ

, फौजदारी मामलों में महारानी सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी और न उसकी ओर से जांच ही करेगी।" किंतु तिलक के अभियोग में ये दोनों तीनों दोष उपस्थित हो गये थे। परंतु वकीलों के लिए इनका उपयोग ही क्या हो सकता था? जिन कारणों से आस्क्विथ साहब ने इस अभियोग पर विशेषरूप से ध्यान देने का अनुरोध किया था, वही संभवतः न्यायमूर्ति के लिए ध्यान न देने योग्य सिद्ध हुए हों।

कुछ भी समझिये। किंतु कोहेन साहब का दो चार मिनिट भाषण होते ही न्यायमूर्ति ने अन्य लोगों को वहां से हटजाने की आज्ञा दी; और थोड़ी ही देर के बाद उनको अपील की नामंजूरी सूचित कर दी। स्ट्रेची साहब की सम्पूर्ण कार्यवाही पर विचार करनेसे हमारे मतानुसार अपील के लिए आज्ञा देने योग्य पर्याप्त कारण नहीं दिखाई देते। इस तरह संक्षेप में इस कौंसिल के फैसला दिया था। फलतः स्ट्रेची साहब के निर्णय की तरह इस पर भी लोकमत ने ग्रासी फटकार बतलाई। किन्तु वह सब निरुपयोगी ही थी। तिलक के मित्रों और वकीलोंने अपने प्रयत्न की पराकाष्ठा कर डाली; किंतु वे उनकी सजा में से एक दिन भी कम न करा सके। प्रीव्ही कौंसिल के सामने पेश की हुई फौजदारी अपील महाराष्ट्र प्रान्त के लिए एकदम नई बात होनेसे तिलक के मित्र श्रीयुत गजानन भास्कर वैद्य ने तिलक को सजा हो चुकनेके बाद और अपील का फैसला होनेसे पूर्व "प्रीव्ही कौंसिल की रचना और उसकी कार्यपद्धति" पर विचार पूर्ण चार उत्कृष्ट लेख केसरी में छपवाये थे। और अंतिम लेख में उन्होंने कौंसिल की प्रशंसा करके एक बड़े अंगरेजी ग्रंथकार के इस वचन का हवाला दे कर कि प्रीव्ही कौंसिल के न्यायाध्यक्ष गंभीर, विद्वान् एवं न्यायी, पापभीरु अथ च दयालु होते हैं, और सत्य, दया, न्याय एवं शांति ये चार गुण उन में प्रधानरूप से निवास करते हैं। महाराष्ट्रीय जनता की आशालता के मूल में बहुत कुछ जल सींच रक्खा था, किंतु दुर्भाग्यवश जिस अंक में ये सब बातें छपीं उसीमें अपील के नामंजूर किये जानेकी सूचना भी प्रकाशित करनी पड़ी। इस निर्णय के कारण अंगरेजी न्यायपद्धति पर से प्रजाजन का विश्वास उठ जानेकी बात भी विवश हो कर केसरी को लिखनी पड़ी।

अस्तु। अब हम इस परिच्छेद को समाप्त करनेसे पूर्व उन अन्य दो तीन अभियोगों का संक्षेप में उल्लेख कर देना चाहते हैं जो कि ठीक इसी तरहपर और इसी अवसर में चलाये गये थे। वे अभियोग पूना-वैभव, प्रतोद और मोदवृत्त पर चलाये गये थे। पूना-वैभव के संपादक शंकरराव केलकर को तिलक की गिरफ्तारी के बाद दूसरे ही दिन पकड़ लिया गया। वह इस तरह कि पुलिस इन्स्पे-

लिखा हुआ मराठी उच्चार, और उसके नीचे
सब का मिलाकर एक अर्थ और उस पर सविर
पूर्वक तैयार करके साहब बहादुर को दिया र
से भी इसी प्रकार का ब्रीफ तैयार किया र
छह हजार मील एवं सात समुद्रपार प्री
न्यायपांडित्य दिखाया गया।

आरिकथ साहब का विशेष आधा
स्पष्टीकरण तथा अपवाद के भेद एवं गड़बड़
दार राजनैतिक आलोचना और राजद्रोह
के मंजूर की हुई अनेक बाधक बातें इत्या
युक्तियों की व्यर्थता सिद्ध होती दिखाई
को इन मुद्दों की पटरी पर दौड़ाया कि,
यदि हाई कोर्ट ने मंजूरी न भी दी तो
पर ध्यान देने योग्य मामला है। एक
क्यों कि दफा १२४ अ के खुलासा
इस महत्वपूर्ण अभियोग के कारण प
का किया हुआ विपरीत अर्थ यदि
हो जायगा, आगे के लिए वह प्रमा
सब प्रकार के राजनैतिक आन्दोल
उदार सिद्धान्त का प्रतिपादन भी
किंतु प्रीव्ही कौंसिल के न्यायाध्य
लेने की ही न थी। क्यों कि उन
भाग जानेकी युक्ति खूब याद र
चिंता एवं धैर्य का विषय होत
का प्रतिपादन करने देकर ये न
कि यह अपील मंजूर भी हो
उपस्थित बैरिष्टर मि. कोहेन
प्रीव्ही कौंसिल में जो प्रस्ता
सुनाया और उसीपर से अ
कर दिया। इस प्रस्ताव में
रीती भुला दी जाने अथ
अन्य कारण से बिना इस

भय खाकर उन्होंने अपना मामला बम्बई हाईकोर्ट के सामने चलानेके लिए अर्ज़ी दी, और वह मंजूर भी हो गई। और वहां भी मुकद्दमें को यथाशक्य आगे हटानेके लिए शास्त्रीजी ने कुछ सच्ची बीमारी और कुछ बहाना करके डॉक्टरी सर्टिफिकेट प्राप्त कर दो एक महिने तक बढ़ानेका प्रयत्न भी किया। ऐसा करने में लेले शास्त्री का उद्देश्य संभवतः यह होना चाहिये कि तिलक के मुकद्दमें का फैसला होकर सरकार का क्रोध किसी प्रकार ठंडा पड़ जानेपर यदि अपना मामला पेश हुआ, और सजा दी गई तो वह बहुत कम होगी। किंतु शास्त्रीजी की जमानत का प्रबंध न हो सकनेसे उन्हें कई दिनोंतक हवालात में रहना पड़ा। अंत में ता. २१, नवंबर के दिन यह मामला बम्बई हाईकोर्ट में पेश हुआ। इसकी ज्यूरी में भी सात अंगरेज और दो हिन्दू चुने गये थे। सरकार की ओरसे एडवोकेट जनरल हाजिर थे, किन्तु लेले शास्त्री ने अपनी ओरसे कोई भी वकील खड़ा न करके खुद ही बहस और उत्तर प्रत्युत्तर किये। क्यों कि इनकी अजीब प्रकृति की ख्याति पहलेही से हो चुकी थी; अतएव इन्होंने उसका नमूना हाईकोर्ट को भी दिखला दिया। मुकद्दमा शुरू होनेसे पूर्व उन्होंने सरकार के पास क्षमा याचना का पत्र भेजा था, जिसमें कि मुख्यतः इन बातों का समावेश किया गया था—"मैं एक संस्कृत शास्त्री और अनुवादक हूं। अंगरेजी की अपेक्षा वेदों का अध्ययन ही मैंने विशेषरूप से किया है। और अपने पत्र में मैं अधिकतर अंगरेज़ी ग्रंथकर्ताओं के लेखों का रूपान्तर ही देता रहा हूं। ऐसी दशा में मुझ पर यह राजद्रोह का आरोप न लगाया जाना चाहिये। किंतु जब वह लगा ही दिया गया है तो मैं अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा प्रार्थना करता हूं।" किंतु जब यह माफीनामा मंजूर न हुआ तब यह सोचकर कि सजा तो अब हर हालत होगी ही तो फिर अपने खुबीदार भाषण की हविस क्यों न पूरी कर ली जाय। उन्होंने जी भरकर बोलनेका मन ही मन निश्चय कर लिया। इनके बाद अपनी बीमारी का बहाना कायम रख कर वे एक मनुष्य की पीठ पर चढ़े अदालत में हाज़िर हुए! इस लिए यद्यपि इन्हें कठघरे में बैठने के लिए कुर्सी अवश्य मिली, किंतु उनकी पीठ में दुःखा बाजानेके कारण कुर्सी पर खुश चुप का बैठे। हाँ, तो माफी मंजूर न होने पर मुकद्दमा चला। एडवोकेट जनरल का काम सरल ही था। उन्होंने मादेवृत्त के लेख पढ़ सुनाये और जाते २ यों ही थोड़ी सी टीका टिप्पणी भी करदी। इस के बाद सरकार की ओरसे जो २ गवाह पेश हुए उनसे लेले शास्त्री ने खुद ही जिरह की। उसका सारा रुख इस तरह था कि, इन अभियोगों के चलाये जानेसे पूर्व सितारा ज़िले के किसी भी कनिष्ठ अधिकारी ने लोगों में असंतोष उत्पन्न होनेकी रिपोर्ट अपने बड़े हाकिम के पास नहीं भेजी।

अतएव जब रिपोर्ट में असंतोष नहीं था तो वह लोगों में भी नहीं हो सकता; और जब लोगों में ही किसी प्रकार का असंतोष नहीं तो फिर समाचारपत्र भले ही कुछ बकते रहे, उन्हें कौन पूछ ने बैठता है ? किंतु इस में एक चाल थी। वह यह कि यदि असंतोष की रिपोर्ट न होना कहा गया तो लेख का दोष कम हो जायगा; और यदि असंतोष फैला रहने पर भी रिपोर्ट नहीं की जानेकी बात कही गई तो अधिकारी लोग अपनी ही कबूलियत से आप नालायक और अन्यायशील सिद्ध हो जायँ गे। शास्त्रीजी ने कई गवाहों से अपने लिए यह भी कहलवाया कि, मेरी ख्याति एक धर्मचर्चा करनेवाले के रूप में है; राजनैतिक लेखक के नाते नहीं। अंत में डिफेन्स के लिए भाषण करते हुए शास्त्रीजी ने पहले तो थोड़ासा समय मांगा, किंतु जब उसके देनेसे इन्कार किया गया तो तत्काल ही शास्त्रीजी ने भाषण शुरू कर दिया। उन्होंने कहा कि, क्षमा न करनेमें सरकार की ही बेइज्जती है ! क्यौं कि 'क्षमा बड़न को चाहिये छोटन को उत्पात वाला सिद्धान्त यहां भी लागू होता है। जैसे बेटा बाप को सच्चा झूठा सुनाता है उसी तरह प्रजा राजा को सुना सकती है, और जब अंगरेजी विचारों से राजद्रोह नहीं हो सकता तो तो फिर बिचारे मराठी ने ही क्या पाप किया है ? मोर्ले और पार्नेल क्या कुछ कम जोशीले लेख लिखते है ? मैं तो केवल उन असल की नकल ही हूं। और ले देकर एकमात्र धर्म शास्त्री कहलाता हूं। मैंने डिफेन्स फण्ड भी इकट्ठा नहीं किया। मुझे वकील की भी क्यौं आवश्यकता पड़ती। जब रेण्डसाहव के हत्यारे का पता लग गया और किसी प्रकार के षड्यंत्र का होना भी सिद्ध न हुआ, तो फिर अब व्यर्थ के लिए सरकार क्यौं असंतुष्ट हो रही है ? असल में सच्चे राजद्रोही तो एँग्लो इंडियन पत्र ही हैं। किंतु उनपर कभी मुक़द्दमा नहीं चलाया जाता। वे जब हमारे बापदादों तक को गालियां देते हैं तो फिर हम भी क्यौं ऐसा न करें ? प्रजाद्रोह भी राजद्रोह की तरह भयंकर और बुरा है। ज्युबिली के प्रसंग पर गला काटनेवाले डाकुओं को तो तुम्हने छोड़ दिया, और मैं एक धर्मशास्त्री ब्राह्मण माफी मांगने पर भी नहीं छोड़ा जाता ! सरकार की प्रशंसा करनेवाले तो बहुत से मिल सकेंगे, किंतु मेरी तरह कटु होते हुए भी पथ्यकर भाषण करनेवाला शास्त्री कभी न मिलेगा'। इस के बाद अंत में संस्कृत का एक सुभाषित सुनाकर शास्त्रीजी ने अपना व्याख्यान समाप्त कर दिया। अंततः न्यायाध्यक्ष ने अपना साधारण विवरण सुनाया। ज्यूरी ने सर्वानुमति से आरोपी को दोषी सिद्ध किया, किन्तु साथ ही उसकी अस्वस्थता एवं शक्तिहीनता पर विचार कर के दया करनेकी सिफ़ारिश भी की। लेले शास्त्री ने फिर एकबार ईश्वर की शपथ लेकर क्षमा-प्रार्थना की। किन्तु उससे केवल इतना ही लाभ हुआ कि न्यायमूर्ति ने दयार्द्र होकर लेले शास्त्री को नौ महिने की सादी कैद की सजा दी।

चौथा अभियोग इस्लामपुर के 'प्रतोद' नामक पत्र पर चलाया गया था। इसके ग्राहक इने गिनेही थे। किन्तु सितारा के तात्कालीन सेशन्स जज मि. आस्टन के सामने मामला पहुँच जाने पर तिलक का ताप हुए बिना कैसे रह सकता था ? इस मीठे कौर के सामने आते ही आस्टन साहब ने अन्य कार्यों को छोड़कर इस अभियोग को ही पहले हाथ में लिया और फ़ौरन् ही सब बातों की चौकसी करके पत्र के सम्पादक रामचंद्र नारायण कशालकर को आजन्म कालेपानी और प्रेस के स्वामी कृष्णाजी धोंडदेव हरमलकर के साथ बड़ी रियायत करके सात वर्ष की सख़्त मजदूरी की सजा दे डाली; इसपर हाई कोर्ट में अपील हुई, और ता. १७ नवंबर को मामला पेश होकर ता. २३ को फ़ैसला सुना दिया गया। न्यायासनपर तीन न्यायाधीशों की फुलबेंच विराजी थी। फेरन, पार्सन्स और रानडे तीनों ने मिलकर अपराध को तो क़ायम रखा ही, किंतु आजन्म कालेपानी की सजा रद्द करके सिर्फ़ एक वर्ष की सख्त मजदूरी सजा कर दी, और प्रेस के स्वामी को सात वर्ष की सजा के बदले तीन महिने की सादी सजा देकर काम चला दिया। किन्तु इस तरह फ़ैसले के समय एकमत रखनेवाले तीनों न्यायमूर्तियों ने कारणों का निर्देश करते समय अनेक मत रखकर राजद्रोह की व्याख्या के भिन्न २ तीन स्वरूप निर्माण किये। स्ट्रेची साहब के पिनल कोडवाले अर्थ को किसीने भी स्वीकार नहीं किया। किन्तु फेरन साहब ने राजद्रोह की व्याख्या इस प्रकार की कि 'राजनैतिक विषयों में द्वेष अथवा असंतोष उत्पन्न कर राजनिष्ठा कम करना ही राजद्रोह है'। पार्सन्स साहब ने उसका अर्थ यह बतलाया कि 'राजनैतिक विषयों में सरकार की सत्ता या उसके क़ानून को न मानना ही राजद्रोह है'। पर रानडे ने ऐसा ढंग स्वीकार किया जिसमें न तो स्ट्रेची की व्याख्या का समर्थन होता था और न विरोध ही। अलबत्ता राजनैतिक आन्दोलन की दृष्टि से दफ़ा १२४ अ का इतिहास सुनाकर इंग्लैंड के राजद्रोह विषयक क़ानून के अनुसार ही यहां के क़ानून का भी अर्थ किया जानेका सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए उन्होंने बहुत कुछ विद्वत्ता दिखलाई थी। कुछ भी समझिये किन्तु जोभी न्यायमूर्ति ने स्ट्रेची साहब को हीन सिद्ध नहीं किया हो, तथापि आस्टन साहब के द्वेषी स्वभाव को अपनी दयामय कृति के द्वारा घृणित सिद्ध कर उन्होंने उसे जगजाहिर तो कर ही दिया। किन्तु आस्टन साहब का स्वाभाविक द्वेषतारूपी रोग औषधि से दूर न होकर मरनेपर ही मिट सकता था, इसका पता उनके सितारा से बदलकर पूना आने और यहां से आगे हाई कोर्ट में पहुँचने तक के दुष्टतायुक्त आचरण पर से भली भांति लग सकता है। इस जीवनचरित्र के द्वितीयखंड में ताईमहाराज के प्रकरण में आस्टन साहब के विषय में हमें बहुत कुछ लिखना है, अतएव इस विषय को हम यहीं समाप्त कर देते हैं।

हाँ, तो इस तरह चार समाचार पत्रोंपर अभियोग चलाये गये। तिलक और नातू-बन्धुओं के जेल चले जानेपर भी दमननीति का ज़ोर कम न हुआ। किंबहुना इसके बाद से वह और भी बढ़ गई। भारत के राजनैतिक आन्दोलन के इतिहास में इस प्रकार की दमननीति का अध्याय लिखनेको किसी ने क़लम उठाई तो उसे रेण्ड साहब की हत्या और सन १८९७ के इन राजनैतिक अभियोगों से ही विवेचन आरंभ करना पड़ेगा। किंतु केवल दमननीति से ही सरकार का काम न चल सका। राजद्रोह से अपनी रक्षा करनेके लिए दफ़ा १२४ अ की दुरुस्ती करके मर्म रक्षक नये कवच-कुँडल भी उसे धारण करने पड़े। अर्थात् तिलक के जेल में रहनेकी ही दशा में पिनल कोड और क्रिमिनल प्रोसीजर कोड में संशोधन किया जाने विषयक नये बिल कौंसिल के सामने पेश हुए और वे शीघ्र ही यथानियम स्वीकार भी कर लिये गये। दफ़ा १२४ अ दुरुस्त करनी पड़ी-उसके शब्द अधिक व्यापक और काबू में लानेके लायक कर देने पड़े-इसी एक बात पर से यह स्वयमेव ही सिद्ध हो जाता है कि स्ट्रेची साहब का किया हुआ अर्थ अयुक्त था। तिलक को इस अन्याय का फल तो भोगना ही पड़ा, किंतु इसी के साथ २ कई प्रतिपक्षियों के इस दोष का भी उन्हें भागी होना पड़ा कि राजद्रोह की दफ़ा जो अबतक संकुचित थी वह तिलक के कारण व्यर्थ ही में विस्तृत कर दी गई। किंतु असल में इस विस्तृत धारा से जिन्हें जन्मभर में कभी भय नहीं हो सकता-अर्थात् जिनके राजनिष्ठ व्यवहार के कारण उन पर सरकार की अवकृपा होनेकी कभी संभावना ही नहीं हो सकती-उन्ही नर्म दलियों की ओरसे यह आक्षेप किया गया था। फिर भी इसका आशय केवल यही था कि दफ़ा १२४ अ के शब्द व्यापक हो जानेपर उन्हें उस में दुःख नहीं वलिक किसी तरह भी तिलक को वदनाम करने का मौका पानेके लिए ही उन्होंने इसे निमित्तभूत वनाया था। इसके विरुद्ध जिन्हें परिणाम की ओर ध्यान न दे कर ढिठाई के साथ सरकार की वरावर आलोचना करनी थी, उन्होंने राजद्रोह की धारा के विस्तृत या संकुचित स्वरूप का कभी विचार तक नहीं किया। यदि सरकार की ओरसे किसी ने यह उत्तर दिया होता कि 'राजद्रोह करनेवाले को किसी प्रकार का भय नहीं रहता और राजनिष्ठ यौंही व्यर्थ के लिए गडवड मचाते' तो भी वह अनुचित नहीं कहा जा सकता था। अस्तु। पिनल कोड की दुरुस्ती का इस तरह प्रत्यक्ष रूप में तिलक के अभियोग के साथ संवन्ध रहने से यहां उसका संक्षिप्त उल्लेख किया गया है। राजद्रोहात्मक धाराओं का पिछले तीस वर्ष का इतिहास जितना मनोरंजक है उतना ही वह विस्तृत भी है। किन्तु उसके लिए उपयुक्तस्थान किसी राजनैतिक इतिहास ग्रंथ में ही हो सकता है; इस व्यक्तिविषयक चरित्र में नहीं।

——:०:——

भाग-पचीसवाँ, परिशिष्ट (१)

तिलक का व्याकरण-विषयक स्पष्टीकरण।

(निम्न लिखित प्रश्नोत्तर मुक़द्दमे की पेशी के दिन न्यायमूर्ति और तिलक के बीच होते समय का दृश्य देखने ही योग्य था।)

न्यायमूर्तिः—आरोपी तिलक से मुझे कुछ बातों का खुलासा करना है। (तिलक को सम्बोधित करके-) "म्लेच्छों को भारत के राज्य का ताम्रपत्र परमेश्वरद्वारा दिया हुआ नहीं है" इस वाक्य के विषय में तुम कुछ खुलासा करना चाहते हो, ऐसा मुझे मालूम हुआ है। कहो तुम क्या कहना चाहते हो?

श्री. तिलकः—इस वाक्य के क्रियापद के काल के विषय में ही मुझे कुछ स्पष्टीकरण करना है। वह इस प्रकार है कि 'म्लेच्छों को' यह म्लेच्छ शब्द की द्वितीया विभक्ति का रूप है। 'भारत के' यह षष्ठ्यंत विशेषण है, 'राज्य का' यह षष्ठी विभक्ति और 'ताम्रपट' 'नहीं' क्रियापद का कर्ता है। 'परमेश्वरद्वारा' यह तृतीया विभक्ति का रूप है, 'दिये हुए' से सम्बन्ध है। क्यों कि 'दिया हुआ' यह 'देने' के भूतकाल का रूप है, अंतिम शब्द 'नहीं' यह नकारात्मक अर्थ का क्रियापद है। और इस शब्द का मराठी में भूतकालिक स्वरूप ही नहीं है।

न्याय०:—तब क्या 'नहीं' शब्द मूलतः क्रियापद हैही नहीं?

श्री. तिलकः—"नहीं" कोई 'क्रियाविशेषण' नहीं बल्कि क्रियापद ही है।

न्याय०:—इसका अनुवाद तुम कैसे करते हो?

श्री. तिलकः—'नहीं' के माने 'होने का अभाव;' और न होने का संयुक्त रूप; विवादास्पद वाक्य का अर्थ इसी प्रकार होता है कि 'मुसलमानों को भी नहीं दे दिया था'।

न्याय०:—'नहीं' का अर्थ-अंग्रेजी में 'नॉट' से लिया जाता है न?

श्री. तिलकः—हां, "नहीं" अर्थात् 'न' (is not); इसका भूतकालिक स्वरूप ही नहीं हो सकता। इसका उपयोग वर्तमान, भूत और भविष्य तीनों कालकी धातुसाधितों से किया जाता है; और उसीपर से वर्तमान, भूत या भविष्यकाल का बोध हो सकता है। धातुसाधितोंपर से ही काल का बोध होता है। जैसे कि 'नहीं' पर से उस क्रिया के अस्तित्वका न होनाही सिद्ध होता है।

न्याय०:—तुम्हारे केवल 'नहीं' शब्द का अर्थ नकार ही होता है न?

श्री. तिलकः—उस पर से काल का ज्ञान नहीं होता, क्यों कि उसका साधन धातुसाधित ही होता है। यदि आप प्रमाण देखना चाहें तो यह लीजिये (मराठी व्याकरण नि. ३७,३८ देखिये।)

न्यायमूर्तिः—तुम्हें जो कुछ स्पष्टीकरण करना हो उसी की मुझे आवश्यकता है।

श्री. तिलकः—इस क्रियापद के तीनों काल के रूप हो सकते हैं। जैसे देता नहीं (वर्तमानकाल)।

न्याय०:—अच्छा, इसका अंग्रेजी अनुवाद कीजिये!

श्री. तिलकः—(अनुवाद सुनाकर) 'देता' वर्तमानकालवाचक धातुसाधित है, दूसरा रूप 'दिया नहीं' अथवा 'दिया हुआ नहीं' यह पहले का भूतकाल है। 'दिया' अथवा 'दिया हुआ' इनके योग से क्रिया के भूतकालिक होनेका आशय लगाया जाता है। 'नहीं' पर से अकरण रूप सिद्ध होता है। दोनों का संयुक्त अर्थ यही होता है कि "देने की क्रिया हुई नहीं"।

न्याय०:—"दिया नहीं" "दिया हुआ नहीं"; "दिया" और "दिया हुआ" दोनों का मतलब क्या एक ही है?

श्री. तिलकः—हां, "या" अथवा "या हुआ" होनेपर भी अर्थ एक ही हैं। तीसरा भविष्य काल का स्वरूप "देना नहीं"। यदि वक्ता के मन में किसी बात को जजाकर कहनेकी इच्छा हो तो मराठी में तीनों रूप का एकदम उपयोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ "देता नहीं" "दिया नहीं" और "देना नहीं"।

न्याय०:—यदि भूतकाल में उपयोग करना हो तो कौनसा रूप होगा?

श्री. तिलकः—"दिया नहीं" अथवा "दिया हुआ नहीं"।

न्याय०:—वर्तमानभूत में इसका रूप कैसा होगा?

श्री. तिलकः—जैसा कि मैं पहले बतला चुका हूं।

न्याय०:—'दिया नहीं' अथवा 'दिया हुआ नहीं' वे रूप क्या भूतकाल और वर्तमानभूत में काम लाये जा सकते हैं?

श्री. तिलकः—मराठी में अकरणरूपी वर्तमानभूत का जुदा रूप कोई नहीं होता।

न्याय०:—तब क्या भूतकाल के दोनों पर्याय में रूप एक ही रहेगा?

तिलक०:—अर्थभेद वाक्य की योजना पर से समझना चाहिये। मराठी

कारकरूपी वर्तमानभूत के लिए स्वतंत्र रूप है, किंतु कारण रूप में नहीं है।

न्याय०:—मैं तुमसे जिरह करना नहीं चाहता, और न कोई प्रश्न ही करता हूं। मुझे केवल इतनी ही बात का खुलासा करवाना है कि वर्तमानभूत में कारकरूपी शब्द की योजना कैसे की जाती है? तब क्या तुम्हारा कथन यह समझा जाय कि वह वाक्य की योजना पर से जाना जा सकता है?

श्री. तिलकः—ऐसा दिखाई देता है कि उस प्रसंग पर "दिया हुआ न था" इस रूप की योजना भी हो सकती है।

मि. प्यूः—मैं समझता हूं कि शायद मि. तिलक ने प्रश्न को ही अच्छी तरह नहीं सुन पाया है।

न्याय०:—मैं ऐसी ही योजना करता हूं जिस से वे मेरी बात को सुन सकें (तिलक से) मैं यह पूछता हूं कि विवादास्पद वाक्य का अनुवाद वर्तमानभूत में किया गया है, सो वह ठीक है या उसका अनुवाद भूतकाल में होना उचित है? इस के लिए कोई कारण हो तो बतलाओ।

श्री. तिलकः—इस वाक्य से ऊपर के वाक्य का अनुवाद भी जोकि इसी के सदृश रूप होते हुए किया गया है उस पर से जान पड़ेगा।

मि. प्यूः—(पढ़ते हैं) "शिवाजी महाराज ने किया नहीं" यही ऊपर का वाक्य है।

तिलकः—इस वाक्य में वैसा ही रूप है। व्याकरण की दृष्टि से भी वही रूप है। इस वाक्य में शब्द 'किया नहीं' के रूप में है और विवादास्पद वाक्य में 'दिया हुआ नहीं' इस प्रकार है।

न्याय०:—पहला रूप 'किया नहीं' इस तरह है। "किया हुआ नहीं" ऐसा कहां है?

श्री. तिलकः—मराठी में भूतकालवाचक धातु 'या' अथवा 'या हुआ' जोड़ कर भी हो सकते हैं। 'किया नहीं' के स्थान पर यदि मैं 'किया हुआ नहीं' भी लिखता तोभी काम चल सकता था। 'महाराजा ने हटाने का प्रयत्न किया' यह भी भूत कालिक रूप है।

न्याय०:—क्या यह भी उसी प्रकार का रूप है?

श्री. तिलकः—हां, उसी प्रकार से भूतकाल का रूप है। इस वाक्य का दर्शक सर्वनाम 'उसे' पिछले वाक्य के म्लेच्छों के लिए है। इस पर से विवादास्पद वाक्य भूतकालिक सिद्ध होता है। अगले वाक्य में भी पिछले वाक्य के मुसल-

मानों के विषय में मैंने लिखा है। उस समय की स्थिति का मैंने वर्णन किया है*। अब मुझे 'स्वातंत्र्य' शब्द के विषय में कुछ कहना है। वह इस प्रकार है कि—

न्याय०:—म्लेंच्छ शब्द जिस वाक्य में आया है, उसके विषय में तो तुम्हें अब इससे अधिक कुछ नहीं कहना है ?

श्री. तिलकः—मेरे कथन का आधार कृष्णशास्त्री गोडवोले के व्याकरण का नियम ही है।

न्याय०:—यह व्याकरण अंगरेज़ी में है या मराठी में ?

श्री. तिलकः—मराठी में-इस पुस्तक की दूसरी आवृत्ति के पृष्ठ ११८ पर धारा ३२३ देखिये (नियम ३८)। मैं और भी दो तीन मशहूर व्याकरणों के प्रमाण दिखलानेवाला हूं।

न्याय०:—लेकिन मैं तो उन्हें पढ़ नहीं सकता।

श्री. तिलकः—यह सरकारी शिक्षाविभाग में प्रचलित था।

न्याय०:—जो अंश तुम पढ़कर सुनाना चाहते हो उसे दुभाषिये को पढ़ने दो। तुम जिस पुस्तक के आधारपर अमुक अर्थ निकलनेके विषय में प्रमाण दिखाना चाहते हो उसी अर्थ के उल्लेखवाली मराठी पुस्तक का नाम निर्देश्य कर देने ही से काम नहीं चल सकता। इस अदालत के भाषान्तरकार से अनुवाद कराये बिना किसी भी आधार का मैं उपयोग नहीं कर सकता।

श्री. तिलकः—हां; तो दूसरा दादोबा पाण्डुरंग कृत मराठी व्याकरण है। इसकी आठवी आवृत्ति सन १८८९ में प्रकाशित हुई है; उसके पृष्ठ १७०-७१ की धारा ४७९ और ३९९ पर भी मेरा आधार है (नियम ३९)। और भी एक आधार रामचंद्र भिकाजी जोशी के द्वारा सन १८९५ में प्रकाशित लोकमान्य व्याकरण के पृ. १६५-६६ पर का मैं देना चाहता हूं।

न्याय०:—मि. प्यू ! क्या कल आप इन आधार वाक्यों का अनुवाद लाकर दे सकेंगे !

मि. प्यूः—अवश्य दे सकूंगा।

---

*वे तीन वाक्य इस प्रकार थे।—(१) श्री शिवाजी महाराज ने अपने जरा से पेट को जलानेके लिए कुछ नहीं किया (२) म्लेंच्छों को भारत के राज्य का ताम्रपट ईश्वरद्वारा दिया हुआ नहीं (३) अपनी जन्मभूमि में से उन्हें हटा देने-का महाराज ने उद्योग किया, इस में पराभिलाषा का पाप नहीं। 'उन्हें' का सम्बन्ध पूर्व वाक्य के म्लेंच्छ शब्द से है; इसी लिए उसका अर्थ मुसलमान होता है। यही इस स्थान पर तिलक के कथन का आशय है। लेखक.

श्री. तिलकः—स्वातंत्र्य शब्द स्वतंत्र पर से भाववाचक नामका प्रत्यय लगाकर सिद्ध हुआ है। संस्कृत में इस की योजना हरएक प्रकार की स्वतंत्रता या कर्मस्वातंत्र्य के अर्थ में की जाती है। इसके लिए आधार मनुस्मृति के अध्याय ५ का तीसरा श्लोक और याज्ञवल्क्य स्मृति भाग १ श्लोक ८५ का दिया जा सकता है। इन मूल श्लोकों का अनुवाद हो चुका है। इसकी योजना उस जगह की गई है जहां कि पुत्रपर से पिता की सत्ता उठ जानेका समय बतलाया गया है। बाल-मित्र नामक मराठी पुस्तक के भाग १ पृ. ४६ पर उक्त अर्थ में इन्हीं शब्दों का उपयोग किया है।

न्याय०—मि. प्यू! क्या इन शब्दों के अर्थ के विषय में कुछ विवाद है?

मि. प्यूः—नहीं।

श्री. तिलकः—'ऊपरसे नीचे दबाता होगा' इसका प्रयोग दूसरे पर बरचर के अर्थ में किया जाता है। शारीरिक दबाव के अर्थ में नहीं किया जाता। 'ऊपरसे नीचे' का अर्थ केवल नीचे ही होता है। इसी प्रकार 'छाँट निकालने' का अर्थ काट देना ही विशेषरूप से किया जाता है, किंतु 'जान से मारने' के अर्थ में नहीं।

न्याय०ः—इस का अर्थ क्या है?

श्री. तिलकः—काटना।

न्याय०ः—कभी जान से मारने के अर्थ में भी इसे काम में लाते हैं?

श्री. तिलकः—कभी नहीं।

न्याय०ः—यदि जान लेनेका अर्थ नहीं होता तो फिर क्या होता है?

श्री. तिलकः—इस का अर्थ 'दूर करना' या 'बिलकुल न रहने देना' होता है। इस के लिए आधार मेजर कैंडी के कोष का दिया जा सकता है। इस कोष में 'जानसे मार डालने' के लिए 'काटने' का उपयोग किया गया है।

न्याय०ः—उस कोष में अंगरेजी 'किल' शब्द के लिए भी कोई मराठी शब्द है?

श्री. तिलकः—कतल करना या काटना है। अब 'ऊपर से नीचे' के विषय में मैं खुलासा करता हूं। इसका अर्थ मराठी में केवल 'नीचे' ही होता है। यह मराठी भाषा का एक खास मुहाविरा है। मेरे कथन की पुष्टी मेजर कैण्डी की बनाई और सरकार द्वारा प्रकाशित मराठी चतुर्थ पाठ्य पुस्तक के पृ. ९५, १००में और मराठी में इसापनीति की कल्पित कहानियां पृ. ११६ पर से हो सकती है। शिवाजी महोत्सव के समय मेरे सभापतित्व में प्रो. भानु का जो व्याख्यान हुआ था, उसमें भी उक्त शब्द का अर्थ मैंने अपने उपर्युक्त प्रकारसे ही समझा, और

अंत में जब उस प्रसंग पर मेरा व्याख्यान हुआ तब भी मैं उक्त आशयके ही वाक्य कहे थे। (यहां पर उन्होंने ता० १५ जून सन १८९७ के अंक में से अपने भाषण के अंतिम अंश का अंग्रेजी अनुवाद करके दिखाया)।

न्याय०:—इसमें नीचे दबाने के विषय में क्या कुछ नहीं है?

श्री. तिलक.:—जान से मार डालने के विषय में कुछ भी नहीं है। केवल समाज सुधारकों के सामाजिक विषयों के वादविवाद का ही उल्लेख है। इसका अर्थ "दूर करना" होता है। मुकद्दमें के कागजों में पृ. १४१ की पंक्ति ४० में "दाद लगाने" के विषय में मुझे खुलासा करना है। 'दाद' शब्द के उपयोग परसे ही बलात्कार का अर्थ निष्पन्न नहीं होता। दाद का आशय दुःख की पुकार है। इसमें लगाकर क्रियापद लगाना धातु का प्रयोजकभेदी रूप है। दाद का अर्थ मांगने (अंग्रेजी शब्द Relief) के सदृश है। उदाहरणार्थ वादी अमुक मांग मांगता है। मैं विश्वासपूर्वक कह सकता हूं कि इस शब्द का उपयोग बलात्कार के अर्थ में प्रयोग किया गया हो ऐसा एक भी वाक्य मराठी में नहीं मिल सकता। दाद मांगना और दाद लगवालेना ये एकही अर्थ के दर्शक भिन्न २ दो शब्दसमुच्चय हैं। दाद मांगनेका अर्थ–स्वतः मांग पेश करना होता है। और लगवालेनेका अर्थ दूसरे से वह काम करालेनेसे है। यह 'लगाना' धातु का प्रयोजकरूप है।

न्याय०:—क्या तुम्हारे मतानुसार उसका अर्थ मांगना या प्रार्थना करना होता है? और यदि ऐसाही हो तो क्या इसका अर्थ अर्जी पेश करके या सब हाल सुनाकर मांगनाही होता है?

श्री. तिलक.:—हां, सदैव ही इसी प्रकार का अर्थ होता है। प्रो० परांजपे की कथा में जिन दो श्लोकार्ध का उल्लेख है, वे महाभारत के दो श्लोकों की प्रथम पंक्तियों के अंश हैं। अतृप्ति उत्कर्ष का कारण होती है और तृप्ति से नाश हो जाता है, इस प्रकार का अनुवाद उन दोनों को एक ही वाक्य समझ कर किया गया है। किंतु यह भूल है। मूल श्लोकार्ध संस्कृत में है, मराठी में नहीं। इनमे से प्रथम श्लोकार्ध एक श्लोक की पहली पंक्ति है, और दूसरा किसी अन्य स्थान परसे लिया गया है। ये उद्गार दुर्योधन ने अपने विषय में उच्चारण किये है। उसके कथन का अर्थ—"राजा को [स्वतः] हमेशा असंतुष्ट रहना चाहिये। और प्रजा से हमेशा संतुष्ट रहे। किंतु राजा के लिए असंतुष्ट रहना ही उचित है; हितोपदेश के पद्य का भी यही अर्थ है। यदि इन सब बातों के सिवाय आपको और भी कुछ खुलासा कराना हो तो इसके लिए भी मैं तैयार हूं। यही मुझे सूचित करना था।"

——:०:——

——:०:——

तिलक की हाई कोर्ट के लिए अपील-अर्जी।

[इस अर्ज़ी की पहली पांच कलमों में महत्वपूर्ण अंश कुछ भी न होनेसे यहां हमने उनका उल्लेख नहीं किया है।]

(६) जांच होती रहनेकी ही दशा में प्रार्थीपर फौजदारी में अभियोग चलाने विषयक उपरि निर्दिष्ट स्वीकृति के रूप में भेजा हुआ आज्ञापत्र जब वादी की ओरसे न्यायालय के सन्मुख उपस्थित किया गया तो प्रार्थी की ओरसे यह कह कर बाधा उत्पन्न कीगई कि क्रिमिनल प्रोसीजर कोड की धारा १६६ के अनुसार मुक्दर लगाये गये आरोप के लिए अभियोग चलाने में यह मंजूरी पूरी तरह काम नहीं दे सकती। किंतु न्यायाध्यक्ष ने यह कहकर बात टाल दी कि उपरोक्त स्वीकृति पर्याप्त है, और यदि वह अपर्याप्त हो तो या उसमें कोई दोष भी हो तो भी क्रि.प्रो.कोड की धारा ५३२ के अनुसार कोई बाधा उपस्थित नहीं की जा सकती। उक्त मंजूरी को प्रमाणभूत मान लेनेसे अभियोग की छानबीन में अपनी बहुत बड़ी हानि होनेके विषय में आवेदक की नम्र प्रार्थना है।

(७) इस अभियोग का पर्यालोचन हो जाने पर केसरी के ता. ६ अप्रैल और ५ तथा २६ मई के अंकों में प्रकाशित अन्य लेख प्रार्थी का हेतु प्रदर्शित करनेके लिए अभियोग की ओरसे प्रमाण स्वरूप उपस्थित किये गये; किंतु उसने यह कहकर बाधा उपस्थित की कि उक्त लेख बाहर के लोगों ने लिखकर भेजे थे, अतएव वे प्रार्थी के उद्देश्य को प्रकट करनेके लिए समुचित प्रमाणभूत नहीं माने जा सकते। किंतु प्रार्थी का यह निवेदन भी स्वीकार नहीं किया गया, फिर भी इस प्रकार का प्रमाण ग्राह्य मान लिया जानेसे प्रार्थी की बहुत बड़ी हानि हुई। इस प्रकार उसकी नम्र प्रार्थना है।

(८) ज्यूरी को लक्ष्य करके प्रार्थी की ओर वकील का भाषण होता रहने की दशा में धारा १२४ (अ) के पिनल कोड में प्रविष्ट होनेका उद्देश्य एवं तत्संबन्धी विवरण भलीभांति समझाने तथा अन्यान्य कई कारणों पर से भारत सरकार के पिनल कोड में इस धारा का समावेश करते समय (भारत सरकार की) धारा सभा के सदस्य मि. स्टीफन के भाषण के कुछ उद्धरण पढ़ सुनाने विषयक प्रार्थी के वकील की इच्छा थी, किंतु उक्त विद्वान न्यायाध्यक्षों ने निश्चय किया कि

उक्त उद्‌गार क्यों कि सर जेम्स स्टीफन के हैं, अतएव उन्हें पढ़ सुनाने का अधिकार प्रार्थी के वकील को नहीं हो सकता। हां, वे यदि चाहें तो अपने ही भाषण के किसी अंश को पढ़ कर सुना सकते हैं।

(६) ज्यूरी को समग्र अभियोग का सारांश समझाते हुए इन विद्वान न्यायाध्यक्षों ने जिस प्रकार अन्य कई बातें कह दी थी; उसी प्रकार निम्न लिखित बातें भी उन्हें सुनाई गई थीं, किंतु इनके सुनाने में प्रार्थी को मिली हुई सम्मति के अनुसार भूल हुई हैं। वे बातें इस प्रकार हैः—

(A) अप्रीति का मतलब प्रीति का अभाव है।

(B) अप्रीति के मानीं द्वेष, वैमनस्य, नापसंदगी, वैर, तिरस्कार, और सरकार के विषय में प्रत्येक प्रकार की दुष्टबुद्धि रखनेका भी समावेश हो सकता है।

(C) कदाचित् राजद्रोह का शब्द साधारणतया सबसे अधिक उत्तम अर्थव्यंजक हो सकता है, और इसमें सरकार के विषय में प्रत्येक प्रकार की दुष्टबुद्धि का ही समावेश हो सकता है।

(D) किसी भी मनुष्य को दूसरे के मन में द्वेषबुद्धि उत्पन्न न करनी चाहिये, और न इसके लिए प्रयत्न ही करना उचित है।

(E) सरकार शब्द का अर्थ ब्रिटिश राज्य अथवा उसके प्रतिनिधि या अन्य प्रत्येक कार्यकर्ता से भी लगाया जा सकता है।

(F) जिस लेख में केवल सरकार की योजना पर ही टीकाटिप्पणी न करते हुए प्रत्यक्ष सरकार पर ही जोरदार आलोचना की गई है, उसके लिए धारा १२४ (अ) का खुलासा लागू नहीं है।

(G) जिस लेख पर से आरोप लगाया गया है, उसमें सार्वजनिक रोग के लिए कानून या कोई नया कर अथवा राज्यव्यवस्था का ध्येय, प्लेग अथवा अकाल की रोक के लिए सरकार की ओरसे योजना किये हुए उपायों पर निरी टीका-टिप्पणी ही न की जाकर प्रत्यक्ष सरकार एवं उसके अस्तित्व पर तथा सरकार के विशेष लक्षण अथवा लोकविषयक सरकार के अमुक २ हेतु या विचार पर आलोचना की गई है, इस प्रकार ज्यूरी को विश्वास हो जाने पर उसे उस धारा के स्पष्टीकरण को एक ओर रखकर केवल उसका पूर्व भाग ही काम में लाना चाहिये।

(H) इन्कम् टेक्स या सार्वजनिक रोग का कानून अथवा लड़ाई की मुहिम या प्लेग या अकाल की रोक एवं लोगों को न्याय दिलवाने के लिए की हुई योजना आदि पर यदि किसीने टीका-टिप्पणी की और वह कितनी ही जोरदार या कितनी ही अनुचित अथवा कुचेष्टापूर्ण एवं अयोग्य हो तो भी कोई

हानि नहीं। किंतु यदि वह इस मर्यादा से बाहर जाकर सरकार के कार्यों पर टीका-टिप्पणी करते हुए अथवा अन्य समय पाठकों के चित्त में प्रत्येक सरकार के विषय में द्वेषबुद्धि या तिरस्कार उत्पन्न करे (उदाहरणार्थ यदि वह प्रजा के भोगे हुए प्रत्येक दुःख या संकट के लिए सरकार को ही कारणीभूत माने या यह प्रतिपादन करे कि सरकार परद्वीपस्थ है, अतएव उस के रीतिरिवाज़ भी भिन्न हैं अथवा उसके उद्देश्य बुरे हैं या प्रजा के कल्याण के विषय में सरकार उदासीन या विरुद्ध है।) तो इस धारा के अनुसार वह दोषी हो सकता है। और इसके साथ जोड़े हुए खुलासेसे उसका बचाव नहीं हो सकता।

(I) क़ानून का इस प्रकार अर्थ किया जाने पर प्रत्येक विचारशील मनुष्य इष्ट स्वातंत्र्य को प्राप्त कर सकते हैं; और इसकी अपेक्षा अधिक स्वातंत्र्य दिया जानेसे ख़ास तौर पर आत्मदौर्बल्य स्वीकार करना पड़ता है। किंतु ऐसा होना न केवल सरकार के ही लिए बल्कि लोगों के लिए भी अहितकारक है।

(J) जिन लेखों की ज्यूरी के सामने सुनवाई हुई है, उन्हें पढ़कर यदि सरकार के विषय में द्वेष बुद्धि उत्पन्न होनेकी ज्यूरी को संभावना प्रतीत हो तो, यह अनुमान करना अनुचित नहीं हो सकता कि प्रार्थी का सरकार के विषय में द्वेषबुद्धि या अप्रीति उत्पन्न करनेका इरादा था।

(K) लेखक का हेतु सरकार के प्रति अपने पाठकों का चित्त क्षुब्धकर देने का था या वह किसी अन्य रूप से अपना कार्य सिद्ध करना चाहता था इस का निर्णय ज्यूरर्स को वह लेख पढ़कर ही करना चाहिये।

(L) 'शिवाजी के उद्गार' शीर्षक कविता में सरकार के किसी विशेष कृत्य के विषय में जो भी कुछ न लिखा गया हो तथापि वर्तमान महर्घता एवं अकालप्रभृति संकटों के उपस्थित रहने पर भी यहां से सरकार के धन ले जाने विषयक सामान्य आरोप उस में अवश्य किया गया है। और लिखनेवाले का हेतु जो भी केवल जमाबंदी की व्यवस्था में थोड़ा बहुत सुधार करनेका ही है, तथापि जिस प्रकार समाचार पत्रों में सरकारी ख़र्चे के सम्बन्ध लिखने लिखाने में कोई हानि नहीं समझी जाती, वैसेही इस कविता में लिखित बातों के साथ अन्य सब विषयों का सम्बन्ध लगाकर देखने एवं इस बात की ओर ध्यान देने पर कि उस में किसी प्रकार के कर का उल्लेख नहीं हैं-ज्यूरी को यही समझना चाहिये कि यह लेख सरकार के टॅक्स संबंधिकहि थे।

(M) सम्पूर्ण कविता का सामग्री की दृष्टि से विचार करने पर उसका समग्र विषय किसी विशेष प्रसंग पर ही क्यों एकत्र संगठित किया गया था, इस का कारण हमें ठीक २ नहीं समझ पड़ता।

(N) सन १८६४ केसरी के लेख की तरह इस कविता में अविचारपूर्व या बेपर्वा ही के किसी कृत्य पर टीका-टिप्पणी की गई हो सो बात भी नहीं है।

(O) उक्त कविता के अंतिम वाक्यानुसार सरकार को प्रजा के सुखी करनेका जो उपदेश किया गया है, उसका अर्थ सरकार द्वारा किये हुए अर्थ के सिवाय और नहीं हो सकता। किंतु असल में लोगों के सुखी न होनेका ही उसमें उल्लेख किया गया है। पर उसमें इस बात का कहीं पता ही नहीं पाया जाता कि लोगों ने ही सरकार के पास अर्ज़ी भेजी थी। उसी कविता में शिवाजी ने सरकार के पास एक सन्देसा और भी भेजा है, साथ ही शिवाजी से अंगरेज़ सरकार को क्या २ लाभ पहुंचे उनका स्मरण दिलाया गया है। इस परसे निःसंकोच कहा जा सकता है कि लिखनेवाले का उद्देश्य अंगरेज़ सरकार के विषय में लोगों को भड़काने का ही था।

(P) लेख के हेतुओं को जाननेके लिए विवक्षित लेख को अन्य लेखों के साथ रखकर पढ़ना चाहिये। इस प्रकार ज्यूरी ने कहा था; तथापि मूल अंक में महारानी सरकार के ज्युबिली महोत्सव के संबन्ध में जयघोषणायुक्त जो संपादकीय लेख प्रार्थी की ओरसें प्रमाणार्थ उपस्थित किया गया है वह इन दो आरोप-विषयक लेखों के बीच छापा जाने पर भी न्यायाध्यक्ष ने उसकी ओर ध्यान देनेके लिए ज्यूरी से नहीं कहा।

(Q) दूसरे लेखों में अपने विषय का विवेचन करते हुए प्रार्थी ने भूतकाल की जगह वर्तमान और वर्तमान की जगह भूतकाल की योजना कर किस प्रकार की चालबाज़ी से काम लिया है इस पर ज्यूरी को अवश्य ध्यान देना चाहिये।

(R) श्रीशिवाजी और नेपोलियन तथा फ्रान्स की राज्यक्रांति के समय की नरहत्या के विषय में स्वतंत्र ऊहापोह करके यदि कुछ लिखा जाता तो कोई हानि न थी। किंतु उपरोक्त बातें कहनेवाला वक्ता विशेष काल और महाराष्ट्र देश को ही सम्बोन्धन करके बोला है, जब कि ऐसा करनेके लिए उसे कोई कारण न था।

(S) अपने गुरू को मारनेपर भी शिष्य को कुछ दोष न लगने की बात प्रार्थी ने स्पष्ट शब्दों में कही है।

(T) यदि अपने घर में घुसे हुए चोर को घर से निकाल बाहर करनेकी शक्ति मालिक मकान में न हो तो वह निधड़क उन्हें मकान में घेरकर जलादे; इस वाक्य के लिखने से यही ध्वनि निकलती है कि सरकार के कृत्यों का प्रतिकार ज़बरन किया जाय।

(U) केसरी के लेख और रेंयद एवं आयर्स्ट की हत्या इन दोनों के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध दिखलानेकी हमारी मामले भी इच्छा नहीं है, और न उपर्युक्त लेख हत्या के लिए कारणभूत ही सिद्ध किये जा सकते है, इस प्रकार एडवोकेट जनरल की ओर से स्वीकार कर लिया जाने पर से जो भी मामले की सुनवाई से पहले न्यायाध्यक्ष ने ज्यूरी से हत्याविषयक संदेह त्याग देनेको कह दिया हो, तथापि अपने भाषण के उत्तर भाग में उन्हों ने यहि सूचित किया है कि शिवाजी के द्वारा हत्या होनेकी बात जो भी यथार्थ हो, और लोगों को ऐक्यता [मेल] करने आदि का अन्य लेखोंद्वारा उपदेश किया हो तथापि इन सब बातों का विचार देश की स्थिति और विशेषकर पूना एवं पश्चिम भारत के लोगों की मनोवृत्ति पर ध्यान देकर किया जाने पर तुम इस बातका निर्णय कर सकोगे कि साधारण पाठकों के मन में किस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए होंगे। साथ ही यह भी कहा कि, अपने श्रोताओं को महाभारत के भगवान् कृष्णचंद्र के उपदेशानुसार चलना चाहिये, और अपने कर्म का फल प्राप्त करने के उद्देश्य से यदि कोई कार्य किया जाय तो उसका दोष अपनेपर न आने का उपदेश भी प्रार्थीने लोगों को दिया है।

(W) ता. ४ मई का लेख, अन्य प्लेग सम्बन्धी लेखों की अपेक्षा अपराध-युक्त लेखों से समानता रखता है। अतएव न्यायाधीश ने ज्यूरी से कहा कि, इस लेखपर से उस समय सरकार के विषय में प्रार्थी के विचार मित्रता के विरुद्ध ही थे, इसपर विशेषरूप से ध्यान दिया जाना चाहिये। किंतु प्रार्थी की ओरसे सुबूत में पेश किया हुआ मजकूर, और जिसपर से कि प्रार्थी एवं रेंयद साहब का मित्रभाव प्रकट हो सकता था, वह तथा ता. १८ मई का लेख जिसमें कि उन दिनों अधिकांश प्लेग ठंडा पड़ जाने और ता. २० मई के दिन फौजी सिपाही तक हटा लिये जाने आदि बातों का उल्लेख था, ये सब यत्किंचित् लेखों की तरह मानकर इनका उल्लेख तक साहब बहादुर ने नहीं किया।

(X) प्रारंभ में जब लोगों के सामने भाषण हुए और इसके बाद ता. १२ जून सन १८९७ के दिन जब वे केसरी में छापे गये तब पूने में लोगों की मनोवृत्ति किस प्रकार की थी, इस विषय में कोई भी प्रमाण उपस्थित न किया जाते हुए जज साहब ने कह दिया कि उस समय आन्दोलन और अशांति बनी हुई थी। किन्तु प्लेग के विषय में की हुई योजना पसंद करके ता. २० मई को सोल्जरों के हटा लेनेकी बात ता. १८ मई के दिन सरकारी योरपवासय द्वारा प्रकट हुई थी, इस सुबूत में पेश की हुई बाबत मजकूर उन्हों ने ज्यूरी का ध्यान नहीं दिलाया है।

(१०) ज्यूरी को फैसला देनेसे पूर्व हाई कोर्ट की सम्मति के लिए निम्नलिखित कानूनी प्रश्न तैयार रखनेको उन विद्वान जज साहब से प्रार्थी ने निवेदन किया था, किंतु वह अस्वीकार किया गया। वे प्रश्न इस प्रकार हैः—

[१] उपर्युक्त प्रकरण में की हुई फारियाद के लिए क्रि. प्रो. कोड की धारा १९६ के अनुसार पूरी २ मंजूरी या पर्वानगी है या नहीं ?

[२] यदि नहीं है तो उक्त कोड की धारा ५३२ के अनुसार उपर्युक्त कमिट किया हुआ अभियोग हाथ में लेने और उसकी जांच करनेका उक्त कोर्ट को अधिकार है या नहीं ?

[३] अप्रीति का जो आशय, अंग्रेज सरकार अथवा उसके प्रतिनिधि और सरकारी कार्यकर्ताओं के विषय में हरएक प्रकार के प्रेम का अभाव होनेके रूप में ज्यूरी को न्यायाध्यक्ष ने बतलाया है, वह ठीक है या नहीं ?

(११) इसके बाद प्रार्थी ने अपने सालिसीटर मि. भाईशंकर नानाभाइ के द्वारा लेटर्स पेटंट की २६ वीं धारा के अनुसार सार्टिफिकेट दिया जानेके लिए माननीय की सेवा में अर्जी पेश की। किन्तु उस सार्टिफिकेट के देनेसे भी इन्कार किया गया।

(१२) प्रार्थी को इस प्रकार की सम्मति दी गई है और उसे ऐसा विश्वास है कि उपरिनिर्दिष्ट बातों के सिवाय और भी कितने ही विषयों में न्यायाध्यक्ष ने ज़्यूरी को भ्रामक बातें समझाई हैं। यदि ऊपर कहे अनुसार जज साहब भ्रम उत्पन्न न कर देते तो निश्चयपूर्वक ज़्यूरी का बहुमत प्रार्थी के विरुद्ध नहीं हो सकता था।

(१३) यह अभियोग न केवल प्रार्थी के ही लिए बल्कि भारत के सभी प्रेसवालों एवं अन्यान्य लोक सेवकों के लिए भी बड़े महत्वका है। क्यौं कि जज साहब के कहनेपर से यह प्रतीत होता है कि अपनी असुविधाएँ दूर करनेके निमित्त पेश की हुई अर्जी अन्य २ विषयों में कितनी ही निर्दोष हो तो भी प्रार्थी या अर्जी पेश करनेवाले व्यक्ति पिनल कोडकी दफा १२४ (अ) के अनुसार सजा के पात्र समझे जायँगे।

(१४) प्रार्थी को यह सलाह दी गई है और खुद उसका इसी प्रकार विश्वास है कि जजसाहब का उपर्युक्त कथन यदि यथानियम मान लिया जाय तो इससे भारत के मुद्रण एवं भाषणस्वातंत्र्य तथा सार्वजनिक कार्य के निमित्त सभा समिति करनेके अधिकार जोभी नामशेष नहीं होगे, तथापि उन्हें बहुत भारी धक्का अवश्य पहुँचेगा।

इन सब कारणों से लेटर्स पेटन्ट की धारा ४१ के अनुसार इस अभियोग की प्रीव्ही कौंसिल में अपील होना उचित है। इस आशय की सम्मति प्रदान करनेके लिए यह आवेदक श्रीमान से प्रार्थना करता है।

और इसके बदले में प्रार्थी अपने कर्तव्य को जानता हुआ सदैव ही ईश्वर से प्रार्थना करता रहेगा।

(हस्ताक्षर) भाईशंकर और कांगा.   बाल गंगाधर तिलक.
प्रार्थी के अटर्नीस.

मैं प्रार्थी बाल गंगाधर तिलक अपने धर्मानुसार यह प्रतिज्ञा करता हूं कि उपर्युक्त आवेदनपत्र में लिखी हुई बातें मेरी पूर्ण जानकारी और विश्वास के अनुसार सब सच्ची हैं।

बाल गंगाधर तिलक.

---:o:---

भाग २५ परिशिष्ट (३)

——:o:——

तिलक डिफेंस फण्ड ।

इस कार्य में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि बम्बई शहर के बराबर ही कलकत्ते ने भी चंदा इकट्ठा करके भेजा था। पर प्रान्तों में से कलकत्ते की अमृतबज़ार पत्रिका के द्वारा जितनी सहायता इस प्रसंग पर तिलक को मिली वह अन्य किसी से भी नहीं मिली। शिशिरकुमार और मोती बाबू का तिलक पर विशेष प्रेम था। और सुरेंद्रनाथ बेनर्जी उन दिनों ख़ास तिलक पार्टी के ही समझे जाते थे। दो वर्ष पूर्व जब वे राष्ट्रीय महासभा के अध्यक्ष बनकर पूना आये थे, उसी समय तिलक का निकट परिचय हो गया था, तिलक के गिरफदार किये जाते ही उनके बचाव का सबसे पहला आन्दोलन बंगाल में पत्रिका ने ही किया। और बम्बईनिवासी तिलक के मित्रों को एक दिन अचानक ही यह तार मिला कि, तिलक का बचाव करनेकी जिम्मेदारी अकेला बंगाल प्रान्त खुशी से अपने सिर ले रहा है। इस आश्वासन को कलकत्तेवालों ने पूरा भी कर दिखाया। क्यों कि बचाव का मुख्य भाग अर्थात् बैरिष्टरों की सहायता कलकत्ते की ओरसे ही की गई। और कलकत्ते से आये हुए मुख्य वैरिष्टर मि. प्यू का अधिकांश सभी ख़र्चा कलकत्तावालों ने ही उठाया, हमारी जानकारी के अनुसार तिलक फंड के लिए संग्रहीत धन में से मुख्य ख़र्चा इस प्रकार हुआः—१२००० (बारह हजार) रुपये बैरिष्टर एल्. पी. प्यू की फीस, ४००० रु. कलकत्ते के बैरिष्टर मि. गार्थ की फीस, १५०० रुपये मि. प्यू के साथ काम करनेवाले बम्बई के वैरिष्टर दावर, रसेल और ब्रान्सन की फीस, १००० रुपये मि. प्यू, गार्थ, और जे. चौधरी का यात्राव्यय, ३७०० रुपये छपाई (बम्बई के टाइम्स ऑफ् इंडिया, रिपन प्रेस और गोवर्धन मुद्रणालय इत्यादि) और केवल अनुवाद कराने में लगभग २००० रुपये ख़र्च हुए। इसी भांति कोर्ट फीस, रिपोर्टर की फीस और गाड़ीभाड़ा मिलाकर १००० रु. खर्च हुई। बम्बई के सालिसीटर भाई शंकर और कांगा की कंपनी की फीस लगभग पांच हजार तक पहुँच गई थी। इसके बाद इसी कार्य की अपील करनेके लिए तिलक के मित्र दाजी साहब खरे, और दिनशा वाच्छा के दामाद एफ्. एस्. कांगा सालिसीटर के

विलायत जानेमें भी यात्राव्यय लगभग तीन हजार रुपये लगा, और वहां के बैरिस्टर, सालिसीटर्स एवं छपाई आदि में सब मिलाकर लगभग पांच हजार रुपये खर्च हुए।

तिलक डिफेन्स फण्ड के जमाखर्च का मोटा हिसाब केसरी में और यदि हम भूलते न हों तो बम्बई टाइम्स में भी प्रकाशित कर दिया गया था। और दान देनेवालों को उसमें संतोषभी हुआ था। किंतु सार्वजनिक चंदों के विषय में सामान्य नियम यह आना गया है कि, जिन्होंने चंदा दिया है उनकी अपेक्षा न देनेवालों को ही फण्ड के विनियोग के विषय में अधिक चिंता रहती है! फलतः एक की ओरसे चंदा दियाजाना और दूसरे का उसके लिए चिन्तित रहना भी एक प्रकार का श्रम-विभागही है। बंगाल के 'हितवादी' नामक पत्र ने इस श्रमविभाग के दूसरे अर्थात् विशेष जोखिम के काम को अपने सिर ले लिया था। क्यों कि इस पत्र के सम्पादक ने न तो कोई बहुत बड़ी रकम ही चंदेमें दी थी और न चंदा इकट्ठा करनेका प्रयत्न ही किया था; किंतु फिर भी उसने बीच २ में कई बार ये प्रश्न किये कि बंगाल के किस व्यक्ति ने कितना चंदा दिया है। और इस पूछताछ की प्रतिध्वनि महाराष्ट्र के भी दो एक पत्रों में सुनाई दी थी।

भाग २५ परिशिष्ट (४)

दफा १२४ अ का इतिहास।

सन १८९७ में तिलक पर राजद्रोह का जो अभियोग चलाया गया, वह काल-गणना की दृष्टि से दूसरा होते हुए भी महत्व की दृष्टि से पहला ही कहा जा सकता है। परंतु जिस धारा के अनुसार यह अभियोग चलाया गया था उसका इतिहास बड़ा ही मनोरंजक है। अंगरेजी सत्ता कायम हुए भारत में सौ वर्ष बीत चुके थे। इस अरसे में अंगरेजी राज्य को बुरा कहनेवाले लोग भी कितने ही हो गये, और सरकार की ओरसे उन्हें भिन्न २ प्रकार से दंड भी दिये गये। किंतु अभी सम्पूर्ण भारत में अपने ढंगकी राजनैतिक एकता का प्रचार नहीं हो पाया था। राष्ट्रीय सभा का जन्म होनेके बाद सन १८९७ में कहीं जो भी बारह वर्ष की होगई थी, किन्तु फिर भी जन के राजद्रोह की ध्वनि निकल सकनेकी कल्पना सर्वसाधारणका गया,

परंतु राज्यकर्ता भी नहीं कर सकते थे। अंगरेजी शासन की आरंभिक अवस्था में भी उपद्रवी लोगों को सरकार ने सज़ा दी सही, किन्तु उनपर अदालत में अभियोग नहीं चलाये गये थे। क्यों कि इस आरंभिक काल में भारतीयों की अपेक्षा किसी अंश में युरोपियनों की ओरसे ही अधिक उपद्रव मचाये गये थे, क्यों कि भारत में समाचारपत्रों के चलानेवाले बहुधा अंग्रेज लोग ही थे। अतएव सजातीय अपने जातिभाई के विरुद्ध लिखने में जरा भी संकोच न कर स्वेच्छतापूर्वक लेखनी चला सकता था, और सरकार भी उसे एकदम देशनिर्वासन का कठोर दंड दे डालता था, पुराने रेगुलेशन्स के अनुसार ये बातें बाक़ायदा की जा सकती थीं। यही नहीं बल्कि भारत के दुर्वृत्त अंगरेजों को सजा देते समय सरकार ने इस प्रकार का ध्येय निश्चित कर लिया था कि जिसके कारण वह उन्हें देश-निर्वासन करना ही अधिक श्रेयस्कर समझती थी। और सन १८३० से १८४० के बीच जब फौजदारी क़ानून पिनल कोड के रूप में संकलित किया गया, उस समय लॉ-कमिशन के अध्यक्ष लॉर्ड मेकाले ने पिनल कोड की भूमिका में इस बातका उल्लेख भी किया है। इस प्रथम पिनल कोड में इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी कि, जिस गौरकाय को दो वर्ष की सादी कैद या एक वर्ष की सख्त मजदूरी की सजा दी जा चुकी हो उसे यदि सरकार चाहे तो कंपनी के राज्य से बाहर अन्य कहीं कालेपानी भी भेज सकती है। इसी ध्येय के अनुसार अनेक गौरकाय संपादकों को जहाज में बैठाकर विलायत या अन्यत्र भेज दिया गया था। यही नहीं बल्कि इसी ध्येय के अनुसार बम्बई क्रानिकल के सम्पादक बैंजामिन गाय हार्निमन को डिफेंस ऑफ् इंडिया एक्ट के अनुसार वारंट द्वारा पकड़कर जहाज में बिठा विलायत भेज दिया, और अबतक उन्हें यहां आनेके लिए इजाज़त नहीं दी जाती।

यद्यपि गौरकाय राजद्रोहियों के लिए तो यह विशेष-व्यवस्था कर दी गई थी, किंतु फिर भी यह कभी संभव न था कि भारतीय लोग राजद्रोह का अपराध न करे, अतएव इसका समावेश पिनल कोड में किया जाना अनिवार्य ही था। सन १८३७ के पिनल कोड में इस अपराध के लिए दफा नं. ११३ थी, और इसके लिए सजा जुर्माने सहित तीन वर्ष सादी कैद या मय जुर्माने के मनचाही मुद्दत तक देश निकाले की सजा रखी गई थी। अतएव उक्त विवेचन से समझा जा सकता है कि क़ानून बनानेवाले ने गोरे काले कायदे मनमें रखकर ही इसमें से सादी कैद भारतीयों के लिए और देशनिकाला गोरों के लिए तजवीज किया था। इस धारा के सम्बन्ध में दूसरी एक बात कहने योग्य यह है कि राजद्रोह के अपराध को मूल पिनल कोड के रचयिता ने सौम्य-स्वरूप प्रदान किया था। क्यों कि इस इसी पिनल कोड की धारा ४७१ के अनुसार खासगी मनुष्य को बदनाम

करने पर दो वर्ष की सादी कैद या जुर्माना अथवा दोनों सजाएँ एक साथ देनेकी योजना की गई थी। किंतु राजद्रोह भी एक प्रकार की 'बदनामी' ही कहा जा सकता है। ऐसी दशा में व्यक्तिगत बदनामी के लिए दो वर्ष और सरकार की बदनामी के लिए तीन वर्ष की सजा तजवीज करनेपर से ही उभय-पक्षके दंड का अंतर सहज ही समझमें आसकता है। लॉ-कमिशन ने अपने बिल में, राजद्रोह के लिए इंग्लैण्ड में जो सौम्य अर्थात् केवल बदनामी के अपराध का दंड रखा था, उसी को यहांके लिए भी तजवीज कर देनेका निश्चय कर लिया था; यह बात उसकी योजना परसे स्वयमेव सिद्ध हो जाती है।

सन १८६० में जब पिनल कोड मंजूर किया गया, तब लॉ-कमिशन के मसौदे में से राजद्रोह विषयक नं. ११३ की धारा एकदम ही उड़ा दी गई। किंतु इस प्रकार का दृष्टिदोष कैसे हुआ, इसका संतोषकारक उत्तर आजतक कहीं भी हमारे देखनेमें नहीं आया। हाँ, तो पूरे दस वर्ष के बाद इस भूलपर सरकार का ध्यान गया और तब इस ११३ वीं धारा के मजमून पर से एक नई कलम बना-कर वह १२४ के साथ जोड़ दी गई। अर्थात् उस समय शांति बनी रहनेके कारण सरकार की इस बेकायदा उठा-रखी को देखकर उनपर आक्षेप किया जाना स्वाभाविक ही था; किंतु सिवाय इसके इस धारा में उल्लिखित अपराध के अति-शय व्यापक होनेपर भी धारासभा में शिकायत हुई ही। किंतु सरकार की ओरसे फिट्स जेम्स स्टीफन ने यह आश्वासनात्मक खुलासा पेश किया कि, शांति बनी रहनेके जमाने में जोभी हम इस धारा का पिनल कोड में समावेश कर रहे हों, किंतु असल में महत्व की बात यही है कि हम किस अवस्था में इसका उप-योग करेंगे। और इस विषय में हम निश्चयपूर्वक यह कह सकते हैं, जबतक देश में शांतिभंग होनेके लक्षण न दिखाई देंगे, तबतक इस धारा की ओर हम ध्यान तक न देंगे। क्यों कि इस धारा का उद्देश्य विचारस्वातंत्र्य में बाधा डालनेका नहीं है; बल्कि उपद्रव या विद्रोह को रोकने या उसका अंत करनेमें ही इसका उपयोग किया जायगा। विद्रोह अर्थात् सरकारी सत्ता की नींव को उखाड़ फेंकनेकी बातें जबतक समाचारपत्रवाले प्रकाशित नहीं करेंगे, तबतक उनके लिए इस धारा से भयभीत होनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यदि वे अपनी मनोवृत्तियों को इस प्रकार बनालें कि हम मनमानी टीका-टिप्पणी करके भी कानून को मानने या पालन करने में जराभी कसर न पड़ने देंगे, तो उनके लिए किसी भी कानून से भयभीत होनेकी आवश्यकता नहीं रहेगी। इस खुलासे के कारण नई धारा बिना किसी बाधा के पास हो गई।

इसके बाद सन १८७८ में जब बड़ी धारा सभा में गलाघोंटू कानून बनाया गया, तब यही प्रश्न फिर सामने आया, और उस समय भी उक्त उद्देश दिखला कर ही समाधान कर दिया गया। दफा १२४ अ की मौजूदगी में केवल समाचारपत्रों के ही लिए प्रथक् रूप से गलाघोंटू क़ानून बनानेकी आवश्यकता प्रतिपादन करनेके निमित्त सरकार की ओर से यह कहा गया कि दफा १२४ अ का समाचारपत्रों की कठोर आलोचना से कोई संबन्ध नहीं है और न होना चाहिये, इसी कारण इस नये कार्य के लिए क़ानून की विशेषरूप से योजना होना आवश्यक समझा गया है। इस खुलासे की दृष्टि से विचार करनेपर भी सन १८९७ में तिलक पर दफा १२४ अ लगाया जाना अनुचित ही सिद्ध होता है। यद्यपि आगे चलकर गलाघोंटू कानून रद्द अवश्य कर दिया गया, किंतु दफा १२४ बनाते समय जो हेतु उसमें न था, वह इसके कारण उसमें कैसे हो सकता था? फलतः लार्ड लिटन ने इस मुद्देपर स्पष्ट कह दिया कि "लोगों में असंतोष उत्पन्न करनेपर भी यदि उससे विद्रोह खड़ा न हो तो उस दशा में इस धारा के साथ जोड़े हुए अप्रीति के स्पष्टीकरण पर से किसी पर भी राजद्रोह का आरोप नहीं लगाया जा सकेगा। अतएव ऐसे मामलों में सजा होनेकी भी संभावना नहीं रहेगी।" प्रेस एक्ट या समाचारपत्रों के लिए गलाघोंटू क़ानून के इस तरह पास हो जाने और बाद में रद्द हो जाने पर सन १८९१ में, अर्थात् दफा १२४ अ के पिनल कोड में शामिल कर दिये जानेके इक्कीस वर्ष बाद 'बंगवासी' पत्र पर राजद्रोह का अभियोग चलाया गया। वह इस धारा के अनुसार चलाया हुआ पहला ही अभियोग था। इसमें न्यायाध्यक्ष सर कोमर पेथरॅम ने इस धारा का मूल अर्थ लार्ड मेकाले के उद्देश्यानुसार ही किया था। किंतु उसे अधिक व्यापक बनानेकी जिम्मेदारी स्ट्रेची साहब ने ही सब से पहले अपनी सिरपर ली।

तिलक के अभियोग में सरकार का यह उद्देश्य और वचनभंग हो जानेसे सन १८९८ में चामर्स साहब ने दफा १२४ अ की दुरुस्ती की, और खुलासा करनेके बहाने मनमाने अधिक व्यापक शब्द उस में मिला दिये। इन व्यापक शब्दों के कारण सन १९०८ में तिलक को सहजही सजा ठोक दी गई। इसके बाद सन १९१६ में होमरूल लीग के आन्दोलन के समय भी इन्हीं व्यापक शब्दों के आधार पर 'हेच' साहब ने तिलक से जमानत लेनेकी आज्ञा दी थी। किंतु सौभाग्यवश हाई कोर्ट में यह हुक्म रद्द करके इस स्वेच्छागामी व्यापक अर्थ की मर्यादा बांध दी। इस तरह तिलक और राजद्रोह के कानून की शर्तबाज़ी बराबर बीस वर्ष तक होती रही। किंतु मौजूदा क़लम के दायरे में रहकर ही भरसक टीका-टिप्पणी करते हुए विचारस्वातंत्र्य का उपयोग करनेविषयक

तिलक की प्रवृत्ति रहनेके कारण उनकी राजनिष्ठारूपी नासिका के पास सूत भरे हुए के माफक रहे थे, और उनकी नाड़ी पर हाथ रख कर सरकार रातदिन बैठी हुई थी। जिस प्रकार देशी खेल के शास्त्र में यह शंका सदैव ही बनी रहती है कि मर्यादा की रेखा के भीतर पाव रखकर शरीर को बाहर झुकाने से खिलाड़ी अलग किया जा सकता है या नहीं, वही बात तिलक की राजनिष्ठा या उनके राजद्रोह के विषय में भी हुई। श्री. वैद्यबन्धु ने सन १८६७ के इस अभियोग के फैसलेपर एक व्यंग्य चित्र बनाया था। जिसमें कि उन्होंने क्रिकेट के खेल की योजना करके दिखलाया था कि तिलक का क्रिकेट-पेर सीमा की रेखा के अंदर है किंतु उनका सारा शरीर बाहर की ओर झुका हुआ है, ऐसी दशा में खिलाड़ी स्ट्रेची साहब ज्यूरीरूपी अंपायर से पूछ रहे हैं कि बतलाइये 'तिलक आउट हुए या नहीं?' सो सन १८६७ में तो अम्पायर ने इस प्रश्न का उत्तर अस्तिपक्ष में दिया, किंतु सन १६१७ में हाईकोर्ट ने नास्ति कह दिया। किंतु *फिर भी संसार का सन्देह क़ायम ही बना रहा और हम समझते हैं कि न केवल* तिलक ही, बल्कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ समालोचक के विषय में इस प्रकार के प्रश्न का कुछ भी उत्तर नहीं दिया जा सकता। क्यों कि नदी अपना पात्र प्रवाह के अनुसार बनाया करती है। ग्रीष्म काल में उस का जल किनारों से बहुत भीतर रहता है, और वर्षाकाल में कभी २ वह किनारे भी छोड़ देती है। किंतु फिर भी नदी और पात्र का समव्याप्तिरूप जो नित्य संबन्ध होता है, उसी को सत्य मानना पड़ेगा। फलतः राजनीतिक क्षेत्र में जिन लोगों का यह ध्येय बन चुका है कि यथासंभव क़ानून की मर्यादा में रह कर उसे अपनी इच्छानुसार सुगम बनानेका प्रयत्न किया जाय, उनके साथ राजद्रोह के क़ानून का संबन्ध सदैव इसी प्रकार बात बना रहेगा, यह प्रकट ही है।

भाग—छब्बीसवाँ।

—:—

कारावास और छुटकारा।

सन १८९७ की जेलयंत्रणाओं से आज के जेलजीवन में अनेक दृष्टि से बहुत कुछ अन्तर पड़ गया है, ऐसा कहना अनुचित न होगा। और कमसे कम सन १८९७ में जेल में रहकर तिलक ने जिन कष्टों को भोगा, उनकी कल्पना आज कल की जेलों में रहकर नहीं की जा सकती। आरंभ में तो तिलक की बड़ी ही कठिन अवस्था हो गई थी। जेल के भोजन में उस समय मोटी-झोटी और सूखी रोटी एवं उसके साथ सूखी चटनी मिलती थी, लेकिन चटनी में प्याज़ और लहसुन मिला रहनेसे तिलक उसे छूते तक न थे और रोटी की केवल ऊपर की पपड़ी पानी में भिगाकर खा लेते थे। सुबह श्याम हाथ की हथेली के जितना रोटी का टुकड़ा खाकर उन्होंने दो महिने विता दिये। फलतः उनका वजन भी पच्चीस तीस पौंड कम होकर ११० पौंड पर आगया! क्यों कि धोंडोपंत उन दिनों अपील के काम के लिए बम्बई में ही रहते थे, अतएव वे समय २ पर तिलक से मिलते रहते थे। उन्होंने प्रत्येक वार में तिलक को अधिकाधिक क्षीण होते देखा था, अतएव ऐसी दशा में मित्र लोगों को इस बात की चिंता हो पड़ी कि तिलक जेल से जीवित वाहर निकल सकेंगे या वहीं उनका अंत हो जायगा। इसके लिए वे उपाय भी सोचने लगे। किंतु उनके इन कष्टों को दूर कर सकने के प्रायः सभी राजमार्ग बन्द हो चुके थे। क्यों कि उस समय किसी में यह तक कहनेका साहस न था कि न्यायालय की अंधाधुन्दी से तिलक को व्यर्थ ही में कष्ट उठाना पड़ रहा है। और यदि कोई यह कहना भी चाहता कि जेल में ही क्यों न हो, किंतु तिलक के लिए अच्छे अन्नवस्त्र का प्रबंध किया जाय, तो इस पर यह निश्चित उत्तर तैयार ही था कि 'तिलक कोई बड़े आदमी हों तो भी उनके लिए नियम बदल दिया जाय, यह एकदम असंभव बात है।' राजनैतिक कैदियों की श्रेणि अलग रखी जानेके लिए आज इतने वर्षों से झगड़ा मचाया जाने पर भी जब किसीको सफलता नहीं मिली तो फिर उन दिनों इस प्रश्न को कौन हाथ में ले सकता था? यही नहीं बल्कि उसके विरुद्ध कैदी जितना ही अधिक प्रतिष्ठित होता, उतनी ही उसे साधारण वाम मार्गों से सुख पहुँचाने के लिए अधिक चालाकी से काम लिया जाता था। यह हम मानते हैं कि जेल में

व्यवस्था अधिक रहती है, किंतु इसी के साथ २ हम इस बात को छुपा नहीं सकते कि इस व्यवस्था की आड़ में चोरी और धाखाड़ी भी खूब होती है। लेकिन हमारे उपर्युक्त कथनानुसार तिलक के लिए सुविधाएं कर सकनेके प्रकट और धाखाड़ी के मार्ग भी बन्द हो चुके थे। क्यों कि प्रतिष्ठित कैदियों के लिए कोई अलग श्रेणि तो पहले ही से नहीं थी, उस में भी फिर राजद्रोह के अपराध को नैतिक पतन का स्वरूप प्रदान करनेके लिए सरकार भी विशेषरूप से मान कर ही थी। अन्यथा बम्बई युनीवर्सिटी के फेलो के नाते सीनेट सभा से तिलक का नाम क्यों निकाल दिया जाता ? धारासभा और पूना शहर की म्युनिसी-पालिटी की सदस्यता तो तिलक ने सजा होने से पहले ही छोड़ दी थी। केवल फेलोशिप का त्यागपत्र देना रहा था। किंतु तिलक की प्रतीक्षा न करते हुए सरकार ने ही अपने हाथों वह काम कर डाला। क्यों कि किसी का अपमान करनेकी भावना में उसे दुःख पहुँचाने का भाव अंतर्भूत ही होता है। फलतः जो सरकार सुशिक्षित समाज में प्रतिष्ठापूर्वक रहनेके लिए तिलक को अयोग्य ठहरानेका दुस्साहस कर सकती हो, वह उनके खहसूल ब्याज पर क्यों ध्यान देगी ?

हाँ, अलबत्ता जेल के डाक्टर यदि चाहते तो तिलक की प्रतिदिन गिरती हुई हालत और उनकी क्षीण पड़ती जानेवाली देहयष्टि को देखकर कुछ दया-दृष्टि दिखला सकते थे, किंतु ऐसा होने संभावना भी बहुत कम थी। क्यों कि साधारण मनुष्य के साथ व्यवस्था के सिवाय या उसकी सीमा में रह कर यदि कोई रिआ-यत भी करे तो उसकी ओर कोई ध्यान नहीं देता। किंतु तिलक सरीखे सबके परिचित और बड़े क़ैदी के साथ रिआयत की जानेकी चर्चा चल पड़े तो उसका समाधान करना कठिन हो जानेका डर था। अब रहे जेल के छोटे अधिकारी लोग, सो तिलक से किसी प्रकार की रिश्वत आदि मिलनेकी संभावना न रहते हुए भी इन निम्नश्रेणी के भारतीय अधिकारियों की उनके साथ सहानुभूति होना स्वाभाविक ही था। अतएव इन्हीं लोगों की ओरसे यदि तिलक को कुछ आराम पहुँचा हो तो भले ही। क्यों कि प्रथमतः कुछ दिनों तक तिलक डोंगरी की जेल में रखे गये थे, किंतु इस के बाद शीघ्रही उन्हें भायखला (बम्बई) के हाउस ऑफ् करेक्शन में भेज दिया गया। किन्हीं लोगों का कथन है कि तिलक की तरह ताल्यासाहब नातू भी यात्रा में रखजानेके बाद हाउस ऑफ् करेक्शन में भेज दिये गये थे। इनके लिए अपने घर से परोसा हुआ भोजन का थाल आता था, और कभी २ उसीमें से एक-आध पदार्थ पहरेवाले की दृष्टि चुकाकर किसी व्यक्तिद्वारा तिलक को भी मिल जाता था। परन्तु जब ताल्यासाहब नातू को यह गुप्त वार्ता ज्ञात हुई तो उन्हें इस से बड़ा ही संतोष हुआ, और तभीसे उनकी क्षुधा बढ़ चली।

तथा तिलक को रुचिकर प्रतीत होनेवाले पदार्थ उन्हें भी भाने लगे। किंतु फिर भी यह सब चोरी और चालाकी ही थी, और कभी २ ही ऐसा हो सकता था; इधर तिलक की क्षुधा कुछ इस प्रकार की न थी कि वह जब कभी मिले, तभी एकाध् सात्विक पदार्थ को खाकर संतुष्ट होजाती, और उसके मिलनेतक चुप बैठ रहती। परिणाम इसका यह हुआ कि तिलक का वजन सीमासे भी अधिक घट गया और उनके होंट काले पड़ गये तथा गले में खुरफी आजानेसे बोलने त में उन्हें कष्ट होने लगा। इस प्रकार चिंताजनक स्थिति में पहुंच जाने पर जेल अधिकारियों को विवश होकर इन्हें येरवड़ा जेल में भेज देना पड़ा। शायद उन्हों यह सोचा हो कि तिलक पूना के रहनेवाले हैं, अतएव भायखले की अपेक्ष उन्हें येरवडे की वायु ही अधिक स्वास्थ्यप्रद हो।

इधर समाचारपत्रों में तिलक के प्रति सहनुभूति प्रकट किये जाने का डंक पिट ही रहा था। किंतु उनके स्वास्थ्य के विषय में ठीक २ जानकारी प्राप्त हो सकनेका कोई साधन न रहनेसे इस विषय में निश्चित विधान कुछ भी नहीं किया जा सकता था। इतने पर भी यदि कोई अस्पष्ट रूप में कुछ लिखना चाहता तो भी उस से क्या लाभ पहुँच सकता था? देश की सब से अधिक प्रतिष्ठित संस्था एकमात्र कांग्रेस ही थी। सो इस का अधिवेशन उस वर्ष उमरावती में शंकरन् नायर के सभापतित्व में हुआ था। इस में भी तिलक के लिए स्वतंत्र-रूप से प्रस्ताव करनेका प्रयत्न विफल हुआ। किंतु यदि इस में ख़ास तौर पर तिलक के लिए ज़ोरदार प्रस्ताव भी किया जाता तो उस से तिलक के छोड़ दिये जाने की तो संभावना थी ही नहीं। इतने पर भी इस तरह के प्रस्ताव को पेश न होने देने के लिए दव्बू माडरेटों की नर्म नीति बाधक हो ही गई। तिलक की अस्वस्थता का समाचार ठीक राष्ट्रीय सभा का अधिवेशन होते समय ही पहुंचा, और तत्काल द्विमतभेद ज़ोर पकड़ गया। एक पक्ष कहने लगा कि तिलक के अस्वस्थ होने से सभा का प्रस्ताव अवश्य कुछ काम कर जायगा, अतएव हमें उनके विषय में प्रस्ताव अवश्य करना चाहिये; इस पर दूसरे ने यह कह कर विरोध किया कि तिलक अस्वस्थ है, अतएव सभा के प्रस्ताव से उनके छुटकारे में अवश्य बाधा पड़ेगी। फिर प्रथम पक्ष ने यह कह कर ज़ोर लगाया कि, राष्ट्रीय सभा के द्वारा प्रचण्ड बहुमत प्रकट होने पर सरकार को झुकना ही पड़ेगा, तब दूसरे ने कहा कि, यदि कहना ही है तो ऐसा निंदात्मक प्रस्ताव कीजिये कि जिसे देखते ही सरकार को लज्जित होकर मुँह छुपालेना पड़े। नर्मदलवाले कहने लगें कि तुम्हें तो हरदम सरकार का विरोध करनेकी ही सूझती है, किंतु हमें व्यक्तिशः तिलक के लिए चिंता हो रही है! अतएव हम ऐसा कोई भी काम न करेंगे जो

कि उनके छुटकारे में बाधक हो! भले ही ऐसा करनेमें हमें सरकार का विरोध करने विषयक एक सुअवसर से हाथ धो बैठना पड़े। किम्वदन्ती थी कि सर जमशेदजी जीजीभाई तिलक के छुटकारे के लिए सरकार के यहां मध्यस्थी करने वाले हैं, किंतु सभा में एक भले आदमीने यह शंका उत्पन्न करदी कि यदि तिलक के विषय में सभाने प्रस्ताव पास किया तो वह एकदम इस कार्य से हाथ खींचकर अलग हो जायँगे। इस तरह का बखेड़ा उत्पन्न हो जानेसे तिलक के विषय में प्रस्ताव न हो सका।

अलबत्ता इस सभा में नातू-बन्धुओं के विषय में प्रस्ताव अवश्य हुआ, किंतु इस कारण हमारे पूर्व कथानुसार यह था कि, नातुओं पर किसी प्रकार का अभियोग न चलाकर ही सरकार ने उन्हें जेल में ठूंस दिया था। किंतु तिलक पर तो खुली अदालत में अभियोग चलाया गया था। फलतः नातू बन्धुओं के विषय में प्रस्ताव किया जाना उचित ही था। किन्तु तिलक के विषय में यदि सहानुभूति का प्रस्ताव किया जाता तो उसमें यह कहनेकी आवश्यकता होती कि सरकार के हाथ से यह अन्याय हुआ है, और न्यायदेवता के मंदिर को इस तरह भ्रष्ट करनेका साहस उस समय उन लोगों में नाम को भी न था। यद्यपि इस सभा की स्वागत-समिति के अध्यक्ष स्वतः दादासाहेब खापर्डे ही थे। किन्तु फिर भी मुधोलकर जैसे प्रभावशाली सदस्यों की मुरव्वत से वे उस राष्ट्रीय सभा मण्डप में तिलक की तस्वीर लगानेतक का प्रस्ताव न कर सके, तो फिर सहानुभूति के लिए स्वतंत्र प्रस्ताव करना न करना तो सब तरह सभा के ही हाथ में था। किंतु स्वतंत्र प्रस्ताव न किया जाने परभी सभा के अध्यक्ष शंकरन् नायर और सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने अपने २ भाषण में तिलक के लिए सहानुभूति के उद्गार स्पष्ट शब्दों द्वारा प्रकट कर दिये थे। क्यों कि नायर महाशय बड़े क़ानूनदां हैं; अतएव उन्होंने इस बातपर जोर दिया कि उनके लिए हिन्दुस्तानी पंचम चुने जानेसे ही ऐसा हुआ; और यदि तिलक यहां न होकर विलायत में क़ैद किये जाते तो उनके साथ राजनैतिक कैदी का सा बरताव होता; इत्यादि। किन्तु सुरेन्द्रनाथ बेनर्जी ने नातू-बन्धुओं के प्रस्ताव पर भाषण करते समय ही तिलक के विषय में भी अपनी सहानुभूति प्रकट कर दी। उन्होंने कहा कि "तिलक यथार्थमें ही निरपराध हैं, और शरीर से जो मैं आज में उनके साथ उस अंधेरी कोठरी में जाकर नहीं बैठ सकता, किन्तु फिर भी आप निश्चित जानिये कि मेरा अंतरात्मा वहीं बस रहा है।" साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि, उनके पक्ष में यथार्थतः न्याय नहीं होसका है, और जो कुछ न्याय किया है उसमें भी आपेक्ष करनेके लिए बहुत कुछ गुंजायश है। बाबू उमेशचंद्र बेनर्जी ने भी अपने भाषण

जो कुछ भी ज्ञात हो उसे वह प्रकट कर देना चाहिये था। किंतु यहां आनेके बाद अपने आरोप सिद्ध न किये जा सकने पर भी सामान्यतः प्रतिष्ठित व्यक्ति खेदप्रदर्शन की जिस निश्चित और संक्षिप्त शब्दावलि का उपयोग करते हैं, उसी से गोखले को काम लेना चाहिये था। किंतु उनकी क्षमा याचना इतनी विस्तृत और अनुचित बातों से युक्त थी कि जिसे पढ़कर सामान्य पाठक एकदम कह उठता कि यह क्षमायाचना का पत्र स्वतः गोखले का स्वेच्छापूर्वक लिखा हुआ नहीं हो सकता। बल्कि उन्हे धमकी देकर या कम से कम उनकी अनावश्यक न्यायबुद्धि से लाभ उठाकर सरकार ने सोल्जरों के उन उच्चरित-अनुच्चरित घृणास्पद कृत्यों पर गोखले के हाथ से सफेदी पुतवाकर ऊपर से सुगन्धित वार्निश भी करवा लिया है। —क्योंकि इन लोगों ने यह समझा होगा कि, माफी मांगते हुए भी अंत में आत्मसमर्थन करने विषयक चतुरों की रीति का गोखले भी अनुसरण करेंगे ही; किंतु जब ऐसा नहीं हुआ तो इन लोगों ने इसका कारण सरकार की धमकी ही बतलाया। फलतः जब गोखले के सामने यह कठिन समस्या उपस्थित हुई कि, यदि मैं अपने बिधानों को वापस नहीं लेताहूं तो सरकार मुझे दोष देगी और संभव है कि वह मुकद्दमा भी चलावे, पर यदि वापस ले लूंगा तो जनता मुझे बदनाम कर देगी।—तब उन्होंने जनता के क्रोध की पर्वाह न करके सरकार की कृपा दृष्टि ही प्राप्त की। यही एकमात्र कारण लोगों के उनपर क्रुद्ध होने का था। और सचमुच ही उन दिनों यह गर्म अफवाह थी कि प्लेग के कारोबार के विषय में सरकार के लिए सार्टिफिकेट रूपी गोखले की क्षमायाचना सख्ती करके प्राप्त की गई है। अर्थात् बंबई टाइम्स के सम्पादक बेनेट साहब ने उसे सरकार के मनोनुकूल लिख दी और रानडे ने जब उसके लिए अनुमति दे दी तब गोखले ने चुप चाप उस पर दस्तख़त कर दिये। जब गोखले विलायत से लौटे तो किसी मुसाफिर के नीचे उतारनेसे पहले ही बम्बई के पुलिस कमिश्नर बन्दर गाह पासे जहाजपर जा चढ़े और किसी के मतानुसार उन्होंने गोखले से केवल खानगी में मुलाकात की; तो कोई यह कहता है कि उन्होंने गोखले के काग़ज-पत्रों की तलाशी ली। इसी लिए गोखले भारेभय के कॉंप उठे और सरकार के कहे अनुसार क्षमापत्र लिख देनेको तैयार होगये। सारांश यह कि उस समय लोगों को चित्त में गोखले और तिलक के विषय में घुलनेवाले तुलनात्मक विचार यदि एक ही वाक्य में बतलाये जायँ—तो यह कहा जा सकता है कि गोखले के किये हुए विधानों को सिद्ध करनेका प्रयत्न करते और रेण्डकी हत्या होजाने के बाद भी सरकार पर ज़ोरदार आलोचना करते हुए भी राजद्रोह के अभियोग में तिलक धैर्यपूर्वक जेल चले गये, परंतु गोखले ने मुकदमें के भय से और चिट्ठीभर की

माफी से काम चल जानेकी संभावना रहते हुए भी सरकार के हितसाधक शब्दों में क्षमा प्रार्थना की। लोक कहने लगे कि मनोधैर्य्य तो गोखले ने भी दिखलाया, किंतु वह केवल जनता को असंतुष्ट करने ही के जितना।

फलतः गोखले पर जनता यहांतक असंतुष्ट हो उठी कि उमरावती की राष्ट्रीय सभा में व्याख्यान देनेके लिए वे खड़े तक न होसके, और यदि वे खड़े होते भी तो लोग उन्हें बोलने न देते। अर्थात् राष्ट्रीय सभा जैसे महान् जन समारोह में गोखले जैसे व्यक्ति को बोलने न दिया जाय, इससे बढ़कर जनता के असंतोष का प्रमाण और क्या हो सकता है? अन्यथा विलायत से इतना भारी काम करके आने बाद ऐसे राजनैतिक पर्वपर उनका बोलबाला कौन नहीं करता? वे कदाचित् उमरावती जाते भी नहीं, किंतु रानड़े के अनुरोध से उन्हें वहां जाना पड़ा। ये सब घटनाएँ गोखले के लिए कहांतक दुःखदाई हुई होंगी, इसकी कोई कल्पना तक न कर सका। उमरावती से वापस आनेपर उन्होंने अपनी माफ़ी का जो खुलासा प्रकट किया उसमें यह लिखा था कि, क़ानून की दृष्टि से ख़ुद मेरे लिए कुछ भी आपत्ति नहीं आसकती थी, किंतु मेरा मन अंदर ही अंदर मुझे कोस रहा था। "शारीरिक दुःख भोगने की अपेक्षा अपमान पानेवाले सच्चे व्यक्ति के लिए विशेष धैर्य्य की आवश्यकता हुआ करती"। इनमें से प्रथम विधान ठीक था, किंतु दूसरा विधान करते समय वे इस बात को भूल गये के स्वतः मेरी अपेक्षा दूसरे के हाथों इसके होनेमें अधिक विशेषता है। यदि मनुष्य अपने मुँहसे ही खुद अपने को भोला कह दे इसमें बुराई नहीं; किंतु अपनेको निडर बतलानेकी बात सच्ची होनेपर भी ऐसी नहीं जो अपने मुँहसे आपही बतलाई जाय। इसी प्रकार सोल्जरों का काम कठिन होनेसे लोगों के विषय में अधिक कुछ न कहते हुए उन्हीं सोल्जरों के विषय में गोखले की ओरसे सहानुभूति दिखलाई जाना उस समय यथार्थ में ही सर्वसाधारण को असंतुष्ट करने जैसा कार्य था। और अंत में गवर्नर साहब ने गोखले की माफी को जेब में रखकर ऊपर से जब उनपर टीका-टिप्पणी की, उस समय लोग यहांतक निश्चय न कर सके कि हम गोखले पर असंतुष्ट हो या उनके प्रति सहानुभूति दिखलावें। किन्तु यह स्थिति अधिक दिन कायम रह सकना असंभव ही था। फलतः सन १८९९ के कौंसिल विषयक चुनाव के समय यह लोकमत का बेतरह झुका हुआ पलड़ा धीरे २ उठता दिखाई दिया। किन्तु फिरभी अभी लोकमत के सिंहासन पर तिलक को ही राजपद प्राप्त हो रहा था, और तिलक के विषय में नाममात्र की सहानुभूति दिखलानेके आरोप पर से कनिष्ठ सरकारी कर्मचारियों से बड़े हाकिम यह प्रश्न करके ही उन्हें अलग कर

देते थे कि "तुम्हें तिलक राजा चाहिये या किन विक्टोरिया !" इस परसे ही यह राज्यपद एक प्रकार से सिद्ध हो जाता है।

अलबत्ता इस राज्यपद में कमी केवल इतनी ही थी कि उपभोग में ज्वार रोटी के सिवाय दूसरा खाद्य पदार्थ नहीं था, और कम्बल के सिवाय ओढने बिछाने के लिए अन्य वस्त्र नहीं था। यह हम पीछे बतला ही आये हैं कि इस कमी के पूरा करनेका अन्य कोई साधन ही न था। हां, दूसरा एक प्रयत्न किसी अंश में सफल अवश्य हुआ, किन्तु वह भी विलायत के हावर्ड एसोसियेशन की द्वार से ही। यह संस्था इंग्लैण्ड के उन दयावान और परोपकारी सज्जनों की थी जो संसारभर की जेलों के कष्ट कम करनेवाले और विशेषतः अल्पवयस्क अपराधियों की पुनः उसी अपराध की ओर प्रवृत्ति न हो सके इस तरह का उनके साथ बर्ताव कराने के उद्देश्य से इस में योग दे रहे थे। इस संस्था के मंत्री मिलिपस टेवॉक को बम्बई के सेटलूर नामक वकीलने तिलक के जेल-जीवन के विषय में सविस्तार पत्र लिखा, और उन्होंने उसी पत्र के साथ और भी अपना एक पत्र लिखकर तत्काल भारत के स्टेट सेक्रेटरी लॉर्ड जार्ज हेमिल्टन के पास भेज दिया। किंतु इसका उत्तर उसी सरकारी भाषा में निश्चित शब्दों में यह देकर सिद्ध घुमाया गया कि "सेटलूर की अधिकांश बातें भ्रमपूर्ण हैं, वे यदि चाहें तो स्थानिक सरकार के साथ लिखा पढ़ी कर सकते हैं, तिलक के साथ जेल के नियमानुसार ही बरता जा रहा है।" किंतु ऊपर से इस तरह का उत्तर दिया जाने पर भी सदैव की सरकारी प्रथा के अनुसार अंदरूनी चौकसी होकर गुप्त सुनाई दिया गया।

सेटलूर ने तिलक के विषय में सब बातें लिखकर जब हावर्ड एसोसियेशन से सहायता चाही, उस समय तिलक के जीवन के विषय में कहां तक की आशंका प्रतीत होती थी, इसका पता टेवॉक के ता. १६ जनवरी सन १८९८ के सेटलूर को भेजे हुए पत्र के निम्न वाक्योंपर से लग सकता है,

" If anything serious happens to Mr. Tilak in pri-son you might let me know of it with details. But I hope he will survive his detention." इसी प्रकार तारीख ४ सितंबर १८९० के चिट्ठीमें वे लिखते हैं, " In my letter I reminde[d] Lord G. Hamilton that if Mr. Tilak should die in jail, [it] would attract wide-spread criticism, both in this count[ry] and in India, of the Indian prison regime and that this

course would be very undesirable from the point of view especially of the Government."

तिलक के इस ख़ास उदाहरण पर से हावर्ड एसोशियेशनने उस वर्ष भारत के राजनैतिक कैदियों के विषय में एक साधारण प्रस्ताव भी किया था, जो कि इस संस्था की अक्टूबर सन १८९८ में प्रकाशित रिपोर्ट में पाया जाता है। प्रस्ताव इस प्रकार है:—

" The Committee have also invited the attention of the Indian Government and widely of the Indian Press to the following resolution adopted by their body in March last:—" The committee of the Howard Association have lately received various communications from India, referring to actual and prospective imprisonments, for real or alleged infringements of the Press-Laws of that Country. The Committee are of opinion that, in general, this class of offences ought to be regarded as being of a political rather than a criminal nature, and that the punishment should be differentiated accordingly."

यद्यपि हावर्ड एसोसियेशन के पत्र का स्टेट सेक्रेटरी ने कोई ख़ास उत्तर नहीं दिया। किंतु फिर भी उसने बम्बई सरकार के पास यह लिखकर भेज ही दिया कि यदि होसके तो तिलक के साथ किसी प्रकार की रिआयत अवश्य की जाय। किंतु किसी भी प्रकार से उस पुराने स्थान में ही रिआयत की जाने में जेल के अधिकारियों का एक प्रकार से अपमान होता। अतएव तिलक की जेल बदल दी गई। यह हम पहले बतला ही चुके हैं कि इस से जल-वायु का परिवर्तन भी हो सकता था। एकदिन अकस्मात् ही किसी प्रकार की स्फूर्ति होने का सा ढोंग रचकर जेल का डॉक्टर तिलक के सामने आ खड़ा हुआ; और कहने लगा कि "यह बात तुमने मुझसे पहलेही क्यों न कह दी कि आजकल का भोजन तुम्हारे लिए पथ्यकर नहीं होता है ?" किंतु तिलक जेल में एकदम ही नियमबद्ध आचरण रखते थे। सहसा किसी बात के लिए झगड़ना तक वे जब पसंद नहीं करते थे तो फिर अधिकारियों से झगड़ने की तो बात ही अलग है ! अर्थात् वे यह सोचकर कि जेल के अधिकारी कमसे कम अपनी इस सीमामें तो सर्वसत्ताधिकारी की तरह है, अतएव झगड़ने में अंत को अपना ही अपमान होकर स्वाभिमान नष्ट करना पड़ेगा—वहां किसी प्रकार का झगड़ा ही नहीं करते थे। फलतः

उन्होंने डॉक्टर के प्रश्न का केवल यही उत्तर दिया कि "इस की कल्पना तो मेरे वज़न पर से आप स्वयं भी कर सकते थे। यह क्या ज़ुरूरत है कि इस के लिए मैं ही आपसे कुछ कहूं?" स्टेट सेक्रेटरी की आज्ञा के कारण तिलक का यह स्पष्टीकरण जेल के डॉक्टर को एक ही वाक्य पर से समझ में आगया। अतएव उसने तिलक को पूना (येरवड़ा) जेल में बदल देनेके लिए सरकार से सिफ़ारिश की।

इसी प्रकार तिलक को बम्बई से हटाने का एक कारण और भी था। वह यह कि सन १८९८ के जनवरी-फ़र्वरी महिनों में बम्बई में प्लेग बड़े ज़ोरों पर था। यहां तक कि जेलमें भी प्लेग के कारण कुछ मृत्युएँ हो गई थीं। ऐसी दशा में जेल के अधिकारियों ने सोचा कि यदि कहीं तिलक को प्लेग हो गया तो हमारे सिर बड़ा भारी कलंक लगेगा। क्यों कि लोगों की रायसे सबसे पहले तो यही एक बड़ी भारी भूल है कि तिलक को व्यर्थ के लिए जेल में ठूंस दिया गया, और उसमें भी यदि ईश्वर न करे और प्लेग के कारण जेल में ही उनका अंत हो जाय तो इस अपयश की कोई सीमा ही न रहेगी। जब जेल के नियमानुसार समस्त क़ैदियों को प्लेग का टीका लगवानेके विषय में अधिकारियों ने निश्चय किया, तब तिलक के विषय में प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। क्यों कि उन दिनों इनफ़्लुएंज़ा अशक्तावस्था में था, अतएव स्वतः तिलक का अभी उस पर विश्वास नहीं बैठा था। इधर उन पर सख़्ती भी नहीं की जा सकती थी। परंतु यदि सख़्ती न की जाय तो नियमभंग होता है और डॉक्टर के मतानुसार उन्हें प्लेग हो जाने की बहुत ही अधिक संभावना है। किन्तु जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि जेल के नियमों का तिलक निश्चयपूर्वक पालन करते ही थे, इतने पर भी जब डाक्टर की ओरसे उन्हें नम्रतापूर्वक कहा गया कि, यदि तुमने टीका लगवा लिया तो तुम्हारे देखादेखी दूसरे क़ैदी भी चुपचाप टीका लगवा लेंगे और इससे हमारा कर्तव्य भी सुलभ हो जायगा, तब उन्होंने खुशीसे टीका लगवा लिया। फलतः तिलक के इस उदाहरण का डॉक्टर की अपेक्षा के अनुसार ही परिणाम हुआ। क्यों कि जो क़ैदी पहले इस तरह का हठ पकड़ कर बैठे थे कि "हम टीका कभी न लगवावेंगे, भले ही हम मरभी जावें"—वे भी तिलक को टीका लगवाते देखकर इस प्रकार योजना के लिए तैयार होगये। टीका लगवाने पर दो दिनतक तिलक को ज़ोर का बुखार आया, और उनका वज़न एकदम दस सेर कम होगया। यह देखकर जेल के अधिकारियों को भी उन्हें पूना-यरोड़ा जहाँ प्लेग न हो उस स्थान में भेज देना आवश्यक प्रतीत होने लगा।

अंततः फ़र्वरी के दूसरे सप्ताह में किसी को मालूम न होने देकर एकदम उन्हें भायखळा से हटाकर येरवड़ा के लिए रवाना कर दिया गया। इस रद्दो-बदल का समाचार इतना गुप्त रखा गया था कि इस कार्यपर नियुक्त किये हुए

पुलिस के अधिकारी और, बोरीबन्दर के स्टेशन मास्टर के सिवाय तीसरे किसी के कान तक इसकी हवा नहीं पहुंच सकी थी। एक स्वतंत्र फर्स्ट क्लास सलून की गाड़ी इनके लिए रिझर्व कर दी गई थी। उसमें इन्हें बैठाकर सब तरफ से खिड़की और कवाँड बन्द कर दिये गये। किंतु उन दिनों कल्याण में प्लेग-डॉक्टर सब मुसाफिरों की जांच करता था, अतएव इनकी गाड़ी के भी किवाँड खोलने पड़े। उस समय न तो खुल्लमखुल्ला तिलक का नाम ही लिया जा सकता था और न उन्हें छुपायाही जा सकता था। गोरे डॉक्टर ने भी कदाचित् उन्हें न पहचाना हो। किंतु कैदी के वेश में अकेले ही फर्स्ट क्लास के सलून में सफर करनेवाला ऐसा मातबर कैदी कौन हो सकता है, इसकी कल्पना करते उसे देर न लगी होगी। और एक बार गाड़ी की खिड़कियां खोली जाकर प्लेट फार्म पर के अन्य लोगों की दृष्टि उनपर गिरनेके बाद कोई इन्हें पहचाने बिना कैसे रह सकता था ? इसी लिए चणभर में ही सबकी जबान पर तिलक का नाम आगया और उस गाड़ी के आसपास भीड़ इकट्ठी हो चली, किंतु उसी समय गाड़ी ने सीटी देकर पूने का रास्ता ले लिया।

किन्तु येरवड़ा आते ही एकदम तिलक के स्वाथ्य में आवश्यक परिवर्तन नहीं हो गया। हाँ, धीरे २ उनकी दशा सुधारती चली, कुछ दिनों बाद उन्हें थोड़ा-दूध-भात भी दिया जाने लगा। और जेलख़ाने में ही उन्हें रोगियों के वार्ड में जब बदल दिया गया तब हमारे पूर्व कथनानुसार अस्पताल के नेटिव असिस्टंट और सिपाही चपरासी लोग उन के साथ भलमनसाहत का वर्ताव करने लगे। इन बातों का सबसे बड़ा प्रमाण यही हो सकता है, उन्हें अपना परमप्रिय पदार्थ सुपारी भी कभी २ एक ओर को होकर खाने के लिए मिलने लगा। दूसरी बात यह कि प्रथमतः उन्हें येरवड़े में कोई भी काम नहीं दिया गया, और जब दिया भी गया तो वह रंगशाला में रंग तैयार करनेका। यह विद्या क्यौं कि तिलक के लिए एकदम नई थी; और उसे भी इस विचार से संपादन करना था कि जेल में रहकर कुछ न कुछ परिश्रम तो करना ही चाहिये। किंतु परिश्रम के कामों में भी कुछ न कुछ अंतर अवश्य होता है। और इसी दृष्टि से यह कार्य उपयुक्त एवं बौद्धिक प्रगति करनेवाला समझकर तिलक को पसंद आगया। इस कार्य के लिए प्रो. गजर से प्रार्थना की जाने पर उन्होंने तिलक के लिए कुछ पुस्तके और फार्मूले भी भेज दिये थे। इस काम को सीखते हुए उन्होंने अनेक प्रकार के रंग बनानेकी कृतियां भी काग़ज पर लिख ली थी। और छुटकारे के समय उन काग़जों को साथ लेजाने की उन्हें आज्ञा भी मिलगई थी। क्यौं कि बड़े लोगों की सभी बातों को लोग महत्व देने लग जाते हैं, इसी नियमानुसार कुछ लोग यह सोच-

महाशय पर एकदम बाघ की तरह झल्लाकर कहने लगे कि "इस कुर्सी पर तुम कैसे बैठ गये ?" इस पर खरे ने यह उत्तर दिया कि "मैं मुलाक़ात के लिए आनेवाला हूं, इस बात की सूचना पहले ही से दे दी गई थी, अतएव कुर्सियां रखी हुई देखकर मैंने यही समझा कि ये मेरे लिए ही बिछाई गई है।" यह सुनते ही जेक्सन ने फिर कहा कि "कुर्सी भले ही आनेवाले के लिए रखी गई हो, किंतु जबतक मैं उस पर बैठने के लिए न कहूं तब तक उस पर न बैठने की बात तो तुम्हें खुद ही सोचनी चाहिये थी"। इस असभ्यता के बर्ताव को देख खरे साहब उठ खड़े हुए और फिर जेक्सन के हज़ार कहते रहनेपर भी न बैठे। उन्होंने कहा कि "मुझे तुह्मारी कुर्सीकी ज़ुरूरत नहीं है, मैं सिर्फ यहां आपने काम से आया हूं। क्यौं कि मैं वकील हूं इस लिए मुझे खड़े रहकर बोलने की भी आदत पड़ी हुई है।" इस तरह परस्पर की झल्लाहट में ही उस मुलाक़ात का काम पूरा हुआ। क्यौं कि मुलाक़ात के लिए इजाज़त लेते समय जो पत्र-व्यवहार हुआ, उस पर से जेक्सन साहब को अवश्य इस बात का ज्ञान हो जाना चाहिये था कि खरे हाईकोर्ट के वकील और कौंसिल के सदस्य है। इतने पर भी केवल जेल सुप्रेन्टेन्डेंट की ठसक में जेक्सन साहब ने खरेजी का किस तरह अपमान किया, इस का उल्लेख केवल इसीलिए किया गया है कि जेल में बरतते समय तिलक को भी कितनी कठिनाई पड़ी होगी, इसकी कल्पना की जा सके। यदि चुप बैठते हैं तो कष्ट उठाने पड़ते हैं और यदि कुछ कहा जाता है तो उन कष्टों में कमी होने के बदले शिकायती कैदी के रूप में और भी अधिक दुर्गति सहन करनी पड़ती है!

यह सब होते हुए भी येरवड़े में तिलक को ले आनेके बाद से उनके मित्रों की निराशा क्रमशः विलीन होती गई। उनके छुटकारे का प्रयत्न भी किसी न किसी रूप में होने लगा। और सबसे अधिक महत्व की बात यह हुई कि, रेंड साहब के हत्याकारी का पता लग जानेसे दामोदर हरि चाफेकर के मुकद्दमे का फैसला होगया। नवम्बर सन १८९७ के प्रथम सप्ताह में पूना के बोनस साहब ने चाफेकर की मामूली जांच की, और इसके बाद नवम्बर के अंत में मामला सेशन सुपुर्द होकर अगले वर्ष के फर्वरी महिने में सेशन्स जज मि. क्रो और ज्यूरी के सामने फैसला किया गया जिसमें कि उन्हें फाँसी की सजा भी होगई। क्यों कि चाफेकरने पैरवी के लिए कोई वकील खड़ा नहीं किया था, और समय २ पर गवाहों से जिरह भी खुद उन्हींने की। मजिस्ट्रेट के सामने पेश किया हुआ कुबूलियत का जबाब उन्होंने वापस ले लिया। और कहा कि "मैंने पहले जो कुछ लिखकर दिया था वह मेरा असली जबाब ही नहीं हो सकता, क्यों कि इस बात के लिए मुझे पढ़-

ऐसे सूचित नहीं किया गया कि उसके लिखनेवाले मजिस्ट्रेट साहब थे। ब्रुइन साहब ने मुझे मीठी २ बातों में भुलावा देकर कहा कि तुम्हें इनाम के २०००० रुपये मिलेंगे और तुम्हारी स्त्रीके लिए अधबख्य का प्रबंध कर दिया जायगा, भाईको मैं नौकरी दिलवा दूंगा, तुम्हारे नामपर मंदिर बंधवा दूंगा, और सजा भी हुई तो अधिक से अधिक पांच वर्ष की होगी, किन्तु मैं शीघ्रही तुम्हें छुड़वा दूंगा। तब मैंने उनके कहे अनुसार झूट-सच बातें लिखकर देदीं"। किंतु इस बातों का परिणाम कुछ न हुआ। ज्यूरीने प्रथमतः यह सिद्ध किया कि, चापेकर पर हत्या करनेका आरोप नहीं लगाया जा सकता। किन्तु कानून के अनुसार हत्या में सहायता करनेवाले आरोपी यदि हत्या के स्थानपर खुद हाजिर हो तो उसपर भी हत्या का आरोप लगाया जा सकता है, अतएव चापेकर को फाँसी की सजा दे दीगई। इस पर चापेकर ने हाई कोर्ट में अपील के लिए अर्जी पेश करते हुए लिखा कि "मैं या मेरे भाई बालकृष्ण दोनोंमें से किसीने भी हत्या नहीं की। पुलिस ने मुझे तंग किया, और जबरन् मुझसे न जाने क्या २ लिखवा कर उसे सुबूत में पेश कर दिया। पंचनामें भी बनावटी ही किये गये। मैंने आजतक बंदूक या पिस्तौल को छुआ भी नहीं। चार महिने तक मुझे किसी राजा की तरह सुखचैन और ऐश-आराम में रखकर फिर मुझसे मनचाही बात कहलवा ली। मुझे झूंटमूंट ही शूर-वीर, साहसी, और शस्त्रविद्या में कुशल एवं राजनीति-पटु बतलाकर पुलिस ने सरकार को धोखा दिया है। इत्यादि। किन्तु इस अपील का भी परिणाम कुछ न निकला।

कुछ लोगों का कहना यह है कि जब चापेकर को पता लगा कि इस समय तिलक भी येरोड़ा जेल में ही हैं, तब उस ने तिलक से मिलकर उन्हीं के हाथों अर्जी लिखवाने लिए प्रार्थना की, और उस की यह प्रार्थना स्वीकार भी हुई। फलतः चापेकर ने जो कुछ हाल सुनाया, उसी के अनुसार तिलक ने अर्जी लिख दी। क्यों कि फाँसी की सजा पाये हुए अपराधी का कथन यदि वह अनुचित न हो तो उसे अधिकारियों को स्वीकार करना पड़ता है। फलतः जब फाँसी की सजा के विरुद्ध अर्जी लिखवानेके लिए चापेकर ने तिलक की सहायता चाही तो इसके लिए वे मना न कर सके। किंतु यदि तिलक और चापेकर को भेट होकर यदि इन का वर्तालाप गुपचुप सुनने का मौक़ा मिले तो इस से क्योंकर चूक सकते थे? खैर कुछ भी हो, किंतु अंत में यह अर्जी बेकार होकर चापेकर को सजा हो ही गई। फाँसी होने से कुछ दिन पूर्व फिर एक बार चापेकर ने तिलक से भेट कर के प्रार्थना की कि "मैं अब शीघ्र ही फाँसी की टिकटी पर लटकाया जानेवाला हूं, अतएव मेरे पास अंत समय तक रहने देने

लिए अपनी गीता की पुस्तक दे दीजीये और फाँसी से उतारे जाने के बाद पेरे गेरे लोग शव की दुर्गति करके मुझे चितापर न चढ़ावें, इस प्रकार मेरी इच्छा है, आशा है कि आप इसे पूर्ण करनेमें सहायता देंगे।" किंतु जब कि तिलक खुद ही जेल में—अर्थात् परतंत्र दशा में थे तो फिर वे इस विषय में कर ही क्या सकते थे? फिर भी अधिकारियों की आज्ञा से उन्होंने अपने पास की गीता चाफेकर को दे दी, और चाफेकर ने भी फाँसी पर चढ़ते समय तक उसे हाथ में रक्खा था। दैवयोग से इसी अवसर में धोंडोपंत विध्वंस तिलक से मिलने के लिए जेल में आये, अतएव उनके द्वारा चाफेकर की दूसरी कामना भी तिलक ने सफल करनेकी योजना कर दी। अर्थात् उन्होंने धोंडोपंत से चाफेकर का शव माँगने और यथाविधि उस का अग्निसंस्कार कर देने के लिए कहा और अंत में वैसा ही किया भी गया।

इस तरह दामोदर चाफेकर का अंत हो गया। इस घटना का उल्लेख यहाँ इस लिए किया गया है, कि इस हत्या से तिलक का सम्बन्ध किसी भी रूप में पाया जाता है या नहीं, इस आशंका से सरकार अंततक उनकी ताकमें ही रही, और अंत में तिलक और चाफेकर की अंतिम भेट के समय भी जब उसके हाथ कुछ न लगा, तब बालकृष्ण चाफेकर के फरार रहते हुए भी सरकार ने इस कुत्सित विचार की दिशा को छोड़ दिया। इसी बात का एक निदर्शक यह भी था कि बंबई टाइम्स जैसे पत्रों में इस आशय की सूचनाएँ छपने लगीं कि 'अब तिलक को छोड़कर सरकार यदि लोगों को थोड़ा संतुष्ट सा कर दे तो अच्छा है?' तिलक को राजद्रोह के अभियोग में फँसाकर सजा देते हुए सरकार को जो कुछ हांसिल करना था वह तो उसे मिलहि गया। किंतु बिना हत्यारे का पूरा २ पता पाये और उसे सजा दिये सरकार को तिलक पर भूलकर भी अभियोग न चलाना चाहिये था! क्यौं कि जिन लेखों परसे हत्या की संभावना समझकर अभियोगा चलाया गया उनमें से कुछ तो हत्या से मुद्दतों पहले लिखे गये थे। इधर बम्बई टाइम्सने भी एक लेख द्वारा यह दर्साया कि अब तिलक के विषय में हमारा दृष्टिकोन किंचित् बदल गया है। किंतु इसमें भी चालाकी से काम लेकर, यह कह दिया गया था कि " प्रथम तो तिलक यह स्वीकार करे कि मेरे हाथों राजद्रोह का अभियोग हुआ है, और दूसरे उनके साथी लोग इस तरह ठसक से बातचीत न करें। इसी तरह यदि वे उनके छुटकारे की भी मांग पेश करे तो वह केवल कृपा दृष्टि के विचार से ही होनी चाहिये।" किंतु ये दोनों ही बात असंभव थी। क्यौं कि शिक्षा से बच सकने की संभावना रहते हुए भी जब उन्होंने जोरों से इस बात का प्रतिपादन किया कि मैंने राजद्रोह का अपराध नहीं किया

है, तो फिर छह महिने सजा भोग लेने पर वे क्यों कर अपने शब्दों को वापस ले सकते थे? और यदि वे यह सोचते हो कि मेरे विषय में मित्र लोग व्यर्थही बड़ी २ बातें न करे तो भी वे वहां से किस २ पर इस के लिए दबाव डाल सकते थे?

किंतु टाइम्स का कथन एकमात्र वल्पना ही थी। क्यों कि अंदरूनी रंग-ढंग कुछ और ही प्रकार के थे। अर्थात् उस समय सरकार के सामने परप्रेरित या स्वयंस्फूर्त योजना इस प्रकार उपस्थित हो रही थी कि पिछली बातों के विषय में तो तिलक से कुछ भी न कहा जाय, किंतु यदि अवधी से पहले उन्हें छोड़ना हो तो आगे किस प्रकार का बर्ताव रखनेको उनसे कहा जाय, इसी बातकी सरकार को चिंता थी। अतएव उसने सूचित किया कि, इस शर्त पर तिलक छोड़े जा सकते है कि यदि वे आगे के लिए जन्मभर राजनीति के फेरमें न पड़ने का लेखबद्ध वचन दे, और अपने छुटकारे पर लोगों की ओरसे किये जानेवाले किसी स्वागत-सम्मान में सम्मिलित न होनेकी प्रतिज्ञा करें। कुछ भी समझिये किन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि फर्वरी के प्रथम सप्ताह में विलायत सरकार की ओरसे भारत सरकार के पास तिलक को छोड़ देनेके विषय में किसी प्रकार की आज्ञा अवश्य भेजी गई थी; तभी तो इसके बादवाले सप्ताह में यह अफवाह जोरों पर फैल गई कि तिलक आज कल ही में छूट जानेवाले हैं। अतएव इस अफवाह परसे ही उनका छुटकारा निश्चित समझकर लोगों में ये रंग ढंग दिखाई देने लगे थे कि अब इस आनन्दोत्सव को मनाने के लिए किन बातों की योजना होनी चाहिये, इस का निश्चय कर लिया जाय! इधर खास बम्बई सरकार की ओरसे भी इस आशय की सूचना प्रकाशित हो गई थी कि कुछ बीमार कैदियों को सरकार शीघ्रही छोड़ देनेवाली है; फलतः इन-बीमारों में तिलक का समावेश होना स्वाभाविक ही था। ऐसी दशा में यदि लोग कुछ अनुमान भी करें तो यह अनुचित कैसे कहा जा सकता है? किंतु इसमें भी असली विचार कुछ और ही था। अर्थात् जिन लोगों का छुटकारा वैसे भी छह महिने के भीतर २ होनेवाला था, उन्ही लोगों को छोड़नेके लिए असलमें यह योजना थी। किंतु तिलक की सजा में तो अभी पूरा एक वर्ष शेष था!

किंतु पूर्ण निराश हो जाने पर ही यह बात लोगों की समझ में आई। इधर विलायत में तिलक के छुटकारे के प्रयत्न इस से पहले ही शुरू हो चुके थे। हाबर्ड एसोशिएशन के प्रयत्न का उल्लेख पहले हम कर ही चुके हैं। किन्तु यह प्रयत्न छुटकारे की अपेक्षा जेल में उन के साथ अच्छा बर्ताव करने के लिए ही विशेष रूप से था। फलतः वहां छुटकारे का प्रयत्न सबसे पहले मेक्समुलर-प्रभृति विद्वानों द्वारा ही हुआ। सन १८९८ के जनवरी महिने में मेक्समुलर

किसीने बतलाया कि तिलक जैसे विद्वान पंडित का राजद्रोह सरीखे आरोप में सख्त मजदूरी की जेल भोगते रहना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। क्यों कि विद्वान् की सुधि विद्वानों को लेनी ही पड़ती है। और पांच वर्ष पूर्व 'ओरायन' ग्रंथ के विषय में तिलक और मेक्समुलर के बीच जो पत्रव्यवहार हुआ था, उसी परसे प्रोफेसर साहब तिलक के विषय में बहुत कुछ जान चुके थे। फलतः उन्होंने ऑक्सफर्ड में चट्टोपाध्याय नामक एक बंगाली सज्जन से भेट होने पर अपने टीका किये हुए ऋग्वेद की एक प्रति तिलक के पास जेल में भेज देने-के लिए उनको दी। वह पुस्तक चट्टोपाध्यायजी ने बंबई के चेम्पियन पत्र के संपादक डब्ल्यू. ए. चेम्बर्स द्वारा बम्बई सरकार की आज्ञा से तिलक के पास पहुँचवा दी। वे (चट्टोपाध्याय) उक्त पुस्तक के साथ भेजे हुए अपने एक पत्र में (ता. १८ जनवरी १८९८) लिखते हैं कि "प्रोफेसर मेक्समुलर को समाचारपत्रों द्वारा ज्ञात हुआ कि तिलक को ऋग्वेद-संहिता की आवश्यकता है, अतएव उन्होंने बड़ी ही प्रसन्नता के साथ यह पुस्तक भिजवाई है। श्री. तिलक की वर्तमान अवस्था के विषय में वे हृदय से दुःखित हैं, और उनकी उत्कट इच्छा है कि तिलक के साथ सरकार की ओरसे भलमनसाहत का वर्ताव किया जाय। किन्तु यह कार्य कैसे संभव हो सकता है, इसे वे जानते नहीं, अतएव विवश हैं। किन्तु फिर भी वे लिखते हैं कि यदि तिलक के छुटकारे के लिए किसीने सरकारके पास अर्जी भेजी तो लोगों की प्रार्थना को स्वीकार करनेके लिए मैं भी सरकार को प्रवृत्त करनेका भरसक प्रयत्न करूंगा।"

अंततः यह अर्जी की कल्पना विलायत में फलीभूत भी हुई। इधर चट्टोपाध्याय महाशय ने मि. चेम्बर्स को भी सूचित किया कि यदि भारत में हमारी इस अर्जी का समर्थन करनेवाली दूसरी एक अर्जी वहां के बड़े २ लोगों के हस्ताक्षरसहित बम्बई सरकार के पास भेजी तो और भी अच्छा होगा। यद्यपि यह हम निःसंकोच कह सकते है, कि तिलक के छुटकारे के विषय में सहानुभूति दिखलानेकी इच्छा नर्मदलवालों की भी थी। किंतु फिर भी इस सदिच्छा को आवेदनपत्र का स्वरूप प्राप्त हुआ था या नहीं सो हम नहीं कह सकते। संभव है कुछ लोगों ने सोचा हो कि यह कार्यवाही यदि विलायत में ही हो जाय तो विशेष परिणामकारक होगी। कुछ ही क्यों न हो, किंतु विलायत की यह अर्ज़ी अंत को फर्वरी महिने में स्टेट सेक्रेटरी के यहां पहुंच ही गई। इस पर प्रो. मेक्समुलर, सर विलीयम हंटर, सर रिचर्ड गार्थ, विलीयम केन, दादाभाई नौरोजी एवं रमेशचंद्र दत्त जैसे बड़े २ लोगों के हस्ताक्षर थे। सिवाय इसके कितने ही ऐसे लोगों के भी इस अर्जी पर हस्ताक्षर थे, जिन के नाम भारतवासी

खास तौरपर नहीं जानते हैं। आरंभ में कदाचित् इस विचार से उस पर पार्लमेंट के सदस्यों के हस्ताक्षर नहीं हुए हों कि जहांतक हो सके इस छुटकारे के प्रश्न को राजनैतिक स्वरूप प्राप्त होने से बचाया जाय, किंतु अन्तमें कुछ सदस्यों ने उस पर हस्ताक्षर कर ही दिये। इस अर्ज़ी की ख़ास २ कलमें इस प्रकार थीं:—(१) तिलक एक बहुत पुराने राजनिष्ठ प्रजाजन हैं, और उन्होंने सरकार को समय २ पर सलाह मसलेहत सहायता दी है। इसी प्रकार उनकी कौंसिल की सदस्यता के लिए भी सरकार ने ही मंजूरी दी थी। (२) अभियोग के कुछ लेख प्लेग के कारण उत्पन्न लोकक्षोभ के समय प्रकट अवश्य हुए थे; किंतु वे यथार्थ में ही राजद्रोही होते तो तिलक पर उसी समय अभियोग चलाया जाना चाहिये था। (३) इँग्लैण्ड की तरह भारत में भी सरकार की यदि ज़ोरदार टीका-टिप्पणी की जाय तो उसमें बुराई नहीं हो सकती, या कम से कम उस समय तक लोग यही समझते थे कि वह न होनी चाहिये। इसी प्रकार यह भी ठीक है कि राजद्रोह को कहीं स्थान न मिले, किंतु पहिली बार में तिलक पर इस तरह वार किया जाना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। (४) तिलक के ओरायनविषयक निबंध पर से प्रकट होता है कि वे एक अत्यंत विद्वान् पंडित हैं, और हजारों वर्ष पूर्व की भारत-विषयक बातों में उनका चित्त खूब लगता है। (५) जेल के कठिन श्रमसाध्य काम कर सकनेकी उन महाशय को आदत नहीं हो सकती, इसी प्रकार वहां की कठोर व्यवस्था के कारण इन के स्वास्थ्यपर बहुत बुरा असर हुआ है। (६) रेण्डसाहब के हत्या का पता लग चुका और साथ ही यह भी सिद्ध हो चुका है कि वह एक स्वेच्छाचारी एवं उन्मत्त तथा अशिक्षित व्यक्ति है, अतएव केसरी के लेखों से उसे हत्या करने की प्रवृत्ति हुई हो यह नहीं माना जा सकता। (७) तिलक को सजा हो जाने से कानून की इज्जत रह गई और न्यायकार्य भी हो चुका है। किंतु १२४ अ के अनुसार तिलक का यह अपराध पहला ही है, अतएव यदि भारत में कहीं राजद्रोह का यत्किंचित् लव-लेश हो भी तो उसके लिए इतनी धाक कुछ कम नहीं कही जा सकती। अंततः यदि तिलक की सजा कम कर दी गई तो लोगों के चित्तपर दया का उत्तम प्रभाव पड़े बिना न रहेगा। इत्यादि।

ता. २३ मार्च को तिलक ने प्रोफेसर मेक्समुलर के नाम कृतज्ञता-सूचक पत्र भेजा। उसमें लिखा गया था कि " ऋग्वेदसंहिता के चारों भाग जिन्हें कि अपने भेजने की कृपा की हैं, मुझे जेल के अधिकारियों द्वारा प्राप्त हो गये। इसी प्रकार मेरे छुटकारे की अर्ज़ी पर आपके हस्ताक्षर होनेकी बात भी ज्ञात हुई। इस प्रयत्न का परिणाम चाहे जो हो, किंतु आपने मुझ पर इतने अधिक उपकार किये

इस के बाद शीघ्र ही जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट मि. [illegible] [illegible]
किंतु जाते समय उन्होंने मुलाकात पर तिलक से भेट की, और उन[illegible]
“ अब मैं तेरी सदैव के लिए यहां से जा रहा हूं, उसी प्रकार तुम भी शीघ्र ही
यहां से छूटकर अपने घर चले जाओगे।” इन के जाने बाद ही हमारे पूर्व
परिचित कर्नल जेक्सन यहां के सुपरिन्टेन्डेन्ट बनाये गये। इन महाशय ने जो भी
तिलक के खान-पान या शयन अथवा लिखी-पढ़ी या पुस्तकादि के विषय में
कोई परिवर्तन नहीं किया; किंतु उन के चित्त की क्षुद्रता अन्यान्य साधारण
बातों पर से ही प्रकट हो जाती थी। जिस का एक उदाहरण तो हम पहले लिख
ही चुके हैं। दूसरा नमूना यह कि ‘ जब तिलक को पैरों में जूता पहनने की
आज्ञा दी गई, तब उन्होंने अपने लिए नया जूता भेजने को लिखा, वह घर से
भेजा भी गया। किंतु उसका रंग एकदम सुर्ख था, अतएव इन जेक्सन साहब ने
यह कहकर उसे काला रँगवा दिया कि, इस तरह के जूते जेल में काम नहीं
लाये जा सकते ! ’

हाँ, तो तिलक के छुटकारे का प्रथम प्रयत्न (फर्वरी मासका) व्यर्थ हुआ।
किंतु इसके बाद उनकी सजाका पहला वर्ष ज्यों २ निकट आगया त्यों २ इस
विषयकी सफलता बढ़ती गई। यदि समय से पहले छुटकारा कराना था तो
इसके तिलक की ओरसे अर्ज़ी पेश की जाने विषयक सरकार का दुराग्रह सहजही
में दूर होसकता था, और तिलक ने अर्ज़ी पेश करके उसे दूर कर भी दिया।
किंतु छुटकारे की शर्तों का विचार कई दिनों तक होता रहा। तिलक ने अर्ज़ीमें
केवल यही लिखा था कि “ मुझे सजा दी जानेके बाद कितनी बातें प्रकट होगई
हैं। और क्यों कि हत्या से मेरा किसी प्रकार का भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं हुआ है,

अतएव मुझे शीघ्र ही छोड़ देनेकी योजना की जानी चाहिये।" किंतु इसमें भी कुछ चालबाजी दिखलाकर अपनी टांग ऊपर रखनेके विचारसे सरकार आगेके लिए राजनैतिक कार्यों में न पड़ने विषयक शर्त डालना चाहती थी। और दूसरी शर्त छुटकारे के उपलक्ष्य में किये जानेवाले स्वागत-समारोह में भाग न लेने विषयक थी। किंतु इस दूसरी शर्त को तिलक ने उसी समय स्वीकार कर लिया था। अर्थात् उन्होंने यह कहा कि "मैं कोई मान का भूखा नहीं हूं, अतएव स्वागत-सत्कार का मोह छोड़ने में मुझे कुछ भी कठिनाई नहीं पड़ सकती"। किंतु पहली शर्त उन्हें किसी तरह भी स्वीकार नहीं हो सकती थी, अतएव छुटकारे का प्रश्न फिर हल न होसका।

इस प्रयत्न में तिलक की ओरसे उनके सलाहकार दाजीसाहब खरे और सरकार की ओरसे मध्यस्थ बनकर काम करनेवाले मुइन साहब को येरवड़ा के कई चक्कर काटने पड़े। मुइन साहब को अन्य कारणों से भी येरवड़ा जाना ही पड़ता था। किंतु प्रत्येक बार वे तिलक के पास जाकर उनसे मिलने और पूर्व नियमानुसार उनसे गपशप लड़ानेका क्रम नहीं भूले थे। कदाचित् मुइन साहब के चालाक-स्वभाव पर सरकार का अधिक विश्वास रहनेके कारण उसे यह प्रतीत हुआ हो कि जिस प्रकार चापेकर से उन्होंने मनचाहा लेखी इकरारनामा तैयार करवा लिया था, वैसे ही ये तिलक को भी भ्रम में डालकर बतलाई हुई शर्तें लिखवा लेनेमें सफल हो सकेंगे। किंतु जितने मुइन साहब पक्के थे, उतने ही तिलक भी थे। इसी प्रकार इन महाशय के मायावीपन और इनके मृदुभाषी एवं लम्बी चौड़ी और मिठी २ बात आदि का अनुभव तिलक को पहलेहीसे था। किंतु फिरभी तिलक के सामने नाटक करने विषयक मुइन साहबकी बुरी आदत अभी गई नहीं थी। दो-एक बार तो उन्होंने जोरों का प्रयत्न भी किया, और यहांतक कह देला कि "मेरे हाथ में यह कागज है, इसपर तुम केवल हस्ताक्षर ही कर दो तो मैं अभी तुम्हें यहां से इसी दशा में लेजाकर अपनी ही गाड़ी से घर पहुँचा देता हूं।" किंतु तिलक ये तो मुइन साहब की गाड़ी और अपना घर दोनों ही को पहलेसे जानते थे! वे भला क्योंकर इन चक्कर में आने लगे।

अंततः सितंबर के प्रथम सप्ताहमें यह कार्यवाही सफल होने के मार्ग पर लग चली। और बम्बई सरकारने ओभी तिलक की प्रतिज्ञाओं का विचार तक न करते हुए अपनी मनमानी शर्तें डालकर उसपर हस्ताक्षर करने के बाद ही तिलक के छोड़े जा सकने की सूचना प्रकट कर दी। किंतु जब उसने देखा की तिलक उन शर्तों को मंजूर करने को भी तैयार नहीं, तब उसे भी अपने प्रस्ताव में संशोध

न करने की सूझी । इसी प्रकार और भी कुछ घटनाएँ ऐसी हो गई थी की जिनके कारण सरकार को बहुत बडी मनो वेदना होने लगी थी । पार्लमेन्ट में लार्ड ज्ञार्ज हेमिल्टन पर प्रश्नों की वर्षासी होने लगी किंतु वे भी उत्तर में जिन बातों को कहते थे उनपर से यही प्रकट होता था कि अब सरकार की ठसक बहुत कुछ कम हो चली है । स्ट्रेची साहब की व्याख्यापर जिस सरकार को कभी शंका तक नहीं हुई थी, वही अब धीरे २ अपनी भूलका अनुभव करने लगी, बम्बई की धारा सभा के सितंबर वाले सेशन में पूना की प्लेग व्यवस्था पर कई सदस्यों ने बहुत ही कडी आलोचना की । जीसका उत्तर देते हुए सरकार ने अपनी कई भूलों को खुले हृदय से स्वीकार कर लिया; और शहर पर से अतिरिक्त पुलिस को हटा लेने की भी घोषणा प्रकट कर दी गई । पूने के ब्राह्मण को बुरे बतलाते २ अपने मवाली बंम्बई का ही उन्हे इस प्रकार का अनुभव प्राप्त हुआ कि प्लेग के दुःख निवारणार्थ भी अधिकारों द्वारा अन्याय करने की कोई सीमा अवश्य होनी चाहिये । बम्बई में भी प्लेग कालीन अन्याय के कारण बड़े २ दंगे हुए और युरोपियन डॉक्टर एवं अधिकारी लोग तक इस बात के लिए सतर्क रहने लगे कि ऐसा न हो कि हम पर कोई वार कर दे । इस प्रदेश के सिन्नर आदि स्थानो में और पंजाब के मारशंकर एवं अन्यान्य कई स्थानों के दंगे की अपेक्षा सरकारने पूने की स्थितिको बहुत अच्छा बतलाया । क्यौं कि यदि यह हत्या के षडयंत्रकी आशंका से अतिरिक्त पुलिस की योजना कायम रखती है तो अबतो हत्यारे का भी पता लग चुका है । फिर अतिरिक्त पुलीस की आवश्यकता ही क्या ? और यदि वह हटा ली जाती है तो फिर तिलक को जेल में क्यौं रखा जा रहा है । इस तरह एक परसे दूसरे के क्रमानुसार प्रश्नपर प्रश्न उत्पन्न होने लगे । इधर उस वर्ष के मई महिने में पोलिटिकल एजंट क्रो साहब ने पूना की लोक–सहिष्णुता को हृदय से सराहा, और कहा कि, चाफेकर का अभियोग चलता रहने की दशा में मैं बारीकी के साथ सब बातों की जांच कर रहा था । किन्तु षडयंत्र का मुझे कहीं नाम तक न मिल सका! इस तरह क्रो साहब के भाषण से पिछले लम्ब साहब के पूना को बदनाम करनेवाले भाषण का खंडन अपने आप हो गया । ऐसी दशा में अतिरिक्त पुलिस का खर्चा पूनावालों पर लादे रहना एकदम ही अनुचित समझा गया । किंतु अगले खर्च की बचत कर लेने पर भी पिछले के लिए उपाय सोधा जाना आवश्यक ही था । संभव है कि इसी समस्याके निर्णयार्थ सरकारने पूनावालों से कृति के द्वारा यह उत्तरार्थक प्रश्न करना चाहा हो कि 'तुह्मारे तिलक को छोड़ देने पर तो पिछली सब बातों की भरपाई हो जायँगी न ?'

अंत में जाकर ता. ३ सितंबर से तिलक के छुटकारे का प्रश्न हल होने

लगा। अर्थात् मि. मुड्डनने बम्बई के पुलिस कमिश्नर मि. विन्सेन्ट को सांकेतिक शब्दों में तार दिया कि 'दाजी साहब खरे को फौरन भेज दो।' क्यों कि विन्सेन्ट साहब उस दिन खंडाले (एक पहाड़ी स्थान) चले गये थे, अतएव उन्हें इतवार के दिन यह तार नहीं मिला। उसी क्षण वे बम्बई लौट गये, और रात में असमय ही आप्रे की गाड़ी में जाकर उन्होंने दाजीसाहब को सोते से जगाया, और उन्हें फौरन ही पूना चले जाने को सूचित किया। फलतः सोमवार को दो पहर के एक बजे खरे महाशय जब पूना स्टेशन पर पहुँचे तो वहां उन्हें मुड्डन साहब का आदमी प्रतीक्षा करते हुए ही मिला। फलतः उसने इन्हें शहर में न जाने देकर सीधा मुड्डन साहब के बंगले पर ही पहुँचाया। इस के बाद वे दोनों मिलकर येरवडा गये। वहां जाने पर फिर एकबार तिलक के सामने सरकारी शर्तों पर चर्चा हुई, और खरे महाशयने भी स्वतः अपना मत यह प्रकट किया कि, राजनैतिक कार्यों में योग न देने की शर्त इतनी बेहूदा है कि मैं कभी उस के लिए तिलक को सलाह नहीं दे सकता। अंत में खरे और तिलक के मतानुसार एक नई शर्त तैय्यार की गई, वह यह कि यदि फिर कभी तिलक पर राजद्रोह का अभियोग चलाया जाकर अपराध सिद्ध होगया तो इस समय की शेष रही हुई छह महिने की सजा को तिलक उस समय भोगने के लिए तैयार रहेंगे। यह कथन मुड्डन साहब को भी युक्तिसंगत जान पड़ा। किंतु वे इसे अपने अधिकारों से मंजूर नहीं कर सकते थे। अतएव खरे और मुड्डन बिना किसी बात का निश्चय किये ही लौट पड़े। खरे महाशयने पूना शहर में आकर तिलक के घरवालों को निजी तौर पर दो दिन की सम्पूर्ण घटनाएं सुनाई। और उसी दिन रात की गाड़ी से वे बम्बई जाने के लिए स्टेशन पर पहुँचे तो वहां फिर उन की मुड्डन साहब से भेट होगई। उन्होंने कहा कि तिलक के छुटकारे के विषय में मैं अभी निराश नहीं हुआ हूं, और न इस विषय में अभी आपका ही कर्तव्य समाप्त हो गया है। कल यथा संभव बम्बई सरकार के प्रस्ताव में परिवर्तन किया जानेका प्रयत्न होगा। अतएव अभी आप वापस न जाकर कलतक यहीं ठहरिये। फलतः खरे महाशय वापस शहर को चल दिये। किन्तु उन्होंने मुड्डन साहब से बातचीत कर के यह शर्त तय कर ली थी कि, बम्बई सरकार का प्रस्ताव हस्तगत होते समय यदि शाम भी होगई, तो जेल के नियमोंका बहाना न करते हुए रात को ही तिलक को छोड़देना होगा। अर्थात् 'यदि मुझ से आप रुकने के लिए कहते हैं, तो कम से कम ऐसी योजना कीजिये कि जिस में मैं कल तिलक को अपने हाथों घर लेजाकर पहुँचा सकूं। अन्यथा मैं यहां ठहर, नहीं सकता।' क्यों कि सरकार

प्रस्ताव हो जाने पर अगली कार्यवाही तो एकदम ही सरल थी, अतएव ब्रुइन साहब ने इस के लिए हामी भरली।

अगले दिन (ता. ६ सितंबर मंगलवार) गवर्नर की कौंसिल के सामने तिलक के छुटकारे का प्रश्न उपस्थित हुआ, और अधिकांश समय उसी की चर्चा में निकल गया। अंततः रात के आठ बजे निश्चित शर्तों पर तिलक के छोड़े जाने का प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर खरे और ब्रुइन साहब उसे लेकर येरवड़ा पहुँचे। वहां नये शर्तनामे पर हस्ताक्षर करते ही तिलक का छुटकारा होगया और वे तथा खरे दोनों मिलकर रात के साढ़े दस बजे विंचूरकर के बाड़े में जा पहुँचे, इस तरह पूरे इक्कावन सप्ताह पक्की सख़्त मजदूरी की जेल काटकर तिलक घर लौटे। यह भी एक विचित्र ही योगायोग था कि उन्हें सजा भी मंगलवार के दिन हुई और वे छूटे भी मंगलवार के ही दिन! इस विचित्र योग पर मुग्ध होकर कितने ही भोले भावुकों ने अपनी हृदयस्थ शकुनावली की पूजा भी की। किंतु सप्ताह का प्रत्येक वार प्रति सात दिन के बाद आही जाता है, अतएव संसार में होने-वाली बातों के एक-सप्तमांश को इस योगायोग का लाभ अवश्य ही मिल सकता है।

बात की बात में तिलक के छूटजाने का संवाद न केवल पूना शहर में ही बल्कि तार द्वारा सारे हिन्दुस्थान में फैल गया। फलतः दूसरे दिन ही दो पहर से अभिनन्दनात्मक एवं आनंद प्रदर्शक तार और पत्रों के ढेर लगने लगे। उन्ही में कई एक शहरवालों ने तिलक को अपने यहां आमंत्रित भी किया था! फलतः तिलक ने केसरी के द्वारा उन सब के प्रति आभार प्रदर्शित किया। क्यों कि कुछ दिन आराम लिये बिना उन के लिए बाहर जा सकना एकदम असंभव था। किंतु तिलक के बाड़े में आकर पैर रखने के बाद से उन्हें मिलने वालों का जो माला बँधा था उसे कोई भी रोक न सका। उन दो दिनों में तिलक से मिलने के लिए आने-वालों की संख्या बम्बई के दैनिक अंगरेजी पत्रों ने अनुमानतः दस हजार के लग-भग बतलाई थी। हां, तो बुधवार के दिन पूने के कई देवालयों में दीपोत्साह मनाया गया। इधर सरदार खासगीवाले ने इस बार के गणपति उत्सव में अपने गणेशजी का विसर्जन न करते हुए उन्हें तिलक के छुटकारे के लिए रख छोड़ा था। अतएव उन का विसर्जन भी चार दिन के बाद बड़े समारोह के साथ किया गया। इस के बाद तिलक के प्रतिपक्षीय गोखले आदि भी यथावकाश तिलक से आकर मिल गये। कितने ही पत्रों के कुशल प्रतिनिधि तिलक से उन के जेल जीवन और भावी कार्यक्रम के विषय में पूछताछ करने के लिए भी आये, किंतु विवश होकर तिलक को उन में से अधिकांश व्यक्तियों को निराश करना पड़ा। किंतु फिर भी उन में से कितने ही लोगोंने सुनी सुनाई और कुछ काल्पनिक एवं

कुछ अनधिकृत बातों का समावेश कर उसकी पंचमेल मिठाई अपने पाठकों के सामने रख ही दी। कितने ही लोगों ने सुनी सुनाई बातों के आधार पर कल्पना की इमारत खड़ी कर दी थी। किन्तु तिलकने यह सोचकर कि किसी भी विकृत शब्द या विचार का व्यर्थ ही में मुझपर आरोपण न हो जाय–केसरी के द्वारा प्रकट कर दिया था कि, केवल 'सुधारक' पत्र को छोड़कर अन्यत्र जहां कहीं भी यदि मेरे विषय में कुछ छपा हो तो वह सत्य न माना जाय। कितने ही स्थानों में तिलक की मुक्तता के उपलक्ष में स्वागत समारोह भी हुए, किन्तु उन समारंभों में स्वतः तिलक को हाजिर भी नहीं रहना था, और न वे अप्रत्यक्ष रूप से किसी प्रकार उस में भाग ही ले सकते थे। अतएव उनमें से कितने ही का आनंद कम हो जाना स्वाभाविक ही था। इसी प्रकार तिलक के उपस्थित होने पर ही जो अन्य समाए होने वाले थे, वे इस कारण से बिलकुल ही नहीं हुए।

तिलक के पास उनकी मुक्तता के विषय में कितने ही परप्रान्त एवं विदेशों से भी पत्रादि आये थे, उन में से केवल दो एक ही नमूने के लिये यहां दिये जाते हैं। ता. १३ अक्टूबर सन १८६८ को बाबू रमेशचंद्र दत्त विलायत से लिखते हैं "आपके भोगे हुए कष्टों का विचार करने पर चित्त में आपके प्रति जो भावना उत्पन्न होती है, उस का यथार्थ वर्णन मैं पत्रद्वारा नहीं कर सकता। आपका अंत तक दिखलाया हुआ धैर्य एवं आपकी उदात्त सहिष्णुता प्रशंसनीय है। इस तरह के गुण रखते हुए भी जिस देश के लोग कष्ट सहन करते हैं वे राष्ट्र अवश्य उन्नत हो सकते हैं। मुझे दृढ़ विश्वास है कि आपके इस उदाहरण का सुपरिणाम भारतपर चिरकालिन होगा। आपके भोगे हुए कुछ कष्ट कभी व्यर्थ नहीं जा सकते। बल्कि एक दिन वे अवश्यमेव फलीभूत होंगे। आपके विषय में सर्वत्र इतनी सहानुभूति, आदर बुद्धि एवं मान्यता प्रकट होती देखकर हमें भी आपही की तरह धन्यता प्रतीत होती है। किंतु इसकी अपेक्षा आपके दुःख कष्टों का स्मरण होने से देश के कार्य में सफलता प्राप्त होने का विचार उत्पन्न होते ही हमारा संतोष दूना हो जाता है।" ता. ३ नवंबर सन १८६८ को विलियम केन साहब विलायतसे ही लिखते हैं कि "आपकी मानसिक धर्म-प्रवृत्ति से मैं भली भांति परिचित हूं, अतएव यदि मैं यह कहूं तो आप अस्वीकार न करेंगे कि दुःख और कष्ट ही मनुष्य के चरित्र को पूर्वावस्था में पहुँचानेके लिये साधनीभूत होते हैं। आप इस अग्निदिव्य के द्वारा अधिक शुद्ध एवं उदात्त स्वरूप में ही पुनः कार्यक्रम में अवतीर्ण हुए हैं। भारत की आधुनिक दुर्गम अवस्था का विचार करते हुए किसी महान् व्यक्ति के लिए सरकार का कोप भाजन होना

अनिवार्य ही था। और इस सम्मान के भागी बनने के कारण आपको गर्व प्रतीत हुआ होगा। जब कोई व्यक्ति भारत के पिछले कुछ वर्षों का इतिहास लिखने बैठेगा, तो उस समय उसे आपकी योग्यता के और राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए आपका यह कष्ट सहन करना भावी प्रजाको यदि अभिमान का कारण प्रतीत हो तो वह यथार्थ ही है।"

—:o:—

भाग—सत्ताइसवाँ।

——:o:——

तिलक और वेदकाल—निर्णय।
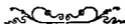
प्रो. मेक्समुलर के हस्ताक्षर से विलायत में तिलक के छुटकारे के लिए जो अर्जी पेश की गई थी, उस में एक कारण यह भी दिखलाया गया था कि, तिलक का ध्यान वर्तमान काल की अपेक्षा गत काल की ही ओर विशेष रूपसे लगा रहता है। यद्यपि वैसे यह अतिशयोक्ति प्रतीत होती है, और संभव है कुछ लोग यह भी कहने लग जायँ कि प्रो. मेक्समुलर तिलक को भली भांति पहचान ही न सके है, इसी लिए कार्य-कारणवश ये उन्हे केवल विद्वान् पंडित ही समझकर छोड़ देने के लिए कह रहे है। क्यों कि इनकी धारणा है कि मुझ जैसे व्यक्ति की ओरसे उनकी मुक्तता के लिए अनुरोध किया जाने की दशा में उनकी विद्वत्तासे प्राप्त सम्मान पर ही विशेष रूप से जोर दिया जाना उचित है। इसी लिए कदाचित् आवेदन पत्र में उन्होंने यह कुछ अतिशयोक्ति का विधान किया है। किन्तु यह स्पष्टीकरण भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि व्यवहार में प्रतिदिन मनुष्य को बीसियों काम करने पड़ते है। इनमें खाना-पीना और सोना तथा उदरनिर्वाह के लिए उद्योग एवं साधारण मनोरंजन की बातें छोड़ दी जायँ तो उसके अवकाश के समय किये हुए अपनी पसंदगी के काम पर सूक्ष्म विचार करने से प्रत्येक मनुष्य में सहज ही में प्रथक्करण किया जा सकता है। और इस विशिष्ट प्रकार के उद्योग की रूपरेखा परसे ही उसकी श्रेणि भी निश्चित की जा सकती है। इस दृष्टि से विचार करने पर तिलक की यथार्थ अभिरुचि एवं उनके हार्दिक आनंद के विद्याव्यासंग में होनेकी बात प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करनी पड़ेगी। क्यों कि, उनके मुखसे निकले हुए ये उद्गार सैंकड़ों व्यक्तियोंने सुने होंगे कि "मेरी हार्दिक इच्छा पर यदि विचार किया जाय तो वह प्रोफेसर बनकर ग्रंथ निर्माण करनेकी ही जान पड़ेगी क्योंकि मुझे केवल परिस्थिति के अन्याय से राजनैतिक क्षेत्र में उतरना या सम्पादक बनना पड़ा है"। प्रत्येक मनुष्य के चित्त में कुछ न कुछ धुन अवश्य समाई रहती है। इसे अंगरेजी में 'होबी' कहते है। और यदि पाश्चात्य देशों के सभी महान् पुरुषोंकी जीवन का अनुशीलन किया जाय तो उनमें से हरएक की कुछ न कुछ धुन अवश्य दिखाई देती। अर्थात् मनुष्य का

नित्य नैमित्तिक कर्म अलग होता है और मानसिक धुनका अलग। इसी लिए कोई तज्ज्ञ उत्तम चित्रकार के नाते प्रसिद्ध होता है तो कोई इंजिनीयर उच्च श्रेणि का कवि सिद्ध हो जाता है; इसी प्रकार कोई विद्याधिकारी उत्कृष्ट बागवान समझा जाता है तो किसी ख्यात नामा बैरिष्टर की कीर्ति उसकी कानूनी कुशलता की अपेक्षा सिंह व्याघ्रादि के शिकारी के नाते ही विशेष प्रसिद्ध होती हैं। इसी नियमानुसार जहां ग्लेडस्टन सरीखे राज्यकार्य धुरंधर अपने फुर्सत के वक्त को लकडियां फोड़ने के काम में लगाते और ग्रीक इतिहास अथवा पुराणों के वादग्रस्त विषयों का निर्णय करने में वे महान् अधिकारी समझे जाते थे वहीं तिलक की भी अपने प्रकट कार्यके ही साथ एक विशेष धुन थी। और इस दृष्टिसे प्रोफेसर मेक्समुलर का विधान बिलकुल ठीक था। तिलक ने इनके नाम भेजे हुए पत्रमें लिखा था कि मैं अपने अवकाश के समय को वैदिक संस्कृति एवं साहित्य के संशोधन में ही व्यतीत किया करता हूं। और उनके विधान का प्रत्यक्ष अनुभव करने का अवसर उनसे निकट परिचय रखनेवाले अनेक व्यक्तियों को अबसे पहले प्राप्त हो ही चुका है। एक ओर राजनैतिक क्षेत्र में जोरों के सवाल जबाब हो रहे या कोई विवाद जोर पकड गया हो, घर में या द्वारपर आन्दोलन की गडबड़ मची हुई हो और बाहर के दालान में तू तू-मैंमैं का वाद शुरू हो रहा हो, ऐसी दशा में भी कभी २ तिलक अंदर के दालान में आराम कुर्सीपर बैठे हुए किसी वेद-विद्या विषयक, अथवा प्राचीन खाल्डिया, असीरिया अथवा ईरान सम्बन्धी ग्रंथों के अनुशीलन में ऐसे निमग्न हो जाते थे कि उन्हें बाहर की बातों का पता तक न रहता था, और किसी की ओरसे आवाज दी जाने पर भी उस ओर उनका ध्यान न जाता था। मनुष्य के लिए सच्चा आनंद वही हो सकता है, जिस में कि उसका ध्यान लग जाता या अणुमात्र भी समाधि का अनुभव हो जाता है। इस नियमानुसार यह कथन यथार्थ होते हुए भी कि यदि तिलक महान् राजनीतिज्ञ न होते तो अवश्य ही वे एक बड़े पंडित हो सकते— ये उतनी विशेषता नहीं रखता, क्योंकि वे महान् राजनीतिज्ञ होते हुए भी महापंडित सिद्ध हुए।

फर्ग्यूसन कॉलेज में रहते हुए तिलक ने अपने इस प्रिय व्यासंग को जो भी कभी २ चालू रक्खा हो, तथापि उसे ग्रंथ या निबंध का स्वरूप प्राप्त होने का कहीं भी पता नहीं लगता। यद्यपि उन दिनों सामाजिक विवाद छिड़े रहनेके कारण स्मृतिग्रंथ विषयक उनका ज्ञान तो कितने ही लेखों द्वारा प्रकट हो गया था; किंतु बाल्यावस्था में अपने पितासे प्राप्त किये हुए भगवद् गीता और वेद-विद्याविषयक ज्ञान के अंकुर सन १८९० के बाद ही दृष्टिगोचर हुए। सन १८९० में उन्होंने वेद-काल-निर्णय सम्बन्धी जो एक सिद्धान्त अपने मनमें निश्चित

किया, वही आगे चलकर 'ओरायन' नामक एक छोटेसे ग्रंथ के रूप में उनके द्वारा प्रतिपादित हुआ। सन १८९१ में इस विषयपर उनका एक व्याख्यान हीराबाग में हुआ, और दूसरा इसी वर्ष के मई महिने में देक्कन कॉलेज के वार्षिक-सम्मेलन के समय हुआ। इस विषय को निबंध का स्वरूप देकर उन्होंने सन १८९३ में 'ओरायन' नामकी पुस्तक लिखी, और इसका सारांश जो उन्होंने लंदन की ओरिएन्टल कांग्रेस के पास भेजा वह उस परिषद के विवरण में छापा गया। किंतु वेद-काल-निर्णय ऐसा विषय न था जो इस एक पुस्तक में किये गये विवेचन से समाप्त हो जाता। क्यों कि जिस दिशा में अपने विचारों को गति देकर प्राचीन काल के मार्ग से वेद के उत्पत्ति स्थान की यात्रा के लिए तिलक ने प्रयत्न किया था, उसका एक धाम या विश्रान्ति स्थान 'ओरायन' नामक ग्रंथ अवश्य था, किन्तु इतनेही से वह यात्रा समाप्त नहीं हो सकती थी। इसके बाद सन १९०३ में 'आर्य लोगों के मूल वसतिस्थान' पर उन्होंने जो दूसरा ग्रंथ छपाया, वह काल क्रमसे अगला या ऊपर होते हुए भी मुख्य विषय की दृष्टिसे पिछला अर्थात पूर्वका ही सिद्ध होता है। ओरायन (वेद-काल-निर्णय) और आर्कटिक होम इन् दि वेदाज़ (उत्तर ध्रुवे के निकट आर्यों की वसती के विषय में वेदोक्त प्रमाण) इन दो ग्रंथों का अविच्छेद्य जोड़ा है, और उन्होंने प्रस्तावना में भी यही लिखा है कि एक ग्रंथ दूसरे का पूरक है। अर्थात् ये दोनों ग्रंथ एक प्रकार से यमज (जोड़िये) भाई है। क्यों कि ऐसे जो बालक जन्म लेते हैं वे भी एक के बाद दूसरे के क्रम से उत्पन्न होते हैं। अर्थात् दोनों के जन्म में कुछ न कुछ कालावधि अवश्य रहती ही है। किन्तु फिरभी वे भिन्न न समझे जाकर एक ही माने जाते हैं। इसी नियमानुसार तिलक के इन दो ग्रंथों के जन्मकाल में दस वर्ष का अंतर होते हुए भी इनका जन्म एक ही कल्पना कोष से होनेके कारण इन्हें जोड़िये भाई ही कहना पड़ेगा। और लगभग कार्यक्रम की ही दृष्टिसे लिखे हुए इस चरित्र ग्रंथ में ओरायन का उल्लेख सन १८९३ के वर्णन में ही किया जाना चाहिये था, और दूसरे का जन्म १९०३ में होनेके कारण इस १८९९ तक की जीवनी में उसका उल्लेख तक न होना चाहिये था। किंतु पिछले किसी भी प्रकरण से सम्बन्ध रखनेवाली घटना के लिए भी उससे आगे या पीछे के चार-छह वर्षों की परिस्थिति का उल्लेख उस विषय की क्रमबद्धता दिखलानेके लिए करना ही पड़ता है। यह बात जिस प्रकार पाठकों को अन्य ग्रंथों में दिखाई देगी, वही इस प्रकरण के विषय में भी समझी जानी चाहिये। क्यों कि दूसरा ग्रंथ जो भी सन १९०३ में प्रकाशित हुआ हो तथापि तैयारी या रचना तिलक ने सन १८९९ के

पहले ही समाप्त कर ली थी। इसी लिए इन दोनों का वर्णन सन १८९० से १८९६ तक के संकीर्ण-काल का समझ कर ही इस प्रकरण में दिया गया है।

वेद की उत्पत्ति संशोधन-यात्रा का वर्णन तिलकने इस दूसरे ग्रंथ की प्रस्तावना में किया है। वे लिखते हैं कि 'वेदकाल निर्णय करते समय यूरोपियन पंडितोंने वैदिकसाहित्य के भिन्न २ अंगों की कल्पना कर प्रत्येक के लिए अपने ही मनसे एक कालावधि निश्चित कर दी है। किन्तु प्रत्येक अंग के लिए बहुत ही थोड़ा समय दिया जाने से उन के मतानुसार वेदकाल अधिक से अधिक ईस्वीसन पूर्व ढाई हजार वर्ष तक जा सकता है। किंतु यह कालगणना-पद्धति एकदम ही बेढंगी और अनिश्चित सी है। क्यों कि इस साहित्य के ज्योतिष शास्त्रविषयक सिद्धान्तों पर ध्यान देकर उन के अनुसंधान से यदि कालगणना की जाय तो यह समय (वेदकाल) लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व तक पीछे हटाया जा सकता है। श्री. केतकर प्रभृति ज्योतिर्विदोंने गणित के द्वारा यह बात पहले सिद्ध कर के भी दिखाई है।' यद्यपि यूरोपियन पंडितों को यह बात एकदम ही पट नहीं सकती थी, किन्तु फिर भी उन्हें यह तो स्वीकार करना ही पड़ा कि इस दूसरे मार्ग से भी यदि यह संशोधन किया जाय तो संभवतः कुछ भिन्न अनुमान निकाले जा सकते हैं। प्रो. ब्लूमफील्ड ने इस बात को स्वीकार किया था कि वेदकाल पांच हजार वर्ष तक सहज ही में जा सकेगा। और तिलक का मत भी यही था। अतएव 'ओरायन' पुस्तक के तैयार हो जाने के बाद आगे दस वर्ष तक अपनी पूर्व विचारसरणी के अनुसार ही उन्होंने विशेष अनुसंधान किया। इस में भूगर्भशास्त्र और प्राचीन वस्तु संशोधन से उन्हें और भी सहायता मिली। अंततः उत्तर ध्रुव संबन्धी इस दूसरे ग्रंथ की हस्त लिखित प्रति उन्होंने सन १८९८ के अंत तक लिखकर तैयार कर ली। इस दूसरे ग्रंथ में भूगर्भ शास्त्र की विशेष सहायता से तिलक ने वेदकाल को ईस्वीसन के पूर्व लगभग आठ हजार वर्षों तक पहुँचा दिया है।

यह बात निश्चय पूर्वक कही जा सकती है कि इस दूसरे ग्रंथ की मुख्य कल्पना 'ओरायन' लिखते समय ही तिलक के अंतःकरण को स्पर्श कर चुकी थी। किंतु उस समय उस कल्पना को सिद्ध मानने के लिए आवश्यक एवं मनोनुकूल प्रमाण उन्हें मिल नहीं सके थे। अतएव विना प्रमाण के इस तरह की साहसपूर्ण कल्पना को सिद्ध मानलेने का दुःसाहस किसी सत्यनिष्ठ संशोधक के लिए अनुचित समझ, उस कल्पना के मोहक एवं आनंददायक होने पर भी उन्होंने शंकित चित्त से ही उसका उल्लेख भी किया। ओरायन के दूसरे भाग में मानवी संवत्सर को देवताओं का एक दिन अर्थात् छह महिने रात और छह

सूर्य प्रकाश मिलकर माना जाने विषयक वचन का उल्लेख करते हुए स्वतः तिलकने ही यह लिखा था कि, इस तरह के वचनों पर से उत्तर ध्रुव के पूर्वकाल में वसतियम होने का अनुमान करना बड़े साहस की बात होगी। क्यों कि यद्यपि इस तरह की बातें प्रकट करने वाली कथाएँ पूर्वों पर चली भले ही आती हो, किंतु उत्तरायन और दक्षिणायन में अंतर दिखलाने का संभव उपस्थित होने पर यही मानना उचित होगा कि आर्योंने उत्तरायन को दिन और दक्षिणायन को रात के रूप में मानकर पूर्व परिचय शब्दों द्वारा नूतन परिचित घटनाओं का वर्णन किया है ! किंतु इस के बाद भूस्तर शास्त्र के आधार पर उत्तर ध्रुव के विषय में यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाने पर कि पूर्व काल में यह स्थान मनुष्यों के रहने योग्य था, जिस सिद्धान्त के विषय में पहले स्वतः तिलक ने ही शंका प्रकट की थी उसी को अब उन्होंने पक्का सिद्धकर मान लिया। इस पर से पहले अविश्वास और दूसरी निश्चयबुद्धि का स्वीकार-दोनों ही बातें उनके मतों की प्रामाणिकता को ही सिद्ध करती हैं।

आर्यों के वैदिक साहित्य उस में ख़ासकर ऋग्वेद के अखिल मानव जाति में अत्यंत प्राचीन ग्रंथ होने का सिद्धान्त मेक्समुलरादि पाश्चात्य संशोधकों के परिश्रम से सर्वमान्य हो जाने पर भी, वेदों की निश्चित काल-मर्यादा के विषय में बहुत ही मतभेद और अनिश्चितता बनी हुई थी। भाषा और ज्योतिष दोनों को ही वेदकाल निर्णय के साधन मानकर इन्हीं के द्वारा संशोधन के लिए दो स्वतंत्र मार्ग निकल आने का उल्लेख तिलक ने ओरायन ग्रंथ के प्रारंभ में ही किया है। इनमें से भाषा पद्धति पर से काल-निर्णय करने के ढंग को ही मेक्समुलर एवं प्रो. हो आदि पंडितों ने विशेष महत्व देकर ज्योतिष-पद्धति को अनिश्चित और अविश्वसनीय सिद्ध किया था। इन लोगों का कहना था कि, इतने प्राचीन काल में संपात अयन आदि बातें वेद कालीन लोगों को यथार्थ रूपमें ज्ञात रहना अशक्य होने के कारण उस समय के वचनों का अपनी नवीन एवं शास्त्र शुद्ध दृष्टिसे अर्थ लगा कर निकाले हुए अनुमान विश्वसनीय नहीं माने जा सकते। किंतु इस का उत्तर तिलक ने यों दिया कि वेद काल में सूक्ष्म गणित एवं पंचाङ्ग न होने पर भी केवल जो बात दृष्टिगोचर होती थी, उसी पर से उन लोगों ने कुछ न कुछ कल्पना पद्धति निश्चित कर ही ली थी। अतएव यदि स्थूल मान से लिये हुए वेधों में चार-पांच अंशों की भूल भी मान ली जाय तो इस से अधिक से अधिक तीन-साढ़े तीन सो वर्षों से अधिक अंतर नहीं पड़ सकता। किंतु जहां हजारों से काल गणना की जाती हो वहां तीन-साढ़े तीन सो वर्ष का अंतर किस गिन्ती में हो सकता है ? सिवाय इसके वैदिक ग्रंथों में यज्ञों का

विशेष होने के कारण उनकी भिन्न २ विधियों के लिए भी विशिष्ट काल की आवश्यक़ता थी। अतएव इस विषय में कुछ तो स्पष्ट और कुछ रूपक के ढंग पर वैदिक ग्रंथों में उल्लेख पाया जाता है। इतने उत्कृष्ट काल-निर्णय के साधन को छोड़कर केवल भाषा पद्धति की पगडंडी पर चलना ही अधिक भ्रमपूर्ण कहा जा सकता है! "संवत्सरः प्रजापतिः" और "प्रजापतिर्यज्ञः" इत्यादि उपनिषद वाक्यों पर से संवत्सर और यज्ञ के वेद काल में समानार्थक शब्द होने और इस दृष्टि से यज्ञ वर्णन के भिन्न २ वचनों का अर्थ लगाने पर वेद काल के विषय में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हो सकती है।

अपनी भाषा पद्धति के अनुसार मेक्समुलर साहब ने वेदकाल को छंद, मंत्र, ब्राह्मण एवं सूत्रकाल के चार विभागों में बाँटकर प्रत्येक के लिए दो सौ वर्षों की कल्पना की। इस तरह एक कुल ८०० वर्षों का वेदकाल बुद्ध-काल से अर्थात् ईस्वीसन पूर्व ४०० पहले का होनेसे उन्होंने वेदकाल की मर्यादा ई. सन पूर्व १२०० वर्ष निश्चित की। और डॉ. हौने वेदकाल के विभागों को २०० के बदले ४०८ वर्ष का अनुमान कर यह मर्यादा ई. स. पूर्व २४०० वर्ष तक पहुँचा दिया था! किंतु तिलक ने इन सब पद्धतियों को छोड़ कर एक नई पद्धति से ही काम लिया था।

क्यौं कि इस साधारण बातको प्रत्येक मनुष्य जानता है कि सूर्य सदैव ठीक सिरपर होकर नहीं जाता, बल्कि कभी वह दक्षिण की ओरसे तो कभी उत्तर की ओर होकर भी निकलता रहता है। फलतः ठीक सिरपर होकर सूर्य के निकलने का अवसर वर्ष भर में केवल दो बार ही छह छह महिने के अंतर से आता है। उनमें से एक को जब कि सूर्य उत्तर की ओर जाता है वसंत संपात कहते हैं और दूसरा अर्थात् जिसमें सूर्य दक्षिण की ओर जाता है शरत्संपात कहता है। यह वसंत संपात इस समय रेवती नक्षत्र से अठारह अंश पीछे है, अर्थात् आजकल वसंत संपात के समय सूर्य रेवती नक्षत्र से अठारह अंश पीछे रहता है। शालिवाहन शके ४९६ के समय वसंत संपात ठीक रेवती नक्षत्र में था।

इस वसंत संपात के समय सूर्य जिस नक्षत्र में होता है, वे बहुत ही सूक्ष्मगति से बदलते रहते हैं। इस संपात अथवा अयन की चलन गति को ज्योतिषियों ने निश्चित कर दिया है; उसी पर से गणित कर के यह बतलाया जा सकता है कि वसंत संपात अमुक वर्ष अमुक नक्षत्र में था। अथवा इस के विरुद्ध वसंत संपात के अमुक नक्षत्र में होने का उल्लेख यदि किसी ग्रंथ में पाया जाय तो गणित द्वारा यह भी बतलाया जा सकता है कि कितने वर्ष पूर्व का हुआ है। "वेदाङ्ग ज्योतिष" के समय यह वसंत संपात भरणी नक्षत्र

से दस अंश आगे था, अतएव उस का समय गणित के हिसाब से ई. स. पूर्व १३०० के लगभग सिद्ध होता है। तैत्तरीय ब्राह्मण में ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिन पर से यह अनुमान निकल सकता है, उस समय वसंत संपात कृत्तिका नक्षत्र में होता। अतएव इस पर से उसका समय ई. सन पूर्व २५०० वर्ष के लगभग होना चाहिये। ऋग्वेद में यह वसंत संपात मृगशीर्ष [आग्रहायणी अथवा (ग्रीक) ओरायन] नक्षत्र में होने के प्रमाण पाये जाते हैं, इस परसे उसका समय ई. सन पूर्व ४००० वर्ष का हो सकता है। इससे भी पहले पुनर्वसु में वसंत संपात होने के अस्पष्ट ज्ञापक भी पाये जाते हैं। किंतु उनका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं पाया जाता। इस परसे मोटा हिसाब लगाकर इस तरह का कोष्टक तैयार होता है:—

अदिति काल	ई. सन पूर्व ६००० वर्ष से ई. सन पूर्व ४००० वर्ष तक	वसंत संपात पुनर्वसु से मृगशीर्ष में आने तक
मृगशीर्ष काल	ई. सन पूर्व ४००० वर्ष से ई. सन पूर्व २५०० वर्ष तक	वसंत संपात मृगशीर्ष से कृत्तिकामें आने तक
कृत्तिका काल	ई. सन पूर्व २५०० वर्ष से ई. सन पूर्व १४०० वर्ष तक.	वसंत संपात कृत्तिका से भरणी तक आने में (वेदाङ्ग ज्योतिष तक)

इस प्रकार ऋग्वेद का समय ई. सन पूर्व ४००० वर्ष का सिध्द होता है। अर्थात पाश्चात्य पंडितों द्वारा निश्चित अधिक से अधिक काल भी २००० वर्ष पीछे ले जाना पडता है। और इसी लिए आर्य संस्कृति, ईजिप्शियन (मिश्रकी) चीनी या खाल्डियन संस्कृति से भी अधिक प्राचीन सिध्द होती है।

अब हमें संक्षेप में बतला देना होगा कि ओरायन ग्रंथ में तिलक ने अप[ने] इस इस नये सिध्दान्त को किस प्रमाण और युक्तिवाद से सिध्द किया है। इस लिए खास २ मुद्दों का उल्लेख मात्र नीचे किया जाता है। इस ग्रंथ के विषय [में] इससे अधिक जानकारी चाहनेवालों को या तो मूल ग्रंथ अंगरेजी में पढ[ना] चाहिये, या फिर उसके मराठी अनुवाद से अपनी इच्छा तृप्त करलेनी चाहिये।

"प्रथमतः वेदकाल निर्णय का महत्व और उस के विषय में भिन्न पंडितों की स्वीकार की हुई विभिन्न पद्धतियां बतलाई है। इस के बाद वैदि[क] कालीन पंचाङ्ग का थोडासा वर्णन देते हुए यज्ञयागादि के काल और वर्षारंभ विवेचन किया है। इस के बाद इस बात की बातें देकर कि-इस समय [व]

संपात कृत्तिका नक्षत्र में था--उस का काल निश्चित किया गया है। तदनन्तर यह दिखाने के लिए कि वसंत संपात मृगशीर्ष में था-- उस (नक्षत्र) के दूसरे नाम आग्रहायणी की व्युत्पत्ति का विचार कर के यह बतलाया गया है कि किसी समय में यही सब से पहला नक्षत्र था। और उसी में आग्रहायणी शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में किस २ प्रकार की भ्रामक कल्पनाएँ रची गई उन का दिग्दर्शन कराते हुए संपात के आन्दोलन कल्पना का एक शास्त्र कारण दिया गया है। इस के बाद मृगशीर्ष विषयक वेद, ब्राह्मण और पुराण कथित एवं इसी प्रकार ग्रीक पुराणों की कथाएँ देकर उन का निकट साम्य दिखलाया है। तदनन्तर ग्रीक ओरायन और उस के पट्टे का हमारे 'प्रजापति उर्फ यज्ञ' और उस के यज्ञोपवीत से तथा पारसी के होम (हमारे सोम) और उस की मेखला से साम्य दिखलाकर यह सिद्ध किया गया है कि ग्रीक ओरायन शब्द वैदिक आग्रहायण से ही निकला हुआ है। (इन सब की मूलाधार कल्पना वसंत संपात के एक समय मृगशीर्ष में होने की ही है।) इस के बाद वैदिक कालीन जनता के ज्योतिष विषयक ज्ञान का दिग्दर्शन कराते हुए यह दिखलाने के लिए कि उस समय वसंत संपात मृगशीर्ष नक्षत्र में थी, प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप ऋग्वेद की एक ऋचा और एक सम्पूर्ण सूत्र का विवेचन किया गया है। अंत में वसंत संपात के इस से भी आगे पुनर्वसु नक्षत्र में होने का दिग्दर्शन करानेवाली एक बात को लेकर पुनः एक बार तीनो काल अर्थात् कृत्तिका काल, मृगशीर्ष काल और पुनर्वसु काल की मर्यादा बतलाकर यह सिद्ध किया गया है कि ये अनुमान अन्य बातों से एकदम विरुद्ध हैं। (के. ल. ओगले कृत ओरायन का मराठी अनुवाद पृ. २१२)

इस नवीन सिद्धान्त ने पाश्चात्य विद्वानों में बड़ी ही खलबली मचा दी। क्यों कि मेक्समुलर साहब उन दिनों अपनी उत्तरावस्था में पहुँच चुके थे, अतएव वे यदि चाहते कि तिलक के ग्रंथ का खण्डन किया जाय तो उन के लिए यह एक असंभव सी बात थी। अन्य कितने ही लोगों ने ज्योतिष को काल निर्णय का त्याज्य साधन समझ कर उस की पूछ ताछ तक नहीं की, और इस बात को उन्हों ने तिलक के पास भेजे हुए पत्रों में स्वीकार भी किया। यहां तक कितने ही लोगों को इस बात पर आश्चर्य भी हुआ कि इस मार्ग से यहां तक की खोज की जा सकेगी! कितने ही लोग जो भी तिलक के कोटिक्रम का खंडन न कर सके, तथापि उन्हें बहुत दिनों तक प्रमाण भूत माने हुए अपने पुरातन सिद्धान्त छोड़ देना कठिन प्रतीत होने लगा। जेकोबी साहब ने अलबत्ता इस से पहले अन्य साधनों पर से तिलक के ही जितना वेद काल निश्चित करने का प्रयत्न किया था।

अतएव तिलक के इस अकल्पित आधार को देख उन्हे आनंद युक्त आश्चर्य हुआ; जिस कि उन्हों ने पत्रद्वारा तिलक को सूचित किया, और पुरातन हठ के क्रमशः दूर हो जाने और अंतमें उन्हीं (तिलक) को सिद्धान्त प्रस्थापित होने का आश्वासन भी दिया। सन १८९४ की २२ फर्वरी के दिन अमेरिका के बाल्टीमोर की जॉन हॉपकिन्स युनिवर्सिटी के संस्कृत प्रोफेसर मारिस ब्लूमफील्ड, पी. एच्. डी. ने अपने यहां के बाईसवें वार्षिक सम्मेलन के समय प्राच्य विद्या के सम्बन्ध में एक व्याख्यान दिया था जिस में कि उन्हों ने ओरायन ग्रंथ के कारण अपने चित्त पर पड़े हुए प्रभाव का वर्णन किया था।

तिलक का ज्योतिष विषयक परिपूर्ण ज्ञान एवं उनके कोटिक्रम रचने पद्धति दोनों ही अपूर्व थे। उनकी बुद्धि स्वभावतः तर्क प्रधान थी। और आरंभ से ही गणित विषय में उनकी विशेष गति थी। कॉलेज की पढ़ाई में उन दिनों गणित विषय में ज्योतिर्गणित का भी समावेश होता था, और केरू नाना छत्रे जैसे विद्वान एवं आविष्कारक गुरू से तिलक को शिक्षा मिली थी। इस के बाद भी उन्होंने इस विषय का व्यासंग रक्खा था। भारतीय ज्योतिष शास्त्र के महापंडित स्व. शंकर बालकृष्ण दीक्षित से तिलक की घनिष्ट मित्रता थी, अतएव उन के विषय में सदैव ही परस्पर विचार-विनिमय होता रहता था। जिस समय "ओरायन" प्रकाशित हुआ, तब तक दीक्षित का "भारतीय ज्योतिष शास्त्र" छपकर नहीं निकला था। किंतु फिर भी तिलक को उसकी हस्त लिखित प्रति देखने के लिए मिल गई थी। उन्होंने तिलक के अधिकांश सिद्धान्तों को स्वीकार किया था। जिन छोटे बड़े विषयों में मतभेद था उस का दीक्षितजीने अपने ग्रंथ में दो एक स्थानपर उल्लेख कर दिया है।

'आर्यों के मूल वसति स्थान' नामक ग्रंथ की कल्पना ओरायन की तरह ज्योतिष शास्त्रपर अवलंबित नहीं है। क्यों कि उस शास्त्र से तिलक का पूर्ण परिचय था, अतएव उस में वे स्वतंत्रता पूर्वक विचार कर सकते थे। किंतु इस दूसरे ग्रंथ में उन्होंने आधार भूत कुछ सिद्धान्त भूगर्भ शास्त्र पर से लिये थे, अतएव इस विषय में उन्हें थोड़ासा परावलंबी होना पड़ा। अर्थात् पहले उन्होंने इस विषय की कुछ पुस्तकें पढ़कर उन पर से नोट्स तैयार किये। किंतु उन पर से निष्कर्ष भूत सिद्धान्त का मण्डन करते समय एकदम अज्ञ न होने पर भी अतज्ञ होने के कारण प्रथमतः उन्हें आत्म विश्वास प्रतीत न हुआ। असल में इस नई शताब्दि में प्रत्येक विषय के उपाङ्गों का अभ्यास बढ़कर लगभग वह शास्त्र के ही रूप में पहुँच आता है। सिवाय इस के किसी एक ही विषय के अध्ययन करने वाले का कभी २ उस से समता रखनेवाले अन्य सहोदर विषयों की भी जान.

कारी प्राप्त कर लेनी पड़ती है। सौभाग्य से पाश्चात्य विद्यापीठों में अनेक शास्त्रों के पंडित एकत्र कार्य करते रहते हैं, अतएव एक के लिए दूसरे से सहायता मिल सकना सुलभ होता है। किंतु भारत में ऐसी व्यवस्था नहीं है। इस लिए तिलक को अपने काम में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। किंतु फिर भी स्वतः भूगर्भ शास्त्री न होते हुए केवल इस विषय की पुस्तकें पढ़कर उन्होंने जिन प्रमेयोंकी कल्पना की उन में किसीने भी अधिक भूल नहीं दिखलाई। किंतु उस के इस ग्रंथ में विवाद का विषय यह नहीं था, बल्कि वेद की कुछ ऋचाओं का उन्होंने जो अर्थ किया, और उस पर से आर्यों का मूल वसतिस्थान उत्तर ध्रुव के निकट सिद्ध किया उसी के विषय में लोग शंकाशील हो रहे थे।

शास्त्रज्ञों ने अनुसंधान करके पता लगाया कि उत्तर ध्रुव के निकटवाला प्रदेश ई. सन से आठ हजार वर्षपूर्व मनुष्यों के रहने योग्य था। किंतु यथार्थ में उस समय वहां कोई रहता था या नहीं, इस विषय का स्पष्ट निर्णय कर सकने के जो साधन उन्हें भूस्तर-शास्त्र में न मिल सके, उनका पता तिलक ने ऋग्वेद में लगा लिया। अर्थात् उन्होंने यह अनुमान प्रकट किया कि जब उत्तर ध्रुव के निकटस्थ प्रदेश के नैसर्गिक दृश्यों के वर्णन ऋग्वेद में पाये जाते हैं तो अवश्य संभव है कि ऋग्वेद के लिखनेवाले या उनके पूर्वज ऐसे किसी स्थान में रहते हों, जहांसे कि वे दृश्य उन्हें दृष्टिगोचर हो सकें। इस कल्पना से जिस प्रकार आर्यों के मूल वसतिस्थान पर प्रकाश पड़ा, उसी प्रकार ऋग्वेद की कुछ ऋचाओं का जो अर्थ पहले नहीं लग सकता था, अथवा भाष्यकार या निरुक्तकार की ओरसे उनका अर्थ लगाया जानेपर भी वह चित्त को पट नहीं सकता था, उसके सुसंगत लग जाने में भी सहायता मिली। तिलक कहते हैं कि 'यह कल्पना मेरे चित्त में बहुत समय पहले ही उत्पन्न हो चुकी थी, किंतु बिना भूगर्भ शास्त्र की सहायता के अपने चित्त को पटनेवाला सिद्धान्त निश्चित रूपसे प्रकट कर सकने की हिम्मत नहीं पड़ती थी'। ईरानी वेदज्ञों को भी यह कल्पना सूची थी: किंतु हिमकाल समाप्त होजाने पर ध्रुव संनिध प्रदेश के वसतिक्षम बन जानेकी कल्पना चालीस-पचास वर्ष पूर्व शास्त्र सिद्ध नहीं हो सकी थी, अतएव वे लोग भी अपने विचारों को प्रकट करने का धैर्य न दिखला सके! पाश्चात्य पंडितों को स्वकीयों द्वारा निश्चित भूगर्भ शास्त्रविषयक नये सिद्धान्त पट सकने में कोई कठिनाई नहीं थी। किंतु उसी सिद्धान्त परसे वेद काल के इतने पुरातन सिद्ध होनेकी बात पर वे गर्व कैसे दिखला सकते थे? यद्यपि तिलक के सिद्धान्त कुछ पाश्चात्य पंडितों की ही तरह भारत के भी कितने ही विद्वानों ने स्वीकार नहीं किये, इसका कारण भी अभिमान ही था। अन्तर केवल यही था कि इनका यह अभिमान विरोध के रूप में।

वेद काल हमारी या हमसे अज्ञात संस्कृति से भी अधिक पुरातन किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? इस प्रकार पाश्चात्य पंडीतों की ओर से शंका प्रकट की जाने पर भी भारतीय विद्वान यही सोचते रहे कि तिलक की विचार सरणी के अनुसार वेद काल के प्राचीन सिद्ध हो जाने पर भी, आर्य लोग भारत भूमि के ही स्वयंभू होने चाहिये, वे क्यों कर बाहर से यहां आये होंगे ? कुछ भी समझिये किंतु डॉ. वॉरन जैसे कुछ इने गिने पश्चिमी विद्वान और तिलक ने मिलकर आर्यवंश का या कम से कम आदि मानव वंश का पलना काकेशस पर्वत के शिखर पर से उठा कर उत्तर ध्रुव की कुंडलीमें लटका अवश्य दिया ! अब भी इस में विवाद के बीज शेष रहे थे । किंतु फिर भी पुरानी संकुचित कल्पनाओं को तिलक के इस प्रमेय से ज़ोर का धक्का अवश्य लगा ।

तिलक के इस ग्रंथ में कुल तेरह प्रकरण हैं । उनमें से प्रथम में उन्हों ने यह दर्साया है कि इतिहास काल की मर्यादा जोंकि शास्त्रीय खोज से पहले बहुत ही अर्वाचीन सिद्ध होती थी वह अब बहुत पीछे तक चली गई है, इसी प्रकार पहले ठीक २ अर्थ समझमें न आने के कारण जिन बातों को पहले हम पौराणिक या काल्पनिक समझते थे, वे भी अब इस खोज के पश्चात सहज ही में ऐतिहासिक एवं सत्य स्वरूप को प्राप्त होने लगी है। यद्यपि भौतिक शास्त्र की प्रगति के कारण गाथा शास्त्र की हानि अवश्य हुई, किंतु इसके सिद्ध इतिहास शास्त्र को अवश्य ही पुष्टी मिली, अतएव जो कुछ हानि हुई वह हानि नहीं कही जा सकती । दूसरे प्रकरण में ऋतु पर्याय होने के कारण समझाये गये हैं । इसी प्रकार प्राचीन और अर्वाचीन युग में पृथ्वीके भिन्न २ भागों की वायु में किस २ प्रकार से परिवर्तन हुआ, ध्रुव प्रदेशमें भी किसी समय हवा गर्म कैसे थी, और इस के बाद क्रमशः हवा सर्द होती जाकर अंतमें हिम आजाने से कोई प्रदेश मनुष्य वस्ती के लिए किस प्रकार अयोग्य हो जाता है, किंतु फिर कुछ काल पश्चात् वर्फ के पिघल जाने पर वहां की हवा सौम्य और इसके बाद समशीतोष्ण हो जाने पर पुनः किस प्रकार वह उष्ण होने लगती है इन सब बातों का विवेचन किया । और सिद्ध केवल इतना ही किया है कि ऋग्वेद के कुछ सृष्टि वर्णनों पर से ध्रुव सन्निध प्रदेश में मनुष्य वस्ती होने की कल्पना प्रथमतः किसे सूझी और उस स्वीकार कर लेने पर भी नवीन शास्त्र संशोधन की दृष्टि से वह न केवल सिद्ध ही होती है, बल्कि उसका समर्थन भी उसके द्वारा होता है। तीसरे प्रकरण में ध्रुव प्रदेश का वर्णन दिया गया है। वहां के ठंडे ग्रीष्म काल और गर्म शीत काल अर्थात अक्षय वसंत ऋतु ठीक अर्वाचीन हिम प्रलय तक विद्यमान थे। वहां दक्षिण में सूर्योदय होता है और तारागोंका उदयास्त न हो कर वे चौबीस घंटोंमें गोल चक्कर लगाकर एक प्रदक्षिणा

करते है; वहां छ महिने का एक अखंड दिन और छ महिने की पूरी रात मिलकर एक वर्ष हो जाता है। क्योंकि वहां वर्ष भर में एकही दिन सूर्य उदय होता है और छह महिने बाद एकही वार अस्त भी होता है। इसी वर्षभर में एकही सुबह और एकही संध्या होती है। इसी प्रकार संध्या प्रकाश भी दो २ महिने तक कायम रहकर केवल पूर्व या पश्चिम में न दिखते हुए क्षितिज पर ही गोल प्रदक्षिणा करता रहता है; वहां का ऊष्णकाल परम मनोहर एवं रम्य होता है, और वह कई दिनों तक एकसा बना रहता है। इन सब बातों का वर्णन देकर उन्होंने इन में की जिन २ बातोंका उल्लेख वेद में पाया जाता है उनके विषय में एक प्रकार की प्रस्तावना लिख डाली है। चौथे प्रकरण में ऋग्वेद में वर्णित ध्रुव विशिष्ट के क़थानकों में जो छ महिने की रात और छ महिने का दिन पाया जाता है. उसीको देवताओं की रात और उनका दिन कहते है; देवयान पितृयान का सबंध संवत्सरों के प्राचीन विभागोंसे ही होता है; और आर्य संस्कृति से समान्तर रहनेवाली ईरानी और सम कालीन ईरानी ग्रंथों में ही नहीं बल्कि ग्रीक, नॉर्स एवं जर्मन आदि की पौराणिक कथाओं में भी देवताओं के दिन रात की कल्पनाएँ पाई जाती है। अत एव तिलक ने उनके सार्थ एवं आधारयुक्त होने का अनुमान निकाला है। पांचवें प्रकरण में वैदिक उषःकाल का सविस्तर वर्णन किया गया है। और वेदोंसे ऊषा वर्णन सम्बन्धी प्रत्यक्ष वाक्य एवं ऋचाएँ प्रमाण के लिए लिख दी है। छठे प्रकरण में दीर्घ रात्रि और दीर्घ दिन का वैदिक आधारों सहित विवेचन किया जाकर सातवें प्रकरण में मास और ऋतु का विवेचन करते हुए यह दिखलाया गया है कि पहले किसी समय वर्षमान सात या दस महिने का अर्थात विच्छिन्न माना जाता था, और ऋतुएँ भी केवल पाचही होती थीं। और ये बातें केवल पौराणिक कथाएँ समझी जाने विषयक जो धारणा अब तक लोगों में बनी हुई थी वह यथार्थ नहीं कही जा सकती। क्योंकि ये बातें ऐतिहासिक सत्य घटनाएँ सिद्ध हो चुकी है। इसी प्रकार ध्रुव के निकट वास करने वाले लोगों को ही इनका अनुभव हो सकने के विषय में तिलक ने अनुमान की श्रृंखला सी बाँध दी है। आठवें प्रकरण में दस महिने का वर्ष सिद्ध करने की कल्पना सिद्ध करने लिए "गवाम् अयन" जैसे सत्र समारंभ का परीक्षण किस प्रकार उपयोगी हो सकता है, सो दिखलाया गया है। यह यज्ञसत्र पूरे दस महिने में जाकर समाप्त होता था। रोमन लोगों में एक वार ३०४ दिनके वर्ष की कल्पना की गई थी; और 'गवाम्' शब्द का अर्थ दिन कैसे होता है, और दिन कम हो जाने से वृत्र के द्वारा गौएँ चुराई जानेकी कथा जैसी कल्पनाएँ किस प्रकार निर्माण हो सकती है, इसी प्रकार अन्य सत्रों में वर्षमान पर से की हुई रचना एवं धर्माचार तथा ज्योतिर्गणित विषयक आर्यों के अनुभव जन्य संबन्ध का ज्ञान

होनेसे युरोपियन पंडितों को आर्यधर्म ग्रंथों के समझने में किस प्रकार असुविधा हुई और ध्रुवके निकट दिखाई देनेवाले अद्भुत चमत्कारों परसे अद्भुत पौराणिक कथाएँ किस प्रकार बनती गई, इन सबका विवेचन किया गया है। नवमें प्रकरण में अनेक गूढ़ वैदिक कथाओं और विशेष कर इन्द्र और वृत्रासुर के चिर कालिक युद्ध की कथा को लेकर उसे ध्रुव सन्निध वसती के उपपत्ति रूप में मानने से किस प्रकार सब बातें सुसंगत बैठ जाती है, यही बात मुख्यतः दिखाई गई हैं। इन्द्र और वृत्रके युद्ध की मूल कल्पना, आकाश वर्षा और बादल आदि अन्तरिक्ष के चमत्कार में नहीं परन् घोर अंधकार मयी दीर्घरात्रि के पश्चात् दीर्घ प्रकाश आने के दृश्य में ही हो सकती है। और जब कि वे दृश्य केवल उत्तर ध्रुव में ही दिखाई पड़ते हैं सो इस पौराणिक कथा का जन्म ध्रुवके निकट प्राप्त किये हुए अनुभव द्वारा ही हो सकने की बात तिलकने सिद्ध की है। दसवें प्रकरण में इसी विचार सरणीको आगे बढ़ाकर वैदिक कथान्तरगँत् प्रातः कालिक देवता, विष्णुका त्रिपाद विक्रम, वेदोंके सप्तमूल और दशमूल विभाग, दाशराज्ञ युद्ध, दशमुख रावण आदि कल्पना ओं का स्पष्टीकरण किया गया है। ग्यारहवें प्रकरण में ईरानी वेद झिन्दावस्ता की विचार परम्परा के अनुकूल प्रमाण दिखलाकर बारहवें प्रकरण में तुलनात्मक गाथा शास्त्र के आधारपर पाश्चात्य पुराण कथाओं द्वारा भी किस २ प्रकारसे वैदिक प्रमाणों का समर्थन होता है वह सब दिखलाया गया है। और अंतिम अर्थात् तेरहवें प्रकरण में जो कि उपसंहार के रूपमें है पिछले सब प्रमाणों का एकत्र विचार करके ध्रुव के निकटवाले वसति स्थान का समय जो कि ई. सन से आठ हजार वर्ष उस तरफ का निश्चित होता है, उस प्राचीन काल में ध्रुव के निकट रहनेवाले आर्य लोगों की संस्कृति श्रेष्ठ और प्राचीन सिद्ध होती है, और आर्य जाति एवं उसके धर्म की जड़े इतने प्राचीन काल में घुसी हुई रहने के कारण उस विषय के अनुमान स्थूल ही कैसे हो सकते है और इतने पर भी वेदोत्पत्ति एवं वेद स्वरूप के विषय में हमारे ऋषि एवं आचार्योंने जो मत प्रदर्शित किये हैं वे यथार्थ कैसे सिद्ध हो जाते हैं, भूगर्भ शास्त्र के प्रलय, और उसके बाद पुनः जीव सृष्टिके उदय आदि पर से प्रलय काल में वेदोंके नष्ट हो जाने एवं फिर शब्दशः न सही किंतु अर्थशः पुनर्जन्म पाने तथा इसी कारण से वेदों को अनादी माना जाने की बातें लक्षणासे किस प्रकार सिद्ध होती है, ये सब इसमें बतलाई गई है।

ओरायन और आर्कटिक होम (आर्यमूलस्थान) इन दोनों ग्रंथों का तुलनात्मक विचार करने पर प्रत्येक मनुष्य को यही दिखाई देगा कि प्रथम ग्रंथ अधिक निरुत्तर (अकाट्य) युक्तियुक्त होते हुए भी दूसरा अधिक मनोरंजक और

उद्बोधक है। पहले में अनुसरण की हुई विचारसरणी हमारे यहां एकदम ही नई न मानी जाती हो, किन्तु पाश्चात्यों के लिए उस के सर्वथा नवीन होने का कारण यह है कि हिन्दुओं में ज्योतिर्गणित का इतना अधिक ज्ञान होने की उन्हें कल्पना तक न थी। दूसरे ग्रंथ की विचार सरणी भी पाश्चात्यों के लिए तो नई थी ही, किन्तु उनकी अपेक्षा वह हमारे लिए और भी नई थी। क्यों कि वेदों के कठिन शब्दों का अर्थ शब्द शास्त्र की दृष्टि से भारतीय भाष्यकारों की अपेक्षा पाश्चात्य पंडितों द्वारा ही अधिक अचूक लगाये जाने के उदाहरण पाये जाते हैं। किन्तु वेदों के शब्दों का अर्थ आर्यों के मूल वसतिस्थान का प्रश्न हल कर सकने के ढंग से लगाने की युक्ति पाश्चात्य पंडितों से सहसा नहीं सध सकती थी। वे इतन अवश्य मानते थे कि ज्योतिर्गणित वेद का एक अंग है, किन्तु वैदिक कथाओं का संबन्ध भूस्तर शास्त्र से लग सकने की कल्पना उन्हें नाम को भी न थी। ऐसी दशा में इस से अधिक लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं कि भारतीय वेदज्ञ पंडितों के लिए तो यह विचार पद्धति एकदम ही नवीन थी। हाँ तो, पहला ग्रंथ सामान्य पाठकों को कुछ रुक्ष प्रतीत होता है, किंतु दूसरे में अनेकानेक प्रतिभाजन्य कल्पनाओं से यथा क्रम परिचय हो जाने और सब का पर्यवसान एक अद्भुत प्रमेय में होने के कारण पाठकों के लिए यह ग्रंथ कमसे कम चतुर्थ प्रकरण से तो इतना अपूर्व मनोरंजक एवं ज्ञातव्य हो जाता है कि विना उसे पढ़कर समाप्त किये छोड़ने को जी ही नहीं चहाता। भाषा की दृष्टि से भी पहले की अपेक्षा दूसरा ही अधिक सरस प्रतीत होता है। और अंगरेजों की दृष्टि से भी इस ग्रंथ की भाषा अपने विषय के लिए सर्वथा योग्य एवं शुद्ध होने का पायोनियर जैसे पत्रों का प्रमाण पत्र मिल जाने पर उस के विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

किन्तु तिलक के इन दोनों ग्रंथों के विषय में किये जानेवाले एक संयुक्त आक्षेप का उत्तर दिया जाना आवश्यक है। अतः उसका उत्तर देकर हम इस प्रकरण को समाप्त कर देंगे। हाँ तो वह आक्षेप यह था कि तिलक के चित्त में स्वदेशाभिमान की ही तरह अपनी मातृ भाषा के विषय में भी उन्हें पूर्ण अभिमान होना चाहिये था और वह था भी, तो फिर उन्होंने ये दोनों ग्रंथ मराठी में न लिखते हुए अंग्रेज़ी में ही क्यों लिखे? इस का प्रथम उत्तर तो यह है कि इसमें भाषाभिमान का प्रश्न ही नहीं है। क्यों कि इन ग्रंथों को अंगरेज़ी में लिखकर उस भाषा को समृद्ध बनाने की कल्पना तिलक के चित्त में कभी उत्पन्न हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अपने अंगरेजी ज्ञान का निदर्शन कराने ही के लिए उन्होंने ऐसा किया हो यह भी नहीं माना जा सकता। क्यों कि लेखों में भाषा जानबूझकर

प्रयत्न पूर्वक अच्छी लिखते या केवल भाषा सौष्ठव से संतोष करलेने की प्रवृत्ति तिलक में कभी देखी ही नहीं गई। वे सदैव इस सिद्धान्त को मानते रहे है कि विचारों के लिए भाषा है, भाषा के लिए विचार नहीं हो सकते। जिस प्रकार कि वायु सुगन्धि में रममाण हो कर ही बैठ नहीं जाती, बल्कि अपनी गति के साथ सहज ही में आ सकनेवाली सुगन्ध को लेकर आगे बढ़ती चली जाती है, उसी प्रकार तिलक का कोई भी लेख-अर्थात् उसे आप प्रबल वायुगति का विचार समझ लीजिये-अलंकारादि के प्रपंच में कभी अधिक देर तक फँसा नहीं रहा। फलतः वे भाषा को एक अनिवार्य उपाधि समझकर ही विचारों के साथ वह जैसी २ प्रकट होती जाती, उसी प्रकार वे उसे लिख डालते थे। इन दोनों ग्रंथों की अंगरेज़ी भाषा उनके समाचार पत्रों के लेखों की भाषा से अधिक सुंदर रहने का कारण केवल यही है कि उत्तम वस्त्र एवं पुष्ट शरीर की तरह उनके विचार और भाषा की भी इन ग्रंथों में पूर्ण समव्याप्ति हो गई है। समाचार पत्रों में विकार वश हो कर लिखा जाने से शब्दों की जो त्रुटि पड़ जाती है, वह इन ग्रंथों में नाम को भी नहीं पाई जाती। यदि किसी अन्य प्रकार से तिलक के स्वभाव का ज्ञान न रखने वाला व्यक्ति इन ग्रंथों को पढ़े तो उसके चित्त में इस बात के लिए शंकासी उत्पन्न हो जायगी कि, इन ग्रंथों का लेखक कभी क्रुद्ध भी होता या किसी को मर्मान्तक शब्द भी कह देता होगा, यह माना नहीं जा सकता। सारांश इन ग्रंथों के लिखते समय तिलक के चित्त में इस बात के लिए कभी अभिमान उत्पन्न ही न हुआ कि मैं इन ग्रंथों को अंगरेज़ी में लिख रहा हूं। बल्कि विचार करने पर यही अनुमान निकाला जा सकता है कि उन्हें परभाषा की यह उपाधि स्थान २ पर उनके मार्ग में बाधक हुई है।

हाँ, इन ग्रंथों के अंगरेजी में लिखते हुए तिलक के चित्त में एक अभिमान युक्त दृष्टि अवश्य थी, किंतु वह व्यक्तिगत् अभिमान से सम्बन्ध न रखकर राष्ट्राभिमान को ही प्रकट करती थी। इस दृष्टि से अंगरेज़ी में लिखने का हेतु पूछने की अपेक्षा यदि कोई यह प्रश्न करे कि 'ग्रंथों की रचना करने का मूल उद्देश्य क्या है?' तो इस के उत्तर में भाषा के प्रश्न का खुलासा भी सहज ही में हो सकता है। वह इस प्रकार कि, सब से पहले इन दोनों ग्रंथों के प्रमेयपर दृष्टि डाली जाय तो वह वेदों की प्राचीनता सिद्ध करना ही जान पड़ता है। किंतु उस प्राचीनता को तिलकने किन प्रमेयों द्वारा सिद्ध किया? इसी बात का आविष्कार कर के कि, आज से आठ हजार पूर्व भी वैदिक संस्कृति के विद्यमान होने का पता लगता है! अच्छा तो वेदों की यहां तक प्राचीनता सिद्ध हो जाने पर भी क्या पुराने संस्कृत पंडितों के लिए इस में आनंद युक्त अभिमान प्रकट करने जैसी

भी कोई बात थी ? नहीं । क्यों कि वेदों को अपौरुषेय अथवा अनादि मानने की ही हमारी सनातन परम्परा होने के कारण इस विचार से कि आठ हज़ार वर्ष हमारी या आपकी लौकिक दृष्टि में अधिक भलेही जान पड़ते हों किंतु इस से वेदों के अनादि एवं अपौरुषेय न होने की ही ध्वनि निकलती है—उन पुराने पण्डितों को इन प्रमेयों के विषय में आनंद प्रतीत होने की अपेक्षा विषाद होने का ही अधिक संभव था । ऐसी दशा में किसी उन्मत्त पंडितने तिलक के इन प्रमेयों पर यहां तक की सम्मति प्रकट कर दी होती कि—प्रत्यक्ष ईश्वर निःश्वसित वेद की चिकित्सक बुद्धि और कालगणना के द्वारा मर्यादा बांधकर तिलकने ईश्वर का ही अपमान किया है, तो भी इस में आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं थी । क्यों कि भारत वर्ष में ही आर्य वंश को स्वयंभू माननेवाले तिलक के द्वारा उन के उत्पत्ति स्थान की भारत से परे उत्तर ध्रुव के निकट कल्पना की जाने पर क्या आनंद प्रकट कर सकते थे ? इस बात का संभवतः तिलक को अच्छी तरह ज्ञान था । इसी लिए कमसे कम हमें तो ऐसाही प्रतीत होता है कि उन्होंने दूसरे ग्रंथ के अंतिम प्रकरण में पुरातन परम्परा के पंडितों को किंचित् संतुष्ट करने के लिए ही कदाचित् वेदों की समर्याद प्राचीनता और उन के अनादित्व की कल्पना का मेल बैठाने के लिए इतनी लौट—पलट की होगी । किंतु इस प्रकार वेद की प्राचीनता आठ हजार वर्ष की सिद्ध हो जाने पर उस का प्रभाव पाश्चात्य पंडितों पर कहां तक पड़ा होगा, इस की कल्पना करने से पाठकों को यह समझने में ज़रा भी देर न लगेगी कि तिलक ने ये अंगरेजी में क्यों लिखे ! क्यों कि यह बात हमें भूल न जानी चाहिये कि विजय की इच्छा तिलक की राष्ट्रीय भावना का एक मुख्य अंग थी । और इन दोनों ग्रंथ के प्रमेय रूपी शस्त्र द्वारा उन्हें प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृति के युद्ध में विजय सम्पादन करना था । तिलकने मराठी में ही यदि इन ग्रंथों को लिखा होता तो युरोपियन पंडित इन्हें कैसे और क्यों कर पढ़ सकते थे ? फलतः इस दोनों ग्रंथ के अंगरेजी में लिखे जाने से युरोप और अमेरिका के विद्वान लोग इन्हें पढ़ कर समझ ही सके, और इनका मर्म भी उनके हृदय में जम गया । यह एक दूसरी बात है कि इस से किसी के चित्त में गुद गुदी उत्पन्न हुई हो या किसी का जी दुखा हो । प्रस्तुत जीवन चरित्र के पांचवे प्रकरण में केसरी के साथ २ मराठा पत्र को तिलक आदि ने क्यों निकाला, इस की जो मीमांसा हमने की है, लगभग वही यहां भी प्रयुक्त होती है, इतना बतला देना पर्याप्त होता । यद्यपि इन ग्रंथों को अंगरेज़ी में लिखकर तिलक को अंगरेज़ों के हार्दिक गर्व या आदरबुद्धि पर विजय प्राप्त करनी थी, किंतु वह अपनी वाहवा ही के लिए नहीं, वल्कि भारत की सम्मान—वृद्धि के ही लिए थी । इन दोनों ग्रंथों

का मराठी अनुवाद प्रकाशित हो जाने से अब मराठी पाठकों की इच्छा भी पूर्ण हो गई है। किन्तु यदि इन ग्रंथों को मूल मराठी में लिखकर फिर इन का अंगरेज़ी में अनुवाद किया जाना अनावश्यक था, और उनके मूल उद्देश्य का विचार करने पर तो कदाचित् यह कार्य उनके लिए शीघ्र फलदायी भी न हो पाता। अस्तु।

---:o:---

भाग २७ परिशिष्ट (१)

तिलक के इन ग्रंथों पर लोगों की सम्मतियां।

तिलक के ' ओरायन ' नामक ग्रंथपर युरोपियन पंडितों के व्यक्त किये हुए अभिप्राय मिश्रित होने के कारण इस प्रकार उन का पृथक्करण नहीं किया जा सकता कि अमुक सम्मति अनुकूल है और अमुक प्रतिकूल। अतएव दोनों प्रकार के मत मिश्रित रूप में यहां दिये जाते हैं। प्रो. व्हिटने (अमेरिका) लिखते कि " आपने प्रमेय बड़े ही महत्व पूर्ण एवं स्थायी प्रभाव डालनेवाले हैं। किंतु इसी से चित्त को यह आत्म प्रत्यय नहीं जाना पड़ता कि, इस प्रकार के प्रमेय कहां तक यथार्थ रूप में निकाले जा सकते है ? क्यों कि आपने उस पुराने समय के आधारों से काम लिया है जब कि भारत में ग्रहों के विषय में न तो कुछ निश्चय ही हुआ था और न उन के कोई नाम ही निश्चित हुए थे-इसी लिए चित्त को थोड़ा संकोच होता है। " ए. ओ. ह्यम (लाहोर) लिखते हैं कि " आपके निर्धारित प्रमेयों को लेकर उन्हीं के अनुसार विचार करते हुए वैदिक काल निश्चित करने में कुछ भी अनौचित्य नहीं दिखाई देता। कदाचित् बीस पचीस वर्ष के बाद विद्वानों के लिए इस कालमार्ग से गमन करते समय आपके द्वारा स्थापित ये मीलों की मंजिल सूचित करनेवाले पत्थर मार्गदर्शक का काम देंगे।" प्रो. ब्लूमफील्ड (बाल्टी मोर, अमेरिका) लिखते हैं कि " आपकी पुस्तक को मैं ने सरसरी नज़र से देखा है, किंतु उतने ही से मुझे विश्वास हो गया है कि यह मनोरंजक एवं महान् कल्पना युक्त है। आपके मुख्य प्रमेयों को स्वीकार करने के लिए अभी चित्त तैयार नहीं है, अतएव फिर कभी उस की फुटकर बातों की छानबीन मैं स्वस्थ चित्त से करूंगा।" प्रो. व्हिटनेने सन १८२४ में

अमेरिकन ओरियंटल सोसायटी के वार्षिक अधिवेशन में इस विषय पर प्रतिकूल किंतु विस्तृत चर्चा की थी उसी को लक्ष्य कर के वे तिलक को लिखते हैं कि "आपके प्रमेयों को यद्यपि अभी मैं ने स्वीकार नहीं कर लिया है, किंतु इतना मैं अवश्य मानता हूं कि आपका संशोधन उत्कृष्ट है। आपका युक्तिवाद कुशलता पूर्ण है, और अपने विविध विषयों के विस्तृत अध्ययन के द्वारा विषय-प्रतिपादन करने में आपने बड़ी ही खुबी दिखलाई है, इतने पर भी आपके प्रमेयों को मेरी ओर से ग्राह्य न माने जाने का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि मैं आपको या आपके ग्रंथ को अनादर की दृष्टि से देखता हूं। आपकी वार्षिक सत्रवाली कल्पना मुझे तो अर्वाचीन प्रतीत होती है। और देवयान-पितृयान शब्दों के अर्थ आपने किये हैं वे पुराने लोगों को मान्य हो ऐसा, मुझे तो प्रतीत नहीं होता। आप अपनी दृष्टि से उस में नई कल्पना देख रहे हैं।" प्रो. मेक्समुलर लिखते हैं कि "आपके निबंध की हस्तलिखित प्रति प्राप्त होते ही उसे मैंने प्रो. कोर्ब को दे दिया क्यों कि परिषद की संस्कृत शाखा के अध्यक्ष वे ही हैं। इसी प्रकार परिषद के मुख्य सभापति की हैसियत मैं ने भी उसे पढ़ा है किंतु मेरी उस पर सहज ही में दृष्टि पड़ी और यद्यपि मैं ने उसे बहुत ही थोड़े समय में पढ़ा है; किंतु यह देखकर कि वैदिक साहित्य के काल निर्णय का प्रयत्न कई वर्ष पूर्व खुद मैंने जिस दिशा से किया था, उसी में आपको अग्रसर होता देखकर मेरा चित्त विशेष रूप से उस ओर आकर्षित हुआ। हमारे मंत्रिमंडलने सूचित किया कि आपके निबंध के कुछ विधानों में फेरफार किया जाना चाहिये। इसी लिए वह परिषद के विवरण में नहीं छापा जा सका। किंतु मैं समझता हूं कि यदि वह छपजाता तो अच्छा होता। कितने ही संस्कृत पंडितों से बातचीत करते समय मैं ने कहा कि, तिलक का निबंध प्रशंसा के योग्य है, क्यों कि उस पर से प्रत्यक्ष वैदिक साहित्य खंड का न होने पर भी उस में संग्रहीत दंत कथा एवं परंपरा गत विश्वास का तो काल निश्चित करने में अवश्य सहायता मिलेगी, किंतु आपके युक्तिवाद के भ्रम पूर्ण होने पर मुझे अब भी विश्वास है, और इसी से कदाचित् आपके प्रमेय निम्नश्रेणि के सिद्ध होकर पूर्व निबंध के विषय में प्रतिकूल मत हो गया हो।" (इस के बाद प्रो. मेक्समुलर ने शब्द व्युत्पति के भ्रम-युक्त पांच सात नमूने लिख दिये हैं।) "आपकी खोज आलोचना की कसौटी पर परखी जाने के बाद यदि स्थायी रूप से स्वीकार कर ली गई तो मेरी तरह शायद ही किसी को प्रसन्नता होगी। लेकिन क्यों कि मैं कल ही आक्सफर्ड से जा रहा हूं, अतएव खेद है कि इस कार्य में आपको मैं आलोचना रूपी सहायता न दे सकूंगा।" किंतु यह एक मानी हुई बात है कि व्युत्पत्ति के विषय

में अत्यंत मतभेद हो जाना स्वाभाविक ही है। इसी प्रकार प्रो. मेक्समुलर की भी सभी व्युत्पत्तियां सर्व मान्य न हो सकने का पता जर्मन पंडित पिशेल के अगले ही महिने में भेजे हुए पत्र पर से लग सकता है। प्रो. पिशेल कहते हैं कि, आपके युक्तिवाद की तफ़सील के कुछ मुद्दे समझ में नहीं आये। क्यों कि मुझे ज्योतिर्गणित का उतना अधिक ज्ञान नहीं है। किंतु समष्टि के विचार से वैदिक साहित्य और वैदिक संस्कृति की प्राचीनता एवं ख़ासकर मृगशीर्ष विषयक आपके अनुमान पक्के और विश्वसनीय होने के विषय में मेरा मत दृढ़ हो गया है। प्रो. मेक्समुलर की शब्द व्युत्पत्ति को इन दिनों युरोप में कोई भी नहीं मानता और मेरी निश्चित धारणा है कि वह भ्रमपूर्ण है। हां, अलबत्ता गाथा शास्त्र का तुलनात्मक विचार करना अवश्य अब छूटता चला है। कुछ भी समझिये, किंतु इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपकी पुस्तक बड़े ही महत्व की है।" बर्लिन से प्रो. ए. वेबर लिखते हैं कि " आपके प्रमेय मुझे मान्य नहीं हैं। आपको इस बात का पता तक न होगा कि तीस वर्ष पूर्व आपके युक्तिवाद के अधिकांश मुद्दों पर मैं खुद विचार कर रहा था, और उस समय प्रो. व्हिटने के साथ २ मेरा यह मत निश्चित सा हो गया था कि, जिन ज्योतिष की कथाओं पर आज आप इतना जोर दे रहे हैं उन्हें हिन्दुओं ने बेबिलोनियन लोगों से ही ग्रहण की होगी। इसी प्रकार ओरायन और आग्रहायन दोनों शब्दों के एक होने की बात भी शक्य नहीं मानी जा सकती"। प्रो. ब्लूमफिल्ड ने इस विषय पर जॉन हापकिन्स युनिवर्सिटी के वार्षिकोत्सव के समय जो व्याख्यान दिया उसमें इस आशय के उद्‌गार प्रकट किये गये थे कि " साहित्य जगत में पिछले दो तीन महिनों में एक सबसे बढ़ कर महत्व पूर्ण घटना हुई है, जिससे कि शास्त्री और विद्वत् समाज में बे तरह खलबली मच जायगी। लगभग दस सप्ताह पूर्व बाल गंगाधर तिलक की लिखी हुई एक नई पुस्तक मेरे पास आई। पुस्तक छोटी सी, ओबड़ धोबड़ और नेत्र रंजक नहीं थी। और उसकी छपाई-सफाई भी भारतीय मुद्रणालयों से सदैव निकलती रहनेवाली पुस्तकों की तरह सदोष थी। किंतु इन तिलक का नाम मैंने पहले कभी नहीं सुना था। अतएव उनके विषय में मेरी अनुकूल धारणा होने योग्य कोई बात ही न थी, और इसी लिए मैं ने आराम के वक़्त उसके पन्ने उलटने को रख लिया था। मतलब यह कि नित्य की डाक में आनेवाले ऐसे वैसे लेखों की तरह इसे भी देख भाल कर एक ओर रख दिया जाय। इसके बाद एक दिन मैंने इस पुस्तक की भूमिका पढ़ी, किंतु उस में भी कोई विशेष चित्ताकर्षक बात देखने में नहीं आई। क्यों कि उस में स्थूलतासे कहा गया था कि वेद-काल ई. सन से ४ से ६ हजार वर्षतक पीछे ले जाया जा सकता है। किन्तु हिन्दू लोग कल्पना के

विमान में बैठकर बड़ी २ उड़ान् लगाने लगते हैं, और सैंकड़ों या हजारों वर्षों का समय उनके यहां किसी गिन्ती में ही नहीं है। इस प्रकार सदैव का विश्वास होनेके कारण तिलक के इस स्थूल विधान को पढ़कर मैं मन ही मन हँसा, और कहने लगा कि 'हमारे सूक्ष्म परिश्रम के द्वारा निश्चित हुए मतों को यह लेखक कहीं इन स्थूल विधानों द्वारा बदल देनेका तो प्रयत्न नहीं कर रहा है! खैर; देखूं तो सही कि यह लिखता क्या है'। इस तरह विचार करके मैंने उसके सफे उलटना शुरू किये। किन्तु शीघ्र ही मेरा यह तुच्छता दर्शक हास्य मुँहका मुँह में ही रह गया और मुझे प्रतीत होने लगा कि इस लेखक के कथन में अवश्य ही कुछ नई बात है, और उसने मुझे तथा मेरी बुद्धि को विचलित सा कर दिया है। वैदिक-साहित्य और तत्संबन्धी पौर्वात्य ग्रंथों पर इस लेखक का कितना जबरदस्त प्रभुत्व है यह बात मुझे पहिली ही बार ज्ञात हुई। अतएव इस ग्रंथ को ऊपरी दृष्टि से देखने का विचार छोड़कर गंभीरतापूर्वक अवलोकन करने का मैंने निश्चय किया; और आरंभ में जिस बात को क्षुद्र समझकर मैं एकदम त्याग देनेके लिए तैयार होगया था, उसके विषय में शीघ्र ही मुझे साङ्गोपाङ्ग विश्वास बँध गया, और मुझे प्रतीत हुआ कि इस वर्षभर के साहित्य में यह पुस्तक एकदम अपूर्व कही जा सकती है। और इससे बाद की प्रत्येक काल गणना का विचार करने के लिए इस पुस्तक से यथेष्ट सामग्री मिलने, एवं प्राचीन-काल-दर्शक चित्र के सत्य स्वरूप में अंकित हो सकने की समुचित योजना के लिए भी इससे उपयुक्त साधन प्राप्त होजाने पर मुझे दृढ़ निश्चय हो गया।"

प्रो. हर्मन जेकोबीने तिलक को ओरायन ग्रंथ के विषय में तीन पत्र लिखे थे। उन में वे लिखते है कि "आपके निर्धारित प्रमेयों की तरह मैंने भी स्वतंत्र रूप से विचार किया था, अतएव आपकी पुस्तक को मैंने बड़ी ही उत्सुकता से पढ़ा। हम में से कुछ प्रमुख संस्कृत पंडितों ने तुम्हारे और मेरे इन ज्योतिष विषयक प्रमेयों के लिए सम्मति प्रकट की है। अन्य कितने ही पंडित अपना निश्चित मत प्रकट नहीं करते, और कहते हैं कि हमें ज्योतिष का पर्याप्त ज्ञान नहीं है। अतएव आरंभ में हां-हूं इसी तरह चलती रहेगी और टालमटोल भी की जायगी। किंतु मुझे दृढ़ विश्वास है कि शीघ्र ही नवीन वेद काल निर्णय स्थायी रूप से स्वीकार कर लिया जायगा।............हमारे प्रमेयों की चर्चा अब इधर शुरू हो गई है। प्रो. बार्थ ने एक विस्तृत निबंध लिखकर एकॉडमी के सामने पढ़ा, और उस में उन्होंने हमारे अनुकूल मत प्रकट किया है। साथ ही इस नई खोज का श्रेय तुम्हें कितना दिया जाय और मुझे कितना इसका भी उन्होंने बड़ी ही निष्पक्षबुद्धि से विभाजन कर दिया है। प्रो. व्हिटने बहुधा प्रति-

कुछ मत देंगे, किंतु मुझे तो यही विश्वास है कि उन का मत भ्रम युक्त अथव मिथ्या है।........बार्थर, बुरहर, फ्रॅंक हिरचर्ट, किलहॉर्न, लिपिक आदि विद्वान मैं समझता हूं कि हमारे मतों का समर्थन ही करेंगे। और हमारे कथन के अनुसार ही आर्य संस्कृति की इतनी प्राचीनता सिद्ध करने का यदि कोई प्रमाण चाहे उसे हम बतला सकते हैं कि खोजने पर प्राचीन नगरों के आसपास ही हमारे कथन को पुष्ट करनेवाले प्रमाण मिल जायँगे। संभव है कि वे अभी भूमि के उदर में ही निवास करते हों। अतएव यदि संशोधन के उचित उपायों से यह भूप्रदेश खोदकर देखा जाय तो यह प्रमाण यथेष्ट प्रमाण में मिल सकता है। किंतु इस बात को आप अच्छी तरह जानते हैं कि श्री और सरस्वती एकत्र निवास नहीं कर सकती। अतएव ये बातें आशा के रूप में नहीं हो सकती। " इस के सिवाय रिमथ डार्मिस्टेटर, कून्ह और रॉथ आदि के भी पत्र हैं, किंतु उन में मुख्य विषय की अधिक चर्चा न होने के कारण उन के उद्धरण नहीं दिये गये।

———:o:———

आर्कटिक होम.

(आर्यों का मूल वसति-स्थान।)

प्रो. ब्लूमफील्ड (बाल्टीमोर, अमेरिका) लिखते हैं " क्यों कि अब मेरी दृक् शक्ति नष्ट होती चली है, अतएव अब मैं उसका उपयोग केवल अपने 'वैदिक शब्द संग्रह' नामक ग्रंथके प्रकाशन कार्य में ही करता हूं। इसी लिए मैं अब तक आपको कोई पत्र न लिख सका। आपका यह ध्रुवोपपत्ति विषयक ग्रंथ पढ़ कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। किंतु उसका विषय बड़ा ही गहन होने के कारण बिना मनन पूर्वक पढ़े उसके विषय में मैं अपने विचार प्रकाश्य रूप से नहीं बतला सकता। फलतः इस विषय में मैंने जो कारण प्रकट किये हैं, वही दूसरों के भी समझने चाहिये। केवल इसी कारण आपके इस ग्रंथ पर पाश्चात्य पंडितों की ओर से अब तक यथेष्ट आलोचना नहीं हो पाई है। आपकी पुस्तक का परीक्षण करनेवालों को यही प्रतीत हुआ होगा कि, जिन में केवल शब्द व्युत्पत्ति का संबन्ध न हो, इस प्रकार की अनेक कथाओं का अध्ययन करलेने के बाद ही इस पर

सम्मति दी जा सकती है। फलतः जब आप इस ग्रंथ की द्वितीयावृत्ति प्रकाशित करेंगे, उस समय अलबत्ता इसी की सची ग्रंथपरीक्षा हो सकेगी। मैं अभी तो केवल यही कह देना चाहता हूं कि, आपकी विद्वत्ता और ख़ासकर मुझे जिस विषय ने मोहित और तादात्म्य कर लिया है उस वेदपर आपकी इतनी श्रद्धायुक्त निष्ठा देखकर मेरे चित्तमें आप के लिए अत्यंत आदर भाव उत्पन्न हो गया है।"

अमेरिका के दूसरे एक विद्वान पॉल केरस ने केवल इस ग्रंथ के सिद्धान्तों को ही तत्काल स्वीकार करके मॉनिस्ट मासिक पत्र में अपनी सम्मति प्रकट कर दी थी। वे अपने पत्र में लिखते हैं कि "दो एक बातों में मेरे और आपके बीच मत भेद है। क्यों कि तूरानी और आर्यन् वंशों में पिंड भेद की अपेक्षा भाषा भेद अत्यधिक है। किंतु आप मानते हैं कि विभिन्न वंश के लोगों के लिए एक ही भाषा बोलना शक्य है और ॲकेडियन् लोग शुद्ध तूरानी नहीं। पर फिर भी प्रगति मिश्रण के ही द्वारा होती है।" किन्तु इस से भी अधिक निश्चित और पूर्ण अनुकूल सम्मति अमेरिका के प्रो वॉरन ने शिकागो के 'ओपन कोर्ट' नामक मासिक पत्र में कुछ दिन पश्चात् प्रकट की थी। वे लिखते है कि "आर्यों के वसति-स्थान पर एक नवीन एवं माननीय ग्रंथ भारत में हाल ही में प्रकाशित हुआ है। और अमेरिका एवं यूरोप के प्रायः सभी विद्वान उसके विषय में विचार कर रहे हैं। इस ग्रंथ के लेखक तिलक महाशय संस्कृत के एक बहुत बड़े विद्वान हैं, साथ ही उन्हें पाश्चात्य शास्त्रों का भी पर्याप्त ज्ञान है। वे अंग्रेजी भाषा इतनी शुद्ध जोरदार लिखते हैं कि जिसे देखकर बड़े २ अंगरेज लेखकों भी दांतों में उँगली दबानी पड़ती है। क्यों कि वे कानून के एक अच्छे जानकार हैं अतएव उनकी विवेचन पद्धति स्पष्ट एवं प्रसाद गुणयुक्त हुई है। यथार्थ प्रमाण की दृष्टि से ग्राह्य किसे माना जाय और अग्राह्य किसे, इसका वे भलीभांति निर्णय कर सकते हैं। उनके 'ओरायन' नामक ग्रंथ के इससे पहले ही सर्वमान्य हो जानेके कारण यदि विद्वान लोग उनके इस दूसरे ग्रंथ की ओर आदर की दृष्टि से देखे तो इसमें आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं।" इसके बाद पुस्तक के अनेक प्रमाणों का उल्लेख करके वे फिर लिखते हैं कि "इस विषय में अबसे पूर्व किसी भी इंडो-इरानियन पंडितने इस कल्पना को ग्राह्य मानकर जितने विश्वसनीय प्रमाण उपस्थित किये हों, उन सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण तिलक ने इस ग्रंथ द्वारा प्रकट किया है। उनके विवेचन में शुद्ध शास्त्रीय पद्धति का त्याग कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। और जो कुछ विचार उन के चित्त में उत्पन्न हुआ, उसे उन्होंने प्राञ्जलता के साथ प्रकट कर दिया है। इसी प्रकार पहले (ओरायन) और इस दूसरे ग्रंथ के तिलक ने जो नाम रक्खे हैं वे अपने प्रतिपादित विषय के हिसाब से देखते हुए

आवश्यकता से अधिक व्यापक होने के बदले अधिक संकुचित ही सिद्ध होते हैं। अवेस्ता ग्रंथ से लेकर दिये हुए उन के प्रमाण कितने ही स्थानों में वेदोक्त प्रमाणोंसे भी अधिक विश्वस्त होते हुए ग्रंथों की नामावलि में अवेस्ता का उल्लेख तक नहीं किया। बीस वर्ष पूर्व वेद और अवेस्ता के केवल अनुवाद पर से ही तिलक का निकला हुआ सिद्धांत मैंने भी निश्चित किया, और उसे 'मानव वंश का पलना' नामक ग्रंथ में प्रतिपादन भी किया था। उसमें कितनी ही वैदिक कथाओं का जो अर्थ मैंने अपनी बुद्धि से लगाया था, वही ऋग्वेद से प्रत्यक्ष परिचय रखनेवाले तिलक के द्वारा हाल ही में लगाया जाते देखकर मुझे धन्यता प्रतीत होती है। तिलक ने अपने ग्रंथ में पहले के मेरे इस ग्रंथ का स्थान २ पर उल्लेख किया है। किंतु उनका ग्रंथ मेरी पुस्तकसे भी अधिक अतीव एवं मोहक अथच अधिकारी लेखक का लिखा हुआ है, इसे मैं शुद्ध हृदय से स्वीकार करता हूं। और अपने ग्रंथ में मेरी कृति का उल्लेख करने के लिए मैं उन्हें हृदय से धन्यवाद देता हूं। यह ग्रंथ और जॉन ओनील के 'देवताओं की रात' नामक ग्रंथ को पढनेवाला मनुष्य फिर यह प्रश्न कभी न करेगा कि 'आर्यों का अपने जाने हुए स्थानों में सब से अधिक पुरानी वसतिस्थान कौनसा है?' इस प्रकार मुझे दृढ विश्वास है।"

——:o:——

स्वामी कृष्णानंद सरस्वती की सम्मति.

स्वस्ति श्रीमत्पंडितगणगणनीय बुद्धिमत्तिलकयथार्थतिलकोपनाम्नि बलवंतनाम्नि संततं शं तन्मन्तु सानंदमुदीरितानि नारायणस्मरणानि—

भवदीयेनानेन ग्रंथेनापारमानंदं गमिताः यस्मादत्र ग्रंथेऽनन्युबुद्धिगोचरान्विषयानुद्घाटय श्रुतीनां समन्वयः प्रदर्शितः येन पुरातनविषय-समन्वयदर्शनेन नवीनसावादं परमतस्थास्त्यजंति युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदा इत्यंतर्धानमात्रश्रवणेन लेभिरे इति लाभ-श्रवणेन ऋषिभिः कृता मंत्रा इति मतं त्यक्त्वाऽनादित्ववादमंगीकरिष्यन्ति बुद्धिमंतः येन मनुवचनं अनादिनिधना दिव्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवेति वंशं ब्राह्मणं च वेदलाभक्रमसंपर्कं स्वयमुक्तं यथार्थमितिच विज्ञास्यंति। किंबहुना गायत्र्याविश्वामित्रमृषिं विश्वामित्रोपि सस्मार। मित्रेचर्षाविति पाणिनिसूत्रे सति.

विश्वस्य मित्रं विश्वामित्र इत्यभ्युपगमात् विश्वामित्रः परमात्मा सुहृदं सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छतीति भगवद्वाक्यात् गायत्र्या ऋषिः परमात्मा विश्वामित्र-शब्देन स्मरणीय इत्यर्थासिद्धं । इत्थमन्येष्वपि मंत्रेषु तत्तदृषिनाम्ना परमात्मा स्मरणीयः । येन ऋषिणा यो मंत्रो लब्धः स ऋषिच्छंदोदैवतविज्ञानसहितो लब्धः । ऋषिच्छंदोदैवतज्ञानाधीना सिद्धिः । तस्मादृषयो वेदाश्चानादय इति सिद्धं । गाधिपुत्रे विश्वामित्रे नन्वटितं पदं ऋषिच्छंदोदैवतज्ञानपूर्वपूर्वं गायत्रीमुपास्य ऋषिशब्दोलब्धः संपन्नत्वात् गायत्रीरहस्यज्ञानेन दर्शनेनच । एतेन सर्वे ऋषयो व्याख्याताः । विश्वस्यामित्रं स्लॅच्छो स्यादेकत्वात् । मनुव्यासवचनयोरेकएवाभिप्रायो यथा । प्रमाणप्रमेयात्मके विश्वे प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिर्न प्रमेयाधीना प्रमाण सिद्धिः । वेदः प्रमाणकोटावर्थः प्रमेयकोटौ । प्रमेयानामागमापायित्वेपि न प्रमाणानामागमापायित्वं यथा रूपादीनां प्रमाणानि रूपाद्यपगमेपि चक्षुरादीनि नागमापायीनि । अत एव जन्मान्तरेष्यनुवर्तते लिंगशरीरं इत्यभ्युपगमः । यथा चक्षुरादीन्यनुवर्तन्ते प्रमाणत्वात्तथा वेदोपीति । यथा वेदस्तथा इतिहासाः प्रमाणत्वाव्यभिचारात् अत आह सेतिहासानीति । इदमुपलक्षणं पुराणानां । अत एव सेतिहासपुराणवक्ता व्यासः स्ववचने व्यासोहं वच्मि इति प्रयोगे प्राप्ते व्यास उवाचेति लिखति स्म । भूतानद्यतने परोक्षे लिट्प्रयोगानुपपत्तेः प्राचीन व्यासवचनमिदानींतन व्यासेन कथितमित्यर्थः पर्यवसितः । एतेन सर्वेप्युवाचशब्दा व्याख्याता इति ह आसेति कथिता इतिहासाः पुरातनं चरित्रं पुराणमितिव्युत्पत्तेः मंत्रा ब्राह्मणानि कल्पा इतिहासाः पुराणानि सांगोपांगानि प्रमाणानि अनाद्यंतानीति सिद्धं । तत्रतत्र तत्तदृषिशब्दैः परमात्मा वेदितव्योनेतरेऽनाद्यनंतानां प्रमाणानां प्रवर्तयिताऽनाद्यनंतं विना कःसंभवेत् । अत एव अर्वाचीनेषु ऋषिशब्दो मंत्रद्रष्टृत्वमात्रेण कृतार्थः । अध्यापनेन आचार्यत्वं परमाचार्यः परमात्मा । सत्येवं पुरातनतमस्य वेदस्य ज्योतिःशास्त्रसिद्धेषु पुरातनतमेषु विषयेषु योजनां दर्शयित्वा पुरातनतमत्वं संसाध्य व्यासवचनमनुसृत्यानादित्व उपसंहृतो ग्रंथः । सत्यं बुद्धिमत्तिलकोसीति नारायण स्मरणानि । इति श्रीकैवल्यधामनिवासी कृष्णानंद सरस्वतीतो बाल गंगाधर तिलककृत वेदानादित्वविचारपरामर्शः ।

———:———

भाग–अट्ठाईसवाँ ।

———:०:———

पुनश्च हरिः ॐ ।

यह हम पहले ही बतला चुके हैं कि जेल के कष्टों के कारण तिलक का स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। यद्यपि उनकी प्रकृति काटक होते हुए भी प्रत्यक्ष देह यष्टि छोटी थी और उन के वज़न सदैव लगभग १३१ पौंड बना रहता था। जेल में रहते हुए एकवार उनका वज़न १०१ पौंड तक घट गया था। इस के बाद येरवदा में स्वास्थ्य सुधर जाने पर भी वह ११३ पौंद से अधिक न बढ़ सका। इन पर से प्रकट हो सकता है कि इस समय उन के लिए पौष्टिक अन्न और विश्राम की कितनी अधिक आवश्यकता थी। यद्यपि पौष्टिक भोजन की तो कोई कमी नहीं थी, किंतु सब से बड़ा अभाव उन के लिए विश्रान्ति और शरीर स्वास्थ्य का था। क्यों कि एक तो वैसे ही उन का घर हमेशा कामकाज के निमित्त आनेजानेवाले मनुष्यों से भरा रहता था, और उस में फिर अब तो पूछना ही क्या था! क्यों कि प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा थी कि तिलक अपने अभियोग एवं जेलजीवन की कहाणी खास तौर पर मुझही को सुनावे, और कम-सेकम प्रत्येक निकट परिचय रखनेवाले मित्र की तो यह इच्छा होना स्वाभाविक ही था। किंतु यदि तिलक इसे पूर्ण करना चाहते तो किस २ को संतुष्ट कर सकते थे? जेल के मौनव्रत के पारने का भोजन इतना अमूप होने लगा कि संभाषण के अजीर्ण से उनका मुँह तक दूखने लगा होगा। क्यों कि किसी को फटकारना भी चाहे तो इस तरह की उन्हें आदत नहीं थी। उसी अवसर में अक्टूबर की गर्मी का मौसम भी आगया। फलतः सर्वसम्मति से तिलक ने नोहि-नेभर के लिए सिंहगढ़ जाने का निश्चय किया।

कहा जाता है बिगड़े हुए स्वास्थ्य के लिए जन्म भूमि की वायु लाभकारी होती है। किंतु सिंहगढ़ तो तिलक की जन्मभूमि था ही नहीं। फिर भी उन के मानसिक उत्साह एवं स्वास्थ्य के विचार से सिंहगढ़ की भूमि उन्हें जन्म भूमि की ही तरह प्रिय एवं अनुकूल प्रतीत होती थी। इसी प्रकार वो भी तिलक उन व्यक्तियों में से थे जिन्हें कि बातचीत के लिए सदैव ही दसपांच मनुष्यों के पास में रहने से आनंद प्रतीत होता है, किन्तु फिर भी विश्रान्ति की

क्षुधा तीव्र हो जाने पर वे एकदम ही एकान्तवास स्वीकार कर लेते थे। महाबलेश्वर जैसे स्थान में ठंडी हवा रहने पर भी वहां मिजाजी शौकीन आदमियों की भीड़ बहुत ज्यादा रहती थी। सिवाय इस के वह स्थान पूने से अधिक दूर होने के कारण भी तिलक ने सिंहगढ़ को ही अधिक पसंद किया था। वे सदैव कहते रहते थे कि प्रत्येक सुशिक्षित व्यक्ति को वर्षभर में कुछ दिनों के लिए एकांतवास में विश्राम अवश्य लेना चाहिये। और इसी इच्छा के अनुकूल उन्हों ने अपने मन में एक योजना भी करवा ली थी कि फर्ग्यूसन कॉलेज के प्रोफेसरों के लिए सिंहगढ पर थोड़ीसी जमीन लेकर एक छोटासा बँगला बनवा दिया जाय जिसमें कि वे बारी बारी से जाकर विश्रान्ति ले सकें। किंतु इस योजना को वे अपने कॉलेज के कार्य काल में पूर्ण न कर सके। पर इस के बाद स्वतंत्र हो जाने पर इस इच्छा की पूर्ति उन्हों ने करही ली। अर्थात् अपने मित्र दाजी साहब खरे के साथ मिलकर उन्हों ने सिंहगढ़ पर थोड़ीसी जमीन खरीदी, और वहां फूसका छप्पर डालकर ही एक घर बनवा लिया। ग्रीष्मकाल में ये दोनों मित्र वहीं उस घर के आधे २ भाग में रहा करते थे। क्यों कि तिलक को सदैव ही ठंडी हवा अनुकूल पड़ती थी। यहां तक कि वे पूने में जोरों की ठंड रहने पर भी अधिक से अधिक एक कुर्ते के सिवाय शरीर पर कुछ न पहनते थे। वैसे हमेशा और ख़ास कर ग्रीष्मकाल में तो यदि बाहर ही कहीं जाना पड़ता हो उसे छोड़ वे बहुधा आठों पहर बिलकुल खुले बदन ही रहते थे। सिंहगढ़ पर भी लग भग यही दशा रहती थी। सिंहगढ़ का पूरा मुकाम केवल एक टोपी और एक कुर्ते से ख़त्म हो जाता, और ठंडी हवा के साथ ही वहां सब प्रकार के कृत्रिम रहन-सहन का लोप प्राप्त होने से ही सिंहगढ़ तिलक को अधिक पसंद था। इन सबसे बढकर इस स्थान के पसंद किये जाने के भी कुछ कारण हो सकते हैं। मावले लोगों से वार्तालाप करना एवं शिवाजी के एक प्यारे दुर्ग पर रहने का सौभाग्य प्राप्त होना-ये कारण तो थे ही। किंतु जहां, की हवा ठंडी होने के साथ ही ऐतिहासिक भावना को प्रदीप्त करनेवाली हो उस स्थान को कौन पसन्द न करेगा? फिर भी केवल इसी कारण से उन्हों ने सिंहगढ़ को पसंद नहीं किया था। यह कथन ख़ास तौर पर अतिशयोक्ति पूर्ण कहा जा सकता है। तथापि इस एकान्त वास के ऐतिहासिक दुर्ग में किसी परिवारहीन राजा की तरह स्वैर विहार करते हुए तिलक के चित्तपर जिस उत्साह की झलक दीख पड़ती थी वह बड़ी ही मार्मिक एवं किसी तीसरे व्यक्ति के लिए देखने योग्य ही होती थी। सन १९०७ में नेविन्सन साहब ने सिंहगढ़ और वहां निवास करते हुए तिलक का जो सुहृदय वर्णन किया था, उसे पढ़ने वाले को हमारी बातें सहज ही समझ में आ सकेंगी।

हाँ तो तिलक ने पूरा अक्टूबर और नवंबर सिंहगढ़ पर ही बिताया। वहां उन का स्वास्थ्य थोड़े ही दिनों में यहां तक सुधर गया कि, किले के आधे मार्ग पर के बैठक तक उतरने और चढ़ने की शक्ति उन में आगई। उस समय कोई ख़ास उद्योग तो उन्हें था ही नहीं, और जो कुछ था वह बहुतही मामूली। मनोरंजन के लिए गप्पे लड़ानेवाले मित्र लोगों में से कोई तो स्वेच्छापूर्वक ही सिंहगढ़ पर आ जाते थे और किसी २ को तिलक भी बुलवाते थे। जेल के छूटने पर तिलक कितने कृश दिखाई देते थे, और इस से पहले वे कितने स्वस्थ एवं पुष्ट काय थे, इन दोनों बातों को दिखाने के लिए उनके एकत्र छापे हुए फोटो कितने ही लोगों के देखने में आये होंगे। क्यों कि पिचके हुए गाल, और कालापन लिये हुए चेहरा तथा सूखे हुए ओठ और उन पर से निकलती हुई नर्मत्वचा, एवं काँपते हुए पाँव की हालत में वे जेल से छुटे थे। किंतु लगभग एक महिने के विश्राम से उनका स्वरूप एकदम पलट गया।

सिंहगढ़ पर आवश्यक विश्रान्ति लेलेने के बाद तिलक को एक-एक करके आगे के लिए उद्योग सूझने लगे। दिसंबर में मद्रास की राष्ट्रीय सभा में भी वे प्रतिनिधि बनकर पहुँचे, और विषय-निर्धारिणी समिति में भी उन का चुनाव होगया। किंतु सदैव की तरह इस बार उन का भाषण अलबत्ता नहीं हुआ। इस से उनके प्रतिपक्षियों को टीका-टिप्पणी करने का मौक़ा मिल गया। और उन्होंने आपस में तिलक की ओर से सरकार के यहां कुछ अपमान कारक प्रतिज्ञाएँ करली जाने विषयक जो धारणा बना रक्खी थी उसे भी मदद मिली। अर्थात् जब यह प्रश्न किया कि, जेल से छुटकर आजाने और राष्ट्रीय सभा में उपस्थित रहने पर भी तिलकने भाषण क्यों नहीं किया ? तो इस का उत्तर वे आपस में ही यह देने लगे कि उन्हों ने सरकार के यहां इस के लिए लेख बद्ध प्रतिज्ञा करली थी ! कितने ही यह तक कहने लगे कि, तिलक को राष्ट्रीय सभा में आने के लिए इतना अनुरोध किसने किया था ? हम तो समझते है कि उन के आने से 'स्केलेटन एट दि फीस्ट'—अर्थात् मेहमानी होती रहने की दशा में वहां अचानक ही किसी खोदकर निकाले हुए मुर्दे के अस्थिपंजर-की तरह उन के दर्शन उद्वेग कारक ही हुए। कोई कहने लगा कि अपने मार्ग में इस राजद्रोही व्यक्ति की व्याधिको न आने देने के विचार से ही फीरोज़शाह मेहता आदि मद्रास नहीं आये। किसी ने कहा कि, सरकार को यह वचन देकर कि 'मैं कॉंग्रेस में नहीं जाऊंगा' तिलक उस में शामिल हुए हैं, अतएव उन्हें शीघ्र ही इस वचन भंग का प्रायश्चित करना पड़ेगा। किन्ही भले आदमियों यह तर्क बांधा कि, तिलक की इच्छा तो राष्ट्रीय सभा के जीवन पर आघात पहुँचने की संभावना

समझ उसे टालने ही के लिए सभा के संयोजकोने तिलक को न बोलने दिया।

किन्तु ये सब कल्पनाएँ मत्सरग्रस्त लोगोंकी की हुई थीं, और इन में की प्रत्येक बात एकदम ही असत्य थी। इन में से कितनी ही बातों का तो लोगों ने ही खंडन कर दिया। बम्बई के चेम्पियन पत्र के संपादक मि. चेम्बर्स ने मेहता सम्बन्धी विधान का खंडन किया, और कितनी ही बातों को पाठकों ने ही मूर्खता युक्त समझ कर उन पर ध्यान तक न दिया। मद्रास की राष्ट्रीय सभा के समाप्त हो जाने पर तिलक रामेश्वर यात्रा के लिए चल दिये थे, अतएव इधर की बातों का उन्हें पता तक न लग सका। किन्तु मार्ग ही में 'साउथ इंडियन पोस्ट' नामक पत्र के संवाद दाता ने उन से भेट कर के इन में की कुछ हकीकते उनके कानपर डाली, और उन से इस विषय में पूछताछ भी की। फलतः इस अवसर को उपयुक्त समझकर तिलक ने उस के सामने सब बातों का खुलासा कर दिया। उन्होंने कहा कि 'मुझे बोलने से किसी ने भी नहीं रोका, बल्कि मुझ से बारम्बार इस के लिए आग्रह ही किया गया। किन्तु जैसे ही एक बार मैं ने बोलने की शुरूआत की फिर मेरे पीछे व्याख्यान देने के निमंत्रणों की भरमार लग जायगी, और क्यौं कि अभी मेरा स्वास्थ्य ठीक न होने से व्याख्यान देने की शक्ति भी मुझ में नहीं है। इसी प्रकार सरकार के सामने भी मैं ने भाषन न देने विषयक कोई प्रतिज्ञा की हो, सो बात भी नहीं है।' अंत में जब इस संवाद दाताने यह प्रश्न किया कि "अब आगे आप क्या करेंगे ?" तो इस के उत्तर में भी तिलक ने यही कहा कि "जो कुछ मैं अबतक कररहा हूं, वही आगे भी करता रहूंगा" इस समर्पक उत्तर के अनुसार उन्होंने आगे चलकर वही काम किया भी सही, इसे सब लोग अच्छी तरह जानते हैं।

हाँ तो, तिलक के मद्रास जाने का संवाद पाते ही वहां के हिंदू एवं मद्रास स्टेण्डर्ड आदि पत्रों ने तथा उन्ही के साथ २ बंगाल के पत्रों ने भी हार्दिक प्रसन्नता प्रकट की थी। मद्रास में उनके लिए रहने का प्रबंध समुद्र तटपर 'कर्नन केसल' अथवा 'आइस–हाउस' नामक बंगले में किया गया था। कहा जाता है कि इस बंगले की पुरानी इमारत लार्ड क्लाइव के मद्रास में रहने के समय नये ढंगसे बनाई गई थी। सन १८९८ में इसके मालिक बिलगिरी आयंगार नाम के एक मशहूर सालिसीटर थे। उन्हीं ने सब प्रकार से तिलक का आदरातिथ्य किया। लखनऊ के एडवोकेट पत्र के संपादक और तिलक की परम मित्र श्री गंगाप्रसाद वर्मा भी तिलक के ही साथ २ इसी बंगले में ठहरे थे। मद्रास के कितने ही मुख्य २ स्थानों में वहां के प्रधान व्यक्तियों ने तिलक को इत्रपान और भोजनादि की भी व्यवस्था की थी। विशेषतः राजा सर टी. माध-

राव के यहां मद्रास के प्राचीन महाराष्ट्रीय उपनिवेश वालों ने तिलक को बहुत बड़ा प्रीति भोज दिया था और इस प्रसंग पर उस प्रान्तमें रहनेवाले महाराष्ट्रीय लोगों में मराठी भाषा की अभिवृद्धि करने के उपायों पर चर्चा भी हुई थी। राजा सर टी. माधवराव की सोने की एक छोटीसी जंजीर भी उनके पुत्र ने तिलक को भेट दी थी। स्मार्त और वैष्णव लोगों के मंदिरों से भी देवदर्शन के लिए तिलक को निमंत्रण भेजे गये थे। मद्रास छोड़ने से पहले तिलक ने भी कितने ही पत्र संपादक एवं प्रधान २ मद्रासी वकील, प्रो. रंगाचार्य जैसे बड़े २ विद्वान पंडितों को 'कर्नल केसल' में प्रीति भोज दिया था। इस प्रसंग पर एम. ए. एल् एल्. बी. जैसी बड़ी २ डिग्रीयां प्राप्त करलेनेवाले वकील एवं अध्यापक लोग उस देश की प्रथा के अनुसार भोजन के लिए एकत्र न बैठे, अतएव नीचेके हिस्सेमें समस्त अय्यर अर्थात् स्मार्त और दूसरी मंजिल पर सब आयंगार अर्थात् वैष्णवों की अलग २ पंक्तियां की गई, और एक ही परोसनेवाले के द्वारा स्मार्त एवं वैष्णवों में भोजन न चल सकनेके कारण तिलक के साथ गये हुए मित्रों को भिन्न २ परोसगारों की जोड़ियां बनाकर इन पंक्तियों का काम निपटाना पड़ा!

कांग्रेस के निमित्त से तिलक भारत के कितने ही बड़े २ शहरों में गये थे। किंतु अकारण यात्रा अर्थात् केवल इच्छामात्र होने से ही उन्हों ने कोई भ्रमण इसके पहले नहीं किया था। किंतु जेलसे छूटकर आने के बाद अपने स्वास्थ्य को सुधारने की अवधी में उन्हें थोड़ासा भ्रमण करनेकी इच्छा हुई। सबसे पहली यात्रा उन्होंने सन १८९४ के अंत में मद्रास कांग्रेस के बाद की। इसमें वे सीलोन (लंका) हो आये। अर्थात् मद्रास की राष्ट्रीय सभासे निवृत्त होते ही तिलक सीधे पूना न लौटते हुए मदुरा गये। वहांसे बैलगाड़ी द्वारा रामेश्वर और रामेश्वर से सीलोन होकर सन १८९९ के फर्वरी महिनेमें वे वापस पूना पँहुचे। दूसरी यात्रा उन्होंने सन १८९९ के अंतमें लखनऊ कांग्रेस के बाद की। इस बार वे ब्रह्मदेश हो आये। आगे चलकर पांच वर्ष तक मण्डाले में रहते हुए भी मानों यह सोचकर कि शायद यह शहर मुझे देखनेको न मिल सके— तिलक ने मौका पाकर उसे पहले ही देख लिया था! इस दूसरी बारकी यात्रा में उनके मित्र काशीनाथपंत छत्रे का आग्रह ही विशेषरूप से कारणीभूत हुआ। सन १९०८ से १९१४ तक के कारावास के छह वर्ष तक तिलक ब्रह्मदेश में— मण्डाले में—रहे थे। इसके बाद उधर से छूटकर आनेपर विलायत जानेके लिए वे सीलोन तक हो आये थे, इसे सब लोग जानते ही हैं। किंतु इससे भी पहले उनके ब्रह्मदेश और सीलोन हो आनेकी बात अधिकांश लोगों को ज्ञात नहीं है हाँ, तो इस दूसरी बारकी यात्रा का वर्णन केवल कालानुक्रम की दृष्टिसे विचार

य के दूसरे खण्ड के आरंभ में दिया जाना चाहिए था। बहुत ही थोड़े अंतर से हुई और इन दोनों का उद्देश्य भी स्वतः तिलक ने भी इन दोनों यात्राओं को एकत्र मानकर इनका जानकार.. .. पूनावालों को एकही व्याख्यान द्वारा परिचय कराया था, और इसके बाद आजन्म उन्होंने इस तरह केवल भ्रमण के विचार से कोई यात्रा नहीं की, अतएव इन दोनों यात्राओं का वर्णन एकत्र दिया जाना अनुचित न समझा जायगा। सन १६०० की वसंत व्याख्यानमाला में ता. ७ जून के दिन उन्होंने इन यात्राओं के सम्बन्ध में एक विस्तृत व्याख्यान दिया था। जिसे कि आगे चलकर दस वर्ष पश्चात् (सन १९१० में) हरी रघुनाथ भागवत ने पुस्तकाकार छपाकर प्रकाशित किया; किंतु उसकी प्रतियां अब प्रायः दुर्लभ सी हो गई हैं।

तिलक ने अपने जीवन में भारत के अधिकांश भागोंकी यात्रा करली, किन्तु इन दो यात्रा ओं की तरह उन्हों ने उन के वर्णन न तो लिखे और न भाषण के रूप में ही सर्व साधारण को सुनाये। इसी लिए इन भ्रमण-वृत्तान्तो का महत्व बहुत बढ़ जाता है। क्यों कि यात्रा में उन २ स्थानों के लोक-समाज का धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक और औद्योगिक दृष्टि से वे किस प्रकार निरीक्षण करते थे, वह सब इस प्रवास वर्णन पर से भली भांति जाना जा सकता है। अपने व्याख्यान में आरंभ से ही उन्होंने अपनी इस दृष्टि का इन शब्दों में वर्णन किया कि " हमारे प्रान्त के लोग समाज की अपेक्षा आचार--विचार एवं रीति--रिवाज की दृष्टि से न्यूनाधिक प्रमाण में भिन्नता रखने वाले समाजों को देखकर तथा उन के साथ अपनी स्थिति की तुलना करने पर उन से ग्रहण करने योग्य बातें क्या २ हो सकती है, इस का निर्णय करने के लिए विभिन्न देश अथवा प्रान्तों की यात्रा करना एक बहुत बढ़ियां साधन है।........अपने देश और प्रान्तको छोड़ कर परकीय प्रान्त या देशों में कुछ दिन बिताना भी एक प्रकार की शिक्षा ही है। और इस तरह की यात्रा ओं में यदि विभिन्न प्रांत के लोगों की सामाजिक या औद्योगिक स्थिति का ध्यानपूर्वक अवलोकन किया जाय तो इस से हमारे विचारोंको एक प्रकार की भिन्न ही प्रेरणा मिल जाती है। "

मद्रास से रामेश्वर तक तिलक के साथ महाड़कर ज्योतिषी, वासुदेवराव जोशी और एक रसोइया ये तीन साथी भी रहे, किंतु रामेश्वर से महाड़कर और रसोइया दोनों वापस लौट गये, अतएव केवल तिलक और जोशी दोनों ही सीलोन तक हो गये। वापस मदुरा जाते समय मार्ग में कुंभ कोणम्, तंजोर, त्रिचनापल्ली प्रभृति नगरों में भी ये एक २ दो २ दिन ठहरे, और थोड़ी सी

बक यात्रा करके ये पांडुचेरी में भी दो तीन दिन रह आये। मद्रास प्रान्त के ऊँचे २ गोपुर विशाल एवं वैभव संपन्न हिन्दू मंदिरों को देख तिलक के धर्माभिमानी अंतःकरण पर कैसा प्रभाव पड़ा होगा इसकी कल्पना सहज ही में की जा सकती है। ये कहते हैं कि "हिन्दू धर्म और भारतीय मंदिरों के प्राचीन स्वरूप की कल्पना बिना इन संस्थाओं के देखे कोई भी नहीं कर सकता।....हिन्दू धर्म के वृद्ध एवं उसीके साथ २ समस्त हिन्दू-समाज में जो एक प्रकार का ऐक्यभाव दृष्टिगोचर होता है, उसे जीवित रखने के लिए इन साधनों को महत्वपूर्ण कौन नहीं मान सकता ?"

मद्रास प्रान्त में तंजोर का राज्य जब कायम था, उस समय व्यंकोजी महाराज के साथ गये हुए महाराष्ट्रियों ने वहीं मुकाम कर दिया था, उनके वंशज आज भी वहीं रहते हैं। फलतः मराठी राज्य की स्थापना के समय ही बसे हुए इस दक्षिण भारतीय के विषय में महाराष्ट्रीय तिलक को अभिमान होना स्वाभाविक ही था। इसी लिए ये कहते हैं कि "दो सौ वर्षोंतक भिन्न भाषाभाषी हिन्दू-समाज में रहकर भी इन लोगों ने मराठी भाषा के लिए जो अभिमान और प्रेमभाव कायम रक्खा है, वह सचमुच ही प्रशंसनीय है। और इसी बात से प्रकट हो जाता है कि भिन्न परिस्थिति में रहकर भी अपनी विशेषता बनाये रखनेका गुण महाराष्ट्रियों में पूर्ण प्रकार से विद्यमान है।" इस उपनिवेश के साथ महाराष्ट्र का सम्बन्ध दृढ़ करनेके लिए यहांके ब्राह्मणों को वहां वालों से शरीरसंबंध करनेके लिए तिलक ने इस व्याख्यान में सूचित किया था। "पंचद्रविड़ों में शरीर सम्बन्ध जब कभी होता होगा तब होता रहेगा, किंतु हमारे महाराष्ट्रीय समाज के व्यक्ति उधर जा बसे हैं, उनसे पिछला सम्बन्ध तोड़ना या उसे फिरसे शुरू करने में आनाकानी करना, अपने समाज के लिए अहित कर न होगा, यह कौन कह सकता है।"

मद्रास प्रान्त में अंगरेज़ी भाषा का प्रचार यहां की अपेक्षा उस समय भी ज़ोरों पर था। किंतु फिरभी इन लोगों की धर्मश्रद्धा एवं सनातन आचार का पालन करते रहनेके भाव को पूर्ववत् जागृत देखकर तिलक को परम सन्तोष हुआ। पांडुचेरी जैसे छोटेसे प्रान्त की पेरिसकी पार्लमेंट के लिए दो प्रतिनिधि चुन देनेका अधिकार मिला देखकर उन्होंने बतलाया कि इस प्रान्त में ब्रिटिश प्रजा की अपेक्षा कितने महत्व पूर्ण एवं विशेष राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। इसी प्रकार वहां अंगरेज़ी के बदले फ्रेंच भाषा का प्रचार देखकर भी उन्होंने कहा कि "अंगरेजी भाषा का हमारी ओर जितना प्रसार है, उससे राज्य व्यवस्था का कहांतक का संबन्ध है, वह इस उदाहरण से समझ में आ सकती है।" तिलक का यह अनुमान सत्य ही है।

उन दिनों लंका की यात्रा आजकल की तरह सुगम नहीं थी। केवल तूती-फोरिन बंदर गाट तक रेल थी, और वहांसे कोलंबो जाने में ४०-४५ घंटे लग जाते थे। अस्तु। सिंहली लोगों की सामाजिक स्थिति के विषय में वर्णन करते हुए तिलक कहते हैं कि "ईसाई मिशनरियों के तीन सौ वर्ष के सहवास किंबहुना उनके अत्याचार को जिन लोगों ने सहन किया है उनकी दशा इस तरह की होना स्वाभाविक ही है। प्रौढ़ विवाह एवं ईसाई और बौद्धों की सोयरिकी तथा जातिभेद का अभाव, अभक्ष्य भक्षण अथच अपेय पानकी स्वतंत्रता आदि सभी बातों का सुधार इन लोगों में मौजूद है। किंतु तीन सौ वर्ष में इनका धार्मिक अभिमान और आत्मभाव बिलकुल ही नष्ट हो गया है। इस आत्मभाव को पुनः जागृत करना तद्देशीय समाज-सुधार का प्रथम अंग होना चाहिये। इन दिनों सिंहली लोग भी इस बात को समझने लगे हैं कि बौद्ध धर्म का ज्ञान प्राप्त कर सामाजिक संस्था एवं रीति-रिवाजों को ईसाईयों के ढंगपर न ले जाते हुए अपनापन कायम रखना चाहिये। इसी प्रकार ईसाईयों की तरह टोपी, कोट और पजामा ही केवल न पहनकर एक बड़ा रूमाल या बड़ा कपड़ा अन्य हिन्दुओं की तरह कमरपर लपेट लेनेकी उलटी सुधारणा करने का प्रयत्न भी आजकल वे लोग कर रहे हैं"। सामाजिक विषयों की ही तरह सिंहलियों की व्यापारिक हीन स्थिति पर भी तिलक का ध्यान आकर्षित हुए बिना न रहा। यह बात उनके इन उद्गारों परसे प्रकट हो जाती है। "सारांश, कृषिकी उपज और खनिज पदार्थ दोनों ही विषय में लंका के अतिशय उपजाऊ एवं सम्पन्न होते हुए भी, सिंहली लोगों के अल्प संतुष्ट एवं आलसी होनेके कारण, अपनी सम्पत्ति का उनके लिए कुछ भी उपयोग न होकर उसे विदेशी लोग ही अपने देशों में खींच ले जाते हैं।"

सन १८६६ की लखनऊ कांग्रेस से निपटकर तिलक कलकत्ता होते हुए ब्रह्मदेश गये थे। इस पर भी वासुदेव राव जोशी उन के साथ थे। क्यों कि उन्ही दिनों प्रो. काशीनाथ पंत छत्रे की कंपनी ब्रह्मदेश को जानेवाली थी, अतएव छत्रेजीने तिलक से अपने साथ चलने के लिए प्रार्थना की। फलतः तिलक ने भी उस बात को स्वीकार कर ब्रह्मा की यात्रा करने का निश्चय कर लिया। क्यों कि कंपनी के लिए पूरा जहाज किराये पर ले लिया गया था, अतएव उस पर सब प्रकार की मनोनुकूल सुविधा भी हो गई। प्रथमतः पंद्रह दिन तक तिलक रंगून रहे, इस के बाद रेलमार्ग से मंडाले हो आये और फिर सात आठ दिन रंगून रहकर वे कलकत्ता लौट गये। ब्रह्मदेश में सर्वत्र ही भारत की विभिन्न जातियों के व्यापारी आते और वे अपने ज्ञाति एवं धर्मबन्धनों को वहां भी उत-

मीठी सुस्ती से पाजते हैं। इसी को लक्ष्य क
स्याम, सिंगापूर एवं जावा आदि दूरस्थ नगरों
के उदाहरण पर से इतना तो स्पष्ट प्रकट हो
को बनाये रखना खुद हमारे ही हाथ में होता
मान रहने पर व्यापार या अन्य किसी उद्देश्य
हमारे मार्ग में रूकावट नहीं डाल सकता।"

सामाजिक वाद-विवाद में यह तुलनात्मक प्रश्न उपस्थित होने पर कि-पहले सामाजिक सुधार होना चाहिये या राजनैतिक तिलक सदैव ही ब्रह्मदेश का उदाहरण सामने रख दिया करते थे। और इस उदाहरण के उन के चित्त में दृढ़ हो जाने का मूल कारण यह ब्रह्मदेश का प्रवास ही हुआ। अपने व्याख्यान में भी उन्होंने इस विषय में अपना विचार इन शब्दों के द्वारा व्यक्त किया था कि "जातिभेद का अभाव, धर्म स्वातंत्र्य, स्त्री शिक्षा, सब व्यवहारों के लिए स्त्री समाज को स्वतंत्रता देना, प्रौढ़ विवाह, विधवा विवाह, सम्बन्ध-विच्छेद, खानपान विषयक पूर्ण स्वतंत्रता आदि जो २ सामाजिक व्यवस्थाएँ सुधार के नाम पर की जाने के लिए भारत के कितने ही विद्वान लोग वर्षों से प्रयत्न कर रहे हैं, वे सब ब्रह्मदेश में अंगरेजी राज्य क़ायम होने से पहले ही हो चुकी थी। किन्तु इस से ब्रह्मी लोगों के पारस्परिक द्वेष में न्यूनत्व आकर स्वाभिमान यथेष्ट प्रमाण में जागृत नहीं हुआ। और अंत में उन के इस द्वैतभाव के कारण ही थीबा का राज्य नष्ट हो गया यह बात इतिहास पर से सिद्ध होती है। ऐसी दशा में उस देश के साथ अपनी समाज की तुलना करने पर यह बात सहज ही में जानी जा सकती है, राष्ट्रीय दृष्टि से समाज सुधार को कहां तक महत्व दिया जाना चाहिये। किन्हीं कारणों से ब्रह्मी लोगों को अंगरेजों की छत्र छाया में आना पड़ा हो, किन्तु फिर भी आगे के लिए अपने धर्म, देश और व्यापार के विषय में इन लोगों में जितना सचिंत भाव होना चाहिये था, वह उपरिनिर्दिष्ट इन की सामाजिक स्थिति के कितने ही लोगों के मतानुसार अनुकूल होने पर भी आज इनमें नहीं दीख पड़ता, अतएव यह स्पष्ट ही प्रकट है कि सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय उन्नति के लिए दिल की लगन इन दोनों में स्थायी कार्यक्रम संबन्ध नहीं है, बल्कि इन में विरोध भाव होने की ही विशेष संभावना है। मैं यह नहीं कहता कि समाज-सुधार न किया जाय। क्यों कि इस से गृहस्थी की कुछ कठिनाइयां दूर हो कर हमारे समाज का लाभ ही होगा, किन्तु राष्ट्रीय या औद्योगिक उन्नति बिना समाज सुधार के न हो सकने विषयक कितने ही विद्वानों का कथन ब्रह्मी और सीलोन के बौद्धों की स्थितिपर से मिथ्या सिद्ध हो जाता है। मैं ने पिछली दफा जबलपुर

उन ...ह बात कही थी। किंतु कितने ही लोगों ने उस पर से मनमानी कल्पना
...कर भ्रम उत्पन्न कर दिया, अतएव आज मुझे फिर से ये सब बातें स्पष्ट
...ब्दों मे कह देनी पड़ी हैं। देश की उन्नति या अवनति केवल समाज-सुधार
पर ही अवलंबित होने विषयक सिद्धान्त मुझे स्वीकार नहीं है। हमारे यहां पहले
भी इस विषय में वहुत भारी मत भेद उत्पन्न हो गया था, किंतु उस समय भी
कितने ही लोगों ने यही प्रतिपादन किया था कि सामाजिक सुधारणा को जितना
अधिक महत्त्व दिया जा रहा हैं वह अनुचित है। यही बात ब्रह्मदेश के उदाहरण
पर से भी सिद्ध होती है, अब यही मेरे कहने का आशय भी है। भारत का
अनुभव भी इसी प्रकार का है जो कि नेटिव ईसाईयों के समाज पर से ध्यान में
आ सकता है। स्वदेश विषयक प्रेम और पारस्परिक क्षुद्र भेद या द्वेषभाव को
भूलकर देशसेवा के लिए एकमत से काम करने की प्रवृत्ति और आदत तथा विदेशों
में जाकर नये उद्योगों का ज्ञान संपादन करने विषयक आकांक्षा, एवं अपने राष्ट्र
की विशेषता क़ायम रखने के लिए मानसिक दृढ़ता, इत्यादि गुण राष्ट्रीय उन्नति
के लिए आवश्यक होते है। किंतु ये गुण जिसकि हम अपने सामाजिक सुधार
कहते हैं-उस पर अवलंबित नहीं है, यही नही बल्कि जहां इस प्रकार की सुधा-
रणा हो चुकी है, वहां भी इन कारणों का अभाव हो सकता है, यह बात ब्रह्म-
देश की स्थिति पर से स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाती है। इन सब बातों को देखते
रहने पर भी हमारे कुछ भाइयों ने सामाजिक सुधार को ही सर्वोच्च स्थान देने
का जो प्रयत्न शुरू कर रक्खा है उसे भ्रमयुक्त कहने के लिए बाधा होना पड़ता
है। राष्ट्रीय उन्नति के लिए आवश्यक गुण भिन्न हैं, और उन्हें जागृत रखने के
लिए भी भिन्न २ दिशा ओं से ही प्रयत्न करने पड़ते हैं। अतएव यदि सचमुच
ही हमें भारत की उन्नति करना हो तो इन्हीं बातों की ओर हमें सब से पहले
ध्यान देना चाहिये। कितने ही अंगरेजी ग्रंथकारों ने भारतवासियों को उपदेश
किया है कि वे सामाजिक सुधार की ओर विशेष रूप से ध्यान दें, क्यों कि विना
सामाजिक सुधार हुए वे राजनैतिक अधिकारों के लिए कभी योग्य नहीं कहे जा
सकते! किंतु ब्रह्मदेश की जनता को कहांतक के राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए हैं,
इसे बिना अच्छी तरह जाने इस उपदेश की यथार्थता का अनुमान हर एक
मनुष्य लगा सकता है। बंगाली बाबुओं को राजनैतिक अधिकार न देने के
विषय में तो अंगरेज़ अधिकारी यह कारण बतलाते हैं कि, वे शूरवीर और सिपा-
हियाना ढंग के नहीं हैं। किंतु जब उनसे सिक्ख, मराठे या रजपूत आदि को
यह अधिकार देने के लिए कहा जाता है तो वे कैसे एकदम मौन धारण कर लेते
है, इसे सब जानते ही हैं। सामाजिक सुधार का महत्त्व एवं तत्संबन्धी उपदेश
भी इसी प्रकार का है, यह हमें भूल न जाना चाहिये।"

क्यों कि तिलक की इस विचार सरणी का कितने ही लोगों ने विपर्यास कर डाला है; अतएव उनके इस विषय के उद्गार ख़ास तौर पर इतने विस्तार के साथ दिये गये हैं। ब्रह्मदेश की राजनैतिक परिस्थिति में भी तिलक को भारत के राज्य कारोबार का प्रतिबिम्ब दिखाई दिया था। वे कहते हैं कि "थीबों का राज्य लेते समय अंग्रेज़ोंने यह घोषणा की थी कि, जमीन के अधिकार पूर्ववत् ही क़ायम रखे जायँगे। किन्तु अब तो वहां भी धर्मादाय अथवा माफ़ी-इनामी ज़मीन ज़ब्त करने और नक़द वर्षासन बन्द कर देने की कार्यवाही जोरों पर शुरू है। सारांश यह कि वहां भारत की निश्चित राज्य पद्धति ही शुरू कर दी गई है। फलतः इस के परिणाम का अनुभव कुछ समय बाद हो सकेगा।"

ब्रह्मदेश के बड़े २ घंटा युक्त एवं सोनेसे मढ़े हुए राजमहल, तथा मद्रास की ओर के भव्य मंदिर और राजपथ, तंजौर का महान् पुस्तकालय इत्यादि वस्तुएँ भी तिलक ने इस यात्रा में देखी थीं। किन्तु मुख्यतः उन का लक्ष किन २ बातों की ओर था, इस का पता उक्त उद्धरणों पर से लग सकता है, और तिलकने अपनी अन्यान्य यात्रा ओं का वर्णन जो भी इन यात्रा ओं की तरह लिखा या व्याख्यान के रूप में बतलाया भले ही न हो, किन्तु फिर भी यह अनुमान सहज ही में लगाया जा सकता है कि उनकी दृष्टि प्रत्येक बार इसी तरह चौकस रही होगी। विभिन्न स्थान के विद्वानों से संभाषण कर के तथा उन २ देशों के विषय में अपनी धारणा उन के सामने उपस्थित कर उन का अभिमत जानने के लिए तिलक सदैव तैयार रहते थे। इस तरह के संभाषण उन्होंने सुशिक्षित मद्रासी एवं सिंहली और ब्राह्मी लोगों के साथ भी किये थे। इसी लिए इस विषय में उनके अनुमान मिथ्या सिद्ध होने की कोई संभावना नहीं थी।

अस्तु। तिलक को छह महिने पहले छोड़ देने पर एँग्लो इन्डियनों का जी बेतरह दुःखित हुआ। क्यों कि उन में से कितने ही यहां तक बतला चुके थे कि तिलक का राजद्रोह और चाफेकर की की हुई हत्या दोनों ही लगभग एकसी बातें हैं। किन्तु एक पत्र ने तो गोखले को भी इसी श्रेणि में बिठाकर उन के माफ़ी मांगलेने पर भी, उन के सोल्जरों पर लगाये हुए आरोप को उसने तिलक के राजद्रोह एवं चाफेकर की हत्या के ही समान सदोष सिद्ध किया था। ग्लोब नामक पत्र ने यह लिखा कि "तिलक और गोखले जैसे लोग जब राष्ट्रीय सभा में उपस्थित हो सकते हैं, तो इसी पर से प्रकट हो जाता है कि यह सभा किस प्रकारकी होगी! बेचारे चाफेकर बंधु इस सभा में उपस्थित न रह सके, यही एक दुर्भाग्य की बात हुई! किंतु चाफेकर बन्धुओं की अनुपस्थिति का दुःख तिलक और गोखले के वहां मौजूद रहनेसे ज्यों त्यों करके सभाने सहन कर

लिया। " यह आलोचना प्रकट भी न हो पाती है कि तबतक पूने में फिर कुछ हत्याएँ हो जाती हैं। इस पर टाइम्स आदि पत्रों के सामने हत्याकाण्ड के षडयंत्र का भूत फिर आ खड़ा होता है। ये दूसरी बार की हत्याएँ द्रविड-बन्धुओं की थीं, और इसमें हत्याकारी के नाते चाफेकरों में से कनिष्ठ वन्धु वासुदेव पकड़ा गया था, साथ ही बिचला भाई बाळकृष्ण भी उन्हीं दिनों गिरफ्तार हुआ था। सन १८९९ की जनवरी के तीसरे सप्ताह में बाळकृष्ण पर अपराध सिद्ध किया जाकर फर्वरी में अभियोग सेशन सुपुर्द होनेवाला था। इसी बीच तिलक भी दक्षिण भारत की यात्रा समाप्त कर पूना लौट आये। यद्यपि अभी तक उन्होंने केसरी का डिक्लेरेशन अपने नाम से नहीं किया था, किंतु फिर भी अपनी पद्धति के अनुसार किसी नये विषय की योजना करके ही वे केसरी में लिखना चाहते थे। इधर तबतक यह द्रविड़-बन्धुओं की हत्या का विघ्न आ उपस्थित होनेसे, तिलक को समय के पूर्व छोड़ देने का जो विषय एँग्लो इंडियन पत्रों के जी में उथल पुथल मचा रहा था उसे उगलने की उन्होंने शुरूआत की। पहले ही की तरह इस हत्या विषयक सन्देह का निराकरण भी परस्पर ही होगया। किंतु तिलक के नाम और पूना के हत्याकांड की श्रृंखला किसी न किसी तरह जोड़ने के लिए उन्हें कुछ दिन का मौका मिल गया। आगे चलकर इसी परसे 'ग्लोब' पत्रपर अभियोग चलाने की बारी आई, अतएव इस दूसरी बार की हत्या वर्णन संक्षेप में कर देना आवश्यक जान पड़ता है।

रेण्ड की हत्या चाफेकर बन्धुओं के द्वारा होने की असली खबर उन्हीं के मित्र और लँगोटिये यार द्रविड़ बन्धुओं ने सरकार को सुनाई थी। चाफेकर और द्रविड़ बन्धु ये सब पूना के सदाशिव पेठ में बहुत ही थोड़े २ अंतर पर रहते थे। और एक दूसरे के चालचलन एवं रंग ढंग से भली भांति परिचित थे। हां तो यह खबर देते समय द्रविड़ बन्धुओं में से छोटा भाई गणेश जाली कागज़ात तैयार करने के अपराध में जेल भोग रहा था। फलतः बड़े भाई के संवाद परसे दामोदर चाफेकर के पकड़े जाने एवं उस पर अभियोग चलाया जाकर फाँसी की सजा हो जाने पर सरकार ने गणेश को क्षमा करके छोड़ दिया। और हत्यारे का पता लगाने के लिए घोषणा किये हुए बीस हजार के इनाम में से दस हजार रुपये भी उसे सरकारने दे दिये थे। किन्तु द्रविड़ को इस आधे इनाम पर संतोष नहीं हुआ। संभव है कि सरकार का इरादा चाफेकरों में से तीसरे भाई को पकड़कर फाँसी दे डालने के बाद इस शेष आधे इनाम को देने का हो। किन्तु द्रविड़ बन्धु तब तक कैसे सब्र कर सकते थे? फलतः उन्होंने खुल्लम् खुल्ला एडवोकेट प्रभृति पत्रों द्वारा यह शिकायत शुरू की कि 'मेरे दिये

झूठ संवाद पर से ही दामोदर पकड़ लिये जाने पर यदि बालकृष्ण भाग गया तो इस के लिए दोषी पुलिस ही हो सकती है, मेरा इस में कोई दोष नहीं है। इनाम की शर्तों के मुताबिक मैं ने पता दिया और वह सच्चा भी निकला तो फिर इसी दम मुझे इनाम का पूरा रुपया मिल जाना चाहिये।" सिवाय इस के उन दस हज़ार रुपयों में से इन्कम टेक्स के भी २६० रुपये सरकारने काट लिये थे, अतएव इन रुपयों के विषय में भी उन्होंने झगड़ा मचाया। इस पर ता. ७ फर्वरी सन १८६६ के केसरी ने सरकार के कंजूसपन की खिल्ली उड़ाते हुए द्रविड़ बन्धु ओं की तरफदारी की। किंतु उधर द्रविड़ की बतलाई हुई बातें सप्रमाण प्रकाशित कर देने के लिए भी उन्होंने सरकार को प्रजा के प्रति जवाबदार बतलाया। इस आलोचना में एक वाक्य यह भी था कि "सरकार को जिस प्रकार द्रविड़ के सामने अपने कृत्योंके लिए जबाब देना चाहिये।" किंतु इसके केवल 'द्रविड़ के सामने अपने कृत्यों का जबाब देना चाहिये,' इन्हीं शब्दों को तिलक के किसी शत्रुने याद रक्खा था; किम्बहुना अगले सप्ताह में द्रविड़ बन्धु की हत्या होते ही उसे ये शब्द स्मरण हो आये हों। यद्यपी दामोदर के अभियोग में द्रविड़ गवाह बनकर खड़ा हुआ था, किंतु फिर भी बयान में यह बात कहीं भी प्रकट न हो सकी कि उसने क्या २ पता दिया; और किस तरह से दिया था। पर सरकार को उस की बात पर विश्वास हो गया। अतएव अब केवल यही प्रश्न हल होना रह गया था की शेष दस हज़ार रुपये किसे दिये जायें। क्यों कि मुइनसाहब ये शेष दस हज़ार रुपये द्रविड़ को दिलवाना पसंद नहीं करते थे, अतएव इसी सप्ताह में द्रविड़ के साथ मुइन साहब का ज़ोरों का झगड़ा भी हुआ। किंतु वह इनाम तो न जाने कहां रह गया और द्रविड़ बन्धु ओं को प्राणों से भी हाथ धो बैठना पड़ा। वह घटना इस प्रकार है।

ता. ८ फर्वरी सन १८६६ की रात को दस बजे के लगभग द्रविड़ बन्धु के दर्वाज़े पर किन्हीं दो आदमियोंने आकर हिंदी भाषा में कहा कि 'चलो तुम्हें मुइन साहब ने बुलाया है।' तत्काल ही वे हवेली से उतर कर इन के साथ हो लिये। ये चारों आदमी मिलकर खुन्या मुरलीधर के मंदिर पर से मंडलिक के मकान के कोने की ओर घूमे ही थे कि इतने में दिरतौल की आवाज़ होकर 'खून, खून, पुलिस, पुलिस' की ज़ोरों से पुकार मच गई। दोनों ही द्रविड़ बन्धु गोली खाकर ज़ख़्मी हो चुके थे, और दूसरे दिन अस्पताल में वे मर भी गये। उन हत्यारों में से एक पेरु के गेट की ओर तथा दूसरा नागनाथ के चबूतरे की तरफ भाग गया। पुलिसने रात में ही शहर के चारों ओर नाके बन्दी कर ली, और स्टेशन के भी सभी मुसाफिरों की जांच की। रात में ही यह ख़बर शहर भर में

फैल गई। इस तरह बीस महिने पूर्व गणेशखिंड में होने वाले हत्याकांड की प्रतिध्वनि सुन्या मुर्लीधर के कोने पर प्रकट हुई। और फिर एक वार लोगों के दृष्टि पथ में, पकड़-धकड़, और अतिरिक्त पुलिस का भयानक चित्र उपस्थित हो गया। दूसरे ही दिन इस हत्या का समाचार विलायत भी पहुँच गया, और वहां के पत्र फिर आलोचनाओं की बौछार करने लगे। इधर पुलिस की जांच शुरू हुई और संदेह में चाफेकर का छोटा भाई वासुदेव तथा उस के कोई रानडे और साठे नाम के दो साथी फरास खाने (पुलिस--दफ्तर) में हाजिर किये गये। वहां प्रश्नोत्तर होता रहने की दशा में फौजदार रामजी पांडु ने वासुदेव से कुछ ओछे शब्द कहे। तत्काल ही उसने अपने कपड़ों में छुपाकर रखा हुआ छह वारकी पिस्तोल निकालकर पहले रामजी पांडु पर और दूसरी वार ब्रुइन साहव पर चलाया, किंतु दूसरे आदमियों ने झपटकर वासुदेव के हाथ में से पिस्तोल छीन लिया, और उसे हथकड़ियां पहना दीं। थोड़ी ही देरके वाद वासुदेव और रानडे ने अपनी इच्छा से ही स्वीकार करलिया कि द्रविड़ वन्धुओं की हत्या करने वाले हम दोनों ही है। साथ ही वासुदेव ने यह भी कहा कि कल मेरे भाई वाळकृष्ण के विरुद्ध मुझे गवाही देनी पड़ेगी, इसकी अपेक्षा मेरा ही मर जाना क्या बुरा है? इसी विचार से पहले मैं तुम सब को मार कर फिर अपनी भी हत्या करने का इरादा रखता था। मतलव यह कि इस तरह अनायास ही द्रविड़ वन्धुओं की हत्या का पता लग कर पुलीस के भाग्य से हत्या करने वाले अपने पैरो आकर ही फरास खाने में कैद होगये। किंतु हमारे पूर्व कथनानुसार इस प्रकार एक हत्या के वाद दूसरी हत्या हो जाने से अंगरेजी पत्रों ने षड्यंत्र की कल्पना का घोड़ा फिर नचाना शुरू कर दिया। ता. ७ फर्वरी वाले केसरी के इन शब्दों को लेकर कि 'द्रविड़ों को उनके कृत्य का जवाब दिया जाना चाहिये' उन पत्रों ने दूसरे ही दिन से यह युक्तिवाद लड़ाना शुरू किया कि, इस हत्याकाण्ड के लिए केसरी ने एक दिन पहले अपने लेखों से हत्याकारियों को उकसाया है। किंतु इस कल्पना के लिए हत्याकारी उभय चाफेकर अथवा रानड़े या साठे किसी के बयान पर से या अन्य किसी रूप में भी कोई प्रमाण न मिल सका। और न उसके मिलने की संभावना ही थी। अंततः बाळकृष्ण, वासुदेव और रानडे इन तीनों को ता. १३ मार्च के दिन फाँसी की सजा दी गई, जिसे कि उन्होंनें बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वीकार किया, और साथ ही यह भी कह दिया कि 'यदि अगले जन्म की सजा भी अभी दे डालें तो बड़ा अच्छा होगा'।

इन्ही वातों को लक्ष्य करके 'मराठा' पत्र में वासुदेव और रानडे को साहसी एवं धैर्य्यवान के विशेषण दिये गये थे, अतः केवल इसी आधार को लेकर अंग-

टेढ़ी पत्रों ने फिर तिलक पर टेढ़ी-मेढ़ी टीका-टिप्पणी शुरू कर दी। बंबई के चेम्पियन पत्र ने भी इस बार 'काल' नामक पत्र में छपे हुए कुछ लेखों से चिढ़कर इस बात के लिए अनुरोध किया कि तिलक इस प्रकार के लेखों का प्रकट रूप से निषेध कर दें। किंतु यह अकारण उत्तर दायित्व वे क्यों अपने सिर लेने लगे? 'प्राप्तौ निषेधः' वाले उक्ति के अनुसार यह अनुरोध सहज ही में टाल दिया गया। किंतु अंगरेजी पत्रों और 'रास्त गुफ्तार' आदि 'जी हुजूर' कहने वाले पत्रों ने 'केसरी' और 'काल' के पीछे चढ़ंगा लगा ही रक्खा। किन्तु फिर भी 'काल' के निषेध की तो बात ही क्या, पर केसरी ने भी अन्य लोगों की तरह वासुदेव आदि नवयुवकों के धैर्य को असाधारण ही बतलाया। इसी प्रकार बम्बई की कांग्रेस कमेटी की ओर से यह प्रस्ताव किया जाने पर कि राष्ट्रीय सभा से 'काल' पत्र का बहिष्कार कर दिया जाय, कुछ अत्याचार व्यक्तियों की सहानुभूति भी विरुद्ध दिशा में घूमने लगी। इसी वर्ष के मई महिने में पूना शहर में महारानी विक्टोरिया का जो दर्बार हुआ, उस में पोलिटीकल एजंट आस्टन साहबने इस विषय को लेकर कि 'कुलीन वंश के नवयुवक हत्या क्यों करते है,' अच्छी तरह चर्चा की, और इस की सारी जवाबदारी उन्होंने समाचार पत्रोंपर डाली, अतएव मामला एकदम बेढंगा हो कर व्यर्थ की जवाबदारी का यह झगड़ा पानी से भी पतला हो चला।

क्यों कि तिलक को समय से पहले छोड़ते ही पूने में फिर हत्याकाण्ड हो जाने की बात ऍंग्लो इंडियनों के दिल में खटक ही रही थी अतएव उन्हें टेढ़ी मेढ़ीटीका-टिप्पणी करते हुए इस हत्याकांड से तिलक का सम्बन्ध जोड़कर वाहवाही लूटनी थी। सन १८६६ के अंत में जब बम्बई के गवर्नर की बदली होने का समय आया तो लार्ड सेन्डहर्स्ट के स्थानपर लार्ड नार्थकोट के भेजे जाने का निश्चय हुआ। किंतु नया गवर्नर भारत आने से पूर्व विलायत में ही अपने मत प्रकट कर दिया करता है, और विलायती पत्र भी उस का गौरव कर के मनमाना उपदेश दे डालते है। इसी नियमानुसार लार्ड नार्थकोट को भी विलायत के कई पत्रों ने उपदेश किया; किंतु उन में से कंजर्वेटिव दल पत्र 'ग्लोब, के ता. २८ अक्टूबर सन १८६६ के अंक में पूना के आन्दोलन पर विशेष जोर दिया गया। उस ने लिखा कि "बम्बई प्रान्त में राजद्रोही पार्टियों के जगह २ पर बाल से बिछ रहे हैं। और जो भी उस के नेता तिलक को जेल भेज देने के बाद से आन्दोलन ठंढा पड़ गया हो, तथापि वह दबी हुई आग के समान है। कदाचित् तिलक द्वारा शुरू न की हुई किंतु उन्हीं के तंत्रानुसार चलती हुई यह खूनी मुहिम अब सर्व साधारण के सामने प्रकट हो गई है, अतएव इन गोडबोले

(मृदुभाषी) ब्राह्मणों पर—जो कि फिर से मराठा राज्य के स्थापित हो सकने की आशा किये हुए हैं—नये गवर्नर को न केवल अविश्वास ही करना चाहिये, बल्कि पूरी २ नज़र भी रखनी चाहिये।" फलतः 'ग्लोब' के इस उद्धरण को विलायती लोकमत के रूप में जब बम्बई के टाइम्स पत्र ने ता. १८ नवम्बर सन १८९९ के अंक में उद्धृत किया, तो बड़ी खलभली मचगई और तत्काल ही तिलक ने टाइम्स पर मानहानि का दावा करने का निश्चय किया। यहां तक कि ता. २३ नवम्बर के दिन बम्बई चीफ प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट की अदालत में दावा भी दायर हो गया। इस कार्य में तिलक ने मा. मेहता को अपना वकील बनाया था, किंतु 'चेम्पियन बनाम केसरी और काल' के रूप में जो विवाद उठ खड़ा हुआ था उसकी दृष्टि से विचार करने पर मा. मेहता की ओर से वकालत नामा मंजूर कर लिया जाना एक बड़ी खूबी की बात थी। क्यों कि मजिस्ट्रेट मि. स्लेटर एक भोले या नासमझ आदमी थे, अतएव उन्होंने मा. मेहता से प्रश्न किया कि 'तिलक पर राजद्रोह का अभियोग चल चुका है न' मेहता ने इसे तिलक के अभियोग में खुद एडवोकेट जनरल की कुशलियत का हवाला देकर जहां का तहां समाप्त कर दिया। यहां पर स्मरणीय विषय केवल इतना ही है कि राजद्रोह और हत्या-कांड में मानों कुछ अंतर ही नहीं है, इस प्रकार की भोली समझ रखने वाले लोग उस समय कैसी २ बातें मुँह से निकाल दिया करते थे, वह इस ऊपर के उदाहरण से समझ लिया जाय।

हाँ, तो क्यों कि अपमान कारक लेख छापकर पीछे से माफ़ी मांग लेने में अंगरेजों को कुछ भी कठिनाई प्रतीत नहीं होती। क्यों कि उन्होंने माफ़ी को एक मामूली काम बना लिया है। अतएव उनके लिए यह कार्य बड़ा सरल हो गया है। फलतः दावा दायर होनेकी ख़बर पाते ही समन्स की प्रतीक्षा तक भी न करके दूसरे ही दिन टाइम्स ने माफी मांगली। उसमें लिखा गया था कि 'सम्पादक की अनुपस्थिति में वह लेखांश छप गया है, यदि पहलेसे दृष्टिगोचर हो जाता तो वह हटा दिया जाता। इस विषय में 'ग्लोब' से हम सहमत नहीं हैं। क्यों कि वे सब बातें अन्याय पूर्ण एवं निराधार हैं, अतएव उनके छपजाने पर हमें हृदय से खेद होता है'। किंतु फिरभी ता. ८ दिसंबर को मामले की पेशी हुई, और वहां भी पुनः टाइम्स के बैरिष्टर ने उसी माफी के लेखांश को विस्तार पूर्वक दुहराया, और इसे सम्पादक की पहली भूल बतलाकर अभियोग हटा लेने के लिए प्रार्थना की। इसके विरुद्ध मा. मेहता ने यह कहा कि 'तिलक के विरुद्ध इस तरह की जहरीली आलोचना की मुहिम शुरू होजाने से उन्हें किसी न किसी रूप में इस विवाद का अंतिम निर्णय कराना ही था। इसी लिए यह

अभियोग चलाया गया है, और आवश्यकता पड़ने पर ज़िरह के लिए वे खुद भी अदालत में हाजिर हुए हैं। उन्हें अदालत शपथ-बद्ध करके जो कुछ पूछना हो खुशी से पूछ सकती हैं, और वे भी अपनी शंकाओं का समाधान कर सकते हैं। किंतु यह टट्टीकी ओर से होनेवाली शिकार अब आगेके लिए एकदम ही बंद हो जानी चाहिये'। इस चेलेंज किसी ने भी स्वीकार नहीं किया। और मजिस्ट्रेट ने बिना तिलक के बयान लिये ही दोनों पक्षों को भलाई देकर अपनी ओर से आनंद प्रदर्शित करते हुए, मामला उठा लेने की आज्ञा दे दी।

इस तरह तिलक का दुय्यम अपराधी क्षमा मांगकर जो भी छूट गया हो, किंतु फिरभी ख़ास अपराधी 'ग्लोब' की ख़बर लेना अभी बाकी ही था। लेकिन क्योंकि वह पत्र विलायत में था, और वहां बाकायदा मुकदमा चलाने के लिए बहुत ही बड़ी रकम की जरूरत थी, इसी लिए यह काम तिलक तत्काल ही न कर सके। आरंभ में 'ग्लोब' पत्र को नोटिस दिया गया। किन्तु उसकी नामको भी पर्वाह न करके उसने माफी मांगने से इन्कार कर दिया। अंततः बम्बई के सालिसिटर हरि सीताराम दीक्षित के द्वारा लंदन सालिसिटर हरोल्ड और डाउनर को वकालत नामा देकर लंदन हाई कोर्ट में 'ग्लोब' पर अभियोग चलाने की शुरूआत हुई। क्योंकि यह काम बड़े ख़र्चे का था, किंतु फिरभी इसके लिए नया फंड इकट्ठा करना अनुचित प्रतीत होने से वैसा नहीं किया गया। क्योंकि पिछले तिलक फंड का कुछ रुपया बचा हुआ था, और उसका इस काम में ख़र्च किया जाना अनुचित नहीं कहा जा सकता था, अतएव फंड के संयोजकों में से डॉ. देशमुख ने जो कि फंड कमेटी के अध्यक्ष थे, इस आशय का एक सर्क्यूलर निकालकर फंड कमेटी के सदस्यों से मंजूरी लेली। क्योंकि कमेटी को फंडकी रकम इस अभियोग में ख़र्च करना सब तरह उचित जान पड़ा, साथ ही उसे यह भी आशा थी कि मामले का फैसला तिलक के अनुकूल होने पर हर्जाने के रूप में ग्लोब पत्र से जो बहुत बड़ी रकम मिलेगी वह फिर इसी फंड में जमा करली जायगी। तिलक के नाम ता. ३० मार्च के पत्र में लंदन का सालिसिटर लिखता है कि "ग्लोबकी ओरसे एक बहुत बड़ा बैरिस्टर आनेवाला है, अतएव तुम्हारी ओर से भी वैसा ही मशहूर बैरिस्टर खड़ा किया जाना चाहिये। मि. एस्क्विथ एक बहुत बड़े मुत्सद्दी हैं सही, किन्तु वे कोई मशहूर वकील नहीं कहे जा सकते। इस लिए सर एडवर्ड क्लार्क, मि. कार्सन, सर राबर्ट रीड, लॉसन वाल्टन, इनमें से जो मिल सके उसी को खड़ा करना चाहिये। किंतु इसके लिए रुपयों का भरपूर इंतिजाम होना चाहिये। हजारों रुपये लगने की संभावना है। क्योंकि केवल खुलासा पढ़ने ही के हजारों रुपये ले लिये जाते हैं। तिलक ने

क्षमा प्रार्थना के ही साथ २ हर्जा के रूप में अपने लिए कुछ न लेकर जो कुछ मिले उसे किसी धर्म कार्य में लगा देने का निश्चय किया है। किंतु यह बेहद उदारता कही जा सकती है ! ऐसा न होना चाहिये। कमसे कम पहले तो व्यक्तिशः हर्जाने के रूप में कुछ बड़ी रकम माँगनी ही चाहिये'। इस तरह सब तैयारी हो गई किन्तु अभियोगी के रूप में स्वतः तिलक का बयान होने के लिए उनका विलायत्त जाना आवश्यक था, और तिलक ने भी विलायत जाने की सब तैयारी करली थी। किन्तु अंत में जाकर मामला इस हद्दतक न पहुँच सका। क्यों कि ग्लोब पत्र ने पहले तो तिलक के नोटिस की पर्वाह नहीं की, किन्तु फिर जब उसे वकीलों की ओर से इसी तरह की सलाह दी गई, तब उसने माफी माँगना स्वीकार किया। अर्थात् अब उसका यह उद्दंडता पूर्ण उत्तर क़ायम न रह सका कि 'यदि हम पर अभियोग सिद्ध हो गया तो अवश्य हम मुँह मांगा हर्जाना दे सकेंगे, किंतु जब हम ने कोई अपराध ही नहीं किया, तो फिर माफी किस बातकी मांगे, और धर्मार्थ जुर्माना भी क्यों दें ?' ता. २८ जून सन १९०० ई. के दिन जब लंदन हाई कोर्ट में दावा दायर किया जाकर ७५००० रुपये हर्जाने के रूप में मांगे गये। तब तिलक से 'ग्लोब' वालों ने सौ पौंड की जनामत ख़र्चे के लिए दाख़िल करवाई, और सुबूत इकट्ठा करने के लिए नवम्बर तक की मुद्दत मांगी। किन्तु इस तरह की बातों के लिए सुबूत मिल ही कहांसे सकता था ? यदि सुबूत ही मिल सकता तो टाइम्स क्यों माफी मांगने को तैयार होता ? और सरकार ने भी तिलक पर हत्या का षड़यंत्र का अभियोग चलाना छोड़कर केवल राजद्रोह के ही आरोप से क्यों काम निकाला होता ?

फलतः सुबूत के विषय में निराशा हो जाने पर ग्लोब ने प्रथमतः यह कह कर कि 'केवल ख़र्चा देता हूं मामला उठा लीजिये' इस के बाद 'खर्च के अलावा पचास पौंड जुर्माना देने' और अंत में 'खर्च एवं जुर्माना देने के साथ ही माफी' माँगना स्वीकार कर अभियोग उठालेने की प्रार्थना की। इधर यह भी निश्चय हुआ कि माफी की शर्तें तिलक ही निश्चित करें। किंतु प्रतिपक्षी को यहां तक लज्जित करने का अप्रिय कार्य तिलक ने अपने ऊपर नहीं लिया। फलतः तिलक के सलाह कारों ने ही अपनी मर्ज़ी से वह काम कर लिया। तिलक के सालिसीटरों ने ग्लोब के सालिसीटर को लिखा कि "हमने माफी का जो मसौदा भेजा है, वह बिलकुल ग़ैरवाज़िब नहीं है, क्यों कि यदि तिलक ने अपनी मर्जी से उसे लिखा होता तो वह और भी व्यापक शब्दों में लिखा जाता। किंतु वे ग्लोब-संपादक को इतना अधिक लज्जित करना नहीं चाहते। फिर भी उनकी यह इच्छा अवश्य है और उन्होंने सम्पादक महाशय को सूचित करने के लिए

लिखा भी है कि भारत सम्बन्धी लेख लिखने वाले विलायती पत्र संपादकों के उद्देश्य भले ही अच्छे हों किन्तु उन्हें अब से आगे के लिए पूरी २ जानकारी प्राप्त करने के बाद ही इस विषय में क़लम उठाने की सावधानी रखनी चाहिये।" ग्लोब की यह माफी ता. २४ नवंबर सन १६०० के अंक में अग्रलेख के सामने पाठ्य विषय के स्थान पर छापी गई। और इस तरह यह मामला ख़तम हुआ। क्यों कि पूने के ब्राह्मण मात्र को राजद्रोही और हत्याकारी समझ कर उन पर मनमानी टीका-टिप्पणी करने की जो आदत अंगरेजोंको पड़ रही थी, उसकी रोक किसी न किसी के द्वारा अवश्य होनी चाहिये थी; अतएव पूना के प्रमुख ब्राह्मण को इस तरह अदालत में खड़े होकर उन के मार्ग में रुकावट डालने का मौक़ा मिला, यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ। किसी का कहना यह भी है कि जब ग्लोब की इस माफी की ख़बर न्या. रानडे ने सुनी, उस समय उनके पास अनुयाई वर्ग के कितने ही व्यक्ति बैठे हुए थे। उन्हीं को सम्बोधन कर के ये कहा कि "यह देखो तिलक का उदाहरण। वैसे उन का स्वभाव कैसा ही क्यों न हो, किंतु किसी काम को हाथ में लेने के बाद निश्चय पूर्वक उसे समाप्त किया बिना वे कभी पीछे नहीं हटते, और इस के लिए हर एक प्रकार के कष्ट उठाने को तैयार रहना, यह उन का एक अनुकरणीय गुण है। मुझे कहना पड़ता है कि यह गुण हमारे पक्ष के लोगों में जितना कि होना चाहिये, उतना नहीं पाया जाता।"

अस्तु। कहना न होगा कि तिलक को यदि किसी अंत में शांति पूर्वक दिन बिताने का अवसर मिला हो तो वह केवल सन १८६८ और ६६ इन दो वर्षों में ही। क्यों कि इस के बाद सन १६०१ से अपने अंत समय तक वे ताई महाराज के ही झगड़े में फँसे रहे, और ऐसे फँसे कि वे अंत तक बाहर निकल न सके। इस चक्र के पहले ही धक्के ने उन्हें एकदम ज़मीन दोस्त करने का मौक़ा ला दिया था, किंतु फिर वे फौजदारी मुकद्दमें में निर्दोष सिद्ध होकर छूट गये। इस के बाद तो छोटी अदालत से लगाकर ठेठ प्रीव्ही कौंसिल तक के सभी दीवानी दावों में वे बराबर जीतते गये। इस विषय की अंतिम विजय उन्हें अपनी आखिरी बीमारी में मृत्यु से एक दिन पहले प्राप्त की थी। लगभग इक्कीस वर्ष उन के पीछे इस ताई महाराज के मामले की चिंता लगी रही। और इस चिंताने उन के रक्त को यहां तक सुखा दिया कि जिससे यदि उनकी जीवन मर्यादा चारपांच वर्ष घट गई कह दी जाए तो भी अनुचित न होगा। इसी प्रकार सन १६०२-३ में लार्ड कर्ज़न के बंग-विच्छेद के कारण जिस अभूत पूर्व एवं प्रचंड आन्दोलन का आरंभ हुआ उस में पहले तो उन्हें प्रान्तिक नेता का ही सम्मान प्राप्त हुआ, किंतु फिर शीघ्र ही वे इस आन्दोलन में समग्र भारत के एक

प्रधान नेता बन गये। यह सम्मान आमरण उन्हें प्राप्त रहा। यही नहीं बल्कि वह यथाक्रम बढ़ताही गया। इन दो उद्योगों में लगे रहने के कारण तिलक को आगे कभी शांति नहीं मिली। इसी लिए इस स्थान पर उस पूर्व कालीन गार्हस्थिक समस्या का थोड़ासा वर्णन दिया जा रहा है।

हाँ, तो सन १८६१ से १८६६ तक तिलक सदाशिव पेठ में श्रीमंत सरदार विंचूरकर के बाड़े में रहे, श्रीमंत बालासाहब विंचूरकर तिलक के विषय में अत्यंत आदर भाव रखते थे। और तिलक ने भी विंचूरकर को सलाह मस्लत देने एवं क़ानूनी हवाल निकालने तथा समय २ पर अर्ज़ियां लिख देने के काम से पूरी २ सहायता दी। यही कारण था कि सरदार विंचूरकर ने स्वेच्छा से ही मकान छोड़कर चले जाने तक तिलक से कभी इस विषय में चर्चा भी नहीं की। यही नहीं बल्कि धीरे २ पूरा बाड़ा ही उन्हों ने तिलक को उपयोग में लाने के लिए सौंप दिया। भट्ट के बाड़े में से बदलकर यहीं तिलक ने अपना लॉ-क्लास भी रक्खा था। क्यौं कि इस बाड़े में आगे पीछे दोनों ही ओर बड़े २ आँगन, हौज और बगीचे आदि की सुविधा थी। अतएव गणपति उत्सव का समारंभ, सभा, व्याख्यान, भजन मंडली के गानवाद्य, सभी इस बाड़े में हो सकते थे। सन १८६७ तक प्रेमपरिचय रखने वाले छोटे-बड़े राजा-महाराजा भी समय २ पर तिलक के यहां मेहमान बनकर उतरते रहे। क्यौं कि उन्हें बराबरी के कायदा कौंसिलर अथवा सरकार को अभी विशेष अप्रिय प्रतीत न होने वाले महाराष्ट्र के प्रतिष्ठित नेता के रूप में तिलक का संसर्ग उस दिनों में विशेष रूप से भूषणास्पद ही जान पड़ता था। किन्तु इस के बाद यह कहने की आवश्यकता ही नहीं रहजाती कि सन १८६७ से मामला एकदम ही बदल गया। इस बाड़े में ऐसा मौक़ा शायद ही कभी आया होगा कि जब यहां मनुष्यों का आवा गमन या समारोह न हुआ हो। सन १८६१ से १८६७ तक तो केसरी का ऑफिस आर्यभूषण प्रेस में ही रहा, अतएव घर पर उस की कुछ भी गड़बड़ न रही। किन्तु मुकद्दमें के बाद केसरी का ऑफिस स्वतंत्र रूप से धोंडोपंत को इसी बाड़े में खोलना पड़ा। कुछ ही दिन बाद यह स्थान अपर्याप्त प्रतीत होने लगा, अतएव गायकवाड़ बाड़ा खरीदा जाने तक सदाशिव पेठ के हौज के निकट कोने पर 'गांधी' महाशय के मक़ान में केसरी का ऑफिस रखा गया था। लेकिन क्यौं कि केसरी की छपाई का काम अभी बाहर ही होता था अतएव दफ्तर का स्वरूप बहुत बड़ा हुआ न था। संपादकों मेंसे केलकर और खाडिलकर तथा मुख्य प्रबंधक धोंडोपंत विध्वंस एवं दो तीन क्लार्क मिलाकर पांच सात व्यक्तियों का यह छोटासा कार्यालय था। मौक़ा पड़ने पर तिलक यहीं आकर केसरी आदि के लेख डिक्टेट

करा देते थे। रुपये पैसे की व्यवस्था उस समय उतनी अधिक कुछ थी ही नहीं फिर भी अब तक चित्रशाला ही तिलक के लिए बैंक की तरह सारा लेन देन का काम करती थी। किंतु नया कॉफिस खुलते ही यह काम यहाँ से उठा लिया गया।

शुरूमें के समय केसरी के ग्राहक लगभग सात हजार थे, किंतु अभियोग के बाद से वे बढ़ने लगे और सन १८९९ तक यह संख्या बढ़कर दस-ग्यारह हजार पर पहुँच गई। किन्तु मराठा के ग्राहक सदैव ही हजार–ग्यारह सौ तक ही रहे। कभी वे सौ पचास बढ़ जाते तो कभी इतने ही घट जाते थे। केसरी का वार्षिक मूल्य केवल एक रुपया था और मराठा का डाकव्यय सहित सवा सात रुपये और शहर के लिए छह रुपये छह आने था। फुटकर अंक के चार आने लिए जाते थे। किन्तु पत्र अंगरेजी में था, अतएव उसका प्रचार उतना अधिक नहीं था। फिरभी केसरी की अव्यवस्त अवस्था में भी एक दूषत खाता खोल रखा था, यह हम पहले बतलाही चुके हैं। हाँ सो तिलक की अनुपस्थिति में केलकर ने मराठा और केलकर तथा खाडिलकर ने मिलकर केसरी का काम चलाया, और उसे कायम रखकर लोकप्रिय बनाने में भी कोई त्रुटि न पड़ने दी। इसी कारण तिलक ने इन दोनों महाशयों को स्थायी सहकारी के रूप में आगे के लिए भी कायम रखा। स्वतः तिलक और इन दो सहायकों से मिलकर दोनों पत्र चल सकते थे। सन १८९६ से १८९९ तक तिलक के लिए लॉ-क्लास के असिस्टेंट का काम भी केलकर ने ही किया। किन्तु सन १८९९ में प्लेग के कारण जैसी ही एक बार यह बंद हुआ कि फिर उसे न खोलने का तिलक ने निश्चय कर लिया। हाँ तो, प्रति दिन नियम पूर्वक केसरी के लिए लेखादि लिखने और आवश्यकतानुसार मराठा में भी एक–आध लेख लिख देने में तिलक को अधिक समय नहीं देना पड़ता था। इसी लिए उसका अधिक भाग अन्यान्य कार्यों में ही व्यतीत होने लगा, किन्तु इन दो वर्षों में ऐसा काम उन्हें अधिक पड़ा ही नहीं। इसी लिए ये दिन उनके लिए थोड़ेसे आराम से बीते। किन्तु इन्हीं दिनों पूने में प्लेग की भयंकरता के कारण किसीको भी अनायास मिली हुई शांति नियकी चिंता से कभी लाभप्रद नहीं हो सकती थी। किन्तु प्लेग हो या प्लेग से भी भयंकर आफत हो, तिलक ने किसी भी हालत में पूना नहीं छोड़ा। अर्थात् वे घर के सब लोगों को लेकर बिना इनाक्युलेशन कराये ही विंचूरकर के बाड़े में बने रहे।

तिलक का परिवार बहुत बड़ा कभी नहीं रहा। क्यों कि उन्हें भाई तो कोई था ही नहीं, और एक बहन थी सो वह हमेशा कोंकण प्रान्त में अपने गाँव में ही रहती थी। उनके काका (चाचा) अलग ही रहते थे। इसी लिए घरपर

तिलक की धर्मपत्नी, तीन लड़के और दो लड़कियां तथा दोनों भानजे (बड़े) धोंडोपंत और (छोटे) गंगाधरपंत इस तरह कुल ८।१० व्यक्ति ही रहते थे। उनकी वड़ी पुत्री श्रीमती कृष्णाबाई का विवाह इससे पहले ही हो चुका था। वे नाशिक के मुख्य वकील गंगाधर नरसिंह उर्फ बापूसाहब केतकर के सुपुत्र विश्वनाथपंत के साथ व्याही गई थीं। यद्यपि बापूसाहब एक सुधारक और प्रार्थना समाजी के नाते पहचाने जाते थे, किंतु उनके शील और स्वभाव दोनों ही तिलक को पट सकते थे। अतएव ये दोनों संबंध परस्पर भिन्न सामाजिक मत रखते हुए भी इस शरीर सम्बन्ध की दृष्टिसे वड़े सुखी रहे। यही नहीं बल्कि बापूसाहब की वचन पालकता एवं उनके पापभीरु स्वभाव की तिलक बराबर प्रशंसा भी करते रहे। क्यों कि दोनों ही वाहवा ही के इच्छुक न थे, अतएव इस विवाह की पूने में किसी को कानों-कान भी ख़बर न हुई। तिलक का वड़ा पुत्र विश्वनाथ उन दिनों १४ वर्ष का था, और वह स्कूल में पढ़ रहा था और सबसे छोटा श्रीधर उर्फ बापू उस समय केवल तीन वर्षका था। इन दोनों के बीच तिलक के पांच संतानें और हुई, किन्तु उनमें से दो लड़कियां दुर्गाबाई और मथुबाई तथा एक लड़का रामचंद्र ये तीनों ही जीवित रहे। लड़कियां अभी छोटी २ थीं और मझला पुत्र भी यज्ञोपवीत के योग्य न हुआ था। घरू कामकाज के लिए कोई रसोइया अथवा नौकर नहीं था। मिल जाने पर कभी २ एक-आध भोजन बनाने वाली अवश्य रखली जाती थी। फुटकर झाड़-बुहार का काम केसरी ऑफिस का कोई छोकरा आकर कर जाता था। घरपर मेहमानों का आवागमन भी कम नहीं रहता था, किंतु उनका सब प्रबंध धोंडोपंत और गंगाधरराव पर था। इस तरह बिना किसी के सहायता के यह सब काम घरका घर में हो जाने का मुख्य कारण यह था कि तिलक की गृहस्थी में तालेवारी या बड़प्पन किसी भी बात में नहीं रहता था। अलबत्ता मुफ्तकी धनाढ्यता के एक लक्षण-अर्थात् चायके भोक्ता घर में सभी व्यक्ति थे। किन्तु सिवाय इसके नित्य या नैमित्तिक भोजनादि व्यवहारों में कहीं धनाढ्यता का चिन्ह तक नहीं दीख पड़ता था। सारे घर में मिलाकर दो चार गाड़ी सामान भी निकल सकना कठिन था। अकेले तिलक का सामान था लिखने की एक टेबल, दो कुर्सियां और एक पुस्तकों की अलमारी तथा शेल्फ। इसी प्रकार फालतू कहने के लिए एक आराम कुर्सी और थी। किंतु सोने के समय को छोड़कर दिन का आधेसे अधिक समय वे इसी कुर्सी पर बिताते थे। लोगोंसे बात-चीत और वाद-विवाद इसी कुर्सी पर से होता था। हँसी-खुशी या रोनाधोना की बातें अथवा नये आन्दोलन की योजना आदि सभी बातों में उनका अधिष्ठान केवल यही एक आराम कुर्सी थी! दवा के लिए लेखादि लिखना कभी अपने हाथ

से नहीं लिखते थे। बल्कि इस आराम कुर्सी पर लेटे हुए वे लेखक (क्लार्क) को पास बिठलाकर सब बातें लिख देते थे। और इस समय स्वतः वे अपने हाथों से काम लेने के लिए सरौते से सुपारी कतर २ कर मुँह में डालते रहते थे। अधिक उलझनदार या त्रासदायक गूढ़ विषयों पर लेख लिखते समय में विचारों के आवेश में बारम्बार अपनी हथेली से सिर को थाम लिया करते थे। इस से पहले जब कि उन के पास कोई लेखक न था, तब वे लपेट हुए बिस्तर की टेबल बनाकर फर्श पर ही बैठ २ सब लेख लिख डालते थे। कहने भर के लिए वे केवल उन्हीं महत्व के पत्रों को अपने हाथ से लिखते थे, जिनका कि खुद अपने हाथ से लिखना जुरूरी था।

तिलक की सादगी उनके सारे परिवार में भी दिखाई देती थी। स्वतः तिलक के शरीर पर एक लाल पगड़ी के सिवाय रंगीन कपड़ा कुछ भी न होता था। पहनेके लिए एक बहुत सादी किंतु मिलकी बनी हुई धोती, एक मांजरपाट का धुला हुआ कुर्ता, एक सफेद अंगरखा और दो ढाई रुपये क़ीमत के नागपुरी दुपट्टे, जाड़े में का एक उपवस्त्र, यही एकमात्र उनकी पोशाक थी। उन्होंने रूमाल तक का सहसा उपयोग नहीं किया, और मामूली चार छह आनेकी लकड़ी के सिवाय उन्होंने कभी बहुमूल्य लकड़ी भी हाथ में नहीं ली। बिलकुल आरंभ में तिलक कुछ दिनों तक पगड़ी न पहनकर पागोटे का उपयोग करते और सफेद के बदले रंगीन अँगरखा तथा कुर्ते पर कभी २ फतुही भी पहनते थे। इस तरह की पोशाक में लगभग सन १८८८-८९ के समय का उनका एक-आध फोटो देखने में आता है। किंतु हमने सबसे पहले सन १८९१ में तिलक को देखा, तभी से उनकी पोशाख ऊपर लिखे अनुसार बिना फतुही के सफेद ही रही। नाम मात्र के लिए उनका एक शार्ट कोट और टोपी भी होती थी, किंतु उनके उपयोग का अवसर सिंहगढ़पर ही कभी आया हो तो भलेही। वर्ना वे क्या सिंहगढ़ और क्या घरपर दिन भर के पंद्रह-बीस घंटे खुले बदन ही रहते थे। घरपर कोई मेहमान या प्रतिष्ठित व्यक्ति के मिलनेके लिए आनेपर कभी उनके चित्त में यह शंका न हुई कि मैं उनसे खुले बदन कैसे मिलूं। स्वतः तिलक की ही तरह उनकी धर्मपत्नी के वस्त्र भी बिलकुल सादे होते थे। छींट या महीन अथवा ज़री के कामदार कपड़ों का इन श्रीमतीजी ने कभी स्पर्श तक नहीं किया। साड़ी या चोली का कपड़ा कभी रेशमी भी लिया जाता तो वह कमसे कम क़ीमत का होता था। किन्तु कपड़े लत्ते की अपेक्षा इन श्रीमतीजी के आचरण में और भी एक अपूर्व सादगी पाई जाती थी। उन्होंने घरकी देहलीज को कभी नहीं छोड़ा। और ख़ास घर के मनुष्य को छोड़कर किसी से एक शब्द या प्रश्नोत्तर के रूप में

साथ एकान्त भाषण तक नहीं किया। अपने घर और घरके बाल-बच्चों के सिवाय इन्हें अन्य व्यवसाय कुछ भी नहीं रहता था। जिस प्रकार इन्हें किसी ने कभी कोई समाचार पत्र या पुस्तक हाथ में लेते नहीं देखा उसी प्रकार परकीय स्त्रियों से भी बाहर के चबुतरे पर बैठकर बातें करते न देखा होगा। कथा-पुराण की तो बातही क्या, किन्तु सामान्य देवदर्शन के लिए भी ये वर्ष भर में मुश्किल से दस पांच बार जाती होंगी। घर में या हवेली पर तिलक के पास अनेकों व्यक्ति आते रहते थे, किन्तु निकट परिचय के लोगों ने भी तिलक की धर्मपत्नी का शब्द शायद ही कभी सुना होगा। आने जाने वाले लोगों से घरका आँगन भरा रहता था, किन्तु वहां कभी कोई खेल करने वाला बाज़ीगर या गीत गाकर मांगने वाला भिखारी ही नहीं बल्कि फेरी लगाकर स्त्रियोपयोगी वस्तुएँ बेचनेवाला तक आते नहीं देखा गया। घर के सौदे और हाट बाजार का काम दोनों भानजे करते थे। खुद तिलक ने बाजार जाकर कभी एक पाई का भी सौदा नहीं किया, और न कभी इस बातकी पूछताछ ही की कि अमुक वस्तु किस भाव लाई गई और अमुक किस भाव। भोजन के समय थाली में जो कुछ पेरास दिया जाता उसी को चुपचाप बिना किसी २ प्रकारके स्वाद की चर्चा किये खा लेना उनका सदैव का नियम था। वे न तो भोजन के बिगड़ जानेपर क्रुद्ध होते थे और न अच्छा बनने पर घंटों उसका स्वाद ही देखा करते थे। क्यौं कि वे पेट भर भोजन करके अपनी आराम कुर्सी पर आ लेटने के सिवाय अन्य गड़बड में कभी पड़ते ही न थे। दिन में तो वे गेहूं की रोटी भी खाते थे; किन्तु रातको कोंकणी प्रथा के अनुसार घर के सब लोग केवल चावलका ही उपयोग करते थे। तिलक की सबसे बड़ी शौकीनी केवल इतने ही में समाप्त हो जाती थीं कि वे कभी २ सोडा वाटर और गर्मी के दिनों में बर्फ डाला हुआ सोडा या जिंजरेड वाटर पी लेते थे।

घरकी अन्य बातें की तरह उन का ध्यान अपने पुत्रों की ओर भी विशेष नहीं रहता था। उन्हें जब अपने बच्चों को गोद में उठाकर खिलाते हुए भी किसी ने नहीं देखा, तो फिर उन का लाड़-प्यार करना तो दूर की बात है। हाँ, अलबत्ता बच्चों के बीमार होने पर अवश्य वे अपने पारिवारिक वैद्य डॉ. गद्रे को बुलाकर औषधि की योजना में पूरा २ ध्यान देते थे। लड़कों को स्कूल की पढ़ाई या उस का पाठ सिखाने के लिए वे स्वतः कभी बैठते नहीं थे, किंतु संध्या एवं पुरुषसूक्तादि सिखाने के या स्कूल का सबक समझाने के लिए एक-आध चतुर अध्यापक को अवश्य रखते थे। धार्मिक आचार दृष्टि से यदि कहा जाय तो तिलक में धार्मिकता थी सही, किंतु वे उसका ढिंढोरा कभी नहीं पीटते थे। श्राद्धपक्ष, श्रावणी आदि नैमित्तिक कर्म वे यथा नियम करते थे। यद्यपि घर में पितरोपा-

र्जित देवता भी थे, किन्तु स्वतः तिलक ने बैठकर कभी उनकी पूजा की हो या संध्या के चार आचमन मुँह में डाले हों, ऐसा देखने में नहीं आया। सन १८८१ के बाद से तो प्रामण्य का झगड़ा भी शुरु हो गया था, किन्तु इस से पहले भी कभी होमहवनादि, अथवा व्रत कैवल्य एवं ब्राह्मणों की सभा वेदकार तथा षष्ठि पूजनादि आचारों का उन्हों ने विशेष रूप से पालन नहीं किया। पीताम्बर पहनकर भोजन करने के विषय में वे सदैव पूरा २ ध्यान रखते और सतर्क रहते थे। अतएव पंक्ति भेद न होने देने के लिए दाजीसाहब खरे जैसे उन के बम्बई निवासी मित्रों को भी पूना आने पर इन के यहां रेशमी सोला पहन कर ही भोजन करना पड़ता था।

तिलक के पास प्रतिदिन के आने वाले लोग अनेकानेक थे। किन्तु उन में अंतरंग मित्र बहुत ही थोड़े होते थे। क्यों कि हरएक मनुष्य के साथ उस की योग्यता की अपेक्षा उस के उपयोग की दृष्टि से ही तिलक का व्यवहार होता था। इसी सिद्धान्तानुसार उपयोग में आनेवाले मनुष्य को अन्य प्रकार से स्वभावभेद रहने पर भी तिलक ने दुराग्रह पूर्वक कभी वर्जित नहीं समझा। और उपयोगी न होने पर भले ही कोई कितनाही भला आदमी क्यों न हो, किन्तु स्वेच्छापूर्वक उसका आर्जव करने या उस से प्रेम भाव बढ़ाने का भी वे कभी प्रयत्न नहीं करते थे। तिलक की न्यूनाधिक महत्ता बढ़ने के बाद से ही उन के आसपास सदुपयोगी और निरुपयोगी सामान्य मनुष्यों की इतनी अधिक भीड़ लगी रहती थी कि, उन्हें उस में से काम के आदमियों को चुनना पड़ता था। किन्तु यह बात तिलक के चित्त में एक स्वाभाविक गुण-धर्म की बसी हुई थी, कि अपने पास यदि दस बीस व्यक्ति आकर बैठें तो उन से अनेक विषयों की चर्चा कर के अपना मत उन के गले उतार ने का प्रयत्न किया जाय। ऐसी दशा में ऊपरी दृष्टि से विचार करने वाला यह नहीं जान सकता था कि इन में तिलक के अंतरंग का व्यक्ति कौन है और दूसरा कौन! किंतु उन का अंतरंग भी विविध प्रकार का होने से तिलक की रुची और निर्वाचन भी संकुचित नहीं हो सकते थे। नाममात्र के लिए सन १८९१ तक उन के बिलकुल ही अंतरंग के विश्वस्त मित्र चित्रशाला प्रेस के स्वामी वासुदेवराव जोशी, बड़ौदा के रावसाहब बापट, बंबई के दाजीसाहब खरे, यही तीन चार व्यक्ति थे। शहर के किसी आन्दोलन में गुसदार की योजना करने या किसी गुप्त बात का भेदनीति से पता लगाने, एवं गुप्त ध्येय का निश्चय करने अथवा रुपये पैसे का प्रबंध करने आदि में भोंडोपंत की सलाह ली जाती थी। इस से परे भी, किन्तु नित्य की बैठक में उपस्थित होनेवाली मंडली में बाबासाहब गाडु, आप्पाराव वैद्य, आदि मुख्य

व्यक्ति थे। इन लोगों से न केवल तिलक का धार्मिक मतभेद ही था, बल्कि स्वभाव भेद भी बहुत अधिक था। किंतु फिर भी जिन लोगों के बलपर तिलक ने धीरे २ लोकमत पर अपना अधिकार जमाया था उन में प्रधान व्यक्ति यही लोग थे। इन के सिवाय दत्तोपंत वेहरे, विष्णुपंत वर्तक, भिकाजीपंत हर्डीकर, आदि कितने ही लोगों की बैठक तिलक के यहां जमा करती थी। इन में से कोई २ तो समानता का नाता जबरन दिखाकर उधार मांगकर बे लगाम होकर दूसरों से झगड़ने में भी आगा पीछा न देखते थे। कोई केवल सुपारी की थैली खोलकर दोचार टुकडे मुँह में डाल तिलक से घुटने टिकाकर बैठ जाते, और राजनीति का अक्षर ज्ञान तक न रखते हुए भी अपनों की प्रशंसा और दूसरों की निंदा कर के पक्ष भेद का डंका बजाने वाले और बोदी चालू रखने वाले थे। कोई विशे बुद्धिमान होते हुए भी केवल निःस्वार्थ भाव से हद्द दर्जे का शारीरिक श्रम उठा को भी तैयार रहते थे। कोई चतुर व्यक्ति के नाते तो कोई सिद्ध हस्त लेखक के रू में और कोई हरफ़न मौला की तरह इन के पास मौजूद रहते थे। इसी प्रकार को विश्वस्त व्यक्ति की तरह कोई साहसी के रूप में और कोई विरुद्ध पक्ष सामने के लिये कोई केवल प्रतिष्ठित किंतु अपनी सहानुभूतिसे अपने ह पक्ष के लिए भूषणीय अथवा उस के पुष्टिकर्ता के नाते अदालत में काम पड़ने प संकेत पाते ही जा खड़े होने वाले भी इन के पास आते जाते रहते थे। और तिलक प्रत्येक व्यक्ति के उपयोग का विचार कर के उस की योग्यता के अनुसार उस से बर्ताव करते और इस तरह सदैव ही अपना परिवार समृद्ध बनाये रखते थे इन के सिवाय, अतीत-अभ्यागत, आर्तऔर गरजमंद, जपी-तपी, साधु य भिक्षुक, विद्यार्थी और पेटार्थी के रूप में आने जाने वालों का सिल सिला जो कि आगे चलकर बहुत कुछ बढ़ गया, उस का आरंभ सन १८९९ से पहले ही हो चुका था। किंतु सब के साथ बरतने की लगभग एक ही सी पद्धति होने के कारण, प्रत्येक को यही जान पड़ता था कि 'तिलक का ध्यान मेरी ओर भी है!'

हाँ, तो सन १८९९ के फर्वरी महिने में यात्रा से लौटकर पूना आनेके बाद तिलक का स्वास्थ्य बहुत कुछ सुधर गया था। अतएव पुनः केसरी को अपने हाथ में लेनेकी इच्छा उत्पन्न होना उनके लिए स्वाभाविक ही था। और जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं उन्होंने इसी वर्ष के जनवरी महिने में प्रकट किया था कि 'मैं जो काम पहले करता था, वही अब भी करूंगा'। किन्तु ता. ४ जुलाई सन १८९९ तक अपने नाम से केसरी का डिक्लेरेशन न करते हुए भी वे कभी २ उसमें लेख आप ही देते थे। तिलक और मद्रास कांग्रेस, केसरी, काल और चेंपियन का विवाद, नातु बन्धुओं की कैद, पूना शहर पर हत्या के षड्यंत्र का

आरोप, तार-मास्टरों की हड़ताल, और शिवाजी उत्सव आदि पर निकली हुई केसरी की टिप्पणियां और एक-आध अग्रलेख भी तिलक का ही लिखा हुआ था। इसी प्रकार ता. २१ फर्वरी से २८ मार्च तक कोंकण की खोती के विषय में जो लगातार पांच बड़े लेख निकले वे सब तिलक के ही लिखे हुए थे। क्यों कि स्वतः तिलक अपने गाँव के खोतीदार थे, यह हम प्रथम प्रकरण में बतला ही चुके हैं, और इस खोती से उनके हिस्सेकी रकम जो भी कुछ अधिक नहीं थी, तथापि उन्हें इसपर बड़ा गर्व था। उनके मित्र दाजीसाहब खरे ने धारा सभा में उन दिनों इस विषय पर बड़ी ही गर्मागरम बहस की थी, और इसमें सबसे बड़ा कारण जो कि खोत लोगों के अधिकार पर आघात पहुँचाने वाले सरकारी बिल की अन्यायमूलकता से सम्बन्ध रखता था यदि तिलक का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए निमित्त हुआ तो यह स्वाभाविक ही था। किन्तु इस सार्वजनिक आंदोलन के लिए तिलक का खोती विषयक सर्वांगपूर्ण ज्ञान ही उपयोगी सिद्ध हुआ। और इस विषय के लेखों के कारण ही उस बिल में उचित संशोधन करने की ओर ध्यान गया।

अंत में ता. ४ जुलाई सन १८९९ से तिलक ने फिर केसरी को अपने हाथ में लिया। सन १८९७ के सैंतिसवें अंक तक केसरी तिलक के नामपर निकलता था, और अड़तीसवे अंक से उन्हें सजा हो जाने के कारण उनका नाम केसरी पर से हटा दिया गया, सो वह फिर केसरी के सन १८९९ के सत्ताईसवें अंक पर दिखाई देने लगा। बीच के ९१ अंक तिलक के नाम से वंचित रहे। पहले तिलक का नाम केसरी पर रहते हुए भी उसमें दूसरों के लिखे हुए अग्रलेख बहुतसे दिखाई देंगे। इसी प्रकार उनका नाम न रहते हुए भी पाठकों के लिए दिये हुए उनके अग्रलेख के दान के उदाहरण भी कितने ही दिखाई देंगे। केसरी में प्रकाशित तिलक के लेखों का दूसरा और तीसरा खंड जब प्रकाशित होता, तब पाठकों को इन दूसरी और तीसरी तरह के लेखों के उदाहरण उनमें विशेष रूपसे देखने को मिलेंगे। अस्तु। इन ९१ सप्ताह में केसरी पर तिलक का नाम न रहने से पाठकों की धारणा यह हो गई थी कि अब इस में तिलक कुछ भी नहीं लिखते हैं, और ऐसा होना स्वाभाविक ही था। अतएव ता. ४ जुलाई के अंक पर फिरसे उनका नाम प्रकाशित होते ही पाठकों को कितनी प्रसन्नता हुई होगी, इसकी कल्पना पाठक स्वयं ही कर सकते हैं। क्यों कि तिलक के फिर से केसरी को अपने हाथ में लेनेका पहले ही से कोई निश्चय न होनेके कारण ता. ४ का अंक पढ़ने वालों की दृष्टि भी अंतकी प्रेस लाइन पर न जाना स्वाभाविक

इसमें कुछ नहीं कहना है, हम तो उसकी अनिश्चितता को ही दूर करना चाहते है। अगर आखाड़े में कसरत करने का अवसर न भी मिलसका तो तिलक को यहां तक का आत्मविश्वास था कि हम बोतलों पर खड़ी की हुई टेबल पर भी अपने खेल दिखाकर सफलता प्राप्त किये बिना नहीं रहेंगे !

तिलक की धारणा थी कि यदि पूने में मतभेद और चलबन्दी न होती तो उस पर इस तरह आफत के बादल न आने पाते। इसी लिए उन्हों ने केसरी पर के अभियोग की अंशतः जिम्मेदारी पूना के नवजात माडरेट पार्टी (नर्मदल) पर डाली। 'इन में के कितने ही लोगों ने अपनी ज्ञाताज्ञात दशा में आग में तेल डालने का प्रयत्न किया है। ये शत्रु गुप्त होते है। इन्होंने केसरी के लेख और पूना के हत्याकाण्ड का सम्बन्ध जोड़ने का प्रयत्न किया है' इस रूप में तिलक ने उन्हें दोषी बतलाया और इस बात पर संतोष प्रकट किया कि 'अब प्रायः सभी लोगों को पता लग चुका है कि प्लेग का अन्याय ही हत्या का मूल कारण है। क्यों कि पूने में दो दल हो जाने पर भी यह इच्छा किसी की भी नहीं है कि वह अंगरेजों का राज्य उलट दे, और न वह उलट सकने की शक्ति ही रखती है क्यों कि केवल नर्मदल का अनुयायी कह देने से ही कोई नर्म नहीं हो सकत है और न गर्मदल का कहने से गर्म ही समझा जा सकता है। दोनों एक-दूसरे को मोर-लांडोर कहे तो भी सरकार रूपी गरुड़ पक्षी दोनों को गर्दन पकड़ कर उठा ले जायगा। क़ानून की मर्यादा हर एक को पालन करनी पड़ती है, किंतु उस में प्राप्त होने वाली स्वतंत्रता का कहां तक उपयोग किया जाय इसी एक बात में मतभेद हो सकता है। नर्मदल के लोग मौजूद हालत को ही अच्छा बतलाकर संतोष कर लेता है किंतु केसरी उसे हर समय असंतोषकारक ही बतलायगा। इतने पर भी ऐसे कितने ही काम हैं, जिन्हें ये दोनों मिलकर कर सकते है। और यदि उन कामों को ये दोनों करें तो जनता का बहुत बड़ा हित साधन हो सकता है।' इस प्रकार का युक्तिवाद इस लेख में प्रतिपादित करने का तिलक ने प्रयत्न किया था।

इस एक ही लेख के द्वारा तिलक के साथ प्रेम रखनेवाले लोगों के चित्त से उन के कारावास के कारण अनुपस्थिति जन्य अंतर्वेदना को दूर कर दिया। और वे लोग अधिकाधिक सम्मान की दृष्टि से इन्हें देखने लगे। तिलक पर

चलाये हुए अभियोग के कारण ग्राहकों की सहायता घटी नहीं वरिक बराबर बढ़ती गई। इसी लिए जेल जाते समय तिलक की जो साम्पत्तिक स्थिति थी वह बहुत कुछ सुधर गई। प्लेग के कारण लॉ-क्लास चार २ महिने बन्द रहने लगा। प्लेग की मृत्यु संख्या प्रतिदिन २०० तक पहुँचने लगी, तब धीरे २ उन्होंने अपना लॉ-क्लास बिलकुल ही बन्द कर दिया। अतएव उस में व्यतीत होने वाले दो ढाई घंटे अर्थात् नित्य के काम काज का लगभग आधा समय वे केसरी या अन्य सार्वजनिक कार्यों में विशेष रूप से दे सके। इधर तिलक ने "पुनश्च हरिः ॐ" का उच्चारण कर कर्मयोगारूढ होने के लिए आसन जमाया, और इस पहले लेख में ही प्रतिपक्षी पर कठोर आलोचना की। यह देखते ही प्रतिपक्षी भी कमर कसकर विवाद करने के लिए सामने खड़े हो गये। किंतु फिर भी इन दोनों के विवाद का स्वरूप अब पहले की तरह सामाजिक न रह कर अधिकांश में राजनैतिक जामा पहन चुका था। जिस क्रम से तिलक की कीर्ति पूना से बाहर फैली, उसी हिसाब से वे केवल स्थानिक विवादों में कम ध्यान देने लगे। स्थानिक विवाद बिलकुल ही समाप्त नहीं हो गये थे, क्यों कि जब तक गोखले और तिलक पूने में रहकर अपना २ कार्य क्षेत्र बढ़ा रहे थे, तब तक उन का विवाद समाप्त होना बिलकुल असंभव ही था, किंतु फिर भी सच्चे राष्ट्रीय अर्थात् प्रान्तीय आन्दोलन का आरंभ सन १८९९ से ही हुआ। क्यों कि साम्राज्यवादी, एवं महत्ता के अभिमानी उन्मत्त वाइसराय लार्ड कर्ज़न उन दिनों भारत की बागडोर अपने हाथ में लिये हुए थे। अतएव राजनैतिक आन्दोलन का एक भाग अर्थात् स्थानिक और प्रान्तिक विषय अधिक तर पीछे छोड़ दिया जाकर तिलक के आन्दोलन का दूसरा अर्थात् सार्वदेशीय प्रयत्न इसी समय से आरंभ हुआ। तिलक के जेल में रहने की ही दशा में तिलक के विपक्षियों पर सच्ची या बनावटी सहानुभूति की जो कालिमा लगी थी, वह उन के छुटकारे से दूर हो गई, और अब वे उन के शब्द से शब्द भिड़ाकर विवाद करने के लिए तैयार हो गये। अतएव पर प्रान्तों में अब तक तिलक पर जो टिका-टिप्पणी नहीं हो पाती थी, उसका भी आरंभ हो गया। विस्तृत कार्य क्षेत्र की तरह वाद क्षेत्र भी बढ़ गया। तिलक के सच्चे कार्यकाल एवं उन के छोड़े हुए द्विदश वार्षिक युद्ध का आरंभ भी यहीं से हुआ। वह वर्णन इस प्रथम खण्ड में वर्णित घटनाओं से भी अधिक

मनोरंजक और उदात्त है। किंतु खुद हमारी और पाठकों की सुविधा के विचार से देखते हुए लोकमान्य तिलक के चरित्र का वैसे ही अनुमान से अधिक बढ जाने वाला यह प्रथम खंड हमें "पुनश्च हरिः ॐ" के प्रणय घोष पूर्वक समाप्त करना चाहिये। इसी लिए यहीं ठहर कर आज आठ महिनेसे सतत किन्तु उत्साहपूर्वक श्रम उठाने वाली लेखनी को हम कुछ दिनों के लिए विश्राम देते हैं।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥